सौमी सुधा तामहति सौम्यः देवतुल्य ।' दण्डादित्व से 'य' प्रत्यय होगा और देवतुल्य अर्थ में सोमी + य = सौम्य निष्पन्न हो जायेगा। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उपमा अलङ्कार ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि का त्वदीक्षामुदं मदक्ष्णोरपि यातिशेताम् ।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—अथ यदुक्तं स्ववेप्सितं किं विदधे ? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति। का मत्प्रीति किंवा मदीप्सितमित्यर्थः। आधित्ससि आधातुं कर्तुमिच्छसि ? दधातेः सन्नन्ताल्लट्। या प्रीतिर्मदक्ष्णो त्वदीक्षामुदं त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतामत्वद्दर्शनोत्सवादन्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थः। तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी। किंवा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—का मत्प्रीतिम् आधित्ससि, या मदक्ष्णे त्वदीक्षामुदम् अपि अतिशेताम् ? इन्दुः निजामृतैः प्रजानां लोचनसेचनात् पृथक् किं वा सृजति ?

हिन्दी—और कौन-सा मेरा प्रिय-सम्पादन करोगे, जो मेरे नेत्रों को तुम्हारे दर्शन से प्राप्त आनन्द को भी अतिक्रान्त कर जाय ? अथवा चन्द्र अपनी अमृत-किरणों से लोक जनों के लोचन परिषिक्त करने के अतिरिक्त और किस कार्य का सम्पादन करता है ?

टिप्पणी—अभिजात वचनों की पराकोटि। आशय यह है कि तुमने दर्शन देकर मुझे अत्यन्त प्रसन्न किया। यह पर्याप्त है। चन्द्र अमृत वर्षा करके लोचनानन्द ही तो दे सकता है ! हंस ने बावनवें श्लोक में कहा था—'स्ववेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि'। सो दमयन्ती उसके उत्तर में संकेत करती है कि यदि अन्य कुछ कर सकते हो तो तुम नल-प्राप्ति के निमित्त यत्न करो। यह संकेत अगले श्लोक में और स्पष्ट है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलङ्कार, विद्याधर के अनुसार आक्षेप ॥ ५८ ॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥ ५९ ॥

जीवातु—अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीयः इत्यभिप्रेत्य तन्न शक्यमित्याह—

मनस्विति। मनो मच्चित्त कर्त्तृ य मनोरथ जातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथ कण्ठपथ वाग्विषयम् उपकण्ठदेश च कथ यातु, सम्भावनाया लोट्। सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भाव। कुत ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दो पाणिना,ग्रहे ग्रहणे अभिलाष कथयेद्। तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाष नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तया च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथ लज्जावत्या वक्तु शक्या इत्यर्थ। पूर्व एवालङ्कार ॥ ५९ ॥

अन्वय —स मनोरथ कण्ठपथ यातु, मन य जातु न उज्झति ? का नाम अभिज्ञा बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाष (अथवा 'द्विज, राजपाणिग्रहाभिलाषम्') कथयेत् ?

हिन्दी—वह अभिलाष (नलेच्छा) कण्ठमार्ग से बाहर (वचनगोचर) कैसे हो, मन जिसे कभी त्यागता ही नहीं ? कौन समझदार बाला चद्रमा को हाथ म पकडने का अभिलाष कह सकती है (जबकि इच्छा कर भी नहीं सकती) अथवा हे द्विज (पक्षी), कौन अभिज्ञ बाला राजा नल से विवाह होने की अभिलाषा कह सकती है ? नल तो दुर्लभ है, उसकी इच्छा करना भी 'बालता' है।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की प्राप्ति दुर्लभ अथवा इतनी असभव मानती है कि उसकी इच्छा करना ही मूर्खता है, अभिलाष कथन और भी बडी मूर्खता है। नल तो उस चन्द्र के समान है, जिसे हाथो पकडा ही नहीं जा सकता। 'अभिज्ञा' का पाठातर 'अलज्जा' भी है। उस स्थिति मे यह अर्थ भी होगा कि पाणिग्रहण के विषय मे तो प्रौढा भी नहीं कह सकती, क्योकि निर्लज्जा कौन बनेगी ? 'बाला' तो कभी कह ही नहीं सकती। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और श्लेष ॥ ५९ ॥

वाच तदीया परिपीय मृद्वी मृद्वीकया तुल्यरसा स हस ।
तत्याज तोष परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

जीवातु—वाचमिति। स हस मृद्वीकया द्राक्षया, 'मृद्वीका गोस्तनी

दोषे'त्यमर । तुल्यरसा समानस्वादा मधुरार्थामित्यर्थ । मृद्वी मधुराक्षरा तदीया वाच परिपीय अत्यादरादाकर्ण्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोष प्रीति तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणा जुगुप्सा 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्व । वितेने ॥ ६० ॥

अन्वय—स हस मृद्वीकया तुल्यरसा तदीया मृद्वी वाच परिपीय परपुष्ट-घुष्टे तोष तत्याज वीणाक्वणिते च घृणा वितेने ।

हिन्दी—उस हस ने द्राक्षा रस के समान मधुररसमयी उस (दमयन्ती) की कोमल वाणी का परिपान करके (भलीभाँति सुनकर) कोकिल कूजन पर तुष्टि को त्याग दिया और वीणा के झनकार के प्रति घृणा प्रकट की ।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-स्वर और वीणा की झकृति से अधिक सरस और कोमल है । अनुप्रास और प्रतीप अलकार ।६०।

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि हसः ।
तच्छसिते किञ्चन सशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

जीवातु—मन्दाक्षेति । तस्या भैम्या मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्था अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि नियमितवचनायां सत्यामय हसस्तच्छसिते भैमीलापिते किञ्चन किञ्चित्सशयालु सन्दिहान- सन्, 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्यय । मुखाम्भोज गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थ ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अय हस मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि तच्छसिते किञ्चन सशयालु मुखाम्भोज गिरा युयोज ।

हिन्दी—उस हस ने लज्जा से थोडे शब्दों मे कहकर उस (दमयन्ती) के चुप हो जाने पर उसके कथन पर कुछ सदेह करते हुए मुखकमल मे वाणी की योजना की (कहने के लिए मुख-कमल खोला) ।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जा के कारण स्पष्ट न कहने पर हस को थोडा-सा सदेह बना रहा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और समासोपमा अलकार ॥ ६१ ॥

कर्णेन वाञ्छेव विधु विधर्तुं यमित्थमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातु श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्ण श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—करेणेति। हे भैमि! करेण विधु चन्द्र विधर्तु ग्रहीतु वाञ्छेव यमथमित्थ 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रूव पञ्चानामि'ति ब्रुवो लटि सिपि थलादेश ब्रुवश्चाहादेश ' 'आहस्थ' इति हकारस्य थकार । तमर्थमन्त्ये भवोऽन्तिमो वर्ण शूद्र, 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति इमच् । श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्या पातु श्रोतुमपीत्यर्थ । नाधिकुर्वे नाधिकायस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः । अत सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—करेण विधु विधर्तुं वाञ्छा इव यम् इत्थम् आदरिणी आत्थ तम् अथम् अन्तिम वर्ण श्रुते वर्णम् इव श्रुतिभ्या पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ?

हिन्दी—'हाथ से चद्रमा-पकड़ने' की आकाक्षा के समान जिस (प्रयोजन) को तुमने इतने गोपनीय और आदर के साथ कहा, उस अथ को—जैसे चतुर्वर्णों में अतिमवर्ण (शूद्र) वेद के अक्षर को कान मे डालने का अधिकारी नही होता, वैसे ही मैं क्या सुनने का भी अधिकारी नही हूँ ?

टिप्पणी—दमयती ने कहा था—'का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाष कथयेत्'। इसमे 'द्विजराज' का अथ चद्र है और 'द्विज + राज'—इस प्रकार पदच्छेद करके 'राज' (नल) भी हो जाता है। इसी अस्पष्टता पर हस का आक्षेप है। वह कहता है कि मैंने रहस्य-गोपन का विश्वास दिलाया, नल से सबध जतलाया, पर फिर भी सलज्जता के नाम पर मुझसे दुराव छिपाव ? काकु से अर्थ होता है कि हस इस रहस्य का जानने का अधिकारी है। वह बताना चाहता है कि वह केवल दर्शनीय ही नही है, नल-प्राप्ति में पूर्ण सहायक भी है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ ६२ ॥

> अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते य ।
> यत्रान्धकारः खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—ननु तमथमत्य तदुलभत्वादवक्तु जिह्मेमीत्याशङ्क्याह—अर्थाप्यत इति। हे भैमि! भवत्या चित्त इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमथमयमर्थो

द्विजराजपाणिग्रहवदति दुर्लभत्वेनाभ्यर्थयत इत्यर्थ । अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे णिच 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्य' इत्यापुगागम । कुतस्तयानाल्येव इत्यत आह-योऽर्थं एक पादो यस्यामित्येकपदी एकपादमस्वाकयोग्यमार्गं । 'वत्तन्येक-पदीति चे'त्यमर । 'कुम्भीपदीपु चे'ति निपातनात् साधु । वितर्कपद्या मनोमार्गेपि वर्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽभीत्वपिशब्दार्थं । स कथ दुर्लभ इति भाव । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्धकार प्रतिवन्ध तद् ब्रह्म जिह्मेतरैरकुटिलै कुशलधीभिरिति यावत् । अवाप्य सुप्रापम् अमनोगम्य ब्रह्मापि कैश्चिद् लभ्यते, किमुत मनोगतोऽस्मदर्थं । अत एवार्थापत्तिरलङ्कार । 'कैमुत्वेनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरि'ति वचनात् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—भवत्या कि वा इयत् अर्थ्यते य वितर्कपद्याम् अपि वर्तते ? यत्र चेतसः अपि अन्धकार , तद् ब्रह्म अपि जिह्मेतरै अवाप्य खलु ।

हिन्दी—(उसे) आप इतना दुष्प्राप्य क्यों मान रही हैं जो मन की पाडडी मे विद्यमान है (मन मे छिपी जिसकी इच्छा है) ? जिसके विषय मे चित्त का भी अंधेरा है (मन मे स्पष्टता नहीं है), वह ब्रह्म भी अलस व्यक्तियों से भिन्न (आलस्यहीन) व्यक्ति द्वारा निश्चय पूर्वक प्राप्य है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि आपके मन का भाव न तो पूर्णत छिपा ही है और न नल अप्राप्य ही है और ससार मे उद्योगी व्यक्ति तो ब्रह्म को भी पा लेते है, जो अवाङ्मनोगोचर है । अप्राप्य है, अमनोगम्य ब्रह्म भी जब प्राप्त हो जाता है, तब नलप्राप्ति तो मनागत अथ है । अतएव मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अर्थापत्ति अलकार है, विद्याधर विरोधाभास मानते हैं ॥ ६३ ॥

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तु सङ्कोचस्तव्य न शङ्कित-व्यमित्याह-ईशेत्यादिना त्रयेण । ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्त्तो रूपान्तर मध्यो यस्या सा तथोक्ता हे कृशोदरीत्यय । लोकेशलोके शेरत इति लोके-शलोकेशया ब्रह्मलोकवासिन 'अधिकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्यय । 'शयवासवासि-ष्वकालादि'त्यलुक् तेषा लोकाना जनाना मध्ये अज्ञ मूढ तिर्यञ्च पक्षिणमपि

मामिति शेष । मृषा अनृत तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भाव-स्तत्ता सत्यवादितेत्यर्थ । उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञान-माद्य स्यादि'त्यमर । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्यय बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्व तथात्वेन ज्ञात तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायामि'ति नपुसकत्वम् । सम साधारण सर्वेर्ज्ञायत इति समज्ञा कीर्तिः पूर्ववदङ्प्रत्यय तदुपज्ञ तथात्वे नादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्तिर्येन त तथोक्त मामञ्च, सत्यवादिन विद्धीत्यर्थ । अञ्चतेगत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

अन्वय —ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये अज्ञ तिर्यञ्चम् अपि मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च ।

हिन्दी—हे परमेश के (अष्टविध) ऐश्वर्य के मध्य जो अणिमा नामक ऐश्वर्य है, उसके विवर्त्त (रूपातर)—रूप मध्यभाग वाली (सूक्ष्मकटि), लोकेश्वर (ब्रह्मा) के लोकवर्त्ती जनो के मध्य (ब्रह्मलोकवासी प्राणियो के बीच) मुझ अज्ञानी पक्षी को भी तुम असत्य से अपरिचित (सत्यवादी) और रसज्ञ (सहृदय) जनो के भावो का आद्यज्ञाता और समज्ञाता समझकर पूजो (अथवा 'अज्ञम्' को केवल 'अञ्च' से पूर्व अन्वित करलेने पर सत्य-वादिता और सहृदयता के रसज्ञाता मुझ सवज्ञ को तुम अज्ञानी समझो) ।

टिप्पणी—शारीरिक सौन्दर्य के द्योतक सबोधन 'कृशोदरि' से दमयती का सबोधित कर हस उसे यह बताना चाहता है कि ब्रह्मलोक के प्राणियो के मध्य अजाना पक्षी होते हुए भी मै सत्यवादी और रसज्ञ सहृदय हूँ, ऐसा समझ पूजनीय हूँ, पर ऐसे मुझे तुम यदि मूर्ख समझोगी तो इसमे तुम्हारी ही हानि है । ब्रह्मलोक मे सत्यवादी और रसज्ञ प्राणियो के बीच रहू मै मूढ और अरसिक कैसे हो सकता हूँ ? श्रीहर्ष ने ऐसी शब्द योजना की है कि दोनों भाव मजविट हो जाते हैं । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण और अनुप्रास अलङ्कार है । अष्टसिद्धियाँ (ऐश्वर्य) हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य (अभिलषित पा लेने की क्षमता), ईशित्व (सामर्थ्यातिशय) और वशित्व । 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्व वशित्व चाष्टसिद्धय' ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीनां प्रतिवेशिनीनां सरस्वती वासवती मुखे नः।
ह्रियेव तान्यश्खलतीयमद्धापथात्सप्तगुणेन बद्धा ॥ ६५ ॥

जीवातु—मध्य इति। किं च, प्रतिवेशिनीनां प्रतिवेश्मनां श्रुतीनां वेदानां ब्रह्ममुखस्थानां श्रुतीनां मध्ये वासवती निवसन्ती इव नोऽस्माकं मुखे सरस्वती वाक् सप्तगुणैः एव गुणैः श्लोकैः रज्जुभिश्च तेन बद्धा सती, ताभ्यः श्रुतिभ्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा। अद्धापथात् सत्यमार्गात् न स्खलति सर्वांगा दोषगुणा भवन्तीति भावः। 'सत्ये त्वद्धाञ्जसा द्वयम्' इत्यमरः ॥ ६५ ॥

अन्वय—नः मुखे इव सरस्वती प्रतिवेशिनीनां श्रुतीनां मध्ये वासवती सप्तगुणेन बद्धा ताभ्यः ह्रिया इव अद्धापथात् न स्खलति।

हिन्दी—हमारे मुख में विद्यमान यह सरस्वती (वाणी) पड़ोसिनी श्रुतियों (वेदों) के मध्य में स्थित रहने से सग गुण से बँधकर उनके कारण उनको लज्जा से ही जैसे सत्पथ से विचलित नहीं होती। (अथवा 'अद्धा अपथात्' पदच्छेद करनेपर 'निश्चयपूर्वक 'अपथ' अर्थात् कुमार्ग पर नहीं चलती')।

टिप्पणी—श्रुतिसम्मत व्यवहार करने वाला कुपथ पर चल ही नहीं सकता, वह सत्पथ से विचलित नहीं होता। हंस की वाणी तो वेदों की प्रतिवेशिनी है, वह कैसे झूठी हो सकती है? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने समासोक्ति और उपमा का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम्।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

जीवातु—तव चित्तमित्यत आह—पर्यङ्केति। कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपीति भावः। अभिलाषि साभिलाषं ते तव चित्तं कर्तृ पर्यङ्कता पालन-कयिकात्वमापन्न सरस्वान् सागरोऽङ्कश्चिह्नं यस्यास्तामपि दुर्गमामित्यर्थः। ता लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेत्तदपि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि। पर्यङ्कतामपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥ ६६ ॥

अन्वय—ते चित्तं पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्काम् लङ्कापुरीम् अभिलाषि, कुत्र अपि वस्तुनि प्रयाति चेत् (अथवा 'कुत्र अपि अभिलाषि ते चित्तं

पर्यङ्कतापन्नसमुद्रवद्धा लङ्कापुरीम् प्रयाति चेत्') तत् अपि स्वहस्ते शयालु अवेहि ।

हिन्दी—यदि तेरा चित्त जिसके परित (चारो ओर) समुद्र का वृत्त घिरा हुआ है (अथवा समुद्र जिसका पलग (शय्या) बना हुआ है), उस लका का अभिलाषी है, अथवा वह अन्य किसी दुष्प्राप्य वस्तु की ओर जा रहा है (अथवा किसी भी वस्तु की अभिलाष करने वाला तेरा मन समुद्र के मध्य बसी लका की ओर जा रहा है), तो उसे भी तू अपने हाथ मे विद्यमान समझ ।

टिप्पणी—दुर्गम समुद्र के मध्य मे स्थित दुष्प्राप्य लका या ऐसी ही किसी अन्य वस्तु को भी दमयती प्राप्त कर सकती है, अन्य किसी अभिलाष की पूर्ति तो सरल ही है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नल कामयते मदीय नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—इतीति । तेन पत्ररथेन पक्षिणा हसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वम् । हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण । किमिति ? मदीय चेतो लङ्का नायत, किन्तु नल राजान कामयत इति श्लेषभङ्ग्या बभाणेत्यर्थ । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाष न ॥ ६७ ॥

अन्वय—तेन पत्ररथेन इति ईरिता ह्रीणा हृष्टा च भैमी बभाण—मदीय चेत लङ्काम् न अयते, कुत्र अपि अन्यत्र साभिलाषम् न (अथवा मदीय चेत नल कामयते कुत्र साभिलाष न, अथवा कुत्र अपि अन्यत्र न साभिलाष मदीय चेत अनल कामयते) ।

हिन्दी—उस हस द्वारा इस प्रकार सबोधित लज्जा और प्रसन्नता से पूर्ण भीमसुता ने कहा—'मेरा चित्त लका की ओर नही जाता, कही और भी अभिलाषी नही है' । अथवा मेरा चित्त नल की कामना करता है, कही और साभिलाष नहीं है, अथवा कही और अनाकृष्ट मेरा मन अनल (आग) की कामना करता है) ।

टिप्पणी—शब्द पर कवि का कितना अधिकार हो सकता है, किस प्रकार वह उनके कौशलपूर्ण प्रयोग से अर्थ-चमत्कार प्रकट कर सकता है, यह इस श्लोक में स्पष्ट है। एक-सी शब्दावली के विभिन्न पदच्छेद करके तीन अर्थ निकल आते हैं, वे अर्थ जो दमयन्ती की इच्छा का क्रमिक रूप हैं—(१) दमयन्ती को नल की चाह नहीं है, (२) वह नल की कामना करती है, (३) यदि वह न हो तो आग में जल मरने की इच्छा है। एक लज्जावती कुमारी के सब अभिप्राय सकेतित हो गये। श्रीहर्ष का ही सामर्थ्य है। मल्लिनाथ की टिप्पणी है—कि श्लेष-महिमा से सब कुछ कह दिया गया। विद्याधर कहते हैं—'यहाँ श्लेष है।' दमयन्ती का हर्ष इसलिए है कि हंस कहता है कि सब कुछ प्राप्त कर सकती है जो भी कामना करे। लज्जा है कि कैसे सीधे शब्दों में अपने नलाभिलाष के प्रकट कर दे? ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् ।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

जीवातु—विचिन्त्येति । विस्पष्टमभाषमाणां श्लेषोक्तिवशादस्पष्टमेव भाषमाणामित्यर्थः । एनां दमयन्तीं स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः हंसपक्षिश्रेष्ठः बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शील स्वभावमेव शैलं लज्जायामेव नद्यां मज्जदनङ्गनागो यस्य तं विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनार्थं वाचमुवाचेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वय—स चक्राङ्गपतङ्गशक्रः विस्पष्टम् अभाषमाणाम् एनां बालाजन-शीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं विचिन्त्य अवादीत् ।

हिन्दी—वह हंस विहगों का स्वामी पूर्ण स्पष्ट न कह सकने वाली उस (दमयन्ती) से बालाओं के शील (स्वभाव) रूप-पर्वत और लज्जा रूपिणी नदी में डूबते कामरूप हाथी का विचार करते हुए बोला।

टिप्पणी—स्पष्ट भाषण के दो कारण हंस ने समझ लिए—(१) एक तो कुमारी बालिकाओं का शील, जो स्पष्ट भाषण को दुर्लंघ्य पर्वत-जैसा रोके खड़ा है, (२) लज्जा की अतिशयता, जिसमें कामनाएँ डूब कर रह जाती हैं। भाव यह कि हंस समझ गया कि कुमारी जनोचितशील और

लज्जा से अभिभूत दमयन्ती ने जो कह दिया, वही पर्याप्त है। इससे अधिक वह क्या कहती? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्? ॥ ६९ ॥

जीवातु—नृपेणेति। श्लेषकवे श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्याः श्लिष्टशब्दप्रयोक्त्र्या इत्यर्थः, कवृवर्णने इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः। भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहणे पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्म्मणी'ति विहितायाः षष्ठ्या 'कर्म्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः। तत्र स्पृहेति मनः मनो नलं कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं? गृहीत एवेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—श्लेषकवेः भवत्याः नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नलं कामयते इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया न आश्लेषि किम्?

हिन्दी—श्लेषकविता की विदुषी आपका—'राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है', 'मेरा मन नल की कामना करता है', इन दोनों श्लोकों का अर्थ क्या मुझ बुद्धि वाला मैं न समझ पाया? (अपितु समझ गया)

टिप्पणी—दमयन्ती का भाव समझ कर हंस ने कहा कि मैं आपकी श्लेष चातुरी भली भाँति समझ गया हूँ। आपने जो दो श्लोकों—'का नाम बाला' इत्यादि (३।५९) और 'चेतो नलं कामयते' (३।६७) में श्लेष काव्य का प्रयोग करते हुए जो कहा, वह मैंने भलीभाँति समझ लिया। अब मुझसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्यभाव्यस्मि तदज्ञ एव।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥ ७० ॥

जीवातु—तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकमज्ञवदुक्तवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति। किन्तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययमस्थिरत्वं सम्भाव्य आशङ्क्य तदज्ञः तस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादयः' इति साधु अस्मि। त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः। धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः इति भविष्यत्ताया गुणत्वाद्वर्तमानतानुरोधः। नन्वेवमनु-

रक्ताया मयि कृत इव शङ्केत्याशङ्क्य क्षोभा चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह—लक्ष्य इति । लोलशीले चञ्चलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापराद्धेषुरीषच्च्युतसायकः स्यात् कुशलोऽपि धन्वी चञ्चलक्ष्यात्कदाचिदपराध्यत इति भाव । 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायक' इत्यमर । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ७० ॥

अन्वय —तु त्वच्चेतस स्थैर्यविपर्यय सम्भाव्य तदज्ञ एव भावो अस्मि हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मर अपि दरापराद्धेषु स्यात् ।

हिन्दी—किन्तु तुम्हारे चित्त की अस्थिरता की सम्भावना करके उक्त श्लोकार्थ से अनभिज्ञ ही बना रहूँगा, क्योंकि चपल स्वभावा बाला के हृदय-लक्ष्य पर कामदेव के बाण भी कुछ चूक जाते हैं ।

टिप्पणी—हंस का कथन है कि मैं सब जानकर भी अजाना ही बना रहना चाहता हूँ, क्योंकि लड़कियाँ होती हैं चपल स्वभाव की । न तो उनका मन बदलते देर लगती है और न उन्हें काम ही तरुणियों के समान व्यथा देता है । अर्थान्तरन्यास ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्र खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीय कथमित्थमेव ? ।
प्रयोजन सांशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव च मद्विधेन ॥ ७१ ॥

जीवातु—महीति नैषध इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्र महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्र खलु तस्मात् स नल । पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा ईदृक् सांशयिक सन्देहदुस्थम् अस्थिर प्रयोजन प्रति इत्थमेव मुग्धाकारेणैव कथ बोधनीय ? अनर्हमित्यर्थ । 'गतिबुद्धी'त्यादिना अपि कर्तुर्नलस्य कर्मत्व, 'भक्ते वर्तुश्च कर्मण' इति अभिधानाच्च ॥ ७१ ॥

अन्वय —तत् महीमहेन्द्र स नैषधेन्दु मद्विधेन पृथग्जनेन ईदृक् सांशयिक प्रयोजन प्रति इत्थम् एव कथ बोधनीय ।

हिन्दी—इस पृथ्वी के महेन्द्र उस नैषधचन्द्र के प्रति मेरे जैसे प्राकृत जन पक्षी द्वारा (अथवा 'पृथग्जनेन इव मद्विधेन' अन्वय करके प्राकृतजन के समान मुझ जैसे विद्वान् द्वारा) ऐसे सशयपूर्ण अस्थिर प्रयोजन का निवेदन किस प्रकार किया जाय ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का भाव तो स्पष्ट कहा नहीं गया, सो बात सदेह की है। उसे हस जैसा समझदार प्राणी एक मूख की भांति इतने बड राजा से कह नही सकता अथवा कही यह न समझ लिया जाय कि हस तो पक्षी है, उसने न जाने क्या समझा और प्रलाप कर दिया। सो बात साफ होनी चाहिए। एक महोमहेन्द्र से वह अप्रामाणिक, सदेहास्पद सदेश नही कह सकता। विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यलिंग ॥ ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि या वृणीषे।
त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

जीवातु—अथेत्यमेव बोधने को दोषस्तत्राह–पितुरिति। पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्य नलाद य युवान यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्य, 'चतुर्थी तदर्थे'-त्यादिना चतुर्थी समास, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्'। तदर्थया अर्थित्वकृति अर्थित्वभजन तत्र प्रतीतिर्विश्वास कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थ। तस्मादसदिग्ध वाच्यमिति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वय—पितु नियोगेन निजेच्छया वा यदि अन्य युवान वृणीषे त्वदर्थम् अर्थित्वकृति' मयि निषधेश्वरस्य कीदृक् प्रतीतिः स्यात्।

हिन्दी—पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छासे यदि तुम नलातिरिक्त युवा का वरण करती हो, तो तुम्हारे निमित्त याञ्चा करते मेरे प्रति निषधराज का विश्वास कैसा होगा?

टिप्पणी—हस का तात्पर्य है कि दमयती जब तक निश्चयपूर्वक अपना निर्णय स्पष्ट न कहेगी हस की नल से उसके साथ विवाह करने की प्रार्थना ठीक नहीं होगी। यदि दमयती के पिता ने अन्यत्र कहीं अपनी बेटी ब्याहने का निर्णय ले लिया और दमयती ने उससे बाध्य हो अन्य किसी पुरुष को वर लिया अथवा उसकी ही इच्छा बदल गयी, तो नल हस को एक लबाडिया या झूठा ही तो समझेंगे। सो स्पष्ट कहे बिना काम आगे नहीं बढेगा ॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।
इत' पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि' सर्वम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—अन्यथा तथा वक्तु न शक्यते तर्हि ततोऽन्यदीप्सितं करिष्ये प्रतिज्ञानपूर्वकं परिहारयेत्याह—त्वयेति । हे उर्वीपतिपुत्रि ! नैमि ! त्वयापि वा किं विधातुं किं कर्तुं शङ्कितविक्रिये सम्भावितविकारे अस्मिन् विषये राजपाणिग्रहणसंघटनकार्ये अहम्, अविक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः । करोते कर्मणि लट्, किन्तु इतः पृथक् तस्मादन्यत् यद्यत्प्रार्थयसे तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः ॥

अन्वय—त्वया अपि शङ्कितविक्रिये अस्मिन् विषये विधातुं किं वा विनियुज्ये ? उर्वीपतिपुत्रि, इतः पृथक् यत् यत् प्रार्थयसे तत् सर्वं कुर्वे ।

हिन्दी—और तुम भी जिसमें परिवर्तन की आशंका है, उस इस विवाह-विषय में संयोजन करने का अधिकार मुझे क्यों दे रही हो ? हे पृथ्वी के स्वामी की पुत्री (राजकुमारी), इससे भिन्न जो-जो तुम मुझसे चाहोगी, मैं वह सब करूँगा ।

टिप्पणी—हंस एक और उत्तेजना देता है–अच्छा हो कि तुम इस सन्देहास्पद कार्य-साधन में मुझे नियुक्त ही न करो । इस विवाह विषयक कार्य के अतिरिक्त, जो भी कहो, मैं कर दूँगा अर्थात् या तो स्पष्ट कहो, या फिर इस विषय को ही छोड़ो । विद्याधर ने इस श्लोक में अनुप्रास अथवा 'नियत-स्थावयवयमक' का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विस्मयितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

जीवातु—श्रव इति । धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रवःप्रविष्टा इव न तु सम्यक् प्रविष्टा तद्गिरो हंसवाचः । वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिक्षिप्य ह्रिया कर्त्री विस्मयितानुरोधा शिथिलितवृत्तिः त्यक्तलज्जा सती पुनरप्यूचे उवाच ॥ ७४ ॥

अन्वय—धरित्रीपुरुहूतपुत्री श्रवःप्रविष्टाः तद्गिरः वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना विधूय इव ह्रिया विस्मयितानुरोधा पुनः ऊचे ।

हिन्दी—धरती के इन्द्र की पुत्री (पृथ्वीन्द्रसुता दमयन्ती) कानों में घुसी उस (हंस) की वचनावली को असम्मति में हिलते सिर से मानो निरस्त करती हुई लज्जा के अनुरोध को शिथिल कर (लज्जा छोड़) पुनः बोली ।

टिप्पणी——दमयंती ने हंस के वचनों के प्रति असमर्ति प्रकट करने के लिए सिर हिलाया, जैसे कान में प्रवेश करते किसी दुष्ट कीट को सिर के झटके से निवारित करना चाहती हो। इस आवेश में उसने लज्जा छोड़ कर निम्नांकित स्पष्ट वचन कहे। उत्प्रेक्षा॥ ७४॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना या वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः॥ ७५॥

जीवातु—मदिति। मम अन्यदानमन्यस्य दानं प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितुर्नियोगेनेत्यादि श्लोकस्तक। एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थ। निशो निशाया अपि 'पद्न्नि'त्यादिना निशाया निशादेश सोमात्चन्द्रादितरकान्तशङ्का पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारं प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्य कुर्या कुरु सवस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भाव। यथा निशाया निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यथ.। रूपकालङ्कार॥ ७५॥

अन्वय——मदन्यदानं प्रति त्वदीये हृदि या एषा कल्पना तावत् वेद, निश। अपि सोमेतरका तशङ्काम् अस्य ओङ्कार कुर्या।

हिन्दी——मेरे नलातिरिक्त पुरुष को दिये जान के विषय मे तुम्हारे हृदय मे जो यह कल्पना वेद' (वेदसम प्रामाणिक) है, तो रात्रि की भी चद्रेतर प्रियविषयकशका को इस (मेरे अन्य दान विषयक तथ्यागीकार) का 'ओंकार' कर लो।

टिप्पणी——दमयंती का कथन यह है कि उसके अन्य किसी पुरुष से विवाह होने के विषय मे जो हस कल्पना कर रहा है, वह निर्मूल है। यदि वह इस शका को वेद के समान सत्य और प्रामाणिक माने बैठा है, तो उसे इसे सत्य मानने के पूर्व यह भी मानना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा के अतिरिक्त भी प्रिय होता है। यदि दमयंती विषयक हस की आशका वेद है, तो रात्रि विषयक तथ्य को वेदमन्त्रो से पूर्व उच्चारित होनेवाला ओकार (ॐ) मानना होगा अर्थात् जैसे चन्द्रमा ही रात्रि का प्रिय है, वैसे ही नल ही दमयंती का। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और अतिशयोक्ति॥ ७५॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—सरोजिनीति । सरोजिन्या मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेर-न्यतरान्यप्रवृत्तेश्च अनर्कसम्पर्कमनर्कतरस्वान्तसङ्गमिनतर्कयित्वा अनूहित्वा तवेयं मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहे शङ्कुरा इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तरं साहसिक्यं साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ।

अन्वय—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः अनर्कसम्पर्कम् अतर्कयित्वा तव इयं मदन्यपाणिग्रहशङ्किता अहो, महीयः साहसिक्यम् ।

हिन्दी—कमलिनी के मनोऽनुराग के होने का सूर्यातिरिक्त के साथ सबंध की तर्कणा न करके तुम्हारी यह मेरे नलातिरिक्त के साथ विवाह की शंका आश्चर्य और बड़े साहस की बात है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि जिस प्रकार कमलिनी का अनुराग सूर्य से ही होता है, अन्य से नहीं उसी प्रकार दम ती का विवाह नल से ही सम्भव है, नलातिरिक्त से नहीं । जब कमलिनी-सूर्य के सम्बंध में हंस को शंका नहीं है, तो दमयन्ती-नल के विषय में उसकी शंका बड़ा दुःसाहस है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और अतिशयोक्ति ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेतदेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—साध्विति । किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्निं च संश्रयिष्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया अतर्कि ऊहितं तदेतदेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणोऽपि करणत्वविवक्षाया सम्मती । 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥' इति वचनादनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले विषये त्वां मृषागिरमसत्यवाचं कर्तुमन एव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥७७॥

अन्वय—एतद् एव त्वया साधु अतर्कि किल यत् स्वेन अनलम् संश्रयिष्ये, अमुना विना तु स्वात्मनि प्रहर्तुम्, नृपतौ त्वां मृषागिरं कर्तुं न ।

हिन्दी—यही तुमने ठीक विचार किया कि मैं स्वयम् ही अनल (नलातिरिक्त, अग्नि) का आश्रय ले लूँगी, किन्तु (नल) के बिना अपने को समाप्त करने के लिए (अग्नि-अनल का आश्रय लूँगी) न कि तुम्हे नरराज (नल) के समुख झूठा सिद्ध करने के लिए (अनल अर्थात् नल-व्यतिरिक्त का आश्रय) ।

टिप्पणी—हंस ने 'पितुर्नियोगेन' इत्यादि (७२) मे आशंका प्रकट की थी कि तुम स्वेच्छया अनल (नल व्यतिरिक्त) को वर लो तो उसे नल झूठा समझेंगे, इसी का एक प्रकार से उपहास करती दमयती ने कहा कि वह निश्चय ही स्वेच्छया नल से विवाह न होने पर अनल (अग्नि) का आश्रय लेगी-आत्मदाह कर लेगी, किन्तु 'अनल' (नल व्यतिरिक्त) से विवाह करके हंस को नल के सम्मुख झूठा नही सिद्ध करेगी । विद्याधर द्वारा उल्लेख्य अलंकार श्लेष ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलम्भ्यं पुनराह यस्त्वां तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूकः ? ।
अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—मदिति । किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलम्भ्य मया विप्रलम्भनीय 'पोरदुपधादि'ति यत्प्रत्ययः । आह बोधयतीत्यर्थः स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूकः अशक्तः किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थः । कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चयः अत आह—अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्क: व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाणं चेत्तर्हि के तु वेदाः सन्तु ? न केऽपीत्यर्थः सम्भावनायां लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्यथेति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वय—पुनः यः तर्कः मद्विप्रलम्भ्यं त्वाम् आह सः तत्फलवाचि मूकः किम् ? अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतु यदि वेदाः न, के तु सन्तु ?

हिन्दी—और फिर जिस तर्क ने तुम्हे यह बताया कि मैं तुम्हारी प्रतारणा करूँगी, उसके परिणाम को बताने मे क्या वह गूँगा है ? जिन (वचनो) मे व्यभिचार के (अज्ञानादि) कारणो की शंका की ही नही जा सकती, यदि व वेद (प्रामाणिक) नही हैं तो वेद क्या है ?

टिप्पणी—७२ वें श्लोक में हंस ने आशंका की थी कि वह झूठा बनेगा, दमयंती द्वारा प्रतारित होगा। दमयंती इसके उत्तर में कहती है कि यह आशंका भी निर्मूल है। हंस ने जिस तर्क से यह सोच लिया कि दमयंती उसे प्रतारित करेगी, उस तर्क ने उसे यह नहीं बताया कि हंस को प्रतारित करने में दमयंती को लाभ क्या होगा? हंस तो ज्ञानी है, उसे अपनी प्रामाणिकता पर विश्वास होना चाहिए, अन्यथा फिर उसकी प्रामाणिकता ही क्या रह जायेगी? अथवा दमयंती यह कहना चाहती है कि वह जो कह रही है, वह पूर्ण सत्य और प्रामाणिक है, वेद के समान, जिसमें अज्ञानादि व्यभिचार-कारणों की आशंका ही नहीं की जा सकती। जो वाणी अव्यभिचारिणी है—अपरिवर्तनीय। यदि वेद झूठे हैं तो दमयंती की वाणी भी। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग॥ ७८॥

अनैषधायैव जुहोति कि मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम्?।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव॥७९॥

जीवातु—एवं निर्बन्धेच्छया नलान्यशङ्कां निरस्य पित्राज्ञयापि तां निरस्यति-अनैषधायेति। तातो मम जनकः। 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। मान-नैषधाय नैषधान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति काकु, तदा शरीरशेषां मृतां तथापि कृशानौ न किं न तु जीवन्तीं नान्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः तदङ्गीकर्तव्यमे-वेति भावः। कुतः? स जनकः तनूजन्मतनोः आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, मदीशत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'ति शेषे षष्ठी। तथापि शरीरस्य पितृ-स्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः। मत्प्राणनाथस्तु नल एव प्राणानामतज्जन्यत्वादिति भावः। अतो नान्यविश्वासं मा कुर्वित्यर्थः॥७९॥

अन्वय—तातः शरीरशेषां माम् अनैषधाय जुहोति, कृशानौ एव किं न? सः तनूजन्मतनोः ईष्टे तथापि मत्प्राणनाथः तु स नलः एव।

हिन्दी—पिता शरीरमात्रावशेष (मृत) मुझे निषधराजातिरिक्त को देते हैं तो अग्नि को ही क्यों नहीं देते? वे (पिता) स्वदेह से जन्म पाने वाले देह के स्वामी हैं, तथापि मेरे प्राणों का स्वामी तो वह नल ही है।

टिप्पणी—दमयंती का भाव यह है कि पिता जीवित दशा में नलातिरिक्त से उनका विवाह नहीं कर पायेंगे, यदि वे ऐसा करें तो दमयंती प्राण दे

देगी और फिर उस शरीरमात्रावशेषा को पिता द्वारा अग्नि में ही समर्पित किया जा सकेगा। पिता का अधिकार शरीर मात्र पर है, क्योंकि उसे उन्होंने जन्म दिया है, उसे वे ले सकते हैं, किन्तु प्राणों के स्वामी तो नल ही हैं। अतः हंस को दमयंती का विश्वास करना ही उचित है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

जीवातु—फलितमाह—तदेकेति। तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्वं तदेव पदम-धिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते परनीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुतैव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः। साध्विति सामान्योपक्रमान्नपुंसकत्वम्, 'शक्य श्वमांसेनापि क्षुन्निवर्तयितुमि'ति भाष्यकारप्रयोगात्। ननु किमनाभिनिवेशेन गुणवत्तरचेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—अहेलिनेति। नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः। तद्वन्ममापि किं युवान्तरेणेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ८० ॥

अन्वय—तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु, नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ?

हिन्दी—उस (नल) की एक दासी होने के पद से भी उत्कृष्ट मेरे मनोरथ को पूर्ण करने की तुम्हारी भली ही इच्छा है, किन्तु कमलिनी अमृत के आधार भी अहेलि (असूर्य) चन्द्र का क्या करेगी ?

टिप्पणी—हंस ने ७३ वें श्लोक में कहा था कि वह इस सन्देहास्पद कार्य-योजना में नहीं पड़ना चाहता, किंतु अन्य किसी दमयंती के मनोरथ को वह पूर्ण करेगा। इसी का उत्तर इस श्लोक में है। दमयंती हंस को साधुवाद देती बताती है कि वह और कुछ चाहती ही नहीं, केवल नल की दासी होना उसका अभीष्ट है। भले ही उससे उत्कृष्ट कुछ हो, होता रहे, उससे दमयंती को क्या काम ? चन्द्र अमृतनिधि है, पर वह सूर्य तो नहीं है। कमलिनी का क्या इससे संबंध ? दृष्टांत अलंकार ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
चित्ते नमैकस्स नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्मुखस्य एव ॥ ८१ ॥

जीवातु—तदिति। तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिमपि लब्धुं चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठः पद्ममुखः पद्मानन एक स नल एव त्रैलोक्यसारः पद्मनिधिरिव। नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति। किमुत नृपान्तर इति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलुब्धे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिम् अपि लब्धुं चिन्ता नास्ति। वित्ते (चित्ते वा) अपि मम स नलः त्रिलोकीसारः पद्ममुखः एक एव।

हिन्दी—उसी एक में लुब्ध मेरे मन में अमूल्य चिन्तामणि को भी पाने की चिन्ता नहीं है। धन के विषय में भी (अथवा मेरे चित्त में भी) मेरा वह नल त्रिलोकी का सारभूत (सर्वोत्कृष्ट) कमलवदन अकेला ही है।

टिप्पणी—भाव यह कि नल के अतिरिक्त किसी दुर्लभतम वस्तु को भी पाने की इच्छा दमयन्ती को नहीं है। विद्याधर के अनुसार रूपक और श्लेष ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम्।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

जीवातु—श्रुतश्चेति। किं बहुना स नलः श्रुतः दूतद्विजजन्यादिमुखादाकर्णितश्च, मोहात् भ्रान्तिवशात् हरित्सु दृष्टः साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातश्च। अथाद्य मम तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिरसुव्ययः प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः। शेषः कार्यशेषः स च तव हस्ते आस्ते त्वदायत्त इत्यर्थः। अत्र तदर्थश्रवणमनननिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिर्दुःखोच्छेदरूपमोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिधाया प्रकृतार्थनियन्त्रणादिति ज्ञेयम् ॥ ८२ ॥

अन्वयः—श्रुतः मोहात् हरित्सु च दृष्टः नीरन्ध्रितबुद्धिधारं ध्यातश्च, अद्य मम तत्प्राप्तिः असुव्ययः वा द्वयम् एव शेषः तव हस्ते आस्ते।

हिन्दी—(उन दूतमुखों से मैंने) सुना है, मोह के कारण सब दिशाओं में देखा है और निरन्तर बुद्धिविचारणा से उसी का ध्यान किया है। आज मुझे उसकी प्राप्ति अथवा मर जाना या नाश—दो ही तुम्हारे हाथ में मेरे लिए रह गये हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस यदि कुछ करना चाहता है तो दमयंती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिधा द्वारा प्रकृतार्थ का नियन्त्रण हो जाने के कारण ब्रह्म के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति दुःखोच्छेद रूप मोक्ष गुरु के अधीन है—यह ध्वनि है। प्रकाशकार ने भी ऐसा ही कहा है—'तत्त्वमसि' इति श्रुतौ तच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मण प्राप्तिः कस्यचिदेव सुकृतिना भवति, तथा मम नलप्राप्तिस्त्वत्प्रसादादेव।' विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम्।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ?॥ ८३ ॥

जीवातु—सञ्चीयतामिति। हे हंस ! आश्रुतपालनोत्थं प्रतीज्ञातार्थनिर्वाहणोत्पन्नम् 'अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातमि'त्यमरः। मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जं च पुण्यं सुकृतं सञ्चीयतां सङ्गृह्यताम्, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम्। अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशं केयं मुद्रा औदासीन्यं, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वय—आश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यं सञ्चीयताम्, आर्य, वृथा विशङ्का निवार्यताम्, अये भद्रे अपि भृशं का इयं मुद्रा ?

हिन्दी—प्रतिज्ञा पालन से समुत्पन्न, मुझे प्राण दान करने का पुण्यसंचय करो, हे आर्य, व्यर्थ की आशंका छोड़ो, अरे तुमने संदेह रहित (मंगल) विषय में भी यह कैसी उदास मुद्रा बना रखी है ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चय और अनुराग का विश्वास दिलाती दमयंती इस पद्य में यह स्पष्ट करती है कि नल से उसका संबंध कराने में हंस को दो पुण्य मिलेंगे—एक उसने स्वयं जो वचन दिया है, उसका पालन होगा और दो—दमयंती के प्राण बचाने का श्रेय भी हंस को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से सब प्रकार की आशंका और संदेह का परित्याग कर हंस को इस मंगलकार्य-सिद्धि के लिए उदासीनता छोड़ प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य छेकानुप्रास अलंकार ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय ! विज्ञ ! याच्ञा कृत्वापि वाक्यं विविधं विधेये ।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वास्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

जीवातु—अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विशेषज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे'त्यादिना कप्रत्ययः । याच्ञा प्रार्थना विलङ्घ्य अलं याच्ञालङ्घनो न कार्य इत्यर्थः । विधेये विनीतजने विविधं वाक्यं वक्त्वा कृत्वापि अलं, तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रवो यथोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः । तस्य भावास्तत्ता सैव पदं पदस्थानं तदुत्थात् उत्तमात् निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्माद्यशःपथात् स्खलित्वा चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थः अन्यथा हानिः स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये' इत्यमरः । 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वे'ति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्ययः इह 'न पादादौ खल्वादयः' इति निषेधस्योद्देशत्वाभिप्रायत्वान्नञर्थस्य खलशब्दस्यानुद्वेज-कत्वान्नवदेव पादादौ प्रयोगो न दुष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—प्रियविज्ञ, (अथवा प्रिय, विज्ञ,) आश्रवतापदोत्थात् अस्त-खलोक्तिखेलात् यशःपथात् स्खलित्वा खलु याच्ञा विलङ्घ्य, विधेये विविध वाक्य कृत्वा अपि अलम् ।

हिन्दी—हे प्रिय को भलीभाँति जाननेवाले, (अथवा प्रिय और विज्ञ, अथवा 'प्रियेषु विषु ज्ञ'—प्रिय पक्षियों में ज्ञानी,) वचन-पालन-कर्त्ताओं के पद अर्थात् श्रेष्ठ स्थान से उत्पन्न (अथवा चरण-जात), खलवचनों के खेल से रहित यश के मार्ग से स्खलित हो (हटकर) मेरी याचना का लंघन मत करो और करणीय कृत्य के विषय में भी नानाविध उलटा-सीधा विचार भी छोड़ दो ।

टिप्पणी—नल को विशेषज्ञ के विशेषण से सम्बोधित करती दमयन्ती उसे चेतावनी देती है कि सज्जन वचन का पालन करते हैं, वे दुष्टों के समान वचन देने को खेल नहीं समझते । प्रतिज्ञा-पालन ही यश का मार्ग है । यदि हंस वचन-पालन में उलटी-सीधी बातें सोचेगा और दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देगा तो वह अयश का भागी होगा । नीर क्षीर-विवेकी हंस तो ज्ञानी और सज्जन माने जाते हैं । विद्याधर ने उल्लेख अलंकार अनुमान माना है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्त्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मं कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौतं ॥ ८५ ॥

जीवातु—स्वेति। ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कृपणलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं ददद्भ्यः स्वप्राणान्दधानेभ्यः परत्राणकृद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः। 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम्। त्रपा नेति काकु, त्रपाया मन प्रत्यावृत्ति-रूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी। यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सो तव कीर्त्या धौत शुद्धो धर्म कराद्धस्तात् भ्रश्यति, न चैतत्सदाहं-मिति भाव ॥ ८५ ॥

अन्वय.—ईदृशबद्धमुष्टे तव आर्त्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्य त्रपा न, यत् मदीयान् असून् मह्यम् अदित्सो तव कीर्तिधौत धर्मकरात् भ्रश्यति ?

हिन्दी—ऐसे मुट्ठी बाँधे बैठे (कृपण तथा अकर्मण्य) तुम्हे दुखी जनों (पीड़ितों) की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन भी दे देने वाले (कमण्य दानियों) व्यक्तियों के सम्मुख लाज भी नहीं लगती क्योंकि मेरे प्राणों को मुझे ही न देने की इच्छायुक्त तुम्हारे यश से धुला (स्वच्छ) धर्म हाथ से गिर पड़ेगा ?

टिप्पणी—दमयंती कहती है कि उसके प्राण उसे ही न देने वाले हस के यश और धर्म—दोनों नष्ट हो जायेंगे। इस श्लोक मे 'बद्धमुष्टि' शब्द के प्रयोग से चमत्कार आया है। 'मुट्ठी बाँधना' कृपणता का लक्षण भी है और अकर्मण्यता का भी। तो ये दोनों स्थितियाँ हस के लिए लज्जाजनक हैं। उसे शिवि, रन्तिदेव तथा हरिश्चन्द्र आदि-जैसे वचनपालक और याचकों के कल्याणहित स्वप्राण भी अर्पित कर देने वाले महाजनों का स्मरण करके अपनी अदानशीलता और अकर्मण्यता को त्यागना ही उचित है। कदाचित् वह 'मुट्ठी बाँधे' इसलिए बैठा है कि यश और धर्म उसके खुले हाथ से गिर न जायें, पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि वचन से हटना और याचक को निराश करने वाले 'बद्धमुष्टि' कृपण—अकमण्य के यश-धर्म नष्ट हो जाते हैं। 'बद्धमुष्टि के कर से गिर जाना' के आधार पर ग्रन्थकार ने यहाँ 'विरोधाभास' का निर्देश किया है। वे 'काकु' का भी निर्देश करके इस अर्थ का भी सकेत

करते हैं कि हम सब कुछ समझ रहा है कि यह धर्म इस स्थिति में नष्ट हो जायेंगे। विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन।
विधेहि तन्मा त्वदृणेष्वशोद्धुममुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—दत्त्वेति। किं च जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीवं मत्प्राण दत्त्वापि शुध्यामि आनृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः। किन्तु जीवादधिकं प्रियं तद्दे त्वयि केन शुध्यामि? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थः। सम्प्रति प्राणैः मम तु न किञ्चिदस्तीति भावः। तत्तस्मादभावादेव मा त्वदृणेषु अशोद्धुम-शक्तां अविलम्बं अमुद्रे अपरिमिते दारिद्र्य त्वद्देयवस्त्वभावस्य तस्मिन्नेव समुद्रे। मग्ना विधेहि नलप्रदानेन मामृणग्रस्तां कुर्वित्यर्थः। अशोद्धुं, मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अमुद्रविशेषणैत्ते दरिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भावः ॥८६॥

अन्वय।—जीवदे त्वयि आत्मजीवं दत्त्वा अपि शुध्यामि, जीवाधिकदे तु केन (शुध्यामि)? तत् मा त्वदृणेषु अशोद्धुम् अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नां विधेहि।

हिन्दी—जीवन देने के तेरे ऋण का शोध तो मैं अपना जीवन देकर भी कर लूँगी, परन्तु जीवन से भी अधिक (नल) के दान के ऋण का क्या देकर शोध कर सकती हूँ? तो तुम ऋण-परिशोधन में असमर्थ रहने के कारण मर्यादाहीन (अपरिमित) दरिद्रता के समुद्र में मुझे मग्न बना दो।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का महत्त्व जीवन से भी अधिक है। जीवनदान का बदला तो जीवन देकर चुकाया जा सकता है, नल दान मिलने का ऋण तो चुकाया ही नहीं जा सकता। सो तुम ऐसा उपकार करो कि दमयन्ती उसकी सदा ऋणी बनी रहे। विद्याधर ने इस श्लोक में विरोधाभास का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपक का ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यं न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम्।
जीवेशदातर्यदि ते न दानं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—क्रीणीष्वेति। हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशरूपमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः। अन्यदेत-न्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति चेत्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुल्य

दातुं न प्रभवामि न शक्नोमि तावत्तर्हि यशोऽपि कीर्ति गातुं प्रभवामि, ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अन्वय —पण्य मज्जीवितम् एव क्रोणीष्व, अन्यत, वस्तु न चेद् तत्पुण्यम् अस्तु जीवितेशदाहं यदि ते दातुं न प्रभवामि, तावत् यश गातुम् अपि (प्रभवामि)।

हिन्दी—तुम विक्रयार्थ उपस्थित मेरे जीवन का ही क्रय करलो, और विक्रेय वस्तु न हो तो पुण्य तो है ही, हे जीवन के स्वामी के दाता, मैं यदि तुम्हे देने मे समर्थ नही हूँ तो यशोगान मे तो समर्थ हूँ।

टिप्पणी—आशय है कि हंस यदि दमयन्ती को नल दान में ला देगा तो वह उसे प्राणो का अधिकारी मान लेगी, जब चाहे वह दमयन्ती के प्राण माग सकता है। इससे हंस को पुण्य होगा और सदा ऋणमग्न रहती दमयन्ती उसका यशोगान करती रहेगी। दमयन्ती नल का सयोजन करके हस को महान् यश प्राप्त होगा। साहित्यविद्याधरो के अनुसार अतिशयोक्ति अलकार ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्याधेभ्याः कृतज्ञानथवाद्रियन्ते।
प्राणैः पणे स्व निपुणं भणन्तः क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः॥ ८८॥

जीवातु—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकार कुर्वित्याह—वराटिकेति। वराटिकोपक्रियया कपर्दिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारज्ञान् इभ्या धनिका, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी'त्यमर। नाद्रियन्ते धनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थः। सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मान निपुणं भणन्त, सन्त एते वय त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थः तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणैः क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत धनैरित्यर्थः। अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽहमुपकर्तव्येति भाव। हन्त हर्षे॥ ८८॥

अन्वय —वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्या न आद्रियते, हन्त, सन्त तु स्व निपुणं भणन्त तान् एव प्राणैः पणैः क्रीणन्ति।

हिन्दी—एक कौडी बराबर उपकार करने से भी प्राप्य कृतज्ञ जनो का आदर धन के लोभी आदर नही करते, किन्तु आश्चर्य है कि सज्जन अपने को उनके अधीन कहते, उन (कृतज्ञो) को ही प्राणो के मूल्य से ही खरीद लेते है।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि धन के लोभी अमीर कृतज्ञता का मूल्य नहीं समझ पाते, उनके लिए तो आदर का कारण धन ही होता है। इसके विपरीत सज्जन कृतज्ञ जनों का अत्यन्त आदर करते हैं और यह समझते हैं कि इनका मूल्य तो प्रामाणिक है, थोड़ा सा उपकार करके उनका क्रय बड़ा सस्ता है। इससे दमयन्ती अपने को कृतज्ञ बनाती हुई स्वीकार के लिए हंस से आग्रह करती है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा प्रशंसात्मक अलंकार ॥ ८८ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधिय प्रसेदे।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

जीवातु—स इति। किञ्च स भूभृन्नल अष्टावपि लोकपाला, तदात्मक इत्यर्थः। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृप' इति स्मरणात्। अत एव तदेकाग्रधियो नले एकानबुद्धे मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्न भावे लिट्। देवता ध्यायत प्रसीदन्तीति भाव। कुत ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्यर्थ। स्वयं स्वयमेवागत्य मम तदाप्तिप्रतिभू नलप्राप्तिलग्नकोऽभूरिति यत्, तन्न घटते हि। तत्प्रसादाभावे कुतो ममेदृ श्रेय ? इत्यर्थ ॥ ८९ ॥

अन्वय—सः भूभृत् अपि अष्टौ अपि लोकपाला, तदेकाग्रधिय मे तै प्रसेदे, हि यत् स्वयम् एत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः अभूः (तत्) इतरस्मात् न घटते।

हिन्दी—वह धरणीधर (राजा नल) भी इन्द्रादि अष्ट लोकपाल रूप है, उस (नल) में ही एकतान बुद्धिवाली (एकाग्रतया अनुरक्त) मेरे प्रति वे (अष्ट लोकपाल) प्रसन्न हो गये हैं, कारण कि जो तुम अपने आप आकर उस (नल) की प्राप्ति में मध्यस्थ हो गये, वह और (लोकपालातिरिक्त) किसी प्रकार से नहीं घटता।

टिप्पणी—दमयन्ती को जो नल से संयोजना का साधक हंस स्वयं मिल गया, वह सामान्य बात नहीं है। यह दमयन्ती के नल के प्रति एकाग्र अनुराग का प्रमाण है। राजा अष्ट लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होता है, सो नल के माध्यम से अष्ट लोकपाल ही दमयन्ती पर कृपालु हो गये हैं। इसी से यह सब घटित हो रहा है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और अनुमान का निर्देश किया है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवाऽर्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

जीवातु—अकाण्डेति । हे हंस ! वि पक्षी 'विविष्किरपतत्रिण' इत्यमरः । 'रोरी'ति रेफलोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अर्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूलं हमानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र काण्डो दण्डः तद्वर्जितमकाण्डं यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्वं नैषधदातृत्वम् । अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः । हृदः चन्दनलेपकृत्यं शैत्योत्पादनं न कर्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु ।' 'स्याद्वीरणं वीरतरम् मूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अभयं नलदं सेव्यमि'ति चामरः वीरणस्येति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृतया तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षणप्रकृतकार्योपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्करः ॥ ९० ॥

अन्वयः—अकाण्डम् एवमपि आत्मभुवा अर्जितस्य रणस्य मूलं भूत्वा अपि वि भवान् नलदत्वम् एत्य हृदः चन्दनलेपकृत्यं न कर्ता ? अथ च—'अकाण्डमेव अर्जितस्य वीरणस्य मूलं भूत्वा अपि भवान् न कर्ता ?'

हिन्दी—अनवसर (कौमारावस्था में) ही मेरे प्रति 'आत्मभू' (काम) द्वारा आरोपित युद्ध के मूलकारण होकर भी हंसविहंगम आप नल को देने वाले होकर मेरे हृदय पर क्या चन्दनलेप का कार्य नहीं करेंगे ? अथवा—विधाता द्वारा मेरे निमित्त सृष्ट पर्वरहित वीरणघास (खस खस) के मूल (जड़) आप नलदत्व (उशीरता—खस-खस होना) को प्राप्त होकर मेरे (संतप्त) हृदय पर चन्दन का (ठंडा) लेप न करेंगे ? करना ही उचित है।

टिप्पणी—दमयन्ती पर अनवसर ही कौमारावस्था में ही काम ने युद्ध आरोपित कर दिया है, जिसका कारण है नल का संवाद देने वाले हंस।

तो उचित यही है कि वह हंस ब्रह्मा द्वारा दमयन्ती के निमित्त ही विशेषतः उत्पादित गर्वरहित खस-खस घास के भाव को प्राप्त कर—शीतलता-दायक खस-खस (उशीर) बनकर, विरहसंतप्त दमयन्ती के हृदय पर चन्दन-लेप के समान राजा नल की उपलब्धि करावे । जिसने पीड़ा दी, वही उपचार करे । यही उचित है । हंस ही इस कार्य को सम्पन्न कर सकता है, अन्य कोई नहीं । यहाँ 'वीरण' में शब्द-श्लेष है, अन्यत्र अर्थ-श्लेष । परिणाम अलंकार भी है, क्योंकि 'नलदत्वम् एत्य'—इसमें प्रकृत और अप्रकृत के अभेदाध्यवसाय द्वारा हंस में आरोप्यमाण उशीर का प्रकृति के साथ तादात्म्य से 'मदनकृत्य'-रूप प्रकृत कार्य में उपयोग है और परिणाम होता ही है आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता में । इस प्रकार यहाँ श्लेषोत्थापित-परिणाम होने से संकर है ॥ ९० ॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः ।
गुरूपदेशं प्रतिभेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः ॥ ९१ ॥

जीवातु—अलमिति । हे हंस ! विलम्ब्य अलं न विलम्बितव्यमित्यर्थः । 'अलङ्खल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः । त्वरितुं वेला हि त्वराकाल इत्यर्थः । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति तुमुन् ? स्थैर्यसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः किलेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विनश्यत्येव इति भावः, तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिभा प्रज्ञा गुरूपदेशमिव आर्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः । उपमार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः ॥९१॥

अन्वयः—विलम्ब्य अलम्, हि त्वरितुं वेला, किल स्थैर्यसहे विचार, तीक्ष्णा प्रतिभा गुरूपदेशम् इव आर्तिः जातु कालं न प्रतीक्षते ।

हिन्दी—विलंब मत करो, शीघ्रता करने का समय है, जिसमें विलंब सह लिया जाय, उस कार्य में सोच विचार किया जाता है । शिष्य की कुशाग्र तुल्य तीव्र नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा जैसे गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करती, वैसे ही पीड़ा विलम्ब (समय) की प्रतीक्षा नहीं करती ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती अब विरह पीड़ा सहने में असमर्थ है, अतः हंस को अब अधिक सोच-विचार के ऊहापोह में समय बिताना ठीक नहीं । तीक्ष्णबुद्धि कार्य करने में यह प्रतीक्षा नहीं करता कि जब गुरु जी

कार्य निर्देश करें, तब वह कुछ करे, वह तो अविलंब कार्य में लग जाता है, विलंब उसे सह्य नहीं, ऐसे ही विरह-पीडा भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती। मल्लिनाथ यहाँ उपमा-अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि मानते हैं, विद्याधर काव्यलिंग उपमा ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम्।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥ ९२ ॥

जीवातु—अथानन्तरकृत्यं सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोकपञ्चकेन। गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तःपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्यः, दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वम् कुतः ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः। तेन बलात् कृतो बलात्प्रवर्तितो अन्यवधूनिषेधः उदयेद् उत्पद्यते ॥ ९२ ॥

अन्वय—यातेन त्वया शुद्धान्तगतः सः राजा मदर्थम् न अभ्यर्थनीयः, हि तदा प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतः अन्यवधूनिषेधः उदयेत्।

हिन्दी—यहाँ से जाकर तुम शुद्धान्तनिवास में स्थित उस राजा से मेरे निमित्त प्रार्थना न करना क्योंकि उस समय प्रिय रानियों के मुख सम्मुख होने से उत्पन्न दक्षिणभाव के अनुरोध से और एक पत्नी के विषय में नकारात्मकता उठ सकती है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने हंस को सलाह दी कि जब राजा नल अन्तःपुर में अन्य रानियों के साथ बैठे हों तो वहाँ वह दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उपस्थित न करे, क्योंकि यह उचित न होगा। कारण कि नल हैं दक्षिण नायक—सब प्रियाओं में एक-सा अनुराग रखनेवाले, उनको अपनी प्रियाओं का मुख देखते अपने दक्षिणभाव के कारण एक और पत्नी लाने का प्रस्ताव अनुकूल न लगेगा। राजा के मन में दो भाव उत्पन्न होंगे—एक तो और एक पत्नी लाने के संबन्ध में लज्जा, दो—समक्ष उपस्थित प्रियाओं से अधिक सुन्दरी की कल्पना के कारण उनकी अवज्ञा समझी जाने से उनके प्रति प्रीति का अभाव प्रकट होगा। उस स्थिति में हंस का दमयन्ती विषयक प्रस्ताव उचित न होगा। काव्यलिंग अलंकार ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥९३॥

जीवातु—शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तसन्तुष्टे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निगदितव्यम्, ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमदे'त्यादिना सोपसर्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अपां तृप्ताय अद्भिस्तृप्तायेत्यर्थः । 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थानां प्रीयमाण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्मधुरा सुगन्धिः कर्पूरादिवासना शोभनगन्धा । अत्र कवीनां निरङ्कुशत्वाद्गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तत्वनियमानादरः । तुषारा शीतला वारिधारा न स्वदते न रोचते हि । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९३ ॥

अन्वय—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यम्, हि अपां तृप्ताय स्वादुः सुगन्धिः तुषारा वारिधारा न स्वदते ।

हिन्दी—जब निषधराज शुद्धान्तपुर में संभोग करके परितुष्ट हो, तब भी यह कार्य (विवाह-प्रस्ताव) न करना, क्योंकि जो जन जल पीकर पूर्णत: तृप्त हो चुका है, उसे स्वादिष्ट, सुगन्धि और अति शीतल जल की धारा में भी स्वाद नहीं आता ।

टिप्पणी—एक दूसरे अनवसर की ओर संकेत । जो नारी भोग से तृप्त हो, उसे स्त्री-चर्चा वैसे ही अरुचिकर लगती है, जैसे जिसकी प्यास बुझ गयी है, उसे स्वादिष्ट, कर्पूर-केवड़ा आदि की सुगन्ध से युक्त अति शीतल जल भी नहीं रुचता । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास माना है ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥ ९४ ॥

जीवातु—विज्ञापनीया इति । हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य हृदि हृदये क्रुधा क्रोधेन कदुष्णे ईषदुष्णे चकारात्को कदादेशः । मदर्थाः मदर्या अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या, गिरो वाचो न विज्ञापनीयाः न विधेयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिये सिता शर्करापि तिक्तायते तिक्तोभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यष' इति आत्मनेपदम् । अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९४ ॥

अन्वय —हंसकुलावतंस, नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे त्वया मदर्था गिरः न विज्ञापनीया रसने पित्तेन दूने सिता अपि तिक्तायते।

हिन्दी—हे हंसवंशप्रसूत, निषधराज का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर तुम मेरे निमित्त वचन न कहना, जीभ के पित्त बिगड़ने से दूषित होने पर मिसरी भी तीती लगती है।

टिप्पणी—तीसरे अनवसर की चर्चा। क्रोध में व्यक्ति को उचितानुचित का भान नहीं रहता, सो जब निषधराज कुछ क्रुद्ध हों, तब भी दमयन्ती-विषयक चर्चा का कुफल हो सकता है। यद्यपि दमयंती रूपगुणसंपन्ना अनुपम रमणीरत्न है, फिर भी उचित अवसर का अभाव उसे अवमानना योग्य बना सकता है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास माना है और 'तिक्तायते' को उपमा कहा है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते।
तदार्थितस्यानवबोधनिद्रा- बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

जीवातु—धरेति। तुरं त्वरितं सहयत्यभिभवत्यरीनिति तुरापाडिन्द्रः सहतेर्ण्यन्ताद्विकरवात् क्विप्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः, प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धभोजस्तु तुरासाहशब्दं टाबन्तमाह। तस्मिन् धरातुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाड् पत्वात् 'सहे साड सः' इति पत्वं नास्ति। कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्थयाच्ञा मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या। तथाहि—तदा व्यासङ्गकाले अर्थितस्य अनवबोधः अबोध स एव निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञानं बिभर्ति, अनादरप्रतीतिं करोतीत्यर्थः। तच्चातिकष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वय—धरातुरासाहि कार्यान्तरचुम्बिचित्ते मदर्थयाच्ञा न कार्या, तदा अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाचरणस्य मुद्रां बिभर्ति।

हिन्दी—धरती के इन्द्र (नल) का चित्त जब अन्य कार्य में तल्लीन हो, तब भी मेरे निमित्त याचना न करना, उस समय याचित (नल) की प्रबोधरूप—अप्रबोधरूप निद्रा अवहेलना का रूप धारण कर सकती है।

टिप्पणी—एक चौथा अनवसर। अन्य कार्यासक्त नल भी दमयन्ती-

विषयक प्रार्थना के लिए उपयुक्त न होगा। दूसरे काम में चित्त के आसक्त होने पर वह इस प्रार्थना पर ध्यान न दे सकता है और प्रस्ताव की अवज्ञा हो सकती है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार काव्यलिंग। इस प्रकार चार श्लोकों में दमयन्ती ने प्रस्ताव के निमित्त चार अनुपयुक्त अवसरों का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन् समयं समीक्ष्य।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योः कार्यस्य काऽर्य्यस्य शुभा विभाति ॥९६॥

जीवातु—विज्ञेनेति। तस्मात् कारणात् विज्ञेन विवेकिना त्वया समयं समीक्ष्य इदं कार्यमस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम्। विलम्ब्य स्यादित्याशङ्क्याह—आत्यन्तिकेति। हे हंस! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योर्मध्ये आर्यस्य विदुषस्ते का कतरा शुभा समीचीना विभाति? अनवसरविज्ञापने कार्यविघातादवर विलम्बनेनापि कार्यसाधनमिति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मात् विज्ञेन त्वया समयं समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरेन्द्रे विज्ञाप्यम्। कार्यस्य आत्यन्तिकी सिद्धिविलम्बसिद्ध्योः आर्यस्य का शुभा विभाति?

हिन्दी—अतएव विवेकी आप उचित समय की समीक्षा कर यह (प्रस्ताव) इस नरराज (नल) के समुख उपस्थित करें। कार्य पूर्णतया सिद्ध ही न हो अथवा विलम्ब से सिद्ध हो—इन दोनों स्थितियों के मध्य कौन सी स्थिति आपको शुभ (भली) प्रतीत होती है?

टिप्पणी—कार्य की दो स्थितियाँ सम्भव हैं—(१) वह सम्पन्न न हो, (२) वह विलम्ब से सम्पन्न हो। कोई समझदार मानेगा कि पहिली की अपेक्षा दूसरी ही स्थिति भली है। तो हंस को अपना प्रस्ताव उचित अवसर पर ही रखना चाहिए, भले ही कुछ विलम्ब हो जाये। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ९६ ॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा साऽनौचिती चेतसि नश्चकास्तु।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—इतीति । इत्थमुक्तवत्या तया लज्जा अलोपीत्यवक्तेति यत् । सा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, अनौचिती अनौचित्यङ्कृतमेतत् नोऽस्माक शृण्वता चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मर साक्षी प्रमाण, य स्मर ता भैमीमुन्माद्य उन्मादावस्था प्राप्यैतत्तदनुचित वचनमवी-वदत् वादयतिस्म । वदतेर्णौ चङि 'गतिवुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुं कर्म-त्वम् । प्रकृतिस्थस्याय दोषो न कामोपहतचेतसि इति भाव ॥९७॥

अन्वय —इति उक्तवत्या यत् लज्जा अलोपि सा न चेतसि अनौचिती चकास्तु, तददोषतायां स्मर साक्षी, य ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत् ।

हिन्दी—यह सब (उपर्युक्त) कहती दमयती ने जो लज्जा का लोप कर दिया, वह भले ही हम लोगो के चित्त मे अनुचित प्रतिभासित हो, किन्तु उस (दमयती) को निर्दोषता मे काम ही प्रमाण है, जिसने उसे उन्माद से भरकर यह कहलाया ।

टिप्पणी—लज्जा त्याग कर बाला दमयन्ती जो यह सब बोल गयी, वह श्रोता, पाठक अथवा कवि को अनुचित लग सकता है, पर दोष उसका नहीं उस काम का है जिसके कारण उत्पन्न उन्माद ने उससे यह कहला डाला । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमा मुदमुद्वहेते ।
पूर्वस्स्मरस्पर्धितया प्रसून नून द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—कामो वा किमर्थमेव कारयतीत्याशङ्क्य तस्याय निसर्गो यदुन्मत्तेन क्रीडतीति सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हर स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमा दुरन्ता मुदमुद्वहेते दधतु । वहे स्वरितेत्वादात्मनेपदम् किन्तु तत्र निर्देशक्रमात् पूर्वो हर स्मरस्पर्धितया स्मरद्वेषितया प्रसून धुत्तूरकुसुम तस्यायुधत्वेति भाव । अन्यस्तु द्वितीय स्मरस्तु विरहाधिदून विरहव्यथा-दुःस्थमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थ । अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थ । 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरि'ति विश्व । उभयोरभेदाध्यवसायात् समान-धर्मत्वविशेषणमत्रश्लेषात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उभयश्लेष तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

अन्वय —परस्परस्पर्द्धितया नून हर: स्मर: च द्वौ अपि उन्मतम् आसाद्य असीमा मुदम् उद्वहेते, पूर्वं प्रसून द्वितीय विरहाविद्धनम् ।

हिन्दी—अन्योन्य के प्रतिस्पर्धी होने के कारण महादेव शिव और काम ये दोनो ही ऐसा लगता है कि उन्मादी को प्राप्त कर असीम प्रसन्नता-धारण करते हैं। इनमे पहिले शिव उन्मत्त अर्थात् धतूरे के फूल को, और दूसरा काम उन्मत्त अर्थात् विरहोन्मादी जन को अथवा शिव के गण पिशाच को (प्राप्त कर)।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक मे दमयन्ती के उन्मादजनित निर्लज्ज व्यवहार का कारण स्मर बताया गया था। यहाँ कवि और-एक सभावना करता है। उन्मत्त का अर्थ उन्मादग्रस्त तो है ही, धत्तूर और पिशाच भी है। इस आधार पर कवि सकेत करता है कि शिव और काम दोनो 'उन्मत्त' को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। उन्मत्त-धतूरा शिव को प्रिय है और उन्मत्त पिशाच तो उनका गण ही ठहरा। तो दोनों की प्राप्ति पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है। प्रतिस्पर्द्धा की बात यहा यह है कि शिव-काम में शत्रुभाव है, तो 'उन्मत्त' को प्राप्त कर दोनो मे प्रसन्न होने की भी प्रतिस्पर्धा हो जाती है कि कौन अधिक प्रसन्न हो? उन्मत्त 'धत्तूर' काम का एक बाण ही है, सो उसकी प्राप्ति उसकी प्रसन्नता का कारण होगी ही, 'उन्मत्त' व्यक्ति इसलिए उसकी प्रसन्नता का कारण बनता है कि वह अपने प्रभाव की सिद्धि देखता है।

अथवा शिव काम के आयुध-प्रतिस्पर्द्धी के अस्त्र 'धत्तूर' को पाकर प्रसन्न होते हैं कि चलो, शत्रु की वस्तु पर अधिकार हुआ। ऐसे ही काम भी 'उन्मत्त' अर्थात् पिशाच को पाकर प्रसन्नता से भर जाता है कि चलो, शत्रु का एक सेवक पकड मे आया।

अथवा दोनों ही परस्पर स्पर्द्धा मे उन्मत्त को पा एक-दूसरे से अधिक प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

'विश्व' कोष के अनुसार 'उन्मत्त के अर्थ हैं उन्मादी और धत्तूर और मुचुकुद। इस प्रकार दोनों मे अभेद होने से समानधर्मत्व विशेषणभाव है, इस प्रकार प्रकृताप्रकृत गोचर होने से यहाँ शब्द और अर्थ श्लेष हुआ, जिससे

हर के तुल्य स्मर भी उन्मत्तप्रिय है, यह उपमा व्यग्य होती है। यह जीवातु-कार मल्लिनाथ का कथन है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा व्यतिरेक अलकार है ॥९८॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्री निर्णाय ता नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूय ॥ ९९ ॥

जीवातु—तथेति । तथाऽभिधात्री ता राजपुत्री भैमी नैषधे नले बद्धरागा निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूय चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्व-ममोचि आवादीदित्यर्थ ॥ ९९ ॥

अन्वय—अथ तथा अभिधात्री ता राजपुत्री नैषधबद्धरागा निर्णीय तेन विहायसा विहस्य भूय चञ्चूपुटमौनमुद्रा अमोचि ।

हिन्दी—इसके अनतर उस प्रकार कहनेवाली उस राजकुमारी को निषध-राज के अनुराग मे आबद्ध मानकर उस पक्षी ने हँसकर पुन अपनी चोच की मौनस्थिति का परित्याग किया, अर्थात् कहने के लिए चोच खोली ।

टिप्पणी—हस को दमयन्ती के नल पर अनुरक्त होने का विश्वास हो गया और वह कहने लगा। विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है और छेकानुप्रास अलकार ॥९९॥

इद यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्व पश्यामि तत्र स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नल च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

जीवातु—इदमिति । हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इद त्वदुक्त तत्त्व यदि सत्य यदि तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेय मत्कृत्य न पश्यामि, किन्तु त्वा नृप च उच्च-कैरत्यर्थ तापयता पञ्चेषुणैव इय योजना युवयो सङ्घटना अजनि जाता । जने कर्मणि 'चिणो लुक्' ॥ १०० ॥

अन्वय—क्ष्मापतिपुत्रि, यदि इद तत्त्व तत् अस्मिन् स्वविधेय न पश्यामि, त्व नृप च उच्चकै तापयता पञ्चेषुणा एव इय योजना अजनि ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी की बेटी, यदि यह (तवोक्त) सत्य है, तो इस सबध मे मुझे कुछ करणीय नही दीखता, तुम्ह और राजा नल को अत्यधिक विरह सतप्त करते पञ्चबाण (काम) ने ही इस योजना की सृष्टि की है ।

टिप्पणी—दमयन्ती और नल के मन में एक-दूसरे को पाने की अदम्य कामना है, अतः हंस का कार्य अब कुछ रह ही नहीं जाता। योजना तो बनी-बनायी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ कार्यकारण पौर्वापर्यरूपा अतिशयोक्ति है ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्वं देवभूयं चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

जीवातु—त्वदिति। किन्तु त्वद्बद्धबुद्धेः त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव ध्यायत इत्यर्थः। अत एव तस्योपवासव्रतिनां त्वदासङ्गादिपयान्तरव्यावृत्तानां तपोभिरुक्तोपवासव्रतरूपैरद्य त्वां लब्ध्वा मन्मुखेन लब्धप्राया निश्चित्य साक्षाल्लप्स्येति च मन्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं स्वकीयं देवभूयं देवत्वमिन्द्रियत्वं सुरत्वञ्च, 'देवं सुरे घने देवमाल्यातमिन्द्रियमि'ति विश्वः। चरितार्थं सफलमस्तु। अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्वस्यादिति भावः। अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—त्वद्बद्धबुद्धेः तस्य उपवासव्रतिनां तपोभिः अद्य त्वां लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजां बहिरिन्द्रियाणां स्वं देवभूयं चारितार्थ्यम् अस्तु।

हिन्दी—तुम्हारे प्रति अपनी बुद्धि को प्रतिबद्ध किये उस (नल) की उपवास-व्रत में रमीं, तपश्चरण द्वारा आज तुमको प्राप्त कर अमृतपान की परितृप्ति की भाजन बाह्य इन्द्रियों का अपना 'देवत्व' (इन्द्रियत्व और देवता होना) सफल हो।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग के विषय में जानकर नल चरितार्थ हो जायेगा, उनकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ तृप्त हो जायेंगी, जैसे दमयन्ती के रूप में उन्हें अमृत की मन्दाकिनी मिल गयी हो। इस प्रकार उनका देवत्व अर्थात् इन्द्रिय-होना ही चरितार्थ न होगा, प्रत्युत देवत्व अर्थात् देव होना भी सफल हो जायेगा, क्योंकि यह माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता का वास होने से वे 'देव' कही जाती हैं। उदाहरणार्थ—सूर्य 'चक्षु' होकर आँखों में प्रविष्ट है—'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' (ऐतरेय० २।४)। दमयन्ती के अभाव में नल की इन्द्रियाँ न तो कृतकाम ही थीं और न उक्त 'देव' नाम हो

सार्थक था, अब वे कृतकाम होंगी। 'विश्व' कोप के अनुसार 'देव' शब्द सुर, राजा और इन्द्रिय अर्थों का वाचक है। व्यक्ति उपवासादि व्रत-परिपालन में लगकर तपस्यारत हो और तल्लीन भाव से ब्रह्म में बुद्धि लगाकर ही पुण्य भाजन हो ब्रह्म को प्राप्त करता है और मोक्षानन्द रूप देवत्व प्राप्त करता है, ऐसी ही नल की बाह्येन्द्रियों की स्थिति है। मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थान्तर प्रतीति से ध्वनि का संकेत किया है, विद्याधर समासोक्ति मानते हैं ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि ।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्यातनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

जीवातु—यदुक्तं नृपं पञ्चेषुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति। आवयो-र्नलस्य मम चेत्यर्थः। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति सत्रग्रहणात्त्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेषः। मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत्। तत्र मदीया सा मूर्तिः परं निःशेषं दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन्-ईर्ष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः। तस्य नलस्य देहतापं विधत्ते। तस्मात्तद्विपदमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वय—आवयो मूर्तिः तुल्या अभूत्, मदीया दग्धा परम् अस्य सा ताप्यते अपि न—इति अभ्यसूयन् इव अतनुः त्वद्विरहात् तस्य देहतापं विधत्ते।

हिन्दी—हम दोनों (काम-नल) का रूप समान था, मेरा (काम का) देह तो जल गया, किन्तु इस (नल) का देह तपाया भी नहीं जाता—इस प्रकार मानो ईर्ष्या करता अदेह कामदेव तेरे वियोग से उसके देह को तप्त कर रहा है।

टिप्पणी—विरही नल की स्मरजन्य ताप दशा का व्याज से वर्णन। विद्याधर ने यहाँ चिन्ता नामक स्मर दशा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, प्रकाशकार यहाँ कामजनित विरहज्वर मानते हैं ॥ १०२ ॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।
चक्षुर्नरैरर्पितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥ १०३ ॥

जीवातु—अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—

लिपिमित्यादि। हे नैमि! न नृपो भित्तिविभूषण कुड्यालङ्कारभूता लिपि चित्रमयीं त्वा दृशा आदरेणास्यया निर्निमेष पिबन् चक्षुर्रंरश्रुभिरर्पित त्वया नु त्वया वा रचितमात्मचक्षुषो रागमाद्यमनुरागञ्च धत्ते। अत्रोभयकारण-सम्भवादुभयस्मिन्नपि रागे जाते रत्येनहिम्नैकत्राभिधानात्कारणविशेष सन्देहः॥

अन्वयः—स नृप भित्तिविभूषण लिपि त्वा दृशा आदरनिर्निमेष पिबन् चक्षुर्रंरैः अपित नु त्वया रचितम् आत्मचक्षुराग धत्ते।

हिन्दी—वह राजा दीवार की अलंकार चित्ररूप में बनी (दीवार पर बने चित्र रूपमें) तुमको दृष्टि से आदर पूर्वक बिना पलक झपाये पीता हुआ (एकटक आदर-अनुराग से देखता) आंखो से बहती आंसू की झड़ी से जनित मानों तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किये—अपने नेत्रों में लाली को धारण कर अपनी आंखो के अनुराग प्रकट कर रहा है।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के 'चक्षु-प्रेम' का वर्णन है। वह दीवार पर बने दमयन्ती के चित्र को अनुराग और आदर से एकटक निहारता रहता है, जिससे उसकी आँखों से आँसू बह जाते हैं और वे लाल हो जाती हैं, इसी पर कवि की कल्पना है कि नेत्रों का यह एकटक निहारना, आंसू बहाना और लाली उसके 'चक्षु-प्रेम' का प्रमाण है। कवि-समय के अनुसार अनुराग का रंग लाल माना जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ संदेह अलकार है, क्योंकि चक्षुराग का कारण एकटक निहारना अथवा अनुराग—दोनों हो सकते हैं। विद्याधर नयन-प्रीति और विषय निवृत्ति स्मर-दशा मानते हुए उत्प्रेक्षा अलंकार मानते हैं। प्रकाशकार ने उत्प्रेक्षा का कारण माना है कि वाष्पजनित-लालिमा मानो दमयन्ती विषयक, तद्रचित नयनानुराग है। प्रथम काम दशा। 'रतिरहस्य' के अनुसार दस काम-दशाएँ हैं—'नयनप्रीतिः प्रथम चित्ता-सङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः। उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता स्मरदशा दशैव स्युः'॥ १०३॥

पाण्डुर्दशाऽऽश्लेषमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमोल्यार्जित्त।
ममेदमित्युग्रुगि नेत्रवृत्ते प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः॥ १०४॥

जीवातु—इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पातुरिति । अस्तनिमीलया निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयी चित्रगतां त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थः पिबतेस्तृन् प्रत्ययः । अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्त्वमिति द्वितीया । नृपस्य नेत्रवृत्ते प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति दोषः । भिदादित्वादङ् प्रत्ययः । अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

अन्वय—अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयीं त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य नेत्रवृत्ते प्रीते निमेषच्छिदया विवादः अस्ति ।

हिन्दी—अपलक दृष्टि से चित्रगता (चित्र में बनी) तुमको आदर से पीते (निहारते) राजा के नेत्रों में वर्तमान अनुराग का निमिषच्छिदा (अपलक देखना) से विवाद चल रहा है ।

टिप्पणी—नेत्रानुराग का अन्य भंगिमा से वर्णन । नेत्रप्रीति और निमिषच्छिदि—दोनों का दावा है कि नयनाश्रु का कारण वह है । नेत्र प्रीति कहती है—ये आँसू मैंने उत्पन्न किये हैं, निमिषच्छिदि कहती है मैंने । यहाँ भी 'नयनप्रीति' काम दशा का ही वर्णन है ॥ १०४ ॥

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या ।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

जीवातु—अथ मनःसङ्गमाह—त्वमिति । हे भैमि ! त्वं बहिर्गतापि हृद्गता अन्तर्गता, अति विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुः क्यङ् प्रत्ययः । नासि अस्येवेत्यर्थः । यतः प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः । अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यरसः चित्तमाक्रामति न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः । कुतः यद्यस्मादेतन्मनो नलवित्त भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्ति", भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । जीवितभूतस्य प्राणायितत्वं किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः ॥

अन्वयः—हे भैमि, (१) बहिर्गता अपि हृद्गता त्वं कथं गत्या अस्य प्राणापिता न असि ? (२) बहिर्गता त्वं नासिकया आस्यगत्या अपि प्राणापिता । (१) यत् भवदेकवृत्ति एतत् मनः चित्रम्, न आक्रामति तत् चित्रम् । (२) चित्रं तत्र चित्तं न आक्रामति यत् एतत् मनः भवदेकवृत्ति ।

हिन्दी—हे भीमकुमारी, (१) बाहर रहती भी हृदय में बसती तुम किस प्रकार इस (नल) की प्राणतुल्या नहीं हो ? हो ही । (२) बाहर निवास करती तुम नासिका और मुख की गति (सौन्दर्य) से नल के प्राणों में स्थित हो अर्थात् प्राणसमा हो, जैसे नासिका द्वारा बारह अंगुल बाहर गया वायु मुख द्वारा प्रविष्ट हो प्राणवायु की संज्ञा पाता है । (२) या कि आपके प्रति एकनिष्ठ यह मन चित्रसमान अचंचल, आपके चित्र पर झपट क्यों नहीं कर देता—यह आश्चर्य है (विरह चपल हो आक्रमण कर देना चाहिए) । (२) तुम्हारा चित्र चित्त को नहीं छोड़ता, क्योंकि यह मन आपमें तल्लीन है ।

टिप्पणी—तृतीय चरण में 'चित्तम्' भी है और पाठान्तर 'चित्रम्' भी । वस्तुतः इसमें दूसरी स्मरदशा चिन्तासंग का वर्णन है, जिसमें मन की दमयन्ती के प्रति तन्मयता और एकनिष्ठता का विवेचन है । विद्याधर ने यहाँ विषय-निवृत्ति और संकल्प नामक कामदशाओं का प्रतिपादन माना है तथा विरोधाभास श्लेष-उपमा की संसृष्टि ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम् ।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥ १०६ ॥

जीवातु—अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति । दूरदीर्घामत्यन्तायतां तदीयां सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् ततिं पङ्क्तिमजस्रमनारोहसि, श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् तन्मयतां त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, प्राप्येतेरङ्, समासे क्त्वो ल्यबादेशः, अन्यथा कथमन्यायासादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः । अत्र श्वास सोपानारोहणयोः कार्यकारणयोर्वैयधिकरण्योक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयो-

भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'तिलक्षणात् तन्मूला चेय तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ १०६ ॥

अन्वय —दूरदीर्घां तदीया सङ्कल्पसोपानततिम् अजस्रम् आरोहसि यद् पुन स तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिक श्वासान् वमति ।

हिन्दी—तुम उस (नल) के मनोरथो की बहुत बडी सीढ़ियो पर निरन्तर चढी रहती हो (नल प्रतिक्षण तुम्हारे विषय मे ही विचारता रहता है) कि वह नल तुम्हारे ध्यान मे उस समय त्वत्स्वरूप हो लम्बे लम्बे सॉस छोडता है ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय स्मरदशा सङ्कल्प का वर्णन है । नल दमयन्ती को प्राप्त करने के उपाय सदा सोचता रहता है और लम्बे नि श्वास छोड़ता रहता है । वह दमयन्ती का ध्यान करते-करते तत्स्वरूप ही हो जाता है भृ गीकीट के समान । सीढियो पर बारम्बार चढ़ता-उतरता व्यक्ति श्रम के कारण लम्बे उच्छवास लेता हो, सो सकल्पसोपानतति पर निरन्तर आरोहण करती दमयन्ती के ध्यान मे तद्रूपता के कारण मानो थका नल सयत्न उच्छ्वासें छोडता रहता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्वास-सोपानारोहण रूप कार्य-कारणो की वैय-धिकरण से उक्ति के आधार पर असगति अलकार है, कारण कि कार्य कारण की भिन्न-देशता असगति होती है—कार्य कहीं, कारण कही । नल के दमयन्ती-तादात्म्य की उत्प्रेक्षा असगतिमूलक है, अत सकर है । विद्याधर के अनुसार यहाँ असगति अलकार का आभास है ॥ १०६ ॥

हृतस्य या मन्त्रयते रहस्त्वा ता व्यक्तमामन्त्रयते मुख यत् ।
तद्वारिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

जीवातु—हृदिति । तस्य नलस्य हृद् हृदय कर्तृ या त्वा रह उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमर । मन्त्रयते सम्भाषते ता त्वा तन्मुख कर्तृ व्यक्त प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिय ! क्व यासि ? मामनुयान्त पश्य इत्येव-मुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशन, विषयप्राधान्याद् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वारिणा नलद्वेषिण पुष्पायुधस्य मित्र सखा चन्द्र । तेन यत् सख्य मैत्री सादृश्यञ्च, तस्य औचिती औचित्य खलु । अरिमित्रस्याप्यरित्वा-

दुचितमेतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः । अत्र मुखकर्तृकरहस्योद्भेदनस्य तत्तद्वैरनिमित्तत्वोत्प्रेक्षेयम् ॥ १०३ ॥

अन्वय—अस्य हृदि या त्वां रहः मन्त्रयते तां मुखं व्यक्तम् भाषयते, तत् तन्मुखस्य तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रस्योचितो ननु ।

हिन्दी—इस (नल) का हृदय जो तुमसे एकान्त में गुप्त मन्त्रणा करता है, मुख उसे स्पष्ट व्यक्त कर देता है, उस (नल) के मुख की (स्पष्ट व्यक्ति) उस (नल) के शत्रु कुसुमायुध (काम) के मित्र चन्द्र का मित्रजनोचित व्यवहार ही है ।

टिप्पणी—यह भी उत्कल्प देता है । भाव यह है कि नल तो मन-ही-मन गुप्त रूप से दमयन्ती-विषयक विचार करता है, परन्तु उसके मुख पर झलकते वियोगजनित पीलापन, म्लानभाव आदि उसके भाव को प्रकट कर देते हैं । सौन्दर्यादि-रूप श्री के कारण काम नल का प्रतिस्पर्द्धी और शत्रु है, चन्द्र काम का मित्र है । मित्र का शत्रु शत्रु होता है—इस दृष्टि से नल चन्द्र का भी शत्रु हुआ । मुख की प्रतिस्पर्द्धा (मुख-चन्द्र) के कारण भी चन्द्र नल और नल मुख का शत्रु है । अथवा मुख रूप में चन्द्र ही है, जो अपने मित्र (काम) के शत्रु (नल) का रहस्य प्रकाशित कर रहा है और इस प्रकार नल की कामासक्तता की स्पष्ट घोषणा कर रहा है । मुखरूप चन्द्र का इस प्रकार मित्र की सहायता करना मित्रजनोचित व्यवहार है । उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ १०३ ॥

स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती ।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥

जीवातु—अथ एकेन जागरणरतिप्रश्नावाह—स्थितस्येति । रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां शयित्वा 'अधिशीङ्स्थासाम्' इति अधिकरणस्य कर्मत्वम् । स्थितस्य तस्य मनो मोहे सुखसारवश्ये निमज्जयन्ती सती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते त्वया विना 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना पञ्चमी । त्वद्विरहादेवोऽस्त्वदन्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्राभावा-ज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विप्रलम्भलक्षणा अरतिश्चोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनाचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलप्रकृतगोचरा-

(३) वर्णनप्रधान तो महाकाव्य को होना ही चाहिए, पर वर्णन रोचक और सजीव हो। इससे पृष्ठभूमि, घटनाएँ, चरित्र, उनके कार्य—सभी का उद्घाटन होता है।

(४) कुछ आचार्यों की मान्यता है कि 'एपिक' में 'हीरोइक मीटर' (वीररसात्मक छंद) का प्रयोग उचित है, परन्तु वीररस के अतिरिक्त अन्य-रसप्रधान काव्यों के लिए यह उपयुक्त नहीं होता, अत अन्य मनीषी मानते हैं कि भावानुरूप छन्दोयोजना उचित है। शैली भी भावानुरूपिणी ही होनी उचित है।

(५) महाकाव्य के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न उद्देश्य बताये हैं। प्राचीनतम आचार्यों ने नैतिकता और धार्मिकता पर बल दिया है, जबकि अरस्तू ने आनन्द और सत्य का उद्घाटन महाकाव्य का उद्देश्य माना है। जो भी हो, महाकाव्य का उद्देश्य होना महान् ही चाहिए, उसकी व्यापकता और प्रभावशीलता स्वत लोकरंजन में समर्थ होगी।

भारतीय और पाश्चात्य—दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान देने से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि कथावस्तु, चरित्र, शैली और उद्देश्य—इन चारों अगों की दृष्टि से महाकाव्य को 'महान्' होना चाहिए। उसका महाद् कलेवर ही उसे 'महाकाव्य' नहीं बनाता, प्रत्युत उसकी महत्ता के आधारभूत कथावस्तु आदि अग ही हैं जिनकी उदात्तता उसे महाकाव्य बनाती है।

दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान रखते हुए 'नैषधीयचरित' की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसमें प्राय ये सभी विशेषताएँ हैं।

(१) इतिवृत्त अथवा कथावस्तु—'नैषध' की कथा 'पुराणेतिहासादि-प्रसिद्ध वृत्तांत' अर्थात् ख्यात है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है कि 'महाभारत' के वनपर्व का 'नलोपाख्यान' (५८–७८ अध्याय) इसका प्रमुख आधार है। जैसा कि 'प्रकाश'-कार ने लिखा है, 'नषध' का आरम्भ पुण्यश्लोक नलरूप विशिष्ट के निर्देश से हुआ है—'अत्र पुण्यश्लोकनलरूपविशिष्टवस्तु-निर्देशन निर्विघ्नप्रन्थसमाप्ति ।' 'इतिवृत्त'—सघटन 'पञ्च-सन्धि समन्वित' है। मुखसन्धि है—प्रथम, द्वितीय, तृतीय सर्ग मे। इन सर्गों में 'नानार्थ रस-सम्भवा बीजसमुत्पत्ति' हो जाती है—दमयन्ती-नल का अनुरागरूप बीज समुत्पन्न हो जाता है। चतुर्थ सर्ग मे प्रतिमुखसन्धि है, जिसमें आरब्ध बीज का

उद्घाटन होकर उत्तरोत्तर विकास का तारतम्य दृष्टिगोचर हो जाता है। दमय ही के पिता भीम दमयन्ती-स्वयंवर का निश्चय करते हैं। पञ्चम से नवम सर्ग का कथानक 'गर्भसंधि' है। भरतमुनि के अनुसार जहाँ मुख तथा प्रतिमुख संधि की उत्पत्ति और उद्घाटन दशाओं से आविष्ट बीज का उद्भेद अथवा प्राप्ति या अप्राप्ति और पुनरन्वेषण होता है, वह गर्भसंधि है। (नाट्य शास्त्र १९।४१)। अभिनवगुप्त के अनुसार उद्भेद का अर्थ है 'फलजनाभिमुखता'। प्राप्ति नायकविषया होती है और अप्राप्ति प्रतिनायकविषया। प्राप्ति, अप्राप्ति और अन्वेषण— इन्हीं बार बार होती रहती अवस्थाओं से युक्त गर्भसंधि होती है। इन सर्गों में नल देवदूत हो दमयन्ती से मिलते हैं। और स्वयंवर में सम्मिलित होने का वचन देते हैं। इसमें प्राप्ति है नल विषया, अप्राप्ति है देवादिप्रतिनायक विषया और अन्वेषण है वह नल का स्वयंवर में सम्मिलित होने का वचन, जिससे फल प्राप्ति की आशा बधती है। विमर्शसंधि का प्रसंग आता है चतुर्दश सर्ग के समाप्त होते होते, जब देवगण प्रकट हो नल— दमयन्ती को आशीर्वाद और वर देते हैं। इसमें नल—दमयन्ती अनुरागरूप बीज पुनः प्रकट होता है। इस संधि में विघ्नों द्वारा बीजार्थ बाधित होता है, विघ्न— हेतुओं का निदमन होता है, फल प्राप्ति में संदेह भी होता है, किन्तु नियन-फलाप्ति अवस्था व्याप्त रहती है। देवगण विघ्न हैं, पर उनका उपशमन हो, नल दमयन्ती परिणय की आशा नियत हो जाती है। पञ्चदश-षोडश सर्गों में 'निर्वहण' संधि है। बरमाला पड़ती है, विवाह हो जाता है और आगे के सर्गों में सजात नल-दमयन्ती मिलन की पूर्ण भूमिका बन जाती है। पूर्वकथित चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का समानयन हो जाता है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने बताया है कि क्रम से उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेद और गर्भ-निर्भेद रूप बीज विकारों से युक्त, नानाविध सुख दुःखात्मक हास, शोक, क्रोधादि भावों से चमत्कारास्पद उत्कृष्टता प्राप्त मुखादि चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का एक अर्थराशि में समानयन—अर्थात् फलनिष्पत्ति में योजन निर्वहण है, जो फलयोगावस्था से व्याप्त रहता है। (ना०शा० १९।४२ पर अभिनव भारती)। नायक नल का 'काम्य' है दमयन्ती प्राप्ति, वह यहाँ सम्पन्न हो जाता है।

यह कथानक आठ से अधिक अर्थात् बाइस सर्गों में व्याप्त है। कोई सर्ग ऐसा छोटा तो नहीं है, परन्तु एक दो सर्ग दीर्घ अवश्य हैं, भले ही नातिदीर्घ हों, जैसे दो सौ बाईस श्लोकों का सत्रहवाँ सर्ग। सर्गांत में भाविकथा का आभास प्राय मिल जाया करता है।

(३) पात्र—'नैषधीयचरित' के प्रधानपात्र नल और दमयन्ती हैं। प्रतिनायक रूप में हैं इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण, जो आगे चलकर नल के सहायक हो जाते हैं। वस्तुत 'नलोपाख्यान' का प्रतिनायक तो कलि है, जिसका उपयोग ही नैषधीयचरित में अवाञ्छित रहा है। केवल सत्रहवें सर्ग में उसका रोष दिखाया जासका, जिसमें चार्वाकदर्शन का दर्शन तो हो जाता है शेष के लिए अवसर ही नहीं आया। शेष सामान्य पात्र हैं विदर्भनरेश भीम, स्वयंवर में एकत्र नरेश और देवी सरस्वती तथा दमयन्ती की सखियाँ। इन सबकी प्रसगत चर्चा आ गयी है। भीम एक हितचिन्तक पिता हैं, देवी सरस्वती वाग्देवी हैं, जिन्होंने स्वयंवर में दमयन्ती का दिशा-निर्देश किया। कला आदि सखियाँ राजनन्दिनी की उपयुक्त परिचारिकाएँ हैं, राजमर्यादा को समझने वाली। एक विशिष्ट पात्र है पक्षी हंस, जो एक कुशल दूत का काम करता है और जिसकी कथा के माध्यम से करुणप्रसंग की मार्मिक अभिव्यक्ति हो गयी है। इस प्रकार 'नैषध' में मानव मानवी, देव-देवी और मानवेतर प्राणी प्रकार के पात्र हैं, जो यद्यपि सख्या में थोड़े हैं, तथापि गुणों मे प्रभूत हैं।

(क) नल—परम्परा के अनुसार नल सद्वंशोत्पन्न कुलीन क्षत्रिय है, जिसे पुराणादि में पुण्यश्लोक कहा गया है, जो प्रात स्मरणीयों में प्रथम है—पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको युधिष्ठिर। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दन ॥' 'नैषधीयचरित' के आरम्भ के तीस श्लोकों में नल का वर्णन किया गया है, जिनमें उसके रूप, गुण, समृद्धि, बल, वैभव प्रभाव, श्री, शोभा, कांति, उदारता, वीरता, दानशीलता आदि का विस्तार से उद्घाटन किया गया है। वे चतुर्दश विद्याओं के ज्ञाता हैं, कलामर्मज्ञ हैं, 'महोज्ज्वल' हैं और 'महसां राशि' हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वे 'धीरोदात्त' नायक हैं—आत्मप्रशसा की श्लाघा न करने वाले, क्षमावान्, अति गम्भीर, नित्य प्रसन्न, हर्ष शोकादि से अप्रभावित, स्थिरमति, स्वाभि-

मानी और वचनपालक। विश्वनाथ महापात्र के शब्दों में—'अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः। स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥' (सा० द० ३।३२)।

उनके अनुराग की गम्भीरता, करुणार्द्रता, कला-विलास प्रियता, दान-शीलता, दृढ़प्रतिज्ञता आदि के दर्शन इस काव्य में अनेक स्थलों पर हुए हैं। दमयन्ती के प्रति उनका अनुराग गूढ़ ही रहा, उन्होंने उसे प्रकट न होने देने के लिए एकांत उद्यान-सेवन उचित समझा। उन्होंने दमयन्ती को उसके पिता से याचना भी नहीं की। वचननिर्वाह के लिए, देवों को दान करने के लिए उन्होंने ऐसा दूतकार्य किया, जो स्वयम् उनके लिए, स्वार्थ-विघातक था। उनकी करुणाशीलता हंस प्रसंग में व्यक्त हुई है। उनकी करुणाशीलता और उदार व्यवहार के कारण ही हंस ने उनका दूतत्व स्वीकारा। 'नैषधीयचरित' में क्रमशः उनके चरित्र का विकास दिखाया गया है, जो काव्य के नाम और 'चरितकाव्यत्व' को प्रमाणित करता है। नल संस्कृत परंपरा के आदर्श नायक हैं, जिनकी उदात्तता और महत्ता का चरित्र—पाठकों पर व्यापक सत्प्रभाव पड़ता है।

(ख) दमयन्ती—'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि के अनुसार सुख की मूल स्त्रियाँ 'नानाशीला' होती हैं, उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं। इनके प्रकृत्यनुसारी तीन भेद होते है—कुलीना (आभ्यन्तरा), बाह्या (वेश्या) और कृतशौचा (बाह्याभ्यन्तरा)। आभ्यन्तर स्त्री पात्रों में महादेवी देवियाँ और उनका समस्त परिचारिका मंडल आता है। दमयन्ती की सखियाँ भी इसी मंडल की आभ्यन्तर पात्रियाँ हैं। 'नैषधीयचरित' की प्रधान पात्री दमयन्ती भी कुलीना नायिका है, अपने कौमार्यकाल में वह अन्या (अनूढा परकीया) है, विवाहोपरांत वह 'स्वा' (विवाहिता, स्वीया) हो जाती है। नायक संबंध से वह आरम्भ में विरहोत्कंठिता है, विवाहोपरांत वह प्रिय की प्रिया है। 'नैषध' में दमयन्ती को रूप-गुण की दृष्टि से विश्व में सर्वोत्कृष्ट चित्रित किया गया है। उसका नाम ही 'दमयन्ती' इसलिए पड़ा है कि वह अपनी तनुश्री से त्रिलोकी की सुन्दरियों के सौंदर्याभिमान का दमन करनेवाली है —

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ (नै० २।१८)।

'नैषधीयचरित' (२।१८–४३) में उसके रूप-गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है और इस विवरण के पश्चात् हंस-वाणी में यह बताया गया है कि दमयन्ती नल के बिना शोभा न पासकेगी और नल का यह रूप उसके बिना निष्फल है। (२।४४–४५)। इस प्रकार नल-दमयन्ती की परस्परानुकूलता बनायी गयी। नल नरश्रेष्ठ है और दमयन्ती त्रैलोक्यसुन्दरी है–

'प्रिय' प्रिया च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाखिलीलागृहभित्तिकावपि ।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥
(नै० १।३८)

वह नल के सदृश है—'सदृशी तव शूर सा' (२।३९)। हंस दूत ने इसी सब का ध्यान रखते हुए कहा था–

धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ (३।११६)।

वह विदर्भकुमारी धन्य है, जिसने धैर्यधन निषधराज को भी आकृष्ट कर लिया। जैसे चाँदनी गंभीर सागर को भी उत्तरल कर देती है, वैसे ही दमयन्ती ने नल को उत्तरल कर दिया। इससे अधिक उसके विषय में और कहा ही क्या जा सकता है ?

अनेक स्थलों पर 'नैषध' में उसके विविध स्वरूपों का तनुश्री का तथा, अङ्गसुषमा का विशद चित्रण हुआ है, जिससे वह सर्वथा श्रेष्ठ आदर्श नायिका प्रमाणित होती है। आरम्भ में नलमुग्धा अनुरागिणी नायिका है। उसका नल के प्रति अनुराग इतना दृढ़ है कि विश्व में नल के आगे वह किसी को मान्यता नहीं देती, न किसी राजा–सम्राट् को, न इन्द्रादि देवताओं को। उसका चित्त तो केवल नल की कामना करता है– 'चेतो नलं कामयते मदीयम् ।' स्वर्णपुरी लंका की भी उसे कामना नहीं है–'चेतो न लङ्कामयते मदीयम् ।' यदि नल नहीं तो फिर 'अनल' (अग्नि) में जल मरना ही है—' चेतोऽनलं कामयते मदीयम् ।' विवाह होने के बाद उसका अनुराग, पूर्णता को प्राप्त हो जाता है और वह नरराज नल की 'तृतीय पुरुषार्थवारिधि' में तरानेवाली 'तरी' (नौका) बन जाती है। और फिर 'दिवानिश' आनन्द-उल्लास-विलास का सागर उमड़ पड़ता है। हेममयी भूमि से दमकते 'गैरवर्णमणिकोटिकुट्टिमशोभ भूधर' में

मदनाराधना चलने लगती है। 'नैषध' का अठ्ठारहवाँ सर्ग इसीके शृङ्गार से आप्लावित है।

ऋजुता, मधुरता, विनयशीलता आदि दमयन्ती के स्वाभाविक गुणों का विकास 'नैषध' में निरंतर दीखता है। दमयन्ती विश्व काव्य की अविस्मरणी नायिका है, जिसके बाह्याभ्यन्तर शृङ्गार से 'नैषधीय-चरित' मंडित है।

(३) रस—अंगीरस—'नैषधीयचरित' के रचयिता श्रीहर्ष के अनुसार उनका काव्य शृंगारामृतवर्षी शीतकर चन्द्र है—'शृङ्गारामृतशीतगौ' (१।१३०)। रति-काम के परिणयोत्सव पर सहस्रधारों में बरसते देव से वृष्टि की कामना करते हुए इस काव्य की कवि ने आशीर्वादात्मक समाप्ति की है। ये रति-काम दमयन्ती नल का और 'सहस्रधारस्वरूपधारी' देव श्रीहर्ष के 'मधुवर्षि' नैषध काव्य का भी यदि संकेत बनजाते हैं तो अनपेक्षित नहीं है। इसमें थोड़ी भी सन्देह करने का अवकाश नहीं है कि श्रीहर्ष का 'नैषधीय-चरित' शृंगाररसप्रधान उत्कृष्ट महाकाव्य है। इस प्रकार उस शास्त्रीय परम्परा को भी आदर मिल जाता है, जिसके अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर, शांत में कोई एक प्रधान रस होना चाहिए—'शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।' आदि से अंत तक इस महाकाव्य में शृङ्गाररस अंगी रूप में परिलक्षित होता है।

शृंगार—शृंगार के विप्रलंभ और संयोग—दोनों पक्षों का 'नैषध' में सुन्दर चित्रण है। आरम्भ में नल-दमयन्ती विवाह तक विप्रलंभ है और तदनन्तर संयोग। जहाँ तक विप्रलंभ शृंगार का पक्ष है वह शास्त्रीय अधिक है। इसी परम्परा का पालन करके कवि ने यद्यपि वर्णन पहिले नल का किया है, पर रति भाव का जागरण पहिले दमयन्ती में दिखाया गया है। मदन प्रवेश पहिले विदर्भजा के मन में हुआ—'विदर्भजाया मदनस्तथा मनोनलावरुद्धं वयसैव वेशितः।' (नै० १।३२)। नौ श्लोकों (नै० १।३४–४२) में कवि ने दमयन्ती के पूर्वानुराग का वर्णन किया है। यह अनुराग नल के गुणों के श्रवण से उत्पन्न हुआ है, बहाने से उसने नल का चित्र दर्शन पाया और नल के सपने देखने लगी। आगे चलकर यही अनुराग इतना दृढ़ हुआ कि सब

—

को ठुकरा कर दमयन्ती ने नल का वरण किया। स्वयंवर-सभा में बैठे पाँच पाँच नलों को देख उसके मन में उपजे क्षणिक संदेह का उसके हृदानुरागी मन ने ही क्षण में स्पष्ट कर दिया। क्या कारण है कि चार नलों को छोड़कर पाँचवें नल में ही उसकी रुचि विशेष है ? लगता है, जैसे यह पाँचवाँ नल दमयन्ती के मन को सुधा-स्नान करा रहा है—'इतरनलतुलनामागेषु चैष, मुधापि स्नपति मम चेतो नैषध कस्य हेतो ?' (नै० १३।५३)। और यथासमय दमयन्ती ने नल के गले में दूब के अंकुरों से सजी मधूकमाल डाल दी—'दूर्वाङ्कुरस्तबकमञ्जुलपुष्पमालां वधूर्मधूकस्रजमुत्ससर्ज।' (नै० १४।४५)। इस माल्यदान-प्रसंग में कवि ने दमयन्ती के लजाने का बड़ा स्वाभाविक किन्तु पाण्डित्यपूर्ण वर्णन किया है। चतुर्थ सर्ग में नल विरह में व्याकुल दमयन्ती की व्यथा का वर्णन है। इस वर्णन में ताप, चिंता, चिंताका अनुभाव निःश्वास, अन्तर्ज्वर, अश्रुपात, मूर्छा, विरह-पाण्डुरता, विवशता, विरह की दुःसहता आदि का शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप चित्रण हुआ है। मूर्च्छा प्राप्त दमयन्ती का चन्दनादि से जब उपचार हुआ, तब सखियों के कल-कल से आकृष्ट, कन्या के अस्वास्थ्य से चिन्तित भीमराज ने आकर देखा और घोषणा की— दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं सुतवरमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः।' (नै० १४।११९)।

नल का दमयन्ती के प्रति आकर्षण बाद में बताया गया है, क्योंकि शास्त्रीय परम्परा है—'आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः।' 'नैषध' (१।४२–५४) में नल का यह अनुराग और तज्जनित व्यथा का वर्णन हुआ है। निश्चय ही इसमें पाण्डित्य-प्रदर्शन और शास्त्र-मर्यादा का परिपालन विशिष्ट है। धैर्य-भंग, ताप, निःश्वास लज्जा आदि का वर्णन इसमें है। नल अन्त में मदन-चिह्नों को छिपाने की इच्छा से निर्जन देश में चले गये। नल का आत्माभिमान और बड़प्पन इसमें कवि ने प्रकट किया है। उन्होंने स्मरतप्त होते हुए भी विदर्भराज से उनकी तनया की याचना नहीं की, मांगने से वे मरना भला समझते थे—'स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत। त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥' (१।५०)। उनका सिद्धान्त था—'मांगन से मरनो भलो मत कोइ मांगन जाय।' ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को नल दमयन्ती के सामाजिक गौरव का अधिक ध्यान था, अतः बड़ी शालीनता के साथ उन्होंने नायक-नायिका के विप्रलम्भ शृंगार का

चित्रण किया है। फिर भी वियोगदशाओं का वर्णन अनेक स्थलों पर स्वाभाविक और सुन्दर है।

संयोग शृंगार का वर्णन तो विवाह के पश्चात् सात-आठ सर्गों में पूर्ण मनोयोग पूर्वक विस्तार से किया ही गया है, वास्तव में आनन्द और उल्लास से ही हर्ष उपजता है, प्रसन्नता आती है। पाठकों के मन में आनन्द-सुधासागर का उद्वेलन शृंगार के संयोग पक्ष से ही अधिक सम्भव है? संयोग शृङ्गार की महिमा से 'नैषधीय चरित' 'चारु' बन सका है।

नैषध' का अठारहवाँ सर्ग नल दमयन्ती के उल्लास विलास से परिपूर्ण है। कवि ने नि:संकोच भाव से इस 'विलास-कला' का चित्रण किया है। 'दिवानिशमनो' प्रायः दम्पती की विविध चेष्टाओं और क्रिया-कलापों का श्रीहर्ष ने हर्षोल्लास के साथ वर्णन—विस्तृत वर्णन किया है। कवि की दृष्टि यह 'तृतीय पुरुषार्थवारिधि' का समरण मात्र नहीं है, आवश्यकता है केवल निर्मल अन्तःकरण की, 'ज्ञानयोःमनस' की। (१८।२)। सुमेरु को लजाने-वाले सौधभूधर में वह आमोदोल्लास रचने लगा। अगर और चन्दन से वह सुवासित हो रहा था, चन्दन की खिड़कियाँ थीं, जिनमें अगरु धूमसमीरण सुगन्धित हो उठता था। सौरभ महकाते तेल के सुगन्धि दीपों की मन्द आभा सौन्दर्य को चौगुना बना रही थी। 'मणिकुट्टिम' का फर्श था और प्रसून-शय्या थी। बड़े विस्तार के साथ कवि ने सौध के अलंकरण का विवरण दिया है। वहाँ सम्भोगपर नल दमयन्ती के जोड़े को देख कर रति-रतीश भी मोह गये। प्रकाशकार (१८।२८ की टीका) लिखते हैं—'भीमीनलौ दृष्ट्वा रति-कामौ सजातानुरागौ जातौ।' उस सौध-भूधर में उन दोनों की जो कामकेलि लीला हुई—वह महाकवियों की भी बुद्धिगोचर न हुई होगी, स्वैरिणी नारियों की शिक्षा भी वैसी न हुई होगी। (नै० १८।२९)। कामशास्त्र के अनुरोध से नारी का प्रथम संयोग मार्दव, लज्जानुभावपूर्ण संयोग-क्रम रति रुचि और संकोच, 'कुसुमशस्त्र-शास्त्रवित्' नल द्वारा दमयन्ती को सन्निधि में लाना, कपोल चुम्बन से पूर्व ललाट-चुम्बन, स्तनस्पर्श, रशनाकलापमोचनार्थ बढ़े प्रिय के हाथ का प्रतिरोध, धीरे धीरे लज्जात्याग और प्रथम संयोग का अनुभव कवि ने बड़ी तटस्थ दृष्टि से किया है। आनन्द-उल्लास के विविध अनुयोगों के साथ रात्रि बिताने के बाद दोनों उठ कर परस्पर अङ्ग जोड़े, अधर मिलाये, रतिकेलि

से स्वप्न देखते आलिंगन-संपुट में परस्पर पीड़ित होते निद्रासुख का अनुभव करने लगे, उनके बाह्य वक्षस्थल और आभ्यन्तर अन्तस् में कोई भेद न रह गया। (नै० १८।१५२–१८३)। अगले चार सर्गों में शृंगार की उज्ज्वलता का वर्णन है, जिसमें प्रभात है, सन्ध्या है, चन्द्रोदय है, तारों-भरी रात है। वरानना पूजा भी है, प्रातर्विधान भी है। सभी उज्ज्वल पक्ष हैं। शृंगार की उज्ज्वलता के पूर्ण दर्शन इन उत्तर सर्गों में है।

अन्य रस—शृंगारातिरिक्त जो रस अङ्ग रूप में आये हैं, उनमें करुण, वीर, हास्य, अद्भुत, रौद्र, बीभत्स और भयानक हैं। केवल शान्त नहीं है।

करुण—करुण रस 'नैषध' में हंस प्रसंग में आया है। नल के द्वारा पकड़े गये हंस की उक्तियों में हृदयस्पर्शी करुणता व्यंजित हुई है। हंस-विलाप-प्रसंग यद्यपि छोटा है, किन्तु वह इतना प्रभावी और मनोवैज्ञानिक है कि उसे विश्वसाहित्य में सरलता से स्थान दिया जा सकता है। विलाप करते हंस ने जो कहा, उसने नल का हृदय करुणाविगलित कर दिया और निषधपति की दीनदयालुता उभर आयी और हंस मुक्त हो गया।

हंस ने पकड़े जाने पर पहिले तो राजा के इस कार्य का अनौचित्य सिद्ध किया और उसमें करुणा जगायी। यह करुणभाव 'नैषध' (१।१३५–१४२) के आठ श्लोकों में व्यक्त हुआ है। हंस ने अपनी वृद्धा माँ, नवप्रसूता पत्नी की निराश्रयता की दुहाई दी। किस प्रकार माँ यह दारुण कष्ट सह सकेगी? कैसे पत्नी से यह क्षण व्यतीत किया जायेगा, जब वह यह सुनेगी? निश्चय ही वह प्राण त्याग देगी और माँ बाप के न रहने पर अनाथ छोटे बच्चे मर ही जायेंगे। हंस का यह विलाप आज भी सरस पाठकों की आँखों में आँसू ला देता है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रसंग को करुणरस की अविस्मरणीय रचना माना है। वे जब भी इसे पढ़ते थे, उनका अश्रुपात होने लगता था।

वीर—करुण की भाँति वीर रस के प्रसंग कई स्थलों पर होते हुए भी थोड़े ही हैं, किन्तु उतने प्रभावी नहीं हैं। उनमें शौर्य का पाण्डित्य तो लक्षित होता है, शास्त्रीयता है, पर करुण-प्रसंग जैसी सहृदयता नहीं है।

यद्यपि विश्वनाथ ने करुण, वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक की गणना शृंगार रस के विरोधी रसों में की है—'आद्य करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' (सा० द० ३।२५४), तथापि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने बाध्यबाधकभाव से केवल शृंगार बीभत्स में विरोध माना है (ध्वन्यालोक, कारिका २४ का पूर्वपक्ष)। उस पर भी वे ऐसा नहीं मानते कि 'नवरसरुचिर' महाकाव्य में प्रसंगत विरोधी रस का वर्णन ही न किया जाय, वे केवल विरोधी रस के प्रत्यधिक परिपोष के विरुद्ध हैं। उनके अनुसार परिपोष अङ्गी रस का ही होना चाहिए, विरोधी या अविरोधी अंग रसों का नहीं—'अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे। परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता।' (तदेव)। वास्तव में रसभंग अनौचित्य से होता है, औचित्य निबन्धन तो रस की परमोपनिषद् है—'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्। प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥' इस दृष्टि से 'नैषध' में किसी अन्य अंग रस का परिपोष नहीं हुआ है, जो रस आये हैं, प्रसङ्गत, औचित्य के साथ। और फिर विवक्षित अतएव अंगी रस जब लब्धप्रतिष्ठ हो जाता है, लब्धपरिपोष हो जाता है तो विरोधी अंगरसों के कथन में दोष नहीं होता—'विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम्। बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला॥' (ध्वन्यालोक ३।२०)।

वीर रस का वर्णन नल की युद्धवीरता चित्रण प्रसंग में है, वे शताधिकधनुजयी हैं, जलते हुए शत्रुपुरों की अग्नि के समान उनके प्रताप से भूमंडल प्रकाशित था, उनकी तलवार उनके चाँदनी जैसे यश का विस्तार करती थी। उनके ओज और यश के समुख सूर्य-चन्द्र भी अगणनीय थे। आदि-आदि (नै० १।९–१४)।

इसके अतिरिक्त स्वयंवर-प्रसंग में (सर्ग ११–१३) राजाओं के परिचय में उनकी वीरता का बखान किया गया है। वस्तुतः इसमें शास्त्रीयता का परिपालन और कल्पना की उड़ान ही अधिक है, स्वाभाविक वीर भाव कम।

दयावीरता के भी कुछ प्रसंग हैं, उदाहरणार्थ नल की विलाप करते हुए पर दीनदयालुता। (१।१४३)।

दानवीरता के उदाहरण भी हैं। नल ने इतना दिया कि दरिद्रता भी

दरिद्र हो गयी । (१।१५) । नल को यही असन्तोष था कि वे सुमेरु के टुकड़े करके याचकों को क्यों न दे पाये, दान-जल के व्यय से सागर को भी मरु क्यों न बना डाला ? (१।१६) । राजा नल से अभीष्ट-याचना सभी करते थे (३।१५) । नल से देवों ने भी याचना की । (५।७७) । और उन्हें 'अर्थी' पाकर नल का रोम-रोम हर्षित हो उठा (५।७९) । वे मांगे जाने पर प्राण तक दे सकते थे । (५।८१) । उनका सिद्धान्त था कि 'अर्थिने न तृणवद्धनमात्र किन्तु जीवनमपि प्रतिपादयम् ।' (५।८६) । जो अन्य याचकों के मनोरथ पूर्ण करने के लिए नहीं हुआ, धरती का बोझा वही है, न ये वृक्ष हैं, न पर्वत, न समुद्र । (५।८८) ।

हास्य-व्यंग्य के भी यत्किंचित् प्रसंग 'नैषध' में हैं । षोडश सर्ग के भोज-प्रसंग में स्वाभाविक और अवसरोचित हास्य-प्रसंग हैं । बारातियों और परोसनेवालियों में अच्छा [illegible] परिहास चला है । दमयन्ती के भाई पदम ने भोजन के बाद मुखशुद्धि के लिए जो 'खगालि' (पान का बीड़ा) दी, उसका [illegible] दिया गया [illegible] के मारे बरातियों ने उसे फेंक दिया और उसके हास्य के पात्र बने । (१६।१०९) । यही ऐसा था कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने [illegible] बनाते समय इधर-उधर से चुराकर बना लिया, इसीलिए उसमें छिद्र हो गये । (१६।९३) ।

स्वयंवर में मगधराज की कीर्ति-प्रशंसा का दमयन्ती की सखी द्वारा ऐसा श्लिष्ट वर्णन किया गया है कि सभी [illegible] सभाजन हँस पड़े । (१२।१०६) । सत्रह सर्ग में कलि की उक्ति में व्यंग्य हास्य का कारण बन आया है । बौधिसत्त्व, अग्निहोत्र, इन्द्र, पाप-पुण्य, ध्यान, गौतम आदि का व्यंग्यमय उपहास किया गया है जो श्रद्धालुओं के रोष का कारण भी बन जाता है— स्वयम् इन्द्र भी उन दुर्वर्णों को सुनकर क्रुद्ध हो उठे—'इत्यमाकर्ण्य दुर्वर्णं दारूः सक्रोधना दवे।' (१७।८३) ।

इसमें सन्देह नहीं कि 'नैषध' की हास्य-व्यंग्य-योजना संस्कृत-साहित्य में अनूठी है ।

अद्भुत—अद्भुत-प्रसंग केवल स्वर्णहंस के कारण उत्पन्न हुआ है ।

इसी स्वर्णहंस को देखकर विरही नल के भी हृदय में कुतूहल उत्पन्न हुआ। सुवर्ण-पक्षी हंस कहाँ दीखता है? (१।११९, १२९)।

रौद्र—सप्तदश सर्ग में क्रुद्ध कलि के क्रोधपूर्ण वचन रौद्रभाव की व्यंजना करते ही हैं, उसके वे वचन इन्द्र में भी रौद्रभाव उत्पन्न कर देते हैं। (यद्यपि 'सक्रोधता दधे' में 'स्वशब्दवाच्यत्व' दोष आ गया है)। वज्रधर का हाथ फड़क उठा, वे बोल उठे—कौन है यह जो उनके रहते धर्म मर्मों का कृन्तन कर रहा है—'अवोचदुच्चैः कस्कोऽयं धर्ममर्माणि कृन्तति। लोकत्रयी त्रयीनेत्रा वज्रवीर्यं स्फुरत्करे। न दृश्य मा पते पाकशासने मयि शासति?' (१७।८३–८४)।

बीभत्स—बीभत्स तो ग्राम्यता के साथ शृंगार का विरोधी रस है, अतः बीभत्स का नाममात्र का वर्णन 'नैषध' में है। विरही नल के मन में रमणीय वस्तुओं के प्रति भी जुगुप्सा उत्पन्न हो गयी। खिला लाल पलाश उसे 'पलाश' (मांसभक्षी) लगा, झूमती लता उसे डरावनी प्रतीत हुई, चम्पे की कलियाँ पतंगों को जलाती पापिनी सी लगीं। (१।८४-८६)। वस्तुतः यह सब परम्परागत विरह-वर्णन है।

भयानक—इसी प्रकार 'भय' के प्रसंग भी नहीं से हैं। झूमती लता—से भय तो है ही, स्वयंवर में नागराज वासुकि को देख दमयन्ती भी भय से भर जाती है। 'आशीविष', स्फुरत्फण' नागराज को देख कर कौन कामिनी भीति से न भर जाती? (१०।२१)।

'प्रकाश'-टीकाकार के द्वारा स्वीकृत 'नैषध' में काव्य को 'स्वादूत्पाद-भूमि' (टीकाकार के अनुसार सहृदयहृदयाह्लादकारक होने से अत्यन्त मधुर-भावार्थसहित) कहा गया है और सर्वविशेष को 'रसाम्भोनिधि' (१३।५६)। श्रीहर्ष की यह उक्ति असंदिग्ध है, 'नैषध' विभिन्न रसधाराओं का सागर ही है।

(४) छन्द—शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार महाकाव्य के नातिदीर्घ सर्गों में एक ही 'वृत्त' (छन्द) के पद्य होना अच्छा माना जाता है, हाँ सर्ग के अवसान में अन्य छन्द का प्रयोग हो। इस दृष्टि से 'नैषधीयचरित' में मर्यादा का पर्याप्त ध्यान रखा गया है। प्रथम सर्ग में परिचयात्मक अतिमश्लोक को छोड़कर एकसौ चवालीस श्लोक हैं। परिचयात्मक श्लोक सभी सर्गों के अन्त

में शार्दूलविक्रीडित छन्द में है।) इसमें सभी श्लोक वंशस्थ छन्द में हैं, अन्तिम श्लोक 'अन्यवृत्तक' अर्थात् वसन्ततिलका छन्द में है। इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में आरम्भ के १०१ श्लोक 'वैतालीय' अथवा 'वियोगिनी' छन्द में हैं, श्लोक-संख्या १०२ और १०४ शार्दूलविक्रीडित हैं, १०३ पुष्पिताग्रा है, १०५ स्रग्धरा है, १०६, ७, ८, और १०९ मालिनी छन्द में हैं। तृतीय सर्ग में आरम्भिक १२४ श्लोक उपजाति हैं, १२५, १२९, १३१ वसन्ततिलका हैं। शेष श्लोकों में १२६, २७, २८, ३० शार्दूलविक्रीडित हैं। १३२ वाँ स्रग्धरा है, १३३, १३४, १३५, वें श्लोक मालिनी छन्द में हैं। चतुर्थ सर्ग में प्रारम्भ के ११५ श्लोक द्रुतविलम्बित हैं, ११६ वाँ और १२२ वाँ (अन्तिम) शार्दूल-विक्रीडित हैं, ११७ वाँ वसन्ततिलका है और श्लोक संख्या ११८, १९, २०, १२१ औपच्छन्दसिक अथवा वाल्मारिणी वृत्त में हैं। पञ्चम सर्ग में आरम्भिक १३३ श्लोक स्वागता वृत्त में हैं, १३४ वाँ द्रुतविलम्बित है, शेष अन्तिम तीन शार्दूलविक्रीडित हैं। छठे सर्ग में उपजाति छन्द का प्रयोग है, अन्तिम ११२ वाँ श्लोक मालिनी छन्द है। सप्तम सर्ग के कुछ श्लोक उपेन्द्रवज्रा हैं, कुछ इन्द्रवज्रा अर्थात् उपजाति अन्तिम श्लोक में हरिणी छन्द का प्रयोग किया गया है। आठवें सर्ग की भी यही स्थिति है प्रारम्भिक १०४ श्लोक उपजाति हैं, १०५, १०६ स्रग्धरा हैं, १०७ वाँ पुष्पिताग्रा है और अन्तिम १०८ वाँ वसन्ततिलका। नवम सर्ग के प्रारम्भिक १५५ श्लोक वंशस्थ हैं, १५६ वाँ मन्दाक्रान्ता है, १५७ वाँ तोटक, १५८ वाँ शार्दूलविक्रीडित और अन्तिम १५९ वाँ मालिनी। दशम सर्ग में पुन उपजातिछन्द का प्रयोग है, केवल अन्तिम 'दयानिधनिरस्थम्'–इत्यादि श्लोक मालिनी छन्द में है। एकादश सर्ग वसन्ततिलका वृत्त में है, केवल अन्तिम १२९ वाँ श्लोक स्रग्धरा में है। द्वादश सर्ग के प्रथम ९० श्लोक वंशस्थ हैं, ९१ ९२, ९३, ९६, ९७, ९८, ९९ शार्दूलविक्रीडित हैं, और ९४, ९५, १००, १०१, १०२ स्रग्धरा हैं, १०३, १०४, १०६, १११ पुन शार्दूलविक्रीडित हैं, १०५, १०७, १०८, १०९ पुन वंशस्थ हैं, ११० वसन्ततिलका है और अन्तिम ११२ वाँ पुन स्रग्धरा है। त्रयोदश सर्ग के आरम्भ से 'य स्यादनीषु' इत्यादि श्लोक पर्यन्त वसन्त-तिलका का प्रयोग है, अन्तिम दो श्लोकों में मालिनी है। चतुर्दश सर्ग के

प्रारम्भिक (८४ अथवा ८७) 'अर्थो विनैवार्थनयोपसीदन्'-इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, शेष श्लोकों मे चार शिखरिणी हैं, दो शार्दूलविक्रीडित हैं, दो स्रग्धरा हैं, तीन वसन्ततिलका हैं, एक रथोद्धता है और एक मालिनी है। पचदश मे आरम्भिक एक्यासी श्लोक वशस्थ हैं, बयासीवाँ श्लोक स्रग्धरा है तथा तिरासीवाँ शिखरिणी। शेष नौ शार्दूलविक्रीडित हैं। षोडश मे भी आरम्भिक श्लोक 'पुरीनिरीक्षायमना'-इत्यादि तक वशस्थ हैं, पुन दो पुष्पिताग्रा हैं, शेष पाँच मालिनी हैं। सप्तदश उग अनुष्टुप् छन्द-प्रधान है, केवल अन्तिम दो श्लोकों में पहिला शिखरिणी और दूसरा शार्दूलविक्रीडित है। इसी प्रकार अष्टादश सर्ग रथोद्धता प्रधान है, केवल अन्तिम श्लोक स्रग्धरा है। उन्नीसवें सर्ग के आरम्भिक पचपन श्लोक हरिणी छन्द मे हैं, चार मन्दाक्रान्ता हैं, पाँच शार्दूलविक्रीडित हैं, एक श्लोक 'जलजभिदुरीभावम्' इत्यादि भी हरिणी छन्द मे है, इसे प्रक्षिप्त भी माना जाता है। एक पृथ्वी छन्द है, एक मालिनी है और एक स्रग्धरा है। विश सर्ग भी अनुष्टुप्-प्रधान है, अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित है, उससे पूर्व के तीन पुष्पिताग्रा हैं। इक्कीसवाँ सर्ग रथोद्धता-प्रधान है। 'विप्रपाणिषु' इत्यादि तक के श्लोक रथोद्धता छन्द मे हैं। इसके अनन्तर इक्कीस श्लोक वसन्ततिलका हैं, शेष मे सात पुष्पिताग्रा हैं, तीन स्रग्धरा हैं, ग्यारह शार्दूलविक्रीडित हैं, एक मालिनी है। द्वाविंश (अन्तिम) सर्ग उपजाति-प्रधान है। 'अन्त ॥ एदमी क्रियते' इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, पुन एक रथोद्धता है, तदनन्तर तीन वसन्ततिलका हैं। शेष मे आठ शार्दूलविक्रीडित हैं, एक स्रग्धरा है और एक शिखरिणी और एक पुष्पिताग्रा है। प्रत्येक चरण मे सर्वलघु सोलह-सोलह वर्णों का भी एक छन्द है, टीकाकारों ने इसे 'सर्वलघु' सज्ञा ही दी है। इसे 'अचलधृति' नाम भी दिया जाता है। अन्त के कवि प्रशस्ति संबधी चार श्लोकों मे एक शिखरिणी है, दो शार्दूलविक्रीडित और एक हरिणी।

इस प्रकार श्रीहर्ष ने प्रत्येक सर्ग मे एक छन्द को प्रधानता दी है, अन्तिम छन्द भिन्नवृत्तक अवश्य है। किन्तु यह अन्यवृत्तता केवल अन्तिम श्लोक तक ही सीमित नही रह गयी है, कवि ने अन्त के अनेक श्लोकों मे

भिन्न वृत्तों का प्रयोग कर लिया है। अन्तिम श्लोक ही जिनमें भिन्नवृत्तक हैं, वे सर्ग हैं—प्रथम, षष्ठ, सप्तम, नवम, एकादश और अष्टादश।

जहाँ तक श्रीहर्ष के छन्दोज्ञान अथवा छन्द प्रियता का प्रश्न है, कवि छन्द शास्त्र का पूर्ण ज्ञाता है, उसने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। सब मिलकर अट्ठारह,—उन्नीस प्रकार के छन्द 'नैषध' में हैं। उपजाति का प्रयोग कवि ने सबसे अधिक किया है सात सर्गों में। चार सर्गों में प्रधान छन्द वंशस्थ है। दो-दो सर्ग वसन्ततिलका, स्वागता रथोद्धता और 'अनुष्टुप्-प्रधान हैं और एक-एक में द्रुतविलम्बित, वैतालीय और हरिणी का प्रयोग है। इसी दृष्टि से कवि की छन्द नियता का तारतम्य प्रतीत हो जाता है। मन्दाक्रान्ता छन्द में पाँच ही श्लोक हैं, सर्वाधिक शार्दूलविक्रीडित हैं। स्थान-स्थान पर स्रग्धरा, शिखरिणी, पुष्पिताग्रा, मालिनी, वियोगिनी का भी प्रयोग है, अचलधृति, पृथ्वी, तोटक भी हैं। गणनाकारों ने इनकी गणना भी की है। श्री नलिनीनाथदास गुप्त ने श्रीहर्ष के छन्दोनैपुण्य की प्रशंसा की है। उनकी मान्यता है कि 'नैषधीयचरित' में लगभग बीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें अधिकांश गीतात्मक लघुवृत्त हैं, बड़े छन्द मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, स्रग्धरा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत विरल है। परन्तु वाक्यावली और शब्दावली में श्रीहर्ष की रुचि कठिनता और क्लिष्टता की ओर है, जिसमें कहीं-कहीं लयात्मकता और गति में बाधा पहुँची है।

(५) वर्णन—श्रीहर्ष कल्पना के धनी कवि हैं। किसी विषय में कितना विचार किया जा सकता है, 'नैषधीयचरित' में इसकी इयत्ता नहीं प्रतीत होती। चाहे जो विषय हो, श्रीहर्ष उसका विस्तृत विवरण देने में समर्थ हैं। 'नैषध' में मनुष्य पशु, पक्षी, नगर, उपवन, प्रभात, रात्रि, स्वयंवर आदि के विस्तृत और कवित्व-पूर्ण वर्णन हैं।

मानव वर्णन में नल और दमयन्ती के विस्तृत वर्णन हैं। प्रथमसर्ग के इकतीस श्लोकों में नल का और द्वितीय सर्ग के छब्बीस श्लोकों में दमयन्ती का वर्णन है। इनकी वियोगकथा के भी विस्तृत काव्यमय वर्णन हैं, तृतीय सर्ग (१००–१२८) में नल की वियोगदशा का और चतुर्थ (२–१०१) में दमयन्ती की। अगले आठ श्लोकों (१०२–१०९) में प्रश्नोत्तर रूप में दमयन्ती और सखियों के माध्यम से यह विवरण प्रस्तुत हुआ है।

- पशु वर्णन में अश्व-वर्णन है प्रथमसर्ग (५८-६४) में और हंस तथा उसकी उड़ान का तो क्रमशः प्रथमसर्ग (११८, १२१, १२२) और द्वितीय सर्ग (६५-७२) में अत्यन्त स्वाभाविक विवरण उपस्थित किया गया है।

काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार उपवन (१।७६-१०६) का और उसी में स्थित सरोवर (१०७-११७) का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग (१-६४) में प्रभात और सूर्योदय के विस्तृत विवरण हैं, इक्कीसवें (१२५-१३४) में सन्ध्या का। बाईसवें सर्ग में क्रमशः सन्ध्या, रात्रि और चन्द्रोदय के विशद वर्णन श्रीहर्ष की काव्य प्रतिभा के परिचायक हैं। कल्पना और उत्प्रेक्षा की ऊँची उड़ान इन वर्णनों में प्राप्त होती है।

नगर और नगर जीवन की समृद्धि तथा क्रिया कलाप तो कवि ने बड़ी स्वाभाविक दृष्टि से चित्रित किये हैं। द्वितीय सर्ग (७३-१०६) के कुण्डिन-पुरी तथा सप्तदश (१६१-२०१) में नल की राजधानी तथा राजोद्यान (२०६-२०८) का वर्णन किया गया है। राज्यसभा और स्वयंवर का इतना विशद और विस्तृत वर्णन कदाचित् ही कहीं प्राप्त हो, पूरे पांच सर्ग पांच सौ के लगभग श्लोक (१०-१४ सर्ग) इस विवरण से पूर्ण हैं। भोज, भोज्य पदार्थ, वरयात्रा आदि के वर्णन तो बड़े रमणीय और मनोरञ्जक हैं। इन सभी वर्णनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए भी कथानक के भाग ही प्रतीत होते हैं। ये वर्णन ऊपर से जोड़े गये, अलग अलग से नहीं लगते।

युद्ध, समुद्र आदि के वर्णन प्रायः नहीं हैं किन्तु कथा में इनका अवसर भी तो नहीं है। शृङ्गार वर्णन कवि को विशेष प्रिय है। अष्टादश सर्ग तथा अन्य नल दमयन्ती विलास के प्रसंग शृङ्गार-चेष्टाओं के प्रचुर विवरणों से परिपूर्ण हैं, कहीं कहीं तो इस सीमा तक पहुँच गये हैं कि आधुनिक सामान्य सामाजिक दृष्टि से वे ग्राह्य भी कठिनता से हैं। परन्तु नवदम्पती के जो रति चित्र इसमें हैं, वे कवि के कामशास्त्र की अभिज्ञता के सटीक उदाहरण हैं।

वस्तुतः कल्पना का अपार विस्तार और उसके अनुरूप नवीन उद्भावनाएं इन वर्णनों में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। पर उनमें सरसता भी है और

हृदय को छूने की क्षमता भी। 'श्रीहर्ष' और 'नैषधीयचरित' के प्रामाण्य अध्येता और व्याख्याता डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल का यह निष्कर्ष इस विषय में उचित ही है—'नैषध में जिन वस्तुओं का वर्णन उन्होंने (श्रीहर्ष ने) किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वयं रमी हुई है। * प्रबल कल्पनाशक्ति और बहुज्ञता के साथ-साथ उन उक्तियों में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता है। वे एक जागरूक सरस हृदय से निकली समझ पड़ती हैं।'

(६) शैली—'नैषधीयचरित' में यद्यपि कहा गया है कि 'धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैः' (३।११६) और इस दृष्टि से अनेक विद्वानों ने इस काव्य को वैदर्भि रीति प्रधान माना भी है और सामान्यतः यह सत्य भी है, तथापि अल्पसमासयुता पाञ्चाली और ओज प्रधाना गौडी पदरचना से 'नैषध' रहित नहीं है। (द्रष्टव्य १।२) इसमें 'समस्तपञ्चपदपदबन्ध' भी हैं और आडम्बर पूर्ण समासबहुल भी (द्रष्टव्य १९।१५३ में दो चरणों का समस्तपद) किंतु प्रचुरता माधुर्यव्यञ्जक वर्णों की ही है और रचना लालित्य भी, ओज, प्रसाद, माधुर्य—तीनों ही गुण 'नैषध' के शृंगार हैं। यथोचित, यथावसर तीनों रीतियां और तीनों गुणों से युक्त पदरचना है। पदलालित्य तो 'नैषध' का उल्लेख्य ही है—'नैषधे पदलालित्यम्।' समासबहुल पद हों, या अल्पसमास—लालित्य उनमें सर्वत्र है। अनुप्रास की छटा, श्लेषमय पदयोजना। पदों की ऐसी समायोजना कि एक-एक वाक्य अनेक अर्थ देने लगें। स्वयंवर का 'पञ्चनलीय' प्रसंग तो इस श्लिष्टपदयोजना के लिए विख्यात ही है, अन्य भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे कवि का पद-योजना-कौशल प्रकट होता है। दमयन्ती ने कहा—'चेतो नलङ्कामयते मदीयम्'। (३।६७)। इस एक वाक्य से तीन भाव प्रकट हुए—(१) मेरा चित्त लङ्का की कामना नहीं करता—'चेतो न लङ्कामयते।' (२) चित्त नल की कामना करता है—'चेतो नलं कामयते'। (३) और यदि यह न हो सके तो आग में जलने को जी चाहता है—'चेतोऽनलङ्कामयते'। लज्जाशीलाकुमारी की लाज भी रह गयी और हृदयगत भाव भी (समझने वाले के लिए) स्पष्ट हो गये। 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार यहाँ श्लेष भले ही हो, पर यह सामान्य श्लेष योजना ही नहीं है, कवि के 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः' का उदाहरण है।

'नैषधीयचरित' के आलोचकों ने श्रीहर्ष की शैली की आठ विशेषताएँ गिनायी हैं। यहाँ उनका उल्लेख करना अनुचित न होगा—(१) अनुप्रास की पर्याप्त योजना। (२) श्लिष्ट पदरचना (३) वक्रोक्तिपूर्ण वाक्य। (४) कल्पनामयी उत्प्रेक्षाएँ (५) विभिन्न प्रकारकी उपमाएँ। (६) व्यंग्यपूर्ण सभाषण। (७) नाटकीय संवाद–योजना और (८) कर्मणि लुङ् और भावे प्रयोग। अनुप्रास तो प्रथम श्लोक से प्रकट हो जाता है—'क्षिति रक्षिण' 'सुधा सुधाम्' 'महसा महोज्ज्वल' आदि। श्लिष्ट-पदयोजना की पराकाष्ठा तो 'पंचनलीय' प्रसंग है ही। वक्रोक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं, चतुर्थ सर्ग (१०२–१०९) में, जहाँ उत्तरप्रत्युत्तर रूप में सखी दमयन्ती संवाद है। उत्प्रेक्षाओं की तो इतनी प्रचुरता है कि पद पद पर उनका चमत्कार दीख जाता है। (द्रष्टव्य १।१२३, २।३१, २।३४, २।३५ आदि)। उपमाएँ अनेक प्रकार की हैं—मालोपमा, गूढोपमा, श्लिष्टोपमा। (श्रेष्ठ उपमाओं के लिए द्रष्टव्य १।४१, १।१४, १।११७ आदि)। व्यंग्यपूर्ण सभाषण के श्रेष्ठ उदाहरण बीसवें सर्ग में हैं। (२०।६५, ६७, ९०)। इनमें लोक-व्यवहार ज्ञान और सभाषण कुशलता का द्योतन हुआ है। नाटकीय-संवाद-योजना चतुर्थ सर्ग (१०२–१०९) के प्रश्नोत्तर हैं। नाटकीयता भी यत्र-तत्र है, भोज प्रसंग में, केलि मन्दिर प्रसंग में। कर्मणि लुङ् और भावे प्रयोग के लिए उदाहरणीय हैं ३।१३१, ४।१७–४३ तथा ५।५०, १७ आदि।

अलंकार–अलंकार योजना की दृष्टि से श्रीहर्ष की अलंकार प्रियता प्रसिद्ध ही है। श्लेष, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप, वक्रोक्ति आदि का प्रचुर प्रयोग 'नैषध' में मिलता है। इसी अलंकार प्रचुरता के कारण प्राय संकर या संसृष्टि की संभावना आ जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अलंकार-योजना कवि का स्वभाव है, वह श्रमसाध्य नहीं है। चित्रालंकार कवि को प्रिय नहीं है। कल्पना के धनी कवि के सब से प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति हैं। अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार तो अनायास—मानो कवि के अनजाने ही—आ जाते हैं। हाँ, श्लिष्ट प्रयोगों में कवि के पांडित्य, श्रम, शब्दकोष ज्ञान, व्युत्पत्ति का विशिष्ट परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त उनकी उपमान-योजना उपमालंकार के अतिरिक्त रूपक, प्रतीप,

व्यतिरेक आदि के माध्यम से भी हुई है। इसके अतिरिक्त विरोधाभास, विशेषोक्ति, जाति आदि का भी प्रयोग किया गया है। रूपक-सन्देह का तो अनेक स्थानों पर योग हुआ है। (द्रष्टव्य १।५८, १।८४ आदि)। अनेक अलङ्कारों के मेल के तो अनेक उदाहरण हैं। द्रष्टव्य १।१७ (उपमा-श्लेष सहोक्ति), १।२० (छेकानुप्रास-परिकर), १।२१ (अपह्नुति सन्देह), २।१०८ (उपमा रूपक-जाति) आदि-आदि। अर्थान्तरन्यास के भी अत्यन्त भावमय प्रयोग 'नैषध' में सर्वाधिक हैं। उदाहरणार्थ—१।५०, ५४, १०२, १३१, २।४८ आदि। स्वभावोक्ति (जाति) के अच्छे मनोरम उदाहरण इस प्रसङ्ग में हैं। (द्रष्टव्य २।२, २।१० आदि)। समासोक्ति के उदाहरण के लिए तो 'नैषध' का 'नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता'—इत्यादि (१।८५) काव्यशास्त्रियों में प्रसिद्ध है।

'नैषध' अलङ्कारों का सागर है। उक्त अलङ्कारों के अतिरिक्त उनकी वक्रोक्तियाँ और व्यङ्ग्योक्तियाँ बड़ी प्रभाव शालिनी हैं। पादान्त यमक का तो अत्यन्त स्मरणीय और दर्शनीय उदाहरण है—यथाऽधीत् कानने तत्र विनिद्र-कलिका लता। तदा नलच्छलाश्रितविनिद्रकलिका लता ॥ (१७।२१८),

श्रीहर्ष की शैली विद्वत्तापूर्ण है। कहा जाता है—'नैषधं विद्वदौषधम्।' 'नैषध' में यह विद्वत्ता प्रचुर मात्रा में प्रमाणित है। 'साहित्यविद्याधरी'—कर्ता ने श्रीहर्ष को विविध शास्त्रों का वेत्ता सुधी कोविद कहा है—

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिवह साहित्यसारो नयो
वेदार्थावगति पुराणपठितिर्यस्यान्यशास्त्राण्यपि।
नित्य स्युः स्फुरितार्थदीपविहताज्ञानान्धकाराण्यसौ
व्याख्यातु प्रभवत्यमु सुविषम सर्गं सुधी कोविद ॥

'नैषधपरिशीलन' के विद्वान् रचयिता डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल ने अपनी इसी प्रकार की मान्यता पुष्टि में डॉ० सुशीलकुमार दे के 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' से जो उद्धरण दिया है, वह भी 'नैषध'कार की विद्वत्ता और पाण्डित्य का समर्थन करता है—'नैषधचरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परम्परागत ज्ञान का भाण्डार है।'

इसी कारण 'नैषध' में दुरूहता भी आ गयी है। 'नैषध' का ठीक ठीक आनन्द वही ले सकता है, जिसे अलंकारशास्त्र के साथ-साथ व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदांत मीमांसा (षड्दर्शन) और चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दार्शनिक सिद्धान्तों से अच्छा परिचय हो। इसी कारण अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों को 'नैषधीयचरित' में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष दुर्बल प्रतीत होता है, यद्यपि नैषधकार का आत्मकथन है कि ये गाँठें उसमें इसलिए डाल दी हैं कि विद्वम्मन्य खलजन इस काव्य से खिलवाड़ न करें, यह सज्जन विद्वानों को ही आनन्द दे सके —

> ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
>
> प्राज्ञम्मन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खल खेलतु।
>
> श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय-
>
> त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥

व्याकरण—व्याकरणानुसार शब्द प्रयोग करना तो सामान्य स्थिति है, श्रीहर्ष ने व्याकरण के सूत्रों को आधार बना श्लेष की सृष्टि की है। पाणिनि के सूत्र 'अपवर्गे तृतीया' (अष्टा० २।३।६) को लेकर कलि कहता है कि मोक्ष का तो स्त्री पुरुष के लिए औचित्य ही नहीं है, वह अपवर्ग इनसे भिन्न (नपुंसक) में निमित्त होता है। (१७।७०) मुनि का मत तो स्त्रीपुंसलक्षणा प्रकृति का धर्म तो काम-संज्ञा है। इसी प्रकार 'नैषध' में पाणिनि-सूत्रों को आधार बनाकर श्लेष का चमत्कार भी दिखाया गया है। 'स्थानिवदादेशो-ऽनल्विधौ' (अष्टा० १।१।५६) का आधार बनाकर इन्द्र को दोषी सिद्ध किया गया है (१०।१३५ या १३६), 'अस्तेर्भूः (अष्टा० २।४।५२) के आधार पर काशी का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है (११।११७), 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (अष्टा० ७।१।३५) का उपयोग प्रभात-वर्णन में किया गया है (१९।६० या ६१), और 'अत इनिठनौ' (अष्टा० ५।२।११५) द्वारा व्याकरण नियमों की अपेक्षा लोक-व्यवहार की मान्यता प्रमाणित की गयी है (२२।८४)। कवि का कथन है कि जैसे 'दण्डोऽस्यास्ति इति दण्डी' उक्त सूत्र के नियम से 'मतुबर्थ' में निष्पन्न होता है, वैसे ही 'मृगोऽस्यास्तीति मृगी' नहीं निष्पन्न होता, अतः 'लक्ष्यमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्ति

नतु लक्षणमुद्दिश्य लक्ष्यप्रवृत्तिः' इसलिए व्याकरण प्रयोगमूलक होता है, प्रयोग में 'व्याकरणाल्लोक एव बलीयान्।'

ऐसे ही 'भू, श्री, जन्' के आधार पर श्लेष-चमत्कार दिखाकर नल-प्रशंसा की गयी है। (द्रष्टव्य ३।२३)। नलवर्णन में 'अधीतिबोधाचरण-प्रचारणैः' (१।४) के प्रयोग का आधार है पातञ्जल 'महाभाष्य'—'चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचन-कालेन, व्यवहारकालेन (भाष्य १।१।१)। अनेक स्थलों पर श्रीहर्ष ने नवीन शब्द रचना भी की है, जैसे भूननायक, प्रतीनचर और अभिगामुका। (१८।१२४ या १२९)।

षड्दर्शन - न्यायशास्त्री गौतम को (१७।७४ या ७५में) वैशेषिक-कर्त्ता कणाद को (२२।३५ या ३६ में) उपहास का पात्र बनाया है। वेदान्तदर्शन पर व्यङ्ग है 'स्व च ब्रह्म च'—इत्यादिमें (१७।७३ या ८४)। सांख्य के सत्कार्यवाद सिद्धांत (कार्यकारणयोरत्यन्तभेदो नास्ति ५।९४) योगदर्शन की सम्प्रज्ञात समाधि (२१।११८), वैशेषिक के परमाणुवाद (३।३७) और मन की अणुरूपता (१।५९) पूर्वमीमांसा की देवों की अशरीरता (१।१७) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है। 'नैषध' ने मीमांसकों का उपहास भी किया गया है (१७।६०–६२)। पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, उदाहरणार्थ—पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष (१०।८०)। उत्तरमीमांसा (वेदान्त) के 'उपरतेषु हीन्द्रियेषु स्वप्नान् पश्यति' (शंकराचार्य) सिद्धांत के उपयोग के लिए द्रष्टव्य है 'नैषध' १।४०। ब्रह्म-प्राप्ति-पद्धति के लिए द्रष्टव्य है २।१, ४; ५।८ और ९।१२१। ब्रह्मविचार (७।८८) भी है और मोक्षदशा का वर्णन भी (९।१२१)।

बौद्धदर्शन—बौद्धदर्शन के शून्यवाद, विज्ञानवाद और साकारतावाद का (१०।८८), पारमिता का (५।११), 'चतुष्कोटि' और 'षडभिज्ञ' (२१।८८) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है और चार श्लोकों में (२१।८८-९१) बुद्धभगवान् के प्रति श्रद्धा भी प्रकट की है।

जैन-दर्शन—जैनदर्शन के 'त्रिरत्न' (सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चरित्र) मुख्य तत्त्व हैं। इनका उल्लेख 'नैषध' (९।७१) में है।

चार्वाकदर्शन—सत्रहवें सर्ग (१७–८३) में कलि के वक्तव्य का आधार चार्वाकदर्शन ही है। प्राय सभी दर्शन-सिद्धांतों का इसमें उपहास है। 'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमन कुत' का तो उद्धरण ही है (१०।६९)।

सामुद्रिकशास्त्र—सामुद्रिक ज्ञान का परिचय भी 'नैषध' में अनेक स्थलों पर मिलता है। 'सामुद्रिकसारमुद्रणा' (३।५१) है, पद्म (१।६५), मत्स्य (११।०५) और वज्र (२०।३१) रेखाएँ भी हैं, ऊर्ध्वरेखाङ्कित चरण भी हैं (११।१८, १३।१६)।

तन्त्र—श्रीहर्ष तान्त्रिक थे, मन्त्र तन्त्र के साधक। उनकी चिन्तामणि मन्त्र की साधना विख्यात ही है। अनेक तन्त्र-परक उल्लेख 'नैषध' में हैं। तन्त्रसिद्धि की उपयुक्त अष्टमी निशा (७।२३), वाञ्छित सिद्धि की चौदस की रात (७।९७), चिन्तामणि मन्त्र की साधना विधि और फल (१४।८७) के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

प्राणिविज्ञान—जल-स्थल और आकाश तीनों के प्राणियों से सबद्ध ज्ञान का उल्लेख 'नैषध' में है। प्रथम सर्ग में अश्वसंबंधी वर्णन श्रीहर्ष के शालिहोत्र का ज्ञाता सिद्ध करता है। इसमें अश्व लक्षण, स्वभाव, गति आदि का श्रेष्ठ चित्रण है। हंस प्रसंग पक्षिविज्ञान का परिचायक है। मयूर, कोकिल, उलूक आदि के भी उल्लेख हैं। जलचर मीन से सबद्ध उल्लेख नेत्रों की उपमा के लिए तो हैं ही, मीन-प्रकृति का भी निरीक्षण मिलता है (४।३५)।

अन्य शिल्प ज्ञान—रत्नपरीक्षा (१०।९४), चित्रकला (२०।१३६), शकुनज्ञान (५।११४, १०।९१) तथा षोडश सर्ग में पाककला का ज्ञान भी सकेतित हो जाता है। वस्तुत लोक जीवन में श्रीहर्ष की गहरी पैठ थी। लोक-जीवन के व्यवहार और रीतियों के उल्लेख 'नैषध' में प्राप्त हैं। दृष्टिदोष—दीठ लगना और उसका उपाय (२।२६), काजल बनाने की रीति (२२।३१)।

वेद-वेदांग पुराणेतिहासादिका ज्ञान—जहाँ तक इनका प्रश्न है, श्रीहर्ष इस ज्ञान के अधिकारी विद्वान् थे। वैदिक हिरण्मयपुरुष-रूप हंस (३।११७), ब्रह्मानन्द (२।१), वेदपाठ (३।७५, १०।६६, १९।५२) आदि विवरण श्रीहर्ष के वेद-सबद्ध ज्ञान के परिचायक हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन (३।८२), आनन्दरूप ब्रह्म (५।८), देवानन अग्नि

(१०।२१), शतक्रतु इन्द्र (१७।१०४) आदि के उल्लेख उनके औपनिषदिक ज्ञान का आभास कराते हैं। वैदिककर्मकाड और वैदिक विधिया के अनेक उल्लेख भी 'नैषधीयचरित' में हैं। पुत्रेष्टि, श्येन तथा कारीरीयाग के लिए द्रष्टव्य १७।९४, वैदिक विविज्ञान के लिए १७।१७७, दर्श, अग्निष्टोम, पौर्णमास, सोमयाग (१७।१९६), सौत्रामणि (१७।१८२), सर्वमेध (१७।१८६), महाव्रत (१७ २०१) आदि के अनेक उल्लेख श्रीहर्ष ने किये हैं।

वेदागों में शिक्षा (२।८९), निरुक्तोय व्युत्पत्ति (दमयन्ती २।१८, न्यग्रोध (११।३०, पञ्चशर २२।१८) और ज्योतिष (कवि, बुध १।१७) के उल्लेख 'नैषध' मे सहजप्राप्य हैं। उनका छन्दशास्त्र का ज्ञान पृथक् दिखाया हीं जा चुका है।

पुराणेतिहास-ज्ञान के परिचायक तो अनेक उल्लेख हैं। प्रथम सर्ग मे बाणपुत्री उषा और श्रीकृष्ण-पौत्र अनिरुद्ध की कथा (१।३२), शिवपूजा मे त्यक्त केतकपुष्प (१।७८), मदन-दहन (१।८७), समुद्रान्तर्गत मैनाक (१।११३), और वामनावतार (१।१२४ तथा ५।१३०) के सकेत हैं। प्रलय वेला में विष्णुउदरस्थ मार्कण्डेय का कई स्थानों पर उल्लेख है (२।९१, १०।३०, १२।९५ २१।९४) राहु द्वारा चन्द्र ग्रास भी कई स्थानों पर सकेतिक है (१९६, ४।६४, ६५, ७१, ७२, १२।९४, २२।६६, १३६, १४८)। अगस्त्य द्वारा समुद्रपान (४।८१, २२।६७), प्रणाम करते विन्ध्याचल का अगस्त्य की प्रतीक्षा मे झुका रहना (५।१३०), दधीचिकथा (५।१११), पृथुचरित (११।१० १२।२०), पारिजात-हरण (१०।२४) ऐरावत को दुर्वासा का शाप (१६।३१), सजीवनी विद्या द्वारा कच का पुनर्जीवन (१९।१५), शर्करागिरि और अमृत-मन्थन (२२।१३९), इत्यादि पौराणिक सदर्भ यत्र तत्र 'नैषध' मे हैं। विष्णुपूजा प्रसग (२१ सर्ग) मे रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि के अनेक प्रसग हैं।

यत्र-तत्र अन्य शास्त्रों के सदर्भ भी पर्याप्त हैं। अर्थशास्त्र (४।८१ 'पुष्पैरपि न योद्धव्य कि पुनर्निशितं शरै'), धर्मशास्त्र (१।९७, ९।८१, ८२, १५१, ११।९२, १४।६८, १५।६४, २१।१२, २१।२०) के अनेक नियमो

का संकेत हैं। आयुर्वेद ज्ञान के सूचक हैं—सान्निपातिक रोग का चिकित्सकों में प्रविष्ट हो जाना (३।११), सर्पदंशचिकित्सा (४।३३), ताप शान्ति के निमित्त नलद (खस) का सुश्रुत और चरक द्वारा अनुमोदित प्रयोग (४।११६)। धनुर्वेद से श्रीहर्ष का अच्छा परिचय प्रतीत होता है, द्रष्टव्य ३।१२६, १२७, १०।११७, ११९, २१।१५८। राजनीति शास्त्र (१०।१३, २०।१३३), और संगीतविद्या (१।५२, ११६, १२।१६, १५।१६ १७ १८।१३, २१।१२४, १२५, १२७ में नृत्य, गान, वाद्य के संकेत) का सदर्भ है ही। कामशास्त्र के तो श्रीहर्ष विज्ञाता ही थे, अष्टादश सर्ग तो इसका पूर्ण परिचायक है ही, कामदशा (६।१०१, ११४) कामज्वर (४।२) आदि के वर्णन भी है। ऐसी कामक्रीडाओं का वर्णन उन्होंने किया है, जिनका ज्ञान न तो महाकवियों को है और न पामुलाओं—स्वैरविहारिणियों को—महाकविभिरप्यवीक्षिता पांसुलाभिरपि ये न शिक्षिताः। (१८।२९)।

दोष—इतने ज्ञानी, अगाध पाडित्य के अभिमानी महाकवि के महाकाव्य में यदि अनेक विद्वानों को दोष भी लगे तो आश्चर्य ही क्या ? आलोचकों की इस दोषदृष्टि को विद्वानों ने इस प्रकार परिगणित किया है।—

(१) भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की प्रबलता।

(२) शास्त्रीय सदर्भों का अतिशय प्रयोग।

(३) क्लिष्ट कल्पनाओं की पुनरुक्तियुता कथावरोधिका अतिशयता।

(४) शृङ्गार की अत्यन्तता और तज्जनित अमर्यादा।

(५) औचित्य का अनिर्वाह। उदाहरणार्थ सभी तरुणियों द्वारा (स्वप्न में ही सही) नल को पति रूप से भजना (१।३०), भृगु, नारद, व्यास आदि का भी दमयन्ती पर मोह (७।९५), स्वयंवर हो जाने पर भी चन्द्र-बिन्दु के माध्यम से उसके प्रति इन्द्र का मोह (१५।९४), हरिहरादिदाराओं का सदैव मदन कारा में वन्दिनी रहना (१७।७६) आदि।

(६) चार्वाकदर्शन के कलि द्वारा प्रतिपादन से देव ब्राह्मणादि पर लम्बे आक्षेप।

(७) लम्बे अनावश्यक वर्णन।

(८) अप्रचलित तथा नवगठित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न दुरूहता और

दुर्बोधता, उदाहरणार्थ आदवार, श्वैनपाता, अकूपार (अप्रसिद्ध, अप्रचलित), अप्रतीतचर, हृतस्तृच, सूननायक आदि (नवगठित) शब्द ।

(९) महाकाव्योचित विस्तृत जीवन-दर्शन का अभाव और एकाङ्गिता ।

(१०) रचना-दोष, जिनसे अलक्षित अर्थ भी सम्भव है तथा अनेक शास्त्रवर्णित दोषों की स्थिति, उदाहरणार्थ १।५० में 'मृध' का दुष्क्रम प्रयोग, चम्पक पुष्प पर बैठने से भ्रमर की मृत्यु की ख्याति विरुद्धता (१।८६), भ्रमर-पङ्क्ति का चम्पा की कली पर बैठना—प्रसिद्धिहतता (१।९१), अनेक स्थलों पर क्लिष्टत्व, नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने वाले पद्म का द्वितीया बहुवचन में पुंल्लिङ्ग-प्रयोग 'पद्मान्' (१०।१२०)—व्याकरणविरुद्धता आदि ।

(११) शृङ्गार और हास्य इनमें अश्लीलता ।

'हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' वाल्यूम १, पृ० ३२८ में डॉ० सुशील कुमार दे ने लिखा है कि आधुनिक दृष्टि के पाश्चात्य जल्दबाज समीक्षक को श्रीहर्ष की कृति अरुचिपूर्ण और शैली की दृष्टि से पूर्णतः असुन्दर लगे तो आश्चर्य नहीं—'इट इज नो वन्डर, दैट जजिंग बाय माडर्न स्टैंडर्ड, एन इंपेशेंट वेस्टर्न क्रिटिक शुड स्टिग्मैटाइज दि वर्क एज ए परफेक्ट मास्टर पीस आफ बैड टैस्ट ऐंड बैड स्टाइल'।

वस्तुतः यह दोष-दर्शन 'गुणसन्निपाते' चन्द्रकिरणों में कलङ्क के समान है और कुछ अतिपरम्परावाद तथा आधुनिक समीक्षा दृष्टि के परिणाम भी हैं। 'नैषधीयचरित' के अनुशीलन के समय जल्दबाजी से काम नहीं चलता, उसके लिए सुस्थिरता और सुस्थिर मति अपेक्षित है। श्रीहर्ष की कविता कामिनी की रमणीयता से सुधीजन ही प्रभावित होते हैं, 'कुमारों' (बालकों) के लिए वह नहीं है—

'परमरमणीयाऽपि रमणी कुमाराणामन्तःकरणहरणं नैव कुरुते' ।

श्रीहर्ष की उक्ति सुधीजनों को आनन्दित कर सके, इसी में उसकी सार्थकता है, रसहीन जनों के अनादर से उसका कुछ बिगड़ता नहीं—

'मदुक्तिश्चेदन्तर्मदयति सुधीभूय सुधियः ।
किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः ॥'

जहाँ तक शब्द-प्रयोगों में नवगठितता का प्रश्न है, वह तो श्रीहर्ष का स्तुत्य नवीन प्रयास है। राजा के लिए भूजानि (१।२), काम के लिए सूननायक, आलनेहारी के लिए बधिरामुका, पूर्वज्ञात के लिए अप्रतीतचर

चरितम्', अर्थात् निषधराज (नल) का चरित। इससे उसका उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है, वह अपने इस 'राजचरित' के माध्यम से निषधराज के महनीय चरित्र का उज्ज्वल पक्ष दिखाना चाहता है। उसे द्यूत में पराजित श्रीहीन नल का चरित अभीष्ट नहीं, वह नल का वैभव, उसकी कलाविज्ञता, त्रिलोकधन्य पौरुष, उदारता, वदान्यता, दानशीलता, गम्भीरता, दृढप्रतिज्ञता, आस्तिकता, विलासकौशल, गम्भीर अनुराग आदि उत्तम मानवीय गुण पाठकों के समक्ष रखना चाहता है। नल-सम्बन्ध से रमणीरत्न दमयन्ती का गौरव भी स्पष्ट हो जाता है। अनेक शास्त्रों के सदर्भ न केवल कवि की बहुज्ञता के परिचायक हैं, कविशिक्षा भी उसका उद्देश्य है। यदि 'नैषध' का साङ्गोपाङ्ग गम्भीरता से अध्ययन मनन किया जाय तो सक्षेप में भारतीय वाङ्मय और संस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त हो सकता है।

पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार इसके 'दर्शन' में व्यापकता और अपेक्षित उदात्तता भले ही न हो और इस प्रकार उनके समीक्षण में यह एक आदर्श 'एपिक' सिद्ध न हो सके, यह विचारणीय नहीं है, देखना यह है कि 'नैषधीय चरित' उन्हें कितना रिझा पाता है, जिनको ध्यान में रखकर इसका प्रणयन हुआ है, यह 'नैषधीयचरित' अपने सुधी पाठकों को 'सुधीभूय' (अमृत बनकर) मतवाला बना सकता है अथवा नहीं ? यदि कवि के इस कथन अथवा प्रश्न का उत्तर 'हाँ' में मिलता है, तो यह कहना पूर्णतः उचित है कि अपने उद्देश्य में कृतार्थ है—'किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरैः' ?

सक्षेप में कहा जा सकता है कि 'नैषधीयचरित' के रूप में श्रीहर्ष की 'उक्ति'—'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' क्षीरसागर के समान अमृतदायिनी है, यह पर्वत-पाषाणों से उद्भूत आडम्बरकोलाहल करती नदी नहीं —

दिशि दिशि गिरिग्रावाणः स्वां वमन्तु सरस्वतीं
तुलयतु मिथस्तामापातस्फुरद्ध्वनिडम्बराम् ।
स परमपरः क्षीरोदन्वान्यदीयमुदीयते
मथितुरमृतं खेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०४१

—देवर्षि सनाढ्य

॥ श्री ॥

नैषधमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु'व्याख्यासहितम्

सान्वय-सटिप्पण-'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि ।
नलः सितच्छत्रितकीर्तिमण्डलः स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः ॥ १ ॥

जीवातु—अथ तत्रभवान् श्रीहर्षकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनत्वाच्च 'काव्यालापांश्च वर्जयेदि'ति निषेधस्यासत्काव्यविषयतां पश्यन् नैषधाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिहेतोः 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि'त्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राज्ञो नलस्य इतिवृत्तरूपं मङ्गलं वस्तु निर्दिशति—निपीयेति । यस्य क्षितिरक्षिणः क्ष्मापालकस्य नलस्य कथाम् उपाख्यानम् । निपीय नितरामास्वाद्य 'पीङ् स्वादे' क्त्वो ल्यबादेशः न तु 'पिबतेः' 'न ल्यपी'ति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । बुधास्तज्ज्ञाः सुराश्च 'ज्ञातृचान्द्रिसुरा बुधाः' इति क्षीरस्वामी । सुधामपि तथा यथेयं कथा तद्वदित्यर्थः, नाद्रियन्ते, सुधामपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रितं सितच्छत्रमिव सितातपत्रीकृतमित्यर्थः, तत् करोतीति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । कीर्तिमण्डलं येन सः । महसां तेजसां राशिः रविरिवेति भावः । महे उत्सवे उज्ज्वलः दीप्यमानो नित्यमहोत्सवशालीत्यर्थः । 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः । स नलः आसीत् । अत्र नले महसां

―ाधिरिति कीर्तिमण्डले च सितच्छत्रत्वरूपस्यारोपात् रूपक कथायाश्च सुधापेक्षया ―त्कर्षात् व्यतिरेकश्चेत्यनयो ससृष्टि । तदुक्त दर्पणे 'रूपक रूपितारोपाद् विषये निरपह्नवे' इति । "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा । व्यतिरेक" इति मियाऽपेक्षयतेषा स्थिति ससृष्टिरुच्यते इति च। अस्मिन् सर्गे वशस्य वृत्त, 'जतौ तु वशस्थमुदीरित जराविति' ति तल्लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वय —यस्य क्षितिरक्षिण कथा निपीय बुधा सुधाम् अपि तथा न आद्रियन्ते सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल महसा राशि महोज्ज्वल स नल आसीद् ।

हिन्दी—*जिस पृथ्वीपालक की कथा का पान करके विद्वज्जन अमृत का भी* वैसा आदर नहीं करते, ऐसा (अपने) श्वेत छत्र (आतपत्र) के समान यशोमण्डल से युक्त, तेजस्विता से देदीप्यमान, तेजोराशि राजा नल था।

टिप्पणी—'नैषधीयचरित' महाकाव्य के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष ने विघ्न-विनाश के निमित्त काव्य के नायक राजा नल की कथा-रूप मगलकारिणी वस्तु का इस श्लोक द्वारा निर्देश किया है,—"आशी कथन" और 'नमोवाद' के अनुरूप ही कथावस्तु का निर्देश भी मगलविधायक होता है। राजा नल की कथा अमृत से भी अधिक सरस है, कवि का यह भाव है। 'बुध' शब्द का अर्थ 'देवता' भी है, अत यह भी भाव है कि सदा सुधापान करने वाले देवता भी राजा नल की कथा का आस्वादन कर अमृत को पहिले जैसा आदर नहीं देते। 'क्षितिर-क्षिण' का प्रथमा बहुवचन मानकर यह अर्थ भी हो जाता है कि अन्य धरती के पालक राजा यज्ञादि द्वारा प्राप्त अमृत को भी नल-कथा का आस्वादन कर भूल जाते हैं। 'क्षितिरक्षिण' का एक अर्थ फण पर धरती को धारने वाले शेष-तक्षकादि नाग भी है और 'सुधा' का अर्थ 'सुजय भाजन' भी। इससे भाव यह हुआ कि पातालवासी नागादि भी नल कथा में उतनी ही रुचि रखते हैं, जितनी कि पृथ्वीवासी बुधजन और स्वर्ग में बसने वाले देवता। भावार्थ यह कि नल का यश त्रिलोकी में व्याप्त है। 'सुधाम् + अपि' का खण्ड करके 'नैष-धीयप्रकाश' व्याख्याकार नारायण पण्डित 'अपि' का अर्थ 'चन्द्रमा में' करके यह अर्थ भी करते हैं कि देवगण 'सुधाजठधारा' चन्द्र को भी राजा नल के समान नहीं समझते।

'क्षितिरक्षिता' का अर्थ कलि के भय से मुक्ति दिलाने वाला राजा नल भी हो सकता है—क्षयार्थक 'क्षि' धातु से 'स्त्रियां क्तिन्' हो 'क्षिति' निष्पन्न हुआ, 'क्षिति' अर्थात् नाश। 'क्षिति – अक्षित' (अक्ष वासो यस्य स अक्षी अर्थात् धनि में वास करने वाला कलि) अर्थात् अक्षी-कलि की क्षिति-भय में आदर नहीं रह जाता। कहा गया है—'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षे कीर्तनं कलिनाशनम्।'

'अक्षा यस्य सन्ति स अक्षी तस्य अक्षिणः' अर्थात् द्यूतव्यसनी राजा नल, उसकी भी 'क्षिति' अर्थात् घरवों या राज्य है, यह आश्चर्यजनक भी है। जो द्यूतव्यसनी नरेश की कथा निश्चयतः मनोरंजक होगी, सुधा से भी सरस। कितना विचित्र है कि वह राजा अनत कीर्तिशाली भी है।

राजा नल 'महसा राशि' अर्थात् सूर्य के तुल्य तेजस्वी है, 'स' अर्थात् वही नल। अर्थात् लुप्तोपमा अथवा उत्प्रेक्षा अलंकार मानकर अर्थ हुआ कि सूर्यतुल्य तेजस्वी प्रतापी नल के अतिरिक्त कोई नहीं हुआ। नल की यही सूर्य से समता चन्द्रादि के प्रति अवज्ञा का कारण भी है। सूर्य ही वर्षा करके अन्नोत्पादक है। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः।'

'महोज्ज्वल' का विग्रह 'महै: उज्ज्वल' करके उत्सवों से देदीप्यमान अर्थ हुआ। 'महान् उज्ज्वलः शृङ्गारो यत्र दमयन्त्या.' विग्रह में यह अर्थ भी संकेतित होता है कि दमयन्ती का उज्ज्वल अर्थात् शृंगार (रति) नल में ही था। 'शृंगारः शुचिरुज्ज्वलः इत्यमरः'।

इस सर्ग में प्रथम श्लोक से १४२वें श्लोक (मुदाः कमाहूय) तक वंशस्थ छंद है। श्लोक में अन्त्यालंकार अनुप्रास है। अर्थालंकार उपमान 'सुधा' से उपमेय कथा का आधिक्य—निर्देश होने के कारण व्यतिरेक है और सूर्य और नल का अभेद होने से रूपक अथवा प्राकरणिक नल और अप्राकरणिक सूर्य के श्लिष्ट पद में अनुबन्धन होने से श्लेष। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपक की संसृष्टि तथा रूपक और श्लेष का संकर हुआ। 'सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल.' सूर्य का भी विशेषण है—'श्वेतातपत्रीकृत कीर्तियुक्त मण्डलं यस्य स.'—श्वेत छत्र के समान विस्तृत मंडल वाला सूर्य।

रसैः कथा यस्य सुधावधीरिणी नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डलः ॥ २ ॥

जीवातु—इममवार्थमन्यथा आह—रसैरिति । यस्य नलस्य कथा रसैः स्वादैः, 'रसो गन्धो रसः स्वादः' इति विश्वः । सुधाम् अवधीरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये णिनिः । भूर्जाया यस्य स भूजानि भूपतिरित्यर्थः । 'जायाया निङ्' इति बहुव्रीहौ जायाशब्दस्य निङादेशः । स नलः गुणैः शौर्यदाक्षिण्यादिभिः । अद्भुतः लोकातिशयमहिमेत्यर्थः । अभूत् । कथम्भूतः सुवर्णदण्डश्च एक सितातपत्रञ्च ते इवे द्वन्द्वात् तदन्तात्वितिः प्यन्तात् कर्म्मणि क्तः । ज्वलत्प्रतापावलि कीर्तिमण्डलञ्च यस्य तथाभूतः । इह कीर्तेः सितातपत्र-स्वरूपेण पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राज्ञश्च गुणाद्भुतत्वेन वैचित्र्यात् न पुनरुक्तिदोषः । अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयोः संसृष्टिः ॥ २ ॥

अन्वय —यस्य नलस्य कथा रसैः सुधावधीरिणी गुणाद्भुतः (सः) भूजानि- सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलिकीर्तिमण्डल अभूत् ।

हिन्दी—जिस नल की कथा (शृङ्गारादि नव अथवा मधुरादि षट्) रसों के कारण अमृत को तिरस्कारनेवाली है, गुणों के कारण अद्भुत वह भूमिपति ऐसा हुआ, जिसके सुवर्णदण्ड और श्वेत छत्र ही तेजोमयी प्रतापावलि और यशोमण्डल के सदृश थे ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि का यह भाव है कि अनेक गुणों से युक्त होने के कारण राजा नल एक अद्भुत और अनुपम पृथ्वीपति था, धरती ने उसके गुणों पर अनुरक्त हो नलराज को ही अपना स्वामी स्वीकारा था। कथा के अमृत तिरस्कारिणी होने में उसका नवरसमयी होना है। जिससे वह मधुरादिषड् रसमयी सुधा से श्रेष्ठ है। राजा नल में गुण भी अनेक हैं। वह 'सुधावधी' (शोभनं धावतीति सुधा पुण्यसंचारिणी धी यस्य सः) अर्थात् पुण्यचरित्र है (महाभारतान्तगत 'नलोपाख्यान' (८।१) में तथा अन्यत्र नल 'पुण्यश्लोक' कहा गया है, तदेव (१।१-४ में) नल के अनेक गुणों का उल्लेख है), 'रणी' (रणः अस्यास्तीति) अर्थात् रणशूर है 'भूजानिः' अर्थात् पृथ्वीपति है। इस प्रकार वह मन्त्र, उत्साह और प्रभु शक्ति से सम्पन्न है। 'सुवर्णदण्डैक'—इत्यादि विशेषण से नल का प्रतापी और यशस्वी होना द्योतित है। 'शोभमानः न्याय द्विजातिवर्णानां दण्डः शासनं वा यत्र तथा एक-

सितातपत्रं यस्मिन् तादृशं मण्डलं राष्ट्रं यस्य सः' विग्रह द्वारा नल न्यायी, सुशासक वर्णाश्रमव्यवस्थापक संकेतित होता है। 'भूजानि' नल ही था, इससे 'भू' के समान दमयन्ती का पति वही हुआ, यह भी व्यंग्य है।

यहाँ व्यतिरेक और रूपक की संसृष्टि है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ कथा के सुधावधीरिणी होने से व्यतिरेक है और 'सुवर्णदण्ड–सितच्छत्र' से क्रमशः 'प्रतापावलि कीर्तिमण्डल' विशेषित होने से यथासंख्य है, इस प्रकार व्यतिरेक–यथासंख्य का संकर है।

पवित्रमत्रातनुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा।
कथं न सा मद्गिरमाविलामपि स्वसेविनीमेव पवित्रयिष्यति ॥ ३ ॥

जीवातु—सम्प्रति कविः स्वविनयमाविष्करोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। यस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिपथं नीतेत्यर्थः। सतो जगल्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'देहधात्वम्बुपारदाः' इति रसपर्याये विश्वः। पवित्रं विशुद्धम् आतनुते करोति, सा कथा आविलां कलुषामपि सदोषामपीति यावत्, स्वसेविनीमेव केवलं स्वकीर्तनपरामेवेति भावः। मद्गिरं मम वाचं कथं न पवित्रयिष्यति? अपि तु पवित्रां करिष्यत्येवेत्यर्थः। तथा चोक्तं 'कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च। ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥' इति। या स्मृतिमात्रेण शोधनी सा कीर्तनात् किमुतेति कैमुत्यन्यायेनार्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः। तदुक्तम्—'एकस्य वस्तुनो भावाद् यत्र वस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया॥' इति ॥ ३ ॥

अन्वय—तत्कथा स्मृता अत्र युगे जगत् पवित्रम् आतनुते, सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिरं रसक्षालनया इव कथं न पवित्रयिष्यति?

हिन्दी—वह कथा स्मरण करने पर इस युग में भी संसार को पवित्र कर देती है, वह दोषमयी किन्तु 'स्वसेवैकतत्परा'—नल की ही कथा कहने में रत—मेरी वाणी को मानो शृङ्गारादि उज्ज्वल रसों से परिक्षालित करके भला क्यों न पवित्र करेगी?

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि-विनय प्रतिपादित है, जिसकी नल चरित के वर्णन में ही आसक्ति है, इसी सम्भावना के कारण 'साहित्यविद्याधरी' में

यहाँ उत्प्रेक्षा मानी गयी है। रस का अर्थ नवरस भी है और जल भी, सो श्लेष है। जो कथा स्मरणमात्र से पवित्र करती है, वर्णन से तो और भी करेगी इस अर्थान्तर की आपत्ति हो जाने के कारण 'अर्थापत्ति' अलङ्कार है। 'कथं न पवित्रयिष्यति अपितु पवित्रयिष्यत्येव'—काकुवक्रोक्ति।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्॥ ४॥

जीवातु—अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति। अयं नलः चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश' इत्युक्तासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुखात् श्रवणमित्यर्थः। बोधः, अर्थावगतिः, आचरणं तदर्थानुष्ठानं, प्रचारणम् अध्यापनं शिष्येभ्यः प्रतिपादनमित्यर्थः, तैश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणैः आचरणविशेषैरित्यर्थः। 'उपाधिर्धर्मचिन्तायां कैतवे च विशेषणे' इति विश्वः। चतस्रो दशाः अवस्थाः प्रणयन् कुर्वन्नित्यर्थः, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावः चतुर्दशत्वं 'स्वतलोर्गुणवचनस्ये'ति पुंवद्भावो वक्तव्यः, इति स्त्रियाः पुंवद्भावः। 'संज्ञाजातिव्यतिरिक्ताश्च गुणवचनाः' इति सम्प्रदायः। चतुर्दशसंख्यात्वं कुतः यस्मात् कृतवान् न वेद्मि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करणं कथं पिष्टपेषणवदिति चतुर्दशानां चतुरावृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधाभासद्वयम्। चतुरवस्थत्व-मिति तत्परिहारश्च। तदुक्तम् 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति॥ ४॥

अन्वयः—अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्रः दशाः प्रणयन् चतुर्दशत्वं कुतः कृतवान् (इति) स्वयं न वेद्मि।

हिन्दी—इस राजा नल ने अध्ययन, अवगान, आचरण और प्रचार—इन चार प्रकारों से क्यों चौदह विद्याओं को 'चतुर्दशत्व' ही बनाया—चौदह को चौदह ही रहने दिया—यह मैं स्वयं नहीं समझ पाता।

टिप्पणी—राजा नल चारों वेद, षड् वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—इन मनु प्रतिपादित चौदह विद्याओं (याज्ञवल्क्य के अनुसार चौदह विद्याएँ हैं—पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि

विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश।) के न केवल ज्ञाता ही थे वे उनका स्वाध्याय भी करते थे तदनुकूल जीवन व्यवहार भी चलाते थे और उनके प्रचार-प्रसार में भी तत्पर थे। 'चतुर्दश' का अर्थ चौदह तो है ही 'चतुर्दशत्व' का अर्थ चार 'तनोतिविरोधाभास' [illegible] भी है, तो कवि (कहते थे) ने 'चतुर्दश' का 'चतुर्दशत्व' क्यों है, यह समझ ही गया है। राजा नल चौदहों विद्याओं के चारों व्यवहार में तत्पर रहते थे।

चतुर्दश के चतुर्दश ही रहने में विरोध प्रतीत होता है किन्तु पुन 'चतुर्दशत्व' का अर्थ चार दशा कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है, अतः 'विरोधाभास' अलङ्कार है। 'साहित्यविद्याधरी' ने यहाँ उत्प्रेक्षा बतायी गयी है।

अमुष्य विद्या रसनाग्रनर्तकी त्रयीव नीताङ्गगुणेन विस्तरम्।
अगाहताष्टादशतां जिगीषया नवद्वयद्वीपपृथग्जयश्रियाम्॥ ५॥

जीवातु—ऽथास्यापरा अपि चतस्रो विद्याः सन्तीत्याह—अमुष्येति। अमुष्य नलस्य रसनाग्रनर्तकी जिह्वाग्रवर्तिनीत्यर्थः। विद्या पूर्वोक्ता चतुर्दशविद्या वेति गम्यते, रसनाग्रनर्तित्वमभ्यस्तत्वादिति भावः। त्रयीव त्रिवेदीव 'इति वेदास्त्रयस्त्रयी' इत्यमरः। अङ्गानां 'शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः। ज्योतिषञ्चेति विज्ञेयं षडङ्गं बुधसत्तमैः' इत्युक्तानां गुणा मधुरोच्चकत्वादयस्तत्तद्गुणितत्वानां च रत्नानां गुणेन आवृत्त्या वैशिष्ट्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरसामर्थ्येन स्वकीयप्रजननशक्तिविशेषेणेति भावः विस्तरं वृद्धिं नीता प्रापिता सती नवानां द्वयं नवद्वयम् अष्टादशेत्यर्थः, तेषां द्वीपानां पृथग्भूता जयश्रियः तासां जिगीषया जेतुमिच्छया इत्युत्प्रेक्षा। जेतुमिच्छयेत्यर्थः, अष्टादशताम् अगाहत अभजत। पूर्वोक्तासु चतुर्दशसु विद्यासु त्रिविधत्वस्य आयुर्वेदादीनामनुप्रवेशन-सौन्दर्यात् तस्यार्थकत्वेन, पुरुषविद्यापक्षे च पञ्चरत्नानां तत्त्वज्ञानपूर्वकत्वेन वास्तवं विद्येन मन्यते च एतद्वेदस्य प्रयोगः। अङ्गानां शिक्षादीनां षाड्विध्य-वैशिष्ट्येन अष्टादशत्वसिद्धिः। प्रागुक्तास्चतुर्दश विद्याः। 'आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः। अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादश स्मृताः' इति। अङ्ग-विद्यापूरणेन यथा अष्टादशत्वनिष्पत्तिन्याय-दिक्चक्रवर्तित्वं स्याने तु अङ्गानि वेदाश्चत्वार इत्यथर्वणस्य पृथग्वेदत्वे नवीं वहानि। अन्यन्त्वतति तु नाष्टा-दशत्वसिद्धिरिति चिन्त्यम्। उपमोत्प्रेक्षयो सङ्कीर्णः॥५॥

हिन्दी—अष्ट दिक्-पालों (इन्द्र, अग्नि, यम, वायु, सूर्य, वरुण, चन्द्र, कुबेर) के अंशों से उत्पन्न (स्मृति के अनुसार राजा अष्ट लोकपालों की मात्रा से युक्त होता है) अष्ट दिशाओं का स्वामी वह (राजा नल) काम के प्रसार की अवरोधक, अपने को त्रिनेत्र शिव के अवतार होने का बोध कराने वाली दृग से अधिक अर्थात् तीसरी शास्त्र रूप दृष्टि को धारण करता था।

टिप्पणी—राजा सब देवों से बड़ा 'महादेव' था, यह दो तर्कों से प्रमाणित किया गया है—(१) इन्द्रादि लोकपाल एक एक दिशा के स्वामी हैं, नल आठों का। (२) वह सामान्य नेत्र युगल के अतिरिक्त त्र्यम्बक शिव के समान काम अर्थात् स्वेच्छाचार की निरोधिका शास्त्र दृष्टि से समन्वित था। राजा नल शास्त्रानुसार आचरण करता था। और अष्टलोकपालांश था, इस प्रकार वह त्रिनेत्र शिव के अवतार सदृश था। मनुस्मृति (५।९६) के अनुसार—'सोमाग्न्य-र्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च। अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणां मात्राभिर्निर्मितो नृप ॥'

साहित्य विद्याधरी के अनुसार यहाँ उपमा है। 'दृशम् शास्त्रात्मि' में रूपक और नल के विभूति भेद होने पर भी अभेद कथन से अतिशयोक्ति है, इस प्रकार रूपक और अतिशयोक्ति का 'सकर' है।

पदैश्चतुर्भिस्सुकृते स्थिरीकृते कृतेऽमुना के न तपः प्रपेदिरे ?।
भुवं यदेकाङ्घ्रिकनिष्ठया स्पृशन् दधावधर्मोऽपि कृशस्तपस्विताम् ॥७॥

जीवातु—अथास्य प्रभावं दर्शयति—पदैरिति। अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुकृते धर्मे वृषरूपत्वात् चतुर्भिः पदैः चरणैः—'तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञान-मुच्यते। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे ॥' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थि-रीकृते निश्चलीकृते इति यावत्, के जनाः तपः चान्द्रायणादिरूपं कठिनं व्रतं का कथा ज्ञानादीनामिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्वं एव तपश्चेरुरित्यर्थः। यद् यत अधर्मोऽपि का कथा अन्येषामित्यपि शब्दार्थः, कृशः, दुर्बलः सन् एकया अङ्घ्रेश्चरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुवं स्पृशन् कृतेऽपि अधर्मस्य लेशतः सम्भवादर्शनेनेति भावः तपस्विता तापसत्वं दीनत्वञ्च 'मुनिदीनौ तपस्विनौ' इति विश्वः। दधौ धारयामास। अस्य शासनादधर्मोऽपि धर्मेषु आसक्तोऽभूत्।

किमुत अन्य इति कैमुत्यन्यायादर्थान्तरापत्त्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधस्त्वेतयनयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

अन्वय :—अमुना चतुर्भिः पदैः सुकृते स्थिरीकृते कृते के न तपः प्रपेदिरे यत् कृश अधर्मः अपि एकाङ्घ्रिनिष्ठया भुवं स्पृशन् तपस्विताम् दधौ ॥

हिन्दी—इस (नल) के द्वारा चारों पैरों से सुकृत—धर्मके निश्चल किये जाने पर कृतयुग में कौन तपस्यारत न हो गए (अपितु सब हो गये), क्योंकि दुर्बल अधर्म भी एक पैर पर खड़ा धरती को छूता तपस्या करने लगा।

टिप्पणी—राजा नल को त्रेता में उत्पन्न माना जाता है, उसने अपने पुण्य से त्रेता में भी धर्म की पूर्ण स्थापना करके सतयुग ला दिया था, जिसमें धर्म चारों पैरों से विचरण करता है और अधर्म एक पैर से, सो जब अधर्म भी धरती पर एक पैर से खड़ा हो तपस्वी हो गया तो और कौन तपस्वी न हो जाता। इस प्रकार राजा नल का पूर्णधर्मात्मत्व सिद्ध किया गया है। धर्म के चार चरण हैं—सत्य, अस्तेय, शम और दम अथवा तप, दान, यज्ञ और ज्ञान। नल के राज्य में सर्वत्र यही आचार धर्म था।

नल के शासन में अधर्म भी धर्माचारी हो गया तो अन्य कौन न हो जाता यह 'अर्थापत्ति' है और अधर्म भी धर्म हो गया यह विरोध, इन अर्थापत्ति—विरोध की संसृष्टि है। साहित्य विद्याधरी के अनुसार अधर्म का धर्मी हो जाना विरोध है, जिसके परिहार से 'विरोधाभास है' और सब के तपोनिष्ठ हो जाने का 'अनुमान' है। शब्दालंकार अनुप्रास है।

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ ॥ ८ ॥

जीवातु—अथास्य सप्तभिः प्रतापं वर्णयति—यदित्यादिभिः। अस्य नलस्य यात्रासु जैत्रयानेषु बलोद्धतं सैन्योत्क्षिप्तं स्फुरतः ज्वलतः प्रतापानलस्य यो धूमः तस्येव मञ्जिमा मनोहारित्वं यस्य तथोक्तं 'सप्तम्युपमाने' त्यादिना बहुव्रीहिः। मञ्जुशब्दादिमनिच्प्रत्ययः। यत् रजः धूलिः, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भावः। सुधाम्बुधौ क्षीरनिधौ पतितम्, अतएव पङ्कीभवत् सत् विधौ चन्द्रे तद्वासिनीति

-भाव । अङ्कता कलङ्कत्व दधाति । अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्वं दधातीवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अन्वय —अस्य यात्रासु बलोद्धत स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम यत् रजः तत् एव गत्वा सुधाम्बुधौ पतित पङ्कीभवत् विधौ अङ्कता दधाति ।

हिन्दी—इस (नल) की (विजयार्थ) यात्राओ मे सेना के द्वारा उडायी गयी स्फुरित होने प्रताप रूप अग्नि के धूमसम मनोहारिणी जो धूल थी, वही जाकर क्षीरसागर मे गिरी और कीचड बनकर चन्द्रमा मे कृष्णचिह्न हो गयी ।

टिप्पणी—प्रथम सात श्लोक में नल के महिमान का वर्णन करके श्रीहर्ष अब सात हो श्लोकों मे उसके प्रताप का वर्णन कर रहे हैं । दिग्विजयैषिणी नल की सेना जब चलती थी तो उससे प्रचुर धूल उडती थी, जो स्वाभाविक है। क्षीर सागर के जल से मिलकर उसके कीचड होकर चन्द्रकलङ्क बन जाने की सम्भावना से सेना-बाहुल्य और समुद्र पर्यन्त उसकी गति द्योतित है । 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा मानी है और 'जीवातु'-कार ने व्यञ्जक का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा । 'साहित्य विद्याधरी'कार अतिशयोक्ति मानते हैं । 'प्रतापानलधूम' से औपम्य मे रूपक है ।

'तिलक'—व्याख्या मे बताया गया है, यह प्रश्न उठाकर कि कीचड बनी धूलि का चन्द्र-कलङ्क होना क्या वस्तुगति द्वारा सूचित होता है अथवा उसकी उत्प्रेक्षा होती है ? दोनों ही सम्भव नही है । पहला इस कारण सम्भव नही क्योंकि पुराणादि मे ऐसी कोई कवि प्रसिद्धि नही है । उत्प्रेक्षा इसलिए नही हो सकती क्योंकि 'इव' आदि द्योतक पद का अभाव है । वस्तुत 'तदेव' मे जो 'एव' है, वह प्रसिद्ध पक्षान्तर के अस्वीकारार्थ या निषेधार्थ है, जिनसे यह द्योतित होता है कि चन्द्र कलङ्क प्रसिद्ध मृग, शशक आदि नही है, नल सैन्य द्वारा उद्धत धूलि ही है ।

स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य सङ्गरे ।
निजस्य तेजश्शिखिनः परश्शता वितेनुरङ्गारमिवायशः परे ॥ ९ ॥

जीवातु —स्फुरदिति । सङ्गरे युद्धे शतात् परे परश्शताः शताधिका इत्यर्थः, बहव इति यावत्, पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादिष्वादुपसर्जनस्य

परनिनाद पारस्कारादित्वात् सुडागमश्च । परे शत्रव स्फुरन्तौ प्रसरन्तौ धनुर्नि-स्वनौ चापघोषौ इन्द्रचापगर्जिते—यस्य यत्र वा तथोक्त स नल एव घन मेघ तस्य आशुगाना शराणाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टि. 'आशुगौ वायुविशिखावि' इत्यमर । तथा व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वादयते कर्मणि क्त । निजस्य तेज शिखिन प्रतापाग्नेः अङ्गारमिव अयश: अपकीर्ति वितेनु विस्तारितवन्त । पराजिता इति भाव । अत्र रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभाव सङ्कर: ॥ ९ ॥

अन्वयः—अरसंख्या परे समरे निजस्य स्फुरद्धनुर्निस्वनतद्घनाशुगप्रगल्भवृष्टिव्ययितस्य तेज शिखिन अङ्गारम् इव अयश वितेनु ।

हिन्दी—संख्याधिक अर्थात् असख्य शत्रु सग्राम में स्फुरित होते, टकारते धनुष से उस (नल) द्वारा छोडे गये असख्य बाणों की असह्य वर्षा के कारण बुझे स्वकीय तेज रूप अग्नि के अगारो के सदृश अयश का विस्तार करते थे ।

टिप्पणी—इस श्लोक मे नल के शत्रुओ के निरवन पराजय और नल के अद्भुत धनुर्धारी होने का भाव है । मल्लिनाथ ने इसमें रूपक और उत्प्रेक्षा का अगागिभाव सकर अलकार माना है । साहित्य विद्याधरी में उपमा और रूपक अलकार बताये गये हैं ।

'प्रकाश' व्याख्या मे 'स्फुरद्'-इत्यादि का विग्रह इस प्रकार किया गया है—स्फुरद् धनुर्निस्वन, यस्य एव विधश्च स तस्य घना ये आशुगास्तेषा प्रगल्भा या वृष्टिस्तया व्ययितस्य ।' 'प्रकाश'—कार ने यह भी कहा है कि 'स्फुरद्धनुर्निस्वनो यस्याम्' ऐसा विग्रह करके यह वृष्टि का विशेषण भी हो सकता है । उन्होंने दो प्रकार से और भी विग्रह किया है—'धनुर्निस्वन तनोति तयते वा धनुर्निस्वनतद् स्फुरन्प्रकाशमानश्चासौ धनुर्निस्वन तश्च तस्य। अथवा स्फुरन्तौ धनुर्निस्वनौ धनुः सिंहनादौ यस्य चासौ स एव घनो मेघस्तस्या शुगा क्षिप्रगामिनी प्रौढा च या वृष्टिस्तया व्ययितस्य । शिखिपक्ष मे—स्फुरन्ती इन्द्रधनुर्गर्जिते येषु ते च घना स्तेषामाशुगा शीघ्रगामिनी प्रौढा, आशुगेन वायुना वा प्रौढा या वृष्टिस्तया व्ययितस्य । एक और भी सम्भावना की है—'निस्वन तवन्तीति निस्वन तत स्फुरद्धनुर्युक्ता निस्वन ततश्च ये घना मेघा इति ।'

अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्वलयं ज्वलद् भुवः ।
प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया रराज नीराजनया स राजघः ॥१०॥

जीवातु—अनल्पेति। राज्ञः प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघः शत्रुघाती-त्यर्थः 'राजघ उपसंख्यानमि'ति निपातः । नलः अनल्पः दग्धानि अरिपुराणि शत्रुराष्ट्राणि यैः तथोक्ता अनलवत् उज्ज्वला तैः निजप्रतापैः कोपदण्डसमुत्थ तेजोभिः 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोपदण्डजमि'त्यमरः । ज्वलत् दीप्यमानं भुवः वलयं भूमण्डलं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्विजेतृत्वा-दिति भावः । जयाय सृष्टया सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरितिशेषः । नीराजनया आरात्रिकया रराज शुशुभे दिशो विजित्य प्रत्यावृत्तं विजिगीषुं स्वपुरोहिताः मङ्गलसंविधानाय नीराजयन्तीति प्रसिद्धिः । केचित् निजप्रतापैरिव जयाय सृष्टया जयायैवेत्यर्थः । नीराजनया आरात्रिकया ज्वलत् दीप्यमानं भुवो वलयं भूचक्रं प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिणं परिभ्राम्य रराज । तत्र ज्वलत्प्रतापानलो आशादिग्जैत्रयात्रायां प्राच्यादिप्रादक्षिण्येन भूमण्डलं परिभ्रमत् निजप्रतापनीरा-जनया भूदेवता नीराजनमिव रराजेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । इति व्याचक्षते । तन्न मनीषीनम् निजप्रतापैरित्यस्य नीराजनयेत्यनेन सामानाधिक-रण्यासङ्गतेरिति ॥ १० ॥

अन्वयः—स राजघः अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैः ज्वलद् भुवः वलयं प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्टया नीराजनया रराज ।

हिन्दी—शत्रु राजाओं का हन्ता वह (नल) शत्रुओं की प्रभूत पुरियों को जलाडालने वाले अग्नि से उज्ज्वल स्वकीय प्रतापपुञ्ज द्वारा जलते-दमकते भूवलय (भूखण्ड) की प्रदक्षिणा करके विजयार्थ प्रस्तुत आरातिक—आरती से सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—राजा नल जब भी सामान्य शत्रुओं को नहीं, राजाशत्रुओं को जीतकर और उनके नगरों को क्षार-क्षार कर विजयी हो लौटता था, तब पुरोहितादि विजयी नरेश की आरती उतारा करते थे। 'भूवलय की प्रदक्षिणा' से नल का समस्त पृथ्वी मण्डल का जेता होना घोषित है।

'नीराजना' का अर्थ आरती तो है ही, राजाओं का अभाव करना भी

है—'रानाभनावो नीराज नीराजकरणं नीराजना तथा।' अर्थात् शत्रुनृपों का विनाश करके नल सुशोभित होते थे। इसका अन्य अर्थ जल-क्षेपण भी है—'नीरम्य शान्त्युदकस्याजनया क्षेपणया' अर्थात् स्वपुरवासियों द्वारा फेंके गये शान्तिजल से राजा शोभित होता था। तृतीय चरण का अन्य प्रकार से पदच्छेद करके यह अर्थ भी लिया जाता है कि विष्णु-रूप राजा नल की अजया—लक्ष्मी नीराजना उतारती थी—'प्रकृष्टा दक्षिणा येषां ते प्रदक्षिणा वदान्या ते सन्ति यस्य स 'प्रदक्षिणी (प्रकृष्ट दान करने वाले अनुगत हैं जिसके, ऐसा राजा नल), अथवा प्रकृष्टदक्षिणा ज्योतिष्टोमादयो यस्य सन्तीति प्रदक्षिणी (अनेक ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का कर्ता), अतएव कृती (कर्मकुशलः, पुण्यशीलो वा) अजया लक्ष्म्या आय विष्णवे सुष्ठ्या नीराजनया रेजे।

'साहित्य-विद्याधरी—कर्ता इसमें अनुप्रास और लुप्तोपमा का निर्देश करते हैं। एक यह अर्थ भी किया जाता है कि ज्वलत्प्रतापानल से उज्ज्वल नल नाना दिशाओं के विजयनिमित्त भूमण्डल में परिभ्रमण करता मानों भू देवता की नीराजना उतारता था, इस प्रकार व्यञ्जकादि का अभाव होने के कारण यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है। मल्लिनाथ इसे समीचीन नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार 'निरवनार्ते' और 'नीराजनया' में सामानाधिकरण्य की सगति नहीं बैठती। यह कल्पना करें कि प्रतापानल द्वारा नीराजना हो रही है और अरिपुर उसकी वर्तिका हैं, यह उत्प्रेक्षा है कि उसी से राजा भू-वलय की आरती उतारता है। इस प्रकार रूपक और उत्प्रेक्षा के अगागिभाव के कारण यहाँ सकर है।

निवारितास्तेन महीतलेऽखिले निरीतिभावं गमितेऽतिवृष्टयः।
न तत्यजुर्नूनमनन्यमाश्रयाः प्रतीपभूपालमृगीदृशां दृशः ॥ ११ ॥

जीवातु—निवारिता इति। तेन नलेन अखिले समग्रे महीतले न सन्ति ईतयः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत् निरीति, तस्य भावं तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः। ईतयश्चोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टि शलभा मूषिकाः खगाः। प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः'॥ इति। गमिते प्रापिते सति निवारिता स्वराष्ट्रात् निराकृता इत्यर्थः। अतिवृष्टयः नान्यत्र कुत्र आश्रयः यासां तथाभूताः

सत्या। प्रतीपभूपालाना प्रतिपक्षनृपतीनां या मृगीदृश मृगनयना कान्ताः तासा दृशः नयनानि न तत्यजुः। नूनं मन्ये इत्यर्थः । उत्प्रेक्षावाचकमिद, तदुक्त दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि तादृश' इति। नलनिहतभर्तृका राजपत्न्य सतत रुरुदुरिति भाव ॥ ११ ॥

अन्वय—तेन अखिले महीतले निरीतिभाव गमिते निवारिता अतिवृष्टय अनन्यसश्रया नून प्रतीपभूपालमृगीदृशा दृश न तत्यजु ॥

हिन्दी—उस (राजा नल) के द्वारा समस्त पृथ्वीतल के निरीतिभाव (जहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदल, चूहे, तोते और आक्रान्त शत्रुनृप—ये छः ईतियाँ न रहें) को प्राप्त करा दिये जाने पर प्रतिरोध (रोक) प्राप्त अतिवृष्टियों ने अन्यत्र आश्रय न पाकर निश्चय ही शत्रु-राजाओं की मृग-नयनाओं के नेत्रों को नहीं तजा (रिपुनारियों की आँखों में सदा का बसेरा कर लिया) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल पुण्यात्मा सदाचरण और महान् पराक्रमी था। न तो उसके कारण इस धरती पर अतिवृष्टि आदि आपदाएँ रह गयी थीं और न अन्य राजागण उस पर आक्रमण का ही साहस कर पाते थे, सभी शत्रुओं को उसने पराजित कर दिया था, अतएव अतिवृष्टि आँसुओं के रूप में सदा रिपुनारियों के नेत्रों में आ बसी थी।

'नूनम्'—इस उत्प्रेक्षाबोधक शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ उत्प्रेक्षा अलकार है। 'प्रकाश'-कारने प्रतीपभूपालमृगीदृशाओं के नेत्रों से निरतर अश्रु प्रवाह के आधार पर यह भाव लेकर कि नल ने सभी दुष्ट भूपालों का विनाश कर दिया, यहाँ 'पर्यायोक्त' अलकार माना है, क्योंकि गम्य का अन्य प्रकार से कथन पर्यायोक्त है—'गम्यस्यापि भङ्ग्यन्तरेणाभिधान पर्यायोक्तम् ।' साहित्य विद्याधरी के अनुसार 'अतिवृष्टयः न तत्यजु'—इस कथन के आधार पर यहाँ अतिशयोक्ति है।

सितांशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्सहकृत्वरी बहुम् ।
दिगङ्गनाङ्गाभरण रणाङ्गणे यश पट तद्भटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

जीवातु—सितांशुेति। महान् असिरेव वेमा वायदण्ड 'पुंसि वेमा

वेमदण्ड' इत्यमरः। तस्य सहचरी सहकारिणी 'सहे चे ति करोति' इत्यभिधानम्। 'वनी र वेमि डोर् रुक्' । तस्य नलस्य भटाना सैनिकाना यद्वा तु नल एव भटः वीरः तस्य चातुरी चतुरता नैपुण्यमिति यावत् एव तुरी वयन-साधन वस्तुविशेष इत्यर्थः । 'मातु' इति प्रसिद्धा, रण एव अङ्गनं चत्वरं तस्मिन् सितासुवर्णैः शुभ्रैरित्यर्थः, तस्य नलस्य गुणैः शौर्यादिभिः तन्तुभिश्च दिश एव अङ्गना. तासाम् अङ्गाम्बरम् अङ्गनूतनम्। 'अङ्गावरणमि'ति पाठे अङ्गाच्छा-दन बहु यश एव पटः वसन च वयति स्म वयति स्म। साङ्गरूपकमलङ्कारः। संग्रामे तथा नैपुण्यनेन प्रकटित यथा तेन सर्वा दिशो यशसा प्रपूरिता इति भावः ॥ १२ ॥

अन्वय —महाजिवेमः सहचरी तद्भटचातुरीतुरी सितासुवर्णैः तद्गुणैः रणाङ्गणे बहुम् दिगङ्गनाङ्गावरणम् यशः पट वयति स्म।

हिन्दी—महान् कृपाण रूप वयन काष्ठ (बुनने का लकड़ी का बना यन्त्र-विशेष) की सहकारिणी उस नल योद्धा (अथवा उस नल के सैनिकों) की चतुरता रूपी तुरी (बुनने का दूसरा यन्त्र, जिसमें बाने का सूत भरा जाता है अथवा बुनकरों की कूची) चन्द्रमा के समान शुभ्रवर्ण के उस (नल) के गुण (शौर्य, औदार्य आदि) रूप तन्तुओं (सूत के धागों) से रणभूमि में दिक्-सुन्दरियों को ओढ़ने वाला प्रचुर यश रूप वस्त्र बुना करती थी।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि महान् शूर और पराक्रमी राजा नल विशिष्ट कृपाण प्रयोग करता था, तलवार चलाने की कला द्वारा उसने सभी शत्रुओं को चतुर्दिक् पराभूत कर दिया था और सब ओर उसकी कीर्ति का विस्तार हो गया था।

बुनकर के वयनयंत्र तुरी से नल की 'चातुरीतुरी' विशिष्ट है, क्योंकि यह अनेक वस्त्र एक साथ बुनती है, अतः नारायण पण्डित के अनुसार यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। 'गुण' शब्द यहाँ श्लिष्ट है और 'महासि' में 'वेम' 'चातुरी' में 'तुरी' और 'यश' में 'पट' का आरोप है, अतः साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ श्लेष और रूपक है ॥ १२ ॥

प्रतीपभूपैरिव किं ततो भिया विरुद्धधर्मैरपि भेत्तृतोज्झिता।
अमित्रजिन्मित्रजिदोजसा स यद् विचारदृक्चारदृगप्यवर्तत ॥ १३ ॥

जीवातु—प्रतीपेति । प्रतीपाः प्रतिकूला भूपा राजानः तैः विरुद्धधर्मैः असमानाधिकरणधर्मैः विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि ततः नलात् भिया भयेनैव हेतुना भेत्तृता स्वाश्रयभेदकत्वं परोपजाप इत्यर्थः । उज्झिता त्यक्ता किम् ? यद् यस्मात् स नलः ओजसा तेजसा अमित्रान् शत्रून् जयतीति तथोक्तः मित्रं सूर्यं जयतीति तथाभूतः । अत्र यः खलु अमित्रजित् स कथं मित्रजिदिति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्वमुक्तः । तथा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारैः गूढपुरुषैः पश्यतीति चारदृक् । 'राजानश्चारचक्षुषः' इति, 'चारैः पश्यन्ति राजानः' इति च नीतिशास्त्रम् । अत्रापि यो विचारदृक् स कथं चारदृग् भवतीति विरोधाभासः, परिहारस्तु पूर्ववत् । अवर्तत आसीत् । अपि विरोधे । भूम्यतेजसः चारदृशश्च नलं ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परोपजातादिवैरभावं तत्यजुरिति भावः । अत्र विरोधोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—किं भिया प्रतीपभूपैः इव विरुद्धधर्मैः अपि ततः भेत्तृता उज्झिता ? यद् स ओजसा अमित्रजिद् (अपि) मित्रजित्, विचारदृक् अपि अविचारदृक् अवर्तत ।

हिन्दी—क्या डर से शत्रुनृपों के सदृश परस्पर विरोधी धर्मों ने भी उस (नल) से भेद भाव छोड़ दिया था ? क्योंकि वह अपने तेज के कारण अमित्रजेता (शत्रुजयी और सूर्य को न जीतने वाला) होकर भी मित्रजेता (मित्रजयी और सूर्यजयी) था और विचारदृक् (विवेक अथवा गुप्तचरों के द्वारा सूचना पाने वाला 'चारचक्षु') होकर भी अविचारदृक् (अविवेकी और अचारचक्षु) था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'विरोध' अलङ्कार है । अमित्रजित् (सूर्य का अजेता) होकर भी कोई मित्रजित् (सूर्यजयी) कैसे हो सकता है ? विरोध के परिहारार्थ अर्थ हुआ शत्रुओं को जीतने वाला होकर भी तेज से सूर्य का जेता था, अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी था । इसी प्रकार विचारदृक् (विवेकी) होकर भी राजा अविचारदृक् (अविवेकी) कैसे हो सकता है ? परिहारार्थ है, राजा विवेकी था और गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचारों के आधार पर सारा संसार हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करता था । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ

विरोध—उत्प्रेक्षा का संकर है। कुछ टीकाकार 'इव'—प्रयोग से उपमा—उत्प्रेक्षा—विरोध का संकर मानते हैं ॥ १३ ॥

नदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोति भानोः परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि ॥१४॥

जीवातु—तदिति। तस्य नलस्य ओजः तेजः प्रताप इत्यर्थः, तस्य तथा तस्य नलस्य यशसस्य स्थितौ सत्तायाम् इमौ भानुविधू वृथा निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा कुरुते विवेचयतीत्यर्थः, विधिः तदा तदा परिवेषं परिधिं 'परिवेषस्तु परिधि-रुपसूर्यकमण्डले' इत्यमरः। एव कैतवं छलं तस्मात् भानोः सूर्यस्य विधोरपि चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्ततासूचकवेष्टनमित्यर्थः, करोति अधिकाक्षर-वर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्रार्कौ अस्य कीर्तिप्रतापौ इति तात्पर्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात् अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः'-रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिषेण सूर्याचन्द्रमसोः कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह्नु-वोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याहुः ॥ १४ ॥

अन्वयः—तदोजसः तद्यशसः इमौ वृथा स्थितौ इति विधिः यदा चित्ते कुरुते, तदा परिवेषकैतवात् भानोः विधोः अपि कुण्डलनां तनोति।

हिन्दी—राजा नल के तेज और यश के रहते ये दोनों (सूर्य, चन्द्र) व्यर्थ हैं—विधाता जब-जब यह मन में करता (विचारता) है, तब-तब परि-वेष (गोलघेरा, जो कभी सूर्य-चन्द्र के चारों ओर दीख पड़ता है) के ब्याज से सूर्य और चन्द्र पर कुण्डलना (व्यर्थतासूचक रेखामंडल) बना देता है।

टिप्पणी—नल के तेज के रहते सूर्य निष्प्रयोजन है और यश के रहते चन्द्रमा। अर्थात् नल सूर्य से अधिक तेजस्वी है और चन्द्रिका से अधिक आह्ला-दिका उसकी कीर्ति है। विधि द्वारा सूर्य-चन्द्र पर कभी-कभी दीखनेवाली कुण्डलना खींच देना—प्रतिपादित करके कवि ने यही उत्प्रेक्षा की है। प्रकृत परिवेष के अप्रकृत कुण्डलना-कथन के आधार पर यहाँ अपह्नुति अलंकार है, साहित्यविद्याधरी का मत यही स्थापना है। प्राचीन व्याख्याकारों ने यहाँ सापह्नुवा गम्या उत्प्रेक्षा मानी है ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।
मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपः ॥१५॥

जीवातु-अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति-अयमिति विभज्येति च। अल्पित अल्पीकृत निर्जित इति यावत्, दानशौण्डत्वादिति भाव, कल्पपादप अल्पतरु वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तथाभूतः स नृप दारिद्र्यस्य अभावस्य निर्धनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रताम् अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्य प्रभूतधनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भाव । अयं दरिद्र अभाववानिति यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रती दीप्यमानामिति यावत्, वेधस इयं वैधसी तां लिपिं मृषा मिथ्या न चक्रे न कृतवान्। विधातुर्लिपौ सामान्यत दरिद्रशब्दस्य स्थितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं धनदरिद्र, पापदरिद्र, ज्ञानदरिद्र इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वम् अङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां धनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

अन्वय.—अल्पितकल्पपादप नृप दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय 'अयं दरिद्र भविता'—इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतीं वैधसीं लिपिं मृषा न चक्रे ।

हिन्दी—कल्पवृक्ष को भी (स्वदानशीलताधिक्य से) छोटा बना देनेवाले उस राजा ने दारिद्र्य का भी दरिद्र बनाकर 'यह दरिद्र होगा'—इस याचकों के ललाट पर जागती दीपती विधाता की लिपि को झूठी नहीं किया ।

टिप्पणी—कल्पवृक्ष याचक को देता है, किन्तु नल अयाचकों को भी देता था, इस प्रकार उसके सम्मुख कल्पवृक्ष भी छोटा पड गया और इस प्रकार दरिद्रों के भाल पर विधाता की लिखी लिपि झूठी नहीं पड़ी, भाल पर लिखी दरिद्रता ही दरिद्र बन गयी मिटकर। अथवा 'काकु' मानकर यह अर्थ भी हो सकता है कि विधि लेख को प्रभूतदान के द्वारा झूठा कर दिया। भाव यह है राजा नल इतना दानी था कि भूमण्डल पर दरिद्रता का नाम भी नहीं रह गया था। इस तथा अगले पद्य में भी राजा की दानशीलता का वर्णन किया गया है ।।१५।।

विभज्य मेरुर्न यदर्थिसात्कृतो न सिन्धुरुत्सर्गजलव्ययैर्मरु ।
अमानि तत्तेन निजायशोयुगं द्विफालबद्धाश्चिकुराः शिरस्स्थितम्॥१६॥

जीवातु–विभज्येति। मेरु हेमाद्रि विभज्य विभक्तीकृत्य अर्थिसात् अर्थिभ्यो देयं न कृत अर्थिने देयमिति 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्यय । सिन्धु समुद्रः

उत्सर्गजलानां व्ययैः दानाम्बुप्रक्षेपैः मरुः निर्जलदेशः न कृत इति यत् तत् तस्मात् तेन नलेन द्विफालबद्धाः द्वौ फालौ शिरःपार्श्वौ बद्धा रचिता इति यावत्, फलतेविशरणार्थं बन्धनः । विभागिना पुनः सीमन्तितशिरोरुहत्वात् चिकुराणां द्विशाखबद्धत्वमिति भावः, द्विधा विभक्ता इति यावत् । चिकुराः केशाः 'चिकुरः कुन्तलो बालः कचः केशः शिरोरुहः' इत्यमरः । शिरःस्थितं मस्तकस्थितमिति भावः, निजं स्वीयम् अयशोयुगम् अपकीर्तिद्वयं पूर्वोक्तमेरुविभागसिन्धुजलव्ययाकरणजनितमिति भावः । अमानि केशरूपेण द्विधास्थितं स्वशिरसि अयशोयुगमेव तिष्ठति इति मन्यते स्मेत्यर्थः । अयशसः पापरूपत्वात् कृष्णवर्णत्वं कविसमयसिद्धम् 'मला च मालिन्यं व्योम्नि पापे' इत्यादि । उद्देश्यविधेयस्य वर्णनम् । केशेषु कार्ष्ण्यसाम्यात् अयशोरूपत्वमिति व्यस्तरूपकम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—यत् मेरुः विभज्य अर्थिसात् न कृतः सिन्धुः उत्सर्गजलव्ययैः मरुः न कृतः (अथवा मरुः उत्सर्गजलव्ययैः सिन्धुः न कृतः), तत् तेन द्विफालबद्धाः चिकुराः शिरःस्थितम् निजायशोयुगम् अमानि ।

हिन्दी—जो कि सुमेरुगिरि को खण्ड-खण्ड करके याचकों के अधीन नहीं कर दिया, और दानार्थ जल उलीचते-उलीचते समुद्र को मरुस्थल नहीं बना दिया (अथवा दानजल से मरुस्थल को समुद्र नहीं बना दिया) सो उस (नल) ने (बीच में माँग निकाल कर काढ़े गये) दोनों ओर करके सँवारे गये अपने केशों को अपने शिरःस्थित—शिरोधार्य—अयश के प्रतीकरूप स्वीकारा।

टिप्पणी—कवि का भाव यह है कि कल्पवृक्ष से भी अधिक याचकों की इच्छा पूर्ण करने पर भी नल की इच्छा भरी नहीं थी, वह अनुरूप दान करना चाहता था, जो न कर सकने के कारण अपने को असंतुष्ट मानता था।

काले केशों की समता कविसमयप्रसिद्ध अयश से होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ व्यस्तरूपक माना है। केशों की केशता का निषेध करके उन्हें अयशोरूप मानने की कल्पना के कारण साहित्यविद्याधरी-कार इस श्लोक में अपह्नुति मानते हैं ॥१६॥

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा समं मुदैव देवः कविना बुधेन च ।
दधौ पटीयान् समयं नयन्नयं दिनेश्वरश्रीरुदयं दिने दिने ॥ १७ ॥

जीवातु—अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति। दिनेश्वरस्येव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्री यस्य तथाभूत पटीयान् समर्थतर अय देवो राजा सूर्यश्च 'देव सूर्ये मये राज्ञी'ति विश्व । अजस्र सततम् अभ्यास सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वानमूचानश्चे'ति निपात । कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण न बुधेन विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शिनेति भाव , सौम्येन च सम सह मुदैव आनन्देनैव न तु दुखेनेत्येवकारार्थ समय नयन् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिपादनम् उदयम् अभ्युन्नतिम् आविर्भावञ्च दधौ धारयामास। अत्र श्लेषालङ्कार ॥ १७ ॥

अन्वय —दिनेश्वरश्री पटीयान् अय देव अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च सम मुदा एव समय नयन् दिने दिने उदय दधौ ।

हिन्दी—दिनपति (सूर्य) की शोभा धारण करता, बुद्धिमान् यह राजा नल निरन्तर काव्याभ्यास करते कवि शुक्राचार्य और विद्वान् वैयाकरण बुध के साथ सानद समय व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उसी प्रकार अभ्युदय प्राप्त करता रहा, जिस प्रकार दिनेश्वर श्री सूर्य कवि शुक्र ग्रह और बुध (चद्रतनय) ग्रह के साथ प्रभात, मध्याह्न, सध्या आदि का विधान करता, तेज विकीर्ण करता, प्रतिदिन उदित होता है ।

टिप्पणी—राजा काव्य, शास्त्रादि-परिशीलनकर्ताओं के साथ समय व्यतीत करता था, अतएव उसका अभ्युदय हो रहा था। ज्योति शास्त्र के अनुसार उदय होते सूर्य के साथ शुक्र और बुध रहा करते है—'बुधशुक्रौ सदा पूर्वोत्तरराशिस्थौ ।

साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ उपमा-श्लेष-वक्रोक्ति अलकार हैं। दिनेश्वरस्य श्रीरिव श्रीयस्य स —ऐसा विग्रह करने पर यहाँ निदर्शना अलकार है और बुध, कवि द्व्यर्थवाची हैं, अत श्लेष भी है। इस प्रकार निदर्शना श्लेष का सकर है ॥१७॥

अधो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम् ।
पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पद किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८ ॥

जीवातु—अध इति । कमलप्रवालयो पद्मपल्लवयो कर्मभूतयो अधोविधानात् अध करणात् न्यक्करणादिति यावत् । तथा अखिलाना सर्वेषा

क्षमानुजा प्रतिकूलवर्तिना राज्ञा शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् सर्वोर्ध्वस्थितञ्च पुरा भवति भविष्यतीत्यर्थः । 'यावत् पुरा-निपातयोर्लट्' इति पुराशब्दयोगात् भविष्यदर्थे लट् । इति इद मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । वेधसा विधात्रा कर्त्रा ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम् ? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदः सर्वोत्कर्षं भजेत् पुमानि'ति सामुद्रिकाः । सौन्दर्य-सुलक्षणाभ्यां युक्तमस्य पदमिति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालयोः अधोविधानात् अखिलक्ष्माभुजां शिरस्सु दानात् अस्य पदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति—इति वेधसा इदम् ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?

हिन्दी—कमल और प्रवाल को नीचा करने और समस्त पृथ्वीपतियों के शिरों पर स्थित होने के कारण इस (नल) का चरण आगे चलकर ऊँचा रहेगा—मान्य होगा, इसी कारण क्या विधाता ने इसके चरण को ऊर्ध्व रेखाओं से पहले से ही चिह्नित कर दिया था ।

टिप्पणी—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार चक्रवर्ती के चरण में ऊर्ध्व रेखाएँ अङ्कित होती हैं, वे नल के चरण में भी थी, इसी पर यह कवि की कल्पना है—सम्भावना, अतः स्पष्टतः उत्प्रेक्षा है ॥१८॥

जगज्जयं तेन च कोशमक्षयं प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।
सखा रतीशस्य ऋतुर्यथा वनं वपुस्तथालिङ्गदथास्य यौवनम् ॥ १९ ॥

जीवातु—अथ अस्य यौवनागमं क्रमेण वर्णयति—जगदित्यादिभिः । अयं नलः शैशवशेषवान् ईषदवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगतां जयं तेन च जयेनेत्यर्थः । कोशं धनजातम् अक्षयं प्रणीतवान् कृतवान् । अथानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतुः वसन्त इत्यर्थः । वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा आलिङ्गत् सश्लिष्टवत् । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

अन्वयः—शैशवशेषवान् अयं जगज्जयं तेन च कोशम् अक्षयं प्रणीतवान्, अथ रतीशस्य सखा ऋतुः यथा वनं तथा यौवनम् अस्य वपुः अलिङ्गत् ।

हिन्दी—जिसकी बाल्यावस्था कभी शेष है—अर्थात् पौगण्डवयीय इस (नल) ने जगत् विजय करके अपने कोष को अक्षय बना दिया, अनन्तर जैसे रतिपति काम का सखा ऋतु बसन्त वन में आता है, वैसे ही यौवन ने इसके शरीर का आलिंगन किया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि यह बताना चाहता है कि नल ने यौवन आने से पूर्व ही नर्गाद्विजय करके अपना भण्डार अक्षय बना लिया। उपमा ॥१९॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ?
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥ २० ॥

जीवातु—अधारीति। तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि'ति विश्वः। अधारि धृता। पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शय पाणि 'पञ्चशाख शय पाणि'रित्यमरः। तस्य छाया तच्छ-यच्छाय 'विभाषे'त्यादिना समासे छायाया नपुंसकत्वम्। तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थः। शरदि भवः शारदः शारदकालीन इत्यर्थः। सन्धि-वेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्प्रत्ययः। पर्वणि पौर्णमास्यां भवः पार्विकः। 'पार्वणे'ति पाठान्तरे कालाट्ठञ्। 'नस्तद्धिते' इति टिलोपः। स च असौ शर्वरीश्वरश्चेति तथोक्तः पूर्णचन्द्र इत्यर्थः। तस्य नलस्य यत् आस्यं मुखं तस्य दास्ये कैङ्कर्येऽपि अधिकारितां न गतः न प्राप्तः। एतेनास्य पाणिपादवदनानामनौपम्यं व्यज्यते। अत्र अङ्घ्र्यादीनां पद्मादिषु घृणाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्ति अलङ्कारः ॥ २० ॥

अन्वय—तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छयच्छायलवः अपि क्व ? शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गतः।

हिन्दी—उसके चरण ने पद्मों के प्रति घृणा अथवा दया या उपेक्षा का भाव दिखाया और पल्लव में तो उसके हाथ की कांति का लेश भी कहाँ था ? शरत्पूर्णिमा का निशानाथ उसके आनन की दासता का भी अधिकारी न हो पाया।

टिप्पणी—नल के अंगों का वर्णन करते कवि ने उसके चरण, हस्त और मुख के सम्मुख उनके उपमानों पद्म, पल्लव और शारदी पूर्णिमा के चन्द्र की हीनता प्रतिपादित की है, इस दृष्टि से यहाँ 'प्रतीप' अलङ्कार है, अनुप्रास की छटा भी है। साहित्यविद्याधरीकार छेकानुप्रास के साथ साकूत विशेषणों से युक्त उक्ति होने के कारण परिकर भी मानते हैं और इस प्रकार अनुप्रास परिकर की संसृष्टि। अङ्घ्रि आदि का पद्म आदि से घृणादि का सम्बन्ध न होने पर सम्बन्ध कहे जाने के कारण जीवातुकार यहाँ अतिशयोक्ति मानते हैं ॥२०॥

किमस्य रोम्णां कपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाज्जगत्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यबिन्दवः ? ॥ २१ ॥

जीवातु—किमिति । विधिर्विधाता अस्य नलस्य गुणान् रोम्णां कपटेन व्याजेन कोटिभिः कोटिसंख्याभिः रेखाभिः न अजीगणत् न गणितवान् किम्? अपितु गणितवानेवेत्यर्थः तथा जगत्कृता स्रष्टा विधिनेत्यर्थः । रोम्णां कूपा विवराणि तेषाम् ओघः समूह एव मिषः व्याजः तस्मात् । दूषणानां दोषाणां शून्यस्य अभावस्य बिन्दवः ज्ञापकचिह्नभूता वर्तुलरेखाः न कृताः किम्? अपि तु कृता एवेत्यर्थः । अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति भावः । अत्र रोम्णां रोमकूपाणाञ्च कपटमिषशब्दाभ्याम् अपह्नवे गुणगणनारेखात्वदूषणशून्यबिन्दुत्वोत्प्रेक्षणात् सापह्नवोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वयः—विधिः अस्य गुणान् रोम्णां कपटेन कोटिभिः रेखाभिः न अजीगणत् किम्? जगत्कृता रोमकूपौघमिषात् दूषणशून्यबिन्दवः न कृताः किम्? (अपि तु कृता एव)।

हिन्दी—विधाता ने रोओं के बहाने करोड़ों रेखाओं द्वारा क्या इसके गुणों की गणना नहीं की? अपितु गणना ही की। संसार बनानेवाले ने रोमकूपों के व्याज से क्या दोषाभावसूचक शून्य नहीं बनाये? अपितु बनाये।

टिप्पणी—राजा के गुण अनन्त, असंख्य थे, सो विधाता उनकी गिनती में असमर्थ हो पाया, अतः सुविधा के लिए उसने नल के शरीर में गणनासूचक रोम बना दिये और दोषों के अभाव की सूचना के निमित्त रोमकूप रूप शून्य बना दिये। यहाँ 'कपट' और 'मिष' शब्दों के प्रयोग द्वारा निषेध सूचित किया गया और अन्य सम्भावना की गयी, अतः अपह्नुत्युत्प्रेक्षा की संसृष्टि है। यह वर्णन सामुद्रिक शास्त्रानुसारी है ॥२१॥

अमुष्य दोर्भ्यामरिदुर्गलुण्ठने ध्रुवं गृहीतार्गलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ॥ २२ ॥

जीवातु—अमुष्येति । अमुष्य नलस्य दोर्भ्यां भुजाभ्यां कर्तृभ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने शत्रुदुर्गनिर्लुण्ठने अर्गलस्य कपाटविष्कम्भदारुविशेषस्य 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । दीर्घश्च पीनश्च तयोर्भावः दीर्घपीनता आयतपीवरत्व-

मित्यर्थः, किञ्चेति चार्थः । उरसा वक्षसा श्रिया लक्ष्म्या कर्त्र्या तत्र अरिदुर्गलुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमरः । स्फुरता राजता कवाटाना दुर्द्धर्षाणि च तानि तिरःप्रसारीणि च तेषां भावः -त्तता अप्रधृष्यत्वतिर्य्यक्प्रसारित्वञ्चेत्यर्थः । गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम् ? ध्रुवमित्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकम्। तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षाव्यञ्जका यद्वा इव शब्दोऽपि तादृशः' इति। दीर्घबाहुः कवाटवक्षाश्चायमिति भावः ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्भ्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता तत्र उरःश्रिया च गोपुरस्फुरत्कपाटदुर्धर्षतिरःप्रसारिता ध्रुवं गृहीता।

हिन्दी—उसके बाहुयुग्म ने शत्रुओं के दुर्गों को लुण्ठित करते अर्गलों की दीर्घता और स्थूलता और वहीं वक्ष की शोभा ने नगरद्वारों पर छिपते किवाड़ो की दृढ़ता और विशालता का मानो ग्रहण किया था।

टिप्पणी—नल की भुजाएँ लम्बी और पुष्ट थी—आजानुबाहु था वह, और छाती दृढ़ तथा विशाल वक्ष स्थल था, कवि ने इसी भाव का प्रतिपादन करने के निमित्त यह 'उत्प्रेक्षा' की है। साहित्यविद्याधरीकार ने यहाँ उत्प्रेक्षा और उपमा मानी हैं ॥२२॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः ।
अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥ २३ ॥

जीवातु—स्वकेलीति। स्वस्य केलिलेशः विलासबिन्दुर्यत् स्मितं मन्दहसितं तेन निर्जितः तिरस्कृतः इन्दुश्चन्द्रः येन तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन निर्जितशीतांशुमण्डलस्येति भावः। निजांशः स्वावयवः यद् दृक् नेत्रं तया तर्जिता निर्भर्त्सिता पद्मानां सम्पद् सौभाग्यं येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य तयोश्चन्द्रपद्मयोः द्वयी तस्या जित्वरं जयशील ततोऽधिकमिति यावत् सुन्दरान्तरं नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचरं स्याज्जगदि'ति विश्वः। प्रतिमा उपमानं न आसीदिति शेषः। अत्र चन्द्रारविन्दजयविशेषणतया मुखस्य निरौपम्यप्रतिपादनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनः निजांशदृक्तर्जितपद्मसम्पदः तन्मुखस्य अतद्द्वयीजित्वरसुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा नास्ति।

हिन्दी—अपने क्रीडाविलास की अल्पमात्र मुसकान से चन्द्रमा को जीतनेवाले या निन्दायोग्य प्रमाणित करनेवाले तथा अपने अधनेत्र से पद्म-शोभा के जेता उनके मुख की उन दोनों (चन्द्र और पद्म) को जीत सकने वाले अन्य पदार्थ से शून्य जड चेतनमय संसार में और कोई उपमा नहीं थी।

टिप्पणी—नल के मुख नेत्र के साम्य में जगत् की दो ही वस्तुएँ रखी जा सकती थीं—चन्द्र और पद्म। वे दोनों तो उनके सौन्दर्य से पराजित हो गये, अतः अन्य उपमान के अभाव में राजा नल का मुख चराचर संसार में अप्रतिम ही रहा। अनुपम, अद्वितीय मुख के चन्द्र पद्म-विजयी होने से निरुपम कहे जाने के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलङ्कार माना है, किन्तु उपमानों के तिरस्कारकथन के आधार पर साहित्यविद्याधरीकार के अनुसार यहाँ प्रतीप अलङ्कार है ॥२३॥

सरोरुहं तस्य दृशैव निर्जितं जिताः स्मितेनैव विधोरपि श्रियः।
कुतः परं भव्यमहो महीयसी तदाननस्योपमितौ दरिद्रता ॥ २४ ॥

जीवातु—उक्तार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—सरोरुहमिति। तस्य नलस्य दृशैव नयनेनैव सरोरुहं पद्मं निर्जितं न्यक्कृतम्। स्मितेनैव विधोश्चन्द्रस्य श्रियः कान्तयः अपि जिताः तिरस्कृताः परम् अन्यद् भव्यमिति शेषः भव्यं रम्यं वस्तु कुतः ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः। अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यद् आननं मुखं तस्य उपमितौ तोलने महीयसी अतिमहती दरिद्रता अभावः अलब्धताबाहुल्यमित्यर्थः। सर्वथा निरुपममस्य मुखमित्याश्चर्यम्। अत्र वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

अन्वय—तस्य दृशा एव सरोरुहं जितं स्मितेन एव विधोः श्रियः अपि जिताः, परं भव्यं कुतः ? अहो, तदाननस्य उपमितौ महीयसी दरिद्रता।

हिन्दी—उसके नेत्र ने ही कमल-पद्म को जीत लिया, मदस्मित ने ही चन्द्र की शोभाएँ भी जीत लीं। इन दोनों से सुन्दर और कहाँ कुछ है ? हाय, उसके मुख की उपमा देने में (कविगण को) भारी दरिद्रता है।

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक के भाव को और चमत्कारी बनाते हुए कवि ने भङ्ग्यन्तर से मुख-शोभा का वर्णन किया है, मुख के उपमानस्वरूप प्रसिद्ध पद्म-चन्द्र मुखाङ्ग से ही विजित हैं, मुख की तुलना कैसे हो ?

पूर्वोक्त श्लोक की भाँति मल्लिनाथ ने यहाँ भी वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार माना है, साहित्यविद्याधरीकार ने क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल में उसकी व्यक्ति रहने के आधार पर यहाँ विभावना स्वीकारी है—'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फले व्यक्तिर्विभावना।' जो मुख ओजयी है, उसे दरिद्रता कैसी? पर वह है, भले ही उपमान की दरिद्रता हो ॥२४॥

स्ववालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्समं चमर्येव तुलाभिलाषिणः ।
अनागसे शंसति बालचापलं पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

जीवातु—स्ववालेति। चमरी मृगीविशेषः तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजैः शिरोरुहैः समं सहैव तुलाभिलाषिणः साम्यकाङ्क्षिणः स्ववालभारस्य निजलोमनिचयस्य अनागसे अनपराधाय नीचस्य उत्तमैः सह साम्याभिगमोऽपि महान् अपराध इति भावः। क्वचित्तदभावे नञ्समासो दृश्यते। पुनः पुनः पुच्छस्य लाङ्गूलस्य विलोलनं विचालनम् एव छलं तस्मात् बालचापलं रोमचाञ्चल्यम् अथ च शिशुचापल्यं शंसति कथयति बालचापल्यं सोढव्यमिति धियेति भावः। अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अन्यस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कारः। तदुक्तं दर्पणे-'प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिरि'ति ॥ २५ ॥

अन्वयः—चमरी तदुत्तमाङ्गजैः समं तुलाभिलाषिणः स्ववालभारस्य अनागसे पुनः पुनः पुच्छविलोलनच्छलात् बालचापलं शंसति।

हिन्दी—सुरा गाय उस (नल) के सिर के केशों के साथ साम्य के अभिलाषी अपने केशों के निरपराध होने पर बारम्बार पूँछ हिलाने के ब्याज से (स्वकेशों की) बालोचित चपलता को व्यक्त किया करती है।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने नल के केश-सौन्दर्य का वर्णन किया है। चमरी गाय के बाल उसके केशों से समता की धृष्टता करते हैं, यह अपराध है, किन्तु शरीर सम्बन्ध से नील गाय केशों—बालों की माता तुल्य है। माता को बच्चे के अपराध अपराध नहीं लगा करता, और फिर बच्चों का अपराध उनका बालचापल्य ही माना जाता है। कवि कहता है कि सुरागाय इसी बालचापल्य की अभिव्यक्ति कर रही है निरन्तर पूँछ हिलाती, अथवा अपने बालों (बाल 'बच्चा' रनेट) की चपलता के निमित्त क्षमा चाह रही है।

पुच्छविलोलन-प्रतिषेध करने बालचापल की स्थापना होने के कारण मल्लिनाथ यहाँ अपह्नुति मानते हैं, विद्याधर (साहित्यविद्याधरी के कर्ता) 'चापलमिव चलति'—ऐसी कल्पना करके प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, और अपह्नुति भी।

महीभृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च तं प्रतीच्छया।
द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

जीवातु—महीभृत इति। तस्य महीभृतो नलस्य मन्मथस्येव श्रीः कान्तिः तया च निजस्य चित्तस्य तं नलं प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्-त्रयीभुवां त्रिभुवनवर्तिनीनां नतभ्रुवां कामिनीनां द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथ-विभ्रमः अयं मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्तिः कामावेशश्च अभवत्। अत्र श्लेष-सङ्कीर्णो यथासंख्यालङ्कारः ॥ २६ ॥

अन्वय—तस्य महीभृतः मन्मथश्रिया तं प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जगत्त्रयीभुवां नतभ्रुवां द्विधा मन्मथविभ्रमः अभवत्।

हिन्दी—उस पृथ्वीपति की कामसमान कांति और (अतएव उनके प्रति अपने चित्त का अभिलाष—इस प्रकार उस राजा नल में त्रिलोकी में उत्पन्न समस्त सुन्दरियों को दो प्रकार से काम का भ्रम हो गया, जिससे उनके नयन लाज से झुक गये।

टिप्पणी—राजा मदनतुल्य मनोहर था और त्रिलोकी की सुन्दरियाँ उसका अभिलाष करती थीं—कवि का यहाँ यही भाव है। यहाँ एक साथ त्रिलोक-सुन्दरियों की सुन्दरता का वर्णन कर कवि ने अपने तीन श्लोकों में क्रमशः स्वर्ग, पाताल और मर्त्यसुन्दरियों का विमोहन प्रतिपादित किया है। 'विभ्रम' का अर्थ भ्रम—भ्रान्ति भी है और कामजनित कटाक्षादि विलास भी—'विभ्रमो भ्रान्तिहावयोः' इति विश्वः। यह 'विभ्रम' का द्वैविध्य है, एक तो राजा के 'मन्मथश्री' होने से उसमें मन्मथ भ्रान्ति, दूसरा अभिलाष-जनित लज्जा अथवा विलास का सूचक भौंहों का नीचा हो जाना।

मल्लिनाथ ने यहाँ श्लेषसङ्कीर्ण यथासंख्य अलङ्कार माना है, विद्याधर ने 'मन्मथश्रिया' के कारण उपमा और 'विभ्रम' के कारण श्लेष। नारायण पण्डित ने मन्मथ की व्युत्पत्ति की है—मनन मत् शास्त्रादिस्मृतिजन्यं ज्ञानं मथ्नातीति मन्मथः। मूलविभुजादित्वात्कः ॥२६॥

निमीलनभ्रंशजुषा दृशा भृशं निपीय तं यस्त्रिदशीभिरर्जितः ।
अमूस्तमभ्यासभरं विवृण्वते निमेषनिःस्वैरधुनापि लोचनैः ॥२७॥

जीवातु—निमीलनेति । त्रिदशीभिः सुराङ्गनाभिः निमीलनभ्रंशजुषा 'निर्निमेषयेत्यर्थः । दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सतृष्णं दृष्ट्वेत्यर्थः । यः अभ्यासभरः अभ्यासातिशयः कृतः अमूस्त्रिदश्यः देव्यः अधुनापि निमेषनिःस्वैः निमेषशून्यैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते प्रकटयन्ति । देवीनां स्वाभाविकस्य निमेषाभावस्य तद्दर्शनाभ्यासजत्वमनया तत्त्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः—त्रिदशीभिः निमीलनभ्रंशजुषा दृशा तं भृशं निपीय यः अर्जितः अमूः अधुना अपि निमेषनिःस्वैः लोचनैः तम् अभ्यासभरं विवृण्वते ।

हिन्दी—सुराङ्गनाओं ने निर्निमेष (अपलक) दृष्टि से उसके रूप का पान करके जिसका अर्जन किया था, उस निरन्तर अभ्यास को आज भी वे अपने अपलक नेत्रों से प्रकट करती हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी नल के सुराङ्गनाविमोहक उत्कट रूप का वर्णन है । जनविश्वास है कि देवता 'अपलकदृष्टि' होते हैं, उनके पलक नहीं झपकते । कवि ने यहाँ उसके कारणविशेष की 'उत्प्रेक्षा' की है । विद्याधर ने इसी आधार पर यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा मानी है, वे अध्यवसाय की सिद्धि के कारण इसमें अतिशय भी मानते हैं ॥२७॥

अदस्तदाकर्णि फलाढ्यजीवितं दृशोर्द्वयं नस्तदवीक्षि चाफलम् ।
इति स्म चक्षुःश्रवसां प्रिया नले स्तुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

जीवातु—अद इति । चक्षुःश्रवसां नागानां प्रियाः पत्न्य इत्यर्थः । अदः इदं नोऽस्माकं श्रोत्रचक्षुर्द्वयं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकर्णि तद्गुणश्रावीत्यर्थः, तासां चक्षुःश्रवस्त्वादिति भावः । अत एव फलाढ्यजीवितं सफलजीवितम् । न वीक्षते इत्यवीक्षि, अवीक्षणयोस्ताच्छील्ये णिनिः । तस्य नलस्य अवीक्षि तदवीक्षि तददर्शीत्यर्थः । अत एव अफलम्, इति हेतोः । तदा तस्मिन् काले आत्मना स्वेन हृदा मनसा नले नलविषये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति कुत्सयन्ति च । अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

अन्वय—अदः नः दृशोः द्वयं तदाकर्णि (अतः) फलाढ्यजीवितम्, तद् अवीक्षि च (अतः) अफलम्—इति चक्षुःश्रवसां प्रियाः तद् आत्मनः हृदा स्तुवन्ति स्म, निन्दन्ति स्म च।

हिन्दी—यह हमारा नेत्रयुग्म नल के गुणों को सुनता है, अतः इसका जीवन सफल है, उसका दर्शन नहीं पाता, इस से निष्फल है—इस प्रकार नेत्रों से ही सुन सकने की शक्तिवाले चक्षुःश्रवानागों की पातालवासिनी प्रियाएँ उस अपने नेत्रयुगल की अपने मनमें प्रशंसा भी करती थीं और निन्दा भी।

टिप्पणी—पाताल में नल के गुण ही तो विख्यात थे, वह वहाँ उपस्थित कहाँ था ? पातालवासिनी नाग प्रियाएँ उसे न देख सकने के कारण अपने नेत्रों को कोसती थीं, पर गुण-श्रवण तो उनसे ही हो पाता था, अतः एक ओर प्रशंसा, दूसरी ओर निन्दा।

जीवातुकार मल्लिनाथ ने इसमें अतिशयोक्ति मानी है और साहित्यविद्याधरीकार विद्याधर ने गुणक्रियाविरोधालंकार। यह यह है—'जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः। क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश।'

विलोकयन्तीभिरजस्रभावनाबलादमुं नेत्रनिमीलनेष्वपि।
अलम्भि मर्त्याभिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निमेषनिर्मितः ॥२९॥

जीवातु—विलोकयन्तीभिरिति। अजस्रभावनाबलात् निरन्तरध्यानप्रभावात् अमुं नलं तत्र भावनायामिति भावः। निमीलनेषु अपि निमेषावस्थासु अपि विलोकयन्तीभिः उन्मेषावस्थायामिव साक्षात् कुर्वतीभिः मर्त्याभिः मानवीभिः अमुष्य नलस्य दर्शने निमेषनिर्मितः नेत्रनिमीलनजनितः विघ्नलेशोऽपि अन्तरायलेशोऽपि अलम्भि न प्राप्तः। 'विनाया चिन्तामुखो' इति सुनासोऽन्तः। मानव्य दृष्टिगोचर इवथा अदृष्टिगोचरं च मनसा सतत पश्यन्ति स्मेति भावः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

अन्वय—अजस्रभावनाबलाद् अमुं नेत्रनिमीलनेषु अपि विलोकयन्तीभिः मर्त्याभिः अमुष्य दर्शने निमेषनिर्मितः विघ्नलेशः अपि न अलम्भि।

हिन्दी—निरन्तर नल की भावना करते रहने के बल पर उसे नयन झपकने पर (मन में) भी देखती हुई मर्त्यलोकवासिनी मानवसुन्दरियों ने पलक झपकने के कारण उत्पन्न इसके दर्शन में पड़ते विघ्न का लेश भी नहीं प्राप्त किया।

टिप्पणी—मानवसुन्दरियाँ तो नल में ऐसी रम रही थीं कि वह सम्मुख हो या न हो, भावनावश वे सदा उसका दर्शन पाती ही रहती थीं।

मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति मानी है और कारण की समग्रता में भी कार्य की अनुत्पत्ति के आधार पर विद्याधर ने विशेषोक्ति ॥२९॥

न का निशि स्वप्नगतं ददर्श तं जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ?
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोभवोद्भवम् ?॥३०॥

जीवातु—नेति। का नारी निशि रात्रौ तं नलं स्वप्नगतं न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थः। का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु तं न जगाद स्वभर्तृनाम्नि उच्चरितव्ये तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवतीत्यर्थः। का च रते सुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यातः चिन्तितः धवः भर्ता यया तथाभूता 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता' इत्यमरः। स्वस्य आत्मनः मनोभवः कामः तस्य उद्भवं तं वा न चकार ? अपि तु सर्वैव तथा चकारेत्यर्थः। अतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ३० ॥

अन्वय—का निशि तं स्वप्नगतं न ददर्श का च गोत्रस्खलिते तं न जगाद, तदात्मताध्यातधवा का च वा रते स्वमनोभवोद्भवं न चकार।

हिन्दी—कौन सुन्दरी उसे रात में सपने में मिली नहीं देखती थी और कौन नामोच्चारण में भटककर उसका नाम नहीं ले देती थी ? नल की भावना से पति का ध्यान करती किस रमणी ने सुरत काल में अपने काम का उद्भव नहीं किया ?

टिप्पणी—प्रत्येक सुन्दरी नल का ही स्वप्न देखती थी, उसका ही नाम लेती थी और उसकी ही भावना करके अपने पति को रमण किया करती थी।

इस श्लोक में स्वप्नदर्शन, नामस्मरण और नलभावना से रमण—इन तीन प्रकारों से कवि ने मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के नलानुराग का चित्रण किया है। काकुवक्रोक्ति तो है ही, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है, क्योंकि असम्बन्ध में भी सम्बन्धकथन है। छेकानुप्रास भी है ॥३०॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितुं करे तमालोक्य सुरूपया धृतः ।
विहाय भैमीमपदर्पया कया न दर्पणः श्वासमलीमसः कृतः ? ॥३१॥

जीवातु—धियेति। तं नलम् आलोक्य दृष्ट्वा धिया सौन्दर्येण अहमस्य नलस्य योग्या अनुरूपा इति। ईप्सितेति शेषः स्वम् आत्मानं स्वावयवमित्यर्थः। ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः। गृहीतः दर्पणः भैमीं भीमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थः। विहाय विनेत्यर्थः कया सुरूपया यौवनरूपवत्या अहमित्यभिमानवत्या नार्या अपदर्पया दर्पशून्यया कया श्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमसः मलदूषितः 'मलीमसस्तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः। न कृतः? अपि तु सर्वयैव कृत इत्यर्थः। सौन्दर्यगर्विता [illegible] कामिन्यः तमवलोक्य अहमेवास्य सदृशीत्यभिमानात् [illegible] दर्पणे [illegible] नाहमस्य योग्येति निश्चयेन विषण्णा [illegible] तं दर्पणं मलिनमकार्षीदित्यर्थः॥३१॥

अन्वयः—तम् आलोक्य 'अहं धिया अस्य योग्या'—इति स्वम् ईक्षितुं करे धृतः दर्पणः भैमीं विहाय कया अपदर्पया सुरूपया श्वासमलीमसः न कृतः?

हिन्दी—उसे (नल को) देखकर 'मैं सौन्दर्य के कारण इसके योग्य हूँ'—ऐसा विचारके अपने मुख (अथवा सम्पूर्ण शरीर) को निहारने के लिए हाथ में लिया दर्पण भीमसुता (दमयन्ती) को छोड़कर अन्य किस गर्वरहित सुन्दरी ने निःश्वास से मैला नहीं किया ? सभी ने किया।

टिप्पणी—कोई सुन्दरी दर्पण में निहार कर अपने को नल के योग्य मानने का साहस न कर पायी और खिन्नता से निकली निःश्वास से हाथ का दर्पण धुँधला पड़ गया—इससे कवि का भाव यह है कि नल के अनुरूप भीमसुता वैदर्भी दमयन्ती ही थी, अन्य कोई सुन्दरी रूप-गुण में नल के योग्य नहीं थी। असम्बन्ध में सम्बन्ध वर्णन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याधर के अनुसार व्यभिचारिभाव गर्व की शान्ति॥३१॥

यथोह्यमानः खलु भोगभोजिना प्रसह्य वैरोचनिजस्य पत्तनम्।
विदर्भजाया मदनस्तथा मनोऽनलावरुद्धं वयसैव वेशितः॥३२॥

जीवातु—एवमस्यालौकिकसौन्दर्यद्योतनाय आलोकनस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रस्तौति—यथेति। मदनः कामः प्रद्युम्न इति यावत् भोगभोजिना सर्पशरीराशिना वयसा पक्षिणा गरुडेनेत्यर्थः। ऊह्यमानः नीयमानः, वहेः कर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वरूपम्। अनलावरुद्धम् अग्निपरि-

वेष्टित विरोचनस्य अपत्य पुमान् वैरोचनि बलि तज्जस्य तत्पुत्रस्य बाणासुरस्येत्यर्थ । पत्तन शोणितपुरमिति यावत् । प्रसह्य सहसा यथा वेष्टित खलु प्रवेशित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमात्रागत हरि' । उषाहरणे विष्णुपुराणात् । तथा नलावरुद्ध नलासक्त विदर्भजाया न्दमयन्त्या मन भोगभोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थ , वयसा यौवनेन ऊह्यमान परैस्तर्क्यमाण ऊहेर्विंतर्कार्थात् कर्मणि यक् । वेष्टित प्रवेशित । 'भोग सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोरि'त्यमर । पुरा उषानाम्नी बाणदुहिता स्वप्ने प्रद्युम्नपुत्रमनिरुद्ध दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरी चित्रलेखामवदत् । सा च योगबलेन तस्यामेव रात्रौ द्वारकाया प्रसुप्तमनिरुद्ध विहायसा समानीय तया समगमयत् । कालेन नारदमुखात् तदाकर्ण्य कृष्ण प्रद्युम्नबलरामाभ्या बहुभिर्बलैश्च गत्वा बाणनगरमरौत्सीदिति कथा अत्रानुसन्धेया । अत्र ययोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेष । तदनुप्राणिता उपमा च सा च वयमेति वयमोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमूला चेत्येषा सङ्कर ॥ ३२ ॥

अन्वय —यथा खलु भोगभोजिना वयसा उह्यमान मदन अनलावरुद्ध वैरोचनिजस्य पत्तन प्रसह्य वेष्टित तथा (वयसा) एव विदर्भजायाः नलावरुद्ध मन (मदन वेष्टित)।

हिन्दी—जिस प्रकार सर्पभोजी वयस् पक्षिराज गरुड ने अपनी पीठ पर ले जाकर मदन अर्थात् (कृष्णपुत्र, अनिरुद्ध-जनक मदनावतार) प्रद्युम्न को अग्नि से समन्तत घिरे वैरोचनि--(प्रह्लादसुत पातालराज) बलि के पुत्र बाणासुर के नगर (शोणितपुर) में झटिति प्रविष्ट करा दिया था, उसी प्रकार सुखासक्त वयस् अर्थात् तारुण्य ने ही वैदर्भी के नलसे व्याप्त मन में काम को प्रविष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार पहिले नारी का अनुराग दिखाया जाना उचित होता है, तत्पश्चात् नर का—'आदौ वाच्य स्त्रिया राग पुस पश्चात्तदिङ्गितै ', इस प्रकार इसमें रूप-गुण-श्रवण तथा चित्रादिदर्शन से आकृष्ट दमयन्ती के पूर्वानुराग का कवि ने वर्णन किया है । इसके लिए उसने उषा-अनिरुद्ध की पौराणिक कथा (श्रीमद्भागवत, १०।६२-६३) का उपमान

उपस्थित किया है। विद्याधर ने इस पद्य में केवल श्लेष और उपमा अलङ्कारों का उल्लेख किया है, यो यहाँ शब्दश्लेष, अर्थश्लेष-विशिष्ट उपमा, अध्यवसायमूला प्रतिवस्तूक्ति और अनुप्रास का सङ्कर है। मल्लिनाथ यही मानते हैं ॥३२॥

नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ॥३३॥

जीवातु—इह विरहिणां खलु प्रीत्यादयो दशावस्थाः सन्ति, तत्र चक्षुःप्रीतिः श्रवणानुरागात्प्राक्सम्भवत्तत्पूर्विका मनःसङ्गाख्या द्वितीयामवस्थामाह—नृप इत्यादि। सा भीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः। निजरूपसम्पदां स्वलावण्यसम्पत्तीनामनुरूपे सदृशे। 'बहुल्यार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्यामि'त्यपादानार्थे शस्प्रत्ययः। श्रुतिं श्रवणं गते तेन श्रवणानुरागः उक्तः, तस्मिन् नृपे नले मनोभवाज्ञाया एव वशंवदम् एकमर्थं विषये शिवभागवतवत् समासः। 'प्रियवशे वदः खच्' 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना तस्य मुम्। मनो विशिष्य दिदेश अस्येदमिति निर्दिष्टवत्यतिसृष्टवतीत्यर्थः, तद्गुणश्रवणात्तदासक्तचित्ताऽभूदित्यर्थः ॥३३॥

अन्वयः—सा भीमनरेन्द्रनन्दना निजरूपसम्पदाम् अनुरूपे बहुशः श्रुतिं गते तस्मिन् नृपे विशिष्य मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः दिदेश।

हिन्दी—उस राजा भीम की पुत्री दमयन्ती ने अपनी रूपसम्पत्ति के अनुरूप (योग्य) बहुत बार जिसका रूप-गुण-कीर्तन कान में पड़ चुका था, उस राजा नल में आसक्त कर अपने मन को कामाज्ञा का ही एक मात्र वशवर्ती बना दिया।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती के एकानुराग का द्योतन। अनुप्रास अलङ्कार। श्रवणजात अनुराग, इसका ही अगले चारों श्लोकों में वर्णन है।३३।

उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते दिने दिने सावसरेषु बन्दिनाम्।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाऽजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

जीवातु—अथास्याः श्रवणानुरागमेव चतुर्भिर्वर्णयति—उपासनामित्यादि। सा भैमी दिने दिने प्रतिदिनं 'नित्यवीप्सयोरि'ति वीप्सायां द्विर्भावः। बन्दिनां स्तुतिपाठकानामवसरेषु पितुरुपासनां सेवामेत्य प्राप्य तेषु बन्दिषु भूपतीन् प्रतिभूपतीनुद्दिश्य पठत्सु सत्स्विति शेषः। नलं शृण्वती अलं रज्यते स्म रक्ताऽ-

भूदित्यर्थः । रञ्जेर्दैवादिकाल्लट् । अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः । जने कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना च्लेश्चिणादेशः । नलगुण-श्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितुः उपासनाम् एत्य तेषु भूपतीन् प्रति (प्रतिभूपतीन् वा) पठत्सु नलं शृण्वती विनिद्ररोमा अजनि रज्यते स्म (च) ।

हिन्दी—वह प्रतिदिन स्तुतिपाठकों के स्तुतिपाठ के समय अपने पिता की सेवा में उपस्थित होकर उनके राजाओं (अथवा अन्य राजाओं) के सम्बन्ध में वर्णन करते होने पर नल के विषय में सुनती पुलकित हो जाती थी और इस प्रकार वह (नल में) अनुरक्त हो गयी ।

टिप्पणी—यहाँ गुणश्रवण का अवसर बताया गया । विद्याधर के अनुसार यह औत्सुक्य भावोदय का उदाहरण है, सात्त्विक रोमाञ्च का वर्णन भी है ॥३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥३५॥

जीवातु—कथेति । मिथोऽन्योऽन्यं रहसि कथाप्रसङ्गेषु विस्रम्भगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखान्नलनामनि नलाख्ये तृणे श्रुते सति 'नलः पोटगले राज्ञी'ति विश्वः । अनया तन्व्या दमयन्त्या द्रुतमन्यत् कार्यान्तरं विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि । 'भुवो भावे' लङ् । अर्थान्तरप्रयुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्णकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—तन्व्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् तृणेऽपि नलनामनि श्रुते अन्यत् द्रुतं विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया अभूयत ।

हिन्दी—कोमलाङ्गी यह दमयन्ती परस्पर बातचीत के अनेक रहस्यालापों में सखियों के मुख से घास भी नल का नाम सुनने पर अन्य (विषय) तुरन्त त्यागकर प्रसन्नतया उसके सम्बन्ध में सुनने के लिए कान लगा देती थी ।

टिप्पणी—यहाँ रागातिशय दिखाया गया है । हर्ष और औत्सुक्य की 'भावशबलता' है 'तन्वी' पद विरहव्यथा का द्योतक है ॥३५॥

स्मरात्परासोरनिमेपलोचनाद् बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत् ॥३६॥

जीवातु—स्मरादिति। परासोर्मृतात् अत एवानिमेपलोचनान्निश्चलाक्षाद्देवादिति च गम्यते। उभयथापि भयहेतूक्तिः। तस्माद्बिभेमीति तद्भिन्नं ततोऽन्यमुदाहरति तत्सदृशं निदर्शयेत्याह सा दमयन्ती यूनः स्तुवता जनेन प्रयोगकर्त्रा तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं दृष्टान्तं नैषधं निषधानां राजानं नलं 'जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्'। अभ्यषेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवाभिषेक्तुं युक्तः स च नलादन्यो नास्तीति तस्मिन् नलः उदाहृतोऽनुतयः शृणोतीति रागातिरेकोक्तिः। 'उपसर्गात् सुनोती'त्यादिना अड्व्यवायेऽपि षत्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—परासो अनिमेषलोचनात् स्मरात् बिभेमि, तद्भिन्नम् उदाहर—इति सा यूनः स्तुवता जनेन नैषधं तदास्पदे निदर्शनम् अभ्यषेचयत्।

हिन्दी—गतप्राण (अतएव) अपलक नेत्र कामदेव से मुझे डर लगता है, उसके अतिरिक्त कोई उदाहरण दो—इस प्रकार वह किसी तरुण की प्रशंसा करती सखियों आदि से निषधराज का उस (काम) के स्थान में उपस्थापित कराती थी।

टिप्पणी—काम देवविशेष होने के कारण अनिमेषलोचन है, किन्तु दमयन्ती उसकी अनिमेषलोचनता उसके मृत होने के कारण मानती है और मृत को देखकर स्वयं डरने का बहाना करती हुई किसी तरुण के सौन्दर्य में काम से उपमानित करने का निषेध करके अन्य उदाहरण प्रस्तुत करने का निर्देश करती है, क्योंकि वह जानती है कि सौन्दर्य में काम के अतिरिक्त समान उदाहरण नल ही है, सो स्तोतजन काम के स्थान में नल का ही नाम लेंगे।

यह भी रागातिरेक का वर्णन है। गुणकीर्तन-श्रवणरूपा काम की दशा का उपपादन ॥३६॥

नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजवन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥३७॥

जीवातु—नलस्येति। निषधेभ्य आगता दूताः सन्देशहराः, द्विजा ब्राह्मणाः, वन्दिनः स्तावकाः चारणाः देशभ्रमणजीविनः ते सर्वे मिषेण व्याजेन नलस्य

गुणान् पृष्टा पृच्छतेर्दुहादित्वात् प्रधाने कर्मणि क्त । अथ प्रश्नानन्तरमनया भैम्या तत्कीर्तिकथा नलस्य यश कथामृत निपीय नितरा श्रुत्वेत्यर्थ । चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या भृशादित्वात्क्यङि सलोपश्च 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घ' इतो लट् शानजादेश । तदा तस्थे स्थित तिष्ठतेर्भावे लिट् । अयश्च दूतादिव्यवधाने गुणकीर्तनलक्षण प्रलापाख्यो रत्यनुभव ॥ ३७ ॥

अन्वय —अनया निषधागता दूतद्विजवन्दिचारणा मिषेण नलस्य गुणान् पृष्टा, अथ तत्कीर्तिकथा निपीय चिराय विमनायमानया तस्थे ।

हिन्दी—दमयती निषधदेश से आये दूतो, ब्राह्मणों, स्तुति पाठकों और चारणों से बहाने से नल के गुण पूछा करती थी, और फिर उसकी यशोगाथा को तन्मय हो सुन देरतक अनमनी बैठी रह जाया करती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक मे व्यभिचारीभाव चिंता का उदय दिखाया गया है । अनमने होने मे कारण है यह चिंता कि कैसे नल से मिलन होगा ? यहीं मल्लिनाथ ने प्रलाप नामक रत्यनुभव बताया है ॥३७॥

प्रिय प्रिया च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुवरेण लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

जीवातु—प्रतिकृतिस्वप्नदर्शनादयो विरहिणा विनोदोपाया, अथ तत्स्वप्नमुखेन दर्शनानुरागमवस्था दर्शयन् प्रतिकृतिदर्शन तावदाह–प्रियमिति । सा भैमी त्रीणि जगन्ति समाहृतानि त्रिजगत् । समाहारो द्विगुरेकवचनम् । तस्य जयिनी लोकत्रयजित्वरी श्री शोभा ययोस्तादृशौ कावपि प्रिय प्रियाश्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । लिखेत्युक्तौ कारुवरेण शिल्पिकाण्डेन प्रयोज्येन लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्य रूपमाम्यापादनम् ईक्षते स्म ॥ ३८ ॥

अन्वय —अधिलीलागृहभित्ति कौ अपि त्रिजगज्जयश्रियौ प्रिय प्रिया च लिख—इति सा कारुवरेण लेखित नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म ।

हिन्दी—क्रीडागृह की दीवार पर किन्ही दो त्रिलोकी की शोभा मे जीतने वाले युवक और युवती का चित्रण कर—इस प्रकार वह शिल्पी चित्रकार द्वारा आलेखित नल को और अपने को सहस्थित (एक साथ आँका गया) देखा करती थी ।

टिप्पणी—शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इस श्लोक में चित्र दर्शन का निरूपण है। नल युग का श्रेष्ठ त्रिलोकजयी नर था और दमयन्ती त्रिलोकजयिनी नारी। उस युग में जैसे यह सर्वमान्य सत्य था। लीलागृहमिती इति अपिलीलागृहमिति—स्वयंमित्यत्रमाम। अव्यय विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्ध्यर्था ऽभावात्ययासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्या - न्तवचनेषु (अष्टाध्यायी २।१।६)-द्वारा विभक्त्यर्थ में अपि का प्रयोग ॥३८॥

मनोरथेन स्वपतीकृत नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति ।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—मनोरथेनेति। मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृत स्वभर्तृकृत नलम् अनूतवद्भ्राविष्वौ दीर्घः। स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म ? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती। तथा हि सुप्ति स्वप्न अदृष्टम् अत्यन्तानभूतमप्यर्थ विश्रुत दृष्टमिति भाव। अदृष्टवैभवात् प्राक्तनभाग्यबलात् जनदर्शनातिथि लोकदृष्टिगोचर करोति, तदथापि निमित्तादद्दृष्टाददृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥३९॥

अन्वय—स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृत नल क्व निशि न पश्यति स्म ? सुप्तिः अदृष्टम् अपि अर्थम् अदृष्टवैभवात् जनदर्शनातिथि करोति।

हिन्दी—सोती वह दमयन्ती स्वेच्छया अपने पतिरूप में स्वीकारे नल को किस रात में नहीं देखा करती थी ? प्रत्येक रात में देखती थी। स्वप्नदशा अदेखे अर्थ को भी पुरातन भाग्य के सामर्थ्य से मनुष्यों के दर्शन का विषय (देखने योग्य) बना देती है।

टिप्पणी—दर्शन तीन प्रकार से होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) स्वप्न में, (३) चित्र में— साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने स्यादृदर्शनं त्रिधा।' यहाँ स्वप्नदर्शन का वर्णन है। सामान्य (प्रथम द्वितीय-चरण-कथन) से यहाँ विशेष (तृतीय चतुर्थ चरण की उक्ति) का समर्थन है, अतएव अर्थान्तरन्यास अलंकार है। 'स्वपती' के दो बार प्रयोग से यमक। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और हेतु अलंकार है॥३९॥

निमीलितादक्षियुगाच्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।
अदर्शि संगोप्य कदाप्यवीक्षितो रहस्यमस्याः स महन्महीपतिः ॥ ४० ॥

जीवातु—निमीलितादिति। निद्रया प्रयोजिकया निमीलिता मुकुलितादुपरतव्यापारादित्यर्थः, अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मौनेन व्यापाररहितत्येन मुद्रितादप्रतिष्टम्भात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भावः। हृदो हृदयादपि सङ्गोप्य गोपयित्वेत्यर्थः, 'अन्तर्द्धौ येनादर्शनमिच्छति' त्यक्षियुगमनसोरपादानत्वम्। अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेषणसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसम्प्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनोजन्यमेव। तदजन्यज्ञानमनेत्याह—कदाप्यवीक्षित इति। अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थः, महद्रहस्यमतिगोप्य वस्तु स महीपतिर्नलः। अस्यां भैम्यां अदर्शि दर्शयाञ्चक्रे, दृशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। तथा काचिच्चेटी कस्यैचित्कामिन्यै कञ्चन कान्तं सगोप्य दर्शयति तद्वदिति ध्वनिः॥ ४०॥

अन्वयः—निद्रया निमीलितात्, अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् हृदः अपि च सगोप्य कदापि अवीक्षितः सः महीपतिः अस्यां महत् रहस्यम् अदर्शि।

हिन्दी—नींद में मुँदे दोनों नेत्रों और बाहरी इन्द्रियों कि निष्क्रियता के कारण निष्क्रिय मन से भी छिपाकर भी कभी न देखा हुआ वह पृथ्वीपति, जो इसी कारण दमयन्ती के लिए एक बड़ा रहस्य था, निद्रा ने दिखा दिया।

अन्य प्रकार से पदच्छेद करके नारायण पण्डित ने इस श्लोक का अन्य अर्थ भी किया है। 'निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् इन्द्रियमौनमुद्रितात् अहृद' अपि बाह्य, रहस्यम्, महस्, अदर्शिसङ्ग अकदाप्यवीक्षित मही स पतिः स्याः।'

हे निद्रा (अज्ञान) के कारण तिरोहित, अक्ष में वास करने वाले युग कलि में और इन्द्रिय अर्थात्, वाक्रूप व्यापाराभाव मौन ही जिसका स्वभाव है ऐसे अहृत् मूल में भिन्न अर्थात् कलिदोष से मुक्त और ज्ञानी, हे अतिगोपनीय लक्ष्मी वाले रहस्यमय (रहस्या अत्यन्तगोप्या मा लक्ष्मीयस्य ■), हे मान योग्य, विष्णुभक्तों से भिन्न अदर्शिसङ्ग (अ विष्णु पश्यन्तीत्येव शीला अदर्शिन विष्णुभक्ता तैः सह सङ्गो मैत्री यस्य स), दुष्टों द्वारा अदेखे (न कम् अक दुःख दामयन्तीति अक्दाविन दुष्टाः तैं अवीक्षित न दृष्ट), उत्सवप्रिय (महः उत्सव अस्यास्तीति मही) वह तुम (मेरे) पति होओ—(ऐसा पूर्वश्लोक में वर्णित स्वप्न में दृष्ट नल से दमयन्ती कहा करती थी)।

टिप्पणी—मल्लिनाथ ने माना है कि इस श्लोक में ऐसी ध्वनि है कि निद्रा एक ऐसी दूती है जो प्रिया को चुपचाप—सबसे छिपाकर प्रिय का दर्शन करा देती है। विद्याधर इसमें रूपक मानते हैं ॥४०॥

अहो अहोभिर्महिमा हिमागमेऽप्यभिप्रपेदे प्रति तां स्मरार्दिताम् ।
तपर्तुपूर्तावपि मेदसा भरा विभावरीभिर्बिभराम्बभूविरे ॥ ४१ ॥

जीवातु—अथास्याश्चिरं तापातिशयमाह—अहो इति। हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरार्दितां तां दमयन्तीं प्रति अहोभिर्दिवसैः अतिमहिम्ना अतिवृद्धिः प्रपेदे तथा तपर्तुपूर्तावपि ग्रीष्मान्तेऽपि विभावरीभिः निशाभिः मेदसा भरा मांसलतायोऽतिवृद्धिरिति यावत्। बिभराम्बभूविरे बभ्रिरे, भृञ् भर्णे लिट् आम्प्रत्ययः। अहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः। विरहिणां तथा प्रतीयत इत्यविरोधः, एतेनास्या चिरं तच्चिन्ता आगतस्य गम्यते। अहोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—अहो, हिमागमे अपि स्मरार्दितां तां प्रति अहोभिः महिमा प्रपेदे, तपर्तुपूर्तौ अपि विभावरीभिः मेदसां भराः बिभराम्बभूविरे।

हिन्दी—आश्चर्य की बात थी कि हेमन्त ऋतु के आजाने पर भी काम-पीड़िता उस (दमयन्ती) के सन्दर्भ में दिनों ने अतिदीर्घता प्राप्त करली थी और भरपूर ग्रीष्म ऋतु में भी रात्रियों ने प्रभूत मज्जा (स्थूलता-दीर्घता) धारण करली।

टिप्पणी—दमयन्ती को विरह में जाड़े के छोटे दिन भी बड़े प्रतीत होते थे और गर्मी की छोटी रातें भी लम्बी। विद्याधर के अनुसार हिमागम कारण होने पर भी दिनों का छोटा होना कार्य और ग्रीष्मर्तु होने पर भी रात्रि की लघुता का अनिर्देश होने से विशेषोक्ति और दिन रात की दीर्घता में स्मरार्दिता कारण होने से विभावना अलंकार है तथा छेकानुप्रास भी। चन्द्रकला-व्याख्याकार ने दो विरोधाभासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण इस श्लोक में संसृष्टि अलंकार का निर्देश किया है ॥४१॥

स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलोऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम्॥४२॥

जीवातु—स्वेत्यादि । अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या सौन्दर्येण या कीर्तय तासां व्रजः पुञ्ज एव मौक्तिकस्रक् मुक्ताहारः तस्या अन्तः अभ्यन्तरे घटनागुणश्रिय गुम्फनसूत्रलक्ष्मीं श्रयन्तः भजन्तः युवधैर्यलोपिनः तरुणचित्तस्थैर्यपरिहारिणम् अस्याः दमयन्त्याः गुणोत्करं सौन्दर्यसन्दोहं लोकाद् आगन्तुकजनात् अशृणोत्, अत्र कीर्तिव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्रत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥४२

अन्वयः—कदाचित् नलः अपि लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः अन्तघटनागुणश्रियं श्रयन्तः युवधैर्यलोपिनः अस्याः गुणोत्करम् अशृणोत् ।

हिन्दी—किसी समय नल ने भी लोगों के मुंह से स्व अर्थात् अपने अथवा दमयन्ती के सौंदर्यविषयक मुक्तामाल के मध्य गुम्फित होने वाले सूत्र अथवा नल के अंतस् मन में प्रविष्ट गुण अर्थात् सौंदर्यादि की श्री को प्राप्त करके तरुणों के धैर्य को विलुप्त करते उस (दमयन्ती) के गुणों (रूप, शोभाआदि) को सुना ।

टिप्पणी—गुणश्रवण से आकृष्ट नल के दमयन्ती के प्रति अनुराग का वर्णन । कीर्तिव्रज और गुणोत्कर में मुक्ताहार और गुम्फन सूत्र भाव में रूपण के कारण इस श्लोक में रूपक अलंकार है ॥४२॥

तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरश्शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयेव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥ ४३ ॥

जीवातु—अथास्य तस्या रागोदयं वर्णयति—तमेवेति । ततो गुणश्रवणानन्तरं शरीरशोभाया देहसौन्दर्यस्य जयेन जातमत्सरः उत्पन्नवैरः स्मरः तमेवावसरमवकाशं लब्ध्वा मूर्तया मूर्तिमत्या निजया अमोघशक्त्येव अकुण्ठितसामर्थ्येनेवेत्युत्प्रेक्षा । तया दमयन्त्या नैषधं नलं विनिर्जेतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रान्वेषिणो हि विद्वेषिण इति भावः । तेन रागोदय उक्तः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—ततः शरीरशोभाजयजातमत्सरः स्मरः तम् एव अवसरं लब्ध्वा मूर्तया निजया अमोघशक्त्या इव तया नैषधं विनिर्जेतुम् इयेष ।

हिन्दी— दमयन्ती के रूप गुण सुनने के अनन्तर अपने शरीर की शोभा के (नल द्वारा) जय के कारण जिसमें (नल के प्रति) ईर्ष्या जाग गयी है, ऐसे कामने उसी अवसर को पाकर मानो देह धारिणी अपनी अमोघ शक्ति में तुल्य उस (दमयन्ती) के माध्यम से निषधपति को जीतने की इच्छा की ।

टिप्पणी—नल से स्पर्धा में पराजित होनेवाले काम को दमयन्ती के माध्यम से अपनी पराजय का बदला लेने का अच्छा अवसर मिला—इस कल्पना द्वारा कवि ने नल के काम भाव का वर्णन किया।।४३।।

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः ।
तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः ।। ४४ ।।

जीवातु—अकारीति । तेन क्षमाभुजा नलेन भीमनृपात्मजाया दमयन्त्याः श्रितः गुणः सदीयः सौन्दर्यादिः श्रवणातिथिः श्रोत्रविषयः अकारि कृतः श्रुतः इत्यर्थः । करोतेः कर्मणि लुङ् । तस्य नलस्य उच्चधैर्यव्ययाय उच्चधैर्यनाशाय संहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनः शरासनाश्रयः चापनिष्ठो गुणो मौर्वी श्रवणातिथिरकारि आकर्णं कृष्ट इत्यर्थः । दमयन्तीगुणश्रवणान्नलस्यापि महान् मदनविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः । अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकः काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।। ४४ ।।

अन्वय—तेन क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रितः गुणः श्रवणातिथिः अकारि तदुच्चधैर्यव्ययसंहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनाश्रयः (गुणः श्रवणातिथिः अकारि) ।

हिन्दी—उस पृथ्वीपति ने राजा भीम की कन्या दमयन्ती-निष्ठ रूपादि गुण को अपने कानों का अतिथि बनाया (सुना) और काम ने भी उस (नल) के उत्कृष्ट धैर्य का नाश करने के निमित्त बाण को अपने शरासन (धनुष्) पर धर कर अपने दृढ धनुष् की प्रत्यंचा को कान तक खींच लिया ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि दमयन्ती के गुण श्रवणानन्तर नल में काम संचार हो गया । 'स्वात्मशरासन' में 'स्व' और 'आत्म' पर्याय शब्दों के होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पर सु + आत्म—ऐसा पदच्छेद करके सुन्दर अर्थात् दृढ अपना धनुष् ऐसा अर्थ करने पर पुनरुक्ति नहीं रह जाती है, इस प्रकार पुनरुक्तवदाभास अलंकार है। 'अकारि' क्रिया के नल और स्मर—दोनों प्रस्तुत कर्ता हैं, अतः तुल्ययोगिता है, फलतः पुनरुक्तवदाभास—तुल्ययोगिता की संसृष्टि है। विद्याधर भी यहाँ ये दो अलंकार मानते हैं। मल्लिनाथ ने काव्यलिंग माना है।

अमुष्य धीरस्य जयाय साहसी तदा खलु ज्यां विशिखैः सनाथयन् ।
निमज्जयामास यशांसि संशये स्मरस्त्रिलोकीविजयार्जितान्यपि ।।४५।।

जीवातु—अमुष्येति । स स्मरः साहसी साहसकारः 'न साहसमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यती'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थः । अमुष्य धीरस्य अविचलितस्य नलस्य जयाय शरासनज्या निजधनुर्मौर्वी विशिखैः शरैः सनाथयन् सनाथं कुर्वन् सयोजयन्नित्यर्थः, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यत' इति स्त्रीलिङ्गत्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप् । तस्य विजयेनाजितानि सम्पादितान्यपि यशांसि संशये निमज्जयामास किं पुनः सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपि शब्दार्थः । वृद्धयपेक्षया अनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति मशयितवानित्यर्थः । अत्र स्मरस्योक्तसंशयाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—साहसी स्मरः धीरस्य अमुष्य जयाय तदा ज्यां विशिखैः सनाथयन् त्रिलोकीविजयार्जितानि अपि यशांसि संशये निमज्जयामास खलु ।

हिन्दी—साहसशील काम ने धैर्यवान् उस (नल) के जय के निमित्त उस काल प्रत्यञ्चा को बाणों से सनाथ करते (धनुष की डोरी पर बाण चढ़ाते) हुए तीनों लोकों के विजय से प्राप्त भी यश समूह को कदाचित् संशय में डाल दिया था।

टिप्पणी—नल को जीतना जोखिम का काम था । इसकी पूरी संभावना थी, त्रिलोकजयी काम को जो जगद्विजयी होने का यश प्राप्त था, वह नल पर आक्रमण करके असफल होने पर मिट जाता, अतः उसने एक नहीं, अनेक बाण (विशिखैः) डोरी पर चढ़ाये । काम का अविवेकी होना और नल का अत्यन्त धैर्यवान् होना सर्वेविदित है । असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है।

अनेन भैमीं घटयिष्यतस्तथा विधेरवन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।
अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्पैरपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

जीवातु—दैवसहायात् पुष्पैरेव पुरुषकारः फलित इत्याह—अनेनेति । अनेन नलेन सह भैमीं घटयिष्यतः योजयिष्यतो विधेर्विधातुरवन्ध्येच्छतया अमोघसङ्कल्पत्वेन यत्तस्मात्तथा तेन प्रकारेण योऽयं अयत इति भावः । व्यलासि विलसितं स्मृतेर्भावे लुङ् । यत् पौष्पैरपि न तु कठिनैरनङ्गस्य न तु देहवतः मार्गणैर्धैर्यमेव कञ्चुकमस्य नलस्य अभेदि भिन्नं, कर्मणि लुङ् । दमयन्तीनलयोर्दाम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यकञ्चुकभेदनाद्विधेरवन्ध्येच्छत्वं

विज्ञायत इत्यर्थः, दैवानुकूल्ये किं दुष्करमिति भावः। तत्रानङ्गपौष्पयोः कञ्चुकनिरसनमिति विरोधः, तस्य दिव्यसेनाभासीकरणाद्विरोधाभासः, स च धैर्य्यकञ्चुकमिति रूपकोत्थापित इति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनेन भैमीं घटयिष्यता विधेः अवन्ध्येच्छतया तत् तथा व्यलासि यत् पौष्पैः अनङ्गमार्गणैः तत् तादृक् अस्य धैर्यकञ्चुकम् अभेदि।

हिन्दी—इस (काम) ने भीमजा को बनाने वाले विधाता की अमोघ इच्छा के कारण वह वैसा (धैर्यनाश कार्य) कर लिया, जो कि फूलों के कामबाणों ने उस (नल) उतना दृढ वह धैर्यरूपी कवच विदीर्ण कर दिया।

टिप्पणी—'तत् तादृगनङ्गमार्गणैः'—पदन्यास करने का अर्थ हो जायेगा—'इस प्रकार के फूलों के कोमल बाणों से'। 'अनङ्ग' शब्द के प्रयोग से यह भी संकेतित होता है कि दुःसाहसी होने पर भी डर कर काम अप्रत्यक्षतः आघात कर रहा था। यह भी भाव निकलता है कि विधाता की इच्छा से असम्भव भी सम्भव है, कि नल का दृढ धैर्य भी अदेही के कोमल बाणों से विदीर्ण हो गया। दृढ का विदीर्ण हो जाना असम्भव है, यह विरोध है जो विधि की 'अवन्ध्येच्छता' से सम्पादित हो गया अतः विरोधाभास और 'धैर्यकञ्चुक में रूपक' इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास-रूपक का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। विद्याधर अनुमान और विरोध अलङ्कार मानते हैं ॥४६॥

किमन्यदद्यापि यदस्त्रतापितः पितामहो वारिजमाश्रयत्यहो।
स्मरं तनुच्छायतया तमात्मना शशाक शङ्के स न लङ्घितुं नलः ॥ ७॥

जीवातु—अथ विधिमपि जितवतः किं विघ्नपक्षस्येत्याशयेनाह—किमिति। किमन्यत् अन्यत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्त्रैस्तापितः सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः। सर्वनीतिरपचारश्च गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्चर्यम्। पितामहतापिनं स्मरं स नलः आत्मनस्तनोः छायेव छाया कान्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तया तनुच्छायतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति वैजयन्ती। लङ्घितुं न शशाक इत्यहं शङ्के, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं शक्या इति भावः। अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽप्यशक्तः किमुत नल इत्यर्था-

पत्तिस्तावदेकोऽलङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावादन्यवस्त्वन्यथा भवेत्। कैमुत्य-न्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' इति लक्षणात् तनोश्छायेवच्छायेत्यु-पमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्ति । एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्घत्वे तनुच्छायतया हेतूत्प्रेक्षा सङ्कीर्णा, सा च शङ्का इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति।

अन्वयः—अहो, अन्यत् किम्, यदस्त्रतापित पितामह अद्य अपि वारिजम् आश्रयति। शङ्के स मन्मथः स्मरम् आत्मनः तनुच्छायतया लङ्घितुम् न शशाक।

हिन्दी—अरे, और क्या कहा जाय, काम के बाणों से सताये बूढ़े बाबा ब्रह्मा जी आज भी जलज-कमल का आश्रय लिये रहते हैं। ऐसा लगता है कि वह नल काम के स्वदेह साम्य अथवा देह की परछाई होने के कारण उसे न जीत सका।

टिप्पणी—कामदग्ध-काम के सताये बूढ़े ब्रह्मा का भी जलजात कमल में आश्रय लिए रहना यह द्योतित करता है कि काम तो सब को ही सताया करता है सो नल का भी सता सका। एक दूसरी सम्भावना भी है कि नल काम को अपनी छाया समझ बैठा और धोखा खा बैठा।

'जब पितामह भी काम भय से आक्रान्त रहे, तो नल की क्या गिनती—' यह अर्थापत्ति होने से अर्थापत्ति अलंकार हुआ, 'तनुच्छायतया'—तनुच्छाया के तुल्य, यह उपमा हुई, अतिशयोक्ति भी है, तनुच्छायता हेतु है, अतः हेतु-त्प्रेक्षा भी, जो 'शङ्के' से प्रतीत होती है, अतः अर्थापत्ति उपमा-अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा और श्लेष अलंकार है।

तनुच्छायतया' का तन्वी छाया यस्य भावस्तत्ता तया विग्रह करके यह अर्थ भी होता है—विरह-व्यथित होने से म्लान-शोभा होने के कारण, अन्य-मनस्क नल काम को न जीत सका ॥४७॥

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भितं नवोपहारेण वयस्कृतेन किम्।
त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥४८॥

जीवातु—उरोभुवेति। सा तन्वी भैमी त्रपैव सरित् सैव दुर्गं नलसम्बन्धि तदपि प्रतीर्य नलस्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशन 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्'

वदस्तूतेन नवोत्हारेण नूतननिर्म्मातेन उरोभुवा वज्जयेन कुम्भयुगेन कुचयुगालत्केनेति भाव , इत्यतिशयोक्ति । 'न लोके'त्यादिना कृयोगषष्ठीप्रतिषेधात्कर्तरि तृतीया, 'नपुंसके भाव उपसव्यानमि'ति षष्ठी तु शेषविवक्षायाम् । जृम्भित जृम्भा जिमृदृभेक्षा या योक्तातिशयोक्तिमूलेति सङ्कर । दमयन्तीकुचकुम्भविस्मरस्मरणात्तस्य निमज्जनम्, तत्सामान्यकवितोऽनुदितयं, श्रेत मनःपद्म उक्त ॥ ४८ ॥

अन्वय —या दुर्गा यदापिविदुर्गमम् अपि प्रतीर्य प्रसरं तस्य हृदय विवेश, (तद्) वनस्तूतेन नवोत्हारेण कुम्भयुगेन जृम्भित किमु ?

हिन्दी—वह इत्यादि (दमयन्ती) लज्जारूपी नदी में, दुर्ग (अविरोध) अथवा लज्जानदी रूपी दुर्ग को भी तर कर जो नल के हृदय में प्रविष्ट हो सकी, वह क्या साहस्य प्रस्तुत नूतन उद्गार कुचयुग (दो घड़े और कुचयुगल) द्वारा ही सका ?

टिप्पणी—'प्रकाश'-कार नारायण ने 'नवोत्हारेण' का "नव" नूतन उपसमीपगतो हारो मुक्ताहारो यस्य तथाभूतम् उद्धृत' विग्रह में किया है । इस प्रकार अर्थ हुआ 'नवीन मुक्ताहार धारी उपहार से युक्त कुचकलश ।' उन्होंने 'जम्भुच्च' अर्थ मानकर 'जृम्भित' को 'दुर्ग' का विशेषण भी माना है ।

प्रणयिजन तारुण्यमद में घड़ों की सहायता से मिलन के निमित्त दुर्गम नदी तैर जाया करते हैं । अनेक प्राच्य-कथाओं में नर-नारी के ऐसे साहस का वृत्तान्त मिलता है । पञ्जाबी की लोक-प्रसिद्ध प्रणयकथा 'सोनीमहीवाल' की नायिका सोनी' भी अपने प्रणयी 'महिवाल' से मिलने इसी प्रकार जाया करती थी । श्रीहर्ष ने यहाँ भी ऐसी ही कल्पना की है, जिससे नल दमयन्ती की प्रणयोत्कटता प्रकट होती है । यह सब 'यौवन' की ही कृपा है, 'कुचयुगल' भी 'वय. कृत'—यौवन के उपहार हैं ।

विद्याधर ने इसमें उत्प्रेक्षा, रूपक और श्लेष अलंकार माने हैं । मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति का सकर माना है ॥४८॥

अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृत मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदु.खसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥४९॥

जीवातु—अथास्य जागरावस्थामाह—अपह्नुवानस्येति । निजामधीरतां चपलत्वं अनायासपह्नुवानस्यापलपतः 'श्लाघह्नुङ्स्थेति' त्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिकं कृतं तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायामि'ति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्यये ङीप् । शशाङ्केन कोमला रम्या निशा चाबोधि । 'दीपजने'त्यादिना कर्तरि च्लेश्चिणादेशः । तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्यायां जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भावः ॥ ४९ ॥

अन्वय—निजाम् अधीरतां अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृतं तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला निशा शय्या च अबोधि ।

हिन्दी—अपनी अधीरता को छिपाते इस (नल) की मनोभव काम ने जो दुर्दशा की, उसे जागरण के कष्ट की गवाह चंद्र से मनोहर चाँदनी रात और खरहे के अंक के समान मुलायम अथवा चंद्रतुल्य धवल आवरण से युक्त अथवा चंद्र अर्थात् कपूर छिड़क कर शीतल बनायी गयी शय्या ही जान पायी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल का उत्कट विरह और लज्जाशीलता द्योतित है । उसके मन की पीर को रात और शय्या के अतिरिक्त कोई न जान सका । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार इसमें श्लेष है और 'चन्द्रकला' के अनुसार तुल्ययोगिता और उपमा ॥४९॥

> स्मरोपतप्तोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदर्भराजं तनयामयाचत ।
> त्यजन्त्यसून्शर्म च मानिनो वरं त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥५०॥

जीवातु—ननु किमनेन निर्बन्धनेन, याच्यतां भीमभूपतिर्दमयन्तीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि भृशं गाढं स्मरोपतप्तः कामसन्तप्तोऽपि प्रभुः समर्थः स नलः विदर्भराजं भीमनृपतिं तनयां दमयन्तीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना मार्चेद्विकर्मकता । तथाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्काः प्राणान् शर्म च सुखञ्च त्यजन्ति एतत्त्यागोऽपि वरं मनाक् वरमिति मनाक्प्रियं इति महामाध्यायवर्द्धमानः । किन्तु, एकमद्वितीयमयाचितव्रतम् अयाच्ञानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुःसहं याच्ञादुःखमित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५० ॥

अन्वय—नृप स्मरोन्नत अपि स प्रभु विदर्भराज तनया न अयाचत, मानिन असून् शर्म च त्यजन्ति, एवम् अयाचितव्रत न त्यजन्ति।

हिन्दी—अनन्त काम से तप्त होने पर भी उस सर्वसमर्थ राजा नल ने विदर्भनरेश से उनकी पुत्री (दमयन्ती) की याचना नहीं की। आत्माभिमानी पुरुष प्राणों को और सुख को तज सकते हैं किन्तु एक अयाचना (किसी से कुछ न माँगना) रूपी व्रत को नहीं छोड़ सकते।

टिप्पणी—सम्मानी कष्ट सह लेते हैं, पर किसी से कुछ माँगते नहीं, नल भी ऐसे ही मानी थे—प्रभु। सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥५०॥

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वाससतिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

जीवातु—मृषेति। अयं नलो वियोगजां दमयन्तीवियोगजन्यां निःश्वाससततिं निःश्वासपरम्परां क्वचित् कुत्रचिद्वस्तुनि तदन्ये विषये मृषाविषादस्य मिथ्यादुःखस्याभिनयात् छलेन, जुगोप संववार। तथा पाण्डुतां वियोगजां शरीरपाण्डिमानं च विलेपनस्य चन्दनादधिकः चन्द्रभागः कर्पूरांशो यस्मिन् विलेपने 'घनसारश्चन्द्रसंज्ञः सिताभ्रो हिमवालुका' इत्यमरः। तस्य भावस्तत्ता तस्या विभावनात् कर्पूरभागाधिक्योत्प्रेक्षणादपललाप निह्नुते स्म। अत्राङ्गुताभ्यां मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमभ्यां तद्विरहश्वासपाण्डिम्नोर्निगूहनान्मीलनालङ्कारः। 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्।' इति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अन्वय—अयं क्वचित् मृषाविषादाभिनयात् वियोगजां निःश्वाससतिं जुगोप, विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् च पाण्डुताम् अपललाप।

हिन्दी—उस राजा नल ने कभी झूठे खेद-प्रकाशन का अभिनय करके (किसी और विषय पर खेद प्रकट करने के बहाने) वियोग के कारण उत्पन्न लम्बी साँसों को छिपाया और लेप (अंगराग) में कपूर की अधिकता को कारण बता कर वियोगजनित पाण्डुता को छिपाया।

टिप्पणी—राजा की लज्जाशीलता और विरहदशा का वर्णन, पाण्डुता को लेप से छिपाना आदि होने से मल्लिनाथ ने यहाँ 'मीलन' अलंकार का

निर्देश किया है और छल से भिन्न वस्तु के रूप निगूहन के आधार पर विद्याधर ने व्याजोक्ति ॥५१॥

शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छ यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥५२॥

जीवातु—शशाकेति । अयं नलोऽलीकवीक्षिता मिथ्यादृष्टा प्रिया दमयन्तीं समाजे सभायामेव यद् बभाषे बभाण, वीणा शिल्पमेषां तैर्वैणिकैः वीणावादैः 'शिल्पमि'ति ठक् । आलपितासु सूच्चरितासु व्यक्तिं गतास्वित्यर्थः । 'रागव्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् । पञ्चमस्य पञ्चमाख्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु 'आरोहावरोहणेषु क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छनेत्युच्यते' इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणन्तस्य कोकिलालापकोमलस्वेन उद्दीपकत्वातिशयविवक्षयेत्यनुसन्धेयम् । मुमूर्च्छेत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्नोतुमाच्छादयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे विषादे इत्यर्थं । 'अये क्रोधे विषादे चे'ति विश्वः । एतेन ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिताः ॥ ५२ ॥

अन्वय—यत् अयम् अलीकवीक्षिता प्रियां बभाषे, यत् च वैणिकैः पञ्चममूर्च्छनासु आलपितासु समाजे एव मुमूर्च्छ तत् अनेन निह्नोतुं शशाक ।

हिन्दी—जो कि नल ने भ्रान्ति से मिथ्या परिलक्षित प्रिया दमयन्ती के प्रति कुछ कहा और वेणुवादकों द्वारा पञ्चम स्वर की मूर्च्छनाओं में आलाप लिए जाने पर जो समाज सभा में वे मूर्च्छित हुए, वे इसे (इसी कारण उस अलपित और मूर्च्छित हो जाने की वास्तविकता को) छिपाने में समर्थ हुए ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में 'शशाकनिह्नोतुमयन' पाठ भी है, 'अयन निह्नोतु शशाक'—ऐसा पदच्छेद करने पर अर्थ हुआ कि नल का अपलपित सभामध्य मूर्च्छनालाप सुनने से 'अयन'—भाग्य से बच गया । यह समझा गया कि वे रागालाप से मूर्च्छित हो गये हैं, अथवा सभ्यगण ही रागालाप के सम्मोहन में आ गये और वे नल का अपलपित न सुन सके । यह सब दैववश ही हो पाया । षड्जादि सप्तस्वरों के क्रम में आरोह अवरोह मूर्च्छना कहे जाते हैं (शार्ङ्गदेव, संगीतरत्नाकर, स्वराध्याय) । भरतनाथ (पण्डितमण्डली) के अनुसार 'मूर्च्छ' धातु से ल्युट् प्रत्यय होकर करणार्थ में मूर्छना शब्द की निष्पत्ति

होती है—जिसका अर्थ है मोह और उच्छ्राय अर्थात् उभरना। भरत (नाट्य-शास्त्र २८।३२) के अनुसार 'क्रमयुक्त सप्तस्वर' मूर्च्छना हैं। तुम्बुरु 'श्रुति (नाद के श्रुतिगोचर होना) के मार्दव' को मूर्च्छना मानते हैं। श्रुति का मार्दव—उतरी हुई अवस्था कोहल (भरतकोष) के अनुसार अमृतसरोवर में गायक और श्रोताओं के मन का मज्जन मूर्च्छना है। (यही अर्थ यहाँ अभिप्रेत है।) नान्यदेव (भरतकोष) का कथन है कि जिस स्वर से उच्छ्राय आरोह होता है, उसी स्वर में जब समाप्ति भी होती है, तब मूर्च्छना होती है। जैसे षड्ज ग्राम प्रथम मूर्च्छना—'सा रे ग म प ध नि सा।' सामान्यतया किन्हीं सात स्वरों का उतार-चढ़ाव मूर्च्छना है। 'प्रकाश'-कार ने मूर्च्छनाओं की संख्या इक्कीस बतायी है। 'नाट्यशास्त्र' (२८।३१) में स्वर-क्रमयुक्त सम्पूर्ण षाडवे, औडुवीकृता और स्वर-साधारणीकृता मूर्च्छनाएँ चौदह बतायी गयी हैं। 'शाखाचित' कहते हैं राग के प्रकटीकरण को।

'जयेन' का सम्बन्ध (जये—न) करके 'प्रकाश'कार ने यह भी अर्थ किया है कि नल सभाजनों से तो वास्तविकता छिपा सके 'इ'—काम (इ काम तस्मै जये) से नहीं। इस पद्य में नल का लज्जात्याग, उन्माद और मूर्च्छा सूचित हैं। छेकानुप्रास अलङ्कार ॥५२॥

अवाप सापत्नता स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥५३॥

जीवातु—अवापेति। जितेन्द्रियाणां धुर्यग्रे कीर्तितस्थितिः स्तुतमर्यादः स भूपतिः नलः तत्र सभायां असंवरे संवरितुमशक्ये संवरणं संवरः शमस्तेनापि, न विद्यते संवरो यस्य तस्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सति सापत्रपतां सलज्जताम् अवाप। धैर्यशालिनां तद्भङ्गस्त्रपाकर इति भावः ॥ ५३ ॥

अन्वय—जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः स भूपतिः तत्र असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटतामुपेयुषि सापत्रपताम् अवाप।

हिन्दी—जितेन्द्रियों में अग्रगण्य (जिसका कथन सर्वप्रथम हो) वह भूमिपति सभा के बीच असंवरणीय (रोका जा सकने वाला) शंबरासुर के शत्रु-

काम का विभ्रम (विकार) क्रमशः प्रकट हो जाने से लज्जायुक्त हो गया। प्रथम चरण में 'पकार' की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है, पूर्वार्द्ध में अन्त्य और उत्तरार्द्ध में 'व, र' और 'भ्रम' की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है। इन तीनों अनुप्रासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण संसृष्टि ॥५३॥

अलं नलं रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।
स्मरः स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्ययं सर्गनिसर्ग ईदृशः ॥५४॥

जीवातु—ननु विवेकिनः कुत इदं चापल्यम्? इत्यत आह—अलमिति। युक्तायुक्तविचारो विवेकः तत्प्रभवा अमी गुणाः धैर्यादयः नलमिदं लीलाभरूप चापलं निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना द्विकर्मकत्वम्। अलं समर्था नाभवन् किल खलु। तथाहि—स्मरः नाम। जनमिति शेषः। जनं रत्या रागे अनिरुद्ध-सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्या रतिदेव्यामनिरुद्धाख्यं कुमारं सृजतीति ध्वनिः। इति यत् अयं सर्गनिसर्गः सृष्टिस्वभाव ईदृशः। 'रतिः स्मरप्रियायां च रागेऽपि सुरतेऽपि च'। 'अनिरुद्धः कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्वः। अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सकलसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—अमी विवेकप्रभवाः गुणाः नलं चापलं रोद्धुम् अलं न अभवन् किल, अयम् ईदृशः सर्गनिसर्गः यत् स्मरः रत्याम् अनिरुद्धम् एव सृजति।

हिन्दी—ये विवेक से समुद्भूत ('विवेकप्रभुवा' पाठान्तर में विवेकादि) गुण नल की चपलता का अवरोध-निवारण करने में समर्थ न हो पाये, यह ऐसी संसार की प्रकृति—स्वभाव है कि काम (अवस्थाविशेष होने पर मनुष्य को) प्रणय में स्वच्छन्द बना ही देता है।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि लालच में काम सभी को चपल बनाकर प्रणय में स्वच्छन्द बना देता है। स्मर, रति, अनिरुद्ध—शब्दों के प्रयोग से कवि पौराणिक कथा का भी संकेत देता है—कामावतार कृष्णतनय प्रद्युम्न अपनी रति-अवतारिणी प्रिया में अनिरुद्ध नामक पुत्र को ही उत्पन्न करता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर ने इसमें उत्प्रेक्षा और हेतु अलङ्कार माने हैं ॥५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाक नो यदासितुं संसदि यत्नवानपि ।
क्षणं तदारामविहारकैतवान्निषेवितुं देशमियेष निर्जनम् ॥५५॥

जीवातु—अथास्य मनोरथसिद्ध्युपायचिन्तादिव्यहस्यवादनिदानभूतं वनविहारं प्रस्तौति—अनङ्गेति। स नैषधो नलो यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्छाप्रलापादिस्मरविकारं विना संसदि क्षणमप्यासितुं यदा नो शशाक, तदा आरामविहारकैतवादुपवनविहारव्याजान्निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष देशान्तरं गन्तुमैच्छदित्यर्थः । एतेन चापलाख्ये सञ्चारिणि भ्रमणलक्षणोऽनुभाव उक्तः ॥

अन्वय—यत्नवान् अपि सः यदा अनङ्गचिह्नं विना संसदि क्षणम् आसितुं नो शशाक तदा आरामविहारकैतवात् निर्जनं देशं निषेवितुम् इयेष ।

हिन्दी—प्रयत्नशील होकर भी वह (नल) जब कामचिह्नों के बिना प्रकट रहते सभा में क्षण भर भी बैठने में असमर्थ रहा, तब उद्यान विहार के बहाने निर्जन स्थान का सेवन करना चाहने लगा ।

टिप्पणी—सञ्चारिभाव चपलता और भ्रम अनुभाव का वर्णन । विद्याधर के अनुसार अपह्नुति अलङ्कार । शब्दालङ्कार वृत्त्यनुप्रास ॥५५॥

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनस्समं वयस्यैस्स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥५६॥

जीवातु—अथेति । अथानन्तरं श्रिया सौन्दर्येण भर्त्सितमत्स्यकेतनस्तिरस्कृतस्मरः स नलः स्वरहस्यवेदिभिः निजमैत्रीरागमर्मज्ञैर्वयस्यैस्तुल्यवयस्कैः स्निग्धैः 'स्निग्धो वयस्यः सवयाः' इत्यमरः । तैः सह समं पुरोपकण्ठोपवनं पुरसमीपारामम् ईक्षिता द्रष्टा, तृन्नन्तमेतत् अतएव 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । किलेत्यलीके । निदेशकारिणः आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतुमित्यर्थः । 'क्रियार्थो' इत्यादिना चतुर्थी । दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अन्वय—अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यकेतनः स्वरहस्यवेदिभिः वयस्यैः समं पुरोपकण्ठवनम् ईक्षिता यानाय निदेशकारिणः आदिदेश ।

हिन्दी—तदनन्तर अपनी शोभा से मीनध्वज काम को तिरस्कृत करनेवाले नल ने अपने रहस्य के वेत्ता तुल्यवयस्क मित्रों के साथ नगर के निकटवर्ती उपवन को देखने की इच्छा जताते हुए वाहन लाने के लिए आज्ञापालक सेवक को आदेश दिया ।

टिप्पणी—'भस्तिनमत्स्यकेतन' से यह भी ध्वनित है कि काम नल की शोभा बढाने का काम करनेवाला कर्मचारी हुआ, इस प्रकार नल के कामचिह्न-युक्त अंग भी उनके कामजयी होने का प्रमाण देने लगे। विद्याधर के अनुसार इसमें उपमा और सहोक्ति है ॥५६॥

अमी ततस्तस्य विभूषितं सितं जवेऽपि मानेऽपि च पौरुषाधिकम् ।
उपाहरन्नश्वमजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

जीवातु—अमी इति । ततः आज्ञापनानन्तरं अमी निदेशकारिणः तस्य विभूषितमलङ्कृतं श्वेतं जवेऽपि वेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरुषात् पुरुषगतिवेगात् पुरुषप्रमाणाच्चाधिकं 'ऊर्ध्वविस्तृतदोःपाणिनृमाने पौरुषं त्रिषु' इत्यमरः । 'पुरुषहस्तिभ्यामण् च' इत्यण्प्रत्ययः । अजस्रचञ्चलैः सदा चटुलस्वभावैः खुराञ्चलैः शफाग्रैः क्षोदितं मन्दुरोदरं चूर्णीकृताश्वशालाभ्यन्तरं 'वाजिशाला तु मन्दुरे'त्यमरः । एतेनोत्तमाश्वलक्षणयुक्तं सितं श्वेतमश्वमुपाहरन्नानिन्युरित्यर्थः ॥५७॥

अन्वयः—ततः अमी तस्य विभूषितं सितं जवे अपि माने अपि च पौरुषाधिकम् अजस्रचञ्चलैः खुराञ्चलैः क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरन् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् ये निदेशकारी उन (नल) के सुसज्जित, श्वेतरंग के वेग में भी और परिमाण (ऊँचाई) में भी पुरुष प्रमाण अथवा बल से अधिक निरन्तर चपल खुरों की अंगली कोरों से मन्दुरा (घुड़साल) के मध्य को विदीर्ण करनेवाले अश्व को ले आये। –

टिप्पणी—इस श्लोक से अगले सात श्लोकों तक अश्व का वर्णन है, जिस पर नल सवार हुए—'कुलक' अर्थात् एक ही भाव से सम्बद्ध पञ्चाधिक पद्य । वृत्त्यनुप्रास और छेकानुप्रास की संसृष्टि ॥५७॥

अथान्तरेणावटुगामिनाऽध्वना निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः ।
निगालगाद् देवमणेरिवोत्थितैर्विराजितं केसरकेशरश्मिभिः ॥ ५८ ॥

जीवातु—अथ सप्तभिः कुलकमाह—अथेत्यादि । अथानयनानन्तरं स नलो हयमारुरोहेत्युत्तरेणान्वयः । कथम्भूतमन्तरेणाभ्यन्तरेण अवटुगामिना कृकाटिकाभ्यन्तरस्पृशा 'अवटुर्घाटा कृकाटिके'त्यमरः, अध्वना मार्गेण निगालगाद् गलोद्देशात् 'निगालस्तु गलोद्देशः' इत्यमरः । देवमणिः आवर्तविशेष,

'निगाल्जो देवमणिरि'ति लक्षणात्। दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्मादुत्थितैरिव रश्मिभिरित्युत्प्रेक्षा। निशीथिनीनाथमहःसहोदरैश्चन्द्रांशुसदृशैरित्युपमा। केसरकेशा एव रश्मय इति रूपकं तैर्विराजितम् ॥ ५८ ॥

अन्वय—अथ निशीथिनीनाथमहःसहोदरैः निगाल्गात् देवमणेः आन्तरेण अवटुगामिना वर्त्मना उत्थितैः इव केसरकेशरश्मिभिः विराजितम् (स हयम् आरोह—इति (६४) वक्ष्यमाणेन श्लोकेन अन्वयः)।

हिन्दी—तत्पश्चात् निशानाथ (चन्द्र) की किरणों की सहजात (चन्द्रकिरणों-सी शुभ्र, उज्ज्वल), गल प्रदेश में स्थित देवमणि (घोड़े के कंठ की भाँति दाहिनी ओर घूमी—दक्षिणावर्त,—शुभ, घोड़ा की गरदन पर होने वाली बालों की भँवरी) से अवटु अर्थात् गर्दन के पीछले भाग तक के आन्तर अर्थात् मध्य से जानेवाले मार्ग से उद्भूत जैसी, कन्धे पर फैले बालों की किरणों से सुशोभित घोड़े पर नल आरूढ़ हो गये।

टिप्पणी—चौंसठवें श्लोक तक अश्व का वर्णन है, जिसमें 'घोड़े पर आरूढ़ हो गये—इस वाक्य तक अन्वय होता है। शुभ्रता के कारण केसररश्मियों की तुलना चन्द्रकिरणों से की गयी है। 'देवमणि' चन्द्र को भी कहा जाता है, इस प्रकार 'देवमणेः उत्थितम्' का सादृश्य भी बैठ जाता है। 'प्रकाशकारने 'विराजित' का अर्थ किया है 'पक्षिराज गरुड के तुल्य वेगवान्'—'वीनां पक्षिणां राजा विराजो गरुडः तद्वदाचरितम्।' विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक का सङ्कर है। 'चन्द्रकला' कर्ता ने उपमा-उत्प्रेक्षा-रूपक की संसृष्टि का निर्देश किया है। मल्लिनाथ ने भी उत्प्रेक्षा-उपमा रूपक अलङ्कार माने हैं॥५८॥

अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः।
रयप्रकर्षाध्ययनार्थमागतैर्जनस्य चेतोभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

जीवातु—अजस्रेति। अजस्रं भूमीतटकुट्टनेन उद्गतैः रेणुभिः रयप्रकर्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनार्थमभ्यासार्थमागतैरणिमाङ्कितैरणुत्वपरिमाणविशिष्टैर्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा। चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम्। 'अणुपरिमाणं मनः' इति तार्किकाः ॥ ५९ ॥

अन्वय'—रयप्रकर्षाध्ययनाय म् आगतं अणिमाङ्कितैः जनस्य चेतोभि इव अजस्रभूमीतटकुट्टनोद्गतै रेणुभिः चरणेषु उपास्यमानम् इव ।

हिन्दी—वेग की प्रकृष्टता—आधिक्य को सीखने आये, परिमाण में अणु के समान लोगों के चित्तों के तुल्य निरन्तर भूमितल के कूटने से उड़ी धूलि से उपासित (युक्त और पूजित) घोड़े पर ।

टिप्पणी—अश्व के वेग और स्वभाव का वर्णन । रेणु की तुलना अध्ययन करने आये मन से करना द्योतित करता है कि अश्व 'मनोजव' ही नहीं था, मन से कहीं अधिक वेगवान् था, उसी कारण धूलि-कणरूप में जन-मन अश्व के चरणों पर सलग्न ही नहीं थे, शिष्यों के सदृश चरणोपासना कर रहे थे। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और जाति अलकार माने हैं। चंद्रकलाकार ने समासोक्ति-उत्प्रेक्षा का 'एका-श्रयानुप्रवेशसकर' माना है ॥५९॥

चलाचलप्रोथतया महीभुजे स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।
अलं गिरा वेद किलायमाशयं स्वयं हयस्येति च मौनमास्थितम् ॥६०॥

'जीवातु—चलाचलेति । पुनः चलाचलप्रोथतया स्वभावतः स्फुरमाण-घोणतया 'चरिचलिपदीनामुपसंख्याना'च्चलेर्द्विर्वचन दीर्घश्च । 'घोणा तु प्रोथ-मस्त्रियामि'त्यमरः । महीभृते नृपाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुक-मुद्युक्तमिवेत्युत्प्रेक्षा । अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते—अलमिति । गिरा उक्त्या अलं, कुतः, अयं नलः स्वयं हयस्याश्वस्य आशयमभिप्रायं वेद वेत्ति किल । 'विदो लटो वे'ति णलादेशः । इति हेतोरिवेत्यनुषङ्गः मौन तूष्णी-म्भावञ्चास्थितं प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रसिद्धिः ॥ ६० ॥

अन्वय —चलाचलप्रोथतया स्ववेगदर्पान् महीभृते वक्तुम् उत्सुकम् इव, अयं स्वयं हयस्य आशयं वेद किल—इति गिरा अलम् आस्थितम् ।

हिन्दी—अत्यंत चचल नासापुट ओष्ठाग्रभाग से युक्त होने के कारण अपने वेगाभिमान के विषय में मानो राजा से निवेदन करने को उत्सुक परन्तु यह (राजा) स्वयं घोटक के आशय को समझता है—सो वाणी को विश्राम दिये—मौन साधे पर ।

टिप्पणी—'चलाचलप्रोथता' अश्व का स्वभाव है, इसी आधार पर यह उत्प्रेक्षा है। राजा हयाशय को समझता है—यह उक्ति नल के अश्वविद्या-विशारद होने को संकेतित करती है। विद्याधर ने इस श्लोक में सापह्नवा—उत्प्रेक्षा बतायी है। चन्द्रकलाकार ने पूर्वार्द्ध में वाच्या और उत्तरार्द्ध में प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा का निर्देश कर दोनों की निरपेक्षस्थिति के आधार पर संसृष्टि अलङ्कार माना है ॥६०॥

महारथस्याध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्वहनाद्यशःसितम्।
रदावदातांशुमिषादनीदृशां हसन्तमन्तर्बलमर्वतां रवेः ॥ ६१ ॥

जीवातु—महारथस्येति। महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य। 'आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन् युध्येत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः।' इत्युक्तलक्षणस्य रथिविशेषस्येत्यर्थः। अन्यत्र महारथो नलः तस्य महारथस्य चक्रं राष्ट्रं वर्तयतीति चक्रवर्ती सार्वभौमः तस्य नलस्य, 'हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरुः कुत्सः पुरूरवाः। सगरः कार्त्तवीर्य्यश्च षडेते चक्रवर्तिनः ॥' इत्याम्नानात् अन्यत्र चक्रेणैकेन वर्तनशीलस्येत्यर्थः। अध्वनि मार्गे नापेक्षत इत्यनपेक्षः पचाद्यच्, परेषामनपेक्षः तस्मादुद्वहनादसहायोद्वहनाद्धेतोर्यशः सितं कीर्तिविशदम् अत एवानीदृशामीदृग्यशोरहितानाम्। 'सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमि'ति सप्तानां सम्भूयोद्वहनश्रवणादिति भावः। रवेरर्वतामश्वानामन्तर्बलमन्तःसारं रदानां दन्तानां ये अवदाताः सिताः अंशवः तेषां मिषाद्धसन्तं हसन्तमिव स्थितमित्यर्थः। अत्र मिषशब्देनांशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वोत्प्रेक्षणात्सापह्नवोत्प्रेक्षेयं गम्या च व्यञ्जकाप्रयोगात्। 'रदना दशना दन्ता रदाः' इत्यमरः ॥६१॥

अन्वय—महारथस्य चक्रवर्तिनः अध्वनि परानपेक्षोद्वहनात् यशः सितं रदावदातांशुमिषात् अनीदृशां रवेः अर्वतां बलम् अन्तः हसन्तम् "।

हिन्दी—महान् योद्धा, चक्रवर्ती राजा नल को मार्ग में अन्य अश्वों की अपेक्षा न करके उद्वहन (चढ़ाने) के कारण प्राप्त यश से मानो शुभ्र, श्वेत दाँतों की किरणों के ब्याज से अन्य की अपेक्षा बिना—अकेले ढोने में असमर्थ सूर्य के घोड़े के बल पर मन-ही-मन हँसते"" ।

टिप्पणी—सूर्य के सात घोड़े मिलकर सूर्य का उद्वहन करते हैं और राजा नल का घोड़ा अकेला सूर्य से भी अधिक प्रतापी नल को चढ़ा ले जाता

है। इस प्रकार यह उन सातों से श्रेष्ठ है और उन पर हँसने का अधिकारी है। घोड़ा सफेद रंग का है, जो मानो उसे प्राप्त यश की शुभ्रता है, सूर्याश्वों का रंग नीला कहा जाता है, यह मानो उनकी अकीर्ति का द्योतन करता है। महारथ का अर्थ महान् रथ वाला भी है। यों महारथ उसे कहते है, जो दस सहस्र धनुर्धारियों से अकेला लड़ सके और शस्त्र शास्त्र प्रवीण हो। जो पुरुष अपने सारथि और रथ की रक्षा करता हुआ युद्ध कर सके, वह भी महारथ कहा जाता है। विद्याधर के अनुसार इस पद्य मे अपह्नुति व्यतिरेक-श्लेष का संकर है, मल्लिनाथ सापह्नवा उत्प्रेक्षा मानते हैं। भविष्योत्तरपुराण-आदित्य-स्तोत्र के अनुसार सूर्य के सात घोड़े हैं—(१) जय, (२) अजय, (३) विजय, (४) जितप्राण, (५) जितश्रम, (६) मनोजव और (७) जित-क्रोध—'जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रम। मनोजवो जितक्रोधो वाजिनः सप्तकीर्तिताः ॥६१॥

सिततिविपश्चञ्चलतामुपेयुषो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च।
स्फुटाञ्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिह्नुवानं निजवाजिराजताम् ॥६२॥

जीवातु—सितेति। पुनः कथम्भूतम् ? सितत्विषः विशदप्रभस्य चञ्चलतामुपेयुषा चञ्चलस्येत्यर्थः। पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थवालस्य च मिषेण च्छलेन चलतश्चामरयुग्मस्य चिह्नकैः लक्षणैः स्फुटां प्रसिद्धां निजां वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिह्नुवानं प्रकाशयन्तमिव। अश्वानामिव कचच्चामरयुग्ममिति भावः। पूर्ववदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—सितत्विषः चञ्चलताम् उपेयुषः पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकैः निजवाजिराजतां स्फुटम् अनिह्नुवानम् ।

हिन्दी—श्वेत दीप्तियुक्त, चञ्चलता को प्राप्त (चपल) पूँछ और केसर (अयाल, गरदन के बाल) के व्याज से डोलते चामर युगल-(राजोपयुक्त)-चिह्न द्वारा जैसे अपना अश्वराज होना स्पष्टतया प्रकट करते ।

टिप्पणी—पुच्छ और केसर दो राजाओं के चिह्न हैं—छत्र और चामर राजा धारण करते हैं—इन दो चिह्नों के लिए 'चिह्नैः' बहुवचन 'चलन्त्रिया पेक्षया' है—यह 'प्रकाशकार की मान्यता है। विद्याधर और मल्लिनाथ इस

श्लोक में सापह्नवा उत्प्रेक्षा मानते हैं, चन्द्रकलाकार ने इसे अपह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि कहा है ॥६२॥

अपि द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे मुखानुयातायतवल्गुवल्गया ।
उपेयिवांसं प्रतिमल्लतां रयस्मये जितस्य प्रसभं गरुत्मतः ॥६३॥

जीवातु—अपीति । पुनः कथम्भूतं स्थितम् ? रयस्मये वेगप्रयुक्ताहङ्कारे प्रसभं प्रसह्य जितस्य प्रागेव विजितस्य गरुत्मतः मुखानुयाता वक्त्रलग्ना आयता दीर्घा वल्गुः रम्या च या वल्गा मुखरज्जुः तया सन्निवेशेनेत्यर्थः । द्विजिह्वानामहीनामभ्यवहारे आहारे यत् पौरुषे सर्पभक्षणपुरुषकारेऽपि प्रतिमल्लतां प्रतिद्वन्द्वितामुपेयिवांसं प्राप्तम् । तथा च गम्योत्प्रेक्षेयम् । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्चे'ति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—रयस्मये प्रसभं जितस्य गरुत्मतः द्विजिह्वाभ्यवहारपौरुषे अपि मुखानुयातायतवल्गुवल्गया प्रतिमल्लताम् उपेयिवांसम् ।

हिन्दी—वेग के दर्प में बलात् विजित पक्षिराज गरुड के द्विजिह्वसर्पों के भक्षणरूप पुरुषार्थ में भी मुँह में लम्बी और शोभामयी लगाम लगी होने से (गरुड की) प्रतिमल्लता को प्राप्त होते ।

टिप्पणी—नल की सवारी का घोड़ा गरुड क्या, मन से भी अधिक वेगवान् था, गति में तो उसने पक्षिराज को जीता ही था, इस पद्य में 'सर्पभक्षणपौरुष' में उसे जीता घोषित किया गया । मुखलग्ना वल्गा ही भक्षण किये जाते सर्प की प्रतिमान है । विद्याधर ने यहाँ पूर्ववत् सापह्नवा-उत्प्रेक्षा ही मानी है, मल्लिनाथ ने गम्या उत्प्रेक्षा और चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-उपमा की संसृष्टि ॥६३॥

स सिन्धुजं शीतमहःसहोदरं हरन्तमुच्चैःश्रवसः श्रियं हयम् ।
जिताखिलक्ष्माभृदनल्पलोचनस्तमारुरोह क्षितिपाकशासनः ॥६४॥

जीवातु—स इति । जिता अखिलाः क्ष्माभृतो भूपा भूधराश्च येन स अनल्पलोचनो विशालाक्षः अन्यत्र बहुनेत्रः सहस्राक्ष इति यावत् । क्षितिपाकशासनः क्षितीन्द्रो नलः देवेन्द्रश्च सिन्धुजं सिन्धुदेशोद्भवञ्च समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामि'त्यमरः । शीतमहः सहोदरं चन्द्र-

मवणमित्यर्थं, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेवयोनित्वादिति भाव । उच्चैःश्रवस इन्द्राश्वस्य श्रिय हरन्त तत्स्वरूपमित्यर्थं, त हयमारुरोह । अत्रोच्चैःश्रवस श्रिय हरन्तमिवेत्युपमा । सा च श्लिष्टविशेषणात् सङ्कीर्णेय क्षितिपाकशासन इत्यतिशयोक्ति ॥ ६४ ॥

अन्वय —जिताखिलक्ष्माभृत् अनल्पलोचन क्षितिपाकशासन स सिन्धुज शीतमह सहोदरम् उच्चैःश्रवस श्रिय हरन्त त हयम् आरुरोह ।

हिन्दी—समस्त क्षमा (पृथ्वी) को धारण करनेवाले पर्वतों के जयी-सहस्रनेत्रधारी (इन्द्र के समान) समस्त राजाओं का विजेता, विशालनेत्रधारी पृथ्वीमंडल पर पाकशास्त्र का प्रणेता होने से क्षितिपाकशासन अर्थात् धरती का इन्द्र वह राजा नल सिन्धु अर्थात् समुद्र से उत्पन्न और (अतएव) चन्द्र के सहोदर उच्चैःश्रवा (इन्द्राश्व) की तुलना करते (अथवा उससे भी श्रेष्ठ) सिन्धु देश के चन्द्रमा के समान शुभ्र अश्व पर आरूढ हुआ ।

टिप्पणी—समान धर्मता के आधार पर नल को क्षितिपाकशासन अर्थात् महीमहेन्द्र और उसकी सवारी के अश्व को उच्चैःश्रवा की समता मे रखा गया । 'सिन्धुजम्' शब्द अश्व के उत्तम कुल, बल और महाकायत्व का द्योतक है । सत्तावनवें श्लोक से आरम्भ 'कुलक' समाप्त । विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा, परिकर और श्लेष अलङ्कार हैं, मल्लिनाथ ने श्लिष्टविशेषण होने के कारण सङ्कीर्णा उपमा और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार यहाँ श्लेष-उपमा-निदर्शना की समृष्टि मानते हैं ॥६४॥

निजा मयूखा इव तिग्मदीधितिं स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।
तमश्ववारा जवनाश्वयायिनं प्रकाशरूपा मनुजेशमन्वयु ॥६५॥

जीवातु—निजा इति । निजा आत्मीया प्रकाशरूपा उज्ज्वलाकार भास्वररूपाश्च अश्वावारयतीत्यश्ववारा: अश्वारोहा स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कज पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्त जवनो जवशील 'जुचङ्क्रम्ये'त्यादिना युच् । तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्यातीति तयोक्त मनुजा मनोर्जाता मनुजा नरास्तेषामीश राजानश्च त नल तिग्मदीधितिं सूर्यं मयूखा इव अन्वयु अन्वगच्छन् । यातेर्लङि झेर्जुसादेश ॥ ६५ ॥

अन्वय—प्रकाशरूपाः निजाः मयूखाः इव अश्ववाराः स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजं जवनाश्वयायिनं तीक्ष्णांशुमिव तं मनुजेशम् अन्वयुः ।

हिन्दी—प्रकाश-स्वरूप ही जिनका रूप आकार है, ऐसी स्वकीय किरणों के तुल्य सुन्दर शरीरधारी स्वकीय राजा के निजी अश्ववार-घोड़ों के रखवारे करकमल में खिला कमल धारते, वेगवान् अश्वों से यात्रा करते तीक्ष्ण किरनमाली सूर्य के समान जिसके करकमल में खिले कमल का चिह्न है और वेगवान् अश्वपर सवार है, उस नरनाथ नल के पीछे-पीछे चले।

टिप्पणी—इस पद्य में नल की सूर्य से और उसके पीछे चलते अश्ववारों की सूर्यानुयायिनी किरणों से तुलना की गयी है। समुचित शब्दों के प्रयोग द्वारा इस साम्य की सूचना की गयी है, इसी आधार पर विद्याधर ने इस पद्य में उपमा, रूपक और श्लेष अलङ्कार माने हैं, चन्द्रकलाकार ने इसे पूर्णोपमा कहा है ॥६५॥

चलन्नलङ्कृत्य महारयं हयं स वाहवाहोचितवेषपेशलः ।
प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिर्व्यलोकि लोकैर्नगरालयैर्नलः ॥६६॥

जीवातु—चलन्निति। वाहवाहोचितवेषपेशलः अश्ववाहोचितनेपथ्यचारुः 'चारौ दक्षे च पेशलः' इत्यमरः। स नलो महारयमतिजवं हयमलङ्कृत्य चलन् स्वयं हयस्य भूषणीभूय गच्छन्नित्यर्थः। प्रमोदेन निष्पन्दतराणि अत्यन्तनिश्चलानि अक्षिपक्ष्माणि येषां तैरनिमेषदृष्टिभिरित्यर्थः। नगरालयैर्नगरनिवासिभिरित्यर्थः। लोकैर्जनैर्व्यलोकि विस्मयहर्षाभ्यां विलोकित इत्यर्थः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

अन्वय—प्रमोदनिष्पन्दतराक्षिपक्ष्मभिः नगरालयैः लोकैः महारयं हयम् अलङ्कृत्य चलन् वाहवाहोचितवेषपेशलः स नलः व्यलोकि।

हिन्दी—प्रहर्ष के कारण अपलकलोचन (पलक गिराये बिना) नगरवासी प्रजाजनों ने महावेगवान् अश्व को सुशोभित कर जाते हुए अश्वारोहियों के योग्य वेष में सुन्दर लगते उस नल को देखा।

टिप्पणी—नल के अश्वारूढ होकर जाते समय उसकी तेजस्विता पर मुग्ध नगरवासियों का सानन्द अपलक देखना वर्णित कर कवि ने राजा के प्रति पुरवासी प्रजाजनों का आदर व्यक्त किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास है और मल्लिनाथ के अनुसार वृत्त्यनुप्रास ॥६६॥

क्षणादथैष क्षणदापतिप्रभ प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।
सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्वहि पुरोऽभूत् पुरुहूतपौरुष ॥६७॥

जीवातु--क्षणादिति । अथानन्तर क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरुहूत-पौरुष इन्द्रस्येव पौरुष कर्म तेजो वा यस्य तादृश एष नल । प्रभञ्जनेन वायुना अध्येय शिक्षणीय जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणाद्भि-क्षणासाभि पूर्वोक्ताभि जनाना दृष्टिवृष्टिभि दृक्पातै सह जनैर्दृश्य-मान एवेत्यर्थ । बहि पुर पुराद्वहि स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी । पूर्व पुरे दृष्ट क्षणादेव पुराद्वहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्ति ॥ ६७ ॥

अन्वय --अथ क्षणदापतिप्रभ पुरुहूतपौरुष एष प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना क्षणात् ताभि जनदृष्टिवृष्टिभि सह एव पुर बहि अभूत् ॥

हिन्दी--तदनन्तर निशानाथ चन्द्रमा की कांतिवाला, इन्द्रसम सामर्थ्य-वान् वह नल आँधी भी जिससे तीव्रगामिता का अध्ययन करती थी, ऐसे तीव्र-गामी अश्व पर आरूढ उन (अपलक निहारती) पुरजनों के दृष्टिपातो के साथ ही नगर से बाहर हो गया ।

टिप्पणी--राजा के शीतल सौन्दर्य और सामर्थ्य और प्रजाजन का उसके प्रति अनुराग यहाँ द्योतित है, दृष्टिपातो का राजा के साथ ही बाहर चला जाना, जिसे व्यक्त करता है । विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास उपमा-सहोक्ति के संकर का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने वेगातिशयोक्ति का, चन्द्रकलाकार उपमा अतिशयोक्ति की संसृष्टि मानते हैं ॥६७॥

तत प्रतीच्छ प्रहरेति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।
मृषा मृधं सादिबले कुतूहलान्नलस्य नासीरगते वितेनतु ॥६८॥

जीवातु--तत इति । तत पुराद्वहिर्गमनानन्तर प्रतीच्छ गृहाण प्रहर प्रहरेति भाषिणी भाषमाणे इत्यर्थ । परस्परमन्योन्योपरि उल्लासितानि प्रसारि-तानि शल्यपल्लवानि तोमराग्राणि याभ्यां ते तयोक्ते 'शल्य तोमरमि'त्यमर । नलस्य नासीरगते सेनाग्रवर्त्तिनी 'सेनामुखं तु नासीरमि'त्यमर । सादिबले तुरङ्गसैन्ये कुतूहलात् मृषा मृध मिथ्यायुद्ध युद्धनाटकमित्यर्थ । वितेनतुश्चक्रतु 'मृधमायोधन संयमि'त्यमर ॥ ६८ ॥

अन्वय —ततः 'प्रतीच्छ, प्रहर'—इति भाषिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे बलस्य नासीरोत्ते सादिवले कुतूहलात् मृषा मृधं विनेनतुः ।

हिन्दी—पुर से बाहर निकलने के पश्चात् 'मेरा शस्त्र सँभालो, प्रहार करो, ऐसा कहती अन्योन्य पर पल्लव तुल्य शस्त्रों को उठाती (किन्तु आघात न करती), सेना की अग्रभाग में चलती दो अश्व सेनाओं ने केवल कुतूहल के लिए झूठे युद्ध का प्रदर्शन किया ॥६८॥

टिप्पणी—सैनिकों के उत्साह का वर्णन । अनुप्रास और उपमा ।

प्रयातुमस्माकमियं कियत्पदं धरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।
इतीव वाहैर्निजवेगदर्पितैः पयोधिरोधक्षममुत्थितं रजः ॥६९॥

जीवातु—प्रयातुमिति । इयं धरा भूः समुद्रातिरिक्तेति भावः । अस्माकं प्रयातुं प्रस्थातुं कियत् पदं गन्तव्यं स्थानं किञ्चित्पर्याप्तमित्यर्थः । तस्मादम्भोधिरपि स्थलायिता स्थलवदाचरतु, भूरेव भवत्वित्यर्थः । 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङ्प्रत्ययः । इतीवेति । इतीव इति मत्वेत्यर्थः । इति नैव गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः, अन्यथा पौनरुक्त्यात् । क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा । निजवेगेन दर्पितैः सञ्जातदर्पैः वाहैर्नलाश्वैः पयोधिरोधक्षमं समुद्रच्छादनपर्याप्तं रजः उत्थितमुत्थापितं तथा सान्द्रमिति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वय —इयं धरा अस्माकं प्रयातुं कियत् पदम्, तत् पयोधिः अपि स्थलायताम्—इति इव निजवेगदर्पितैः वाहैः पयोधिरोधक्षमं रजः उत्थितम् ।

हिन्दी—'यह धरती हमारे सचरण के लिए कितने पग है ? (छोटी है), तो उस पयोधि समुद्र को भी स्थल बना दिया जाय'—मानो यही सोच कर अपनी गति के दर्प में चूर्ण घोड़ों ने समुद्र को भी पाटने में पर्याप्त (प्रभूत) धूल उड़ा दी ।

टिप्पणी—बहुत से घोड़ों के एक साथ सरपट दौड़ने से उठी धूल और घोड़ों के उत्साह का चित्रण । क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा, अनुप्रास ॥६९॥

हरेर्यदक्रामि पदैककेन खं पदैश्चतुर्भिः क्रमणेऽपि यस्य नः ।
त्रपा हरीणामिति नम्रिताननैर्न्यवर्ति तैरर्धनभः कृतक्रमैः ॥७०॥

जीवातु—हरेरिति । यत् खमाकाशं हरेर्विष्णोरेककेन एकाकिना 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्ययः पदा पादेन 'पादः पदङ्घ्रिश्चर-

णोऽस्त्रियामि'त्यमर । 'पद्दन्नि'त्यादिना पदादेश । अक्रामि अलङ्घि, तस्य खस्य चतुर्भि पदै, क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेष । हरीणा वाजिना विष्णुना चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु'इत्यमर । उभयत्रापि नोऽस्माक त्रपेति शेषार्थ । गम्यार्थत्वादिवशब्दस्याप्रयोग । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । नम्रितानि निम्नीकृतानि आननानि यैस्तै हरिभि अर्द्धे नभसि कृतक्रमै कृतलङ्घनै सद्भिर्न्यवर्ति निवर्तितम्, भावे लुङ् । यदन्येन पुसा लघूपायेन साधित तस्य गुरूपायेन करण समानस्य लाघवाय भवेदिति भाव । एतेन प्लुतगतिरुक्ता, तत्र गगनलघनस्य सम्भवादिति भाव ॥ ७० ॥

अन्वय —यत् ख हरे एककेन पदा अक्रामि तस्य चतुर्भि पदै अपि क्रमणे न हरिणा त्रपा—इति नम्रिताननै अर्द्धनभ कृतक्रमै तै न्यवर्ति ।

हिन्दी—जिस आकाश का हरि (वामनावतार विष्णु) ने एक चरण से ही क्रमण—लघन कर लिया था, उसका लघन चार पैरो से भी करने में हम बहुत से हरियो (घोडो) के लिये लज्जा की बात है—इसी से नीचे को मुंह करके आधे गगन के प्रति पदक्षेप करने में घोडे मानों लौट आये ।

टिप्पणी—'हरि' शब्द के चमत्कारी प्रयोग के आधार पर सुन्दर रचना । मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और श्लेष ॥७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव सैन्धवा ।
विहारदेशं तमवाप्य मण्डलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥ ७१ ॥

जीवातु—चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचरा सेनाचरा योद्धार, सिन्धुदेशभवा सैन्धवा अश्वा, 'हयसैन्धवसप्तय' इत्यमर । 'तत्र भव' इत्यण्प्रत्यय, तत्सम्बन्धिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यणा ते सादिन अश्वसादिन इत्यर्थ, जिनोक्तिषु श्राद्धतयेव जैनदर्शनश्रद्धालुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्चावृत्तिभ्योऽणि'ति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्यय, त विहारदेश सञ्चारभूमिं सुगतालयञ्च 'विहारो भ्रमणे स्कन्धे लीलाया सुगतालये' इति विश्व । अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बहुल मण्डलीमपि मण्डलाकार च अकारयन् अपिशब्दोऽत्रासिसमुच्चयार्थं । अन्यत्र मण्डली

मण्डलभ्रमणमित्यर्थः । 'बौद्धा स्वकर्मानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

अन्वय—तस्य नृपस्य चमूचराः हैयवा सादिनः जिनोक्तिषु श्रद्धया इव तं विहारदेशम् अवाप्य भूरि तुरङ्गमान् अपि मण्डलीम् अकारयन् ।

हिन्दी—उस राजा की सेना में चलनेवाले घुड़सवारों ने मानो 'जिन' (जैन धर्म के उपास्य) के वचनों में श्रद्धा रखने के कारण ही उस विहार-स्थल को प्राप्त कर अनेक अश्वों को भी जिस प्रकार जैन साधक मंडली बनाकर उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार मण्डल बनाकर चलाया (मंडलाकार घुमाया)।

टिप्पणी—अश्व सञ्चारण के कौशल का वर्णन। जैन सम्प्रदायी स्वकर्म-अनुष्ठान में मंडल बनाया करते हैं, ऐसी मान्यता है। उत्प्रेक्षा ॥ ७१ ॥

द्विषद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाब्धिरकारि गोष्पदम् ।
इतीव धारामवधार्य्य मण्डलीक्रियाश्रियाऽमण्डि तुरङ्गमैः स्थली ॥७२॥

जीवातु—द्विषद्भिरिति। अस्य नलस्य द्विषद्भिरेव पलायमानैरिति भावः दिशो विलङ्घिता । अस्य यशोभिरेवाब्धिः गोः पदं गोष्पदमकारि गोष्पदमात्र इव, 'गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु' इति सुडागमषत्वयोर्निपातः । इतीव इति मत्वेवेत्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं सोत्कर्षोऽन्वयेदिति भावः । तुरङ्गमैर्नारा-ङ्गति आत्मविक्रमवचनं पञ्चापि धारा इत्यर्थः । 'आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम् । गतयोऽमूः पञ्च धारा' इत्यमरः । अवधीर्य्य अनादृत्य मण्डलीक्रियाश्रिया मण्डलीकरणलक्ष्म्या मण्डलाकारगत्यैवेत्यर्थः । स्थली अकृत्रिमा भूः 'जानपद' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप्, अमण्डि अभूषि । मडि भूषायामिति धातोर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्वान्नुमागमः ॥ ७२ ॥

अन्वय—अस्य द्विषद्भिः एव दिशः विलङ्घिताः अस्य यशोभिः एव अब्धिः गोष्पदम् अकारि—इति इव तुरङ्गमैः धाराम् अवधीर्य मण्डलीक्रियाश्रिया स्थली अमण्डि ।

हिन्दी—इस (नल) के शत्रुओं ने ही (प्राणरक्षार्थं, भय से दिशाओं का लंघन कर दिया है, इसके यशः समूह ने ही समुद्र को गोखुर-प्रमाण का गर्त

बना दिया है—मानो यह विचार कर ही अश्वों ने 'धारा' (एक प्रकार घोडो के वेग से दौडने का प्रकार)—गति को छोडकर मडल करके दौडने की क्रिया (चक्कर काटना) की शोभा से धरती को सुशोभित किया।

टिप्पणी—नल के शत्रुओं का भय से पलायन और समुद्रपर्यंत प्रसरित उसकी कीर्ति का संकेत है। आस्कंदित (सरपट) चाल, धौरितक (दुलकी), रेचित (सीधे दौडना), वल्गित (नाचते हुए-जैसे चलना) और प्लुत (उछलकर दौड़ना)—ये पाँच प्रकार की घोडो की चाल 'धारा' कही जाती हैं। जिन विहारस्थली मे घोडों को इन प्रकारों से न चलाकर मडलाकार चलाया। उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति का सकर अलकार ॥ ७१ ॥

अचीकरच्चारु हयेन या भ्रमीर्निजातपत्रस्य तलस्थले नल ।
मरुत् किमद्यापि न तासु शिक्षते वितत्य वात्यामयचक्रचक्रमान् ॥७२॥

जीवातु—अचीकरदिति। नलश्चारु यथा भवति तथा हयेन प्रयोज्येन कर्त्रा निजातपत्रस्य तलस्थले अध प्रदेशे 'अध स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमर । या भ्रमीर्मण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेर्णौ चङ् । तासु भ्रमीषु विषये मरुद् अद्यापि वाताना समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो य'। अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचक्रमान् मण्डलगतीर्वितत्य विस्तीर्य न शिक्षते किं नाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा। शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थ । वायोरप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वय —नल निजातपत्रस्य तलस्थले हयेन या चारु भ्रमीः अचीकरत् तासु अद्य अपि मरुत् वात्यामयचक्रचङ्क्रमान् वितत्य किं न शिक्षते (अपितु शिक्षत्येव)।

हिन्दी—नल ने अपने छत्र के नीचे घोडे द्वारा जो मनोहर भ्रमण (चक्कर) कराये, आज भी क्या वायु वात्याचक्र (बवडर) रूप मे चक्कर खाते हुए उनके विषय मे शिक्षा प्राप्त नहीं करता ? (अपितु शिक्षा प्राप्त करता ही है, पर अभी तक सीख नहीं पाया)।

टिप्पणी—नल का विशिष्ट अश्वचालन-कौशल और अश्व को वायु से भी अधिक शीघ्रगामिता और सत्त्व द्योतित। उत्प्रेक्षा। ७२ ॥

विवेश गत्वा स विलासकाननं ततः क्षणात् क्षोणिपतिर्धृतीच्छया ।
प्रवालरागच्छुरितं सुषुप्सया हरिर्घनच्छायमिवाम्भसां निधिम् ॥७४॥

जीवातु—विवेशेति । ततः स क्षोणीपतिः क्षणाद्गत्वा धृतीच्छया सन्तोषकाङ्क्षया प्रवालाः पल्लवाः अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमाः 'प्रवालो वल्लकीदण्डे विद्रुमे नवपल्लवे' इत्यमरः । तेषां रागेणारुण्येन छुरितं रूषितं घनच्छायं सान्द्रानातपमन्यत्र मेघकान्ति 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः । विलासकाननं क्रीडावनम् अन्यत्र बहुविरमेदात् विलासकानां विलसमानां सर्पाणाम् आननं प्राणनं सुषुप्सया स्वप्तुमिच्छया हरिर्विष्णुरम्भसांनिधिमिव विवेश ॥ ७४ ॥

अन्वय—ततः सः क्षोणीपतिः गत्वा हरिः इव सुषुप्सया प्रवालरागच्छुरितं घनच्छायम् विलासकाननम् अम्भसां निधिं इव (विलासकाननं) धृतीच्छया क्षणात् विवेश ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पृथ्वीपति जाकर मूँगों की लाली से खचित मेघ की छाया के समान छायावाले (मेघकान्ति) बिलों के निवासी सर्पों के आवास समुद्र में जैसे हरि (विष्णु) शयन की इच्छा से प्रविष्ट हो जाते हैं, अथवा जैसे मूँगे—जैसे लाल किसलयों से सुंदर घनीछायावाले, बलस्थान से युक्त सुंदर वन में सुख से सोने की इच्छा से सिंह घुस जाता है, उसी प्रकार नवपल्लवों की लालिमा से विच्छुरित, घनीछायावाले क्रीडावन में मन बहलाने के लिए क्षण में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—राजा नल को सिंह पराक्रमी और विष्णु के समान समर्थ प्रजापालक संकेतित किया गया है । उपमा और श्लेष ॥७४॥

वनान्तपर्यन्तमुपेत्य सस्पृहं क्रमेण तन्निभवनीदिदृक्षये ।
न्यवर्तत दृष्टिभरैः पुरौकसामनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः ॥ ८५ ॥

जीवातु—वनान्तेति । अनुव्रजद्बन्धुसमाजबन्धुभिः स्नेहादनुगच्छद्बन्धुसङ्घसदृशैरित्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । पुरौकसां दृष्टिभरैः दृष्टिसमूहैः वर्तुं निवर्तनान्तपर्यन्तं काननोपान्तसीमाम् उपवनान्तपर्यन्तश्चेति गम्यते, 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । सस्पृहं साभिलाषं यथा तथा उपेत्य गत्वा

अथ अनन्तर क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णदृक्पथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्त, भावे लुङ्। यथा बन्धुभि 'उदकान्तं प्रियं पान्थमनुव्रजेदि' त्यागमात्प्रवासं समनुव्रज्य निवर्त्यते तद्वदित्यर्थ ॥ ७५ ॥

अन्वय —क्रमेण अवतीर्णदृक्पथे तस्मिन् अनुव्रजदबन्धुसमाजबन्धुभि पुरौकसा दृष्टिप्रकरं वनान्तपर्यन्तं सस्पृहम् उपेत्य न्यवर्ति।

हिन्दी—धीरे धीरे राजा के नेत्रो से अगोचर हो जाने पर अनुगमन करते बधुजनो का बधु-सदृश नगरवासियो का दृष्टि-समूह अभिलाष के साथ वन-भूमि तक जाकर लौट पडा।

टिप्पणी—जब तक राजा दिखायी पडता रहा, तब तक नगरवासी चाव से देखते रहे, जब आँख ओझल हो गया, तभी लौटे,—यह कथन पुर-वासियों की राजा के प्रति प्रीति का द्योतक है। अनुप्रास और सहोक्ति अलंकार। चतुर्थ चरण में उपमा ॥७५॥

ततः प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिपः।
निवेद्यमानं वनपालपाणिना व्यलोकयत् काननरामणीयकम् ॥७६॥

जीवातु—तत इति। तत वनप्रवेशानन्तर स जनाधिपो नल मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने कुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सन्दर्शिनी सम्मुखावस्थितवस्तु-प्रकाशिकेति यावत् 'यथामुखसम्मुखस्य दर्शन ख' इति खप्रत्ययान्तो निपात। तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्श्यमानमित्यर्थ। काननरामणीयकं वनरामणीयकं 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' इति वुञ्प्रत्यय। व्यलोकयत् अपश्यदिति स्वभावोक्ति ॥ ७६ ॥

अन्वय – ततः स जनाधिप मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखीनाङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमानं काननरामणीयकं च व्यलोकयत्।

हिन्दी—तदनन्तर वह नरनाथ मनोहर फूल और फल तथा अगुलि उठा कर वन-पालक के हाथ से सादर विज्ञापित वन की रमणीयता का अवलोकन करने लगा।

टिप्पणी—राजा का प्रकृति-प्रेम सकेतित । विद्याधर के अनुसार जाति और अनुप्रास अलंकार और मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, प्रसून, फल और वन में एक गुण मञ्जुलता अथवा रमणीयता होने से चन्द्रकलाकार के अनुसार तुल्ययोगिता ॥७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते ।
स्थितैः समाधाय महर्षिवार्द्धकाद्वने तदातिथ्यमशिक्षि शाखिभिः ॥ ७७ ॥

जीवातु—फलानीति । वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन वाल्याद्यपगमेन चोद्गतेनो-त्थितेन वातेन वायुना वातदोषेण च वेपिते कम्पिते 'खगबाल्यादिनोर्वयः' इत्यमरः । पल्लव एव करः इति व्यस्तरूपकं फलानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थितैः-स्थिरैर्वने शाखिभिर्वृक्षैः वेदशाखाध्यायिभिश्च, 'शाखाभेदे द्रुमे शाखा वेदेऽपी'ति वैजयन्ती । तदातिथ्यं तस्य नलस्यातिथ्यम् अतिथ्यर्थं कर्म, 'अतिथेर्ञ्यः' इति ञ्यप्रत्ययः । महर्षीणां वार्द्धकाद् वृद्धसमूहात् तत्रस्थवृद्धमहर्षि-सङ्घादित्यर्थः । शिक्षणागतत्वम्नमासः । 'वृद्धसंघे तु वार्द्धकमि'त्यमरः । 'वृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुञ्प्रत्ययः । अशिक्षि शिक्षितमभ्यस्तम्, अन्यथा कथमिदमाचरितमिति भावः । कर्मणि लुङ् उत्प्रेक्षेयं सा च व्यञ्जका-प्रयोगाद्गम्या पूर्वोक्तरूपकश्लेषाभ्यामुत्थापिता चेति सङ्करः ॥ ७७ ॥

अन्वय—वयोऽतिपातोद्गतवातवेपिते पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च समाधाय स्थितैः शाखिभिः वने महर्षिवार्द्धकात् तदातिथ्यम् अशिक्षि ।

हिन्दी—वय अर्थात् पक्षियों के आकर बैठने से उत्पन्न वायु से हिलते पल्लव (किसलय)-रूप हाथ में फल-फूलों को लेकर खड़े वृक्षों ने वन में वय अर्थात् तारुण्य के बीत जाने से (बुढ़ापा आ जाने पर) उत्पन्न वात दोष से काँपते पल्लव सदृश हाथ में फल-फूल लेकर खड़े विशिष्ट वेद शाखाओं के अध्ययन से सम्बद्ध बूढ़े महर्षिगण से उस (नल) के आतिथ्य की शिक्षा ली ।

टिप्पणी—नाय अतिथि का स्वागत हुआ ही करता है, किसी आश्रम में पहुँचने पर जिस प्रकार वृद्ध महर्षि राजा का आतिथ्य करते, वैसे ही वन में फल फूलों से सम्पन्न पल्लव-करों द्वारा पुराने वृक्ष कर रहे हैं । कालिदास ने वन में गोचारण करते राजा दिलीप का बाललताओं द्वारा पुष्प-वर्षा से आतिथ्य

होना चित्रित किया है (रघुवंश २।१०)। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा-श्लेष-रूपक का संकर है। विद्याधर के अनुसार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा और श्लेष। चन्द्रकलाकार के अनुसार व्यस्तरूपक श्लेषप्रतीयमानोत्प्रेक्षा का संकर।

विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कचूडामणिवर्जनार्जितम्।
दधानमाशासु चरिष्णु दुर्यशः स कौतुकी तत्र ददर्श केतकम् ॥ ७८ ॥

जीवातु—विनिद्रेति। विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्थित भृङ्गमिषात् मृगाङ्कचूडामणेरीश्वरस्य कर्तुर्वर्जनेन परिहारेणार्जितं सम्पादितं 'न केतक्या सदाशिवमि'ति निषेधादिति भावः। आशासु चरिष्णु सञ्चरणशील 'अलङ्कृञि'त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्ययः। दुर्यशोऽपकीर्तिं दधानं कैतकं केतकी-कुसुमं तत्र वने स नलः कौतुकी सन् ददर्श। अहृस्य महापुरुषस्य बहिष्कारो दुष्कीर्तिकर इति भावः। अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्नवेन तेषु दुर्यशस्त्वारो-पादपह्नुत्यलङ्कारः। 'निषेध्यविषये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुतिः' इति लक्षणात् ॥

अन्वयः—कौतुकी सः तत्र विनिद्रपत्त्रालिगतालिकैतवात् मृगाङ्क-चूडामणिवर्जनार्जितम् आशासु चरिष्णु दुर्यशः दधानं कैतकं ददर्श।

हिन्दी—(अपूर्व पुष्पादि के दर्शन को) उत्सुक उस (नल) ने वहाँ (वन में) विकसित दलों की पंक्तियों पर बैठे भौंरों के छल से चन्द्रचूड शिव से तिरस्कृत होने से प्राप्त दिगन्त में व्याप्त होते (भौंरें भी उड़कर दिगन्तरों में चले जाते हैं) अपयश को धारण किये केतकी (केवड़ा) के फूल को देखा।

टिप्पणी—काले भौंरों से आच्छादित केतक की कविसमयसिद्ध कृष्णवर्ण दुर्यश-धारण-कर्ता के रूप में चित्रण किया गया है, इस कारण अपह्नुति है। चन्द्रकलाकार ने कैतवापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का संकर माना है।

केतक के शिव द्वारा परित्यक्त होने के सम्बन्ध में दो पौराणिक प्रसिद्धियाँ हैं—(१) एक बार ब्रह्मा और विष्णु में परस्पर श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया। आकाशवाणी हुई कि जो शिवलिंग के ऊर्ध्वाधोभागों को देख सके, वही दोनों में बड़ा है। शिवलिंग की ऊँचाई नीचाई का पार तो दोनों में कोई पा न सका, पर जहाँ विष्णु ने तथ्य को स्वीकारा वहाँ ब्रह्मा ने असत्य भाषण

किया कि वे चिरकाल के उच्चावचमार्गों को देख सके हैं। साक्षी बना केतक। इस पर मिथ्यासाक्षी केतक का शिव ने त्याग किया। (२) राम-सीता-लक्ष्मण पितरों के श्राद्धार्थ गया पहुँचे। रामचन्द्र ने फल्गु नदी-तट पर पितरों का आवाहन किया और लक्ष्मण नगर में श्राद्ध सामग्री लेने गये। उन्हें जब विलम्ब हुआ तो श्रीराम भी उनकी खोज में सीता को वहीं छोड़ चले गये। वे दोनों भाई लौट भी न पाये थे कि आहूत पितरों के हाथ श्राद्धपिंड-ग्रहणार्थ प्रकट हुए। यह देख सामग्री के अभाव में सीताजी घबराने लगीं। तभी आकाशवाणी हुई कि डरो मत, बालू के श्राद्धपिंड बनाकर समर्पित कर दो। सीता ने उसी प्रकार श्राद्ध-विधान कर दिया, साक्षी हुए वहाँ उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी और केतकी का फूल। राम-लक्ष्मण के लौटने पर यह वृत्तान्त बता कर सीता ने उन्हें पुनः श्राद्ध न करने की सम्मति दी, परन्तु साक्षियों ने इस विषय में अपना अज्ञान प्रकट किया। साक्षियों के इस असत्य भाषण पर सीता ने इन्हें शाप दिये—गौ को मुखभाग से अपवित्र हो जाने का, अग्नि को सर्वभक्षी होने का, फल्गु को निर्जल होने का और केतकी पुष्प को शिव से त्यक्त होने का। तभी से केतक पुष्प सदाशिव को नहीं चढ़ाया जाता ॥७८॥

वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटुर्निधीयसे कर्णिशरः स्मरेण यत् ।
ततो दुराकर्षतया तदन्तकृद्विगीयसे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

जीवातु—वियोगेत्यादि। केतक! यद्यस्मात्त्वं स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः निजतीक्ष्णावयवैः कटुस्तीक्ष्णः केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम्। विशेषणविवक्षया पुंल्लिङ्गनिर्देशः, किन्तूद्देश्यविशेषणस्य विधेयविशेषणत्वं क्लिष्टम्। कर्णवत् कर्णि प्रतिलोमशल्यं तद्वान् शरः कर्णिशरः संनिधीयसे कण्टकवत्त्वात् केतकस्य कर्णिशरत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः। ततः कर्णिशरत्वादेव दुराकर्षतया दुरुद्धारतया तदन्तकृत्तेषां वियोगिनां मारकः मन्मथदेहदाहिना स्मरहरेण विगीयसे विगर्ह्यसे। द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यनर्हमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः। अनेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य *तद्गतविरोधिहिंसकत्वहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या,* सा चोक्तरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—यत् स्मरेण वियोगभाजां हृदि कण्टकैः कटु कर्णिशरः निधीयसे मत दुराकर्षतया तदन्तकृत् मन्मथदेहदाहिना विगीयसे (इति क्रुधा तेन केतकम् अक्रुश्यत—इति एकाशीतितमेन (८१) श्लोकेनान्वयः)।

हिन्दी—जो कि कामदेव द्वारा वियोगियों के हृदय में काँटों से क्रूर नुकीला बाण बनाकर घुसाये जाते हो, इससे बड़ी कठिनता से निकाल पाये जाने के कारण वियोगी के प्राण लेवा तुम कामदेव के देह को भस्म कर डालने वाले शंकर द्वारा विगर्हित—तिरस्कृत हो—ऐसा क्रोध में राजा ने केतक को कोसा।

टिप्पणी—केतकी का फूल देखकर वियोगियों का धीरज छूट जाता है, ऐसी मान्यता है। उसके पत्ते काँटेदार, नोकीले होते हैं। केतक पर कर्णिशरत्व का आरोप होने से रूपक और वियोगि हिंसक होने के कारण महादेव से उनके त्यक्त होने की सम्भावना में गम्या हेतूत्प्रेक्षा, फलतः दोनों का संकर अलंकार।

त्वदग्रसूचीसचिवः स कामिनोर्मनोभवः सीव्यति दुर्यशःपटौ।
स्फुटश्च पत्रैः करपत्रमूर्तिभिर्वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते ॥८०॥

जीवातु—त्वदिति। तवाग्राण्येव सूच्यः सचिवाः सहकारिणो यस्य स तथोक्तः स प्रसिद्धो मनोभवः कामिनी च कामी च कामिनौ तयोः, 'पुमान् स्त्रिये'त्येकशेषः। दुर्यशसी अपकीर्ती एव पटाविति रूपकं तानि सीव्यति कण्टकस्यूत करोतीत्यर्थः। किञ्चेति वाच्य करपत्रमूर्तिभिः क्रकचाकारैः, 'क्रकचोऽस्त्री करपत्रमि'त्यमरः। पत्रैस्तैर्वियोगिनां हृदेव दारुणि दारयतीति दारुणो विदारको भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति क्यङन्तात् लट्। दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणीतिरूपकानुप्राणितेति संकरः ॥ ८० ॥

अन्वयः—त्वदग्रसूचीसचिवः स मनोभवः कामिनोः दुर्यशःपटौ सीव्यति करपत्रमूर्तिभिः पत्रैः च वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते—इति स्फुटम्।

हिन्दी—(अरे केवड़े के फूल), तेरी नोक रूप सूई की सहायता से वह मनसिज कामिजनों के अपयशरूप वस्त्रों को सिलता है और करपत्र (आरी) के तुल्य रूप वाले तेरे पत्तों से वियोगियों के हृदयरूपी काष्ठ को चीर डालता है यह स्पष्ट है।

टिप्पणी—केवड़े की कलिका को अत्यन्त उद्दीपन माना जाता है, मानवती हैं कामिनी नारियाँ उसे देखकर उचितानुचित का मान भूल जाती हैं, केवड़े की कली देखकर उनका धैर्य भग्न होता है और पत्र-दर्शन से हृदय विदीर्ण। इसमें रूपक का सङ्कर ॥८०॥

धनुर्मधुस्विन्नकरोऽपि भीमजापरं परागैस्तव धूलिहस्तयन्।
प्रसूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽक्रुश्यत तेन केतकम् ॥८१॥

जीवातु—धनुरिति। केतक ! प्रसून धन्वा धनुर्यस्येति प्रसूनधन्वा पुष्पचापः। 'वा संज्ञायाम्' इत्यनङादेशः। अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विन्नकरः आर्द्रपाणिः सन् अत एव परागैः रजोभिः धूलिहस्तयन् पुनः पुनः धूल्युद्धूलितहस्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुःस्खलनादिति भावः, तव रेणुभिर्धूलीस्पृष्ट सन्नादेव। अतिभीमजापरमतिमात्रं दमयन्त्यासक्तं मां शरसात् शराधीनं करोति, 'तदधीने च' इति सातिप्रत्ययः, अन्यथा स्वस्थचाप न मां किं कुर्यादिति भावः। इतीत्थं श्लोकत्रयोक्तिरिति तेन राज्ञा क्रुधा केतकमाकुश्यत अपराधोद्घाटने आक्रोश्यतेत्यर्थः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—धनुर्मधुस्विन्नकरः अपि प्रसूनधन्वा तव परागैः धूलिहस्तयन्, भीमजापरं मां शरसात्करोति—इति तेन क्रुधा केतकम् अक्रुश्यत।

हिन्दी—उस (नल) ने क्रोधपूर्वक इसलिए केवड़े को कोसा कि फूलों के धनुष से टपकते मधु से गीले हाथ होने पर भी पुष्पधन्वा काम तेरे पराग की धूलि हाथ में (चिकनापन मिटाने के लिए, जिससे बाण फिसल न जाय) लगा कर ही भीमपुत्री-परायण मुझे अपने बाण का लक्ष्य बना पाता है।

टिप्पणी—इस प्रकार तीन श्लोकों में कामोद्दीपक केतक पुष्प का वर्णन किया गया। अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥८१॥

विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥८२॥

जीवातु—विदर्भेति। 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्। पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया॥' इति शब्दार्णवे। दोहदधूमो धूपश्च

तदुक्त 'मेषामिषाम्बुससेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानय प्रयोग स्याद् दाडिमीफलवृद्धये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलात्रैमांसैरजात्रिरोद्भवै । लेपिता धूपिता सूते फलतालीव दाडिमी ॥ अविक्वाथेन ससिक्ता धूपिता तसरोमभि । फलानि दाडिमी सूते सुबहूनि पृथूनि च ॥' इति । तद्वति दाडिमीद्रुमे फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्या स्तनयोर्या तुङ्गता तदाप्तये तादृगौन्नत्य लाभायेत्यर्थ । अल्पमत्यर्थं तपस्यतस्तपश्चरत, 'कमणो रोमन्थतपोभ्या वर्त्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपस परस्मैपदञ्च वक्तव्य, धूमस्य दोहदधूमस्य धयन्तीति धयान् पातृन्, धेट्–पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गे' इति उपसर्गग्रहणान्मानुवर्त्ति–पक्षत्वात् 'पाघ्रे'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि धेट शप्रत्यय इति गति । अत एव काशिकाया केचिदुपसर्गे इति नानुवर्त्तयन्तीति । अधोमुखान् घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा । महाफलार्थिन इत्थमुग्र तपस्यन्तीति भाव ॥

अन्वय —स' दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये अल तपस्यत' धूमस्य धयान् अधोमुखान् घटान् इव फलानि अपश्यत् ।

हिन्दी—उस (नल) ने दोहद अर्थात् अतिशय फल समृद्धि के लिए विहित सामग्री से धूपायित अनार के वृक्ष पर सु दर भ्रुकुटीवाली वैदर्भी (दमयन्ती) के स्तनो की उत्तुगता प्राप्त करने के निमित्त मानो कठोर तपस्या करते (दोहद का) धूम पीते नीचे को मुँहवाले घडो के तुल्य फलो को देखा ।

टिप्पणी—पहिले फूल (केतक) का, फिर फल (दाडिम) का दर्शन । उत्प्रेक्षा अलकार । समय से पूर्व ही फल पाने के निमित्त भाँति भाँति के द्रव्यो के प्रयोग को दोहद कहते हैं । कहा जाता है कि भेड के मास के पानी से सींचना और उसके केश जलाकर धूप देना दाडिम फल की समृद्धि के लिए लाभदायक होता है ॥८२॥

> वियोगिनीमैक्षत दाडिमीमसौ प्रियस्मृते' स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।
> फलस्तनस्थानविदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगाम् ॥ ८३ ॥

जीवातु—वियोगिनीमिति । असौ नल प्रियास्मृतेर्दमय तीस्मरणादिव स्पष्ट व्यक्तमुदीतेति ई गताविति धातो कर्त्तरि क्त । उदीता उद्गता कण्टका स्वावयवभूताय एव कण्टका रोमाञ्चा यस्यास्तामिति श्लिष्टरूपकम् ।

विर्णौ दृष्टाङ्के रोमाञ्चे मुद्गराग्नौ च कण्टके' इति वैजयन्ती। एतावेव स्तनौ तावेव स्थानं तत्र विदीर्णा रागी यस्यास्तीति रागि रक्तवर्णमनुरक्तञ्च यस्मिन् हृदि विशत् दोहदलक्षणान्प्रविशच्छुकास्यस्य शुकतुण्डमेव स्मरस्य किंशुकं पलाशकुसुमं तेनाशुगो बाणो यस्यास्ता दाडिमीमिव वियोगिनीं विरहिणीमैक्षत अपश्यत्। रूपकालङ्कारः। विः पक्षी वियोगिनीति च मन्यते ॥ ८३ ॥

अन्वय—असौ वियोगिनीं प्रियस्मृतेः स्पष्टम् उदीतकण्टका फलस्तनस्थान-विदीर्णरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिंशुकाशुगां दाडिमीम् ऐक्षत ।

हिन्दी—इस नल ने प्रिय की स्मृति से स्पष्टतः रोमाञ्चित होती जिसके अनार के फलों के तुल्य स्तनस्थली के मध्य (विरह से) विदीर्ण अनुरागी हृदय में तोते की चोंच के समान काम के बाण प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी विरहिणी के, अथवा परमात्म-साक्षात्कार रूप फल की बोधक तुरीयावस्था से विदीर्ण अर्थात् च्युत (तुरीयावस्था को अप्राप्त) अतएव विषयवासना में सानुराग जिसके हृदय में शुकदेव मुनि (व्यासपुत्र) के उपदेश प्रविष्ट हो रहे होने के कारण कामबाण निकलकर भागे जा रहे थे, ऐसी विषयपराङ्मुख, परम-प्रेमास्पद सच्चिदानन्दघन परमेश्वर की स्मृति अर्थात् निरन्तरध्यान करने से शीघ्र परमात्मप्राप्ति की सम्भावना से जात हर्ष के कारण स्पष्टतः जो रोमा-ञ्चित हो रही थी उस वियोगिनी अर्थात् अष्टाङ्ग योग की साधिका या विशिष्ट योगिनी के समान 'वि' अर्थात् पक्षियों से युक्त, प्रियस्मृति अर्थात् दोहद प्राप्ति के कारण, जिसमें स्पष्टतः नोक दीखने लगी थी और जिसके फल रूप स्तनों के स्थल-स्थान पर फट जाने से फलों की लालिमा स्पष्ट हो रही थी, जिसमें तोतों की चोंच रूप काम के पलाश-बाण प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी दाडिमी (अनार के पेड़) को देखा ।

टिप्पणी—वन में पक जाने के कारण जिसके फट गये फलों के बीच तोते चोंच मार रहे थे, ऐसी दाडिमी की तुलना एक विरहिणी अथवा योगिनी से की गयी है। मल्लिनाथ ने इसमें रूपक अलङ्कार माना है विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक-श्लेषों का सङ्कर। चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ श्लिष्टैकदेशविवर्ति रूपकालङ्कार है ॥८३॥

स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे क्रशीयसा स्फुटं पलाशेऽध्वजुषाम्पलाशनात् ।
स वृन्तमालोकत खण्डमन्वितं वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

जीवातु—स्मरार्द्धेति । नल स्मरस्य योऽर्द्धचन्द्र अर्द्धचन्द्राकार इषुस्तन्निभे तत्सदृशे नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रह, अत आहामर—'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादय ' इति । वियोगिना हृत्खण्डिनि हृदयवेधिनि क्रशीयसा कृशतराणामध्वजुषामध्वगामिनाम् पलाशनात् मांसभक्षणात् पलाशे पलमश्नातीति व्युत्पत्त्या पलाशमश्नाभाजि किंशुककलिकायामित्यर्थ । अन्वित सम्बद्ध वृन्त प्रसवबन्धन तदेव कालखण्डज खण्ड यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकितवान् । 'कालखण्ड यकृत्समे' इत्यमर । तच्च दक्षिणपार्श्वस्थ कृष्णवर्णो मांसपिण्डविशेष ॥८४॥

अन्वय—स स्मरार्द्धचन्द्रेषुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि क्रशीयसाम् अध्वजुषा पलाशनात् स्फुटं पलाशे अन्वितं वृन्तं कालखण्डज खण्डम् (इव) आलोकत ।

हिन्दी—उसने काम के अर्द्धचन्द्रबाण के तुल्य विरहियों के हृदय-विदारक अत्यन्त कृश (दुर्बल) राहगीरों (पथिकों) के पल (मांस) को खाने से स्पष्टत 'पलाश' नाम को सार्थक करते (पलं मांसम् अश्नातीति पलाश) पलाश में लगे कृष्णवर्ण प्रसवबन्धन (कली के निम्नभाग में लगा काला खोल) को (पथिकों के) कालखण्ड से जात खंड (कलेजे के टुकड़े) के समान देखा ।

टिप्पणी—कवि ने पलाश की लाल कली में वियोगी पथिकों के 'पलाश' (मांसाशी) द्वारा खाये गये कलेजे के टुकड़े की कल्पना की है । कली के नीचे के भाग में जो ऊपरी खोल या काला पत्ता चमा लगा रह गया है, वह उस खाये गये मांस के सूख जाने के कारण है । नारायण पंडित ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने उपमा-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के संकर का और विद्याधर ने रूपक और उत्प्रेक्षा का ॥८४॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशीकरैः ।
दृशा नृपेण स्मितशोभिकुड्मला दरादराभ्यां दरकम्पिनी पपे ॥ ८५ ॥

जीवातु—नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अन्यत्रानुलिप्तेन युवा बोधिना मकरन्दशीकरै पुष्परसकणै करम्बिताङ्गीरयामिश्रितरूपा

अन्यत्र स्विन्नाङ्गीति च गम्यते। स्मितशोभिनि विकासरम्या कुड्मला मुकुला रदनाश्च यस्यास्ता मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते। दरकम्पिनी वायुस्पर्शादीषत्कम्पिनी सात्त्विकवेपथुमती च नवा लता वल्ली तत्सदृशी कान्ता च गम्यते। नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराभ्यां भयतृष्णाभ्यामुप-क्षितेन सता पपे अवेक्षिता गाढं दृष्टा इत्यर्थः। उद्दीपकत्वात् दरः प्रिया-सादृश्यादादरश्च। 'दरोऽस्त्री शङ्खभीगर्तेष्वल्पार्थे त्वव्ययम्' इति वैजयन्ती। अत्र प्रस्तुतविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। 'विशेष-णस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात्। अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते' इति लक्षणात् ॥ ८५ ॥

अन्वय —गन्धवहेन चुम्बिता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिकुड्मला दरकम्पिनि नवा लता नृपेण दरादराभ्यां दृशा पपे।

हिन्दी - सुगन्धिद्रव्य लगाये नायक के तुल्य गंधवह (सुगंधि समीर) द्वारा चूमी जाती, प्रियस्पर्श से उत्पन्न स्वेद के समान पुष्प-रस-कणों से युक्त अंगों वाली (सस्वेदा), मुसकान के कारण स्पष्ट होती सुन्दर दंतावली के तुल्य खिली मनोहर कलिकाओं से सम्पन्न, सात्विक कंप के सदृश वायु से धीरे-धीरे हिलती नवीना सुन्दरी के समान नयी लता को राजा ने दर (डर) और आदर के साथ देखा।

टिप्पणी—यहाँ वल्लरी को उस तन्वी के तुल्य माना गया है, जो 'नवा लता'—नयी लता के समान तो है ही, उसमें 'न विद्यते बालता (जिसमें बच-पन शेष नहीं रहा) यस्याः'—तरुणी भी है। लता को चूमनेवाला गंधवह समीरण 'नवाऽऽघ्रागन्धवह' भी (बालतागन्धस्य वह' लेशः अपि यस्मिन् न विद्यते)—जिसमें नाम को भी बचपन नहीं रह गया है—तरुण है, वह चन्दन, कस्तूरी आदि की सुगन्ध लगाये शौकीन छैला भी है। राजा ने उस समीरलता के मिलन को कुतूहलजन्य आदर के साथ देखा, स्वयम् विरही–वियुक्त होने के कारण वह मिलन उसे असह्य लगा। यह दर (डर) का कारण हुआ। श्लिष्ट विशेषण, लिंग और कार्य की समानता के आधार पर लता में अप्र-स्तुत नायिका प्रतीति के कारण समासोक्ति ॥८५॥

विचिन्वती पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलात् ।
व्यलोकयच्चम्पककोरकावली स शम्बरारेर्बलिदीपिका इव ॥८६॥

जीवातु—विचिन्वतीरिति । पन्थानं गच्छन्ति नित्यमिति पान्थाः नित्यपथिकाः, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यणप्रत्ययः पन्थादेशश्च । त एव पतङ्गाः पक्षिणः 'पतङ्गः पक्षिसूर्ययो' इत्यमरः । तेषां हिंसनैः वधैः अपुण्यकर्माण्येव अलयः कज्जलानीवेत्युपमितसमासः । तेषां छलादित्यपह्नवालङ्कारः । विचिन्वतीः संगृह्णतीः हिंसापापकारिणीरित्यर्थः । चम्पककोरकावलीः शम्बरारेर्मनसिजस्य बलिदीपिकाः पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नलो व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

अन्वय—स अलिकज्जलच्छलात् पान्थपतङ्गहिंसनैः अपुण्यकर्माणि विचिन्वतीः शम्बरारेः बलिदीपिका इव चम्पककोरकावली व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उस (राजा) ने भ्रमर रूप काजल के व्याज से पथिक रूपी पतंगों को जला मारने के पाप को इकट्ठा करती कामपूजा में प्रयुक्त की जाने वाली दीप वर्तिकाओं (शमा) की भाँति प्रतीत होती चम्पे की कलियों को देखा ।

टिप्पणी—एक मान्यता यह है कि भौंरा चम्पा पुष्प पर नहीं जाता, यदि जाता है तो मर जाता है । सो चम्पा के पुष्प पर आसक्त हो चिपके भौंरे दीपिका में लगे काजल—कालौंस के तुल्य हैं, कृष्णवर्ण होने से जिसे अपुण्य-कर्म कहा गया है । चम्पक इतना कामोद्दीपक माना गया है कि जिसे देख विरही मर जाते हैं । विद्याधर ने इसमें रूपक अपह्नुति और उपमा अलंकार का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने अपह्नव और उत्प्रेक्षा का । चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ कैतवापह्नुति उत्प्रेक्षा उपमा का अंगांगिभाव संकर है ॥८६॥

अमन्यतासौ कुसुमेषुगर्भजं परागमन्धङ्करणं वियोगिनाम् ।
स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारये तदङ्गभस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अमन्यतेति । असौ नलः कुसुमान्येव इषवः कामबाणास्तेषां गर्भजं गर्भजातं वियोगिनामिति कर्मणि षष्ठी । अन्धाः क्रियन्तेऽनेनेत्यन्धङ्करणं 'आढ्यसुभगे'त्यादिना च्व्यर्थे ख्युन्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषदि'त्यादिना मुमा-

नमः । स पराग पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं सतस्तु तस्य पुरारेरङ्गे भस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । पुरा पुरारये ये मुक्तास्त एवैते पुरोवर्त्तिन कुसुमेषव इत्यभिमान', अन्धयैषा तदङ्गभस्मसङ्गोत्प्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

अन्वय—असौ कुसुमेषुगतं वियोगिनाम् अन्धङ्करण पराग पुरा स्मरेण पुरारये मुक्तेषु शरेषु सङ्गत तदङ्ग-भस्म इव अमन्यत ।

हिन्दी–इसे (नल को) फूलों के भीतर का वियोगियों को अधा बना देने वाला पराग प्राचीन काल में काम द्वारा शिव पर छोड़े गये कुसुम बाणों पर लग गयी शिव के अग की भस्म के समान प्रतीत हुआ ।

टिप्पणी—आखों मे भस्म पड जाने पर दिखाई नहीं देता, कुसुमपराग भी उद्दीपक और वियोगियों को अधा करदेनेवाला है । उत्प्रेक्षा और शब्दा-लकार अनुप्रास ॥८७॥

पिकाद्वने शृण्वति भृङ्गहुङ्कृतैर्दशामुदञ्चत्करुणा वियोगिनाम् ।
अनास्थया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दूनः स्थलपद्मिनी नल ॥ ८८ ॥

जीवातु—पिकादिति । वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तु सकाशात् भृङ्गहुङ्कृतैर्वियोगिनां दशामलिहुङ्कारकृता दुःखावस्थामित्यर्थः । उदञ्चत्करुणा विकसद्वृक्षविशेषमुदञ्चत्करुणं यथा तथा शृण्वति सति, 'करुणास्तु रसे वृक्षे कृपाया करुणा मते'ति विश्वः । अनास्थया श्रोतुमनिच्छया सून प्रसूनमेव कर प्रसारयतीति प्रसारिणी पुष्परूपहस्तविस्तारिणी तयोक्तालनिह्नवया करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थः । सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षेयम् । स्थलपद्मिनीं नलो दून परितप्त सन् दूङ् कर्तरि क्तः; 'स्वादिभ्य' इति निष्ठानत्वम् । ददर्श ॥ ८८ ॥

अन्वय–दून नलः पिकात् भृङ्गहुङ्कृतैः वियोगिना दशाम् वने उदञ्चत्करुणा शृण्वति सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीम् अनास्थया ददर्श ।

हिन्दी—सतप्त नल ने कोकिल और भौरों के गुजार से विरहिजनो की

दशा को विकसित होते करुण वृक्षों से युक्त वन में करुणा से परिप्लावित हो सुनते पुष्प रूप कर फैलाये स्थलकमलिनी को अनिच्छापूर्वक देखा ।

टिप्पणी—वन में कोकिल कूजन था, भ्रमर-गुंजार था, स्थल-पद्मिनी थी, जिस पर कमल खिले हुए थे । इन सब को देखकर वियोगी जन कष्ट पाते हैं । राजा की श्रवण में अनास्था का कारण है मानो स्थल-पद्मिनी का कमल कर फैला कर निषेध कि क्या किसी की करुणकथा—दुर्दशा की गाथा सुनते हो ? यह निवारण कूजन, गुंजार, खिले कमल—सब की अनित्यता का सूचक है, इसके प्रति अनास्था ही उचित है । करुणा ही उचित है । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकानुप्राणिता गम्योत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, जिसे चन्द्रकलाकार ने सब का अंगांगिभाव संकर कहा है ।

रसालसाल: समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः ।
समीरलोलैर्मुकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तर्जनाभियम् ॥ ८९ ॥

जीवातु—रसालेति । अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमर-झङ्कार एव रोषेण या हुङ्कृतिर्हुङ्कारो यस्य स समीरलोलैर्वायुचलैर्मुकुलै-रङ्गुलिभिरिति भाव । वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थित, ददाते सन् प्रत्यय 'सनिमीमे'त्यादिना इगादेश, अत्र लोपोऽभ्या-सस्ये'त्यभ्यासलोप, 'सस्यार्धधातुके' इति सकारस्य तकार । रसालसालश्चूत-वृक्ष समदृश्यत सम्यग्दृष्ट । द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेयं तर्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ८९ ॥

अन्वय—अमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोषहुङ्कृतिः समीरलोलैः मुकुलैः वियोगिने जनाय तर्जनाभियं दित्सन् इव रसालसालः समदृश्यत ।

हिन्दी—उस (राजा नल) ने भनभनाते भ्रमरों के गुंजाररूप क्रोध की हुङ्कारी से युक्त समीरण में डोलते बौर द्वारा वियोगियों को डाँटने-धमकाने-डराने की इच्छा करते जैसे आम्रवृक्ष को देखा ।

टिप्पणी—वियोगियों के संताप देने वाले उद्दीपन बौराये आम का वर्णन मल्लिनाथ के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर, विद्याधर के अनुसार रूपकानुप्राणित-उत्प्रेक्षा ।

दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकं पुनः पुनर्मूर्च्छ च मृत्युमृच्छ च ।
इतीव पान्थं शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट स लोहितेक्षणान् ॥९०॥

जीवातु—दिने दिने इति । रे इति हीनसम्बोधने । त्वं दिने दिने अधिकं तनु एधि अधिकं कृशो भव, अस्तेर्लोट् सिप् 'हुझल्भ्यो हेर्धि'रिति धित्वम् 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' इति एत्वम् पुनः पुनः मूर्च्छ च मृत्युं मरणमृच्छ च इति पान्थं नित्यपथिकं शपतः पथिकानाक्रोशत इवेत्युत्प्रेक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र स्वभावतोऽन्यत्र क्रोधादिति भावः पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणो ब्राह्मणांश्च स नल सखेदमैक्षिष्ट । उद्दीपकत्वादुभयत्रापि तत्रत्यदुःखमेवेति भावः ॥ ९० ॥

अन्वयः—रे, त्वं दिने दिने अधिकं तनुः एधि, पुनः पुनः मूर्च्छ च, मृत्युम् ऋच्छ च—इति स पान्थं शपतः इव लोहितेक्षणान् द्विजान् इव पिकान् द्विजान् सखेदं ददर्श ।

हिन्दी—अरे, तू दिन दिन और अधिक दुर्बल हो, बार-बार मूर्च्छित और मृत्यु को प्राप्त हो,—इस प्रकार राही को शाप देते लाल आँखें किये ब्राह्मणों के तुल्य कोकिलविहगों को उस (राजा) ने खेदसहित देखा ।

टिप्पणी—कोकिल की आँखें तो लाल ही होती हैं, इन्हीं के आधार पर उनके क्रोधी ब्राह्मणसम होने की कल्पना की गयी है, जो पास होकर जाने वाले को भी यों ही निष्कारण कोसता है । ऐसे लोगों को देखकर खेद होना स्वाभाविक है । कोकिला शब्द को सुनकर वियोगी परदेशी पथिक मन्त्रस्त और मूर्च्छित होते हैं । 'द्विज' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग के कारण उपमा व्यङ्ग्य है ।

अलिस्रजा कुड्मलमुच्चशेखरं निपीय चाम्पेयमधीरया दृशा ।
स धूमकेतुं विपदे वियोगिनामुदीतमाशङ्कितवानशङ्कितः ॥ ९१ ॥

जीवातु—अलिस्रजेति । अलिस्रजा भ्रमरपङ्क्त्या उच्चशेखरमुन्नतशिरोभूषणम् अलिमालिनाङ्कमित्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरावि'त्यमरः । चाम्पेयं चम्पकविकारं कुड्मलं मु 'अथ चाम्पेयः चम्पको हेमपुष्पकः' इत्यमरः । नन्वयुक्तमिदं 'न षट्पदो गन्धफलीमजिघ्रदि'त्यादावलीनां चम्पकस्पर्शाभावप्रसिद्धेरिति चेद् नैव किन्तु स्पृष्टस्य तावत्तावाप्यपरोक्ति क्वचित् केषाञ्चित् तत्परिहारः

अथवा चाम्पेय नागकेसर 'चाम्पेय केसरो नागकेसर काञ्चनाह्वय' इत्यमर । अधीरया दृशा निपीय विकस्वदृष्टया गाढ दृष्ट्वा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्टमुत्प्रेक्षितवान् । स नल 'अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षा शङ्कामाचक्षते बुधा' इति लक्षणात् । वियोगिना विपदे उदीतमुत्थित धूमकेतुमशङ्कत अतर्कयदित्युत्प्रेक्षालङ्कार ॥ ९१ ॥

अन्वय—अलिसखा उच्चशेखर चाम्पेय कुड्मलम् अधीरया दृशा निपीय आशङ्कितवान् स वियोगिना विपदे उदीत धूमकेतुम् अशङ्कत ।

हिन्दी—भ्रमरमाल मे जिसका शिरोभाग उन्नत हो रहा था, ऐसी चम्पा की कली को अधीर दृष्टि से देखकर आतङ्कित उस (नल) ने वियोगियो के विनाशार्थ उदित धूमकेतु की आशका की ।

टिप्पणी—लबी चोटी के समान जिसपर भ्रमरावली लिपटी है, उस चपा की कली मे विनाशकारी धूमकेतु की आशका यह द्योतित करती है कि विरहिजनो को, उसका देखना असह्य है । भौरा प्राणघाती होने से चपकपुष्प पर नहीं जाता—इस मान्यता को ध्यान मे रखते हुए मल्लिनाथ 'चाम्पेयकुड्मल' का अर्थ 'नागकेसर' किया है, जो पीले रग का फूल होता है । उत्प्रेक्षा अलकार ॥९१॥

गलत्परागं भ्रमिभङ्गिभि पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।
स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कण शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

जीवातु—गलदिति । स नलो गलत्पराग निर्यद्रजस्क भ्रमिभङ्गिभि भ्रमणप्रकारैरुपलक्षित पतत् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि सक्तालिकुल नागकेसर कुसुमविशेष मारनाराचनिघर्षणे स्मरशरकषणे स्खलन्त लुठन्त ज्वलन्तश्च कणा स्फुलिङ्गा यस्य त शाण निकषोपलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु निकष कष' इत्यमर ॥ ९२ ॥

अन्वय—स गलत्पराग भ्रमभङ्गिभि पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसर मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्कणं शाणम् इव व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उस (राजा) ने जिससे पराग झड रहा था और जिसपर

मँडरा-मँडरा कर गिरती भौंरों की पंक्ति सशब्द थी, उस नागकेसर पुष्प को काम-बाणों की रगड़ से जिसमें चिनगारियाँ निकल रही हों, ऐसी सान (लोहे की बनी छुरी, चाकू, तलवार, बाण आदि रगड़कर तेज करने का यन्त्र) के समान देखा।

टिप्पणी--नागकेसर का पराग-झाड़ता फूल मानों काम-बाणों को पैना करने का यन्त्र है, उसकी मारक शक्ति का सहायक। 'मार' शब्द का सार्थक प्रयोग। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और भ्रान्ति अलङ्कार, मल्लिनाथ ने (और चन्द्रकलाकार ने भी) केवल उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य सुगन्धि पातुकाः शिलीमुखालीः कुसुमाद् गुणस्पृशः।
स्वचापदुर्निर्गतमार्गणक्रमात् स्मरः स्वनन्तीरवलोक्य लज्जितः ॥ ९३ ॥

जीवातु—तदङ्गमिति। सुगन्धि शोभनगन्धं 'गन्धस्ये'त्यादिना समासान्त इकारः। तदङ्गं तस्य नलस्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुणा गन्धादिर्मौर्वी च, 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। तत्स्पृशः स्पृशतीति स्पृक् 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' कुसुमादपादानात् पातुकाः धावन्तीः, 'लषपत' इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः। स्वनन्तीर्ध्वनन्तीः शिलीमुखालीः अलिपङ्क्तीः बाणपङ्क्तीश्चावलोक्य स्मरः स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गता विषमनिर्गता ये मार्गणा बाणास्तद्भ्रमाद्धेतोर्लज्जितोऽभवत् न्यूनमिति शेषः। दुर्निर्गतेषवो ह्यधिकं स्वनन्तीति प्रसिद्धं। अत्र स्वनच्छिलीमुखेषु दुर्निर्गतमार्गणभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः, स च शिलीमुखेति श्लेषानुप्राणितादुत्थापिता चेयं स्मरस्य लज्जितत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९३ ॥

अन्वय—सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुसुमात् पातुकाः स्वनन्तीः शिलीमुखालीः अवलोक्य स्वचापदुर्निर्गतमार्गणक्रमात् स्मरः लज्जितः।

हिन्दी—सुगन्धयुक्त नल के अङ्गों की दिशा में सुगन्ध गुण को धारण करते पुष्प से उड़कर जाती (अथवा 'गुणस्पृशः कुसुमात् सुगन्धि तदङ्गम् उद्दिश्य पातुकाः'—अन्वय करके 'सुगन्धित फूल से भी अधिक सुगन्धमय नल के अङ्गों की ओर उड़ी जाती') भनभनाती भ्रमरावलि को देखकर उसे कुसुमधनु के गुण अर्थात् प्रत्यञ्चा से छूटी नाद करती शिलीमुख अर्थात् बाणों की माला

समस्त अपने धनुष् से दुर्निगत अर्थात् लक्ष्य से भटके बाण की भ्रांति के कारण कामदेव लजा गया।

टिप्पणी—रदघ्रष्टता के कारण काम का भ्रम में पड़ लज्जित होना,—इस आधार पर भ्रांति और श्लेषानुप्राणिता उत्प्रेक्षा का संकर ॥९३॥

मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभम्।
स वारनारीकुचसञ्चितोपमं ददर्श मालूरफलं पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—मरुदिति। मरुता वायुना ललत्पल्लवानां चलत्किसलयानां कण्टकैस्तीक्ष्णाग्रैरवयवैः क्षतमन्यत्र विलसद्विटनखैः क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परितः प्रसरत् चन्दनसारस्येव सौरभं यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपमं सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कारः। 'वारस्त्री गणिका वेश्ये'त्यमरः। कुलाङ्गनानखक्षतासम्भावितयाद्वारविशेषण, पचेलिमं स्वतः पक्वं कर्मकर्त्तरि 'केलिमर उपसङ्ख्यानमि'ति पचेः केलिमर्प्रत्ययः। मालूरफलं बिल्वफलं 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूर श्रीफलावपी'त्यमरः। स नलो ददर्श ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स मरुल्ललत्पल्लवकण्टकैः क्षतं समुच्चरच्चन्दनसारसौरभं वारनारीकुचसञ्चितोपमं पचेलिमं मालूरफलं ददर्श।

हिन्दी—उस (नल) ने वायु से झूमते पल्लवों और काँटों से कटे-फटे, चन्दन गन्ध से भी श्रेष्ठ सुगन्ध छलकाते, (अतएव) मरुत् देव के समान पल्लव अर्थात् विलासी विट के काँटों के समान तीक्ष्ण नखों (अथवा विलासी के पल्लव-सम हाथ के काँटे अर्थात् नखों) के क्षत-चिह्न से युक्त, चन्दन, कपूर आदि की सुगन्ध छलकाते वारांगना के कुच का सादृश्य अर्जित करनेवाले पके बिल्वफल को देखा।

टिप्पणी—बिल्वफल का 'वारनारीकुचसञ्चितोपमं' इस आशय से कहा गया कि कुलनारी के नख क्षत का प्राकट्य उचित नहीं होता। उपमा अलङ्कार।

युवद्वयीचित्तनिमज्जनोचितप्रसूनशून्येतरगर्भगह्वरम्।
स्मरेषुधीकृत्य धिया भियान्धया स पाटलायाः स्तवकं प्रकम्पितः ॥ ९५ ॥

जीवातु—युवेति । युवा च युवती च तयोर्युवयोर्द्वयी मिथुन तस्याश्रितयो वर्मणोनिमज्जने यदलान्युट् उचितैः क्सैः प्रसूनैः पुष्पदार्णैः पूर्णेतरदशून्य पूर्णं तदेवाह्वर । निकुहर यस्य तत् पाटलाया पाटलवृक्षस्य स्तबक कुसुमगुच्छमित्यादधया मदमूढया धिया मतवन्यभ्रान्त्येवर्थं । स्मरेषुधीकृत्य कामतूणीकृत्य तदा विभ्रम्य दृष्ट्वर्थ, अत एव भयात् प्रकम्पितवदकम्पे । अत्र पाटलस्तवकं मदनतूणीरभ्रमात् भ्रान्तिमदलङ्कार । 'कविसम्मतसादृश्याद्विषये विहितात्मनि । आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मत ॥' इति लक्षणात् ॥

अन्वय —युवद्वयोविमनिमज्जनोचितप्रसूनपूर्णवरान्तराह्वर पाटलाया स्तबक निदान्धया धिया स्मरेषुधीकृत्य न प्रकम्पित ।

हिन्दी—तरुण-तरुणी के विषे चित्तों के मध्य डूब जाने योग्य फूलों से जिसका भीतरी भाग परिपूर्ण है, ऐसे पाटल के गुच्छे में नय से लगी बुद्धि (विवेकहीनता) के कारण कामबाणों की भ्राति से वह कपित होने लगा ।

टिप्पणी—राजा ने समझा कि यह पाटलस्तबक नहीं बाणों से परिपूर्ण कामदेव का तूणीर है । उद्दीपन । मल्लिनाथ ने यहाँ भ्रांतिमान् अलङ्कार का निर्देश किया है, विद्याधर ने रूपक और अनुप्रास का ॥९५॥

मुनिद्रुम कोरकित सितिद्युतिर्वनेऽमुनाऽमन्यत सिंहिकासुत ।
तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षित कलाकलाप किल वैधव वमन् ॥ ९६ ॥

जीवातु—मुनीति । अमुना नलेन वने कोरकित सञ्जातकोरक सितिद्युति पत्रेषु कृष्णच्छवि मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्ष तमिस्रपक्षे त्रुटिकूटेन क्षयव्याजेन भक्षितम् भक्षितत्वे कुत क्षय ? इति भाव । अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्नवेन भक्षणापह्नवभेद । वैधव चन्द्रसम्बन्धि 'विधु सुधांशु शुभ्रांशुरि' त्यमर । कलाकलापङ्कलासमूह वमन् उद्गिरन् सिंहिकासुतो राहुरमन्यत किल मनु ? अत्र कोरकितसितिद्युतिराभ्या मुनिद्रुमस्येन्दुकलाकलापवमनविशिष्टराहुत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्तापह्नवोत्थापितेति सङ्कर ॥ ९६ ॥

अन्वय —वने कोरकित सितिद्युति मुनिद्रुम अनेन तमिस्रपक्षत्रुटिकूटभक्षित वैधव कलाकलाप वमन् सिंहिकासुत अमन्यत किल ।

हिन्दी—वन में (शुभ्र) कलियों से युक्त काले रंग के अगस्त्य वृक्ष को राजा ने काले पाख में हुए चन्द्रकला क्षय के कूट (व्याज, मिस) से खाये विधु (चन्द्र) की कलाओं का वमन करता सिंहिकापुत्र राहु समझा।

टिप्पणी—अगस्त्य वृक्ष के पत्ते काले होते हैं, परन्तु कलियाँ उज्ज्वल शुभ्र, इसी कारण वृक्ष में राहु की और कलियों में चन्द्रकलाओं की संभावना की गयी है। राजा के मन में अगस्त्यवृक्ष को देखकर डर सा लगा उसे दुष्ट ग्रह राहु समझकर। 'प्रकाश'-कार ने सिंहिका-पुत्र का अर्थ सिंहिनी का जाया सिंह करके यह भी कल्पना की है कि वन में खाये गये किसी खरगोश आदि शुभ्र पशु को उगलता यह सिंह है, जिसे देख राजा को डर लगा। वस्तुत विरही राजा को अगस्त्यवृक्ष कष्टदायक लग रहा था। यह भी माना जा सकता है कि अगस्त्यवृक्ष को राहु रूप में देख राजा तुष्ट हुआ कि अब वियोगियों को सतप्त करनेवाला चन्द्रमा तो राहु के डर से सताने को नहीं रहेगा, पर जब उसने देखा कि खाये चन्द्र को राहु उगल रहा है, तो पुन चन्द्र-भय राजा को हो गया। मल्लिनाथ ने इस पद्य में उत्प्रेक्षा-अपह्नुति के सकर का निर्देश किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षारूपक-अपह्नुति-श्लेष के सकर का।

पुरोहठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदा वृतेर्वीरुधि नद्धविभ्रमा।
मिलन्निमील विदधुर्विलोकिता नभस्वतस्त कुसुमेषु केलय ॥ ९७ ॥

जीवातु—पुर इति। पुरोऽग्रे हठात् झटित्याक्षिप्ता आकृष्टा तुषारेण हिमेन पाण्डराणा छदाना पत्राणा तुषारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वल्कस्य चावृतिरावरण येन तस्य नभस्वतो वायो वीरुधि लतायां नद्धा अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासाश्च याभ्यान्ता कुसुमेषु विषये केलय क्रीडा कुसुमेषु केल्य कामक्रीडाश्च विलोकिता सत्यस्त नृप नल मिलन्निमीलो मिलन यस्य त विदधु निमीलिताक्षमकुरित्यर्थ। विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दु सहदु खहेतुत्वात् अयत्र ('नेक्षेतार्क न नग्ना स्त्री न च सस्पृष्टमैथुनामि'ति निषेधादिति भाव।) अत्र प्रस्तुतनभस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतकामुकविरह-प्रतीते समासोक्तिरलङ्कार ॥ ९७ ॥

अन्वय—पुर (पुरा) हठाक्षिप्ततुषारपाण्डरच्छदावृते नभस्वत वीरुधि नद्धविभ्रमा कुसुमेषु केलय त मिलन्निमील विदधु।

हिन्दी—सम्मुख (पहिले) बलात् तुषार ने पाण्डु हुए पत्ते रूप आवरण (वस्त्र) को खींचने वाले वायु की लता से सम्बन्ध रखनेवाले हिलने-डोलने रूप विलास से युक्त फूलों के साथ क्रीडाएँ देख राजा ने आँखें मूँद लीं।

टिप्पणी—'नवविभ्रमा' का 'वि' अर्थात् पक्षियों के भ्रम अर्थात् इधर-उधर उड़ते रहने का अर्थ किया जाता है। वायु नायक है और वीरुत्—लता नायिका, जिसका पत्र रूप वस्त्र नायक बलात् उतार रहा है, इस मनोरम दृश्य को न देखने की इच्छा से लज्जा अथवा विरह के कारण राजा ने आँखें मूंद ली। याज्ञवल्क्य का भी इस विषय में निर्देश है कि नग्न अथवा रतिक्रीडा में संलग्न नारी को देखना उचित नहीं है। समासोक्ति अलङ्कार।

गता यदुत्सङ्गतले विशालतां द्रुमाः शिरोभिः फलगौरवेण ताम्।
कथं न धात्रीमतिमात्रनामितैः स वन्दमानानभिनन्दति स्म तान् ? ॥९८॥

जीवातु—गता इति। द्रुमा यस्या धात्र्या उत्सङ्गतले उपरि देशे च विशालतां विवृद्धिं गताः तां धात्रीमनुवत्सु उपमातरं च 'धात्री जनन्यामलकी वसुमत्युपमातृषु' इति विश्वः। 'धा कर्मणि ष्ट्रन्' इति दधातेः ष्ट्रन्प्रत्ययः। फलगौरवेण फलभरेण पुष्टत्वातिशयेन च हेतुना अतिमात्रं नामितैः, प्रह्वीकृतैः नम्रैरिन्द्रियविकल्पाद्यप्रत्यभावः। शिरोभिः उत्तमाङ्गैरिव वन्दमानान् स्पृहया-ऽभिवादयमानानिव तान् प्रकृतान् द्रुमान् अत एव यच्छब्दानपेक्षी स नलः कथं नाभिनन्दति स्म अभिनन्दितवानेवेत्यर्थः। वृक्षाणां क्षेत्रानुरूपफलस्य सम्पत्तिं पश्यतां च मातृभक्तिं को नाम नाभिनन्दतीति भावः। अत्रापि विशेषण-सामर्थ्यात् पुत्रप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ९८ ॥

अन्वय—स यदुत्सङ्गतले द्रुमाः विशालतां गताः फलगौरवेण अतिमात्र-नामितैः शिरोभिः तां धात्रीं वन्दमानान् तान् कथं न अभिनन्दति स्म ?

हिन्दी—वह राजा जिसकी गोद में पलकर वृक्ष बड़े हुए, फलभार से अतिशय नम्र सिर करके (सिर झुका) उस धात्री ध्यान करने-हारी धर-माँ (धरती) की वंदना करते उन वृक्षों का अभिनन्दन क्यों न करता ? (अथवा यह अर्थ भी कि राजा ने (विरही होने के कारण कुछ भी मन न प्रतीत होने से) अभिनन्दनीय वृक्षों का भी अभिनन्दन नहीं किया।)

टिप्पणी—कर्तव्य करने वालों का सभी अभिनन्दन करते हैं, सो राजा ने वदना करते वृक्षों को प्रशंसा की, अथवा वियोग मे राजा को कुछ भी—फल, फूल, वृक्ष, लता–मला नही लगता था, अत उसने कर्तव्य पालक वृक्षों को भी उपेक्षा कर दी। समासोक्ति ॥९८॥

नृपाय तस्मै हिमित वनानिलै सुधीकृत पुष्परसैरहर्मह ।
विनिर्मित केतकरेणुभि सित वियोगिनेऽधत्त न कौमुदी मुद ॥९९॥

जीवातु—अनातपस्य चन्द्रिकात्वनिरूपणाय तद्धर्मान् सम्पादयति–नृपायेति। वनानिलै उद्यानवातै हिम शीतल कृत हिमित, तत्करोतेर्ण्यन्ताद् कर्मणि क्त। पुष्परसैर्वनवाताहृतै मकरन्दै सुधीकृतममृतीकृत तथा केतकरेणुभि सित विनिर्मित शुभ्रीकृतम् अह्नो महस्तेज अहर्मह आतप 'रो सुपी'ति रेफादेश। तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपक वियोगिने तस्मै नृपाय मुद प्रमोदान् नाधत्त न कृतवती, प्रत्युतोद्दीपिकैवाभूदिति भाव ॥ ९९ ॥

अन्वय—वनानिलै हिमित पुष्परसै सुधीकृत केतकरेणुभि सित विनिर्मितम् अहर्मह तस्मै वियोगिने नृपाय कौमुदी मुद न अधत्त।

हिन्दी—कानन समीरण से अतिशीतल, फूलों के रस द्वारा अमृत तुल्य और केतक-पराग-कणों से शुभ्र बनाया गया (अतएव सब प्रकार से सुख दायक बनाया गया) भी दिन का प्रकाश उस विरही राजा को चाँदनी—जैसा सुख न दे पाया।

टिप्पणी—ताप कम करने के सभी उपाय विरही राजा को व्यर्थ लगते थे। 'तस्मै वियोगिने नृपाय वनानिलै... नृपाय मुद अधत्त, कौमुदी न', इस प्रकार अन्वय करके यह अर्थ भी किया जाता है कि दिन के प्रकाश ने ही राजा को मोद दिया, चाँदनी ने नहीं, क्योंकि विरहियों को चाँदनी पीडादायिनी मानी जाती है। 'मुद न अधत्त? अपितु अधत्त एव'—इस प्रकार काकुवक्रोक्ति मानकर यह अर्थ भी किया जाता है कि क्या सुखदायक बने दिन के प्रकाश ने चाँदनी जैसा मोद नहीं दिया, अपितु दिया। 'कौमुदी' के समान 'अहर्मह' को मानने पर उपमा अथवा रूपक अलङ्कार। वनानिल

इत्यादि में सुखदायक बना होने पर भी 'अहर्नह' मोद भी न दे सका—इस अर्थ में कारण होने पर भी कार्य की अनुत्पत्ति निमित्त विशेषोक्ति है, विद्याधर ने ऐसा ही माना है ॥९९॥

वियोगभाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव साक्षादमृतांशुमाननम् ।
पिकेन रोषारुणचक्षुषा मुहुः कुहूरुताऽऽहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

जीवातु—वियोगेति । वियोगभाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदाननमेव साक्षादमृतांशु प्रत्यक्षचन्द्रं पश्यता अत एव रोषादरुणापि चन्द्रता न जहातीति कोपादिवारुणचक्षुषा पिकेन चन्द्रवैरिणी कुहूरिति कालगत एव कुहूर्नष्टचन्द्रकला अमावास्येति शिल्ष्टस्वरूप, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुकलयोरपी'ति विश्व । मुहुरानयत आहूता विनिन्दुत्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति सङ्करः । अस्य च प्रत्येकमेव कुहूराह्वानीया स्यात् तत्कान्तिसाहित्यसम्भवादिति भाव ॥

अन्वय—वियोगभाज अपि नृपस्य तत् आननम् एव साक्षात् अमृतांशु पश्यता रोषारुणचक्षुषा पिकेन कुहूरुता मुहुः चन्द्रवैरिणी आहूयत ।

हिन्दी—विरही भी राजा के उस मुख को ही साक्षात् (प्रत्यक्ष) अमृत दीधिति चन्द्र के समान देखते क्रोध से आँखें लाल किये कोकिल ने 'कुहू-कुहू' बोलकर बारम्बार चन्द्रमा की शत्रु 'कुहू' अर्थात् अमावस्या को पुकारा ।

टिप्पणी—वियोग पीड़ित होने पर भी राजा का मुख रमणीय रहा, यह भाव है, जिसे देखकर वियोगियों को दुःख देने वाले कोकिल ने क्रुद्ध हो चन्द्रवैरिणी अमावस्या को पुकारा । कोकिलरव वियोगी की पीड़ा को बढ़ाता है । रूपक-उत्प्रेक्षा का सङ्कर ॥१००॥

अशोकमर्थान्वितनामताशया गतान् शरण्यं गृहशोचिनोऽध्वगान् ॥
अमन्दमावर्जितमिव पल्लवैः प्रदीप्तकामज्वलदस्त्रजालकम् ॥ १०१ ॥

जीवातु—अशोकमिति । एष नल पल्लवैः प्रदीप्तानि प्रतिदीप्तानि सच्छन्नानि कामस्य ज्वलदस्त्राणि वह्निरूपाणि जालकानि जालकानि वाल्कुसुमपुञ्जा येन न पल्लवसञ्छन्नकुसुमस्तबकमात्रमित्यर्थं । अन्यथा तद्दर्शनादेव ते प्रियेरन्निति भाव । अशोकमत एवार्थान्वितनामता नास्ति शोकोऽस्मिन्निति वर्धनता तत्कृतया आशया अस्मानप्यशोकान् करिष्यतीत्यभिलाषेण शरणं रक्षो

साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति शेष । 'शरणं रक्षणे गृहे' इति विश्व । 'तत्र साधुरि'ति यत्प्रत्यय । आगतान् शरणागतानित्यर्थ । गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिन गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्यथ । 'गृह पत्न्या गृहे स्मृत' इति विश्व । अध्वगान् प्रोषितान् अवन्तमिव शरणागतरक्षणे महाफल-स्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमिवेत्यर्थ । अमन्यत ज्ञातवान् । अलमीरूणा तद्गोपनमेव रक्षणाय इति भाव ॥ १०१ ॥

अन्वय —एष पल्लवैः प्रतीष्टकामज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थान्वित-नामताशया शरण्य गतान् गृहशोचिन अध्वगान् अवन्तम् इव अमन्यत ।

हिन्दी—उस (राजा) ने पल्लवरूप करों में काम के देदीप्यमान अस्त्र रूप नवकलिकाओं को ग्रहण किये अशोक वृक्ष को 'यह वृक्ष अपना 'अशोक' (शोकरहित, शोकनाशक) नाम सार्थक करेगा'—इस आशा से शरण गये घर के सोच में व्याकुल पथिकों की रक्षा करनेवाला जैसा माना । अथवा काम के आग्नेय अस्त्र पल्लव-करों में लिये शरण आये पथिकों की हत्या करनेवाला जैसा माना ।

टिप्पणी—अशोक के रक्तवर्ण पत्रों की समता काम के देदीप्यमान आग्नेय अस्त्रों से की गयी है । कामोद्दीपन करनेवाला अशोक उन वियोगी पथिकों की, जो उसके 'अशोक' नाम से आकृष्ट हो उसकी शरण आये हैं काम से उनकी रक्षा के लिए अस्त्र लेकर सन्नद्ध है अथवा अवन्तम्' का 'व्यापादयन्तम्' अर्थ करने पर उनकी हत्या कर रहा है । दोनों ही सम्भावनाएँ हैं । अस्त्रधारी रक्षक भी हो सकता है, विनाशक भी, किन्तु विरहियों का पीडक होने से 'विनाशक'-पक्ष ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है, जिससे यह भाव निकलता है कि नल भी अशोक के पल्लव-कलिकाओं को देख और भी व्यथित हुए । 'गृहिणी गृह-मुच्यते'—इस न्याय से 'गृह' का अर्थ पत्नी मानकर 'गृहशोचिन' का तात्पर्य 'प्रिया के सोच में डूबे' समझना चाहिए । सापह्नवा उत्प्रेक्षा ।

विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीते शिखिलास्यलाघवात् ।
वनेऽपि तौर्यत्रिकमारराध त क्व भोगमाप्नोति न भाग्यभाग्जन ? ॥

जीवातु—विलासेति । विलासवापी विहारदीर्घिका तस्यास्तटे वीचीनां

वादनात्पिकानामलीनाञ्च गीतैर्गानात् शिखिनां मयूराणां ताण्डवलाघवाद् नृत्यनैपुण्याद् च वनेऽपि तं नलं तौर्यत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्तृ, आरराध आराधयामास। तथा हि—भाग्यभाक् भाग्यवान् जनः क्व भुज्यत इति भोगं सुखं न आप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—(नलः) विलासवापीतटवीचिवादनात् पिकालिगीतैः शिखिलास्यलाघवात् वने अपि तं तौर्यत्रिकम् आरराध, भाग्यभाक् जनः क्व भोगम् न आप्नोति ?

हिन्दी—राजा नल ने विलास-बावड़ी में तट से टकराती लहरों से वादन, कोकिल-भ्रमरों से गीत और मयूरों के नृत्य कौशल से नर्तन—इस वन में भी तौर्यत्रिक (नृत्य, गीत, वाद्य) का आनंद पाया, भाग्यवान् व्यक्ति को कहाँ भोग-ऐश्वर्य नहीं प्राप्त हो जाता ? सर्वत्र ही प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणी—राजा को वन में भी 'तौर्यत्रिक' प्राप्त हो जाने से यह भाव निकलता है कि भाग्य का लेख कहीं पीछा नहीं छोड़ता। राजा के भाग्य में यह सुख था, सो वन में भी मिल गया, अथवा राजा चित्त विनोदार्थ—मन बहलाने एकांत की खोज में निकला था, पर सुख भोग ने, जो वियोग-दशा में उसे भाता नहीं था, उसका पीछा न छोड़ा और उसके खेद का कारण बना। १०४वें श्लोक में यह स्पष्ट हो गया है। सामान्य से विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास ॥१०२॥

तदर्थमध्याप्य जनेन तद्वने शुका विमुक्ताः पटवस्तमस्तुवन् ।
स्वरामृतेनोपजगुश्च सारिकास्तथैव तत्पौरुषगायनीकृताः ॥ १०३ ॥

जीवातु—तदर्थमिति। जनेन सेवकजनेन तदर्थं नलप्रीत्यर्थमध्याप्य स्तुतिं पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विसृष्टाः पटवः स्फुटगिरः शुकास्तं नलमस्तुवन्। तथैव शुकवदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ताः तत्पौरुषस्य नलपराक्रमस्य गायिन्यो गायकाः कृताः गायनीकृताः सारिकाः शुकस्त्रियश्च स्वरामृतेन मधुरस्वरेणेत्यर्थः। उपजगुः ॥ १०३ ॥

अन्वय —जनेन तदर्थम् अध्याप्य तद्वने विमुक्ता पटव शुका तम् अस्तुवन्, तथैव तत्पौरुषगायनीकृता शारिका (सारिका.) च स्वरामृतेन उपजगु॰ ।

हिन्दी—परिजनो द्वारा नल की स्तुति के लिए सिखाकर उस वन मे छोडे गये, चतुर (स्पष्ट बोलने वाले) तोतो ने (वहाँ नल की) स्तुति गायी और उसी प्रकार नल के पराक्रम के गीत गाना सीखी मैनाओ ने अपने स्वरामृत (मीठे स्वर) से गायन किया ।

टिप्पणी—वन मे भी पक्षियो द्वारा राजा की विरुदावली का गान । कालिदास ने भी वन मे गाय चराते सम्राट् दिलीप के विषय मे ऐसा ही उल्लेख किया है—'आलोकशब्द वयसा विरावै ।' (रघुवश २।९) । विद्याधर के अनुसार जाति अलकार ॥१०३॥

इतीष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वन पिकोपगीतोऽपि शुकस्तुतोऽपि च ।
अविन्दतामोदभर बहिश्चर विदर्भसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥१०४॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थमिष्टगन्धाढ्यमिष्टसौगन्ध्यसम्पन्न वन मटन्, 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसञ्ज्ञा ह्यकर्मणामि'ति वनस्य देशत्वात् कर्मत्वम् । असौ नल पिकैं कोकिलैरुपगीतोऽपि शुकै स्तुतोऽपि च पर केवल 'पर स्यादुत्तमानात्मवैरिदूरेषु केवल' इति विश्व । बहिरामोदभर सौरभ्यातिरेकमेवाविन्दत विदर्भसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमानन्दातिरेकरूपनाविन्दत न लब्धवान्, प्रत्युत दु खमेवान्वभूदिति भाव । 'आमोदो गन्धहर्षयोरि'ति विश्व ॥ १०४ ॥

अन्वय —इति इष्टगन्धाढ्य वनम् अटन् पिकोपगीत अपि शुकस्तुतः अपि च असौ पर बहि आमोदभरम् अविन्दत, विदर्भसुभ्रूविरहेण आन्तरम् न (अविन्दत)।

हिन्दी—इस प्रकार अभीष्ट गन्ध से समृद्ध वनमे भ्रमण करते हुए कोकिल गान और शुक-स्तुति सुनकर भी उसने केवल बाह्य आनद ही प्राप्त किया, विदर्भ की सुनयना (दमयन्ती) स विरह के कारण (वास्तविक) आतरिक आनद नही ।

टिप्पणी—वियोगी को 'तुहिनदीधिति' भी 'दवदहन' प्रतीत होता है, सो सुख-साधन भी विरही नल के खेद के कारण ही बने, वास्तविक आनंद उसे न मिल पाया। उक्तिनिमित्ता विशेषोक्ति। १०४॥

करेण मीनं निजकेतनं दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया।
व्यतर्कि सर्वर्तुघने वने मधुं स मित्रमत्रानुसरन्निव स्मरः॥ १०५॥

जीवातु—करेणेति। स नलः निजकेतनं निजलाञ्छनं मीनं द्रुमालवालाम्बुषु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् धारयन् मत्स्यरेखाव्याजेन दधान इत्यर्थः, सर्वर्तुघने सर्वर्तुसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्रं सखायं मधुं वसन्तमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा। १०५॥

अन्वय—स निजकेतनं मीनं द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत् सर्वर्तुघने अत्र वने मित्रं मधुम् अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि।

हिन्दी—उस (राजा) ने कहीं वृक्षों के चारों ओर बने आलवालों (थालों) के जलमें प्रविष्ट न हो जाय—इस भय से अपने ध्वज के मत्स्य को हाथ से पकड़ सब ऋतु से परिपूर्ण (अथवा सब ऋतुओं में घन अर्थात् हरे-भरे रहने वाले) उस वन में वसन्तसखा का अनुसरण करते—जैसे कामदेव की तर्कणा की।

टिप्पणी—'सदाबहार' उस वन में विरही नल को चारों ओर कामसाम्राज्य ही प्रतीत हुआ। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास—उत्प्रेक्षा ॥१०५॥

लताबलालास्यकलागुरुस्तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहरः।
असेवतामुं मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिलः॥ १०६॥

जीवातु—लतेति। लता एवाबलास्तासां लास्यकलासु मधुरनृत्तविद्यासु गुरुरुपदेष्टेति भावोक्तिः, तरुप्रसूनगन्धोत्कराणां द्रुमकुसुमसौरभसम्पदां पश्यतोहरः पश्यन्तमनादृत्य हरः प्रसह्यापहर्तेत्यर्थः। 'पश्यतो यो हरत्यर्थं स चौरः पश्यतोहरः' इति हलायुधः, पचाद्यच्, षष्ठी चानादरे' इति षष्ठी। 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु' इति वक्तव्यादलुक्। सौरभ्ययुक्तं मधु-मकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदकं तत्र प्रणीतलीलाप्लवनः। एतेन कृतलीलाव-

गाहन इति दीव्योक्ति, ईदृग्वनानिलोऽमुं नलमसेवत गुणवान् सेवक सेव्यप्रियो भवतीति भाव ॥ १०६ ॥

अन्वय —लतावलालास्यकलागुरु तरुप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहर मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनानिल अमुम् असेवत ।

हिन्दी—वल्लरी रूप कामिनियों को नृत्य कला का शिक्षा देनेवाले गुरु, वृक्षों के फूलों की गंध आँख देखते उड़ानेवाले चोर, पुष्पमधु से सुगंधित जल में जलक्रीड़ा (विहार) करनेवाले (इस प्रकार मंद, सुगंध, शीतल) वन समीर ने नल की अभ्यर्थना की ।

टिप्पणी—वन में भी राजा की अभ्यर्थना । तुलनीय-पृक्तस्तुषारैर्गिरिनिर्झराणामनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी । तमातपक्लान्तमनातपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे ॥ (रघु० २।१३) । विद्याधरने अनुप्रास-रूपक अलंकारों का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपक समासोक्तिभाव के अंगांगिभाव संकर का ।

अथ स्वमादाय भयेन मन्थनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चितं चिरात् ।
निलीय तस्मिन्निवसन्नपानिधिर्वने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

जीवातु—अथेति । अथ वनालोकनानन्तर मन्थनाद्भयेन मथनाय पुनर्मथिष्यतीति भयादित्यर्थ । चिरादुच्चितं सञ्चितं चिरत्नं चिरन्तनं 'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्य' इति त्नप्रत्यय । तच्च तद्रत्नाधिकं श्रेष्ठवस्तु भूयिष्ठं चेति चिरत्नरत्नाधिकं 'रत्नं स्वजातौ श्रेष्ठेऽपी'त्यमर । स्वं धनमादाय तस्मिन् वने निलीय तिरोधाय निवसन् वर्तमानोऽपान्निधिरिवेत्युत्प्रेक्षा । तेन नलेन तडाग सरोविशेषोऽवनीभुजा राज्ञा ददृशे दृष्ट ॥ १०७ ॥

अन्वय —अथ अवनीभुजा मन्थनात् भयेन चिरात् उच्चितं स्वं चिरत्नरत्नाधिकं आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् अपां निधि इव तडाग ददृशे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् राजा ने मन्थन के डर से चिरकाल से संचित (वृद्धि को प्राप्त) अपने पुरातन प्रचुर रत्नों को लेकर उस वन में छिपकर रहते हुए जलनिधि के सदृश सरोवर को देखा ।

टिप्पणी—मथन करके कहीं ये रत्न भी न निकाल लिये जायँ — इस डरसे

वन में लाकर छिपे समुद्र के रूप में सरोवर की उद्भावना सरोवर की निर्मलता और गम्भीरता की द्योतक है। 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा तथा चन्द्रकलाकार ने समासोक्ति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्राण-अतिशयोक्ति समासोक्ति हैं। यहाँ से ११६वें श्लोक तक सरोवर का वर्णन है ॥१०७॥

पयोनिलीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।
जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् बभार यः ॥१०८॥

जीवातु—यदुक्तं घनमाश्रयेति, तदेवात्र सम्पादयति नवभि श्लोकैः पय इत्यादिभिः । यस्तडागः जलेनार्द्धरुद्धस्य अर्द्धच्छन्नस्य तटान्तभूमिदस्तट-प्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थः । मृणालजालस्य बिसवृन्दस्य निभाद्व्याजादित्यपह्नवालङ्कारः, 'निभो व्याजसदृशयोरि'ति विश्वः । अनन्तोरगस्य शेषाहेः पुच्छेन सच्छवीन् सवर्णान् तद्वद्धवलानित्यर्थः, पयोनिलीनानामभ्रमुकावलीनामैरावतश्रेणीनां रदान् दन्तान् बभार । तदेते एवैरावताः, अत स्वसत्त्वा इति व्यतिरेकः । अभ्रमुकामुका इति द्वितीयासमासो मधुपिपासुवत्,'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् 'उपपदे'त्यादिना कमेरुकञ्प्रत्ययः ॥१०८॥

अन्वय.—यः जलार्द्धरुद्धस्य तटान्तभूमिदः मृणालजालस्य निभाद् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिलीनाभ्रमुकावलीरदान् बभार ।

हिन्दी—जो (सरोवर) जल में आधे डूबे, तीर के निकट की धरती से बाहर आते मृणालों के व्याज से अनन्त सर्पों की पूँछ के सदृश जल में छिपे ऐरावतों के दाँतों को धारे हुए था।

टिप्पणी—जब तालाब समुद्र-सम था तो उसमें उसके अनुरूप सामग्री भी अपेक्षित है, अतः यहाँ ऐरावतों की सम्भावना की गयी मृणालजाल में। समुद्र से तो एक ही ऐरावत निकला था, यहाँ 'अभ्रकामुकावली' है। ऐसा लगता है कि समुद्र में अनेक ऐरावत थे, मथन में एक निकाल लिया गया, शेष की रक्षा के लिए समुद्र तालाब बनकर वन में आ छिपा। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नुव और व्यतिरेक, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति। चन्द्रकलाकार ने यहाँ उपमा-कैतवापह्नुति का संकर माना है ॥१०८॥

तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन यः ।
बभौ चलद्वीचिकशान्तशातनैः सहस्रमुच्चैःश्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

जीवातु—तटान्तेति । यस्तडागस्तटान्ते तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा नलानीताश्वश्रेणी तस्याः स्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या निमित्तेन च एकैकशस्तासां वीचीनां कशानामन्तैः शातनैस्ताडनैः, 'अश्वादेस्ताडनी कशा' इत्यमरः, चलद्भिरुल्लसद्भिरुच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् प्राप्नुवन्निव बभौ । वितर्कोत्प्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत् । एतेन नलाश्वानामुच्चैःश्रवःसाम्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥१०९॥

अन्वयः—यः तटान्तविश्रान्ततुरङ्गमच्छटास्फुटानुबिम्बोदयचुम्बनेन वीचिकशान्तशातनैः चलत् उच्चैःश्रवसां सहस्रं श्रयन् इव बभौ ।

हिन्दी—जो (तडाग) तीर पर विश्राम करते नल के अश्वों के स्पष्ट उभरते प्रतिबिम्बों के चुम्बन (संबंध) से (व्याज से) लहर रूपी चाबुक की मार खाकर चलते हजारों उच्चैःश्रवा (नाम के इन्द्राश्वों) को धारण करता सुशोभित हो रहा था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नलाश्वों की प्रतिच्छाया से अनेक इन्द्राश्वों की सम्भावना की गयी । विद्याधरने यहाँ अपह्नुति, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा व्यतिरेक के साथ-साथ 'नलाश्वों का उच्चैःश्रवा के सदृश होना' गम्य मानकर अलंकार से वस्तुध्वनि भी । चन्द्रकलाकार वस्तुध्वनि के साथ रूपक और उत्प्रेक्षा का निर्देश करते हैं ॥१०९॥

सिताम्बुजानां निवहस्य यश्छलाद् बभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।
तमःसमच्छायकलङ्कसङ्कुलं कुलं सुधांशोर्बहुलं वहन् बहु ॥११०॥

जीवातु—सितेति । यस्तडाग अलिभिः श्यामलितोदरश्रिया श्यामीकृतमध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य छलात् तमःसमच्छायं तिमिरवर्णं यः कलङ्कः तेन सङ्कुलं बहुलं सम्पूर्णम्बहुलमेव सुधांशोश्च द्रस्य कुलं बहु वहन् सन् बभौ । अत्र छलशब्देन पुण्डरीकेषु विषयापह्नवेन चन्द्रत्वाभेदादपह्नवभेदः, व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

अन्वयः—यः अलिश्यामलोदरश्रिया सिताम्बुजाना निश्रद्रस्य छलात् तम-सच्छायकलङ्कसङ्कुलं बहुलं सुधांशोः कुलं वहन् बहु बभौ ।

हिन्दी—जो (तालाब) भ्रमरों से श्यामल मध्य भाग की शोभा से युक्त श्वेतकमल-समूह के व्याज से अन्धकार सदृश प्रतीत होते कलंकचिह्न से व्याप्त अमृत किरण चन्द्र के विस्तृत समूह को धारण करता बड़ा भला लग रहा था ।

टिप्पणी—यहाँ भ्रमरावली से शोभित श्वेतकमलों में अनेक चन्द्रों की कल्पना की गयी, जिससे सरोवर की स्वच्छता भी द्योतित होती है । 'बहुलम्' का अर्थ कृष्णपक्ष-सम्बद्ध भी हो सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अपह्नव और व्यतिरेक हैं, चन्द्रकलाधर उपमा-नैतव अपह्नुति का अगाधिनाथ सङ्कर मानते हैं और विद्याधर अनुमान और अपह्नुति का निर्देश करते हैं ॥११०॥

रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा शिलीमुखस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।
सरोजिनीस्तम्बककदम्बकैतवान्मृणालशेषाहिभुवाऽन्वयायि यः ॥ १११ ॥

जीवातु—रथाङ्गेति । यस्तडागो रथाङ्गं चक्रवाकं चक्रायुधञ्च यद्यपि चक्रवाके रथाङ्गनामेति च प्रयोगो दृष्टः तथापि प्रायेणास्य चक्रशब्दपर्याय-त्वमपादर्शनात् (रथाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगोऽभ्युपगम्यते कवि , तद्भाजा 'भजो ण्वि', कमलैः कमलया चानुषङ्गिणा सहचारिणा शिलीमुखस्तोमसखेन अलिकुल-सहचरेण अन्यत्र नखशब्द साहश्यवचन तत्सवर्णेनेत्यर्थः, मृणाल शेषाहिरि-वेत्युपमितसमास , तद्भुवा तदाकारेण अन्यत्र मृणालमिव शेषाहि तद्भुवा तदाधारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीनां स्तम्बा गुल्माः, 'अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ' इत्यमरः, तेषां कदम्बस्य कैतवाभिधानात् अन्वयायि अनुयातोऽनुसृ-ताऽधिष्ठित इति यावत् । अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्नुत्य शार्ङ्गित्वारो-पादपह्नवभेद ॥ १११ ॥

अन्वय —यः रथाङ्गभाजा कमलानुषङ्गिणा मृणालशेषाहिभुवा शिलीमुख-स्तोमसखेन सरोजिनीस्तम्बककदम्बकैतवात् शार्ङ्गिणा अन्वयायि ।

हिन्दी—जो (सर) चक्रवाकयुगलों से शोभित, कमलों से परिपूर्ण, मृणाल रूप शेषनाग पर स्थित, भ्रमर-समूह से पूर्ण कमलिनी के गुल्म समूह के व्याज से

चक्रधारी लक्ष्मीपति, मृणालसदृश शेषनाग पर शयन करनेवाले, भ्रमरसमूह के तुल्य श्यामशार्ङ्गपाणि विष्णु के सदृश लगता था।

टिप्पणी—द्व्यर्थक शब्दावली के प्रयोग द्वारा 'सरोजिनीस्तम्बकदम्ब' में विष्णु की कल्पना की गयी है, जैसे सागर में शेषशायी विष्णु हैं, वैसे ही यहाँ कमलिनी-गुल्म समूह है। विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष उपमा-अपह्नुति अलंकार हैं, जिनकी निरपेक्षस्थिति के आधार पर चन्द्रकलाकार यहाँ उनकी संसृष्टि मानते हैं, मल्लिनाथ ने कैतवापह्नुति का निर्देश किया है ॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्कजुषः स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा विभराम्बभूव यः ।
दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैर्धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च यः ॥ ११२ ॥

जीवातु—तरङ्गिणीरिति। यस्तडागोऽङ्कजुषोऽन्तिकभाजः उत्सङ्गसङ्गिन्यश्च याः तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपकं बिभराम्बभूव बभार, 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्चे'ति भृञो विकल्पादाम्प्रत्ययः। किञ्च यस्तडागो दरोद्गतैरीषदुद्बुद्धैः कोकनदौघकोरकैः रक्तोत्पलखण्डकलिकाभिः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च धृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति। अत्रापि कोकनदकोरकाणां विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—यः अङ्कजुषः तरङ्गरेखाः स्ववल्लभाः तरङ्गिणीः बिभराम्बभूव, यः च दरोद्गतैः कोकनदौघकोरकैः धृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयः।

हिन्दी—जो (तालाब) अङ्क में उठती तरंगमाला रूप अपनी प्रिया नदियों को धारण कर रहा था और जो कुछ कुछ खिली रक्तकमलसमूह की कलियां के-से सुशोभित होने के कारण मूँगों के अंकुरों के संचय से युक्त लगता था।

टिप्पणी—समुद्रप्रिया नदियों के रूप में तड़ाग में उठती लहरें हैं और लालकमलों की कलियाँ लाल मूँगों का ढेर, इस प्रकार भी सर-सागर में साम्य स्थापित किया गया। मल्लिनाथ के अनुसार कोकनद कोरकों के विद्रुमभाव से रूपण होने के कारण रूपक है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक-अपह्नुति का संकर ॥११२॥

महीयसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।
नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्विषं विमुञ्चन् विधुकालकूटयोः ॥ ११३ ॥

जीवातु—महीयस इति । यस्तडाग महीयसो महत्तरस्य गौरस्य च मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोश्छलेन सलिले निलीनयो विधुकालकूटयो सितासितयोरिति भाव । त्विषं विमुञ्चन् विसृजन्निव नलेन मेने । अपह्नवेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

अन्वयः—नलेन य महीयस गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजमण्डलस्य छलेन सलिले निलीनयो विधुकालकूटयो त्विषं विमुञ्चन् मेने ।

हिन्दी—नल ने जिसे अत्यन्त शुभ्र और अत्यन्त नील कमलसमूह के छल से जल में छिपे चन्द्र और कालकूट विष की छटा छोड़ते हुए माना ।

टिप्पणी—श्वेत कमल चन्द्र के और नील कमल कालकूट के प्रतीक हैं । विधु से कुछ विद्वान् 'अमृत' का संकेतार्थ भी लेते हैं, क्योंकि आधार से आधेय का ज्ञान हो सकता है, चन्द्र को अमृतदीधिति कहा ही जाता है । अमृत विष का विरोधी युग्म भी है । सापह्नवा उत्प्रेक्षा अथवा इन दोनों का सङ्कर ।

चलीकृता यत्र तरङ्गरिङ्गणैरबालशैवाललतापरम्परा ।
ध्रुवं दधौ वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमधूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

जीवातु—चलीकृता इति । यत्र यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्गकम्पनाश्चलीकृता चञ्चलीकृता अबालाना कठोराणा शैवाललताना परम्परा पङ्क्तिः हव्यं वहतीति हव्यवाडग्नि 'वहश्चे'ति ण्विप्रत्यय । तस्यच्छन्दोमात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषाया प्रयोग । वाडवहव्यवाहो वाडवाग्नेरेव स्थित्याऽन्तरवस्थानेन प्ररोहत्तमो बहि प्रादुर्भवत्तमो धूमा येषान्ते च धूमाश्च तेषा भावस्तत्ता ता दधौ । वह्निहत्थितधूमपटलवद्बभुरित्यर्थ । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—यत्र तरङ्गिणैः चलीकृता अबालशैवाललतापरम्परा वाडवहव्यवाडवस्थितिप्ररोहत्तमधूमधूमता ध्रुवं दधौ ।

जहाँ लहरों के कंपन से चंचल बड़ी-बड़ी शैवाल की बेलें वाडवाग्नि की स्थिति के कारण ऊपर उठते प्रचुर धूम की निश्चयतः धारणा बना रही थीं ।

टिप्पणी—धुए को रंग की सिवार में सागर की बाडवाग्नि के धुएँ की कल्पना, जिससे सर में समुद्र के तुल्य वाडवाग्नि की संभावना। उत्प्रेक्षा।

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकैः करम्बितामोदभरं विवृण्वती।
धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता॥ ११५॥

जीवातु—प्रकाममिति। आदित्य सूर्यमवाप्य प्रकाम कण्टकैः नालगतैः तीक्ष्णाग्रैः रवयवैः करम्बिता दन्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकैः पुलकैः करम्बिता अतएवामोदभर परिमलसम्पदमानन्दसम्पद च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे धृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रहः स्वरूप यस्या सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पद विग्रहो देहो यस्या सा स्वर्गलोकवासिनीत्यर्थः। यस्तडाग प्रभव कारण यस्या सा तज्जाया सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सर इवाचरिता। 'उपमानाद् कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्चे'ति कर्त्तरि क्त, 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमि' त्यप्सरस सकारलोप। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा॥ ११५॥

अन्वय—यत्प्रभवा सरोजिनी आदित्यम् अवाप्य कण्टकैः प्रकाम करम्बिता आमोदभर विवृण्वती दिवा धृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा अप्सरायिता।

हिन्दी—जिस सरोवर में उत्पन्न कमलिनी सूय को पाकर कण्टकान्वित हो सुगध भार को फैलाती दिन में स्पष्ट कमलरूप प्राप्त करती जैसे इंद्र को पा रोमांचित हो आनन्दातिशय प्रकट करती उज्ज्वल सुन्दर शोभामयी देहधारिणी अप्सरा होती है, वैसी ही प्रतीत होती है।

टिप्पणी—श्लिष्ट शब्दों के प्रयोग से कमलिनी में अप्सरात्व की कल्पना। श्लिष्टोपमा (मल्लिनाथ) अथवा श्लेष उपमा अलंकार (विद्याधर)॥११५॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिर्मरुत्तरङ्गैस्तरलस्तटद्रुमः।
निमज्ज्य मैनाकमहीभृतः सतस्ततान पक्षान् धुवतः सपक्षताम्॥ ११६॥

जीवातु—यदिति। यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायतिः प्रतिफलितायाम मरुत्तरङ्गैः वातवीजनैस्तरलश्चञ्चलः तटद्रुमः निमज्ज्य सतो यत-

मानस्य पक्षान् धुन्वत कम्पयतो मैनाकमहीभृतस्तदाख्यस्य पर्वतस्य सपक्षता साम्य ततानेत्युपमा ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायतिः मरुत्तरङ्गैः तरलः तटद्रुमः निमज्ज्य नतः पक्षान् धुन्वतः मैनाकमहीभृतः सपक्षतां ततान ।

हिन्दी—जिस (सरोवर) के जल-प्रवाह में जिसकी दीर्घता प्रतिबिम्बित हो रही थी, ऐसा वायु-प्रकम्पित लहरों वाला तीरवर्ती वृक्ष पानी के भीतर छिपकर रहते मैनाक पर्वत की समानता का विस्तार कर रहा था।

टिप्पणी—समुद्र के अन्तवर्ती मैनाक पर्वत के साम्य में तट-वृक्ष के प्रतिबिम्ब की कल्पना। उपमा ॥११६॥

(युग्मम्)

पयोधिलक्ष्मीमुषि केलिपल्वले रिरंसुहंसीकलनादसादरम् ।
स तत्र चित्रं विचरन्तमन्तिके हिरण्मयं हंसमबोधि नैषधः ॥ ११७ ॥

प्रियासु बालासु रतिक्षमासु च द्विपत्रितं पल्लवितं च बिभ्रतम् ।
स्मराजितं रागमहीरुहाङ्कुरं मिषेण चञ्च्वोश्चरणद्वयस्य च ॥ ११८ ॥

जीवातु—पयोधीति । अथ स नैषधो निषधानां राजा नलः, 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्' इत्यञ् पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्सदृश इत्यर्थः । अत्र केलिपल्वले क्रीडासरसि रिरंसुना रन्तुमिच्छुना हंसीनां कलनादेषु सादरं सस्पृहं तत्रान्तिके तत्समीपे विचरन्तं चित्रमद्भुतं हिरण्मयं सुवर्णमयं 'दाण्डिनायना'-दिना निपातनात् साधु । हंसमबोधि ददर्शेत्यर्थः । 'दीपजने'त्यादिना कर्तरि चिण् । पुनस्तमेव विशिनष्टि–प्रियास्विति । बालासु अरतिक्षमासु किन्त्वासन्नयौवनास्वित्यर्थः । अन्यथा रागाङ्कुरासम्भवात् । रतिक्षमासु युवतीषु द्विविधासु प्रियासु विषये क्रमाच्चञ्च्वोश्चोटयो 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः । चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं सञ्जातद्विपत्रं पल्लवितं सञ्जातपल्लवञ्च चञ्च्वोर्द्वयोः सम्पुटितत्वे साम्याद् द्विपत्रितत्वं चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन पल्लवसाम्यात्पल्लवत्वं राजहंसानां लोहितचञ्चुचरणत्वात् तस्मिन् मिषेणेत्युक्तं स्मराजितं स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थः । राग एव महीरुह-

स्तस्याङ्कुरं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतं चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रितं बालिकागोचर-रागं चरणमिषेण पल्लवितं युवतीविषये रागञ्च बिभ्रतमित्यर्थः । ईदृशं हंसम् बोधीति पूर्वेणान्वयः । 'नाभ्यस्ताच्छतुरि'ति नुम्प्रतिषेधः, वृक्षाङ्कुरो हि प्रथमं द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम् । तत्र रागं बिभ्रतम् इति हंसविशेषणात्, तद्रागस्य हंसाधिकरणत्वोक्तिः, प्रियास्वधिकरणभूतास्विति सुपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यानं प्रत्याख्येयम्, जन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरणत्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतर-पर्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्तौ सर्वसिद्धान्तविरो-धात्, विषयानुरागाभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रम केषाञ्चित्तस्मात्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधि-करणत्वमेवमिति सिद्धान्तः, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमहीरुहाङ्कुरमिति रूपकं चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्नवा-नुप्राणितमिति सङ्करः । तेन च बाह्याभ्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणाति-शयोक्त्यापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ११७–११८ ॥

अन्वयः—पयोधिलक्ष्मीमुषि तत्र केलिपल्वले सः नैषधः रिरंसुहंसीकल-नादसादरं बालासु रतिसमासु च प्रियासु चञ्च्वोः चरणद्वयस्य च मिषेण द्विपत्रितं पल्लवितं च स्मराजितं रागमहीरुहाङ्कुरं बिभ्रतम् अन्तिके विचरन्तं चित्रं हिरण्मयं हंसम् अबोधि ।

हिन्दी—(उपर्युक्त प्रकार से) समुद्र की श्री के अपहर्ता (सागरतुल्य) उस क्रीडा सरोवर में उस निषधराज ने रमणेच्छुका हंसियों के अव्यक्त मधुर स्वर में साभिलाष, बाला और रमण में समर्थ स्व प्रियाओं के मध्य चोंचों और चरणयुगल के मिस दो पत्तियों और पल्लवों से युक्त काममुत्पन्न अनुराग रूप वृक्ष के अंकुर को धारण कर निकट ही विचरण करते विचित्र स्वर्णमय हंस को देखा ।

टिप्पणी—इस 'युग्म' में विचित्र स्वर्णहंस के दृष्टिपथ में आने का वर्णन है । 'अन्तिके विचरन्तम्' का अर्थ हंसियों के समीप ही नहीं, क्रीडासर के

निकट भी माना गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'हिरण्मय पुरुषः', 'एको हंस'— इस श्रुति वचन को आधार मानकर 'पयोधिलक्ष्मीमुषि — नैषध' का अन्य अर्थ भी द्योतित किया है। वह कहता है कि पूर्वोक्त श्लोकों में और यहाँ भी क्रिडा सर को सागर के सदृश बताया गया है और यहाँ केलिपल्वल (क्रिडा की लघु सरसी) कहा गया, यह उचित नहीं है। इसी के औचित्य में वह अर्थ करता है कि विस्तार में समुद्र तुल्य और विनश्वर होने से पल्वल तुल्य शरीर में विचरते जैसे कोई योगी आत्म 'रिरसुरुत्सेकत्वादसादर' (आत्म शक्ति के अव्यक्त प्रिय नाद में सानिलाप) परमात्मा को देखता है, वैसे ही उस हिरण्मय परमात्मस्वरूप हंस को नैषध ने देखा। 'प्रियासु— विभ्रतम्' का अर्थ यह भी पल्लवित किया गया है कि हंस की दो प्रकार की प्रिया थीं— बाला–अरतिक्षमा किंतु आसन्नयौवना, जिनके निमित्त हंस चोंच रूप पत्तियाँ लिये था अर्थात् उनको चुम्बन मात्र से तुष्ट करता था और इस प्रकार बालिका गोचर राग प्रकट कर रहा था। दूसरे प्रकार की प्रौढा रतिसमर्था नायिकाओं के निमित्त गाढरागताद्योतक लाल चरण युगल थे। इस प्रकार वह हंस स्मर-तरु के अंकुर से युक्त था, जो क्रमशः पत्रित और पल्लवित था। विद्याधर ने इस 'पद्य' में अनुप्रास-यथासंख्य रूपक-अपह्नुति की संसृष्टि का निर्देश किया है, मल्लिनाथ के अनुसार 'रागमहीरुहाङ्कुर' में रूपक है, जो 'चञ्चुचरण-मिषेण'—अपह्नुति से अनुप्राणित है, इस प्रकार रूपक-अपह्नुति का संकर है। और इसके द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर रागों के भेद में अभेद लक्षण अतिशयोक्ति से उत्थापित वस्तु वस्त्र के व्याज से आतर की बहिरङ्कुरितता-उत्प्रेक्षा व्यंजित हुई है। इस प्रकार अलंकार द्वारा अलंकार ध्वनि है। चन्द्र-कलाकार ने अलंकार ध्वनि मानी है और पहिले श्लोक में निदर्शना तथा दूसरे में यथासंख्य–रूपक–कैतवापह्नुति के संकर का निर्देश किया है।

महीमहेन्द्रस्तमवेक्ष्य स क्षणं शकुन्तमेकान्तमनोविनोदिनम्।
प्रियावियोगाद्विधुरोऽपि निर्भरं कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत् ॥ ११९ ॥

जीवातु— महीति। महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्रः स नलः एकान्तं मनो विनोदयतीति तथोक्तं तं शकुन्तं पक्षिणं क्षणमवेक्ष्य प्रियावियोगान्निर्भरमतिमात्र

विधुरो दु स्थोऽपि मनागीषत्कुतूहलाक्रान्तमना कौतुकिचित्तोऽभूत्, गृहीतक्रमोऽभूदित्यर्थः ॥११९॥

अन्वय —स महीमहेन्द्र एकान्तमनोविनोदिनं शकुन्तं क्षणम् अवेक्ष्य प्रियावियोगात् निर्भरं विधुरः, अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमना अभूत्।

हिन्दी—इस धरती के इन्द्र (नल) का मन वहाँ निर्जन में मनोविनोद करने वाले अथवा वहाँ एकान्त वन में राजा का मन प्रसन्न करने वाले अथवा नियमपूर्वक अत्यन्त आह्लाददायक उस पक्षी (स्वर्णहंस) को क्षण भर निहार कर प्रिया के वियोग के कारण अत्यन्त विह्वल होने पर भी थोड़ा सा कुतूहल से आक्रान्त हो गया।

टिप्पणी—विचित्र पदार्थ प्रत्येक अवस्था में मन को आकृष्ट करते ही हैं। ऐसा ही नल के साथ हुआ, कौतुक में उसका चित्त भर उठा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और विरोध अलंकार ॥११९॥

अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधसः स्पृहा।
तृणेन वात्येव तयाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥ १२० ॥

जीवातु—कथमीदृशो चापल्ये प्रवृत्तिरस्य धीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तोः स्वातन्त्र्यं किन्तु भाव्यर्थानुसारिणी विधातुरिच्छैव तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति। अवश्यभव्येष्ववश्यं भाव्यर्थेषु विषये 'भव्यगेय'इत्यादिना कर्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपातः, 'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये' इत्यवश्यमो मकारलोपः, अनवग्रहग्रहा अप्रतिबन्धनिर्बन्धा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धग्रहणेषु रणोद्यमे' इति विश्वः। वेधसः स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽत्यन्तपरतन्त्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन तृणेन वात्या वातसमूह इव, 'पाशादिभ्यो यः' अनुगम्यते, वेधसः स्पृहा वश्या ॥ १२० ॥

अन्वय —अवश्यभव्येषु वेधसः अनवग्रहग्रहा स्पृहा यया दिशा धावति तया जनस्य भृशावशात्मना चित्तेन तृणेन वात्या इव अनुगम्यते।

हिन्दी—नियम से होने वाले शुभाशुभ कार्यों के विषय में विधाता की अबाध्य—निरगल प्रसार वाली इच्छा जिस मार्ग से भागती जाती है, उसी

मार्ग से मनुष्य का अत्यन्त पराधीन चित्त भी उसी प्रकार अनुगमन करता है, जिस प्रकार तिनका वात का अनुगमन।

टिप्पणी—किन्तु राजा का मन भी कुतूहलाक्रान्त क्यों हुआ, इसका उत्तर इस अर्थान्तरन्यास द्वारा दिया गया। यह विधाता का नियत लेख था कि हंस के माध्यम से नल-दमयन्ती के सन्देशों का आदान प्रदान हो और उनका विवाह हो, इसी कारण विह्वल राजा का मन भी विधि-विधान वश स्वर्णहंस के प्रति कुतूहलाक्रान्त हुआ। उपमा ॥ १२० ॥

अथावलम्ब्य क्षणमेकपादिकां तदा निदद्रावुपपल्वलं खगः।
सतिर्यगावर्जितकन्धरः शिरः पिधाय पक्षेण रतिक्लमालसः ॥ १२१ ॥

जीवातु—चिकीर्षितार्थं दैवानुकूल्यं कार्यतो दर्शयति-अथेति। अथ नलदृष्टिप्राप्त्यनन्तरं रतिक्लमालसः स खगो हंसः तदा नलकुतूहलकाले क्षणमेकः पादो यस्यां क्रियायामित्येकपादिका एकपादेनावस्थानं मत्वर्थीयष्ठन्प्रत्ययः, 'तद्धितार्थे'त्यादिना सहृयामनात्, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन तादृप्याभावान्न पादः पदादेशः, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः आवर्जितग्रीवः सन् पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं पल्वले निदद्रौ सुष्वाप। स्वभावोक्तिरलङ्कारः 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥

अन्वयः—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगः एकपादिकाम् अवलम्ब्य तिर्यगावर्जितकन्धरः (सन्) पक्षेण शिरः पिधाय उपपल्वलं क्षणं निदद्रौ।

हिन्दी—तदनन्तर उस समय सुरतखेद से थक कर वह पक्षी (हंस) एक पैर के सहारे खड़ा हो थोड़ी-सी टेढ़ी गरदन करके पंख से सिर ढककर सरोवर के निकट क्षण भर को सो गया।

टिप्पणी—पक्षिस्वभाव का वर्णन। मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति और विद्याधर के अनुसार जाति अलङ्कार ॥१२१॥

सनालमात्माननिर्जितप्रभं ह्रिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम्।
अबुद्ध तं विद्रुमदण्डमण्डितं स पीतमम्भःप्रभुचामरं च किम् ? ॥ १२२ ॥

जीवातु—सनालमिति। स नलः न निद्राणं हंसम् आत्माननेन निर्जितप्रभं

निजमुखनिराकृतशोभम् अत एव ह्रिया नत सनाल नालसहित काञ्चन सौवर्णमम्बुजन्माबुज किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डित भूषित पीतवर्णमम्भ प्रभोरपाम्पत्यु वरुणस्य चामर किम् ? इति शब्दोऽत्राहाय्य इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थ । बुध्यतेर्लुङि तङ 'झषस्तथोर्धो ध' इति तकारस्य धकार ॥ १२२ ॥

अन्वय —स तम् आत्माननिर्जितप्रभ ह्रिया नत सनालम् अम्बुजन्म किम् (इति) अबुद्ध, (अथ) विद्रुमदण्डमण्डित पीतम् अम्भ प्रभुचामर च किम्— (इति अबुद्ध) ।

हिन्दी—उसने उस (हस) को अपने (नल के) मुख की काति से पराजित (अतएव) लज्जा से झुका यह नाल सहित जलज (कमल) है, यह तकणा की अथवा यह मूगों से जिसका दड मढा हुआ है, ऐसा पीले वर्ण का जल के स्वामी वरुण का चामर है—यह समझा ।

टिप्पणी—हस के प्रति दो सम्भावनाएँ । लाल चरण और पीला हस, अत वर्णसाम्य के आधार पर विद्रुमदण्डमडित वरुण चामर की कल्पना । विद्याधर के अनुसार सदेह अलकार, चन्द्रप्रभाकार के अनुसार काव्यलिङ्ग-उत्प्रेक्षा-तुल्ययोगिता का अङ्गाङ्गिभाव सकर ।।१२२।।

कृतावरोहस्य हयादुपानहौ तत पदे रेजतुरस्य बिभ्रती ।
तयो प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुजैर्नियोद्धुकामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥ १२३ ॥

जीवातु—कृतेति । ततस्तन्निदर्शनानन्तर हयादश्वात्कृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नलस्योपानहौ वर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानहौ' इत्यमर । पदे चरणे तयोर्वनयो सलिलकाननयो 'वने सलिलकानने' इत्यमर । प्रवालै पल्लवै तथाम्बुजै पद्मैश्चेत्यर्थ, 'सहार्थे तृतीया' नियोद्धु कामोऽभिलाषो ययोस्ते नियोद्धुकामे युद्धकामे इत्यर्थ । 'तु काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोप, अतो बद्धवर्म्मणी किमु बद्धकवचे इव ते रेजतु किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

अन्वय —तत हयात् कृतावरोहस्य अस्य उपानहौ बिभ्रती पदे तयो वनयोः प्रवालै तथा अम्बुजै नियोद्धुकामे बद्धवर्मणी रेजतु किमु ?

हिन्दी—तदनन्तर घोड़े से उतरे इस (नल) के जूता-पहिने पर दोनों

वनों (जगत और जल) के पल्लव और कमलों से युद्ध करने के निमित्त कवच-धारण किये सुशोभित हो रहे थे क्या ?

टिप्पणी—नल उपानह्-धारी दोनों चरणों का साम्य क्रमश: वन (उपवन, जगत) के किसलय और वन (जल) के रक्तोत्पलों से किया गया है। जूता रूपी कवच धारे वे चरण पल्लव और रक्तोत्पल से युद्धार्थ प्रस्तुत हैं। भाव यह है कि नल के चरण अपने दोनों उपमानों की चुनौती स्वीकार कर उन पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने को उद्यत हैं। विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और उत्प्रेक्षा, जिसे चन्द्रकलाकार ने इन दोनों, अलंकारों का अंगांगिभाव संकर कहा है। मल्लिनाथ ने केवल उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है ॥१२३॥

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वंसिविडम्बिनीमयम्।
उपेतपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृपः पतङ्गं समधत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

जीवातु—विधायेति। अथ नृपः स्वयमेव कपटेन छद्मना वामनीं ह्रस्वां गौरादित्वाद् ङीप्, बलिध्वंसिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्यनुकारिणीमित्यर्थः, मूर्तिं विधाय काय सङ्कुच्येत्यर्थः। मौनिना निःशब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहंसान्तिकः पाणिना पतङ्गं पक्षिणं समधत्त, सन्धृतवान् जग्राहेत्यर्थः, । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १२४॥

अन्वय—अथ नृपः स्वयं कपटेन बलिध्वंसिविडम्बिनी वामनीं मूर्त्ति विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वः पाणिना पतङ्गं समधत्त।

हिन्दी—इस राजा (नल) ने स्वयं कपट से बलिराज का ध्वंस करनेवाले विष्णु का अनुसरण करने वाली वामनी—छोटी देह बनाकर (सिकुड़ते हुए) निःशब्द चरण धरते हुए समीप पहुँचकर हाथ से उसी प्रकार उस पतग (पक्षी हंस) को हाथ से पकड़लिया, जैसे वामन विष्णु ने आकाशगामी निःशब्द चरण धरते हुए पास पहुँच कर सूर्य को हाथ से छू लिया था।

टिप्पणी—पौराणिक कथा के माध्यम से वामन से राजा नल की तुलना। पक्षी को दबे पैर चुपचाप पहुँच कर ही पकड़ा जाता है। मल्लिनाथ ने यहाँ स्वभावोक्ति, चन्द्रकलाकार ने उपमा स्वभावोक्ति के संकर और विद्याधर ने उपमा और जाति अलङ्कारों का निर्देश किया है ॥१२४॥

सदात्तमात्मानमवेत्य सम्भ्रमात् पुनः पुनः प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरुत्योड्डयने निराशतां करौ निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२५ ॥

जीवातु—सदेति । स हंसः आत्मानं सदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुनः पुनः प्रायसदायस्तवान् । यसु प्रयत्न इति धातोर्लुङि पुष्यादित्वात् च्लेरङादेशः । उड्डयने उत्पतने निराशतां गतो विरुत्य विकुश्य निरोद्धुः ग्रहीतुः करौ केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान् । अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥ १२५ ॥

अन्वय—स आत्मानं सदात्तम् अवेत्य सम्भ्रमात् उत्प्लवाय पुनः पुनः प्रायसत् (किन्तु) उड्डयने निराशतां गतः विरुत्य केवलं निरोद्धुः करौ दशति स्म ।

हिन्दी—वह (हंस) अपने को नल के अधीन जान कर आतंकित हो बारबार उड़ने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु उड़ने में निराशा को प्राप्त हो केवल दीन शब्द करता हुआ पकड़नेवाले नल के हाथों को काटने लगा ।

टिप्पणी—यह पक्षी का स्वभाव है कि इस दशा में फड़फड़ाता और चिल्लाता काटता है । स्वभावोक्ति ॥१२५॥

ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलैः पतगग्रहान्नृपं न्यवारयद्वारिरुहैः करैरिव ॥ १२६ ॥

जीवातु—स इति । ससम्भ्रमं सत्वरमुत्पातिना उड्डीयमानेन पतत्कुलेन पक्षिसङ्घेनाकुलं सत्कुलं सरः कर्तृ उत्कतया उन्मनस्तया 'उत्क उन्मना' इति निपातनादिविधानाच्च साधु । अनुकम्पितां प्रपद्य कृपालुतां प्राप्य तं नृपमूर्मिलोलैश्चलैर्वारिरुहैः करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतगग्रहात्पक्षिग्रहात् न्यवारयदित्युत्प्रेक्षा । वास्तवनिवारणासम्भवादुत्प्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र रूपकाश्रयणम्, अत एवकारादस्य उपमावाचकेनाथानुसाराद्व्यवहितान्वयेनाप्युत्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपकोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२६ ॥

अन्वय—ससम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुलं सरः उत्कतया अनुकम्पिताम् (अनुकम्पताम्) प्रपद्य तं नृपम् ऊर्मिलोलैः वारिरुहैः करैः इव पतगग्रहात् न्यवारयत् ।

हिन्दी—सहसा आतङ्क के कारण उड पड़ने वाले पक्षिगण से परिव्याप्त सरोवर उछलते जल के रूप में उत्सुकता प्रकट करता दयाभाव को प्राप्त हो उस राजा को मानो तरंगों से चंचल जलज रूप हाथों से हंस के ग्रहण से रोकने लगा (निषेध करने लगा)।

टिप्पणी—हंस के पकड़े जाने पर स्वाभाविक रूप आतङ्कित पक्षी जब सहसा उड़ पड़े और इस कारण जल हिल गया और उसमें बनती लहरों द्वारा कमल भी चंचल हो उठे, जिनको राजा को हंस पकड़ने का निषेध करते सरोवर के हाथों के रूप में सम्भावना की गयी है। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में रूपक-उत्प्रेक्षा का तथा चन्द्रकलाकार ने उपमा-उत्प्रेक्षा के अङ्गाङ्गिभाव के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक-स्वभावोक्ति का संकर है ॥१२६॥

पतत्रिणा तद्रुचिरेण वञ्चितं श्रियः प्रयान्त्याः प्रविहाय पल्वलम् ।
चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा चुकूज कूले कलहंसमण्डली ॥ १२७ ॥

जीवातु—पतत्रिणेति। रुचिरेण पतत्रिणा हंसेन वञ्चितं विरहितं तत्पल्वलं सरः विहाय प्रयान्त्या गच्छन्त्याः श्रियो लक्ष्म्याश्चलत्पदाम्भोरुहनूपुराणाम् उपमा साम्यं यस्याः सा कलहंसमण्डली कूले चुकूज। नूपुरपक्षे कूजनमेषां स्वनावस्त्वत्र हंसेनैव सह गच्छन्त्याः सरःशोभायाः श्रीदेव्याः सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहंसमण्डल्या तन्नूपुरत्वमुत्प्रेक्ष्यते। उपमाशब्दोऽपि मुख्यार्थानुपपत्तेः सम्भावनात्मक इत्यवधेयम् ॥ १२७ ॥

अन्वय—रुचिरेण पतत्रिणा वञ्चितं तत् पल्वलं विहाय प्रयान्त्याः श्रियः चलत्पदाम्भोरुहनूपुरोपमा कलहंसमण्डली कूले चुकूज।

हिन्दी—(उस) मनोहर पक्षी (स्वर्णहंस) से रहित उस सर को छोड़ कर जाती लक्ष्मी के गमन करते चरण-कमल में पहिने नूपुरों से समानता करती कलहंसों की मंडली तीर पर शब्द करने लगी।

टिप्पणी—मनोरम हंस के न रहने से तालाब की मानो श्री-शोभा ही समाप्त हो गयी। आतङ्कित होकर सारे कलहंस कूजने लगे। इस पर सर-श्री के पैर के बजते मञ्जीरों की सुन्दर कल्पना की गयी है। कवि ने प्र—या

+शतृ+ङीप्+षष्ठी='प्रयान्त्या' के वर्तमानकालिक प्रयोगद्वारा श्री के प्रत्यागमन का संकेत किया है। मल्लिनाथ ने यहाँ समासनालक्षक उपमा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। और चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति उपमा के अंगांगि-भाव संकर का। विद्याधरने यहाँ अनुप्रास उपमा स्वभावोक्ति का संकर माना है।

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग ! यस्याः पतिरुज्झितस्थितिः ।
इति प्रहाय क्षितिमाश्रिता नभः खगास्तमाचुक्रुशुरारवैः खलु ॥१२८॥

जीवातु—नेति । इयं वसुधा वासयोग्या निवासार्हा न, कुत अङ्ग भो ! यस्या वसुधाया उज्झितस्थितिः त्यक्तमर्य्यादः ईदृशः अनपराधपक्षिघारकः त्वं पतिः पालकः, इत्यं खगाः क्षितिं प्रहाय नभ आश्रितास्तं नलमारवैः-रुन्दध्वनिभिराचुक्रुशुः खलु । उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भनं चक्रुरिवेत्यु-त्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

अन्वयः—'अङ्ग यस्याः ईदृशः उज्झितस्थितिः त्वं पतिः (सा) वसुधा वासयोग्या न'—इति क्षितिं प्रहाय नभः आश्रिताः खगाः तम् आरवैः आचुक्रुशुः खलु ।

हिन्दी—'ए राजा जिस धरती का ऐसा मर्यादा छोड़देनेवाला तू स्वामी है, वह धरती रहने योग्य नहीं है'—इस प्रकार धरती को छोड़कर आकाश में उड़ गये पक्षी शब्द करते हुए मानो राजा की निंदा करने लगे ।

टिप्पणी—जिस धरती का स्वामी मर्यादारहित आचरण करने लगे, धन-धान्य से परिपूर्ण होने पर भी उस लोकवा धरती पर सज्जन नहीं रहते, उस भरी-पूरी धरती से सूना आकाश ही भला । स्वभावतः उड़कर मँडराते चिल्लाते पक्षियों के माध्यम से यह संभावना की गयी है । उत्प्रेक्षा अलंकार ॥१२८॥

न जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मुहुः ।
अवादि तेनाथ स मानसौकसा जनाधिनाथः करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

जीवातु—नेति । इयमीदृग्जातरूपच्छदैः सुवर्णपक्षैः जातरूपता उत्पन्न-सौन्दर्यत्वं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा हिरण्मयः पक्षी न कुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः । इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथः अथास्मिन्नन्तरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन

मानस सरः ओकः स्थान यस्येति स तेन मानसौकसा हंसेन 'हंसास्तु श्वेत-गरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः । जगादि उक्तं । वदे कर्मणि लुट् ॥ १२९ ॥

अन्वय —'अथ इयं जातरूपच्छदजातरूपता द्विजस्य न दृष्टा'—इति मुहुः स्तुवन् स जनाधिनाथ करपञ्जरस्पृशा तेन मानसौकसा जगादि ।

हिन्दी—तत्पश्चात्, 'सोने के पंख होने से उत्पन्न ऐसी सुन्दरता मैंने पक्षी की नहीं देखी'—इस प्रकार हंस की (विचित्र सौंदर्य की) बारबार प्रशंसा करते उस नरनाथ से हाथ के पिंजरे में पकड़ा वह मानसरवासी हंस बोला ।

टिप्पणी—हंस की अपरूपता पर मुग्ध राजा का वर्णन । विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-रूपक अलंकार है, चन्द्रकलाकार ने यमक का उल्लेख किया है ॥१२९॥

> धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः ।
> तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान् ॥१३०॥

जीवातु—अथैव चतुर्भिराह—धिगित्यादि । हेम्नो जन्म येषां तान् हेमजन्मनो हैमान् मम पक्षान् पतत्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशग भवन्मनो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोरि' त्यमरः । 'धिगुप-र्यादिषु त्रिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया । तुषारशीकरैः हिमकणैः अर्णवस्येव तव एभिः पत्रैः कियान् कमलायाः लक्ष्म्याः कमलस्य जलस्य चोदयो वृद्धिर्भवेत्, न कियानित्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वय—हेमजन्मनः मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्मनः धिक् अस्तु, तुषारशीकरैः अर्णवस्य इव तव अमीभिः कियान् कमलोदयः भवेत् ।

हिन्दी—हे नल, मेरे सोने के पंखों को देखकर तृष्णा से चचल हुए तेरे मन को धिक्कार है, ओसकणों के समान इन [illegible] सागरतुल्य तुझ में कितने जलरूप धन (कमल = जल, कमला = लक्ष्मी, धन) की वृद्धि हो सकेगी ?

टिप्पणी—नल ने हंस की 'जातरूपच्छदजातरूपता' (स्वर्णपक्षों के सौन्दर्य) की प्रशंसा की, इस पर हंस ने राजा के धन-लोभ की निंदा की । लक्ष्मीरवि

राजा के लिए थोड़ा-सा स्वर्ण वैसे नगण्य है, जैसे जलनिधि समुद्र को ओस की बूँदें। विद्याधर के अनुसार उपमा, चन्द्रकलाव्याख्याकार के अनुसार उपमा श्लेष की संसृष्टि ॥१३०॥

न केवलं प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मनः ।
विगर्हितं धर्मधनैर्निबर्हणं विशिष्य विश्वासजुषां द्विषामपि ॥१३१॥

जीवातु—नेति। हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्तिदर्शनादेव विश्वसितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थः मम वधः केवलं प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थः। ततः किमत आह—विश्वासजुषां विस्रम्भभाजां द्विषामपि निबर्हणं हिंसनं धर्मधनैर्धर्मपरैः मन्वादिभिः विशिष्य अतिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थः ॥ १३१ ॥

अन्वय.—त्वदीक्षणात् विश्वसितान्तरात्मनः मम वधः केवलं प्राणिवधः न, विश्वासजुषां द्विषाम् अपि निबर्हणं धर्मधनैः विशिष्य विगर्हितम्।

हिन्दी—तुम्हें देखकर जिसके मन में विश्वास जाग गया था, उस विश्वस्तमना मेरी हत्या केवल जीवहिंसा नहीं है, विश्वास को प्राप्त शत्रुओं को भी मारने को धर्मात्माओं ने विशेष निंदा की है।

टिप्पणी—विश्वासघात तो अपराधी शत्रु से भी उचित नहीं ठहराया जाता, मैं तो निरीह, निरपराध पक्षी हूँ, मेरी हत्या तो अत्यंत निन्दनीय है। विशेषानुप्रास और काव्यलिंग का विद्याधर द्वारा उल्लेख, चन्द्रकलाकार के अनुसार अर्थान्तरन्यास-अर्थापत्ति का संकर ॥१३१॥

पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ?।
धिगीदृशं ते नृपते कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि ॥ १३२ ॥

जीवातु—पदे पद इति। रणोद्भटा रणेषु प्रचण्डा भटा योधाः पदे-पदे सन्ति सर्वत्र सन्तीत्यर्थः, वीप्सायां द्विर्भावः एष हिंसारसो हिंसारागस्तेषु भटेषु न पूर्यते अत्र काकुः न पूर्यत किमित्यर्थः। नृपतेर्महाराजस्य ते तव ईदृशमवध्यवधरूपं कुविक्रमं धिक् यः कुविक्रमः कृपाश्रये कृपाविषये अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि क्रियत इति विशेषः ॥ १३२ ॥

अन्वय —पदे पदे रमोद्भटा भटाः सन्ति, तेषु एव, हिंसारस न ते नृपते ईदृश कुविक्रम धिक्, य कृपाश्रये कृपणे भवत्तिमि पूर्यते।

हिन्दी—पग-पग पर रदबांकुरे योद्धा हैं, उनमें तेरा यह हिंसारस पूर्ण नहीं होता ? तुम राजा के ऐसे कुत्सित पराक्रम को धिक्कार, जो दयापात्र बेचारे (निरीह) पक्षी पर पूर्णता को पा रहा है।

टिप्पणी—निबल निरीह पर दिखाया गया पराक्रम निन्दनीय ही होता है, पराक्रम-प्रदर्शन तो समानबल योद्धा पर किया जाना उचित है, सो निरीह पक्षी का वध निन्दनीय ही होगा। विद्याधर के अनुसार विदग्धानुप्रास ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूरुहा मुनेरिवेत्य मम यस्य वृत्तय ।
त्वयाद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथ न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

जीवातु—फलेनेति। यस्य मम मुनेरिव वारिभूरुहा जलरुहा पद्मादीनाम् अन्यत्र वारिरुहा भूरुहाञ्च फलेन मूलेन चेत्यमनेन दृश्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविका तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भाव । दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्ड्यदण्डकेनेत्यर्थं । पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथ न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थ, हृणीयते कण्ड्वादियगन्तात्लट् तत्र हृणीङिति ङित्करणा-दात्मनेपदम्। अकार्यकारिण भर्तारमपि हन्ते प्रिय इति भाव ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मुने इव यस्य मम वारिभूरुहा फलेन मूलेन च इत्थ वृत्तय तस्मिन् अपि त्वया दण्डधारिणा पत्या धरणी अद्य कथ न हृणीयते।

हिन्दी—मुनि के समान जिस मेरा जीवन-व्यापार कमलों के फलमूल-द्वारा चलता है, उस मुझ पर तुम दण्डधारी पति के कारण धरती आज क्यों लज्जित नहीं होती ?

टिप्पणी—कदमूलफलादी मुनि पर दड उठाने वाले व्यक्ति के कारण उसकी पत्नी का लज्जित होना ही स्वाभाविक है, ऐसी ही स्थिति उस समय पृथ्वीपति की थी। विद्याधर ने यथासख्य और उपमा अलकार का निर्देश किया है।

इतीदृशैस्त विरचय्य वाङ्मयै सचित्रवैलक्ष्यकृप नृप खग ।
दयासमुद्रे स तदाशयेऽतिथीचकार कारुण्यरसापगा गिर. ॥ १३४ ॥

जीवातु— इतीति । इतीत्थं खगो हंसस्तं नृपम् ईदृशैर्दोपालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्विकारैः 'एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ती'ति विकारार्थे मयट्प्रत्ययः। पक्षिकथनाद् चित्रं, परं स्वाकार्य्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्यं, परार्तिदर्शनेन तन्निवर्त्तनेच्छा वा कृपा, ताभिः सह वर्त्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृतं विरचय्य विधाय 'ल्यपि लघुपूर्वादि'त्ययादेशः। दयासमुद्रे तदाशये तच्चित्ते कारुण्यरसापगां करुणारसनदीं गिरं अतिथीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थः समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ॥ १३४ ॥

अन्वय—स खगः इति ईदृशैः वाङ्मयैः तं नृपं सचित्रवैलक्ष्यकृपं विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगां गिरं अतिथीचकार।

हिंदी— उस पक्षी (हंस) ने इस प्रकार के उपर्युक्त वचनों द्वारा उस राजा को विस्मय, दुःख और कृपा से पूर्ण बनाकर दया के सागर रूप उसके हृदय में करुणारस की नदी रूप वाक्समूह का प्रवेश कराया।

टिप्पणी—नल के द्वारा पकड़े हंस ने पूर्व (१२८–१३३) छः श्लोकों में जो सकरुण और न्यायसिद्ध वचन कहे, वे प्रत्येक सज्जन को विचार करने में विवश करने के निमित्त पर्याप्त थे, फलस्वरूप राजा को इस प्रकार की मानवोचित वाणी और विचार पर आश्चर्य, स्वाभाविक करुणा और खेद हुआ और हंस ने इस प्रकार की स्थिति देख उपयुक्त समझा कि राजा की करुणा को तीव्र बनाया जाय। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और रूपक, चन्द्रकलाकार के अनुसार श्लिष्टपरम्परित रूपक ॥ १३४॥

मदेकपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी।
गतिस्तयोरेष जनस्तमर्दयन्नहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो ॥१३५॥

जीवातु—तावदिमं प्रपञ्चयति-मदित्यादिना। तत्र तावद् दैवमुपालभते हे विधे ! जननी अहमेवैकः पुत्रो यस्याः सा मदेकपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यन्तरं नास्तीत्यर्थः। जरातुरा स्वयमप्यसमर्थेत्यर्थः, वरटा स्वभार्या हंसस्य 'योषिद्वरटे'त्यमरः। नवप्रसूतिरचिरप्रसवा तपस्विनी शोच्या एव जनः स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गतिः शरणं तं जनं मामित्यर्थः, अर्दयन् पीडयन्

हे विधे ! विधातः ! त्वां करुणा नो रुणद्धि मत्पीडनान्न निवारयतीति काकुः, न रुणद्धि किमित्यर्थः ॥ १३५ ॥

अन्वय—मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, वरटा नवप्रसूतिः तपस्विनी, एषः जनः तयोः गतिः, अहो विधे, तम् अर्दयत् त्वां करुणा न रुणद्धि ।

हिन्दी—मैं ही जिसका एक पुत्र हूँ, ऐसी मेरी माता बुढ़ापे से पीड़ित है, मेरी पत्नी को अभी निकट अतीत में ही प्रसव हुआ है, वह दीना है, यह जन (मैं हंस) ही उन दोनों का जीवन साधक हूँ, अरे विधाता, उस (मुझे) को पीड़ा देते—मारते तुझे करुणा नहीं रोकती ?

टिप्पणी—राजा के हृदय में आश्चर्य, दुःख और करुणा जगाकर करुणा को और भी तीव्रतर बनाने के लिए विधाता को अथवा उसी मिष राजा को सम्बोधित करते हुए हंस ने इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया । अपनी माता और पत्नी का जीवनाश्रय एक मात्र वही था, इसे प्रमाणित करने के लिए अपनी माँ को विवश, बूढ़ी, पीड़िता बताया, जो उस अकेले बेटे के अभाव में निश्चय ही मर जायेगी । उसकी पत्नी बूढ़ी तो नहीं है, परन्तु 'नवप्रसूति' होने से वह भी अच्छी स्थिति में नहीं है पतिव्रता होने से वह मेरे बाद दूसरा पति भी नहीं ढूँढ लेगी, सो उसकी भी दुर्गति होगी । ऐसे माँ और पत्नी के एक मात्र आश्रय को मारने में मारक के हृदय में करुणा न उत्पन्न होना ही आश्चर्य है । यद्यपि आगे उसका सन्दर्भ नहीं बैठता, तथापि 'प्रकाश'-कार ने अन्य प्रकार से पदच्छेद करके इस श्लोक में एक अन्य अर्थ की सम्भावना भी दिखायी है । उसके अनुसार हंस ही अपने एक मात्र नवजात पुत्र और नवप्रसूता भार्या का आसरा है—मदेकपुत्रा (मत्तः एक पुत्रो यस्याः सा, मुझसे ही जिसे एकमात्र पुत्र जन्मा है), अजननी (आगे वह 'जननी' न बन सकेगी) । यह ठीक है कि अभी वह बूढ़ी नहीं है—'जरातुरा न' परन्तु वह 'तपस्विनी वरटा' (वह बेचारी दीन घरनी) मेरे न रहने में यदि कहीं शरण पासकेगी तो वप्र अर्थात् पर्वतशिखर पर ही-वप्र एव सुतराम् ऊतिः रक्षण यस्याः सा। विद्याधर के अनुसार परिकर अलङ्कार क्योंकि यहाँ साभिप्राय विशेषणों का प्रयोग है—उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरः ॥१३५॥

मुहूर्तमात्रं भवनिन्दया दयासखाः सखायः स्रवदश्रवो मम ।
निवृत्तिमेष्यन्ति परं दुरुत्तरस्त्वयैव मातः ! सुतशोकसागरः ॥ १३६ ॥

जीवातु—अथ मातरं शोचयति–मुहूर्त्तेति । हे मातः ! सखायः सुहृदो दयासखाः सदयाः भवनिन्दया संसारगर्हणेन मुहूर्त्तमात्रं क्षणमात्रं स्रवदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकोपरतिमेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरः परमत्यन्तं दुःखेनोत्तीर्यत इति दुरुत्तरो दुस्तरः तरते कृच्छ्रार्थे खलूप्रत्ययः ॥ १३६ ॥

अन्वय—मम दयासखाः सखायः भवनिन्दया मुहूर्तमात्रं स्रवदश्रवः निवृत्तिम् एष्यन्ति, परं मातः त्वया सुतशोकसागरः दुस्तरः एव ।

हिन्दी—दयालु मेरे मित्र संसार की निन्दा करते मुहूर्त भर आँसू गिरा शोक-निवृत्त हो लेंगे, पर हे माँ, तुम से पुत्र शोक का समुद्र दुस्तर ही होगा, अर्थात् न तरा जा सकेगा ।

टिप्पणी—माँ के दुःख की संभावना दिखाकर करुणोद्बोधन करानेवाले वचन । अनुप्रास रूपक अलंकार ॥१३६॥

मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये ! स कीदृग्भविता तव क्षणः ? ॥

जीवातु—अथ भार्यामुद्दिश्य विलपति–मदर्थेत्यादिना । हे प्रिये ! मदभिमे मदर्थे 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' तयोः सन्देशमृणालयोः वाचिककिसयोः मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिः प्रियः कियद्दूरे देशे वर्तत इति त्वया उदिते उक्ते पृष्टे सतीत्यर्थः । अथ प्रश्नानन्तरं रुदतः अनिष्टोच्चारणाभयया अश्रूणि विमुञ्चतः पक्षिणः हंसान् गच्छतो गतान् विलोकयन्त्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति ? वज्रपातप्राय इति भावः । कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

अन्वय—प्रिये, मदर्थसन्देशमृणालमन्थरः प्रियः कियद्दूरे—इति त्वया उदिते अथ रुदतः पक्षिणः विलोकयन्त्या तव स क्षणः कीदृक् भविता ?

हिन्दी—हे प्रिय, मेरे निमित्त समाचार और कमलनाल भेजने-लाने

विलम्ब लगाने वाला मेरा प्रिय कितनी दूर है,—इस प्रकार तेरे पूछने पर (उत्तर में) रोते पक्षियों को विलोकती तेरा वह क्षण कितना कष्टकारक होगा ?

टिप्पणी—पत्नी के सम्भावित दुःख का मर्मस्पर्शी चित्रण। वह क्षण पत्नी के लिए वज्रपात तुल्य ही होगा। भावोदय अलंकार ॥१३७॥

कथं विधातर्मयि पाणिपङ्कजात्तव प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः ।
वियोक्ष्यसे वल्लभयेति निर्गता लिपिर्ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा ॥ १३८ ॥

जीवातु—कथमिति। हे विधातः ! प्रियायाः वरटायाः शैत्यमृदुत्वशिल्पिनः स्रष्टुः तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्माणनिपुणस्य तव पाणिपङ्कजात् पङ्कजमृदुशिशिरादिव पाणेरित्यर्थः। मयि विषये वल्लभया सह वियोक्ष्यसे इत्येवंरूपा अत एव ललाटं तपन्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः' इति खश्प्रत्ययः, 'अरुर्द्विषद'इत्यादिना मुमागमः तानि निष्ठुराणि अतिकठोराणि चाक्षराणि यस्याः सा लिपिरक्षरविन्यासः कथं निर्गता निःसृता? अत्र कारणात् विरुद्धकार्योत्पत्तिकथनाद्विषमालङ्कारभेदः 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालङ्कृतिर्मते'ति ॥ १३८ ॥

अन्वय—विधातः, प्रियाशैत्यमृदुत्वशिल्पिनः तव पाणिपङ्कजात् मयि वल्लभया वियोक्ष्यसे—इति ललाटन्तपनिष्ठुराक्षरा लिपिः कथं निर्गता ?

हिन्दी—हे विधाता, प्रिया की शीतलता और मृदुता के शिल्पी तेरे कर-कमल से मेरे विषय में ललाट को तपाने वाले निष्ठुर अक्षरों-वाला ऐसा लेख कि तू प्रिया से वियुक्त होगा, कैसे निकला ?

टिप्पणी—जो हाथ शीतलता और कोमलता का शिल्पी है, कमल के समान शीत और मृदु है, आश्चर्य है कि विधाता ने उसी हाथ से प्रिया-वियोग जैसा तापदायक और कठोर लेख हस के भाग्य में लिखा, कारण के गुण कार्य में क्यों नहीं आये ? कैसी विषमता है ? विषम और रूपक अलंकार। विषम—कार्यस्य कारणेन च यत्र विरोधः परस्पर गुणानां । तद्वत्क्रिययोरथवा सञ्जायेतेति तद्विषमम्।—रुद्रट ॥१३८॥

अपि स्वयूथ्यैरशनिक्षतोपमं ममाद्य वृत्तान्तमिमं वतोदिता।
मुखानि लोलाक्षि ! दिशामसंशयं दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥

जीवातु—अपीति । अपि चेत्यर्थः । अद्यास्मिन् दिने 'सद्य परुदि'त्यादिना निपातः स्वयूथ्यैः स्वसङ्घचरैर्हंसैः कर्तृभिरशनितोपमं वज्रप्रहारप्रायं ममेमं वृत्तान्तम् अनर्थवार्ता उदिता उक्ता सती वदेर्द्व्यर्थस्य दुहादित्वाद-प्रधाने कर्मणि क्त 'वचिस्वपी'त्यादिना सम्प्रसारणं, हे लोलाक्षि ! दशदिशा मुखानि शून्यान्यन्धकाराणि विलोकयिष्यसि असंशयं सन्देहो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः, वर्तेति वेदे ॥ १३९ ॥

अन्वय—अपि अद्य स्वयूथ्यैः अशनिकल्पोपमं मम वृत्तान्तम् उदिता लोलाक्षि, असंशयं दश अपि दिशा मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि बत ।

हिन्दी—और आज अपने दल के साथी हंसों द्वारा वज्राघात के समान मेरा वृत्तांत कहे जाने पर खेद है, कि हे चंचल नयनों वाली, निःसंदेह दसों ही दिशाओं के मुख सूने सूने दिखायी पड़ेंगे ।

टिप्पणी—वज्र का हृदय भी द्रवीभूत करने वाले और पत्थर को भी मोम कर देने वाले स्वाभाविक करुणा जागरित करनेवाले वचन । अनुप्रास और उपमा ॥१३९॥

ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि ! विपद्यते यदि ।
तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुटं यतस्ते शिशवः परासवः ॥१४०॥

जीवातु—ममैवेति । हे चित्राङ्गि ! लोहितचञ्चुचरणत्वाच्चित्रगात्रे ! मम शोकेनैव मद्विपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते म्रियते यदि तर्हि दैवेन हतः स्फुटं व्यक्तं पुनर्हतोऽस्मि हेति विषादे, 'हा विस्मयविषादयोरि'ति विश्वः । कुतः ? यतः ते शिशवः परासवो मातुरभावे पोषकाभावान्मृता, अतः शिशुमरणभावनया द्विगुणितं मे मरणदुःखं प्राप्तमित्यर्थः ॥ १४० ॥

अन्वय—चित्राङ्गि, यदि मम शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया अपि विपद्यते, हा, तत्, दैवेन हतः स्फुटं हतः अस्मि, यतः ते शिशवः परासवः ।

हिन्दी—हे सुन्दर शरीर वाली, यदि मेरे शोक में वक्ष फट जाने से तू भी मर जायेगी, हाय, तो दैव द्वारा मारा मैं और मारा जाऊँगा, क्योंकि तेरे बिना तेरे छोटे बच्चे भी मर जायेंगे ।

टिप्पणी—करुणा को तीव्रतर करनेवाला तर्क। करुण रस, काव्यलिंग अलंकार ॥१४०॥

तवापि हाहा विरहात् क्षुधाकुलाः कुलायकूलेषु विलुठ्य तेषु ते।
चिरेण लब्धा बहुभिर्मनोरथैर्गताः क्षणेनास्फुटितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

जीवातु—ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरत आह—तवापीति। हे प्रिये! बहुभिर्मनोरथैश्चिरेण लब्धाः कृच्छ्रलब्धा इत्यर्थः, अस्फुटितेक्षणाः अद्याप्यनुन्मीलितेक्षणाः मम ते पूर्वोक्ताः शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः। विरहाद्विपत्तेः क्षुधाकुलाः क्षुत्पीडिताः तेषु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु नीडान्तिकेषु, 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः। विलुठ्य परिवृत्य क्षणेन गताः मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥ १४१ ॥

अन्वय—हा हा, बहुभिः मनोरथैः चिरेण लब्धाः अस्फुटितेक्षणाः मम तव अपि विरहात् क्षुधा आकुलाः तेषु कुलायकूलेषु विलुठ्य क्षणेन गताः।

हिन्दी—हाय, बहुत से मनोरथ करके चिरकाल में प्राप्त जिनकी अभी आँखें भी नहीं खुल पायी हैं, ऐसे मेरे और तेरे न रह जाने से भूख से व्याकुल (वे छोटे-छोटे बच्चे) नीड के भीतर लोटते क्षण में मृतप्राय हो जायेंगे।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक के संदर्भ में यह श्लोक भी है। नवजात पक्षि-शावकों की दृष्टि ठीक से देखने योग्य नहीं होती—'अस्फुटितेक्षणाः' बच्चों के बहुत छोटे होने का द्योतक है। 'गताः' का अर्थ 'गये' होता है, पर जो 'अस्फुटितेक्षणा' हैं, वे 'गताः' कैसे हो सकते हैं? विरोध-परिहार में 'गताः' का अर्थ हुआ 'मृतप्राय'। कदाचित् इसी के आधार पर विद्याधर ने यहाँ विरोधाभास अलंकार का उल्लेख किया है। करुण रस ॥१४१॥

सुताः कमाहूय चिराय चूङ्कृतैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि कं प्रति?।
कथासु शिष्यध्वमिति प्रमील्य स स्रुतस्य सेकाद् बुबुधे नृपाश्रुणः ॥१४२॥

जीवातु—सुता इति। हे सुताः! चूङ्कृतैश्चूङ्कारैश्चिराय कं प्रति कमपि प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधाय कथासु शिष्यध्व कथामात्रशेषा भवत। कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् म्रियध्व, प्रश्नकाले लोट्, मरणकाले प्राप्त

इत्यर्थः । इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । प्रमील्य मूर्च्छां प्राप्य स हंसः सुतस्य दयार्द्रभावात्प्रवहतो नृपस्याश्रुणः सेकाद् बुबुधे संज्ञां लेभे । प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या । १४२ ॥

अन्वय —सुताः, चूङ्कृतैः चिराय कम् आहूय कं प्रति मुखानि कम्प्राणि विधाय कथासु शिष्यध्वम्,—इति प्रमील्य स सुतस्य नृपाश्रुणः सेकात् बुबुधे ।

हिन्दी—पुत्रो, चें चें करके चिरकाल तक किसे बुलाकर और किसकी ओर चपल मुख करके कथामात्रावशेष हो जाओगे?—ऐसा कह मूर्च्छित हुआ वह हंस राजा के टपकते आँसुओं के सिंचन से बोध को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—अपने बच्चों की सम्भावित दुर्दशा पर विचार करते-करते हंस मूर्च्छित हो गया, जिससे दयाशील नल के आँसू टपकने लगे, जो हंस पर गिरे और उनके कारण उसकी मूर्च्छा छूटी । पक्षिशावक चें-चें बोलते त्वरापूर्वक अपने जननी जनक से चोंच बढ़ाने-खोलते भोज्य ग्रहण किया करते हैं । उन दोनों के दिवंगत हो जाने पर चिल्लाते चिल्लाते थक कर बच्चों का कथावशेष-मृत हो जाना ही स्वाभाविक है । करुणरसपोषिका उक्ति । जाति अथवा स्वभावोक्ति अलङ्कार ॥१४२॥

इत्यमुं विलपन्तममुञ्चद्दीनदयालुतयाऽवनिपालः ।
रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

जीवातु—अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्तैरि'ति काव्यलक्षणाद् वृत्तान्तरेण श्लोकद्वयमाह—इत्थमित्यादिना । इत्थं विलपन्तं परिदेवमानममुं हंसमवनिपालो नलो दीनेष्वार्त्तेषु दयालुतया कारुणिकतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूर्वत्वादवलोकित, यस्मै यदर्थं रूपदर्शनायमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छं गच्छेत्यभिधाय अमुञ्चत् मुक्तवान् । 'दोधकवृत्तमिदम्भभभा गावि'ति लक्षणात् ॥१४३॥

अन्वय —इत्थं विलपन्तम् अमुं दीनदयालुतया अवनिपालः—रूपम् अदर्शि यदर्थं धृतः असि,—इति अभिधाय अमुञ्चत् ।

हिन्दी—इस प्रकार बिलखते उस (हंस) को दीनों पर दयालु होने के कारण पृथ्वीपाल ने यह कहकर कि तुम्हारा रूप दिख गया, जिसके निमित्त तुम्हें पकड़ लिया था—हंस को छोड़ दिया ।

टिप्पणी—करुणा-मलिन हो जो धरती मात्र का पालनहार था, बेचारे हंस को कैसे बन्धन में रख सकता था? अनुप्रास की छटा। दोधक वृत्त, जिसके प्रत्येक चरण में ग्यारह अक्षर होते हैं, तीन भगण (ऽ।।) और अन्त में दो गुरु— 'भभभा गौ' ॥१४३॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान्।
चक्रे स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजना जनयता निजबान्धवानाम्॥

जीवातु—आनन्देति। हंस चक्रनिभचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छलेन नीराजनाजननया कुर्वता निजबान्धवानां 'बन्धमुक्तं बान्धवा नीराजयन्ती'ति समाचारः। प्राक्शोचनात्पूर्वं शोकेन निर्गलिता निःसृता नेत्रपयःप्रवाहा बाष्पपूरास्तानानन्दजाश्रुभिरानन्दबाष्पैरनुस्रियमाणमार्गान् अनुगम्यमानमार्गांश्चक्रे कृतवान्। अत्र पक्षिणां स्वभावसिद्धं चक्रभ्रमणं स्वयूथ्यभ्रमणच्छलशब्देनापह्नुत्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्नुतिभेदः। अत्र चमत्कारित्वान्मङ्गलाचारत्वाच्च सर्वत्र सर्गान्तश्लोकेष्वानन्दशब्दप्रयोगः, यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ती'ति। वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्तं वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति लक्षणात्। सर्गान्तित्वाद् वृत्तभेदः, यथाह दण्डी-'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः। सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्॥' इति॥ १४४॥

अन्वयः—स चक्रनिभचङ्क्रमणच्छलेन नीराजना जनयता निजबान्धवानां प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपयःप्रवाहान् आनन्दजाश्रुभिः अनुस्रियमाणमार्गान् चक्रे।

हिन्दी—उस (मुक्त हंस) ने चक्राकार मँडराने के व्याज से मानो आरती उतारते अपने बान्धवों (साथी हंसों) के पहिले शोक के कारण टपकती अश्रुधार को हर्षोत्पन्न नयनजलधार से अनुगमित होती बनाया।

टिप्पणी—साथी के द्वारा-मुक्त होने पर बन्धुजन प्रायः आरती उतारा करते हैं। हंस के बन्धन में पड़जाने के अवसर में (१२७वें श्लोक के अनुसार) मण्डलाकार मँडराती जो हंसमण्डली शोक के आँसू गिरा रही थी, वह अब प्रसन्न हो आनन्दाश्रु बहाने लगी, अर्थात् बन्धन पर कष्ट पा रही थी,

साथी के मुक्त होने पर प्रमोद से भर उठी। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास अपह्नुति जाति की संसृष्टि है। 'नैषधीयचरित' के प्रत्येक कथा के समाप्ति श्लोक में 'आनन्द' शब्द आता है, जैसे इस श्लोक का आरम्भ ही 'आनन्द' शब्द से है, ऐसे ही प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में कहीं न कहीं आयेगा, इसलिए इस महाकाव्य को 'आनन्दाङ्क' कहा जाता है। वसन्ततिलका वृत्त, जिसका लक्षण है--तगण (SSI), भगण (SII), दो जगण (ISI) और अन्त के दो (SS) गुरु अक्षर,--१४ अक्षरों का एक चरण ॥१४४॥

> श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
> श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
> तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या महा-
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽयमादिर्गतः॥ १४५॥

जीवातु—अथ कविः काव्यवर्णनमाख्यातपूर्वकं सर्गसमाप्तिं श्लोकबन्धेनाह-श्रीहर्षमिति। कविराजराजिमुकुटानां विद्वच्छ्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वज्रमणिः हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामानं यं सुतं सुषुवे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च यं सुतं सुषुवे, तस्य श्रीहर्षस्य यश्चिन्तामणिमन्त्रः तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारभङ्ग्या शृङ्गाररसेन चारुणि निषधानां राजा नैषधो नलः तदीयचरिते नलचरितनामके महाकाव्ये अयमादिः प्रथमः सर्गो गतः समाप्त इत्यर्थः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥१४५॥

इति 'मल्लिनाथसूरि'विरचितायां 'जीवातु'समाख्यायां नैषधटीकायां
प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः श्रीहीरः मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचयं यं श्रीहर्षं सुतं सुषुवे, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारभङ्ग्या चारुणि नैषधीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदिः सर्गः गतः।

हिन्दी—कविराज समूह के मुकुट के अलंकार 'हीरक' के तुल्य श्रीहीर (पिता) और मामल्लदेवी (माता) ने जिस इन्द्रियविजयी श्रीहर्ष पुत्र को जन्म दिया, उस श्रीहर्ष को चिन्तामणिमन्त्र के अनुध्यान जपादि के फलरूप शृङ्गार की भङ्गिमामय उक्तियों से चारु बने नैषधीय चरित्र महाकाव्य का यह आदि सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—यह परिचय श्लोक है, जो प्रत्येक सर्ग के अन्त में है। चिन्तामणिमन्त्र के अनुध्यान से श्रीहर्ष को कवित्व शक्ति प्राप्त हुई थी, जिसका उल्लेख 'नैषधीयचरित' के 'अवामावामार्धे' (१४।८८) श्लोक में है। 'वैदग्ध्यभङ्गीभणिति' ही 'वक्रोक्तिजीवित' कार के अनुसार काव्य है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-रूपक-अलङ्कार हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में उन्नीस अक्षर होते हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), दो तगण (ऽऽ।), अन्तिम गुरु (ऽ) ॥१४५॥

नैषधीयचरित के प्रथमसर्ग में 'चन्द्रिका' हिन्दी-व्याख्या समाप्त।



॥ श्री ॥

नैषधमहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित-

सान्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादथ मुक्तिं पुरुषोत्तमात्ततः।
वचसामपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विजः ॥ १ ॥

जीवातु—अधिगत्येति। अथ मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। जगत्यधीश्वरात् क्ष्मापतेः भुवनपतेश्च 'जगती भुवने क्ष्मायामि'ति विश्वः। पुरुषोत्तमात् पुरुषश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात् प्रकृतान्नलात् अन्यतः प्रसिद्धाच्च मुक्तिं मोचनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य आनन्दो वचसामपि न गोचरः वक्तुमशक्यः, 'यतो वाचो निवर्तन्त' इत्यादेरवाङ्मनसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविन्दत अलभत, विदेर्लाभार्थात् 'कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इत्यात्मनेपदम्, 'शे मुचादीनामि'ति नुमागमः। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयश्लेषानुपपत्तेर्वेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च मुख्यार्थबाधमन्तरेणाऽसम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्तिलक्षणार्थान्तरप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः। अस्मिन् सर्गे एकशतश्लोकपर्यन्तं वियोगिनीवृत्तम्। 'विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी'ति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

अन्वय—अथ स द्विजः ततः जगत्यधीश्वरात् पुरुषोत्तमात् मुक्तिम् अधिगम्य यः वचसाम् अपि गोचरः न तम् आनन्दम् अविन्दत।

हिन्दी—तदनन्तर जिस प्रकार द्विज (विप्र) उस संसार के स्वामी पुरुषोत्तम हरि विष्णु से संसार-मोक्ष पाकर वाणी से भी अवर्णनीय परमानन्द को प्राप्त करता है, उसी प्रकार उस द्विज (पक्षी हंस) ने उस संसार के

अधिपति (राजा) पुरुषश्रेष्ठ नल से छुटकारा पाकर जिसका वर्णन वाणी (शब्दों) से भी नहीं किया जा सकता, उस आनन्द को प्राप्त किया।

टिप्पणी—आनन्द की अनुभूति को अत्यन्त सुखद प्रकट करने के निमित्त उसकी अवाङ्मनोगोचर मोक्ष के आनन्द से समता की गयी है। इस सर्ग में इस श्लोक से लेकर १०१ वें श्लोक (अमृतद्युतिलक्ष्म) तक 'वियोगिनी' छन्द है, जिसके प्रथम तृतीय चरणों में दस अक्षर इस क्रम से होते हैं—दो सगण (IIS), एक जगण (ISI), दसवाँ अक्षर गुरु (S) तथा द्वितीय-चतुर्थ में ग्यारह अक्षर इस क्रम से रहते हैं—एक सगण (IIS), एक भगण (SII), एक रगण (SIS), एक लघु, एक गुरु (IS)। 'प्रकाशकार' ने इसे 'वैतालीय' छन्द कहा है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और श्लेष अलङ्कार हैं, मल्लिनाथ इसमें श्लेष न मानकर अर्थान्तर प्रतीति के कारण 'ध्वनि' ही मानते हैं। उनका कथन है कि अभिधा से प्रकृतार्थ मात्र का नियमन होता है अतः श्लेष सम्भव नहीं और मुख्यार्थ-बाध के अभाव में लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः व्यञ्जना के आश्रय से ही इष्टार्थ-प्रतीति होगी ॥ १ ॥

> अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्।
> करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिखच्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

जीवातु—अधुनीतेति। स खगो हंस उत्फुल्लतनूरुहीकृता नृपकरपीडना-दुद्बुद्धा पतत्रीकृता 'पतत्रं च तनूरुहमि'त्यमरः। तनुं शरीरं नैकधा, नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। नञ्समासे नलोपप्रसङ्गः। अधुनीत धूतवान्। धूञ् कम्पने। वेल्लिङिति लङ्, 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। किं च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूले 'स्त्री पक्षतिः, पक्षमूलमि'त्यमरः चञ्चुपुटेन त्रोटिसम्पुटेन व्यलिखत् विलेखनेन ऋजूचकारेत्यर्थः। एतदादि श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—सः खगः उत्फुल्लतनूरुहीकृतां तनुम् एकधा न अधुनीत। करयन्त्रणदन्तुरान्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलिखत्।

हिन्दी—उस विहग (हंस) ने अपने रोमाञ्चित शरीर को अनेक प्रकार से कम्पित किया, राजा के द्वारा पकड़े जाने से ऊँचे नीचे मध्य भाग वाले पंखों को चोंच से सहलाकर बराबर किया।

टिप्पणी—पकड से छूटे पक्षी की क्रिया का स्वाभाविक वर्णन। स्वभावोक्ति ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वगजङ्घमङ्घ्रिणा।
स्खलनक्षण एव शिश्रिये द्रुतकण्डूयितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

जीवातु—अयमिति। अयं हंसः स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्यर्थः। एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षते पक्षमूलस्याधिमध्य मध्ये ऊर्ध्वगामिनी जङ्घा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तया द्रुतं कण्डूयितमौलिः सत्वरं कम्पितचूडः सन् आलयं निजावासं शिश्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

अन्वय—अयं स्खलनक्षणे एव पक्षतेः अधिमध्योर्ध्वगजङ्घम् एकतमेन अङ्घ्रिणा द्रुतकण्डूयितमौलिः आलयं शिश्रिये।

हिन्दी—वह हंस छूटते क्षण ही पखों के मध्य से जंघा ऊर्ध्वगामिनी कर (पक्ष मूल के बीच से ऊपर को जंघा करके) एक पैर से जल्दी जल्दी सिर खुजलाता हुआ अपने घोंसले में जा बैठा।

टिप्पणी—यह भी पक्षिस्वभाव है। यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार ॥३॥

स गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित्।
नुनुदे तनुकण्डु पण्डितः पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः ॥ ४ ॥

जीवातु—स इति। पण्डितः निपुणः स हंसः गरुतः पक्षा एव वनदुर्गं तत्र दुर्ग्रहान् ग्रहीतुमशक्यान् कटूंस्तीक्ष्णान्दशतः दशतस्तुदतः क्वचित् कुत्रचिदेव सतः वर्तमानान् कीटान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटेः कोट्या अग्रेण कुट्टनैः घट्टनैस्तनुरल्पा कण्डूर्यस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्येति' ह्रस्वः। नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितञितः' इत्यात्मनेपदम् ॥४॥

अन्वय—पण्डितः सः क्वचित् सतः गरुद्वनदुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशतः कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनैः तनुकण्डु नुनुदे।

हिन्दी—उस चतुर पक्षी ने यत्र-तत्र स्थित पंख-रूप वन दुर्ग (अथवा पक्षसमूह रूप दुर्ग) में छिपे रहने से कठिनता से हाथ आने वाले पीडादायक

रूप मे काटते कीडो को कीडा आदि खोदने में अत्यन्त उपयोगी चोंच की नोक से मार-मार कर हटा खुजली को कुछ दूर किया ।

टिप्पणी—दुर्जय दुर्ग में जा छिपे शत्रु को पकड कर उसका वध किया जाता है, तभी उपद्रव मिट पाता है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास, स्वभावोक्ति और श्लेष अलकार, चन्द्रकलाकार के अनुसार रूप, स्वभावोक्ति की संसृष्टि ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैर्लघु पर्य्यव्रियताथ शङ्कितै ।
उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरै ॥ ५ ॥

जीवातु—अयमिति । अथ हंसस्तडागनीडजै सर पक्षिभिस्तत्रत्यहंसै 'नीडोद्भवा गरुत्मन्त' इत्यमर । लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्यव्रियत परिवृत , वृणोते कर्मणि लङ् । अथ परिवेष्टनानन्तरमस्य हंसस्य करग्रहजान्नलकरपीडनजन्याद्विकृतादेव वैकृताद्विलुण्ठितपक्षत्वरूपाद्विकारदर्शनादित्यर्थ , स्वार्थेऽण् प्रत्यय शङ्कितैश्चकितै अतएव विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोषैस्तैरुदडीयतोड्डीनम् डीङो भावे लङ् ॥ ५ ॥

अन्वय —तडागनीडजै लघु एत्य अय पर्यव्रियत, अथ अस्य करग्रहजात् वैकृतात् शङ्कितै विकस्वरस्वरै उदडीयत ।

हिन्दी—सरोवर के घोसलो मे उत्पन्न पक्षियो (हस आदि) ने तुरन्त आकर उस (हस) को चारो ओर से घेर लिया, तदनन्तर हाथ से पकडे जाने के कारण उत्पन्न उसकी विकृति से आशकित हो ऊँचे स्वर मे कोलाहल करते वे उड गये ।

टिप्पणी—'प्रकाश'-कार के अनुसार तीर्थों पर आये व्यक्ति को भी पडे पुजारी घेर लिया करते हैं और फिर झगडा करते, चिल्लाते हट जाया करते हैं । विद्याधर ने इसमे जातिर्वृत्त्यनुप्रास अलकार का उल्लेख किया है और 'करग्रहजात्' को श्लिष्ट माना है । चन्द्रकलाकार ने स्वभावोक्ति का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

दधतो बहुशैवलक्षमना धृतरुद्राक्षमधुव्रत खग ।
स नलस्य ययौ करं पुन सरस कोकनदभ्रमादिव ॥ ६ ॥

जीवातु—दधत इति। अथ स खगो हंसः बहुशैवलं भूरिशैवलं यस्य तस्य तद्बहुशैवलक्ष्म तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानात् सरसः पल्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि शिवभक्तचिह्नानि यस्य स बहुशैवलक्ष्मा तस्य भावः तत्ता तां दधतो दधानस्य नलस्य रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमासः, ते धृता येन तं करं कोकनदभ्रमाद्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययौ, कोकनदं तु रुद्राक्षसदृशमधुव्रतं खलु। अत्र बहुशैवलेत्यादौ शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रतमित्युपमा तत्सापेक्षा चेयं कोकनदभ्रमादिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः॥ ६ ॥

अन्वयः—सः खगः बहुशैवलक्ष्मतां दधतः (वहतः) सरसः नलस्य (बहुशैवलक्ष्मतां दधतः) धृतरुद्राक्षमधुव्रतं करं कोकनदभ्रमात् इव पुनः ययौ।

हिन्दी—वह (हंस) प्रचुर सिवार घास से ढकी धरती को धारण करते सरोवर से (अनेक शिवभक्ति-सूचक अथवा शिव अर्थात् शुभ-सूचक चिह्नों से युक्त) रुद्राक्ष रूप भ्रमरों को नियमतः धारण करते नल के हाथ में (रुद्राक्षों के तुल्य भौंरों से युक्त) मानो लाल कमल के भ्रम से पुनः पहुँच गया।

टिप्पणी—राजा शैव होने के कारण हाथ में रुद्राक्ष धारण किये रहता था, वर्ण-साम्य के आधार पर उनकी समता कोकनद पर बैठे भ्रमरों से की गयी है। प्रकाशकार ने 'रवं रुद् धृता रुद्रास्ते धृतरुद्राः सशब्दाः, रः अग्निस्तद्वदक्षीणि पिङ्गलानि नेत्राणि येषां ते राक्षाः एवम्भूता भ्रमरा यत्र' यह विग्रह करके 'भन-भन करते पिंगल नेत्र भ्रमरों से युक्त' अर्थ भी किया है। नल के पक्ष में 'रुद्रस्य अक्षमान् भुनोति रुद्राक्षमधु तच्च तद्व्रतं च धृतं येन' यह विग्रह करके राजा के हाथ को 'शिवद्रोही को पराभव देने वाला' बताया है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ शब्दश्लेष-उपमा-उत्प्रेक्षा का संकर है। 'इव' के कारण 'भ्रम' की उत्प्रेक्षा हो गयी है, अन्यथा 'भ्रान्तिमान्' अलंकार स्पष्ट है।

पतगश्चिरकाललालनादतिविश्रम्भमवापितो नु सः।
अतुलं विदधे कुतूहलं भुजमेतस्य भजन्महीभुजः॥ ७ ॥

जीवातु—अथास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते—पतग इति। पतङ्गो हंसश्चि-

रकालल्लालनादुपलालनादतिविश्रम्भमतिविश्वासं 'समौ विश्रम्भविश्वासावि' त्यमरः । अवापितः प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुनः स्वयमागच्छेदिति भावः । किञ्च एतस्य महीभुजो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुलं कुतूहलं विदधे कौतुकञ्चकारेत्यर्थः । अत्रोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः शब्दार्थालङ्कारयोस्तिलतण्डुलवत् संसृष्टिः । 'एकद्वित्र्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि सङ्ख्यानियममुल्लङ्घ्य वृत्त्यनुप्रास ईरितः ॥' इति ॥ ७ ॥

अन्वयः—चिरकाललालनात् नु अति विस्रम्भम् अवापितः सः पतगः एतस्य महीभुजः भुजं भजन् अतुलं कुतूहलं विदधे ।

हिन्दी—निश्चयतः बहुत समय तक सान्त्वनादि पाने से अत्यन्त विश्वास को प्राप्त हुआ वह पक्षी उस पृथ्वीपति की भुजा में आकर अत्यन्त कुतूहल को उत्पन्न कर रहा था।

टिप्पणी—राजा द्वारा पकड़ लिये जाने पर उद्धारार्थ रुदन करता हंस छूट कर फिर से उसकी पकड़ में स्वयम् आ गया है, यह निश्चय ही राजा के प्रति हंस के विश्वास और अभय के कारण हुआ। यह कुतूहलजनक भी था ही। क्या कारण है स्वयं हंस के लौट कर आने का? इस श्लोक में तिलतण्डुलवत् स्थित उत्प्रेक्षा-वृत्त्यनुप्रास की संसृष्टि है। कुतूहलोत्पत्ति में भुजहेतुता मानते हुए पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का मल्लिनाथ ने निर्देश किया है ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानसः स निमज्जत्कुतुकामृतोर्मिषु ।
अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

जीवातु—नृपमानसमिति । इष्टमानसः प्रियमानसः स राजहंसः कुतुकहर्षस्तदेव अमृतं सुधा तस्योर्मिषु निमज्जदन्तर्गतं नृपमानसं नलमनः कर्णौ शष्कुल्याविव कर्णशष्कुल्यौ ते कलस्यौ ते अवलम्बिते अवधीकृते धृते च येन तत्तथोक्तं 'नद्यृतश्चे'ति कप् । रचयन् कुर्वन्नवोचत उक्तवान् । जले मज्जन्नपि तरणार्थं कलसमवलम्बते, तद्वत्कर्णं शष्कुली-कलस्यावित्युपमारूपकयोः संसृष्टिः ।

अन्वयः—कुतुकामृतोर्मिषु निमज्जत् नृपमानसम् अवलम्बितकर्णशष्कुलीकलसीकं रचयन् इष्टमानसः सः अवोचत ।

हिन्दी—कुतूहलरूप अमृतलहरियों में डूबते राजा के मानस को कर्णविवर रूप कलशों का सहारा देता मानसरोवर-प्रिय वह (हंस) बोला।

टिप्पणी—राजा का मन, मानस-मानसरोवर है, विचित्र है कि 'मानसर' ही लहरियों में डूब रहा है। डूबते व्यक्ति को बचाने के लिए कलशों—घड़ों का सहारा अपेक्षित होता ही है। भाव यह है कि राजा के कुतूहल को शान्त करता हुआ बोला। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में उपमा रूपक की संसृष्टि है, विद्याधर ने अनुप्रास-रूपक का निर्देश किया है और 'अमृत' को 'श्लिष्ट' कहा है। चन्द्रकलाकार ने 'मानस' की द्विरुक्ति के आधार पर कदाचित् यमक का भी उल्लेख किया है। विरोधाभास भी है—'नृपमानस' में 'मानस' का अर्थ 'सरोवर' न करके परिहारार्थ 'मन' करने से ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर ! मां यदत्यजस्तव धर्मः स दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

जीवातु—मृगयेति । धर्मागममर्मपारगैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदर्शिभिरपि 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' इति गमेर्डप्रत्ययः । नृपैर्मृगया आखेटो न विगीयते न गर्ह्यते । तथापि हे स्मरसुन्दर ! मामत्यज इति यत् स त्यागस्तव दयोदयेनोज्ज्वलो विमलो निरुपाधिक इति यावत् धर्म्मः सुकृतम् । न केवलमाकारादेव सुन्दरोऽसि किन्तु धर्मतोऽपीति भावः ॥ ९ ॥

अन्वयः—धर्मागममर्मपारगैः नृपैः अपि मृगया न विगीयते, स्मरसुन्दर ! यत् माम् अत्यजः सः तव दयोदयोज्ज्वलः धर्मः ।

हिन्दी—धर्मशास्त्रों के मर्म में पारगत नृप भी आखेट की निन्दा नहीं करते, हे काम के समान सुन्दर (अथवा 'स्मर + सुन्दर' पदच्छेद करके 'हे सुन्दर, स्मरण कर') जो तूने मुझे छोड़ दिया, वह तेरा करुणा की उत्पत्ति से उज्ज्वल धर्म है।

टिप्पणी—क्षत्रियों के लिए मृगया स्वाभाविक है वह निन्दनीय नहीं होती, करणीय ही मानी जाती है। राजा ने जो हंस का आखेट नहीं किया, यह उसके करुणापरायण होने का सूचक है। राजा तन से ही सुन्दर नहीं, अतः करण से भी सुन्दर था। काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ ९ ॥

अबलस्वकुलाशिनो झषान्निजनीडद्रुमपीडिन खगान् ।
अनवद्यतृणार्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूभृता घ्नताम् ॥ १० ॥

जीवातु—ननु प्राणिहिंसा कथ न विगीयते तत आह—अबलेति । अबलस्वकुलाशिनो झषा 'दुर्बलस्वकुलघातिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धि, निजनीडद्रुमपीडिनो विण्मोक्षफलभक्षणादिना स्वाश्रयवृक्षपीडाकरान् खगान् अनवद्यतृणार्दिन अनपराधितृणहिंसकान् मृगान्, 'मत्त सज्ञा भवन्त्येते सुखदु खसमन्विता' इति मनुस्मृत्या तत्तृणादीनामपि प्राणित्वात्तद्धिंसा पीडैवेति भाव । सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्यय, घ्नता हिंसता भूभृता मृगया अघाय पापाय न भवति । तद्वधस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युताकरणे दोष इति भाव ॥ १० ॥

अन्वय—अबलस्वकुलाशिन झषान्, निजनीडद्रुमपीडिन खगान्, अनवद्यतृणार्दिन मृगान् घ्नता भूभृता मृगया अघाय न ।

हिन्दी—अपने कुल के निर्बल मीनो को खा जाने वाले मत्स्यों, अपने ही घोंसले—वृक्ष को गन्दा करनेवाले पक्षियो और निरपराध तृणाकुरो को खाने वाले पशुओ को मारने वाले पृथ्वीपालका की मृगया पापनिमित्तिका नही होती ।

टिप्पणी—कहावत है—'छोटी मछली को बडी मछली खा जाती है' । पक्षी भी जिस वृक्ष पर घोंसला बनाते हैं, उसके फल फूल खा जाते हैं, बीट आदि करके गन्दा करते हैं । बेचारे तृण, घास आदि का क्या दोष है कि मृगादि उनका विनाश किया करते हैं । पृथ्वीपालक यदि ऐसे कुलघाती, देशघाती और निर्दोष हन्ताओ को दड देता है, तो उचित करता है । ये सब राजाओं के मृगया विलास का औचित्य प्रमाणित करते हैं, किन्तु नल ने सबसे बडा धर्म अपनाया—प्राणिमात्र पर दया, करुणा, क्षमा । विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास काव्यलिंग, क्रियादीपक अलकार हैं । चन्द्रकलाकार ने पदार्थहेतुक काव्यलिंग और अप्रस्तुतप्रशसा का सकर माना है ॥ १० ॥

यदवादिषमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तत् ।
कृतमातपसज्वर तरोरभिवृष्यामृतमशुमानिव ॥ ११ ॥

जीवातु—तथापि किमर्थं पुनरागतन्त्वयेत्यत आह—यदिति। तव यद-प्रियमवादिषमवोचम्। प्रियमाधाय प्रियं कृत्वा तदप्रियन्तरो कृत स्वकृतमातपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पय कीलालममृतमि'त्यमर। अंशुमानिव नुनुत्सुर्नोदितु प्रमार्ष्टुमिच्छु, नुद–प्रेरण इत्यस्माद्धातो सन्न तादुप्रत्यय ॥११॥

अन्वय—यत् तव अप्रियम् अवादिषम् तत् प्रियम् आधाय तरौ कृतम् आतपमज्वरम् अमृतम् अभिवृष्य अंशुमान् इव नुनुत्सु अस्मि।

हिन्दी—जो मैंने आपको बुरा-भला कहा, उसका निराकरण मैं आपका प्रिय कार्य करके उसी प्रकार चाहता हूँ जैसे किरणमाली सूर्य वृक्षों पर धूप की ऊष्मा से उन्हें पीडित करने के पश्चात् अमृत जल बरसा कर करता है।

टिप्पणी—भविष्य में प्रिय करने का द्योतन। विद्याधर के अनुसार दृष्टान्त-उपमा-परिवृत्ति अलंकार ॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचित हित परिहर्त्तुं न तथापि साम्प्रतम्।
करकल्पजनान्तराद्विधे शुचित प्रापि स हि प्रतिग्रह ॥ १२ ॥

जीवातु—तर्हि भवन्मोचन सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं इष्टोपकारेणेति न वाच्यमित्याह-उपनम्रमिति। अयाचितमप्रार्थितमुपनम्रमुपनत हितम् इह चामुत्र चोपकारक तथापि परिहर्त्तुं न साम्प्रतम् युक्तम्। 'अयाचित हित ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्म्मण' इति स्मरणादिति भाव। तदपि मादृशात् पृथग्जनात् कथ ग्राह्यमत आह करेति। हि यस्मात्कारणात् स प्रतिग्रह करकल्पकरस्थानीयमित्यर्थ। ईषदसमाप्तौ कल्पप्प्रत्यय, यज्जनान्तर स्वय यस्य तस्माच्छुचे शुद्धाद्विधे ब्रह्मण प्राप्त न तु मत्त इति भाव। आप्नोते कर्म्मणि लुङ्। विधिरेव ते दाता अह तस्योपकरणमात्रम्, अतो न याच्ञालाघवस्त्वेवेति भाव।

अन्वय—अयाचितम् उपनम्र हित तव अपि परिहर्त्तुं साम्प्रत न हि स प्रतिग्रह करकल्पजनान्तरात् शुचित विधे प्रापि।

हिन्दी—अप्रार्थित, उपस्थित प्रिय (वस्तु) आप जैसे समर्थ राजा को भी छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि वह दान हस्तस्थानीय (हाथ जैसे) अन्य व्यक्ति (मुझ हंस) के माध्यम से शुद्ध भाग्य से ही प्राप्त हुआ है।

टिप्पणी—नल जैसे समर्थ व्यक्ति किसी से याचना नहीं करते, दान नहीं लेते, इस कारण हंस जो कुछ प्रिय देना अथवा करना चाहता है, उससे उपकृत होने में संकोच हो सकता है। इस संकोच के निराकरणार्थ हंस का यह तर्क है कि समर्थ व्यक्ति को भी भाग्यवशात् बिन माँगे मिले अभीष्ट का ग्रहण करना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ प्राप्ति में दैव ही कारण है, उसका परिहार कोई कर ही नहीं सकता, सो राजा को भी स्वीकारने में संकोच करना तर्कसंमत नहीं है। और हम तो एक प्रकार से अदृश्य दैव का हाथ है, जिसके माध्यम से नल का प्रियसाधन हो रहा है। काव्यलिंग अलंकार ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ?।
इति वेद्मि, न तु त्यजन्ति मां तदपि प्रत्युपकर्तुमर्त्तयः ॥ १३ ॥

जीवातु—ननु सार्वभौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह—पतगेनेति। पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पते सार्वभौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते शक्यते किं न भूयत एवेत्यर्थः, भावे लट्, इति वेद्मि अक्षमत्वं जानामि। तदपि तथाप्यर्त्तयो मास्तु त्वया विनिवर्तिता इति भाव। मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थः। अत्र पतगोऽप्यहं महोपकारिणस्ते महोपकारं करवाणीति भाव ॥१३॥

अन्वय—जगत्पते तव उपकृत्यै मया पतगेन किं प्रभूयते ? इति वेद्मि, तदपि अर्त्तयः तु मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति।

हिन्दी—संसार के स्वामी तेरा उपकार मैं सामान्य पक्षी क्या कर सकता हूँ ? (नहीं कर सकता) यह मैं समझता हूँ, तथापि तेरा प्रत्युपकार करने की तीव्रतम आकुलताएँ मुझे नहीं छोड़ती।

टिप्पणी—एक चक्रवर्ती नरेन्द्र का एक सामान्य निरीह पक्षी उपकार क्या करेगा ? यह तथ्य जानते बूझते हुए भी हंस इतना विवश है राजा के उपकार का बदला देने के लिए कि प्रत्युपकार की उद्दाम इच्छा उसे पीड़ादायक प्रतीत हो रही है, इस असमर्थ-जैसे निरीह पक्षी को भी राजा के हितसाधनार्थ विवश कर रही है—प्रेरित कर रही है। हेतु और अनुप्रास ॥ १३ ॥

अचिरादुपकर्तुराचरेदथवात्मौपयिकीमुपक्रियाम् ।
पृथुरित्यथवाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः ॥१४॥

जीवातु—अथवा यथाशक्तिपक्षोऽप्यस्तीत्याह-अचिरादिति । अथवा उपकर्तुर-चिरादविलम्बादुपाय एवौपयिकं, विनयादित्वात् स्वार्थे ठक् 'उपधाया ह्रस्व'च्छे'ति ह्रस्व, तत आगता औपयिकी तामात्मौपयिकीं स्वोपायसाध्या-मित्यर्थः, 'तत आगत' इत्यण् प्रत्यये 'टिड्ढाणञि'त्यादिना ङीप् । उपक्रियामाचरेत् प्रत्युपकारं कुर्यात्, चरपार्थोऽविधिलिङ् । इत्थमेव सति सोपक्रिया पृथुरधिकाऽस्तु अथ अथवा अणुरल्पाऽस्तु विदुषां विवेकिनामिहास्मिन् विषये विशेषे ग्रह आग्रहो न । गुणग्राहिणो विवेकिन कृतज्ञतामेव कस्य पश्यन्ति, न दोषमन्विच्छन्तीत्यर्थः. ॥१४॥

अन्वय —अथवा अचिरात् उपकर्तुः औपयिकीं क्रियाम् आचरेत्, इत्थं सा पृथुः अथ अणुः अस्तु, इह विदुषां ग्रहः न ।

हिन्दी - इसके अतिरिक्त यह भी है कि अविलम्ब उपकारक का प्रिय (प्रत्युपकार) अपने द्वारा साध्य उपाय से करे इस स्थिति में वह चाहे बड़ा है अथवा छोटा, इसका समझदारों में कोई आग्रह नहीं होता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रत्युपकार तुरन्त करना उचित है, छोटे-बड़े की चिन्ता किये बिना अपनी शक्ति भर उपकारी का प्रिय साधन अविलम्ब करना विद्वज्जनानुमोदित है । अप्रस्तुत-प्रशंसा और छेकानुप्रास ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रव्यमिदं मदीरितम् ।
खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुदं दास्यति कीरगीरिव ॥ १५ ॥

जीवातु—अथ स्ववाक्ये आदरं याचते—भवितेति । हे नृप ! इदं वक्ष्यमाणं मदीरितं मद्वचः मद्वचनं विचारे विमर्शे चारु युक्तं न भविता न भविष्यति चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रव्यं श्रोतव्यम् । इयं खगवागित्यतोऽपि हेतो. कीरगी शुकवागिव मुदं किं न दास्यति दास्यत्येव । प्रयोजनाभावेऽपि कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थः, ददाते लृट् ॥ १५ ॥

अन्वय —इदं मदीरितं विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रव्यम्, इयं खगवाक्, इत्यतः अपि कीरगीः इव किं मुदं न दास्यति ?

हिन्दी—यह जो मेरा कथन सभव है विचार करने पर सुन्दर न प्रतीत हो, तथापि सुनना तो उचित ही है, 'यह पक्षी की वाणी है'—इससे भी क्या तोते की वाणी के तुल्य आनन्द न देगी ? (देगी ही)।

टिप्पणी—भले ही हस का कथन मीमासा करने पर महत्वपूर्ण न प्रतीत हो, तथापि राजा को इस कारण हो सुन लेना चाहिए कि तोते के समान यह हस भी मनुष्य की वाणी बोल रहा है। मनुष्य-भाषा बोलते हस को सुनना असमहत्व का होने पर भी एक सुन्दर आश्चर्य की तुष्टि तो करता ही है। उपमा और अनुप्रास ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्थसार्थकीकृतनामा किल भीमभूपतिः ।
यमवाप्य विदर्भभूः प्रभु हसति द्यामपि शक्रभर्तृकाम् ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ यद्वक्तव्य तदाह—स इति। अर्थेन अभिधेयेन सह वर्तत इति सार्थकम्, 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहि, 'वोपसर्जनस्ये'ति सह-शब्दस्य विकल्पात् सभाव 'शेषाद्विभाषे'ति कप् समासान्त, तदभिन्नभूत-तद्भावे। अरिसार्थेषु शत्रुसङ्घेषु सार्थकीकृत नाम भीम इत्याख्या येन स सयोक्त स प्रसिद्ध बिभ्यत्यस्मादिति भीम 'भियो म' इत्यपादानार्थे निपात-नात्मप्रत्यय औणादिक, भीम इति भूपति नृप जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्तते खलु। विदर्भभूर्विदर्भदेश य भूपति प्रभु भर्तारमवाप्य शक्रो भर्ता यस्यास्ता शक्रभर्तृका 'नद्यृतश्चे'ति कपि द्यामिवमपि हसति, किमुतान्यभर्तृ-कदेशानित्यथ । स्त्रियो हि भर्तृसुत्कर्षाद्धास कुर्वन्तीति भाव । अत्र विदर्भ-भुवोऽपि धुहासासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति ॥ १६ ॥

अन्वय—अरिसार्थकीकृतनामा स भीमभूपतिः जयति किल, य प्रभुम् अवाप्य विदर्भभू शक्रभर्तृका द्याम् अपि हसति ।

हिन्दी—शत्रुओ के दल मे जिसने (भयकर युद्ध करके अपना भीम) नाम सार्थक कर दिया है, वह भीम भूपाल सर्वदा जय प्राप्त करे, जिसको स्वामी पाकर विदर्भ की भूमि इन्द्र जिसका स्वामी है, ऐसी स्वर्गभूमि का भी उपहास करती है।

टिप्पणी—विदर्भ भूमि का स्वामी भीम पराक्रमी शासक है, वह प्रजा-रंजक भी है, समृद्ध भी है, जिसके सम्मुख इन्द्र और उसकी स्वर्ग भूमि भी नगण्य है। विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास और उपमा अलंकारों का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने असम्बन्ध में सम्बन्ध कथन के आधार पर अतिशयोक्ति का, चन्द्र-कलाकार अतिशयोक्ति और अर्थापत्ति की संसृष्टि मानते हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुषस्तनयां तथ्यगिरस्तपोधनात् ।
वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसदृग्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

जीवातु—दमनादिति । स भीमभूपतिरमनागनल्पं प्रसेदुषो निजोपास्‍-त्या प्रसन्नात् 'भाषाया सदवसश्रुव' इति सदेर्लिट् क्वस्वादेशः । दमनाद्दम-नाख्यात् तथ्यगिर अमोघवचनात् तपोधनाद्दिष्टानां कालानां विष्टपानां लोकानाञ्च त्रितयेष्वोरनन्यसदृशी गुणोदया कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधा-रणप्रकर्षां तनयां दुहितरं वरमाप । वरलेन लब्धवानित्यर्थः । 'देवाद्वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबे मनाक् प्रिय' इत्यमरः ॥ १७ ॥

अन्वय—सः अमनाक् प्रसेदुषः तथ्यगिरः तपोधनात् दमनात् दिष्टविष्टप-त्रितयानन्यसदृग्गुणोदयां तनयां वरम् आप ।

हिन्दी—उस (भीमनृपति) ने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता (जिनका वचन झूठा न हो) तपस्वी दमन से कालत्रय (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) और लोकत्रय (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) में भी असाधारण रूप-गुणवती है, ऐसी पुत्री का वर पाया।

टिप्पणी—दमयन्ती अनुपम रूप गुणवती है,—यह कह कर नल की उसके प्रति उत्कंठा जागरित करने की चेष्टा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और व्यतिरेक, चन्द्रकलाकार ने केवल 'दमनादमनाक्' के यमक का निर्देश किया है॥

भुवनत्रयसुभ्रुवामसौ दमयन्ती कमनीयतामदम् ।
उदियाय यतस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधां दधौ ॥ १८ ॥

जीवातु—अथास्या नामधेयं व्युत्पादयन्नेवाह—भुवनत्रयेति । असौ वर-प्रसादलब्धा तनया कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौन्दर्येण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवां त्रैलोक्यसुन्दरीणां कमनीयतामदं सौन्दर्यगर्वं दमयन्ती यस्त दमयन्ती दमेर्ण्य-

न्तात् 'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवाद परस्मैपदप्रतिषेधेऽप्यकर्त्रभिप्रायविवक्षायां परस्मैपदे लट् शानादेश । उदियाय उदिता, इणो लिट्, ततस्तस्मादेव निमित्ताद्दमयन्तीत्यभिधामाख्यां दधौ, दधातेर्लिट् ॥१८॥

अन्वय —यत् असौ भुवनत्रयसुभ्रुवां कमनीयतामदं तनुश्रिया दमयन्ती उदियाय तत् 'दमयन्ती' इति अभिधां दधौ ।

हिन्दी—क्योंकि यह (भीमतनया) तीनों भुवनों की सुनयनाओं के सौन्दर्य गर्व को तन की शोभा से दमन करती उत्पन्न हुई, इससे (इसका) 'दमयन्ती'—यह नाम रखा गया ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती का त्रिलोक सुन्दरियों में अप्रतिम बताया गया था यहाँ उसी की एक प्रकार से पुष्टि की गयी है। विद्याधर ने यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, किन्तु त्रिलोक सुन्दरियों से दमयन्ती की श्रेष्ठता प्रतिपादित होने के कारण चन्द्रकलाकार यहाँ व्यतिरेक अलंकार मानते हैं ।१८।

श्रियमेव परं धराधिपाद् गुणसिन्धोरुदितामवेहि ताम् ।
व्यवधावपि या विधोः कला मृडचूडानिलया न वेद कः ॥ १९॥

जीवातु—अथ कविरतिशयोक्त्या श्रिया रूपत्वेन दमयन्तीं वर्णयति—श्रियमिति । हे नृप ! तां दमयन्तीं गुणसिन्धोः गुणसागराद्धराधिपाद्भीमनरेन्द्रादुदितामुत्पन्नां श्रियं साक्षाल्लक्ष्मीमेव परं ध्रुवमवेहि जानीहि, अवपूर्वादिणो लोटि 'सेर्ह्यपिच्चे'ति ह्यादेशे ङित्त्वान्न सार्वधातुकगुणः, महितायाम् 'आद्गुणः' अत्र केवलावपूर्वस्य इणो ज्ञानार्थत्वाद्प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाङोश्चे'ति पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपन्यासो वृथा । प्रशान्य स्यात् 'अवेहीति वृद्धिरेत्ये'ति वामनसूत्रमप्यनाङ्प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपरं गुण एव युक्त इति व्याख्यानाद्यथा 'ओमाङोश्चे'ति, पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति । ■ ष दशाव्यवधाना न क्षीरेवेति वाच्यमित्याह–व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गे घोः किरि'ति किप्रत्ययः मृडचूडानिलया हरशिखाश्रया कला विधोरिन्दोरेव कला को वा न वेद ? सर्वोऽपि वेदेवेत्यर्थ, 'विदो लटो वे'ति वैकल्पिको णलादेशः । यथा हरशिरोगतापि कला चन्द्रस्यैव, तथा भीमभवनोदिताऽप्येषा क्षीरवेति सो दर्शातिशयोक्ति । अत्र श्रीकलयो नृपमृडौ वाक्यद्वये बिम्बप्रति-

बिम्बभावेन सामान्यधर्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः। 'यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते। सामान्यधर्मः काव्यज्ञैः स दृष्टान्तो निगद्यते॥' इति लक्षणात्॥ १९॥

अन्वय—त्वा पर गुणेभ्यो धराभिरात् उदिता श्रियम् एव अवेहि, वा अवयवी अपि मृडचूडानिलया विधोः कला कः न वेद?

हिन्दी—हे नल, आप उसे गुणों के आदर पूर्वक पृथ्वीपति से समुत्पन्न निश्चय रूप से लक्ष्मी ही समझिए, अथवा अन्तराय होने पर भी महादेव के मस्तक पर जिसका आवास है, उस चन्द्र की कला को कौन नहीं जानता? (सब ही जानते हैं।)

टिप्पणी—धरती की लक्ष्मी दमयन्ती के विषय में सर्वत्र ख्याति है, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सभी उसके विषय में जानते हैं, जैसे अप्रत्यक्ष महादेव की चूडालग्ना चन्द्रकला से सभी परिचित होते हैं, अतः राजा नल भी दमयन्ती के विषय में सब जानते ही होंगे। अधिक कहना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक और आक्षेप अलङ्कार हैं, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति और दृष्टान्त, क्योंकि दमयन्ती को 'भीमभवनोदिता श्री' कहकर सौन्दर्यातिशय कथन है और 'श्री-चन्द्रकला' तथा 'भीम महादेव' सामान्य धर्म होने से बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से निर्दिष्ट हैं। चन्द्रकलाकार ने रूपक-दृष्टान्त की संसृष्टि मानी है॥ १९॥

चिकुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषी मूर्द्धनि सा बिभर्त्ति यान्।
पशुनाप्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण कः॥ २०॥

जीवातु—चिकुरप्रकरा इति। चिकुरप्रकराः केशसमूहाः जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते, यान् वेत्तीति विदुषी विचक्षणा 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चे'ति ङीप् 'वसोः सम्प्रसारणम्'। सा दमयन्ती मूर्द्धनि बिभर्त्ति, विद्वद्धृत एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भावः। अतएव पशुना तिरश्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानादृतेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेषां चिकुराणां समीकरणं क इच्छतु? न कोऽपीत्यर्थः। सम्भावनायां लोट्। अत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृतपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात्॥ २०॥

अन्वय—विदुषी सा यान् मूर्धनि बिभर्त्ति ते चिकुरप्रकराः जयन्ति, पशुना अपि अपुरस्कृतेन चापरेण तत्तुलना कः इच्छतु ?

हिन्दी—बुद्धिमती वह जिन्हें शिरोधार्य किये है, वे जयी हैं (सर्वोत्कृष्ट) हैं) केश-समूह, पशु (सुरा गाय) ने भी जिन्हें पुरस्कृत नहीं किया (पृष्ठभाग पूँछ में रखा) उन चमरी-केशों से कौन दमयन्ती की चिकुरराशि की तुलना करना चाहेगा ? (कोई नहीं ।)

टिप्पणी—चमरी के तुलनायोग्य केशों से भी दमयन्ती के चिकुरजाल की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का अद्भुत तर्क । मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और व्यतिरेक । काकु वक्रोक्ति ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वना खुरकण्डूयनकैतवान्मृगाः ।
जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

जीवातु—स्वदृशोरिति । मृगा हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरायतयोरीक्षणयोरक्ष्णोः शोभया लक्ष्म्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमील्योः सत्प्रयमाननिमीलनयोः स्वदृशोर्निजनयनयोः खुरैः शफैः 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इत्यमरः । कण्डूयनस्य घर्षणस्य कैतवाच्छलात्सान्त्वना जनयन्ति लालनां कुर्वन्ति । यथा लोके परपराजिता निमीलिताक्षाः स्वजनैर्भयनिवृत्तये करतलास्फालनादिना परिसान्त्व्यन्ते तद्वदिति भावः । अत्र कैतवशब्देन कण्डूयनमपह्नुत्य सान्त्वनारोपादपह्नवभेदः ॥ २१ ॥

अन्वय—मृगाः तदखर्वेक्षणशोभया जितयोः भयात् उदयत्प्रमीलयोः स्वदृशोः खुरकण्डूयनकैतवात् सान्त्वना जनयन्ति ।

हिन्दी—हरिण उसके विशाल नेत्रों की शोभा से विजित हो भय से मूँद गये (तन्द्रा से निमीलित अपने नेत्रों को खुर से खुजाने के ब्याज से सान्त्वना देते हैं ।

टिप्पणी—हारे व्यक्ति को सहलाकर सान्त्वना दी जाती है, सो मृग भी दमयन्ती के विशाल नयनों से पराजित अतएव त्रस्त हो मुँदे नेत्रों को खुर से

सहला कर सान्त्वना देते हैं। तन्द्रालु मृग को खुजलाना मृग-स्वभाव है। द्रष्टव्य–'शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः'। (कालिदास, कुमारसम्भव)। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नुति-अलंकार और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति तथा अपह्नुति, चन्द्रकलाकार के अनुसार कैतवापह्नुति प्रतीयमानोत्प्रेक्षा की संसृष्टि ॥ २१ ॥

> अपि लोकयुगं दृशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।
> श्रुतिगामितया दमस्वसुर्व्यतिभाते सुतरां धरापते ! ॥ २२ ॥

जीवातु—अपीति। हे धरापते ! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य स्वसुर्दमन्त्या लोकयुगं मातापितृकुलयुगं श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरां व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कर्णान्तविश्रान्ततया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण भातस्तथा श्रुताः श्रुतिप्रसिद्धाः ते च ते दृष्टा लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षायां विशेषणसमासः, ते रमणीगुणाः स्त्रीधर्मा अपि श्रुतिगामितया जनैः श्रूयमाणतया 'श्रुतिः श्रोत्रे तथाम्नाये वार्त्तायां श्रोत्रकर्म्मणी'ति विश्वः। सुतरां व्यतिभाते व्यतिहारेण भान्ति। 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्यादादेशः, सर्वत्र 'कर्त्तरि कर्म्मव्यतिहारे' इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम्। अत्र लोकयुगादीनां त्रयाणामपि प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिताभेदः। 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवलं तुल्यधर्म्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिते'ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

अन्वय—धरापते, दमस्वसुः लोकयुगं, दृशौ, श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि श्रुतिगामितया सुतरां व्यतिभाते।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी, दमस्वसा (दमयन्ती) के दोनों कुल (मातृ पितृ कुल), दोनों नेत्र और सुने देखे रमणीजनोचित सौन्दर्यादि गुण भी श्रुतिगामी (जगद्विख्यात मातृपितृकुल), कान तक फैले (विशाल नयन) तथा लोकवर्णन-विषय (रमणीगुण) होने से परस्पर अत्यन्त सुशोभित होते हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के मातृ-पितृकुल विख्यात हैं, वह विशालनयना, आकर्णविशालनेत्रा है, उसके नारीजनोचित रूप गुण की चर्चा लोक-जीवन का अंग है, अनेकार्थ 'श्रुति' शब्द का प्रयोग कर कवि ने पदार्थों की उत्कृष्टता का एक ही कारण निर्देश किया है—'श्रुतिगामिता' 'श्रुत' (पुराणादि, सामुद्रिक शास्त्रादि में वर्णित) तथा 'दृष्ट' (किन्हीं सुन्दरियों में देखी गयी) जो नार्युचित विशेषताएँ हैं, वे सब दमयन्ती में हैं। इस श्लोक में 'व्यतिभाते' (वि=अति+भा) का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है, 'प्रकाश'-कार के अनुसार यह 'वचनश्लेष' है, अर्थात् तीनों वचनों में एक सदृश रूप-व्यति +भा+लट्+त = व्यतिभाते (एकवचन)। व्यति+भा+आताम्= व्यतिभाताम्, 'टित आत्मने पदानां टेरे' (अष्टा ३।४।७९) से एत्व=व्यति-भाते (द्विवचन)। व्यति+भा+झ =अत तथा पूर्वोक्त प्रणाली से एत्व (बहुवचन)। इस प्रकार एक 'व्यतिभाते' क्रिया तीनों कर्ताओं से सम्बन्धित हो गयी—(१) लोकयुगम्—एकवचन, (२) दृशौ—द्विवचन, (३) रमणीगुणा—बहुवचन। 'व्यतिभाते' का अर्थ है कर्म विनिमय से भासित होना। इस प्रकार पितृकुल मातृकुल से व्यतिभासित है और पितृकुल मातृ-कुल से, दक्षिण नेत्र की शोभा को बायाँ नयन स्वीकारता है, वामनेत्र की दक्षिण नेत्र, जो शास्त्रों में वर्णित (श्रुत) गुण हैं, वे दमयन्ती में दृष्ट—देखे गये हैं, जो दमयन्ती में देखे जाते हैं—'दृष्ट' हैं, वे ही शास्त्रों में 'श्रुत' हैं। अथवा इन सब युग्मों की परस्पर-एक दूसरे से शोभा है-मातृकुल पितृकुल से सुशोभित है, पितृकुल मातृकुल से, इसी प्रकार दोनों नेत्र अन्योन्य से। शास्त्रादि में 'श्रुत'—वर्णित रमणीगुणों की सार्थकता दमयन्ती में 'दृष्ट' होने से है और जो उसमें दृष्ट हैं, वे ही शास्त्रविख्यात हैं। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में तुल्य-योगिता अलंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ वचन श्लेष-क्रियाकारक और दीपक की समृष्टि है। चन्द्रकलाकार के अनुसार वचनश्लेष-तुल्ययोगिता का एकाश्रयानुप्रवेश संकर है॥ २२॥

> नलिनं मलिनं विवृण्वती पृषतीमस्पृशती तदीक्षणे।
> अपि खञ्जनमञ्जनाञ्चिते विदधाते रुचिगर्वदुर्विधम्॥ २३॥

जीवातु—नलिनमिति । नलिनं पद्मं मलिनमचारु विवृण्वती कुर्वाणे पृषतीं मृगीमस्पृशती असमानत्वात् दूरादेव परिहार इत्यर्थः, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कज्जलपरिष्कृते सती खञ्जनं खञ्जरीटाख्यं खञ्जनामकः पक्षिविशेषं 'खञ्जरीटस्तु खञ्जनः' इत्यमरः । तमपि रुचिगर्वदुर्विधं चारुत्वगर्वनिःस्वं विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुपमेये इत्यर्थः । 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः' इत्यमरः । ईक्षणयोर्नलिनादिमलिनीकरणाद्यसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तया चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥

अन्वय—नलिनं मलिनं विवृण्वती, पृषतीम् अस्पृशती अञ्जनाञ्चिते तदीक्षणे खञ्जनम् अपि रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते ।

हिन्दी—कमल को मलिन बनाने वाले, हरिणी की अगणना करनेवाले काजल लगे उसके नेत्र खञ्जन को भी सौन्दर्याभिमान से रहित बना देते हैं।

टिप्पणी—नेत्रों के प्राय: तीन उपमान हैं, कमल, हरिणनयन, खञ्जन। दमयन्ती के नयनों के सम्मुख तीनों हीन हैं। अन्वय भेद से इसके अन्य अर्थ भी होते हैं। 'पृषती' का अर्थ हरिणी भी है और काजल लगाने की शलाका (सलाई) भी। इस प्रकार एक यह अर्थ हुआ कि काजल की शलाका का स्पर्श किये बिना इसके विशाल कज्जल-रहित नयन कमलों को फीका कर देते हैं, अञ्जनखचित होकर तो खञ्जन का भी सौन्दर्य-गर्व खर्व कर देते हैं। और भी अर्थ हो जाते हैं—'मलिन विवृण्वती' अर्थात् स्वगत श्याम गुण का दृष्टिवश प्रसार करती 'नलिन' पर भी श्यामता बिखेर कर उसे मलिन बना देती है अथवा 'मलिन मलिन रुचिगर्वदुर्विधं विदधाते', नीलोत्पल का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देती है। 'अस्पृशती तदीक्षणे' विस्तार को अप्राप्त उसके नेत्र हरिणी का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देते हैं, कमल को मलिन कर देते हैं, जब विस्तार पाते हैं, तो शुक्ल कृष्ण, अतितरल, अतिचञ्चल खञ्जन का भी सौन्दर्याभिमान भग हो जाता है। भाव यह है कि दमयन्ती के नेत्रों के सम्मुख कोई उपमान ठहरता नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध-कथन रूपा अतिशयोक्ति से उपमा व्यञ्जित होती है, अतः अलङ्कारध्वनि है, विद्याधर के अनुसार छेका-

नुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार हैं, चंद्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-व्यतिरेक के अंगांगिभाव से संकर का उल्लेख किया है ॥ २३ ॥

> अधरं खलु बिम्बनामकं फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।
> लभतेऽधरबिम्बमित्यदः पदमस्या रदनच्छदं वदत् ॥ २४ ॥

जीवातु—अधरमिति । अधरबिम्बमित्यदः पदम् अधरं बिम्बमिवेत्युपमितसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेपुंयत्पदं प्रयुज्यते तदित्यर्थः । अस्या दमयन्त्या रदनच्छदम् ओष्ठमविदधत् तदभिधानाय प्रयुक्तं सदित्यर्थः । बिम्बनामकं फलं बिम्बमस्माद्दमयन्तीरदनच्छदादधरं किलापकृष्टं खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टार्थत्वे अधरं बिम्बं यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमबाधितमन्वयं वृत्तिपदार्थसंसर्गलक्षणं लभते, अन्यथा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थः पदविधिरि'ति समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि नोपमा स्यादिति भावः । अत्र दमयन्तीदन्तच्छदस्य बिम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः पूर्ववद् ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

अन्वय—अधरबिम्बम् इति अदः पदम् अस्या रदनच्छदं वदत् बिम्बनामकं फलम् अस्मात् अधरं खलु—इति भव्यम् अन्वयं लभते ।

हिन्दी—'अधर बिम्ब' (अधर बिम्ब के सदृश है) यह पद (शब्द) इस (दमयन्ती) के ओष्ठाधर के अभिधान के निमित्त प्रयुक्त होता हुआ 'बिम्ब नाम का फल इस ओष्ठ से निश्चयतः अधर (निम्न) है'—समीचीन अन्वय को प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के रदनच्छद के सम्मुख रक्तवर्ण बिम्बफल भी हीन है, यह कह कर कवि उपमान (बिम्ब) से उपमेय (ओष्ठ) की उत्कृष्टता सिद्ध करना चाहता है । इस भाव के लिए उसने एक अनूठी कल्पना की है । सामान्यतः 'अधर-बिम्ब' का अर्थ 'अधर बिम्ब के समान है'—करने के लिए यह कर्मधारय समास से निष्पन्न शब्द माना जाता है—'अधरो बिम्ब इव', किन्तु दमयन्ती के संदर्भ में कवि के अनुसार यह समास उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि उसका ओष्ठ बिम्ब से श्रेष्ठ है, वहाँ बहुव्रीहि समास करने पर ही शब्दतः और

अर्थात् सम्मता आ सकेगी–'अधर (निम्नतरम्) बिम्ब यस्मात् तद्'–निकृष्ट है बिम्बफल जिससे। इस प्रकार ही अर्थ में उपयुक्तता आ सकेगी। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, किन्तु मल्लिनाथ पूर्वश्लोक के तुल्य ही इसमें भी अतिशयोक्ति और अलंकार-ध्वनि मानते हैं, चन्द्रकृतासार व्यतिरेक॥ २४॥

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥ २५॥

जीवातु–हृतसारमिति। इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणायेत्यर्थः। 'क्रियार्थोपपदस्ये'ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्धृतमध्यांशमिव, कुतः? कृतमध्यबिलं विहितमध्यरन्ध्रमत एव धृतो गम्भीरखनीखस्य निम्नमध्यरन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैल्यन्तया विलोक्यते, 'खनि' स्त्रियामाकर स्यादि'-त्यमरः। 'कृदिकारादक्तिन' इति ङीप्। अत्र कलङ्कापह्नवेन खनीलिमारोपादपह्नवभेदः, स च कृतमध्यबिलमित्येतत्पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणित, तदपेक्षा चेयं हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः। तया चापमा व्यज्यत इति पूर्ववद् ध्वनिः॥ २५॥

अन्वय—इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा हृतसारम् इव कृतमध्यबिलं धृतगम्भीरखनीखनीलिम विलोक्यते।

हिन्दी—ऐसा प्रतीत होता है–विधाता द्वारा दमयन्ती के मुख की सरचना के निमित्त चन्द्रबिम्ब का श्रेष्ठ अंश ले लिया गया, अतः उसके मध्य में छिद्र हो गया, जिससे (कलङ्क चिह्न रूप में) उस गहरे गड्ढे में आकाश की नीलिमा दिखायी पड रही है।

टिप्पणी—चन्द्रमा का कलङ्क वस्तुतः कलङ्क-चिह्न नहीं है, यह तो दमयन्ती-मुख-रचना के लिए ले लिये गये उसके श्रेष्ठांश के अभाव में पड़े गर्त्त के पीछे से दीखती नभोमण्डल की नीलिमा है–इस उक्ति से कवि प्रतिपादित करना चाहता है कि दमयन्ती-वदन निष्कलङ्क चन्द्र के श्रेष्ठांश के सदृश सम्भव है, यह चन्द्र उसके सम्मुख हीन है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अनुप्रास, मल्लिनाथ के अनुसार कलङ्क का अपह्नव करके आकाश-नीलिमा का आरोप

होने से अपह्नुति है, जो 'कृतमध्यबिलम्'–इस पदार्थहेतुक काव्यलिंग से अनुप्राणित है। 'हृतसारम्'–इत्यादि उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार यहाँ अपह्नुति-काव्यलिंग-उत्प्रेक्षा का संकर है। उत्प्रेक्षा से उपमा व्यंजित है, सो अलंकारध्वनि भी है ॥ २५ ॥

घृतलाञ्छनगोमयाञ्चनं विधुमालेपनपाण्डरं विधिः ।
भ्रमयत्युचितं विदर्भजाननीराजनवर्द्धमानकम् ॥ २६ ॥

जीवातु—घृतेति । विधिर्ब्रह्मा धृतं लाञ्छनमङ्कः एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसंश्लेषणम् एनम् आलेपनपाण्डरं निजकान्तिसुधाधवलित-मित्यर्थः, विधुं चन्द्रमेव विदर्भजाननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवर्द्धमानकं नीराजनशरावम् 'शरावो वर्द्धमानकः' इत्यमरः। किरणदीपकलिकायुक्तमिति भावः। भ्रमयत्युचितम् लोकोत्तरत्वात् इति भावः, एवं नीराजयतीति देशाचारः। अत्र विधुतल्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन निरूपणा-त्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—विधिः घृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डरं विधुं विदर्भ-जाननीराजनवर्द्धमानकं भ्रमयति–(इति) उचितम्।

हिन्दी—ब्रह्मा कलङ्क-चिह्न रूप गोबर के अंचन (लेप) से युक्त, पिष्टो-दक (ऐपन) से भरे चन्द्र को विदर्भतनया (दमयन्ती) के मुख की आरात्रिका (आरती) के निमित्त मृत्पात्र (मिट्टी का वर्तन–शराव, सरैया) के समान जो घुमाता है, सो वह उचित ही करता है।

टिप्पणी—सूर्य चन्द्र सब ईश्वरेच्छा से घूमा ही करते हैं–यह प्रकृति का नियम है। कवि दमयन्ती के मुख के सम्मुख चन्द्र कहीं निकृष्ट है–यह प्रमाणित करने के लिए चन्द्र-भ्रमण का कारण बताता है कि दमयन्ती के मुख की आरती उतारने के लिए ब्रह्मा की चेष्टा, जिससे इस सलोने मुखड़े को नजर न लग जाय, संपूर्ण दृष्टिदोषों का निराकरण हो जाय–उर्दू-मुहावरे के अनुसार 'चश्मे-बद्दूर'। चन्द्रमा को गोबर से लिपा ऐपन से पूरा किया गया मिट्टी का पात्र बनाया गया है, जिससे वह दृष्टिदोष निराकरण हो रहा है। लोकजीवन में भी

गोबर लिपे, ऐपन से चिह्नित शराव से नजर उतारी जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार सावयव रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और सम अलंकार—योग्यता के कारण योग की यदि सम्भावना हो तो सम होता है—'समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्।' चन्द्रकलाकार ने यहाँ सावयव रूपक और असंबंध में सम्बन्ध कथन रूपा अतिशयोक्ति के संकर का निर्देश किया है॥ २६॥

सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्ममभाजि तन्मुखात्।
अधुनापि न भङ्गलक्षणां सलिलोन्मज्जनमुज्झति स्फुटम्॥ २७॥

जीवातु—सुषमेति। सुषमा परमा शोभा सैव विषयः यस्मिन् परीक्षणे जलदिव्यशोधने कृते निखिलं पद्मं पद्मजातं तन्मुखात्तस्या मुखात् भङ्गावनिरवाद-भाजि अभञ्जि स्वयमेव भग्नमनुद्भिन्नं, स्फुटं, कर्तरि लुङ्, 'भञ्जेश्च चिणि' इति वैभाषिको नकारलोपः। अतएवाधुनापि भङ्गलक्षणां पराजयचिह्नं सलिलोन्मज्जनं क्षणमपि नोज्झति न जहाति। जलदिव्योन्मज्जनस्य पराजयलिङ्गत्वस्मरणादिति भावः। उन्मज्जनक्रियानिमित्तेयं भङ्गोत्प्रेक्षा।२७।

अन्वय—सुषमाविषये परीक्षणे निखिलं पद्मं तन्मुखात् अभाजि, अधुना अपि भङ्गलक्षणां सलिलोन्मज्जनं न उज्झति स्फुटम्।

हिन्दी—सौन्दर्य-विषयक परीक्षा में समस्त कमल उसके मुख से पराजित हो गये, सो लगता है उसी पराजय-चिह्न-स्वरूप आज भी जल से ऊपर रहना नहीं छोड़ते। अथवा 'पद्म' पराजित हो 'अभाजि' अर्थात् टूट गये हैं, सो उसी 'भग' (टूटन) के कारण आज भी 'स्फुट' अर्थात् खिले हुए जल के ऊपर खड़े हैं।

टिप्पणी—कवि संसार भर के कमलों से दमयन्तीमुख का सौन्दर्य श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है, एतदर्थ यह कल्पना है। याज्ञवल्क्य स्मृति के व्यवहाराध्याय (२।९५–११३) में 'दिव्य' प्रकरण है, जिसके अनुसार 'जलदिव्य' में दमयन्तीमुख और 'निखिल पद्मजात' के मध्य सौन्दर्य-श्रेष्ठता का परीक्षण हुआ। इसमें होता यह है कि एक धनुर्धर द्वारा छोड़े बाण को लेकर जब-तक दूसरा दौड़ता हुआ आता है, तब-तक जो जल में डूबा रहता है, वही विजयी

माना जाता है। और जो बाण ले-आने के पूर्व ही जल से बाहर उभर आता है, वह पराजित माना जाता है। दमयन्ती-मुख से कमल पराजित हो गये, सो तब के उभर कर आये-आये आज भी जल के ऊपर ही रह कर मानो स्वपराजय को स्वीकारे हुए हैं। एतद्विषयक याज्ञवल्क्य का श्लोक (२।१०९) इस प्रकार है—

> "समकालमिषुं मुक्तमानीयान्यो जवी नरः ।
> गते तस्मिन्निमग्नाङ्गं पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ।"

मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अनुमान तथा अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

> धनुषी रतिपञ्चबाणयोरुदिते विश्वजयाय तद्भ्रुवौ ।
> नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥

जीवातु—धनुषी इति। तद्भ्रुवौ विश्वजयायोदिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा, किञ्च तस्या दमयन्त्या उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीकानां द्रोणिचापशराणां विमुक्तिं कामयेते इति तथोक्तयो तयो 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' इति णप्रत्यय, 'नालीक पद्मषण्डेऽस्त्री नालीकं शरशल्ययोरि'ति विश्व । नलिके न द्रोणिचापे न किमिति काकु । पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वय—तद्भ्रुवौ विश्वजयाय उदिते रतिपञ्चबाणयो धनुषी, तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयो नलिके न (नु)।

हिन्दी—उसकी भौंहें जगज्जय के निमित्त उद्यत रति और पञ्चबाण काम के दो धनुष हैं और उसकी उन्नत नासिका के दो छिद्र मुझ पर उन छोटे-छोटे बाणों को छोड़ने के निमित्त बाणाधार दो नलिकाएँ नहीं हैं क्या? (हैं ही)।

टिप्पणी—उसकी भौंह सब को विमोहित करने वाली हैं, यह भाव है। काम के पाँच बाण हैं—(१) अरविन्द, (२) अशोक, (३) आम्र, (४) नवमल्लिका और (५) नीलकमल—"अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः ॥" उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा, अथवा इन दोनों का संकर ॥ २८ ॥

सदृशी तव शूर ! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः॥ २९॥

जीवातु—सदृशीति। हे शूर ! जलदुर्गस्थानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ भुजौ, यस्याः सा मित्रजुषामर्कसेविनां सुहृत्सन्निधानाच्च सहायकसम्पन्नानामपीत्यर्थः। 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः। सरोरुहां श्रियः शोभाः सम्पदश्च 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः, करलीलया भुजविलासेन भुजव्यापारेण बलिग्रहणेन च 'बलिहस्तांशवः कराः' 'लीलाविलासक्रिययोरि'ति चामरः, गृहयालुः ग्रहीता ग्रह-ग्रहणे इति धातोश्चौरादिकात् 'स्पृहिगृहि'त्यादिना आलुच् प्रत्ययः, 'अयामन्ते'त्यादिना णेरयादेशः। सा दमयन्ती तव परमत्यन्तं सदृशी अनुरूपेत्युपमालङ्कारः। शूरस्य शूरैव भार्या भवितुमर्हतीति भावः॥ २९॥

अन्वय—शूर, जलदुर्गस्थमृणालजिद्भुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहां श्रियः करलीलया गृहयालुः सा परं तव सदृशी।

हिन्दी—हे वीर, जल के दुर्ग में स्थित कमलनालों के जयी भुजयुग्मवाली, मित्र (सूर्य) रूप सहायक के रहते भी (अथवा मृणाल रूप हाथों से सूर्य की सेवा करते भी) कमलों की शोभा सम्पत्ति को जैसे हस्तविलास-द्वारा ग्रहणशील वह (दमयन्ती) केवल आपके योग्य है।

टिप्पणी—कमलनाल से भी श्रेष्ठ भुज युग्म का वर्णन करने के साथ कवि 'जलदुर्गस्थ' इत्यादि द्वारा दमयन्ती और नल की सदृशता प्रमाणित करता है। जैसे नल जल में बने सुरक्षित दुर्ग में जा छिपे मित्रों की सहायता पाये हुए शत्रुओं का अपने बाहुप्रताप से बाहर निकाल उनकी सम्पत्ति ले लेता है, वैसे ही दमयन्ती भी 'करलीलया' 'मित्रजुट् सरोरुहों' की शोभा सम्पत्ति को छीन लेती है। इस प्रकार दमयन्ती शूर नल के ही योग्य है। शूर की भार्या शूरा ही हो सकती है, नल रणशूर, दमयन्ती सौन्दर्यशूरा। मल्लिनाथ के अनुसार उपमा और विद्याधर के अनुसार समश्लेष का संकर। चन्द्रकलाकार यहाँ समश्लेष-अतिशयोक्ति का अंगांगिभावसंकर मानते हैं॥ २९॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी।
विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यतः॥ ३०॥

जीवातु—वयसी इति। सुदृशि दमयन्त्यां स्वाभिविधिं स्वव्याप्तिं विधित्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थः शिशुतातदुत्तरे बाल्ययौवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन प्रविभज्य रोमराजेः प्रागेव अत्र शैशवेन स्थातव्यमतः परं यौवनेनेति काष्ठतो विभागं कृत्वा, कृतसीम्नी कृतमर्यादे अपि 'विभाषा ङिप्योः' रित्यल्लोपः, न रज्यतः न सन्तुष्यतः। रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भावः। एतेन वयःसन्धिरुक्तः। अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ ३०॥

अन्वयः—सुदृशि स्वाभिविधिं विधित्सुनी शिशुता तदुत्तरे वयसी विधिना रोमरेखया विभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यतः।

हिन्दी—उस सुलोचना पर अपनी अभिव्याप्ति (अधिकार) रखने के इच्छुक बाल्य और यौवन आयु विधाता द्वारा रोमों की रेखा से विभाजन करके सीमाबद्ध किये जाने पर भी सतुष्ट नहीं है।

टिप्पणी—वय सधि का वर्णन है। शिशुता अभी पूर्णतः गयी नहीं, यौवन का आगमन हो रहा है, जिसके चिह्न रूप रोमराजि प्रकट हो गयी है। यही रोम-राजि जैसे शैशव-यौवन की विधि-निर्मित सीमा-रेखा (मेड) है, पर जब तक शैशव यौवन 'दमयन्ती पर जितना सम्भव हो, अधिकार बना रखा जाय,' इस बात पर (लोकजीवन की भाँति) झगडा करते रहते हैं। मल्लिनाथ ने प्रस्तुत शैशव-यौवन के साम्य से अप्रस्तुत विवाद की प्रतीति होने के कारण यहाँ समासोक्ति मानी है, किन्तु विद्याधर के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति है। काकु वक्रोक्ति मान कर 'कृतसीम्नी अपि न रज्यतः' का यह अर्थ भी सम्भव है कि दोनों आयु सीमा निर्धारण हो जाने पर भी दमयन्ती पर अनुरक्त हैं और सीमा सम्बन्धी झगडा करते दो व्यक्तियों की भाँति स्थित हैं॥३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसर्पतोर्गमिते कान्तिझरैरगाधताम्।
स्मरयौवनयोः खलु द्वयोः प्लवकुम्भौ भवतः कुचावुभौ॥ ३१॥

जीवातु—सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह—अपीति। कान्तिझरैर्लावण्यप्रवाहैरगाधया दुरवगाहया गमिते तद्वपुषि दमयन्तीशरीरे प्रसर्पतोस्तरतो स्मरयौवनयोर्द्वयोरपि उभौ कुचौ प्लवस्योन्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनार्थं कुम्भावित्यर्थं, प्रकृतिविकारभावाभावादश्वघासादिवत्तादर्थ्ये षष्ठीसमासः। लोके तरद्भिः अनिमज्जनाय कुम्भादिकमवलम्ब्यत इति प्रसिद्ध, भवतः खलु। अत्र कुचयो स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरोत्कट्य कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनि॥ ३१॥

अन्वय—कान्तिझरैं अगाधया गमिते तद्वपुषि प्रसर्पतो स्मरयौवनयोः द्वयो अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवत।

हिन्दी—लावण्य की झड़ी (धारा-प्रवाह) से अतलस्पर्शिनी दुरवगाहना को प्राप्त उसके शरीर पर प्रसर्पण (सतरण) करते काम और यौवन—दोनों के ही जैसे दोनों कुच सतरण-सहायक घड़े हो गये हैं।

टिप्पणी—दमयन्ती पूर्ण लावण्यवती है, धीरे धीरे काम और यौवन का प्रसार उसके भरपूर सुन्दर शरीर मे हो रहा है। यह भाव प्रकट करने के लिए सौदर्य धारा से उमड़ती गहरी देह नदी में कुच रूप सतरण-कुम्भ का सहारा ले तैरते दो व्यक्तियों के रूप में काम-यौवन की कल्पना की गयी है। इस श्लोक मे दमयन्ती-कुचों की सतरण-कुम्भों के रूप में उत्प्रेक्षा के कारण कुचों का उभार और विस्तार व्यजित होन से मल्लिनाथ के अनुसार अलङ्कार द्वारा वस्तुध्वनि है। विद्याधर रूपक का निषेध कर 'खलु' शब्द के आधार पर उत्प्रेक्षा मानते हैं अथवा अतिशयोक्ति॥ ३१॥

कलसे निजहेतुदण्डजः किमु चक्रभ्रमकारितागुणः?।
स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाझरचक्रभ्रममातनोति यत्॥ ३२॥

जीवातु—कलस इति। निजहेतुदण्डजः स्वनिमित्तकारणजन्य चक्रभ्रमकारिता कुलालभाण्डभ्रमणजनकत्व सैव गुणो धर्मो स्यादिभ्र, 'गुण प्रयाने स्पादावि'त्यमर। सः। कलसे किमु? दण्डकार्यं कलसे सक्रान्तः किमु? इत्यर्थ, कुत यद्यस्मात् स कलस तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्कुचा-

त्मना परिणतः सन् प्रभाझरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रमं चक्रवाकभ्रान्तिं कुलाल-दण्डभ्रमणं चातनोति, 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः । ग्रामजाले कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः । अत्र 'समवायि-कारणगुणा रूपादयः कार्य्ये मत्तामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणां समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदा-ध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचो भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्था-पितभ्रमचक्रभ्रमात्मकक्रियानिमित्ता कुचात्मनि कलसे कार्य्ये चक्रभ्रमकारिता लक्षणनिमित्तकारणगुणसङ्क्रमणलक्षणेनोत्प्रेक्षेति सङ्क्षेपः । तार्किकसमये विरोधात् विरोधाभासोऽलङ्कार इति केचिदुक्तम् तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपार-दृश्वानः शृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

अन्वय —निजहेतुदण्डजः चक्रभ्रमकारितागुणः कलसे विभुः, यत् स तदु-च्चकुचो भवन् प्रभाझरचक्रभ्रमम् आतनोति ।

हिन्दी—कलश मे जो चक्रभ्रमकारी (चाक का भ्रम उपजाने वाला) भाव-रूप गुण दीखता है, वह भरा निमित्त कारण दड से सजात है, जिससे वह कलश उस (दमयन्ती) के उन्नत दोनों कुच होता हुआ दीप्ति की झडी से (कुम्भकार के) चक्र का भ्रम (दर्शकों की दृष्टि मे) उत्पन्न कर रहा है ? अथवा लोक समूह में मदजनित मोह उत्पन्न कर रहा है अथवा यह कलश कुचयुग्म होकर प्रभा प्रवाह मे भ्रमते चक्वे का भ्रम उत्पन्न कर रहा है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का चक्रवाक और कलश के समान कुचयुगल अत्युन्नत है, जो देखता है, सौन्दर्य की चकाचौंध मे दृष्टि भ्रात हो जाता है, वैसे ही जैसे तीव्र सूर्यप्रकाश को देखकर सब विमुग्ध हो जाते हैं, जैसे उन पर मद चढ गया हो। भ्रम का अर्थ घूमना—चक्कर खाना भी है। इसको लेकर कवि ने 'न्यायप्रद्ग्रथिल तक' मे अपना ज्ञान प्रदर्शन किया है। न्यायशास्त्र मे तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं—(१) समवायि, (२) असमवायि और (३) निमित्त। जिससे समवेत काय उत्पन्न होता है, वह समवायि कारण है, जैसे मृत्पिड घट का। यह द्रव्य ही होता है। इससे भिन्न असमवायि कारण है। यह गुण या कर्म होता है, जैसे मृत्कपाल द्वय-सयोग घट का। निमित्त कारण

साधनभूत होता है, जैसे घट का कुलाल, उसका दण्ड आदि। कारण के गुण कार्य में आते हैं, पर केवल समवायि कारण के, असमवायि और निमित्त के नहीं। परन्तु दमयन्ती के कुम्भ चक्रभ्रमकारी कुचकलश में यह चक्रभ्रम गुण (द्रव्य नहीं) निमित्त कारण दण्ड से आया है। यह कितना विचित्र है कि न्यायशास्त्र के नियम भी बदल गये। पूर्वश्लोक में कुचयुग्म घटसम कहे गये थे, यहाँ विशिष्टता दिखाकर जैसे कवि ने भूल सुधारी।

तार्किक मान्यता का विरोध होने से कुछ विद्वान् इस पद्य में विरोधाभास अलङ्कार मानते हैं, मल्लिनाथ इसे उचित नहीं मानते। उनके अनुसार यहाँ कुचों में कलश-भ्रम अभेदातिशयोक्ति है, कुचात्मा कलश कार्य में सारचक्र-भ्रमात्मक क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा इस अतिशयोक्ति से उत्थापित है, चक्रभ्रम-कारिता रूप निमित्त कारण के गुण में असम्भव के कारण। विद्याधर के अनुसार अनुमान रूपक और भ्रान्तिमान् अलङ्कार हैं। चन्द्रकलाकर ने रूपक-उत्प्रेक्षा-श्लेषमूला अतिशयोक्ति का सङ्कर माना है॥ ३२॥

भजते खलु षण्मुखं शिखी चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः।
अपि जम्भरिपुं दमस्वसुर्जितकुम्भः कुचयोभयेभराट्॥ ३३॥

जीवातु—भजत इति। दमस्वसुर्दमयन्त्याश्चिकुरैर्निर्मितबर्हगर्हणः कृतपिच्छनिन्दः जितबर्ह इत्यर्थः। शिखी मयूरः षण्मुखं कार्तिकेयं भजते खलु, तथा कुचयोभया जितकुम्भः इभराडैरावतोऽपि जम्भरिपुमिन्द्रं भजते। पर-परिभूता प्रबलमाश्रयन्त इति प्रसिद्धम्। अत्र शिखैरावतयोः षण्मुखजम्भारिभजनस्य जितबर्हत्वजितकुम्भत्वपदार्थहेतुकत्वात् तद्धेतुके काव्य-लिङ्गे तदनन्वयेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिश्च॥ ३३॥

अन्वयः—दमस्वसुः चिकुरैः निर्मितबर्हगर्हणः शिखी षण्मुखं, कुचयोभया जितकुम्भः इभराट् अपि जम्भरिपुं भजते खलु।

हिन्दी—दमयन्ती की केशराशि के द्वारा अपने पिच्छों के तिरस्कृत होने के कारण मयूर मानों छः मुखवाले स्वामिकार्तिकेय की सेवा में चला गया है और कुचों की शोभा से पराजित कुम्भस्थल वाला गजराज ऐरावत भी जैसे जम्भासुर के शत्रु इन्द्र की सेवा में।

टिप्पणी—दमयन्ती की केशराशि मयूरपिच्छ से अधिक घनी, लहरदार और शोभाशालिनी है और कुचयुग्म के सम्मुख गजराज ऐरावत की कुम्भस्थली भी निम्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि मयूर ने इसी से षडानन (अतएव अधिक केशराशि वाले) की शरण ली है और ऐरावत देवराज की सेवा करके प्रसन्न करना चाहता है कि मयूर ऐरावत दमयन्ती की केशराशि और कुचयुग्म की समानता करने योग्य केश कुम्भस्थल पा सके। मल्लिनाथ की दृष्टि मे काव्यलिंग और अतिशयोक्ति, जिनका चन्द्रकलाकार सकर मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और दीपक अलकार हैं ॥ ३३ ॥

> उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।
> चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतं दमस्वसुः ॥ ३४ ॥

जीवातु—उदरमिति । दमस्वसुरुदरं नतमध्यं निम्नमध्यप्रदेशं पृष्ठं यस्योदरस्य तस्य भावस्तत्ता तया स्फुरत् उदरफलके पृष्ठफलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठन्यासस्थानं यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृणामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलि 'तद्धिते'त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुसकत्वे। तस्य मध्येभ्योऽन्तरालेभ्यो निर्गतं तत्त्रिवलि पूर्ववत् समासादि कार्यं, यत्तूक्तं वामनेन 'त्रिवलिशब्द सज्ञा चेदि'ति सूत्रेण सप्तर्षय इत्यादिवत् 'दिक्सख्ये सज्ञायामि'ति सज्ञाया द्विगुरिति। तदपि चेत्करणसामर्थ्याद् त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थित गतिमात्र न सार्वत्रिकमितिप्रतीम । तेन भ्राजत इति तद्भ्राजि वलित्रयशोभि कृतमित्युत्प्रेक्षा, कौतुकिनेति शेष । मुष्टिग्राह्यमध्येयमित्यर्थं । मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च चतुरङ्गुलिनोदनाद्वलित्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्ष्यते ॥ ३४ ॥

अन्वय—दमस्वसु उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतुरङ्गुलमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतम् ।

हिन्दी—दमयन्ती का उदर पीठ का मध्यभाग नत होने के कारण जिसका अगुष्ठ स्थान प्रकट हो रहा है, उस मुठ्ठी से चार अगुलियो के बीच से निकली त्रिवली (तीन रेखाओं) से सुशोभित बनाया गया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के उदर-सौन्दर्य का वर्णन। अगुष्ठ-निवेश का कारण *पृष्ठमध्य में निम्नत्व है और चार अगुलियों द्वारा धारण करने के कारण तीन* रेखाएँ (त्रिवली) बन गयी हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और रूपक अलंकार ॥ ३४ ॥

उदरं परिमाति मुष्टिना कुतुकी कोऽपि दमस्वसुः किमु ? ।
धृतचतुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभिः ॥ ३५ ॥

जीवातु—उदरमिति। कोऽपि कुतुकी दमस्वसुरुदरं मुष्टिना परिमाति किमु ? परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुतः ? यद् यस्मात् सहेमकाञ्चिभि-र्वलिभिर्हेमकाञ्च्या सह चतसृभिस्त्रिवलिभिरित्यर्थः। एतस्या कनकसावर्ण्यं सूचितम् धृत तस्य मातुश्चतुरङ्गुली अङ्गुलीचतुष्टयं येन तदिव भातीत्युत्प्रेक्षा। अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीय सङ्करः। पूर्वश्लोके वलीनां तिसृणां चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्वमुत्प्रेक्षितम्। इह तु तासामेव काञ्चीसहितानां चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति भेदः प्रेक्षितुरिति नाथ ॥ ३५ ॥

अन्वय—क अपि कुतुकी मुष्टिना दमस्वसुः उदरं परिमाति किमु यद् सहेमकाञ्चिभि वलिभि धृतचतुरङ्गुलि इव भाति ?

हिन्दी—क्या कोई कौतुकी मुट्ठी से दमयन्ती का उदर नापना चाहता है कि स्वर्ण मेखला सहित त्रिवलियों के कारण वह नापनेवाले की चार अगुलियों से युक्त जैसा सुशोभित हो रहा है ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्वर्णमेखला पहिन रखी है, एक वह और तीन त्रिवली—सब मिलकर ऐसा लग रहा है कि किसी ने नापने के लिए चार अगुलियों में दमयन्ती का उदर पकड रखा है। मल्लिनाथ के अनुसार दो उत्प्रेक्षाओं का सजातीय संकर, विद्याधर के मत में उत्प्रेक्षा और उपमा ॥३१॥

पृथुवर्तुलतन्नितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया ।
विधिरेकचक्रचारिणं किमु निर्मित्सति मान्मथं रथम् ॥ ३६ ॥

जीवातु—पृथ्विति । पृथु वर्तुलं च तस्या नितम्बं करोतीति नितम्बकृन्नितम्बं कृतवान् विधिः ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणाभ्यासपाटवेन एककमेकाकि 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः । तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति किमु ? सूर्यस्येव मन्मथस्यापि एकचक्रं रथं निर्मातुमिच्छति किमु ? इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा विस्मयमिव नितम्बनिर्माणमिति भावः । मातेः सन्नन्ताल्लट् । 'सनि मीमे' त्यादिना ईमादेशः, 'सस्यार्धधातुक' इति सकारस्य तकारः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः ॥ ३६ ॥

अन्वय—पृथुवर्त्तुलतानितम्बकृत् विधिः किमु मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया एककचक्रचारिणं मान्मथं रथं निर्मित्सति ?

हिन्दी—(दमयन्ती के) विशाल और गोलाकार नितंब का निर्माता विधाता क्या सूर्य रथ के शिल्प के अभ्यास से एक ही चक्के पर चलनेवाला कामदेव का रथ बनाना चाहता है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के वर्तुलाकार, विशाल नितंबस्थल को देखकर मदन प्रादुर्भाव हो जाता है इस कारण कवि ने उसे 'मान्मथरथ' बताया । विधाता को सूर्यरथ के निर्माण का अभ्यास होने के कारण उसने शायद 'मान्मथरथ' भी 'एकचक्रधारी' बनाना चाहा है । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

तरुमूरुयुगेन सुन्दरी किमु रम्भां परिणाहिना परम् ।
तरुणीमपि जिष्णुरेव तां धनदापत्यतपःफलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

जीवातु—तरुमिति । सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऊरुयुगेन रम्भां रम्भा नाम तरुं परं तरुमेव 'न लोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । जिष्णुः किमु ? किन्तु धनदापत्यस्य नलकूबरस्य तपसः फलस्तनीं फलभूतकुचां तां रम्भानाम तरुणीमपि जिष्णुरेव । 'रम्भा कदल्यप्सरसोरि'ति विश्वः । रम्भे इव रम्भाया इव चोरू यस्याः सा इत्युभयथा रम्भोरुरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्वय—सुन्दरी परिणाहिना ऊरुयुगेन परं रम्भां तरुं किमु धनदापत्यतपःफलस्तनीं तां तरुणीम् अपि जिष्णुः एव ।

हिन्दी—वह सुन्दरी विशाल ऊरुयुगल से केवल रम्भा (कदली) वृक्ष को क्या, लगता है कि कुबेर के पुत्र (नलकूबर) की तपस्या के फलस्वरूप कुच-कुम्भशालिनी (अथवा नलकूबर ने तप करके जिस रम्भा को फलरूप में पाया था) उसकी (अप्सरा रम्भा) को भी जीतना चाहती है।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का ऊरुयुग्म चिक्कणता और सुडौल होने से कदली वृक्ष से श्रेष्ठ तो है ही, उसकी उपमा स्वर्गसुन्दरी, कुबेर की पुत्रवधू अप्सरा रम्भा के ऊरुयुगल से भी कमनीय है। 'रम्भा' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग-वैचित्र्य। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा, अलङ्कार ने श्लोक के पूर्वार्द्ध में अर्थापत्ति तथा उत्तरार्द्ध में असम्बन्धे सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति मानकर दोनों के अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर का निर्देश किया है॥ ३७॥

जलजे रविसेवयेव ये पदमेतत्पदतामवापतुः।
ध्रुवमेत्य रुतः सहंसकीकुरुतस्ते विधिपत्रदम्पती॥ ३८॥

जीवातु—जलजे इति। ये जलजे पद्मे रविसेवया सूर्योपासनयेव एतस्याः पदता चरणत्वमेव पदम्प्रतिष्ठितमवापतुः ते जलजे ध्रुवं विधिपत्र दम्पती हंसचारिणौ ब्रह्मवाहनहंसौ एत्यागत्य रुतैः रवैः कूजनादित्यर्थः। रौतेः सम्पदादित्वात् क्विपि तुगागमः। सहंसकौ सपादकटकौ सहंसकौ च कुरुतः 'अभूततद्भावे च्विः'। 'हंसकः पादकटकः' इत्यमरः। हंसपक्षे वैनायिकः कमलपक्षे ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्। पद्महंसयोरविनाभावात् क्वचिच्चि-ह्नपद्मयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहंसयोरेव हंसकत्वमुत्प्रेक्षते॥ ३८॥

अन्वय—ये जलजे रविसेवया इव एतत्पदता पदम् अवापतुः ते विधिपत्र-दम्पती एत्य रुतः ध्रुवं सहंसकीकुरुतः।

हिन्दी—जिन दो कमलों ने जैसे सूर्य की सेवा द्वारा इस (दमयन्ती) के चरण होने का पद (स्थान) पाया है, ब्रह्मा के वाहन हंसदम्पती आकर अपने कलरव से निश्चय ही उन (कमल चरणों) को सहंसक (पादकटक-नूपुरसहित) कर रहे हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के कमल-सम चरण नूपुर (ध्वनि)

युक्त है। उनकी सुषमा कमल और हंस दोनों से अधिक कमनीय है। कमलों को चरण होने का गौरव तब मिला, जब उन्होंने सूर्योपासना की और हंस-दम्पती को उन चरणों के नूपुर होने का तब, जब उन्होंने संसार के निर्माता विधाता की वाहन रूप में सेवा की। लगता है कि विधाता ने दमयन्ती के कमल-चरण बनाकर और कुछ उपयुक्त न पाते हुए अपने वाहन हंसदम्पती को ही उनके नूपुर बना दिया। उत्प्रेक्षा। चन्द्रकलाकार ने इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्ध में रूपकाघ्राता अतिशयोक्ति मान कर इनकी संसृष्टि का उल्लेख किया है॥ ३८॥

श्रितपुण्यसरःसरित्कथं न समाधिक्षपिताखिलक्षपम्।
जलजं गतिमेतु मञ्जुलां दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि॥ ३९॥

जीवातु—श्रितेति। श्रिताः सेविताः पुण्याः सरःसरितः मानसादीनि सरांसि गङ्गाद्याः सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिताखिलक्षपं यापितसर्वरात्रं जलजं दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जुलां गतिं रम्यगतिमुत्तमदशां च, 'गतिर्मार्गे दशायां च' इति विश्वः। कथं नैतु एत्वेवेत्यर्थः। पदस्य गतिसाधनत्वादन्यथापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगतिलाभः। तथापि जन्मान्तरेऽपि सर्वथा तपः फलितमिति भावः। सम्भावनायां लोट्॥ ३९॥

अन्वयः—श्रितपुण्यसरःसरित् समाधिक्षपिताखिलक्षपं जलजं दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि मञ्जुलां गतिं कथं न एतु?

हिन्दी—पुण्यकर सरोवर और नदियों का आश्रय लेनेवाला (तीर्थसेवी) और रात भर मुँदा रहकर समाधि द्वारा समग्र रात्रियाँ बिताने वाला कमल दमयन्ती चरण नाम पाकर जिसमें जन्मा, उस जन्मान्तर में ऐसी रमणीय गति क्यों न प्राप्त करे? (प्राप्त करना ही उचित है)।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में कमलों के दमयन्ती चरण रूप पाने के जिस सौभाग्य की उत्प्रेक्षा की थी, यहाँ उसी के कारण की सम्भावना की गयी है। दिन रात पुण्यतीर्थों में निवास करने और रात-रात भर समाधि में लीन रह

कर यह सौभाग्य मिला है। ऐसे ही उत्तमा गति प्राप्त होती है। 'साहित्य-विद्याधरी' के अनुसार यहाँ समासोक्ति है और 'चन्द्रकलाख्या' के अनुसार समासोक्ति और अर्थापत्ति का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर ॥ ३९ ॥

सरसीः परिशीलितुं मया गमिकर्मीकृतनैकनीवृता।
अतिथित्वमनायि सा दृशोः सदसत्संशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

जीवातु—तत्र क्व त्वमेना दृष्टवानित्यत आह—सरसीरिति। सरसीः सरांसि परिशीलितुं परिचेतुं तत्र विहर्तुमित्यर्थः। चुरादिणिचोऽनित्यत्वादण्यन्तप्रयोगः। गमिर्गमनं धातुस्वरूपशब्देनार्थो लक्ष्यते तस्य कर्मीकृता अकर्मकारककर्मीकृता नैके अनेके नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। निवसन्ति वर्तन्ते जना एष्विति नीवृतः जनपदा येन तेन क्रान्तानेकदेशेनेत्यर्थः। 'नहिवृति'त्यादिना दीर्घः। मया सदसदिति संशयगोचरः सन्देहास्पदमुदरं यस्याः सा कृशोदरी-त्यर्थः। 'नासिकोदरे'त्यादिना ङीप्। सा दमयन्ती दृशोरतिथित्वमनायि स्वविषयतां नीता दृष्टेत्यर्थः। नयतेः कर्मणि लुङ् ॥ ४० ॥

अन्वय—सरसीः परिशीलितुं गमिकर्मीकृतनैकनीवृता मया सदसत्संशय-गोचरोदरी सा दृशोः अतिथित्वम् अनायि।

हिन्दी—अनेक सरोवरों में अवगाहन करने की इच्छा से अनेक देशों को गमन कर्म का विषय बनाते (अनेक दिशा-दिशान्तरों में घूमते) मैंने जिसका उदर 'अस्ति-नास्ति' का सन्देह उत्पन्न कर देता है—दृष्टिपथ में आता ही नहीं—उस कृशोदरी) को नयनों का अतिथि बनाया (देखा)।

टिप्पणी—विचित्र है कि जिसका अङ्ग सरलतया दृष्टिगोचर ही नहीं हो पाता, उसे हम ने अपने नयनों से देखा। यह दिग्दिगन्त में परिभ्रमण से ही हो सका, अर्थात् अनेक देशों में वही ऐसी अकेली सुन्दरी है। अद्वितीया, अनुपमा, उस-सी और कोई नहीं। साहित्यविद्याधरी के अनुसार 'वक्रोक्ति जीवित' के आधार पर यहाँ 'अर्थ की प्रौढ़ि' अर्थात् ओज गुण और पर्याय-वक्रता-प्रकार है। अतिशयोक्ति ॥ ४० ॥

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम्।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

जीवातु—अवधृत्येति । अहमिमान्दमयन्ती दिव स्वर्गस्य सम्बन्धिभिर्यौवतैर्युवतिसमूहैरपि 'गार्भिण यौवन गण' इत्यमर । भिक्षादित्वात्समूहार्थे अणप्रत्यय , तत्राप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्यान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तद्ग्रहणात् तत्सामर्थ्यादेव 'भस्याढे तद्धिते' इति पुवद्भाव इति वृत्तिकार । न सहाधीतवतीमसदृशीं ततोऽप्यधिकसुन्दरीमित्यर्थ । 'नञर्थस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास' इति वामन । अवधृत्य निश्चित्य विधातु ब्रह्मण आशये हृदि अस्या पति कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्, तदैवेति शेष ॥ ४१ ॥

अन्वय —इमा दिव यौवतै अपि सह तु न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातु आशये अस्या पति कतमः वसति—इति अहम् अचिन्तयम् ।

हिन्दी—यह निश्चय करके कि यह (दमयन्ती) स्वर्ग सुन्दरियों के साथ भी तो पाठ नहीं पढी है (रूप गुण मे स्वर्ग सुन्दरियाँ इसके समान नही हैं) मैं यह सोचने लगा कि विधाता के मन मे कौन इसका पति है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि असदृश सुन्दरी दमयन्ती के अनुरूप वर कहाँ त्रिलोकी मे वर प्राप्त होगा ? प्रतीप अथवा व्यतिरेक अलकार ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिमं निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपक्षताम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधियं न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

जीवातु—अनुरूपमिति । अथेदानीमनुरूप योग्य त्वा निरूपयन् तस्या पतित्वेनालोचयन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपक्षतां दूष्यकोटित्व व्यपनेतुमक्षम सन् त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेशयम् । त्वमेवास्या पतिरिति निरवैषमित्यर्थ । अयमेव विधातुरप्याशय इति भाव ॥ ४२ ॥

अन्वय —इमम् अनुरूप निरूपयन् अथ सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपक्षता व्यपनेतुम् अक्षम त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेशयम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के अनुरूप (योग्य पति) का विचार करते हुए सभी अन्य युवकों मे पूर्वपक्षता (अयोग्यरूपता) का निराकरण करने मे असमर्थ मैंने आप (राजा नल) मे सिद्धान्त बुद्धि (अनुरूपता) का निश्चय किया ।

टिप्पणी—'पूर्वपक्ष' होता है किसी 'विचार' का आरम्भिक, असिद्ध और संदेहास्पद पक्ष, जो उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा दुर्बल होगा ही। पूर्वपक्ष में जो समस्या उठायी जाती है, सिद्धांत पक्ष में उस का समाधान होता है। पूर्वश्लोक के अनुसार हंस की दृष्टि में त्रिलोकी का कोई तरुण-तरुणी दमयन्ती के सदृश नहीं आया। इस स्थिति में उसके मन में स्वाभाविक विचार आया कि कौन तरुण इसका अनुरूप पति होगा? अनेक ख्यात युवकों पर विचार किया, पर वे 'पूर्वपक्ष' ही रहे, 'समाधान' न बन पाये, 'समाधान' मिला नल के रूप में। सिद्धान्त यह निर्णीत हुआ कि त्रिलोक में दमयन्ती के अनुरूप नल ही है। इस प्रकार अन्य तरुण हैं 'पूर्वपक्ष' और नल है 'सिद्धान्तपक्ष'। सम अलङ्कार ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसीमया कृतसंस्कारविबोधनस्य मे।
चिरमप्यवलोकिताद्य सा स्मृतिमारूढवती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

जीवातु—अथ त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति। चिरमवलोकिताऽपि सा शुचिस्मिता सुन्दरी सम्प्रत्यधुना हस्तेन निर्दिशन्नाह—अनया तव रूपसीमया सौन्दर्यकाष्ठया कृतसंस्कारविबोधनस्य उद्बुद्धसंस्कारस्य मे स्मृतिमारूढवती स्मृतिपथं गता, त्वद्दर्शनं स्मारकमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

अन्वय—अद्य अनया तव रूपसीमया चिरम् अवलोकिता अपि सा शुचिस्मिता कृतसंस्कारविबोधनस्य मे स्मृतिम् आरूढवती।

हिन्दी—आज इस आपकी रूप-सीमा (लावण्य की पराकाष्ठा) द्वारा बहुत काल पूर्व देखी गयी भी वह शुभ्रमन्दहासशालिनी (दमयन्ती) पूर्व संस्कार के समुद्बोध के कारण मेरी (हंस की) स्मृति में आ गयी।

टिप्पणी—सदृश वस्तु के दर्शन से प्राक्तन संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और पूर्व दृष्ट का स्मरण हो आता है। दमयन्ती के अनुरूप नल को देख कर हंस की पुरानी स्मृति नवीन हो गयी और दमयन्ती ध्यान में आ गयी। स्मरण अलङ्कार ॥ ४३ ॥

त्वयि वीर! विराजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चितं किल।
तरुणीस्तन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—तत किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयन्त्या किलकिञ्चितम्, 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादे सङ्कर किलकिञ्चितमि'त्युक्तलक्षणलक्षितशृङ्गारचेष्टित त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल शोभते खलु । तथाहि—मणिहारावलेर्मुक्ताहारपङ्क्ते रामणीयक रमणीयत्व 'योपाधाद गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । तरुणीस्तन एव दीप्यते, नान्यत्रेत्यय । स्तनादीना द्वित्वविशिष्टा जाति प्रायेणेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगः । अत्र हारकिलकिञ्चितयोरुपमानोपमेययोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतया स्तनभृपयो समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालङ्कार, लक्षणन्तूक्तम् ॥ ४४ ॥

अन्वय—वीर, दमयन्ती किल किञ्चित पर त्वयि विराजते किल, मणिहारावलिरामणीयक तरुणीस्तने एव दीप्यते ।

हिन्दी—हे वीर, दमयन्ती का किलकिञ्चित (शृगार चेष्टा) केवल तुम पर विशेषत. शोभा पायेगा, मणिमाला की रमणीयता तरुणी के कुचों पर ही दीपती है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल और दमयन्ती की रूप शोभा परस्पर प्रयुक्त ही सुशोभित और सार्थक होगी । प्रिय मग होने पर मद हास्य, अश्रुरहित रुदन, हँसी, भय, क्रोध, श्रम आदि के सम्मिश्रण से जो तरुणियो की शृङ्गारचेष्टाएँ होती हैं, वे 'किलकिंचित' हैं—'स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात्' (साहित्यदर्पण ३।११०) । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात और विद्याधर के अनुसार प्रतिवस्तूपमा ॥ ४४ ॥

तव रूपमिद तया विना विफल पुष्पमिवावकेशिन ।
इयमृद्धधना वृथाऽवनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

जीवातु—तवेति । हे वीर ! तवेद रूप सौन्दर्य तया दमयन्त्या विना अवकेशिनो वन्ध्यवृक्षस्य 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी चे'त्यमर । पुष्पमिव विफल निरर्थकम्, ऋद्धधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका कूजत्कोकिला स्ववनी निजोद्यानमपि 'डीप्' का तुच्छा निरर्थिकेत्यर्थः । तद्योगे तु सर्व सफलमिति भाव । 'किं वितर्के परिप्रश्ने क्षेपे निन्दापराधयारि'ति विश्व । अत्र नलरूपावनीवनीना दमयन्त्या विना रम्यतानिषेधाद्विनोक्तिरल-

ङ्कारः। 'विना किञ्चिदपि यन्निश्चिदशोभनं परा भवेत्। रम्यताऽरम्यता वा स्यात् सा विनोक्तिरनुस्मृते'ति लक्षणात्। तस्याश्च पुष्पनिवेत्युपमया संसृष्टिः।

अन्वय—अवकेशिनि पुष्पम् इव तव इदं रूपं तया विना विफलम्, इदम् ऋद्धधना अवनी वृथा, कलपदकाननिका अपि स्वकनी का ?

हिन्दी—जैसे अवकेशी (बाँझ वृक्ष) का फूल (अथवा 'अवकेशी' अर्थात् केशरहित व्यक्ति द्वारा सिर में लगाया फूल) विफल अर्थात् फलरहित होता है, वैसे ही यह आपका रूप उसके बिना निष्फल है, यह धनधान्य से समृद्ध धरा व्यर्थ है और कोकिल-कूजन से कूजित आपकी विलास-वाटिका भी क्या है ? (व्यर्थ है।)

टिप्पणी—आशय यह है कि नल का यह रूप सौन्दर्य, यह समृद्धराज्य, यह हरी-भरी विलास वाटिका तभी सार्थक हो, जब 'वह' साथ हो। मल्लिनाथ के अनुसार विनोक्ति-उपमा की संसृष्टि, विद्याधर ने छेकानुप्रास, विनोक्ति, दीपक और उपमा अलङ्कारों का निर्देश किया है ॥ ४५ ॥

अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा ॥ ४६ ॥

जीवातु—अथास्यापेक्षा दर्शयितुं तस्या दौर्लभ्यमाह—अनयेति। अमरैरिन्द्रादिभिः काम्यमानयाऽभिलष्यमाणया दमयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया मेघावृतया निशाकरत्विषा सह योगः कुमुदेनेव त्वया न सुलभो दुर्लभ इत्यर्थः। अत्र उक्तयोगदौर्लभ्यस्य अमरकामनापदार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः, तस्योपमया चैवमुपमेति सङ्करः ॥ ४६ ॥

अन्वय—अमरकाम्यमानया अनया सह योगः अम्बुदागमे घनसंवृतया निशाकरत्विषा कुमुदेन इव त्वया न सुलभः।

हिन्दी—जिसकी कामना देवता करते हैं, ऐसी इस (दमयन्ती) के साथ तुम्हारा मिलन उसी प्रकार सुलभ नहीं है, जिस प्रकार वर्षाऋतु में मेघाच्छन्न चन्द्र की चन्द्रिका के साथ कुमुद का योग नहीं होता।

टिप्पणी—सर्वथा अनुरूपता होने पर भी नल का दमयन्ती से विवाह सरल

नहीं है, सुसाध्य नहीं, दु साध्य अथवा प्रयत्नसाध्य है, क्योंकि इन्द्रादि देव भी उसकी कामना करते हैं। वर्षा काल में बादलों से ढकी चाँदनी कुमुद को तभी लभ्य हो पाती है, जब दैव सहायता से वायु द्वारा मेघ उड़ जाते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार दैवी सहायता और प्रयत्न से ही नल दमयन्ती-योग साध्य होगा, वैसे ही नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उपमा का संकर, विद्याधर की दृष्टि में 'बिम्बप्रतिबिम्बभावेन' उपमा अलंकार।

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्।
हृदये निहितस्तया भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयते॥ ४७॥

जीवातु—अत्र का गतिरित्याह-तदिति। तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिवन्ध-त्वादहं दमयन्त्याः सविधे समीपे तथा तथा तव स्तवं स्तोत्रं विदधे विधास्य इत्यर्थः, सामीप्ये वर्त्तमाने प्रत्ययः। यथा तया हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थः। यथेन्द्रादिप्रार्थिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थः॥ ४७॥

अन्वय—तत् अहं दमयन्त्याः सविधे तथा तथा तव स्तवं विदधे यथा तया हृदये निहितः भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते।

हिन्दी—सो मैं (हम) दमयन्ती के निकट आपकी ऐसी-ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिससे उसके हृदय में स्थापित आप इन्द्र द्वारा भी नहीं हटाये जा सकेंगे।

टिप्पणी—प्रयत्नशीलता का संकेत। हंस द्वारा राजा का ऐसा प्रशंसात्मक विवरण उपस्थित किया जायेगा कि अन्यदेव क्या इन्द्र को भी दमयन्ती नल के सम्मुख न गिनेगी। साहित्य विद्याधरी के अनुसार अतिशयोक्ति चन्द्रकलाख्या के अनुसार अर्थापत्ति॥ ४७॥

तव सम्मतिमन्तु केवलामधिगन्तुं जिगदे निवेदितम्।
प्रभवेऽपि फलेन माद्दशो न तु कण्ठेन निजोपयोगिनाम्॥ ४८॥

जीवातु—तर्हि तथैव क्रियतां किं निवेदनेनेत्यत आह तवेति। यथास्मिन् कार्ये दैवगतिरस्ति तव सम्मतिमन्तु केवलामधिगन्तुमिदं निवेदितं निवेदनं धिया।

तथा हि साधवो निजोपयोगिता स्वोपकारित्वं फलेन कार्येण ब्रुवते बोधयन्ति, किन्तु कण्ठेन वाग्वृत्त्या न ब्रुवते। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥

अन्वय—यत् केवलम् तव सम्मतिम् अधिगन्तुम् इदं निवेदितम् धिक्, हि साधवः निजोपयोगिताम् फलेन ब्रुवते न तु कण्ठेन।

हिन्दी—इस समय केवल आपकी स्वीकृति प्राप्त करने के निमित्त जो यह निवेदन किया, उसे धिक्कार, क्योंकि भले व्यक्ति अपनी उपयोगिता फल (कार्य) से ही बतलाते हैं, कण्ठ से (मौखिक) नहीं।

टिप्पणी—सज्जन अपनी सार्थकता क्रिया द्वारा प्रमाणित करते हैं, केवल बातों से नहीं। हंस ने जो इतना कहा, वह इसी कारण कि कार्य सम्पन्न करने से पूर्व वह महाराज नल को 'मजूरी' चाहता था। अर्थान्तरन्यास॥ ४८॥

तदिदं विशदं वचोऽमृतं परिपीयाभ्युदितं द्विजाधिपात्।
अतितृप्ततया विनिर्ममे स तदुद्गारमिव स्मितं सितम्॥ ४९॥

जीवातु—तदिति। स नलो द्विजाधिपात् हंसाच्चन्द्राच्चाभ्युदितमाविर्भूतं विशदं प्रसन्नमवदातञ्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमानं वच एवामृतमिति रूपक परिपीय अत एव अतितृप्ततया अतिसौहित्येन तस्य वचोऽमृतस्य उद्गारमिव सितं स्मितं विनिर्ममे निर्मितवान्। माङः कर्त्तरि लिट्। अतितृप्तस्य किञ्चिच्चलित सार उद्गारः। सितत्वसाम्यात् स्मितस्य वागमृतोद्गारोत्प्रेक्षा।

अन्वय—द्विजाधिपात् अभ्युदितं विशदं तत् इदं वचोऽमृतं परिपीय सः अतितृप्ततया तदुद्गारम् इव सितं स्मितं विनिर्ममे।

हिन्दी—द्विजराज चन्द्र के समान शुभ्र द्विजराज (पक्षिराज हंस) से उत्पन्न (निःसृत, कहे गये) विशद (उज्ज्वल, विस्तृत) वचनामृत का पान कर अत्यन्त तृप्ति के कारण उस (राजा नल) ने उस (हंस-वचन) के उद्गार के सदृश मन्द हास्य किया।

टिप्पणी—राजा को हंस का प्रस्ताव सुनकर अत्यन्त सन्तोष और सुख मिला। हंस का वचन अमृत के समान शुभ्र है, क्योंकि श्वेत से श्वेत ही का उद्भव होता है। कविसमयसिद्ध मन्द हास्य का वर्ण भी श्वेत। मल्लिनाथ

ने स्मित के सितत्व-साम्य के आधार पर वागमृतोद्गार की उत्प्रेक्षा मानी है। कदाचित् कुछ टीकाकारों ने इस श्लोक में समासोक्ति मानी है, विद्याधर ने उसका खण्डन करते हुए रूपकोत्प्रेक्षालङ्कार का निर्देश किया है। उनका कथन है कि 'वचोमृतम्' में रूपक है, वह उत्प्रेक्षा का निमित्त है। अर्थान्तर की प्रतीति का कारण रूपक ही है। इसमें यहाँ समासोक्ति नहीं है। चन्द्रकलाकार ने श्लिष्टपरम्परितरूपक-उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर माना है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाग्रजन्मना पतगं कोकनदेन नैषधः।
मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिरः प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः ॥ ५० ॥

जीवातु—परिमृज्येति। निषधानां राजा नैषधः नलः 'जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्'। भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पाणिशोणपङ्कजेनेत्यर्थः। पतगं हंसं परिमृज्य तस्य हंसस्य तथा मुदे हर्षाय प्रियवादानामेवामृतानां कूपः निधिः कण्ठो वागिन्द्रियं तज्जन्याः गिरः मृदु यथा तथा अगिरत् प्रियवाक्यामृतैरभिषिक्तवानित्यर्थः। अत्र भुजाग्रजन्मना कोकनदेनेति विषयस्य पाणेर्निगरणेन विषयिणः कोकनदस्यैवोपनिबन्धाद् अतिशयोक्तिः, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते। यत्र सातिशयोक्तिः स्यात्कविप्रौढोक्तिसम्मता ॥' इति लक्षणात्। सा च पाणिकोकनदयोरभेदात्मिका अभेदरूपा तस्याः प्रियवादामृतकूपकण्ठेति रूपकसंसृष्टिः ॥ ५० ॥

अन्वयः—नैषधः भुजाग्रजन्मना कोकनदेन पतगं परिमृज्य तस्य मुदे प्रियवादामृतकूपकण्ठजाः गिरः मृदु अगिरत्।

हिन्दी—नल ने भुजा के अग्रभाग में जन्मे रक्तकमल (रक्ताभ कर) से विहग का सम्मार्जन करके उसकी मोद वृद्धि के निमित्त प्रिय वचन रूप अमृत के कूप स्वरूप कण्ठ से उत्पन्न वचन धीरे धीरे कोमलता पूर्वक बोले।

टिप्पणी—हंस को कमल प्रिय होता है, राजा ने अपने करकमल से हंस का स्पर्श कर उसके प्रति प्रीति प्रकट की, कमल-भोजन दिया, तदनन्तर प्रिय वचनरूप सुधा का पान कराया। अतिशयोक्ति अलङ्कार। अतिशयोक्ति रूपक की संसृष्टि ॥ ५० ॥

न तुलाविषये तवाकृतिर्न वचोवर्त्मनि ते सुशीलता ।
त्वदुदाहरणाकृतौ गुणा इति सामुद्रिकसारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

जीवातु—न तुलेति । हे हंस ! तव आकृतिः आकारः तुलाविषये सादृश्यभूमौ न वर्तते असदृशीत्यर्थः । ते तव सुशीलता सौशील्यं वचोवर्त्मनि न वर्तते वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एवाकृतौ गुणा 'यत्राकृतिस्तत्र गुणाः' इति सामुद्रिकाणां या सारमुद्रणा सिद्धान्तप्रतिपादनं सा त्वमेवोदाहरणं यस्याः सा त्वदुदाहरणा यथोक्ताकृतिसौशील्ययोः त्वय्येव सामानाधिकरण्यदर्शनादित्यर्थः । अत्र एवोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमि'ति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अन्वय—तव आकृतिः तुलाविषये न, ते सुशीलता वचोवर्त्मनि न, आकृतौ गुणाः—इति सामुद्रिकसारमुद्रणा त्वदुदाहरणा ।

हिन्दी—तुम्हारा आकार तौला नहीं जा सकता और तुम्हारी सुशीलता वचन के पथ में नहीं आती (तुम्हारे रूप की तुलना नहीं की जा सकती—असदृश है तुम्हारा आकार और तुम्हारी सुशीलता का वर्णन संभव नहीं है), अतः सामुद्रिकशास्त्र के इस रहस्य का उदाहरण कि आकृति में गुण रहा करते हैं, तुम्हीं हो ।

टिप्पणी—हंस के अनुपमेय आकार और सुस्वभाव की प्रशंसा । जैसा सुन्दर रूप, वैसा ही स्वभाव । हंस के माध्यम से 'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति' प्रमाणित हो रहा है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरवाक्यार्थ के पूर्ववाक्यार्थ हेतुक होने से काव्यलिङ्ग का भाव, विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और काव्यलिङ्ग । चन्द्रकलाकार ने इन दोनों अलङ्कारों की निरपेक्षतया स्थिति के आधार पर संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ ५१ ॥

न सुवर्णमयी तनुः परं ननु किं वागपि तावकी तथा ।
न परं पथि पक्षपातितामनवद्ये किमु मादृशेऽपि सा ॥ ५२ ॥

जीवातु—न सुवर्णेति । ननु हे हंस ! तवैव तावकी 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् चे'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवकममकावेकवचने' इति तवका-

देश । तनु पर मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्मयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थः । अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्वं किम् किं वेत्यर्थः । निपातानामनेकार्थत्वात् । अनवलम्बे निराधारे मादृशेऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः । अत्र तनुवाचो प्रकृताप्रकृतयो सुवर्णमयीति शब्दश्लेष एव पथि मादृशेऽपि पक्षपातितेति सजातीयसंसृष्टिः, तया चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

अन्वय —ननु तावकी इय तनुः पर सुवर्णमयी न किं वाक् अपि तथा अनवलम्बे पथि पर पक्षपातिता न, मादृशे अपि सा किम् ?

हिन्दी—निश्चय ही, तेरी यह देह ही सुवर्णमयी नहीं है किन्तु वाणी भी वैसी ही 'सुवर्णमयी' (शोभन वर्णों—अक्षरों, शब्दों, वाक्यों से—युक्त) है, निराधार पथ (आकाश) में ही तुम्हारी 'पक्षपातिता' (पंखों द्वारा यात्रा) नहीं है, वह पक्षपात (अनुकूल भाव) मुझ जैसे निराश्रित व्यक्ति पर भी है। क्यों, है न ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक में कथित रूप और वाणी के सौंदर्य की पुष्टि। भाव यह कि दमयन्ती प्राप्ति के विषय में आधारहीन, असहाय नल का सहारा अथवा आधार हंस ही है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'सुवर्णमयी' और 'पक्षपातिता'—इन दो श्लेषों की सजातीय संसृष्टि है, जिससे उपमा व्यंजित होती है, विद्याधर ने श्लेष और उत्प्रेक्षा माने हैं ॥ ५२ ॥

भृशतापभृता मया भवान्मरुदासादि तुषारसारवान् ।
धनिनामितरः सतां पुनर्गुणवत्संनिधिरेव संनिधिः ॥ ५३ ॥

जीवातु—भृशेति । भृशतापभृता अतिमात्रतापभाजा मया भवांस्तुषारै सारवान् कृष्टो मरुत् मारुतः सन् आसादि संतापहरत्वादिति भावः । तथा हि—धनिनां धनिकानां कुबेरादीनामितरः पद्मपद्मादि सच्चासौ निधिश्चेति संनिधिः, सतां विदुषां पुनः गुणवतां संनिधिः सान्निध्यमेव संनिधिः महानिधिः । संतापहारित्वात् त्वमेव शिशिरमारुतः, अन्यतस्तु दहन एवेति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः लक्षणं तूक्तम् ॥ ५३ ॥

अन्वय—भृशतापभृता मया तुषारसारवान् मरुत् भवान् आसादि, धनिना सन्निधि इतर पुन सता गुणवत्सन्निधि एव।

हिन्दी—(वियोगज्वर से) अत्यंत संतप्त मैंने हिम के श्रेष्ठ भाग से युक्त (अत्यंत शीतल) वायु आपको प्राप्त कर लिया, धनवानों की अन्य धनद्रव्य आदि अच्छी निधि (कोष) हो सकते हैं, सज्जनों की सन्निधि (श्रेष्ठ कोष) तो फिर गुणियों से समागम ही है।

टिप्पणी—आशय यह कि विरहज्वर से पीड़ित नल को हंस की प्राप्ति शीतलतम समीर के समान सुखदायिनी प्रतीत हुई, उन्हें हंस क्या मिला, बहुत बड़ी निधि मिल गयी। निधियाँ नौ मानी जाती हैं—(१) महापद्म, (२) पद्म, (३) शङ्ख, (४) मकर, (५) कच्छप, (६) मुकुन्द, (७) कुन्द, (८) नील और (९) खर्व—'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥' मल्लिनाथ ने यहाँ दृष्टान्त अलंकार का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपकद्वय की संसृष्टि। किन्हीं टीकाकारों ने यहाँ समासोक्ति मानी है, विद्याधर उसे अमान्य ठहराते हैं, क्योंकि यहाँ रूपक और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं और अर्थान्तर की प्रतीति रूपक से ही होती है॥

शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम्॥ ५४॥

जीवातु—शतश इति। त्रिजगत' त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महौषधिः महौषधमिति रूपकम्। सा दमयन्ती शतशो मम श्रुतिं श्रोत्रमागतैव अधुना तव शंसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृष्ट्यैवाधिगता दृष्टामवैमि साक्षाद् दृष्टा मन्ये। आसीदित्यभिप्रायाच्छ्वितिभाव॥ ५४॥

अन्वय—त्रिजगन्मोहमहौषधिः सा शतशः मम श्रुतिम् आगता एव, अधुना तव शंसितेन तु तां स्वदृशा एव अधिगताम् अवैमि।

हिन्दी—त्रिलोकी का सम्मोहन करने की उत्तम ओषधि (श्रेष्ठ जड़ी बूटी-सम्मोहिनी विद्या) वह (दमयंती) सैकड़ों बार मेरे कानों में आयी ही है, इस समय तुम्हारे इस वर्णन द्वारा तो वह मुझे अपने नेत्रों से दीख रही ही प्रतीत हो रही है।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले प्रथम सर्ग में (श्लोक सं ४८) कहा जा चुका है कि नल ने अनेक बार दमयन्ती की चर्चा सुनी थी, हंस ने तो उसका ऐसा सजीव शब्दचित्र उपस्थित किया कि नल को लगा कि वह दमयन्ती को प्रत्यक्ष देख रहा है। रूपक और भाविक अलङ्कार अथवा दोनों की संसृष्टि। 'काव्यप्रकाश' के अनुसार—'प्रत्यक्षा इव यद्भावा' क्रियन्ते भूतभाविनः, तद् भाविकम्' ॥ ५४ ॥

अखिलं विदुषामनाविलं सुहृदा च स्वहृदा च पश्यताम्।
सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रमक्षिणी ॥ ५५ ॥

जीवातु—अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—अखिलमिति। सुहृदा आप्तमुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च सुहृद् ग्रहण तद्वत्सुहृद श्रद्धेयत्व-ज्ञापनार्थमखिलं कृत्स्नमर्थमनाविलमसन्दिग्धम् अविपर्यस्तं यथा तथा पश्यता-मवधारयतां विदुषां विवेकिनां सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थ-दर्शिनी 'सुप्सुपे'ति समासः। अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रं न तु दूरसूक्ष्मार्थद-र्शनोपयोगिनीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय.—सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् अनाविलम् पश्यतां विदुषां सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रम्।

हिन्दी—आप्त, मित्र और अपने मन के माध्यम से समस्त वस्तुजात को असंदिग्ध रूप से देखनेवाले विद्वज्जनों की निकटस्थ भी सूक्ष्म वस्तु को न देख सकने वाली आँखें मुख की अलङ्कृति मात्र हैं।

टिप्पणी—आँखों के निकटतम होता है काजल, पर वे उसे भी नहीं देख पातीं, तो दूर की वस्तु क्या देखेंगी? दूर की वस्तु तो आप्त, मित्रों अथवा स्वमन-संभावना के माध्यम से ही गोचर होती है, अतः विद्वज्जनों के नेत्र तो बस मुख की शोभामात्र हैं। सूक्ष्म—भाव अहिंनी के आँख नहीं होती। हंस आप्त है, मित्र है, उसका 'नसित' विश्वसनीय होना ही चाहिए। भाव यह है कि अप्रत्यक्ष दमयन्ती को—दूरस्थापिता को ये आँखें मित्र के माध्यम से देख सकती हैं। अनिर्योक्ति ॥ ५५ ॥

अमितं मधु तत्कथा मम श्रवणप्राघुणकीकृता जनैः।
मदनानलबोधनेऽभवत् खग धाय्या धिगधैर्यधारिणः ॥ ५६ ॥

जीवातु—अमितमिति । हे खग ! जनैः विदर्भागतजनैः मम श्रवणप्राघुणिकीकृता कर्णातिथीकृता तद्विषयीकृतेत्यर्थः । 'आवेशिक प्राघुणिक आगन्तुरतिथिस्त्वये'ति हलायुधः । अमितमपरिमितं मधु क्षौद्रं तद्वदतिमधुरेत्यर्थः । तस्या तद्गुणवती कथा अधैर्यधारिणोऽधीरस्य मम मदनानलबोधने मदनाग्निप्रज्वलने धाय्या सामिधेनी अभवत् 'ऋक् सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' इत्यमरः । 'पाय्यसान्नाय्ये'त्यादिना निपातः । धिक् वाक्यार्थो निन्द्यः । अत्र तत्कथायां धाय्यात्मना प्रकृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिणामालङ्कारः, 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ।

अन्वयः—खग, जनैः मम श्रवणप्राघुणिकीकृता अमितं मधु तत्कथा अधैर्यधारिणः मम मदनानलबोधने धाय्या अभवत्—(इति) धिक् ।

हिन्दी—हे विहग, लोकजनों द्वारा मेरे कानों की अतिथि बनायी गयी (सुनायी गयी) प्रचुर मधु सम मीठी उसकी कथा मुझ अधीर व्यक्ति के कामज्वर को दीप्त करने में सामिधेनी—अग्नि दीप्त करनेवाली ऋचा (अग्नि-प्रज्वलन) बन गयी—सो धिक्कार है मुझे।

टिप्पणी—दमयन्ती की कथा तो अमृत समान मीठी है, पर हाय रे हतभाग्य मैं, उसके निमित्त वह अग्निप्रज्वलिनी सामधेनी ऋचा प्रमाणित हुई। 'सुधावर्षिणी' कथा का ज्वलन प्रदायिका बन जाना दुर्भाग्य ही है। 'अलङ्कारसर्वस्व' के अनुसार आरोप्यमाण के प्रकृतोपयोगी होने पर परिणाम अलङ्कार होता है—'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः।' इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ दमयन्ती-कथा के धाय्या रूप में प्रकृतमदनाग्नि के इन्धनस्वरूप उपयोग से परिणाम अलङ्कार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति रूपक-अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि है। पद्य के प्रथम चरण में रूपक और मदन में अनलत्व के आरोप का कथा में धाय्यात्व के आरोप में निमित्त होने से श्लिष्ट शब्द-निबन्धन परम्परितरूपक मान कर चन्द्रकलाकार ने दोनों रूपकों का अङ्गाङ्गिभाव-सङ्कर माना है ॥ ५६ ॥

शिरसो मल्याद्रिमरुत्थविरहफूत्कारमयो ममोऽहनि ।
वन वात्यकल्पतदिग्भव पवनम्मद्विरहानलैधसा ॥ ५७ ॥

जीवातु—विषम इति । विषम प्रतिकूल कालकलत्रदिग्भव यमदिग्भव प्राणहर इति भाव, पवनो दक्षिणमारुत तद्विरहानलैधसा दमयन्तीविरहाग्नि समिधा तद्दाह्यं नेत्यर्थ । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घ तस्या' विषफूत्कारमय ऊहितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यर्थ । लोके च 'अग्निरेधाधि फूत्कारवातैर्धमायत' इति भाव । बतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्थापितेय दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वोत्प्रेक्षेति सकर ॥ ५७ ॥

अन्वय —कालकलत्रदिग्भव, विषम पवन तद्विरहानलैधसा मया मलयाहिमण्डली विषफूत्कारमय ऊहित: बत !

हिन्दी—खेद कि यमराज की भार्यारूपा दक्षिण दिशा मे उत्पन्न दु सह पवन को उस (दमयती) के विरहानल के इंधन मैंने मलयाचल की सर्प मण्डली के विषभरे फूत्कार–सदृश मानने की क्लिष्ट कल्पना की ।

टिप्पणी—मलय का शीतल, मद, सुगध समीर दमयती को वियोगाग्नि मे दग्ध होते नल को मलय-चन्दन-वृक्षों पर लिपटे नागों का फूत्कार-सदृश प्रतीत होता था । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोत्थापिता उत्प्रेक्षा होने से सकर, विद्याधर की दृष्टि में काव्यलिंग और रूपक अलकार और पदार्थ व वाक्यार्थ प्रतिपादन से ओज गुण ॥ ५७ ॥

> प्रतिमासमसौ निशाकर खग । सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।
> किमु तीव्रतरैस्तत करैर्मम दाहाय स धैर्यतस्करै ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—प्रतिमासमिति । असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रतिदर्शमित्यर्थ । वीप्सायामव्ययीभाव । दिनाधिप सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्तत् प्राप्तं, स निशाकर तीव्रतरैस्तत एव धैर्यतस्करैर्मम धैर्यहारिभि करै-स्तीरं तत आनीतं मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुषङ्ग , किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाहार्थत्वोत्प्रेक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

अन्वय —खग, असौ निशाकर प्रतिमास यत् दिनाधिप सङ्गच्छति किमु तत स तीव्रतरै धैर्यतस्करै करै मम दाहाय ?

हिन्दी—हे आकाशचारी (हंस), यह निशाकर (चद्र) प्रत्येक महीने

जो सूर्य मे सगमन करता है, सो क्या वह अत्यंत तीक्ष्ण, नीरज की तस्कर किरणों द्वारा मुझे जलाने के लिए उससे मिलता है ?

टिप्पणी—विरही का शीतल चन्द्र किरणें भी दाहक प्रतीत होती हैं। इसके कारण की यह संभावना की गयी है कि चन्द्र प्रतिमास जो सूर्य राशिस्थित होता है, सो उससे यह दाहकता ले आता है। स्वयम् तो हानि पहुँचा नहीं सकता तो अन्य की सहायता से पहुँचाता है। आकाशचारी ग्रहों का भेद आकाशचारी ही जान सकता है, 'खग' सम्बोधन की यही सार्थकता है—खे आकाशे गच्छति खग। 'सङ्गमन' की 'दाहायता' में उत्प्रेक्षा के कारण फलोत्प्रेक्षा (जीवातु), अनुमान (साहित्यविद्याधरी) ॥ ५८ ॥

> कुसुमानि यदि स्मरेषवो न तु वज्रं विषवल्लिजानि तत् ।
> हृदयं यदमूमुहन्ममामूं यच्चातितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

जीवातु—कुसुमानीति। स्मरेषवः कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमयानि सद्योमरणाभावादिति भावः। तत्तथा अस्तु किन्तु विषवल्लिजानि विषलतोत्पन्नानि। यद्यस्मादमू स्मरेषवः 'पत्नी रोप इषुर्द्वयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहन् अमूर्च्छयन् मुहेर्ण्यन्तात् लुङ्, यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्रत्यय। अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपेर्ण्यन्तात् लुङ् मोहतापलक्षणविषमकार्यदर्शनाद्विषवल्लिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

अन्वय—स्मरेषवः कुसुमानि यदि न वज्रं तु तत् विषवल्लिजानि (अथवा यदि स्मरेषवः विषवल्लिजानि कुसुमानि न तु तत् वज्रम्), यत् मम हृदयम् अमूमुहन् यत् च अतितमाम् अतीतपन्।

हिन्दी—यदि काम के बाण फूल हैं, वज्र नहीं, तो वे विषवल्लरी से उत्पन्न हुए हैं (अथवा यदि कामबाण विषलता से उत्पन्न फूल नहीं हैं तो वे वज्र हैं), जो कि मेरे हृदय को उन्होंने मूर्च्छित कर दिया और जो कि अत्यंत संतप्त किया।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयंती के वियोग में नल का हृदय बेसुध और अतिसंतप्त है, पुष्पबाण विषवल्ली से जन्मे हैं, अतः विमोहित करनेवाले हैं, वे

वज्र हैं, सो दाहकता से युक्त हैं। विद्याधर के अनुसार अनुमान और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

> तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ।
> भव पोत इवावलम्बनं विधिनाऽऽकस्मिकसृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

जीवातु—तदिति। तत्तस्मादिहास्मिन्ननवधौ अपारे कन्दर्पशरैर्य आधिर्मनोव्यथा 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथे'त्यमरः। तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो अन्तर्गतस्य मम विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात् ठक्, अव्ययानाम्भमात्रे टिलोप इत्यथा तथा सृष्टसन्निधिः सन्निधानं प्राप्यागत इत्यर्थः। त्वं पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रन्तु पोत' इत्यमरः। अवलम्बनं भव ॥

अन्वय—तत् इह अनवधौ कन्दर्पशराधिनीरधौ निमज्जतः मम विधिना आकस्मिकसृष्टसन्निधिः पोत इव अवलम्बनं भव।

हिन्दी—सो इस निर्मर्याद कामबाणमानव्यथा-समुद्र में डूबते मेरे विधाता द्वारा जो अकस्मात् निकट भेज दिया गया है, उस जलयान की भाँति आश्रय बनो।

टिप्पणी—विरह व्यथा सागर में डूबते नल को हंस दैवादिष्ट जलयान के समान सहायक-आलंबन प्रतीत हुआ। रूपक उपमा की संसृष्टि ॥ ६० ॥

> अथवा भवतः प्रवर्त्तना न कथं पिष्टमियं पिनष्टि नः?।
> स्वत एव सतां परार्थता ग्रहणानां हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

जीवातु—अथवेति। अथवा इयं नोऽस्माकं सम्बन्धिनी 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति नियमात् कर्तरि कृद्योगे षष्ठीनिषेधेऽपि शेषषष्ठीपर्यवसानात् कर्तृत्वलाभः। भवतः 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति षष्ठी, प्रवर्तना प्रेरणा 'ण्यासश्रन्थो युच्', कथं पिष्टं न पिनष्टि? स्वतः प्रवृत्तिविषयत्वात् पिष्टपेषणकल्पेत्यर्थः। हि यस्माद् ग्रहणानां ज्ञानानां यथार्थता याथार्थ्यं यथा प्रामाण्यमिव स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिव 'गृह्यता जाता मनीषा स्वत एव मानमि'ति मीमांसकाः। सतां परार्थता परार्थप्रवृत्तिः स्वत एव न तु परतः। उपमासंसृष्टोऽर्थान्तरन्यासः।

अन्वय—अथवा नः इयं भवतः प्रवर्तना कथं पिष्टं न पिनष्टि, हि यथा ग्रहणानां यथार्थता स्वतः एव (तथा) सतां परार्थता (अपि स्वतः एव)।

हिन्दी—अथवा जो यह मैं आपको प्रवर्तित कर रहा हूँ, वह क्या पिष्ट-पेषण नहीं है ? (है ही), कारण कि जैसे ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं वैसे ही सज्जनों की परोपकार शीलता भी स्वतः होती है।

टिप्पणी—मीमांसकों के अनुसार ज्ञान स्वयम् अपना प्रमाण होता है–गृह्यता ज्ञाता मनोषा स्वत एव मानम्। इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को परतः प्रमाण मानते हैं। सज्जन अप्रवर्तित ही परोपकाररत रहते हैं। भर्तृहरि के अनुसार स्वार्थ त्याग कर परार्थघटक सत्पुरुष कहाते हैं—'सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य .।' मल्लिनाथ के अनुसार उपमासंसृष्ट अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार निदर्शना वाक्यदृष्टान्तालङ्कार ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्त्ततां शिवं पुनरस्तु त्वरितं समागमः ।
अपि साधय साधयेप्सितं स्मरणीयाः समये वयं वयः ॥ ६२ ॥

जीवातु—तवेति। हे वयः ! तव वर्त्मनि शिवं मङ्गलं वर्त्तताम्, त्वरितं क्षिप्रमेव पुनः समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्टं साधय सम्पादय समये कार्यकाले वयं स्मरणीयाः। अनन्यगामि कार्यं कुर्या इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अन्वय—तव वर्त्मनि शिवं वर्त्तताम्, त्वरितं पुनः समागमः अस्तु, अपि साधय, ईप्सितं साधय, वयः, समये वयं स्मरणीयाः ।

हिन्दी—मार्ग में तेरा कल्याण हो, शीघ्र ही फिर (तेरा-मेरा) मिलन हो, जाओ और अभीष्ट-साधन करो, हे पक्षी, यथासमय हमारा स्मरण करना।

टिप्पणी—राजा ने 'शिवा सन्तु ते पन्थानः'—कहने के ढंग से विदावचन कहे। छोटे छोटे नाट्योपयोगी वाक्य कवि के संवाद-कौशल के परिचायक हैं। 'आशीः' नामक नाट्यालंकार। दण्डी के अनुसार अभिलषित वस्तु का आशंसन आशी होता है—'आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनम्।' चन्द्रालोककार के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और ओज नामक काव्य लक्षण है ॥ ६२ ॥

इति तं स विसृज्य धैर्य्यवान्नृपतिः सूनृतवाग्बृहस्पतिः ।
अविशद्वनवेश्म विस्मितः स्मृतिलग्नैः कलहंसशंसिनैः ॥ ६३ ॥

जीवातु—इतीति। धैर्यवानुरागधारणात् सधैर्यः सूनृतवाक् सत्यप्रियवादिषु

बृहस्पति तथा प्रगल्भ इत्यर्थ । 'सूनृत च प्रिये सत्यमि'त्यमर । स नृपतिरि-तीत्य हस विसृज्य श्रुतिलग्ने श्रोत्रप्रविष्टे कलहसस्य हसितैर्विस्मित सन् वावेश्म भोगगृहमविशत् ॥ ६३ ॥

अन्वय—धैर्यवान् सुनृतवाग्बृहस्पति स नृपति इति त विसृज्य श्रुति-लग्ने कलहसहसिते विस्मितः वनवेश्म अविशत् ।

हिन्दी—धैर्यशाली, सत्य और प्रिय वाणी बोलने मे बृहस्पतिसम प्रगल्भ वह नरराज इतना कह हस को भेज कर कानो में लगे (प्रिय होने के कारण अविस्मरणीय) सुन्दर हस के कहे हुए (अथवा हस के रमणीय अथवा गभीर वचनों) पर विस्मित होता वाटिका गृह में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—नल के धैर्य, सत्यवादिता और प्रियवादिता का विवरण । राजा ने हस को कार्य-साधनार्थ भेजकर वाटिका मे ही उसके लौट आने तक प्रतीक्षा करने का निर्णय लिया । विद्याधर के अनुसार दीपक और अतिशयोक्ति । चद्रकलाकार के अनुसार 'सूनृतवाग्बृहस्पति ' मे लुप्तोपमा ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुतावलोकनै सफल कर्त्तुमहस्तदेव स. ।
क्षितिमण्डलमण्डनायित नगर कुण्डिनमण्डजो ययौ ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथेति । अथ सोऽण्डजो हस तदहरेव भीमसुताया भैम्या अवलोकनै सफल कर्तुं तस्मिन्नेव दिने ता द्रष्टुमित्यर्थ । क्षितिमण्डलस्य मण्डनायितमलकारभूत कुण्डिन कुण्डिनाख्यनगर ययौ ॥ ६४ ॥

अन्वय —अथ स अण्डज तत् अह एव भीमसुतावलोकनै सफल कर्त्तु क्षितिमण्डलमण्डनायित कुण्डिन नगर ययौ ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पक्षी उसी दिन भीमतनया (दमयती) के दर्शनो द्वारा (अपने को) सफल करने के निमित्त पृथ्वीमण्डल के अलकार बने कुण्डिनपुर की ओर चल दिया ।

टिप्पणी—कुण्डिन नगर समृद्धि के कारण तो रमणीय था ही, दमयती के कारण वह पृथ्वीमण्डल का शृगार बन गया था । अनुप्रास और उपमा अलकार ॥ ६४ ॥

प्रथम पथि लोचनातिथिं पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनम् ।
कलसं जलसंभृतं पुरः कलहंसः कलयाम्बभूव सः ॥ ६५ ॥

जीवातु—अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह-प्रथममित्यादिना । सः कलहंसः प्रथममादौ पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रियं पथिकानां पान्थानां प्रार्थितस्य इष्टार्थस्य सिद्धिशंसिनं सिद्धिसूचकं जलसंभृतं जलपूर्णं कलसं पूर्णकुम्भं पुरोऽग्रे कलयाम्बभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अन्वय—सः कलहंसः प्रथमं पथि पथिकप्रार्थितसिद्धिशंसिनं जलसम्भृतं कलसं पुरः लोचनातिथिं कलयाम्बभूव ।

हिन्दी—उस कलहंस ने पहिले मार्ग में पथिकों के अभीष्ट की सिद्धि के द्योतक जलपूर्ण कलस को सम्मुख नेत्रों का अतिथि बनाया (देखा) ।

टिप्पणी—उद्देश्य सिद्धि के द्योतक शुभ शकुनों का तीन श्लोकों (६५-६७) में विवरण प्रस्तुत किया गया है, इस में जलपूर्ण कलश का विवरण है । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार अनुप्रास और उपमा, चन्द्रकलाख्या के अनुसार वृत्यनुप्रास और छेकानुप्रास का एकाश्रयानुप्रवेशसंकर ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्चर्यरसालसं गतम् ।
स विलासवनेऽवनीभृतः फलमैक्षिष्ट रसालमग्नम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—अवलम्ब्येति । स हंसो दिदृक्षया स्वगन्तव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्चर्यरसेन तद्दर्शननिमित्तेनाद्भुतरसेन अलसं मन्दं गतं गतिमवलम्ब्य अवनीभुजो नलस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण मग्नं सम्बद्धम्, 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' इत्यमरः, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—स दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् आश्चर्यरसालसं गतम् अवलम्ब्य अवनीभुजो विलासवने रसालमग्नं फलम् ऐक्षिष्ट ।

हिन्दी—उस (हंस) ने देखने की इच्छा से आकाश में क्षण भर विस्मयरस से मंद गति का अवलंबन कर राजा की विलासवाटिका में आम्रवृक्ष पर लगे फल को देखा ।

टिप्पणी—वृक्ष पर लगा फल दीखा, एक और शुभशकुन हुआ। 'आश्चर्य-रस' मे स्वशब्दवाच्यत्व नामक रसदोष। विद्याधर के अनुसार असदष्ट यमक अलकार, चद्रकलाकार के अनुसार प्रथम चतुर्थ-चरण मे आये दो अत्ययमको की मसृष्टि॥ ६६॥

> नभस कलभैरुपासित जलदैर्भूरितरक्षुपन्नगम्।
> स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम्॥ ६७॥

जीवातु—नभस इति। पुमान् गौ वृषभ विशेषणसमास, 'गोरतद्धितलुगि'ति समासान्तष्टच् स इव पतङ्गपुङ्गव पक्षिश्रेष्ठ उपमितसमास, नभस कलभै खेचरकरिकलभैरित्यर्थ। जलदैरुपासित व्याप्त भूरय बहवस्तरक्षवो मृगादना पन्नगा यस्य त विटपै शाखाविस्तारेण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि'त्यमर छन्नतरा अतिशयेन छादिता क्षुपा ह्रस्वशाखा, 'ह्रस्वशाखाशिफ क्षुप' इत्यमर। नग पर्वत ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शन यात्राक्षेमकरमि'ति निमित्तमा।

अन्वय—स पतङ्गपुङ्गव कलभै. जलदै उपासित भूरितरक्षुप विटपच्छन्नतरक्षुपन्नग नग ददर्श।

हिन्दी—आकाशचारियों मे श्रेष्ठ उस (हस) ने हस्तिशावको जैसे मेघो से व्याप्त, प्रचुर शाखा-वल्लरियो से युक्त छोटे-छोटे वृक्षो से परिपूर्ण वनो मे छिपे तेंदुए और सर्पों से भरा पर्वत देखा।

टिप्पणी—यात्रा मे हाथी का मिलना शुभ माना जाता है, अत पर्वत-शिखरो पर छाये मेघों की 'कलभ' रूप मे कल्पना की गयी, हिंस्र पशु और सर्प का दीखजाना अशकुन माना जाता है, अत उनके अदर्शन के निमित्त उनका वृक्षों मे छिपा हो जाना बताया गया। पर्वत पर 'यह सब' होता ही है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और असदष्टयमक अलकार हैं, 'चद्रकलाख्या' के अनुसार रूपक और अत्ययमक॥ ६७॥

> स ययौ धुतपक्षति क्षण क्षणमूर्ध्वायनदुर्विभावन.।
> विततीकृतनिश्चलच्छद क्षणमालोलकदत्तकौतुक॥ ६८॥

जीवातु- स इति। स हस क्षण धुतपक्षति कम्पितपक्षमूल क्षणम् ऊर्ध्वा-

पतनेन ऊर्ध्वगमनेन दुर्विभावनो दुर्ज्ञानावधारणो दुर्लक्ष इत्यर्थः । वितताकृतौ विस्तारीकृतौ निश्चलौ छदौ पक्षौ यस्य सः, तथा क्षणमालोककानां द्रष्टॄणां दत्तकौतुकः सन् ययौ । स्वभावोक्तिः ॥ ६८ ॥

अन्वय —सः क्षणं धुतपक्षतिः क्षणम् ऊर्ध्वगमनदुर्विभावनः क्षणं विततीकृतनिश्चलच्छदः आलोककदत्तकौतुकः सन् ययौ ।

हिन्दी—वह (हंस) क्षण भर पक्षमूलों को कम्पित करता, क्षण भर ऊँचे रहने के कारण दुर्लक्ष्य होता, क्षणभर निश्चल पंखों को फैलाता अतएव दर्शकों में कौतुक उत्पन्न करता चला ।

टिप्पणी—इस प्रकार विविध शैलियों में उड़ना पक्षि-स्वभाव है, फलतः मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति अलङ्कार, 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार दीपक-जाति का सङ्कर । यहाँ से पाँच श्लोकों (६८–७२) में तीव्र गति से उड़ते हंस का वर्णन है ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिधारया रयाद्गतया लोकविलोकनामसौ ।
छदहेम कषन्निवाल्लसत् कषपाषाणनिभे नभस्तले ॥ ६९ ॥

जीवातु—तन्विति । असौ हंसो रयाद्वेगात् उत्पन्नयेति शेषः । लोकस्य आलोचिजनस्य परीक्षकजनस्य च विलोकना दर्शनं यस्याः कौतुकाद्दर्शनपरीक्षा च विलोकनानमेत्यर्थः । तनोः शरीरस्य तन्व्या सूक्ष्मया च दीधितिधारया रश्मिरेखया निमित्तेन कषपाषाणनिभे निकषोपलसन्निभे नभस्तले छदहेम निजपक्षसुवर्णं कषन् घर्षन्निवाल्लसत् अशोभतेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६९ ॥

अन्वय —असौ रयात् लोकविलोकना यस्या तनुदीधितिधारया कषपाषाणनिभे नभस्तले छदहेम कषन् इव अलसत् ।

हिन्दी—वह (हंस) वेग के कारण जन-गोचरता को प्राप्त (दीखती) शरीर की किरणों की धार से (अथवा तीव्र गमन वेग से कृश दीखती दीप्ति धारा से) कसौटी के पत्थर के समान आकाश तल में पंखों का सोना कसता जैसा सुशोभित हुआ ।

टिप्पणी—स्वर्णहंस के शरीर की चमक जब आकाश में रेखा सी खिंचती

तो लगता कि कसौटी पर कसे गये सोने की लकीर है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और उपमा, जिसमें उत्प्रेक्षा की अंगभूता है। इसे चन्द्रकलाकार ने उपमा उत्प्रेक्षा का संकर कहा है ॥ ६९ ॥

> विनमद्भिरधः स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्किभिः ।
> स निरैक्षि दृशैकयोपरि स्वदसात्कारिपतत्रिपद्धतिः ॥ ७० ॥

जीवातु—विनमद्भिरिति । स्वदेन वेगेन साकारिणी सामिति शब्दं कुर्वाणा पतत्रिपद्धतिः पक्षसरणिर्यस्य स हंसः श्येननिपातं शङ्कत इति तच्छङ्किभिः अत एव विनमद्भिर्विलीयमानैरधः स्थितैः खगैः झटिति द्राक् एकया दृशा उपरि निरैक्षि निरीक्षितः । कर्मणि लुङ् । स्वभावोक्तिः ॥ ७० ॥

अन्वयः—स्वदसात्कारिपतत्रिपद्धतिः सः श्येननिपातशङ्किभिः विनमद्भिः अधः स्थितैः खगैः झटिति एकया दृशा उपरि निरैक्षि ।

हिन्दी—वेग के कारण 'साँ साँ' करते पंखों वाला वह (हंस) बाजपक्षी के आक्रमण की शंका कर नीचे झुकने, अतएव निम्न भाग में जाकर उड़ते आकाशचारियों (पक्षियों) द्वारा झटपट ऊपर एक निगाह से ही देखा गया।

टिप्पणी—हंस इतने वेग से उड़ा जा रहा था कि उसके पंखों से 'साँ-साँ' की ध्वनि हो रही थी, अतएव अन्य उड़ते विहगों को शङ्का हुई कि कहीं यह आक्रान्ता श्येन न हो, सो वे ऊपर केवल एक दृष्टि डाल कर उससे त्राण पाने को और नीचे जाकर उड़ने लगे। मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, विद्याधर के अनुसार जाति और काव्यलिंग ॥ ७० ॥

> ददृशे न जनेन यन्नसौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणात् ।
> दिवि दिक्षु वितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः ॥ ७१ ॥

जीवातु—ददृश इति । यन् गच्छन्, इणो लटः शत्रादेशः असौ हंसः भुवि तच्छायं तस्य हंसस्य छाया 'विभाषा सेने'त्यादिना नपुंसकत्वम् । अवेक्ष्य तत्क्षणात् प्रथमं दिवि पश्चात् दिक्षु च वितीर्णचक्षुषा दत्तदृष्टिना जनेन पृथुवेगेन द्रुतं शीघ्रं मुक्तदृक्पथः सन् न ददृशे न दृष्टः । क्षणमात्रेण दृष्टिपथमतिक्रान्त इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—भुवि तच्छायाम् अवेक्ष्य तत्क्षणात् दिवि दिक्षु च दत्तोच्चचक्षुषा जनेन पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पथः असौ द्रुतं न ददृशे।

हिन्दी—धरती पर पड़ती उसकी छाया देख कर उसी क्षण से आकाश और उसके भी दिशाओं की ओर आँखें उठाकर देखने जनसमूह द्वारा अत्यन्त तीव्र गति के कारण नयनपथ से ओझल होता वह (हंस) उड़कर जाता न दीख पड़ा।

टिप्पणी—लोग जब तक ऊपर आँख उठा कर देख सकें तब तक तो तीव्र गति से उड़ता हुआ आँख-ओझल हो गया। विद्याधर ने इस श्लोक में काव्यलिंग और पुनरुक्तवदाभास अलङ्कार माने हैं, चन्द्रकलाकार ने केवल काव्यलिंग का निर्देश किया है ॥ ७१ ॥

न वनं पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचारुतम्।
न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा रुतम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—नेति। गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पत्तेजसा अमुना हंसेन क्वचिदपि उच्चतराणामत्युन्नतानां द्रूणां द्रुमाणां चारुता रम्यता यस्मिंस्तत् वनं न शिश्रिये। सगोत्रजं बन्धुजन्यं रुतं कूजितं वा नान्ववादि नानूदितम्। मध्यमार्गे अध्वश्रमापनोदनं बन्धुसम्भाषणादिकमपि न कृतमिति सुहृत्कार्यानुसन्धान-परतोक्तिः 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—गतिवेगप्रसरद्रुचा अमुना पथि क्वचित्, अपि उच्चतरद्रुचारुतं वनं न शिश्रिये सगोत्रजं रुतं वा न अन्ववादि।

हिन्दी—उड़ जाने के वेग के कारण जिसकी शोभा का प्रसार हो रहा था, ऐसे इस (हंस) ने मार्ग में कहीं ऊँचे-ऊँचे द्रुमों (वृक्षों) की सुषमा से मंडित वन में आश्रय नहीं लिया और न अपने कूजन करते सगोत्र हंसों के साथ सल्लाप किया।

टिप्पणी—ऊँचे वृक्ष देख कर वन में विश्राम करना और सजातीय पक्षियों के साथ कूजन-सल्लाप करना पक्षि-स्वभाव है, किन्तु शीघ्र पहुँचने के आकांक्षी राजहंस ने इस स्वभाव का व्यतिक्रम किया। यमकालङ्कार ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथं हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

जीवातु—अथेति। धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विषे'त्यादिना क्विपि तुक् भीमस्य भीमभूपस्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमैः सौधैः राजिता मञ्जुर्मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य हंसस्य दृक्पथं जगाम, स तां ददर्शेत्यर्थः। अत्र यमकाख्यानुप्रासस्य हिमशैलोपमेति, उपमायाश्च संसृष्टिः ॥

अन्वय—अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हरशैलोपमसौधराजिता मञ्जुः असौ नगरी पतगस्य दृक्पथं जगाम।

हिन्दी—तदनन्तर पृथ्वीजयी राजा भीम की भुजा द्वारा रक्षित शिव-पर्वत कैलास सदृश प्रासादों से शोभित वह कुण्डिनपुरी हंस के दृष्टिपथ को प्राप्त हुई (दीखी)।

टिप्पणी—इस श्लोक से आरम्भ करके 'विधुकर भैमीवदनेन' (श्लोक संख्या १०६) तक ३४ श्लोकों में कुण्डिन पुरी का वर्णन है। उड़ते हुए हंस को कुण्डिन पुरी दिखायी दी। वह ऊँचे और सफेदी किये-सुधाधवल प्रासादों से युक्त थी, यह द्योतित करने के लिए 'हरशैलोपमसौधराजिता' कहा गया। 'भीमभुजेन' का भीमौ दारुणौ भयजनकौ भुजौ यस्य तेन-विग्रह करके पृथ्वीजयी राजा के शत्रुभयजनक भुजाओं से पालित' अर्थ भी किया गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'असौ धराजिता' का 'असौधराजिता' पाठ कल्पित कर 'सौधराजिता-असौधराजिता' में विरोधाभास का उल्लेख किया है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में समासोपमा और यमक अलङ्कार हैं तथा मल्लिनाथ की दृष्टि में यमकाख्यानुप्रास-उपमा' की संसृष्टि है। चन्द्रकलाकार ने विरोधाभास यमक-अनुप्रास-उपमा की संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

दयितं प्रति यत्र सन्ततं रतिहासा इव रेजिरे भुवः ।
स्फटिकोपलविग्रहा गृहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कुभित्तयः ॥ ७४ ॥

जीवातु—तां वर्णयति—दयितमिति। यत्र नगर्यां स्फटिकोपलविग्रहाः स्फटिकमयशरीरा इत्यर्थः। अत एव शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः शशाङ्क-

शकलनिष्कलङ्कानि कुड्यानि येषां ते 'भित्तं शकलखण्डे वे'त्यमरः, भिदेः क्त-प्रत्ययः। 'भित्तं शकलमि'त्यादि निपातनात् 'रदाभ्यामि'त्यादिना निष्ठान-त्वाभावः। गृहाः दयितं नीलं प्रति सततं भुवः भूमेर्नायिकायाः रतिहासाः केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा॥ ७४॥

अन्वय—यत्र स्फटिकोपलविग्रहाः शशभृद्भित्तनिरङ्कभित्तयः गृहाः दयितं पतिं सततं भुवः रतिहासा इव रेजिरे।

हिन्दी—जिस नगरी में स्फटिकरत्नमय शरीर धारी (स्फटिकरत्नों से निर्मित), शशांक (चन्द्र) के खंड (कला) के तुल्य निष्कलंक दीवारों वाले घर स्वामी (राजा) के प्रति प्रवृत्त पृथ्वी के सुरतकेलिमय के हासों के समान सुशोभित थे।

टिप्पणी—गृहों की समृद्धि जनित शोभा के वर्णन के साथ ही 'रतिहास' के साम्य द्वारा कवि यह द्योतित करना चाहता है कि भीमनरेश पृथ्वी का प्रिय पति 'दयित' था, जिसके साथ वह निरन्तर रतिकेलि में निमग्न रहती थी। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास, उपमा उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है। चन्द्रकलाकार उत्प्रेक्षा-उपमा की संसृष्टि का निर्देश करते हैं॥ ७४॥

> नृपनीलमणीगृहत्विषामुपघ्नेऽत्र भयेन भास्वतः।
> शरणार्थमुवास वासरेऽप्यसदावृत्त्युदयत्तमं तमः॥ ७५॥

जीवातु—नृपेति। यत्र नगर्यां तमोऽन्धकारं भास्वतो भास्करात् भयेन नृपस्य ये नीलमणीनां गृहाः तेषां त्विषः तासामुपघ्नेऽन्तादित्यपह्नवभेदः। 'रत्नं मणिर्द्वयोरि'त्यमरः। 'कृदिकारादक्तिनः' इति ङीप्। शरणार्थं शरणं गृहं रक्षितारमन्वाश्रित्य 'शरणं गृहरक्षित्रोरि'त्यमरः। वासरे दिवसेऽप्यसदावृत्ति अपुनरावृत्ति किन्त्वोदयत्तमं सदुवास॥ ७५॥

अन्वय—यत्र भास्वतः भयेन नृपनीलमणीगृहत्विषाम् उपघ्ने शरणार्थं तमः वासरे अपि असदावृत्ति उदयत्तमम् उवास।

हिन्दी—जहाँ सूर्य के भय से राजा के नीलमणि से बने गृहों की नील कांति के व्याज से शरण-प्राप्त अंधकार दिन में भी आवृत्तिहीन उदय को प्राप्त होता निवास करता था।

टिप्पणी—आशय यह है कि कुंडिनपुरी में ऐसे इन्द्रनीलमणिनिर्मित प्रासाद भी थे, जिनकी नीलिमा पर सूर्य भी अप्रभावी था। जो अंधकार एक बार छा गया, वह फिर उन भवनों से सूर्य से आक्रांत होने की आशंका के कारण वापस ही नहीं गया, इन्द्रनीलमणियों की नीलिमा में मिलकर घरों के भीतर ही रह गया। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव, विद्याधर की दृष्टि में अपह्नुति, विभावना और उदात्त अलंकार। चन्द्रकलाकार की दृष्टि में समासोक्ति और उदात्त की संसृष्टि ॥ ७५ ॥

> सितदीप्रमणिप्रकल्पिते　　यदगारे　　हसदङ्कुरोदसि ।
> निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिका तिथिः ॥ ७६ ॥

जीवातु—सितेति। सितैः दीप्रैश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते हसदङ्कुरोदसि विलसदङ्करोदस्के द्यावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थः। यदगारे यस्या नगर्या गृहेष्वित्यर्थः। जातावेकवचनं, निशि निखिलान् तिथीनेकिका एकाकिनी एकैवेत्यर्थः। 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्ययः। 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये' तीकारः। पूर्णिमा तिथी राकातिथिः। 'तदाद्यास्तिथयोर्द्वे' त्यमरः। अतिथिः सन् उपतस्थे अतिथिर्भूत्वा सङ्गतेत्यर्थः 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम्। स्फटिकभवनकान्तिनित्यकौमुदीयोगात् सर्वा अपि रात्रयो राकारात्रय इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः॥

अन्वय—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते हसदङ्कुरोदसि यदगारे निशि निखिलान् तिथीन् अतिथिः एकिका तिथिः पूर्णिमा उपतस्थे।

हिन्दी—दीप्तिमय श्वेत स्फटिकमणि निर्मित, (अतएव) समीपस्थ धरती-आकाश विहसित (प्रकाशित) करने वाले (अथवा धरती आकाश के मध्य को प्रकाशित करनेवाले) जिस नगरी के गृहों में रात्रि में समग्र तिथियों को अतिथिभूता एक तिथि पूर्णिमा ही रहा करती थी।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमकती स्फटिक मणियों के बने शुभ्र गृहों में वहाँ रात में भी चाँदनी जैसा प्रकाश फैला रहता था, लगता था प्रत्येक रात्रि पूर्णिमा है। स्फटिक मणियों से निकलते प्रभापटल के कारण घरों में

थोड़ा-सा भी अन्धकार न रह पाता था, सो प्रत्येक तिथि जो पूर्णिमा ही की भ्रान्ति हो जाया करती थी। मल्लिनाथ ने भेद होने पर भी अभेद-कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति मानी है, विद्याधर के अनुसार यहाँ सम्बन्ध में असम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति के अतिरिक्त तिथियों में स्त्री-व्यवहार समारोप से समासोक्ति और पूर्णिमा के प्रतिबिम्बभाव के कारण रूपक भी है, शब्दालंकार अनुप्रास है ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमज्जनार्पितैर्घुसृणैर्यत्र कषायिताशया ।
न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

जीवातु—सुदतीति । यत्र नगर्यां शोभना दन्ता यासां ताः सुदत्यः स्त्रियः, अत्रापि विधानाभावाद्दन्तादेशक्रिन्त्य इति केचित् 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृष-वराहेभ्यश्चे'ति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये, सुदन्तादयः स्त्रीषु योगरूढाः, 'स्त्रियां संज्ञायामि'ति दन्तादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमभिसन्धायाह वामनः— 'सुदत्यादयः प्रतिविधेयाः' इति । ता एव जना लोकाः तेषां मज्जनादवगाहा-दर्पितैः क्षालितैः घुसृणैः कुङ्कुमैः कषायिताशया सुरभिताभ्यन्तरा सौगन्धिचिह्नैः कलुषितहृदया च वाप्येव वापिका दीर्घिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्बन्धादि'ति विश्वः । तद्वती दीर्घरोषा पिच्छादित्वादिलच् इत्यादि । मानिनीस्त्रीणामीर्ष्या-कृतः कोपो 'मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युक्तलक्षणो मानः तद्वती नायिकेव अखिलया निशा निखिलया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थः । न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् तादृक् क्षोभादिति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वय—यत्र सुदतीजनमज्जनार्पितैः घुसृणैः कषायिताशया वापिका ग्रहिला मानिनी इव अखिलया निशा अपि न प्रससाद ।

हिन्दी—जिस नगरी में सुन्दर दाँतों वाली सुन्दरी-समूह की जलक्रीडा से विकीर्ण कुंकुमरागों से गँदले जल वाली बावडी पूरी रात भी उसी प्रकार प्रसादित-स्वच्छ नहीं रहती थी, जैसे कि (सपत्नीजन में प्रतिफलित प्रिय के) कुंकुमराग को देख दूषित मन वाली, दुराग्रहयुक्ता मानवती नारी (प्रिय के द्वारा भाँति भाँति से मनाये जाने पर भी) अथवा (जागी) रहकर रात में भी प्रसन्न नहीं होती है।

टिप्पणी—भाव यह कि स्नान और जलक्रीडा इतनी अधिक हुआ करती

थी कि स्नानार्थिनी सुन्दरियों के शरीर से छूटकर जल को मैला बनाने वाला अगराग रात दिन बावडियों मे घुला ही रहता था। दुराग्रहवती मानिनी भी निशा काल मे जागी रहकर प्रिय की मानमनौअल से प्रसन्न नही होती। उपमा और उदात्त अलकार ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया।
मणिवेश्ममय स्म निर्मल किमपि ज्योतिरबाह्यमीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

जीवातु—क्षणेति। निशि निशीथे क्षण नीरवया एकत्र सुप्तजनत्वान्निश्शब्दया ध्यानस्तिमितत्वान्निश्शब्दमाश्रित प्राप्त वप्रावलि योगपट्ट इव अन्यत्र वप्रावलिरिव योगपट्टो यया सा तथोक्ता यया नगर्या मणिवेश्ममय तद्रूप निर्मलमबाह्यमन्तर्वर्ति किमपि अवाङ्मनसगोचर ज्योति प्रभा आत्मज्योतिश्च ईक्ष्यते स्म। अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीते समासोक्ति।

अन्वय—निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यया मणिवेश्ममय निर्मलम् किमपि अबाह्य ज्योति ईक्ष्यते स्म।

हिन्दी—मध्य रात्रि में क्षण भर को निःशब्द हो प्राकारपक्तिरूप योगपट्ट का आश्रय ले जिस (कुण्डिनपुरी) के द्वारा रत्नगृहरूप निर्मल किसी (अवाङ्मनोविषया) आभ्यतर ज्योति (आत्म ज्योति) का दर्शन किया जाता था।

टिप्पणी—आशय यह है कि दिन भर कर्मसकुला कोलाहल से पूर्ण कुण्डिनपुरी में आधी रात जाकर कही कुछ शान्ति—निःशब्दता आती थी। इसकी उद्भावना निःशब्द हो, योगपट्ट का सहारा ले आत्मज्योति का साक्षात् करती ध्यानमग्ना योगिनी की समता द्वारा की गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ समासोक्ति है, क्योंकि प्रस्तुत नगरी के साम्य द्वारा अप्रस्तुत योगिनी की प्रतीति होती है। विद्याधर के अनुसार उदात्त अलकार है ॥ ७८ ॥

विलास जलाशयोदरे वसचन वीरत्रुम्बितेव या।
परिखावपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥७९॥

जीवातु—विलासेति। या नगरी परिखाया कपटन व्याजेन स्फुट परितो व्यक्त यथा स्फुरता प्रतिबिम्बनावलम्बिन मध्य चागृह्यमाण चाम्बु

यस्मिन् तस्मिन् प्रतिबिम्बाक्रान्तमम्बु परित स्फुरति प्रतिबिम्बदेशेन स्फुरति तेनैव प्रतिबिम्बादिति भाव क्वचन कुत्रचिज्जलाशयोदरे ह्रदमध्ये कस्यचित् ह्रदस्य मध्य इत्यर्थः । अनुबिम्बिता प्रतिबिम्बिता द्यौरमरावतीव विललासे-त्युत्प्रेक्षा ॥ ७९ ॥

अन्वय—या परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिबिम्बानवलम्बिताम्बुनि क्वचन जलाशयोदरे अनुबिम्बिता द्यौ इव विललास ।

हिन्दी—जो (कुण्डिनपुरी) खाई के व्याज से व्यक्त, स्फुरित होते अपने प्रतिबिम्ब से निराधार जल में कहीं जलाशय के मध्य प्रतिबिम्बित होती स्वर्ग-पुरी जैसी विलसित होती थी ।

टिप्पणी—नगरी के चारों ओर जल भरी विशाल खाई थी, जिसमें कहीं-कहीं नगरी की परछाईं स्पष्ट होती थी, लगता था कि स्वर्गपुरी ही जल में उतर आयी है । जहाँ-जहाँ परछाईं पड़ती थी, वहाँ नगरी ही दीखती थी जल नहीं । उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने इसके अतिरिक्त अपह्नुति भी मानी है, क्योंकि 'परिखा नहीं, जलाशय ही है'—ऐसी भावना भी बनती है । चन्द्रकलाकार ने कैतवापह्नुति-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि का उल्लेख किया है ॥ ७९ ॥

व्रजते दिवि यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडना ।
व्यतरत्तरणाय विभ्रमं मृजते हेलिहयालिकालनाम् ॥ ८० ॥

जीवातु—व्रजत इति । यस्या नगर्या गृहावलीषु चलानां चञ्चलानां चेला-ञ्चलानां पताकाग्राणि ता एव दण्डास्तैः ताडना कशाघाता इत्यर्थः । ताः न्यों दिवि व्रजते खे गच्छते हेलिहयाले सूर्याश्वपङ्क्तेः 'हेलिरंशुमान् रवावि'ति वैजयन्ती । कशा चोदना मृजते कुर्वते तरणाय सूर्यसारथये विभ्रमं भ्रमम् आरोपं विभ्रमं व्यतरत् । 'तोऽतास्तोमदेरे'त्यादिना यत्रि वृद्धि-प्रतिषेध । व्यतरत् ददौ । अत्र हेलिहयालेश्चेलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद, तेन दृग्गोचरमण्डलपर्यन्तमेतेषामुन्नतत्वं व्यज्यत इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥ ८० ॥

अन्वय—यद्गृहावलीचलचेलाञ्चलदण्डताडना दिवि व्रजते हेलिहयालि-कालना मृजते तरणाय विभ्रमं व्यतरत् ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के प्रासादो पर फहराती चंचल पताकाओं के वस्त्र-प्रान्त-रूप डंडों के प्रहार आकाश मंडल में दौड़ते सूर्य के घोड़ों को प्रेरणा देते सारथि अरुण को विश्राम दिया करते थे।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी के उच्च प्रासादों पर जो पताकाएँ फहरती थीं, वे सूर्याश्वों के शरीर पर लग-लग कर हांकने के दंड का काम किया करती थीं, जिससे सूर्य-सारथि को विश्राम मिल जाता था। मल्लिनाथ के अनुसार असंबंध में संबंध कथन के कारण अतिशयोक्ति, जिससे प्रासादों की अत्युच्चता व्यंजित होती है, अतः अलंकार द्वारा वस्तुध्वनि। विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और अनुप्रास ॥ ८० ॥

क्षितिगर्भधराम्बरालयैस्तलमध्योपरिपूरिणा पृथक् ।
जगता खलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारैर्निजचिह्नधारिभिः ॥८१॥

जीवातु—क्षितीति । तलमध्योपरि अधोमध्योर्ध्वदेशान् पूरयतीति तत्पूरिणा जगता पातालभूमिस्वर्गाणां पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनियतानि निजचिह्नानि निष्पन्नपानस्रक्चन्दनादिलिङ्गानि धारयन्तीति तद्धारिभिः तथोक्तैः सारैरुत्कृष्टैः क्षितिकुहरे धराया भूपृष्ठे अम्बरे आकाशे च ये आलया गृहा तै भूम्यन्तर्गेहि । शिरोगृहैरित्यर्थः । या नगरी अखिला कृत्स्ना अद्भुता चित्रा अजनि जाता । 'दीपजने' त्यादिना जने कर्तरि लुङ्, चिण्, चिणादेशः । अत्र क्षितिगर्भादीनां तलमध्योपरि जगत्सु सतां तच्चिह्नालाञ्छनयथासङ्ख्यसम्बन्धात् यथासङ्ख्यालङ्कारः । एतेन त्रैलोक्यवैभवं गम्यते ॥

अन्वयः—तलमध्योपरिपूरिणा जगता पृथक् चिह्नधारिभिः सारैः क्षितिगर्भधराम्बरालयैः या अखिला अद्भुता अजनि खलु ।

हिन्दी—तल (निम्न प्रदेश पाताल), मध्य (धरती), उपरि (आकाश) सभक सृष्टियों (पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग) के पृथक्-पृथक् चिह्न धारण करने वाले सार (श्रेष्ठ) अंशों से निर्मित पाताल, पृथ्वी, आकाश त्रिलोकी के आवासों से (युक्त) जो संपूर्ण नगरी विचित्र ही निर्मित हुई थी।

टिप्पणी—कुंडिनपुरी में त्रिभूमिक-तितल्ले घर थे, तहखाने (पाताल

के प्रतीक), उनके ऊपर के खट (क्षिति के प्रतीक), उनके ऊपर (आकाश के प्रतीक), जिनमें क्रमशः इन तीनों के प्रतीकस्वरूप संपत्ति, धान्यादि और चंदनादि-भोग सामग्री रहती थी, जिससे प्रतीत होता था कि नागरों के आवास त्रिलोकी के सारभूत तत्त्वों से निर्मित हैं। इस प्रकार वह नगरी तीन लोक से न्यारी लगती थी। मल्लिनाथ के अनुसार यथासंख्य, विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और उदात्त तथा चंद्रकलाकार के अनुसार व्यतिरेक अलंकार ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः ।
कथमृच्छतु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम् ॥ ८२ ॥

जीवातु—दधदिति । यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नील: कण्ठः शिखरोपकण्ठः गलश्च यस्य तस्य भावस्तत्ता 'कण्ठो गले सन्निधाने' इति विश्वः । दधत् अच्छया सुधया लेपनद्रव्येण च सुधावदमृतवच्चोज्ज्वलं वपुर्वहत् 'सुधा लेपोऽमृतं सुधे'त्यमरः । क्षितिभृन्मन्दिरं राजभवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डलपर्यन्तशिखरत्वं कथं नाम न ऋच्छतु ? गच्छत्वेवेत्यर्थः । राजभवनस्य तादृशोन्नत्यं युक्तमिति भावः । अन्यत्र नीलकण्ठस्य इन्दुमौलित्वमीश्वरत्वं च युक्तमिति भावः । अत्र विशेषणविशेष्याणां श्लिष्टानामभिधया प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणात् प्रकृतेऽप्रकृतप्रतीतेः ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

अन्वयः—यत्र अम्बुदनीलकण्ठतां दधत् अत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः वहत् क्षितिभृन्मन्दिरम् इन्दुमौलिताम् कथं नाम न ऋच्छतु ?

हिन्दी—जिस (नगरी) में घिरे बादलों के कारण ऊपरी भाग और चूना-पोता होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ सफेद शरीर (आवास स्थल) धारण करता धरणीश्वर (राजा) का महल मेघश्यामकंठ वाले और निर्मल चाँदनी (अथवा अमृत) के समान शुभ्र देहधारी चंद्रमौलि (शिव) के भाव को (मौलि अर्थात् शिखर पर चंद्रमा को) क्यों न प्राप्त करे ? (करे ही) ॥

टिप्पणी—राजमहल बहुत ऊँचा है, जिससे घिरे बादलों के कारण उसका ऊपरी भाग नीला दीखा करता है और ऐसा लगता है कि चंद्रमा जैसे उसके

शिखर पर ही टँगा है। वह (राजप्रासाद) सफेदी किये जाने के कारण अत्यन्त उज्ज्वल भी है। शिव नीलकंठ, कर्पूरगौर और चन्द्रमौलि हैं। ये तीनों विशेषणाएँ राजप्रासाद में भी उपर्युक्त प्रणाली से स्पष्ट हैं, अतः उसकी तुलना नीलकण्ठ, सुधोज्ज्वल, चन्द्रमौलि शिव से की गयी। समस्त गुण होने के कारण यह शिवत्व, यह उन्नतभाव प्राप्त करना उचित ही है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लिष्ट विशेषण-विशेष्यों का प्रकृतार्थ मात्र नियन्त्रण होने से प्रकृत शिवप्रतीति के कारण यहाँ ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ श्लेषालङ्कार का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार असंबंध में संबंध-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति मानते हैं।

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः ।
यदनेकससौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृता इव ॥ ८३ ॥

जीवातु—बह्विति। बहुरूपका भूयिष्ठसौन्दर्याः, शैषिकः कप्रत्ययः। तेषु शालभञ्जिकानां कृत्रिमपुत्रिकाणां मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः चन्द्रत्वात् सम्भाविताः कलङ्कमृगाः ते यस्याः नगर्यामनेकेषां बहूनां सौधानां कन्धरासु कण्ठप्रदेशेषु ये हरयः सिंहाः तैः कुक्षिगतीकृता इव यस्यां किमित्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणां निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथं चन्द्रे निष्कलङ्कतेति भावः ।८३।

अन्वय—बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कवः यदनेकसौधकन्धराहरिभिः कुक्षिगतीकृताः इव (दृश्यन्ते)।

हिन्दी—अत्यन्त सुन्दर आकार वाली पुतलियों के मुखचन्द्रों पर स्थित लाञ्छनमृग जिस नगरी के बहुसंख्यक प्रासादों की कन्धराओं (मध्य स्थानों) में बने (कृत्रिम) सिंहों द्वारा मानो कुक्षिगत कर लिये (खा डाले) गये दीखते हैं।

टिप्पणी—कुण्डिनपुरी के अनेक प्रासादों में स्तम्भादि पर शालभञ्जिकाएँ (पुतलियाँ) बनायी गयी हैं, उनके मुख अत्यन्त सुन्दर हैं, मृगचिह्नहीन चन्द्र के समान। जब मुख चन्द्र हैं, तब स्वाभाविकतया उन पर कलङ्कचिह्न मृग भी रहना उचित है, पर वैसा नहीं है। इसका कारण यह संभावित है कि प्रासादों की कन्धराओं में बने (कृत्रिम) सिंह उन्हें खा गये। मल्लिनाथ

ने उत्प्रेक्षालङ्कार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और रूपक का, चन्द्रकलाकार दोनों अलङ्कारों की निरपेक्ष स्थिति के कारण संसृष्टि मानते हैं ।

बलिसद्मदिवं स तथ्यवागुपरि स्माह दिवोऽपि नारदः ।
अधराय कृता ययेव सा विपरीताऽजनि भूमिभूषया ॥ ८४ ॥

जीवातु—बलीति । स प्रसिद्धः तथ्यवाक् सत्यवचनः नारदः बलिसद्मदिवं पातालस्वर्गं दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुत्कृष्टामाह स्म उक्तवान् । अथेदानीं भूमिभूषया यया नगर्या अधरा न्यूना अधस्ताच्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा बलिसद्मद्यौर्विपरीता नारदोक्तविपरीता अजनि । सर्वोपरिस्थितायाः पुनरधःस्थिति वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—तथ्यवाक् सः नारदः बलिसद्मदिवं दिवः अपि उपरि आह स्म, अथ भूमिभूषया यया अधरा कृता इव सा विपरीता अजनि ।

हिन्दी—सत्यवादी उन देवर्षि नारद ने बलिराज के आवास पाताल-स्वर्ग को द्यौ-स्वर्ग से भी ऊपर (ऊँचा, श्रेष्ठ) कहा था, परन्तु पृथ्वी को अलङ्कृत करनेवाली कुण्डिनपुरी द्वारा जैसे नीची (न्यून, अधर, अंग्रेजी भाषा में 'डाउन') कर दी गयी वह (पातालपुरी) विपरीत (पुनः निम्नतास्थित) हो गयी ।

टिप्पणी—नारद ने तो ठीक ही कहा था कि बलिराज का वैभव, उनका पाताल स्वर्ग को भी तिरस्कृत करने वाला है, पर कुण्डिनपुरी के वैभव के सम्मुख पातालपुरी का वैभव भी नगण्य हो गया, तो अधःस्थित पाताल पुनः अधःस्थित हो गया । नारद के कथनानुसार पाताल स्वर्ग से समृद्ध था, कुण्डिनपुरी पाताल से भी समृद्ध है, इस प्रकार कुण्डिनपुरी पाताल-स्वर्ग दोनों से श्रेष्ठ सिद्ध हुई । 'स्वर्लोकादपि रम्याणि पातालानीति नारदः । प्राह स्वर्गसदां मध्ये पातालेभ्यो गतो दिवि ॥' (विष्णुपुराण २।५-५) । मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार है, जिनका अङ्गाङ्गिभाव 'सङ्कर' चन्द्रकलाकार द्वारा निर्दिष्ट है ॥८४॥

प्रतिहट्टपथे घरट्टजान् पथिकाह्वानदसक्तुसौरभैः ।
कलहान्न घनान् यदुत्थितानधुनाप्युज्झति घर्घरस्वरः ॥ ८५ ॥

जीवातु—प्रतीति। पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः तेषामाह्वानं ददाति तथोक्तमाह्वकम् अध्वानं गच्छतामाकर्षकमित्यर्थः। सक्तूनां सौरभं सुगन्धो यस्मिन् प्रतिघट्टपथे प्रत्यापणपथे। 'अव्ययं विभक्ती'त्यादिना वीप्सायाम-व्ययीभावः। 'तृतीयासप्तम्योर्बहुल'मिति सप्तम्या अमभावः। घरट्टा गोधूम-चूर्णग्रावाणः तज्जात् यस्यां नगर्याम् उत्थितात् कलहात् घर्घरस्वनं निर्झर-स्वरं कण्ठध्वनिं घनान् मेघान् अधुनापि नोज्झति न त्यजति। सर्वदा सर्वहट्टेषु घरट्टा मेघध्वानं ध्वनन्तीति भावः। अत्र घनानां घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुकत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जका-प्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८५ ॥

अन्वय—प्रतिहट्टपथे पथिकाह्वानदसक्तुसौरभं घरट्टजात् यदुत्थितात् कलहात् घर्घरस्वरं अधुना अपि घनान् न उज्झति।

हिन्दी—प्रत्येक हाट के मार्ग में पथिक का आह्वान करने वाले (अपनी ओर खींचने वाले) सत्तुओं की सुगन्ध उड़ाती आटा-चक्कियों के संघट्टन से जिस नगरी में उठा 'घघर' शब्द आज भी बादलों को नहीं छोड़ता।

टिप्पणी—भाव यह कि प्रत्येक हाट-बाजार में सत्तुओं की विपुलता है, सत्तू आदि पीसती चक्कियों से उड़ता सक्तु सुगन्ध पथिकों को आकृष्ट करता है। चक्कियों के पत्थरों की कलह—रगड़ से जो 'घर्घर' शब्द होता है, वही मानो बादलों में समा गया है, अन्यथा बादलों की गड़गड़ाहट कहाँ से मिलती ? यह भी माना गया है कि कुडिनपुरी में बने सत्तू इतने सुगन्धि और स्वादिष्ट होते थे कि पथिक सक्तु भोजन के स्वाद में वहीं रुक जाया करते थे और मध पथिकों को घर जाने की प्रेरणा दिया करते थे, यही 'घरट्ट मेघ-कलह' का कारण बराबर बना रहता था। मेघ पीडित करते हैं, सक्तु परि-मला से घरट्ट जिलाते हैं। घरट्ट पथिकों को आह्वान देते हैं, मेघ खडन करते हैं। घरट्ट-मेघ कलह करते 'घघराते' रहते हैं। हाट-बाजारों में बराबर ऐसा कलह रहा करता है, ग्राहकों को एक दुकानदार पुकारता है, दूसरा उसका प्रतिवाद करता है, दोनों झगड़ते रहते हैं। कुडिनपुरी का बाजार ऐसा ही व्यापार सङ्कुल हाट था। विद्याधर ने यहाँ अध्यवसाय में सिद्ध होने के आधार

पर अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने उसबध में सबधरूपनरूपा अतिशयोक्ति और गम्योत्प्रेक्षा के सकर का, क्योंकि घन घरट्ट-कलह का हेतु घर्घर शब्द है, जिससे उत्प्रेक्षा होती है ॥ ८५ ॥

वरणः कनकस्य मानिनीं दिवमङ्कादमराद्रिरागताम् ।
घनरत्नकवाटपक्षतिः परिरभ्यानुनयन्नुवास याम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—वरण इति । कनकस्य सुम्बन्धी वरणः तद्विकारः प्राकारः स एवामराद्रिर्मेरुः या नगरीमेव मानिनीं कोपवन्त्यामत एव अङ्कादभिजान्तं ङ्कादागतां भूलोकं प्राप्तां दिवमरावतीं घने निविडे रत्नानां कवाटे रत्नमयकवाटे एव पक्षती पक्षमूले यस्य स सन् परिरभ्य उपगूह्य मेरो पक्षवत्त्वात्पक्षविरुत्त्वमनुसरन् अनुवर्तमान उवास । कामिन प्रणयकुपिता प्रेयसीनामप्रसादमनुगच्छन्तीति भावः । रूपकालङ्कारः स्फुट एव, तेन चेय नगरी कुतश्चित् कारणादागता द्यौरेव वराङ्ग स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ८६ ॥

अन्वय—कनकस्य वरण अमराद्रि या मानिनीम् अङ्कात् आगता दिव घनरत्नकवाटपक्षति परिरभ्य अनुनयन् उवास ।

हिन्दी—स्वर्ण प्राकार-रूप देवगिरि सुमेरु जिस मानिनी (नगरी) को गोद से छिटक आयी स्वर्गपुरी के तुल्य अनेक रत्नजटित कपाट-रूप पक्षों से युक्त हो आलिंगन कर मनाता हुआ बस गया है ।

टिप्पणी—यहाँ नगरी की मानिनी नायिका स्वर्गपुरी से तुलना की है, जो अपने प्रिय सुमेरु से रूठ कर गोद से छिटक आयी है, प्राकार प्रिय सुमेरु, रत्नजटित किवाड़ उसके पक्ष और बाहु हैं, जिनसे उड़कर वह प्रिया के पास आ पहुँचा है और आलिंगन करके मानिनी को मना रहा है । प्रिया वहाँ से जाती नहीं, सो 'पक्षेन्' होते हुए भी प्रिय वहीं बस गया है । अर्थात् पुरी स्वर्गपुरी के तुल्य है और सुमेरु जितना उन्नत और चमकीला । मल्लिनाथ के अनुसार रूपक द्वारा उत्प्रेक्षा व्यग्य है, विद्यानाथ रूपक का निर्देश करते हैं और कहते हैं कि यहाँ समासोक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नायक-नायिका के व्यवहार की प्रतीति रूपक से ही होती है । चन्द्रकलाकार ने समस्तवस्तुविषय साङ्ग-

रूपक और लिंगसाम्य से नायक-नायिका-व्यवहार का समारोप मान कर समासोक्ति के अंगांगिभाव सङ्कर का उल्लेख किया है ॥ ८६ ॥

अनले परिवेषमेत्य या ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभि ।
उदय लयमन्तरा रवेरवहद्बाणपुरीपरार्द्ध्यताम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अनलैरिति । या नगरी रवेरुदय लयमस्तमय चान्तरा तयोर्मध्यकाल इत्यर्थ । 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्कांशुसम्पर्कात् प्रज्वलतामर्कोपलाना वप्राज्जन्म येषान्तै सूर्यकान्तै प्राकारजन्यै अनलै परिवेषमेत्य परिवेष्टन प्राप्य बाणपुर्या बाणासुरनगर्या शोणितपुरस्य परार्द्ध्यता श्रेष्ठतामवहत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासम्भवात्तादृशी परार्द्ध्यतामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कार ॥ ८७ ॥

अन्वयः—या रवे उदय लयम् अन्तरा ज्वलदर्कोपलवप्रजन्मभि अनलै परिवेषम् एत्य बाणपुरीपराध्यताम् अवहत् ।

हिन्दी—जो नगरी सूर्य के उदय और अस्त के मध्य देदीप्यमान सूर्यकान्त मणि के प्राकारो से उत्पन्न अग्निपुञ्ज से परिविष्ट (आवृत) हो बाणासुर-नगरी (शोणितपुरी) की श्रेष्ठता को धारण कर लेती थी ।

टिप्पणी—शिव कृपा से शिवभक्त बाणासुर की नगरी शोणितपुरी चारों ओर अग्नि से परिविष्ट रहती थी, कुण्डिननगरी की भी वैसी श्रेष्ठता यहाँ प्रमाणित की गयी है । कुण्डिननगरी के प्राकार मे सूर्यकान्त मणियो की पर्याप्त थी, सूर्योदयास्तकाल मे ऊँचे प्राकार की वे मणियाँ चमकने लगती थी, जिससे पूरी परिविष्ट हो, अग्निपरिविष्टा बाण-नगरी सी लगती थी । मल्लिनाथ के अनुसार अन्य के धर्म का अन्य से सबध-निरूपण होने से यहाँ निदर्शनालङ्कार है, विद्याधर के अनुसार उदात्त भी है ॥ ८७ ॥

वहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्कर ।
हिमवालुकयाऽच्छवालुक पटु दध्वान यदापणार्णव ॥ ८८ ॥

जीवातु—बह्विति । बहव कम्बव शङ्खा मणयश्च यस्मिन् स वराटिकागणनाय कपर्दिकासख्यानाय अटन्त तिर्यक् प्रचरन्त करा पाणय एव कर्क-

टोत्करः कुलीरव्रजो यस्मिन् सः, हिमवालुकया कर्पूरेण अच्छवालुकः स्वच्छसिकतः यस्याः पुरः आपणो विपणिरेवार्णवः पटु धीरं दध्वान ननाद, 'कपर्दो वराटिके'ति हलायुधः । 'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियामि'त्यमरः । 'सिताभ्रो हिमवालुका', 'स्यात्कुलीरः कर्कटकः' इति चामरः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—बहुकम्बुमणि वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः हिमवालुकया अच्छवालुकः यदापणार्णवः पटु दध्वान ।

हिन्दी—अनेक शङ्खों, मणि-मुक्तादि से परिपूर्ण, कौड़ियों की गिनती के लिए घूमते हाथ रूप कर्कटसमूह (गिरगिटों) से व्याप्त, कर्पूररेणुका द्वारा स्वच्छ बालू से युक्त जिस (नगरी) का हाट रूप समुद्र अतिशय गर्जना करता रहता था ।

टिप्पणी—कर्म-सकुल कुण्डिनपुरी के हाट की तुलना की गयी है गरजते समुद्र से । वहाँ लहरों का कोलाहल होता है, यहाँ के समुद्रसम शङ्ख-मणि आदि से पूर्ण, कर्पूर-बालुकामय हाट में लेन-देन में कौड़िया गिनते जनसमूह का कोलाहल है । 'पटुदध्वान'—से जन सकुलता सूचित की गयी है । साङ्गरूपक अलङ्कार ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया ।
मुमुचे न पतिव्रतौचिती प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गया ॥ ८९ ॥

जीवातु—यदिति । यस्याः नगर्याः अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानामट्टालिकानां कुट्टिमेषु निबद्धभूमिषु, 'कुट्टिमोऽस्त्री निबद्धा भूरि'त्यमरः । स्रवद्भिरिन्दुसम्पर्कात् स्यन्दमानैरिन्दूपलैश्चन्द्रकान्तैः हेतुभिः तुन्दिला प्रवृद्धा आपो यस्याः तया, तुन्दादिभ्य इलच् 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्तः । अभ्रगङ्गया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी वियद्गङ्गे'त्यमरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये प्रतिचन्द्रोदयं वीप्सायामव्ययीभावः । पतिव्रतानामौचिती औचित्यं ब्राह्मणादित्वात् 'गुणवचने'त्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः, 'षिद्गौरादिभ्यश्चे'ति ङीष् । स च 'मातरि षिच्चे'ति षित्वादेव सिद्धे मातामहशब्दस्य गौरादिपाठेनानित्यत्वज्ञापनार्थं कल्पितः । अत एव वामनः—'ष्यञः षित्करणं बहु'मिति स्त्रीनपुं-

कयोर्भावक्रिययो ष्यञ् । क्वचिच्च वुञ् 'औचित्यमौचिती मैत्र्य मैत्री वुञ् प्रागुदाहृतमि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्यजे । भर्तुः समुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शनात्तस्य अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा । मृते हि म्रियते या स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भाव । अत्राभ्रगङ्गाया यदगारेत्यादिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति, तया च यदगाराणामतोदुमण्डलमौन्नत्य गम्यते तदुत्थापिता चेयमस्या पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्कर, सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्दूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गया प्रतिचन्द्रोदय प्रतिव्रतौचिती न मुमुचे ।

हिन्दी—जिसके आवासो की अटारियो की ऊपर की छत में लगी द्रवीभूत होती (पिघलती) चद्रकातमणियो से बहते प्रचुर जल से आकाशगगा ने प्रत्येक चद्रोदय के अवसर पर (पूर्णिमा मे) पतिव्रताओं के लिए उचित धम को नहीं छोडा ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी के आवास इतने ऊँचे थे कि चन्द्रोदय के अवसर उनकी छतों पर लगी चद्रकांत मणियाँ पिघलकर अपने प्रचुर जल से आकाश गगा मे जलवृद्धि कर देती थी । नदियों का पति है समुद्र, प्रत्येक चद्रोदयपर्व पूर्णिमा को समुद्र मे ज्वार आ जाता है, उसके ससर्ग से समुद्र पत्नी गगा मे भी ज्वार आ जाता है, इस प्रकार पति के हर्ष मे हर्षित गगा भागीरथी पातिव्रत्य का आचरण करती है । परन्तु क्या करे आकाशगगा, कैसे उसमे ज्वार उत्पन्न हो ? कुडिनपुरी-प्रासादो की अटारियो की चद्रकातमणियाँ पिघल कर इसमें सहायक बन जाती हैं और आकाशगगा का पातिव्रत रह जाता है । विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति काव्यलिंग-उदात्त की ससृष्टि है । मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा का सकर माना है तथा अतिशयोक्ति अलकार से गम्य आगारोन्नत्य के आधार पर वस्तुध्वनि ॥ ८९ ॥

रुचयोऽस्तमितस्य भास्वत स्खलिता यत्र निरालया खलु ।
अनुसायमभुर्विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथय ॥ ९० ॥

जीवातु—रुचय इति। यत्र नगर्यामनुसायं प्रतिसायं वीप्सायामव्ययीभावः। विलेपनापणेषु सुगन्धद्रव्यविपणिषु कश्मीरजानि कुङ्कुमान्येव पण्यानि पणनीयद्रव्याणि तेषां वीथयः श्रेणयः अस्तमितस्यास्तङ्गतस्य भास्वतः सम्बन्धिन्यः स्खलिता अस्तमयसमयात् च्युता अतएव निरालम्बा निराश्रया रुचयः प्रभाः अमूः खलु क्वचिदिव च्युताः सायन्तनार्कत्विष इव भान्ति स्मेत्यर्थः। कुङ्कुमराशीनां तदा तत्सावर्ण्यादियमुत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। नाबुर्ङ्झि र्जुषादेशः ॥ ९० ॥

अन्वय—यत्र अनुसायं विलेपनापणकश्मीरजपण्यवीथयः अस्तम् इतस्य भास्वतः स्खलिता निरालम्बा रुचयः अमूः किल।

हिन्दी—जिस नगरी में प्रत्येक संध्या को सुगन्ध-सामग्री के हाट में केसर-विक्रय की गलियाँ अस्ताचल को जाते सूर्य से च्युत हुई (अतएव) निराधार कान्ति श्रेणियाँ जैसी आभासित होती थीं।

टिप्पणी—केसर की गलियों के साम्य के आधार पर सूर्यरश्मियों से उनकी तुलना की गयी। यहाँ मल्लिनाथ ने गम्योत्प्रेक्षा मानी है, विद्याधर ने विशेषालङ्कार भी, रुद्रट के अनुसार जिसका लक्षण है—किञ्चिदवश्यमाधेयं यस्मिन्नभिधीयते निराधारम् तादृगुपलभ्यमानं विशेषोऽसौ विशेषोक्तः ॥ चन्द्रकलाकार उत्प्रेक्षा विशेष का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर मानते हैं ॥ ९० ॥

विततं वणिजापणेऽखिलं पणितुं यत्र जनेन वीक्ष्यते।
मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरेः ॥ ९१ ॥

जीवातु—विततमिति। यत्र नगर्यां वणिजा वणिग्जनेन पणितुं व्यवहर्तुमापणे पण्यवीथ्यां विततं प्रसारितमखिलं जगत्यां लोके स्थितं वस्तु पदार्थजातं पुरा पूर्वं हरेर्विष्णोरुदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन वीक्ष्यते विष्णूदरमिव समस्तवस्त्वाकरोऽयमवभासत इत्यर्थः। पुरा किल मार्कण्डेयो हरेरुदरं प्रविश्य विश्वं तत्राद्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

अन्वय—यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिलं जगतीवस्तु पुरा हरेः उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते।

हिन्दी—जहाँ व्यापारियों द्वारा विक्रयार्थ हाट में फैलाये समस्त सांसारिक वस्तुजात (सामान) को प्राचीन काल में विष्णु के उदर में (समाया विश्व) मृकण्डु के पुत्र मार्कण्डेय के समान लोक-जन देखा करते हैं।

टिप्पणी—हाट में सब आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी, इसे पौराणिक कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है। प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि ने विष्णु के उदर में समग्र संसार देखा था। द्रष्टव्य-श्रीमद्भागवत (१२-९)। विद्याधर के अनुसार उपमा और उदात्त, अलंकार॥ ९१॥

> समभेणमदैर्यदापणे तुलयन् सौरभलोभनिश्चलम्।
> पणिता न जनारवैरवेदपि कूजन्तमलिं मलीमसम्॥ ९२॥

जीवातु—समेति। यस्या नगर्या आपणे सौरभलोभनिश्चलं गन्धग्रहणनिष्पन्दं तत्त क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः। मलीमसं मलीनं सर्वाङ्गनीलमित्यर्थः। अन्यथा पीतमध्यस्यालेः पीतिम्नैव व्यवच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्ग्रहमित्यर्थः। 'ज्योत्स्नातमिस्रे—'त्यादिना निपातः। अलिं भृङ्गमेणमदैः सम कस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् पणिता विक्रेता कूजन्तमपि जनानामारवैः कलकलैः नावैत्, शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यर्थः। इह निश्चलत्वाले गुञ्जनं कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसन्धेयम्। अत्रालेर्नैल्यादेणमदोक्ते सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैकते' ति लक्षणात्। तेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते॥ ९२॥

अन्वय—यदापणे सौरभलोभनिश्चलं मलीमसम् अलिम् एणमदैः समं तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनारवैः न अवैत्।

हिन्दी—जिस (नगरी) के हाट में सुगन्ध के अभिलाष में निश्चल काले भौंरे को एणमृग के मद (कस्तूरी) के साथ तोलता दुकानदार (उसके) गुंजार करने पर भी जन-कोलाहल में पहिचान नहीं पाता था।

टिप्पणी—कस्तूरी के रंग का काला भौंरा सुगन्ध से आकृष्ट हो निश्चल उस पर बैठा था, सो एक-सा रंग होने के कारण दुकानदार कस्तूरी के साथ भौंरे को भी तोल दिया, तब भौंरा भनभनाने लगा, परन्तु जन-सकुल हाट में

इतना कोलाहल हो रहा था कि व्यापारी को भौंरे का भान ही नहीं हुआ। मल्लिनाथ की यहाँ यह आपत्ति है कि बैठा होने पर भौंरा 'झनझन' नहीं करता, उड़ने पर ही करता है, कवि की यह उक्ति प्रौढिवाद के आधार पर ही है। उनके अनुसार 'अलि' को वर्णसाम्य के आधार पर कस्तूरी मानने के कारण यहाँ सामान्य अलंकार है, जिससे भ्रान्तिमान् अलंकार व्यञ्जित होता है ॥९२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाह ज्वलनाहितोष्मणा ।
शिशिरे निशि गच्छता पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिमम् ॥ ९३ ॥

जीवातु — रविकान्तेति। यत्र नगर्यां सकलाह कृत्स्नमह 'राजाह सखिभ्य-ष्टच्'। 'रात्राह्नाहाः पुंसी'ति पुंलिङ्गता, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, योग-विभागात्समासः। ज्वलनेन तपनकरानिपातात्प्रज्वलनेन आहितोष्मणा जनि-तोष्मणा जनितोष्णेन रविकान्तमयेन सेतुना सेतुशब्देनाध्वना सूर्यकान्तकुट्टि-मात्मनेत्यर्थः। गच्छता सञ्चरता चरणौ चरणानित्यर्थः। 'स्तनादीनां द्वित्व-विशिष्टा जातिः प्रायेणे'ति जातौ द्विवचनम्। शिशिरे शिशिरर्तौ तत्रापि निशि हिमं पुरा नो दुनोति नापीडयत्। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' अत्र सेतोरुष्मा-सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तनोत्तरस्या पूर्वसापेक्षत्वात् सङ्करः ॥ ९३ ॥

अन्वय — यत्र सकलाह ज्वलनाहितोष्मणा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छता चरणौ शिशिरे निशि हिमं पुरा नो दुनोति।

हिन्दी — जिस (पुरी) में समग्र दिन (सूर्य के) ताप से तप्त (गरमाये) सूर्यकान्तमणिमय सेतु पर जानेवालों के चरणों को शिशिर ऋतु की (ठंडी) रात में शीत कष्ट नहीं दे पाता था।

टिप्पणी — धूप से दिन में सेतु की सूर्यकान्तमणियाँ इतनी गर्म हो जाती थीं कि उष्णता रात भर बनी रहती थी और जानेवाले बड़े सुख से पुल पार कर लेते थे, ठंड जाड़े की ऋतु में भी नहीं लग पाती थी। मल्लिनाथ के अनु-सार यहाँ सेतु-उष्मा का असम्बन्ध रहने पर भी सम्बन्धकथन के कारण अति-शयोक्ति है, उसमें उत्तरवर्तिनी के पूर्वसापेक्ष होने के कारण सङ्कर है। विद्याधर

की दृष्टि में विशेषोक्ति और उदात्त अलंकार, चन्द्रकलाकार ने इन दोनों अलंकारों के अंगांगिभाव से स्थित होने के आधार पर दोनों का संकर माना है ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथः पयसा नैषधशीलशीतलम् ।
शशिकान्तमयं तपागमे कलितीव्रस्तपति स्म नातपः ॥ ९४ ॥

जीवातु—विधिवति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैषधस्य नलस्य शीलं वृत्तं स्वभावो वा तद्वच्छीतलं शशिकान्तमयं यत्पथः यस्या नगर्याः पन्थानं तपागमे ग्रीष्मप्रवेशे कलितीव्रः कलिवत्कालवच्चण्ड आतपः न तपति स्म । नलकथायाः कलिनाशकत्वादिति भावः । अत्र नगरपथस्य इन्दूपलपथसम्बन्धेनातिशयोक्तिः, तत्सापेक्षत्वादुपमयोः सङ्कर ॥ ९४ ॥

अन्वयः—विधुदीधितिजेन पयसा नैषधशीलशीतलं शशिकान्तमयं यत्पथं तपागमे कलितीव्रः आतपः न तपति स्म ।

हिन्दी—चन्द्रकिरणों से सजात जल के कारण निषधराज (नल) के शील से शीतल चन्द्रकान्तमणिमय जिस (नगरी) के मार्ग को ग्रीष्मर्तु के आजाने पर कलि के तुल्य तीक्ष्ण धूप ताप न दे पाती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में पूर्व श्लोक की भाँति मार्ग के ग्रीष्मर्तु, में भी शीतल रहने का विवरण दिया गया है, साथ ही संकेत है कि नल कथा के श्रवण से कलि प्रभाव नष्ट होता है, जैसा कि 'नै० च' (१।१) में 'क्षितिरक्षिण' से (अक्षिण। क्षिति) अर्थी—कलि का नाश बताया गया है । मल्लिनाथ ने पूर्व श्लोक के समान अतिशयोक्ति और तत्सापेक्ष होने से उपमा के संकर का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति-उदात्त-उपमा की संसृष्टि है ॥ ९४ ॥

परिखावलयच्छलेन या न परेषां ग्रहणस्य गोचरा ।
फणिभाषितभाष्यफक्किका विषमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

जीवातु—परिखेति । परिखावलयच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररेखामवापिता परेषां शत्रूणां ग्रहणस्याक्रमणस्य अन्यत्र अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविषया या नगरी विषमा दुर्बोधा फणिभाषित-भाष्यफक्किका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्थकुण्डलितग्रन्थ तद्वदिति दोषः । अत्र

नगर्यां कुण्डलितग्रन्थत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ सा च परिखावलयच्छलेनेति अपह्नवोत्थापितत्वात् सापह्नवा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ ९५ ॥

अन्वयः—परिखावलयच्छलेन कुण्डलनाम् बदाविता परेषा ग्रहस्य न गोचरा विषया फणिभाषितभाष्यफक्किका ।

हिन्दी—घेरा-मण्डल (खाई के घेरे) के व्याज से कुण्डलना (गोलाकार) को प्राप्त (घिरी) अतएव शत्रुओं के अधीन (पराधीन) न हो सकने का विषय जो (नगरी) अन्य लोगों के ज्ञान का अविषय बनी, कुण्डलिता शेषावतार महामुनि पतञ्जलिकृत महाभाष्य की फक्किका के समान थी ।

टिप्पणी—जनश्रुति है कि वररुचि ने पातञ्जल महाभाष्य की फक्किका को कुण्डलित कर दिया था अर्थात् ग्रन्थ के दुर्ज्ञेय स्थलों पर घेरा बना दिया था कि इनका आशय 'शेष' ही समझ सकते हैं अन्य कोई नहीं, इसी प्रकार कुण्डिनपुरी को 'कुण्डलिता' अर्थात् खाई से घिरी होने के कारण पर-शत्रु अपने अधीन करने की बात सोच भी नहीं पाते थे। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव से उत्थापित 'सापह्नवा-गम्योत्प्रेक्षा' है, विद्याधर की दृष्टि में यहाँ अपह्नुति और उपमा अलंकार है । चन्द्रकलाकार के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा-कैतवापह्नुति का संकर है। राजशेखर के अनुसार 'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्' (काव्यमीमांसा—शास्त्रनिर्देशाध्याय, अर्थात् स्वयम् शङ्काओं का आक्षेप करके उसका समाधान भाष्य है । एक और परिभाषा के अनुसार जहाँ सूत्रानुसारी पदों के द्वारा सूत्रार्थ किया जाता और स्वपदों का वर्णन होता है, वह भाष्य है—'सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥'

मुखपाणिपदाक्षिण पङ्कजैः रचिताङ्गेष्वपरेषु चम्पकैः ।
स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—मुखेति । यत्र नगर्यां मुखस्य पाणी च पदे च अक्षिणी च यस्मिन् तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । पङ्कजैः रचिता सृष्टा अपरेषु मुखादिव्यतिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः रचिता सर्वत्र साद्दश्यादृद्धपदेशः । भीमजा भैमी स्वयं स्मरपूजाकुसुमस्रजः श्रियं शोभामादित आत्तवती। ददातेर्लुङि

'स्याघ्वोरिच्चे' तीत्व 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सलोप । अत्र अन्यश्रियोऽन्यस्या-सम्भवात् श्रियमिव श्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेद । तथा तदङ्गानां पङ्कजाद्यभेदोक्तेरतिशयोक्ति । तदुत्थापिता चेय निदर्शनेति सङ्कर ॥ ९६ ॥

अन्वय —यत्र पङ्कजे मुखपाणिपदाक्षिण चम्पकै अपरेषु अगेषु रचिता भीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रज श्रिय स्वयम् आदित ।

हिन्दी—जहाँ कमलो द्वारा जिसके मुख, हाथ, पैर और नयन रचे गये हैं और चम्पक पुष्पो से अन्य अग, ऐसी फूलो से रची गयी भीमपुत्री (दमयन्ती) ने काम पूजा की फूलमाला की शोभा को स्वयम् ही स्वीकार लिया था ।

टिप्पणी—कमलवदना, कमलकरचरणा, पकजनयना, चम्पकतनु दमयन्ती जैसे फूलों की बनी थी, इस प्रकार वही मानो स्वयम् कामपूजा की पुष्पमाल थी। काम भी उससे सन्तुष्ट हो जाने की स्थिति में था। जो उसे एक बार देख लेता था, उसकी 'कामना' करने लगता था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और तदुत्थापिता निदर्शना का सकर है, विद्याधर की दृष्टि मे निदर्शना और रूपक ॥९६॥

जघनस्तनभारगौरवाद्वियदालम्ब्य विहर्तुमक्षमा ।
ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य या शतमध्यासत तत्सखीजन ॥ ९७ ॥

जीवातु—जघनेति। जघनानि च स्तनौ च जघनस्तन, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भाव । तदेव भार तस्य गौरवात् गुरुत्वाद्वियदालम्ब्य विहर्तु मक्षमा' शत शतमस्याका 'विशत्याद्या सदैकत्वे सख्या सख्येयसख्ययोरि' त्यमर । अप्सरसोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तत्सखीजन सख्य जातावेकवचनम्। या नगरीमध्यासत अध्यतिष्ठन्, 'अधिशीङ्स्थासा कर्मे'ति कर्मत्व ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । अप्सरवत्या शत सख्य एनामुपासत इत्यर्थ ॥ ९७ ॥

अन्वय —जघनस्तनभारगौरवात् वियत् आलम्ब्य विहर्तुम् अक्षमा शतम् अप्सरस अवतीर्य तत्सखीजन याम् अध्यासत ध्रुवम् ।

हिन्दी—जघन (नितब) और कुच-भार गुरु (भारी) होने से आकाश का सहारा लेकर विहार करने म अक्षम (असमर्थ) सैकडो अप्सराएँ (धरती

पर) उतर कर उन (दमयन्ती) की सखियाँ होकर अथवा है, उस (नगरी) में निवास कर रही थीं।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती अप्सराओं से अधिक सौंदर्यशालिनी थी, अप्सराएँ तो उसकी सखी बन कर कुण्डिनपुरी में उतर आयी थीं। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने सापह्नवा उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है॥

स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ?।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ? ॥ ९८॥

जीवातु—स्थितीति। चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलेख्यप्रचुरा च, 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रमि'त्यमरः। या नगरी स्थित्या मर्यादया स्थायित्वेन च शालन्ते ये ते समस्ता वर्णा ब्राह्मणादयः शुक्लादयश्च यस्याः तस्या भावस्तत्ता "वर्णो द्विजादौ शुक्लादावि"त्यमरः। कथं न बिभर्तु बिभर्त्त्येवेत्यर्थः। कलितः प्राप्तः अनल्पानां बहूनां मुखानामारवो बहुमुखानां बहुभुज-पञ्चमुख-षण्मुखानां च आरवः शब्दो यस्याः सा या पुरी स्वरस्य ध्वनेर्भेदं नानात्वं स्वः स्वर्गाद्भेदं च कथं वा नोपैतु उपैत्येवेत्यर्थः। उभयथापि सति कारणे कार्यं भवेदेवेति भावः। अत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कारः उभयोरप्यर्थयोः प्रकृतत्वात्। किन्तु एकनाले फलद्वयवदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः प्रथमार्धे। द्वितीये तु जतुकाष्ठवदेकवद्भूतान्छब्दद्वयादर्थद्वयप्रतीतेः शब्दश्लेषः॥ ९८॥

अन्वय—चित्रमयी या स्थितिशालिसमस्तवर्णतां कथं न बिभर्तु कलितानल्पमुखारवा या कथं वा स्वरभेदं न उपैतु ?

हिन्दी - (१) जो आलेख्यों (चित्रों) से पूर्ण है, उस नगरी में परस्पर उचित स्थिति प्राप्त करते सभी नील-पीतादि रंग क्यों न रहें ? (रहेंगे ही)। और जहाँ प्रचुर मात्रा में मुख शब्द कर रहे हैं (अनेक व्यक्ति एक साथ बोल रहे हैं), वहाँ स्वर भेद (विभिन्न स्वरता) क्यों न हो ? (होना ही उचित है)।

(२)जिस नगरी में अपने-अपने आचार का परिपालन करते सभी ब्राह्मणादि चतुर्वर्ण शोभित हों, ऐसा भाव धारण करती नगरी आश्चर्यमयी क्यों न हो ? (अन्यत्र वर्णसंकरता है, कुण्डिनपुरी में नहीं, अतः उस नगरी को

आश्चर्यरूपा होना ही चाहिए)। और जहाँ वाचाट अतएव अनल्पमुख ब्राह्मणों द्वारा 'आरव' (वेदपाठ) होता है, वहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों का भेद क्यों न हो ? (त्रिस्वर वेद-पाठ में स्वरभेद होगा ही)।

(३) वह नगरी आश्चर्य विचित्र (अनूठी) क्यों न हो, जहाँ आठ (उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु) स्थानों से उच्चरित होने वर्ण स्थित हों ? (जहाँ सलक्षण वेदपाठ होता है, वह विचित्र है ही, क्योंकि सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं है)। और वह नगरी 'स्व.' (स्वर्ग) से 'अभेद' क्यों न स्थापित करे, जहाँ अनल्पमुख ब्राह्मण 'अनल्पमुख' अर्थात् अनेक मुख वाले (चतुर्मुख) ब्रह्मा जैसे स्वर्ग में वेद का 'आरव' करते रहते हैं, उसी प्रकार वेद-स्वर गुंजरित करते रहते हैं ? अथवा स्वर्ग में अनल्पमुख—चतुर्मुख ब्रह्मा पच-मुख शिव, षण्मुख स्कन्द के स्वर जैसे हैं, वैसे ही नगरी में अनेक मुखों के शब्द रव होते हैं।

टिप्पणी—चित्रमयी कुण्डिनपुरी का वर्णन विचित्र श्लिष्ट शब्दावलि में किया है, जिससे तीन अर्थ नगरी के वैचित्र्य को प्रकट करते हैं, वहाँ वर्णव्य-वस्था की मर्यादा है, सलक्षण सस्वर वेदपाठ होता है, अनेक आलेख्य सजे हैं, प्रचुर जन-बल है। विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष अलंकार है, जिसे मल्लिनाथ ने प्रकृत श्लेष कहा है, क्योंकि सभी अर्थ प्रकृत हैं। केवल दो अर्थों के उल्लेख करते मल्लिनाथ ने बताया है कि एक नाल में दो फलों के समान एक शब्द के दो अर्थ प्रतीत होने से प्रथमार्द्ध में अर्थश्लेष है, द्वितीयार्द्ध में जतुकाष्ठवत् एकभूत दो शब्दों से अर्थ प्रतीति होने के कारण शब्दश्लेष है। चन्द्रकलाकार के अनुसार पूर्वार्द्ध में अर्थापत्ति, शब्दश्लेष और प्रकृतश्लेष का एकाश्रयानुप्रवेशरूप संकर है, द्वितीयार्द्ध में भी उसी प्रकार संकर है और सम्पूर्ण श्लोक में संसृष्टि है।।

स्वरुचारुणया पताकया दिनमर्केण समीयुषोत्तृषः।
लिलिहुर्वहुधा सुधाकरं निशि माणिक्यमया यदालयाः॥ ९९॥

जीवातु—स्वरुचेति। माणिक्यमया पद्मरागमया यदालया यस्या नगर्या गृहा दिने दिने, अत्यन्तसयोगे द्वितीया। समीयुषा सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्तृष अर्कसम्पर्कादुष्णतापिपासा सन्त स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरण्य

प्राप्तयेति तद्गुणालङ्कारः, 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरि'ति लक्षणात्। पताकया रसनायमानयेति भाव, सुधाकर बहुधा लिलिहु आस्वादयामासुरित्यर्थः। वह्नि सन्तप्तानिति शीतोपचार कुर्वन्तीति भावः। अत्र गृहाणां सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकशीतोपचार उत्प्रेक्ष्यते। सा चोक्तवद्गुणोत्थेति सङ्करः, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

अन्वयः—माणिक्यमया यदाछया दिन समीयुषा अर्केण उत्तृषः निशि स्वरुचा अरुणया पताकया सुधाकरं बहुधा लिलिहुः।

हिन्दी—माणिक्य-रत्नों से बने जिस (नगरी) के गृह समग्र दिन निकटागत सूर्य के कारण उद्दाम तृषा (प्यास) से आकुल हो रात में अपनी कांति से अरुण हुई पताका रूपा जिह्वा से अमृतनिधि चन्द्र को अनेक प्रकार से चाटते रहते हैं।

टिप्पणी—कांति का आशय है कि नगरी में सूर्य-चन्द्र को छूनेवाले अत्युच्च आवास हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तृषानिवारणार्थ सुधाकर-लेहनात्मक शीतोपचार की 'उत्प्रेक्षा' (गम्या) है, जो 'तद्गुण' से उत्थापित है, अतः दोनों का संकर है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति-अतिशयोक्ति-तद्गुण-उदात्त अलंकारों का संकर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताकया निशि जिह्वानिभया सुधाकरम्।
श्रितमर्ककरैः पिपासु यन्नृपसद्मामलपद्मरागजम् ॥ १०० ॥

जीवातु—अथानयैव भङ्ग्या राजभवनं वर्णयति—लिलिह इति। अमलपद्मरागजं यस्या नगर्या नृपसद्म राजभवनम् अर्ककरैः श्रितमविश्रामी-प्यादनिव्याप्तम्। श्रयते: कर्मणि क्तः, श्रृणाते: पक्वार्थादिति केचित्। तदा ह्रस्वश्चिन्त्य, प्रकृत्यन्तर मृग्यमित्यान्ता तद्। अत एव पिपासु तृषितं सद् पिबते: सन्नन्तादुप्रत्यय। स्वकीया रुक् यस्या तया स्वरुचा तद्रूपितयेत्यर्थः। अत एव जिह्वानिभया पताकया सुधाकरं लिलिहे आस्वादयामास। लिलिहे कर्तरि लिट्। त्वरितत्वादात्मनेपदम्, अलङ्कारश्च पूर्ववत्, जिह्वानिभयेत्युपमा सङ्करश्च विशेष ॥ १०० ॥

अन्वय—अमलपद्मरागजम् अर्ककरैः श्रित पिपासु यन्नृपसद्म निशि स्वरुचा जिह्वानिभया पताकया सुधाकर लिलिह्वे ।

हिन्दी—निर्मल पद्मराग मणियों से निर्मित, सूर्य-किरणों के समीप हुआ अतएव प्यासा जिस (नगरी) के राजा का गृह रात मे अपनी कान्ति से जिह्वासदृश लाल बनी पताका द्वारा सुधाकर को चाटा करता है ।

टिप्पणी—पूर्वप्रतिमा के अनुरूप ही राजगृह की अत्युच्चता द्योतित । मल्लिनाथ के अनुसार अलकार-स्थिति पूर्वश्लोकवत् है, विशेषता यही है कि यहाँ 'जिह्वानिभया'—उपमा है और सकर है । विद्याधर की दृष्टि मे अलकार-स्थिति पूर्ववत् ही है । चद्रकलाकार ने भी तद्गुण—प्रतीयमानोत्प्रेक्षा-उपमा का अगांगिभाव सकर माना है ॥१००॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।
वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवाससः ॥ १०१ ॥

जीवातु—अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्या वलभ्यां 'कूटागारन्तु वलभि'रित्यमरः । पताकया मिलितं सामीप्यात्सङ्गतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छनं वलयायिते वलयीभूते शेषे शेतं इति तच्छायिनः पीतवाससः पीताम्बरस्य विष्णोः सखिता सदृशतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कारः ॥ १०१ ॥

अन्वय—पीतया यद्वलभीपताकया मिलितम् अमृतद्युतिलक्ष्म वलयायित शेषशायिन पीतवाससः सखिताम् आदित ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के ऊँचे कूटागार की पीले रंग की पताका से मिल कर अमृतद्युति चद्र का दाग चिह्न कुण्डली बनाये शेषनाग पर शयन करते पीतांबर हरि (विष्णु) के साम्य को प्राप्त होता था ।

टिप्पणी—ऊँची वलभी की पीली पताका चद्र के काले चिह्न के चारो ओर घिर जाती है, जिससे वह चद्र कलक 'पीतांबरो हरि' बन जाता है, गोल घेरे वाला चंद्रमा ही, गेंडुरी मारे पड़ा शेषनाग है, जिस पर शशचिह्न-रूप पीतांबर विष्णु साये हैं, अर्थात् बड़ी ऊँची है वलभी (कूटागार)।

उपमा। चन्द्रकलाख्या के अनुसार असंबंध में संबंध-कथन के कारण अतिशयोक्ति-उपमा का अंगांगिभाव संकर॥ १०१॥

> अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविर्भूतभूरिस्तवा-
> जिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना।
> पूर्वं गाधिसुतेन सामिघटिता मुक्ता नु मन्दाकिनी
> यत्प्रासाददुकूलवल्लिरनिलान्दोलैरखेलद्दिवि ॥ १०२॥

जीवातु—अश्रान्तेति। यस्या नगर्याः प्रासादे दुकूलवल्लिरिव दुकूलवल्लि दुकूलमयी पताकेत्यर्थः। अश्रान्तेन श्रुतिपाठेन नित्यवेदपाठेन पूतास्य पवित्रास्य रसनाभ्यो जिह्वाभ्य आविर्भूतेषु भूरिस्तवेषु अनेकस्तवेषु अजिह्मेन अकुण्ठेन ब्रह्मणो मुखानामोघेन हेतुना विघ्निता मन्दारविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्ग-सृष्टिरेव केलि लीला यस्य तेन गाधिसुतेन विश्वामित्रेण पूर्वं ब्रह्मप्रार्थनात्पूर्व सामि घटिता अर्धसृष्टा 'सामि त्वर्द्धे जुगुप्सने' इत्यमरः। मुक्ता पश्चान्मुक्ता मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य वर्तुरान्दोलनैर्दिवि आकाशे अखेलत् विजहारेत्युत्प्रेक्षा। एषा कथा त्रिशङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या। शार्दूलविक्रीडितवृत्त 'सूर्याश्वैर्मसजास्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२॥

अन्वय,—अनिलान्दोलैः यत्प्रासाददुकूलवल्लिः अश्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनावि-र्भूतभूरिस्तवाजिह्मब्रह्ममुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकेलिना गाधिसुतेन पूर्वं सामिघटिता मुक्ता मन्दाकिनी नु दिवि अखेलत्।

हिन्दी—पवन से डोलती जिस (नगरी) के प्रासादों की ध्वजा-रूपा श्वेत चद्दरिया निरन्तर वेदपाठ से पवित्र रसनाओं से प्रकट होते स्तुतिगान में अकुण्ठ ब्रह्मा के चारों मुखों द्वारा (अर्थात् वेदपाठ से पवित्र चारों मुखों से एक साथ ब्रह्मा जी द्वारा प्रार्थना किये जाने पर) नवीन स्वर्ग निर्माण की जिसकी क्रीडा में विघ्न पड गया है, ऐसे गाधिपुत्र (विश्वामित्र) द्वारा अर्द्धनिर्मित कर छोड दी गयी मंदाकिनी के समान मानो आकाश में लहराती थी।

टिप्पणी—नवीन सृष्टि रचनेवाले विश्वामित्र की कथा (त्रिशंकु-उपा-ख्यान) के माध्यम से आकाश में लहराती प्रासाद ध्वजा के चित्रण द्वारा प्रासाद की अत्युच्चता द्योतित। उत्प्रेक्षालंकार। शार्दूलविक्रीडित छंद ॥१०२॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लिः ।
अलभत शमनस्वसुश्शिशुत्वं दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥ १०३ ॥

जीवातु—यदिति । यस्या नगर्या अतिविमलैर्नीलवेश्मन इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभिः भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । वल्ल्याश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भावः । तथाभूता भा छाया यस्याः सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थः । अत एव तद्गुणालङ्कारः । शुचिः स्वभावतः शुभ्रा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लिः पताकेत्यर्थः । रूपकसमासः । भ्रमरितभा इति रूपकादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कतले समीपदेशे उत्सङ्गप्रदेशे च चला चपला लुठन्ती परिवर्तमाना सती शमनस्वसुर्यमुनायाः शिशुत्वं शैशवमलभत बाल्यमुनेव बभावित्यर्थः । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भावः । अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना पूर्वोक्ततद्गुणरूपकाभ्यां सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

अन्वयः—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाः शुचिसौधवस्त्रवल्लिः दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती शमनस्वसुः शिशुत्वम् अलभत ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के अत्यन्त निर्मल नीलमणि निर्मित गृहों की किरणों से भ्रमर-वर्ण (नीले रंग की आभावाली) प्रासाद की शुभ्र पताका सूर्य की गोद में (समीप) चञ्चलता से क्रीडा करती यम भगिनी (यमुना) के बाल्यकाल को प्राप्त करती थी ।

टिप्पणी—इन्द्रनीलमणि निर्मित प्रासादों की लहराती शुभ्र पताका मणि के नीले रंग के कारण नीली बन कर उस यमुना (यमुना का वर्ण भी नीला माना जाता है) के सादृश्य को प्राप्त कर लेती थी, जो अपने बाल्य काल में पिता सूर्य की गोद में चंचलतापूर्वक क्रीडा करती है । मल्लिनाथ ने इस पद्य में तद्गुण और रूपक से सङ्कीर्ण निदर्शना का निर्देश किया है, विद्याधर ने अनुप्रास-अतिशयोक्ति-उदात्त तद्गुण निदर्शना के सङ्कर का । चन्द्रकलाख्या के अनुसार यहाँ निदर्शना तद्गुण रूपक उपमा का सङ्कर है । पुष्पिताग्रा छन्द है, जिसके प्रथम तृतीय चरणों में दो नगण (III), एक रगण (SIS), एक यगण

(ISS) क्रम से बारह-बारह वर्ण होते हैं- और द्वितीय-चतुर्थ चरण में एक नगण (III), दो जगण (ISI), एक रगण (SIS) एक गुरु (S) क्रम से तेरह तेरह वर्ण— 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहायोत्सुकं
पाथोदं निजकेलिसौधशिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलितव्योमान एवाभव-
न्नत्र प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्ती रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

जीवातु—स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलितं क्रान्तं व्योम याभिस्ताः साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गना एवाभवन् । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः' इत्यभिधानादेकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोगः कृतः, यद्यस्मान्निजकेलिसौधशिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नर्महर्म्यं क्रीडासौधं तस्य कटकान्नितम्बादातिथ्यग्रहाय स्वीकाराय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थः । उत्सुकमुत्सुकत्वं गच्छन्तमित्यर्थः, पाथोदं मेघमारुह्य रसादनुरागाद् यान्ती गच्छन्ती अध्वनि अभ्रतरसा मेघवेगेन हेतुना निमेषं न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयानैर्नैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—यत्कामिनी विमानकलितव्योमानः साक्षात् अप्सरस एव अभवन्, यत् निजकेलिसौधशिखरात् स्वप्राणेश्वरनर्महर्म्यकटकातिथ्यग्रहाय उत्सुकं पाथोदम् आरुह्य रसात् यान्ती अध्वनि अभ्रतरसा निमेषं न प्राप ।

हिन्दी—जिस (नगरी) की कामिनी विमान द्वारा आकाश में यात्रा करती साक्षात् अप्सरा ही हो गयी थी, जो कि अपने क्रीडा-प्रासाद के शिखर से स्व-प्राणनाथ के क्रीडा गृह के मध्य आतिथ्य-ग्रहणार्थ, जाते हुए जलद पर आरोहण करके, अनुराग से जाती हुई, मार्ग में मेघ के वेग के कारण क्षण भर भी पलक न झपा पाती।

टिप्पणी—केलिप्रासाद की उच्चता द्योतित । कामिनी-सहज सौन्दर्य, मेघयान और अनिमेषता के कारण अप्सरातुल्य लगती थी। प्रिय के प्रति उत्कण्ठिता नायिका को शीघ्रता अपेक्षित रहती है, विलम्ब उसे सह्य नहीं

होता, अत —'अध्वनि निमेषं न प्राप'–मार्ग में क्षण निमेष भर—क्षण भर को भी नहीं रुकी। मल्लिनाथ ने भेद में अभेदकथन रूपा अतिशयोक्ति अलकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का, चद्रकलाकार ने दो बार अभेद का अध्यवसाय होने से यहाँ दो अतिशयोक्तियों की ससृष्टि और 'कटक', 'शिखर' शब्दों से नर्मंहर्म्य तथा सौध की अत्युच्चता व्यग्य होने के कारण शब्द शक्ति-मूलवस्तु ध्वनि का निर्देश किया है। शार्दूलविक्रीडित छद ॥ १०४ ॥

वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भै-
र्ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः ।
कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेशं गताग्रै-
र्यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

जीवातु—वैदर्भीति। 'उत्ताना वै देवगवा वहन्ती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैः अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो वेगगर्वो येषां तत्तया ह्रिया धृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरधोमुखैः अतएव दिवि उत्तानगाया ऊर्ध्वमुखाया इत्यर्थ । कस्या सुरसुरभेः देवगव्या आस्यदेशं गताग्रैः दर्भैर्यस्या नगर्या सम्बन्धि गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्त नोज्जृम्भते स्म । किन्तु सर्वस्य अपि ग्रासदानाख्यसुकृतमेवोज्जृम्भितमित्यर्थ । अत्युक्तमालङ्कारोऽयमिति केचित्। अशुदर्भाणां ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद । स्रग्धरावृत्त 'म्रभ्नैर्याना त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयमि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

अन्वय —वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितै ब्रह्माण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीधृतावाङ्मुखत्वैः दिवि उत्तानगाया कस्या सुरसुरभेः आस्यदेश गताग्रै यद्गोग्रासप्रदानव्रतसुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म ।

हिन्दी—विदर्भ कुमारी (दमयन्ती) के क्रीडापर्वत पर मरकतमणिनिर्मित शिखरों से उठी ब्रह्माड के सघटटन से वेगजात अभिमान के टूट जाने के कारण लज्जा से नीचे मुख किये स्वर्ग में ऊपर मुख करके आनेवाली किसी देवगी के मुख में जिनके अग्रभाग चले जाते हैं, ऐसी, किरणों के अग्रभागों द्वारा जिस (नगरी) में गोग्रास प्रदान रूप व्रत का पुण्य अनवरत बढ रहा था ।

टिप्पणी—वैदर्भी के केलि शैल की उच्चता द्योतित है, जो मरकत का बना है, जिससे निकलती किरणों के अग्रभाग उत्तानगा देवगो मे मुख के पहुँच गों को ग्रास खिलाने का पुण्य निरन्तर नगरी को दिलाते रहते हैं। केलि-शैल के मरकत रत्नों की किरणें ब्रह्माण्ड की ओर वेग से उठीं, परन्तु ब्रह्माण्ड-सघट्टन से उनका वेग गर्व खण्डित हो गया और वे फिर नीचे की ओर गिरीं कि उत्तानगा किसी सुरसुरभि के मुख में जा गिरीं। इस प्रकार अनायास ही नगरी को गोग्रास देने का पुण्य मिलता रहा। मल्लिनाथ ने असबध में सबधरूपनरूपा अतिशयोक्ति का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि कुछ टीकाकारों ने यहाँ असुतमालकार भी माना है। विद्याधर ने रूपकातिशयोक्ति मानी है, चन्द्रकलाकार ('अद्युदर्भ.' में) रूपक, अतिशयोक्ति, प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और उदात्त अलकारों की संसृष्टि मानते हैं। स्रग्धरा छद है, जिसके प्रत्येक चरण में एक मगण (SSS), एक रगण (SIS), एक भगण (SII), एक नगण (III), तीन यगण (ISS) के क्रम से इक्कीस वर्ण होते हैं। सात-सात-सात पर यति होती है—'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम् ।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन ॥ १०६ ॥

जीवातु—विधिवति। तत्र तस्या नगर्यां शशिदृषदुपक्लृप्तैश्चन्द्रकान्तशिलावद्धैः अत एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतो आत्तनिष्यन्दैः जलप्रस्रवणैरेव पूर्णैस्तरूणामालवालैर्विफलित व्यर्थीकृत जलसेकस्य प्रक्रियाया प्रकारे गौरव भारो यस्य तेन भैमीवनेन स हसो हृतचित्तो व्यरचि। कर्मणि लुङ्। अत्रालवालाना चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। एतदारभ्य चतुःश्लोकपर्यन्तं मालिनीवृत्त—'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैरि'ति लक्षणात् ॥ १०६ ॥

अन्वय—तत्र शशिदृषदुपक्लृप्तैः विधुकरपरिरम्भात् आत्तनिष्यन्दपूर्णैः

तरूणाम् आलवालै विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भैमीवनेन स हृतचित्तो व्यरचि ।

हिन्दी—वहाँ (नगरी मे) चन्द्रकान्तमणियों से बने अतएव चन्द्र किरणों के सम्पर्क से पसीजने के कारण अपने ही जल प्रवाह से परिपूर्ण वृक्षों के आलवालों ('जलाधारों) द्वारा जिसमे जल से सींचने की क्रिया का भार व्यर्थ है, ऐसे भीमसुता (दमयन्ती) के उपवन पर वह (हंस) आकृष्टचित्त हो गया।

टिप्पणी—दमयन्ती की वाटिका मे वृक्षों के आलवाल (थाँवले) चन्द्रकांत मणि से बनाये गये थे, चन्द्रमा निकलता, मणियाँ पसीजती और जल से आलवाल पूर्ण हो जाते । अपने आप ही सिंचाई हो जाती थी । बड़ी ही विचित्र और मनोरम थी वह वाटिका कि मानव नहीं, पक्षी का भी चित्त उसमे रम गया । मल्लिनाथ ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है और विद्याधर ने अतिशयोक्ति और उदात्त का । इसमे और अगले तीन (१०७, १०८ १०९ वें) श्लोकों में भी मालिनी छंद है, जिसके प्रत्येक चरण मे दो नगण (III), एक मगण (SSS), दो यगण (ISS) क्रम से पन्द्रह वर्ण होते है, आठ और सात पर यति होती है ॥ १०६ ॥

> अथ कनकपतत्रस्तत्र तां राजपुत्रीं
> सदसि सदृशभासां विस्फुरन्तीं सखीनाम् ।
> उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखा-
> नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

जीवातु—अथेति । अथ दर्शनानन्तरं कनकपतत्रः स्वर्णपक्षी तत्र वने सदृशभासामात्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीं 'स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः' इति षत्वम् । उडुपरिषदि तारकासमाजे मध्यस्थायिन्या शीतांशुलेखायाश्चन्द्रकलाया अनुकरणे पटु समर्था लक्ष्मीः शोभा यस्याः सा इत्युपमालङ्कारः । तां राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अद्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

अन्वय—अथ कनकपतत्रः तत्र सदृशभासां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीम् उडुपरिषदि मध्यस्थायिशीतांशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीम् अक्षिलक्षीचकार ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती-उपवन के दर्शन) के उपरात स्वर्णपक्षी (हंस) ने वहाँ (वाटिका में) समान कान्तिमती सखियों की सभामध्य विशेष रूपसे दीपती, तारों की परिषद् में मध्यस्थिता (नेतृत्व करती) शीतकिरण (चन्द्र) की कला के अनुकरण में समर्थ शोभान्विता (दमयती) को नेत्रगोचर किया।

टिप्पणी—वाटिका में अनुपम रूपवती सखियों के मध्य विराजती दमयती सुवर्णपक्षी को ऐसी प्रतीत हुई, जैसी कि तारिकाओं के मध्य चन्द्र-कला। दमयती की सखियाँ भी उसी जैसी नहीं, तो उसी के समान सौंदर्य-शालिनी थीं, दमयती तो अनुपम सुन्दरी थी कि विचित्र पक्षी, सोने के पंख-वाले राजहंस के नेत्र भी उसे देखते ही रह गये। उपमालङ्कार ॥ १०७ ॥

> भ्रमणरयविकीर्णस्वर्णभासा खगेन
> क्वचन पतनयोग्यं देशमन्विष्यताऽधः ।
> मुखविधुमदसीयं सेवितुं लम्बमानः
> शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

जीवातु—भ्रमणेति । अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्यं देशं स्थानम् अन्विष्यता गवेषमाणेन अत एव भ्रमणरयेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीप्तिर्यस्य तेन खगेन अमुष्या अयम् अदसीयम् 'वृद्धाच्छः' 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धिसंज्ञा। मुखेन्दुं सेवितुं लम्बमानः स्रंसमानः शशिपरिधिः चन्द्रपरिवेष इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलयः तेने वितेने तनोतेः कर्मणि लिट्। उत्प्रेक्षास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ १०८ ॥

अन्वय—अधः क्वचन पतनयोग्यं देशम् अन्विष्यता भ्रमणरयविकीर्ण-स्वर्णभासा तेन खगेन अदसीयं मुखविधुं सेवितुं लम्बमानः शशिपरिधिः इव उच्चैः मण्डलः तेने।

हिन्दी—नीचे (धरती पर) कहीं उतरने योग्य स्थान को खोजते परिभ्रमण के वेग से सुवर्णदीप्ति विकीर्ण करते हुए उस पक्षी (हंस) ने जैसे उस (दमयती) के मुखचन्द्र के सेवन के निमित्त लटकते चन्द्रपरिवेष के समान ऊपर मडल लिया (गोल चक्कर लगाया)।

टिप्पणी—धरती पर नीचे उतरते पक्षी का यह स्वभाव है कि वह गोल चक्कर लगाकर स्थान निश्चित करके तब उतरता है, राजहंसने भी ऐसा ही किया। कवि ने इसी पर यह बिम्ब-वर्णन किया है। लगा कि चन्द्र के निकट चन्द्र का घेरा 'फ्रेम' आ रहा है दमयन्ती का मुख चन्द्रमा है, स्वर्णाभा बिखेरता चक्कर लेता हंस उसका सुनहरी फ्रेम है। हंस की 'सेवितुम्' क्रिया का भाव नारायण पण्डित ने 'परिचुम्बितुम्' लिया है, कुछ अन्य टीकाकार 'द्रष्टुम्' लेते हैं। वस्तुतः यह भाव अधिक स्वाभाविक लगता है कि मुख चन्द्र का प्रभामण्डल, जो पीछे छूट गया था, चन्द्र के चारों ओर लगने के लिए निकट आ रहा है—'सेवितुम्–उपसेवितुम्'। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा-स्वभावोक्ति का संकर, विद्याधर की दृष्टि में रूपक उपमा-जाति की संसृष्टि ॥ १०८ ॥

> अनुभवति शचीत्थं सा घृताचीमुखाभि-
> र्न सह सहचरीभिर्नन्दनानन्दमुच्चैः ।
> इति मतिरुदयासीत्पक्षिणः प्रेक्ष्य भैमी
> विपिनभुवि सखीभिस्सार्धमाबद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

जीवातु—अनुभवतीति। विपिनभुवि वनप्रदेशे सखीभिः सहचरीभिः 'सख्यशिश्वीति भाषायामि'ति निपातनात् ङीप्। सार्धमाबद्धखेलामनुबद्धक्रीडाम्, 'क्रीडा खेला च कूर्दनमि'त्यमरः। भैमीं प्रेक्ष्य पक्षिणः सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताचीमुखाभिः सहचरीभिः सह इत्थमुच्चैरुत्कृष्टं नन्दनानन्दं नन्दनसुखं नानुभवतीति मतिः बुद्धिरुदयासीदुत्थिता। अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्तृकत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति क्त्वानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव तत्प्रत्ययोत्पत्तौ प्रयोजकत्वात्। प्राधान्यं तत्प्रयोजकमिति न कश्चिद्विरोधः। अत्रोपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः 'भेदप्रधानसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः। आधिक्याद्वान्यकथनाद् व्यतिरेकः स उच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

अन्वय—विपिनभुवि सखीभिः सार्धम् आबद्धखेलां भैमीं प्रेक्ष्य–घृताची-मुखाभिः सखीभिः सह सा शची इत्थम् उच्चैः नन्दनानन्दं न अनुभवति—पक्षिणः इति मतिः उदयासीत्।

हिन्दी—उपवनप्रदेश में सखियों के साथ क्रीडारता भीमपुत्री को देख पक्षी (हंस) की ऐसी बुद्धि बनी कि घृताचीप्रभृति सहचरियों के साथ उन सुविख्यात इन्द्राणी शची को इस प्रकार के प्रचुर आनंद का नन्दन उपवन की क्रीडा में भी अनुभव नहीं होता।

टिप्पणी—दमयन्ती की चर्चा, उसकी सखियों को घृताची आदि अप्सराओं और वाटिका को नन्दनकानन से तुलना करते हुए दमयन्ती के क्रीडा-सुख की चर्चा के वैलक्षण्य से श्रेष्ठता बताकर एक प्रकार से दमयन्ती-परिवेष की चर्चा परिवेष की अपेक्षा श्रेष्ठता द्योतित की गयी है। मल्लिनाथ ने इसी आधार पर यहाँ व्यतिरेक अलंकार माना है, यों विद्याधर ने भ्रांतिमान् का निर्देश किया है॥ १०९॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
द्वैतीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ ११०॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। व्याख्यातम्। द्वितीय एव द्वैतीयीकः, 'द्वितीयादीकक् स्वार्थे वा वक्तव्य' इतीकक् द्वैतीयीकतया मितो द्वितीयत्वेन गणित द्वितीय इत्यर्थः, अगमत्॥ ११०॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचितायां 'जीवातु' समाख्यायां नैषधटीकायां द्वितीय सर्गः समाप्तः॥ २॥

अन्वय—(प्रथम सर्ग के समान) कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः .... सुषुवे, तस्य चारुणि प्रबन्धे महाकाव्ये नैषधीयचरिते अयं द्वैतीयीकतया मितः निसर्गोज्ज्वलः सर्गः अगमत्।

हिन्दी—कविराजसम्राट् श्रीहर्ष के चारु प्रबन्ध महाकाव्य नैषधीयचरित में यह द्वितीय रूप में परिगणित स्वभावसुन्दर–प्रकृतिचित्रों से शृङ्गारित सर्ग परिणति को प्राप्त हुआ॥११०॥

द्वितीय सर्ग समाप्त

— • —

पद्यानुक्रमणिका

(द्वितीय सर्ग)

कथासार

(द्वितीय सर्ग)

राजँस्तां दमयन्तिकां त्वयि तथा कर्ताऽस्मि रक्तां यथा
शक्रादीनपि हास्यतीति नृपतिं हंसः कृतज्ञोऽभ्यधात् ।
एवं चेत्त्वग साधयेप्सितमिति प्रोक्तः सः राज्ञा मुदा
प्रागुड्डीय ददर्श कुण्डिनगतो भैमीमटविष्कुटे ॥

—श्री रामकृष्ण कवि

राजा द्वारा मुक्त हो जाने पर हंस नलराज के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता का अनुभव करने लगा। उसने कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—'हे राजन्, मैं आपके प्रति दमनती को ऐसी अनुरक्त कर सकता हूँ कि आपकी तुलना में वह देवराज इन्द्र को भी नगण्य और उपहसनीय मानने लगेगी।' राजा का तो यह अभीष्ट ही था, उन्होंने हंस के इस प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन किया और हंस उड़कर वैभवशालिनी कुण्डिनपुरी में जा उतरा। वहाँ उसने क्रीडाराम में भीमराज-सुता दमयंती को देखा जो अपनी अपूर्व सुंदरी सखियों के मध्य ऐसी दीख रही थी जैसे तारिकाओं के मध्य चन्द्रकला।

कथासार

(तृतीय सर्ग)

मामुद्दिश्य किमेषि नैमि चटुविन्नाप्योऽस्मि विस्ते दधि-
धेयेऽस्यस्ति भरं गुणोऽस्य बत तामुक्त्वा व्यरंसीदयम् ।
तस्मै ब्रूहि तथा यथा स नृपतिर्मामुद्वहेदित्युरा-
दिष्टो भीमजया खगो द्रुतमितः सिद्धिं नलायास्पदत् ।

—श्रीकृष्णरामकवि

विदर्भराज के क्रीडोद्यान में आ उतरे स्वर्णहंस पर विमुग्ध हुई दमयती को अपने पीछे-पीछे भटकाता वह हंस एकान्त स्थल पर ले गया और उसे अपनी और नलनरेश की स्थिति इस प्रकार बतायी कि नलमुग्धा दमयन्ती का अनुराग गौढ़तर हो उठा और उसने उकसाये जाने पर लाज छोड़ हंस से प्रार्थना की कि वह नल के साथ उसका विवाह करादेने का सफल प्रयत्न अविलम्ब करे। दमयती को समझा और कार्यसिद्धि का विश्वास दिला हंस निषधदेश की ओर उड़ गया और दमयती को उसकी सखियाँ राजमहल की ओर ले गयीं। हंस ने विरही नल को सब सुसमाचार सुनाया, जिससे वह अत्यानन्दित हुआ।



पद्यानुक्रमणिका

(तृतीयसर्ग)

॥ श्री ॥

नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टीकासहित-

सान्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चिताभ्यामथ पक्षतिभ्यां नभोविभागात्तरसाऽवतीर्य ।
निवेशदेशाततधूतपक्षः पपात भूमावुपभैमि हंसः ॥ १ ॥

जीवातु—आकुञ्चिताभ्यामिति । अथ मल्लीकरणानन्तरं हंसः । आकुञ्चिताभ्यां पक्षतिभ्यां पक्षमूलाभ्यां नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगेनावतीर्य निवेशदेशे उपनिवेशस्थाने आततौ विस्तारितौ धूतौ कम्पितौ च पक्षौ येन स तथा सन्नुपभैमि भैम्याः समीपे, सामीप्येऽव्ययीभावः, नपुंसकह्रस्वत्वं च । भूमौ पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ हंसः आकुञ्चिताभ्याम् पक्षतिभ्याम् नभोविभागात् तरसा अवतीर्य निवेशदेशाततधूतपक्षः भूमौ उपभैमि पपात ।

हिन्दी—विदर्भराज की वाटिका में पहुँचने अथवा चक्कर लगाने के पश्चात् स्वर्णहंस पंख सिकोड़ कर आकाशमण्डल से वेगपूर्वक उतर कर बैठने के स्थान पर पंखों को फैलाता और कम्पित करता धरती पर भीमसुता दमयन्ती के निकट बैठ गया ।

टिप्पणी—मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति अलङ्कार, इसी को साहित्य-विद्याधरिकार ने जाति बताया है, उनके अनुसार इस श्लोक में जाति और अनुप्रास हैं । इस सर्ग के आरम्भिक श्लोक से १२४ वें श्लोक तक उपजाति छन्द है । उपजाति में इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा का मिश्रण रहता है, जैसा कि इसमें (प्रथम द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा तथा तृतीय-चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा) है ।

उपजाति का लक्षण है—'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ ग , उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ । अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ॥' अर्थात् ऽऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, दो ऽऽ (१, २ चरण), ।ऽ।, ऽऽ।, ।ऽ।, दो ऽऽ (३, ४ चरण) ॥१॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहताया क्षितेस्तदा य स्वन उच्चचार ।
द्रागन्यविन्यस्तदृश स तस्या सम्भ्रान्तमन्त करणञ्चकार ॥ २ ॥

जीवातु—आकस्मिक इति । तदा पतनसमये पक्षपुटाहताया क्षिते । अकस्मादेव आकस्मिक अदृष्टहेतुको निर्हेतुक इत्यर्थ । य स्वनो ध्वनिरुच्चचार उत्थित , स स्वन अन्यविन्यस्तदृश विषयान्तरनिविष्टदृष्टेस्तस्या भैम्या अन्त करण द्राक् झटिति सम्भ्रान्त ससभ्रम चकार । अकाण्डेऽसम्भावितशब्दश्रवणाच्चमत्कृतचित्ताऽभूदित्यर्थ । स्वभावोक्ति ॥ २ ॥

अन्वय —पक्षपुटाहताया क्षिते आकस्मिक य स्वन तदा उच्चचार स अन्यविन्यस्तदृश तस्या अन्त करण द्राक् सम्भ्रान्त चकार ।

हिन्दी—हस के बैठते समय उसके पक्षयुगल से आहत धरती से सहसा जो शब्द उत्पन्न हुआ, उसने किसी दूसरी ओर निहारती उस दमयन्ती के अन्त करण को झटिति सभ्रम से परिपूर्ण कर दिया (उस शब्द से दमयन्ती चौक पडी और उसकी दृष्टि अपने पूर्वलक्ष्य से हट गयी)।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के सदृश इसमे स्वभावोक्ति (मल्लिनाथ) अथवा जाति (विद्याधर) अलंकार है ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीना विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि ।
प्रापुस्तमेकं निरुपाख्यरूप ब्रह्मेव चेतासि यतव्रतानाम् ॥ ३ ॥

जीवातु—नेत्राणीति । विदर्भाणा राजा वैदर्भ । तस्य सुताया भैम्या सखीना नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहा तत्तद्दर्शनग्रहणानि अन्यत्र तत्तद्विषयासङ्गो यैस्तानि सन्ति एकमेवकरम् अद्वितीयञ्च नोपाख्यायत इति निरुपाख्यमवाच्य रूपमाकार , स्व स्वरूप च यस्य त पुरोवर्तिन हस तत्पदार्थभूतञ्च यतव्रताना योगिना चेतासि ब्रह्म परात्मानमिव प्रापु , अत्यादरेणाद्राक्षुरित्यर्थ ॥ ३ ॥

अन्वय —विदर्भसुतासखीना विमुक्ततत्तद्विषयग्रहाणि नेत्राणि यतव्रतानां चेतासि ब्रह्म इव एक निरुपाख्यरूप त हस प्रापु ।

हिन्दी—विदर्भनरेश की पुत्री की सखियों के नेत्र अपने-अपने विषयों का देखना त्याग कर जिस प्रकार व्रतधारी योगियों के चित्त समस्त सांसारिक विषयों को त्याग कर अवर्णनीयस्वरूप ब्रह्म में लीन रहते हैं, उसी प्रकार जिसके रूप का वर्णन सम्भव नहीं है, ऐसे उस हंस को (ही) देखने लगे।

टिप्पणी—इस श्लोक में हंस को अनिर्वचनीय ब्रह्म से उपमित करते हुए कवि ने उस आनन्द की प्राप्ति का संकेत किया है, जो परमानन्द है, जिसे समाधिस्थ जितेन्द्रिय योगिजन ही प्राप्त कर पाते हैं। हंस न केवल अपूर्व सुन्दर था, आदर भी उत्पन्न करता था। उपमा अलङ्कार। यद्यपि यहाँ नेत्र और ब्रह्म के सादृश्य में भिन्नवचनता और भिन्नलिङ्गता है, तथा यह उद्वेग का कारण नहीं बनता, अतः दोष नहीं है। दण्डी के अनुसार—'न लिङ्ग-वचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा। उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥३॥

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥ ४ ॥

जीवातु—हंसमिति। असौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायां स्वकीयायां 'प्रत्ययस्थात्कात् पूर्वस्येतीत्वम्'। तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदभ्यन्तरे सन्नि-हितमासन्नमाविर्भूतं च चरन्तं सञ्चरन्तं वर्तमानं च हंसं मरालं परमात्मानं च, 'हंसो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मत्सरे' इति विश्वः। अदरिणा निर्भयेन शयेन पाणिना 'दरो स्त्रियां भये श्वभ्रे', 'पञ्चशाखः शयः पाणिरि'त्यमरः। अन्यत्र आदरिणा आदरवता आशयेन चित्तेन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्तुकामा च यत्नात् निश्चलता निश्चलाङ्गत्वं जगाहे जगाम ॥ ४ ॥

अन्वय—तनौ सन्निहितं चरन्तं हंसं दरिणा (अदरिणा वा) शयेन (आदरिणा आशयेन वा), ग्रहीतुकामा मुनेः मनोवृत्तिः इव स्विकायां तनौ यत्नात् निश्चलतां जगाहे।

हिन्दी—उस दमयन्ती ने निकट विचरण करते उस हंस को डरते डरते (अथवा निर्भय) हाथ से (अथवा आदरपूर्ण भावना से) पकड़ने की इच्छा से जिस प्रकार (ब्रह्मज्ञान लिप्सु हो) मुनि अपनी मनोवृत्तियों को अपने शरीर में प्रयत्नपूर्वक निश्चेष्ट कर लेते हैं, उसी प्रकार अपने शरीर में निश्चलता को ला दिया।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक मे हस-दर्शन सुख की तुलना ब्रह्मानन्द से की गयी, इस श्लोक में हंस-प्राप्ति की क्रिया को मुनियो द्वारा आदरपूर्वक आचरित ब्रह्म-निष्ठसाधना से उपमित किया गया है। विद्याधर ने यहाँ उपमालकार माना है, चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ श्लेष और उपमा का अङ्गाङ्गिभाव सकर है॥ ४॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामय न धैर्याद्वियदुत्पपात ।
तत्पाणिमात्मोपरिपातुक तु मोघ वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

जीवातु—तामिति। अथ हसस्तां पूर्वोक्ता माया कपटमिङ्गितैश्चेष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धैर्यात् स्थैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पचमी। वियदाकाश प्रति नोत्पपात नोत्पतितवान् आत्मन उपरि पातुकम्पतयालु 'लषपते'त्यादिना उकञ् प्रत्यय। तस्या पाणि तु प्लुतिलाघवेन उत्प्लवनकौशलेन मोघ वितेने विफलयत्नम् अकरोत् आत्मान्य जनयति न तु पाणौ लगतीत्यर्थ ॥ ५ ॥

अन्वय—अय सः भैम्या मायाम् इङ्गितैः अनुमाय अपि वियत् न उत्पपात, आत्मोपरिपातुक तत्पाणिं तु प्लुतिलाघवेन मोघ वितेने।

हिन्दी—वह हस भीमसुता की उस माया (कपटनिश्चलता) का सकेतो से अनुमान करके भी आकाश मे नही उड गया, किन्तु पकडने के लिए अपने ऊपर गिरते हाथ को उसने अपनी फुदक जाने की चतुरता से व्यर्थ कर दिया।

टिप्पणी—भावार्थ यह कि हस ने इधर-उधर फुदक कर बच जाने की चेष्टा करते हुए स्वाभाविकता की रक्षा की, सरलता से यह प्रकट न होने दिया कि वह दौत्य सपादन के लिए ही आया है। जाति अलकार ॥ ५ ॥

व्यर्थीकृत पत्त्ररथेन तेन तथाऽवसाय व्यवसायमस्या ।
परस्परामर्पितहस्ततालं तत्कालमालीभिरहस्यतालम् ॥ ६ ॥

जीवातु—व्यर्थीकृतमिति। अस्या भैम्या व्यवसाय हसग्रहणोद्योग तेन पत्त्ररथेन पक्षिणा व्यर्थीकृत तथाऽवसाय ज्ञात्वा तत्काल तस्मिन् काले अत्यन्तसयोगे द्वितीया। स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषण वा। परस्परा परस्परस्यामित्यर्थ। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्विर्भाव समासवच्च बहुलमि'ति बहुलग्रहणादसमासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचने कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य

सत्वमुत्तरपदस्य यथायोग द्वितीयार्थेकवचन 'श्रोनपुंसकयोरुत्तरपदस्याम् विभक्तेराम्नावो वक्तव्य' इति विकल्पादामादेश । अपितहस्ततालं दत्तहस्तताडनं यथा तथा आलीभि सखीभिरेनम् अरुत्तर्यम् अहस्यत हसितम् । भावे लङ् ॥६॥

अन्वय —तेन पतत्त्रिणा अस्या व्यवसाय तथा व्यर्थीकृतम् अवगम्य आलीभि तत्काल परस्परम् अपितहस्ततालम् अरम् अहस्यत ।

हिन्दी—उस हंस के द्वारा उस (दमयन्ती) के हंस पकड़ लेने के उद्योग को उस प्रकार (स्फूर्तिलाघव द्वारा) व्यर्थ कर दिया जान कर (दमयन्ती की) सखियाँ उस समय हाथ पर हाथ मार कर, ताली बजाती हुई जोर से हंसने लगीं ।

टिप्पणी—किसी की असफलता पर हंसना मानव का स्वाभाविक स्वभाव है जिसमें ईर्ष्या प्रत्यक्ष कारण नहीं होता, प्रत्युत एक प्रकार का विनोद होता है, यद्यपि असफल व्यक्ति को क्षोभ ही होता है ॥ ६ ॥

उच्चाटनीय करतालिकाना दानादिदानीं भवतीभिरेष ।
याऽन्वेति मा द्रुह्यति मह्यमेव साऽत्रेत्युपालम्भि तयाऽऽलिवर्ग ॥ ७ ॥

जीवातु—उच्चाटनीय इति । हे सख्य । भवतीभिरेष हंस करतालिकाना दानाद्धस्ततालनकरणादुच्चाटनीय निष्कासनीय किमिति काकु, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थ । अत्र आसु मध्ये या मामन्वेति सा मह्यमेव द्रुह्यति मा जिघासतीत्यर्थ । 'क्रुधद्रुहे'त्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी । इतीत्थ तया भैम्या आलिवर्ग सखीसंघ उपालम्भि यद्यपि, शापेनैव निवारित इत्यर्थ ॥ ७ ॥

अन्वय—करतालिकाना दानात् इदानीं भवतीभि एष उच्चाटनीय ? अत्र या माम् अन्वेति, सा मह्य द्रुह्यति एव—इति तया आलिवर्ग उपालम्भि ।

हिन्दी—ताली इत्यादि बजाकर इस समय आपलोगों द्वारा इस हंस को उड़ा देना उचित है ? (अपितु अनुचित है ।) अब आप लोगों में से जो भी मेरे पीछे आवेगी, वह मेरे साथ द्रोह करेगी—इस प्रकार उस (दमयन्ती) ने अपनी सखियों को उपालम्भ दिया ।

टिप्पणी—सखियों द्वारा किये उपहास पर दमयन्ती की स्वाभाविक प्रतिक्रिया । प्रथम चरण में काकु ॥ ७ ॥

धृताल्पकोपा हसिते सखीना छायेव भास्वन्तमभिप्रयातुः ।
श्यामाऽथहसस्य करानवाप्तेर्मन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

जीवातु—धृतेति । अथ सखीनिवारणानन्तर सखीना हसिते हासनिमित्ते धृताल्पकोपा तासु ईषत्कोपा इत्यर्थ । भास्वन्तमभिप्रयातु सूर्याभिमुख गच्छत छाया अनातपरेखेव श्यामा यौवनमध्या 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलमालायाम् । अन्यत्र श्यामा नीला, हसस्य कर्मणि षष्ठी । करेण हस्तेन अनवाप्तेरग्रहणाद्धेतोर्मन्दाक्ष ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या ह्रीणा सतीत्यर्थ । अन्यत्र हसस्य सूर्यस्य करानवाप्ते अशुसस्पर्शाभावात् मन्दाक्षैरपटुदृष्टिभिर्लक्ष्या ग्राह्या तै छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भाव । पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत प्राप्त्याशया तमन्वगात् । 'रविश्वेतच्छदौ हसौ', 'बलिहस्तांशव करा' इति चामर ॥ ८ ॥

अन्वय —अथ सखीना हसिते धृताल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातु छाया इव श्यामा करानवाप्ते मन्दाक्षलक्ष्या हसस्य पश्चात् लगति स्म ।

हिन्दी– तत्पश्चात् सखियो के उपहास पर कुछ अल्प क्रोध करती, सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति की सूर्य किरणों की अप्राप्ति के कारण श्यामल छाया के समान हस को हाथ से न पकड सकने से सलज्जा वह श्यामा (तरुणी दमयन्ती) हस के पीछे लग ली ।

टिप्पणी—सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति की छाया उसके सम्मुख पडती है, किरणो का वहाँ न पहुँच सकना इसका कारण है । यहाँ 'करानवाप्तेः' मे 'कर' 'हस' और 'श्यामा' द्वयर्थक शब्द हैं, जिनका अर्थ किरण-हस्त, हसपक्षी-सूर्य और श्यामछाया–तरुणी होते हैं । इसी आधार पर यहाँ किरणो के न पहुँच सकने से श्यामल छाया से 'श्यामा' दमयन्ती की तुलना की गयी है । दमयन्ती हस को हाथ मे न पकड सकने से क्षुब्ध है, सखियों के उपहास से अल्प क्रुद्ध भी है, हस ग्रहण को उत्सुक भी है । विद्याधर ने यहाँ इसी आधार पर उपमा मात्र-धवलता—अलकार का विधान किया है ॥ ८ ॥

शस्ता न हसाभिमुखी तवेयं यात्रेति ताभिश्छलहस्यमाना ।
साऽऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एष हंस ॥ ९ ॥

जीवातु—हंसेति । तदेव हंसस्य श्वेतच्छदस्य चाभिमुखी यात्रा गमनं न शस्ता न प्रशस्ता श्रेयस्करी न शास्त्रविरोधात् श्रमसन्तापकष्टदोषाच्चेति भावः । इतीत्थं तानि छलेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको मङ्गलमूर्त्तित्वादागामिशुभसूचक एष हंसो मे मम नाशकुनीभवेदेव, किं तु शकुनमेव भवेदित्यर्थः । अपक्षी न भवेदिति च गम्यते 'शकुनं तु शुभाशंसानिमित्ते शकुनः पुमानि'ति विश्वः । 'अभूततद्भावे च्वि' विध्यादिसूत्रेण प्रार्थने लिङ् । इत्याह स्म अवोचत्, 'ब्रुवः पञ्चानामि'त्याहादेशः । एतेन तदीययात्रानिषेधोक्तदोषः परिहृतो वेदितव्यः ॥ ९ ॥

अन्वयः—ते हंसाभिमुखी यात्रा पुनः शस्ता न—इति तामिः छलहस्यमाना सा आह स्म—भाविप्रियावेदक एष हंस एव, मे न अशकुनीभवेत् ।

हिन्दी—आपकी हंस (सूर्य) के अभिमुख यात्रा (गमन) प्रशंसनीय नहीं है (शास्त्रनिषिद्ध होने से अशकुन है)—इस प्रकार उन सखियों द्वारा छल-उपहसित होती हुई दमयन्ती ने कहा—भावी प्रिय का सूचक यह हंस हंस पक्षी ही है (सूर्य नहीं, जिसके सम्मुख गमन शास्त्रवर्जित है), सो यह 'शकुन' मेरे लिए 'अशकुन' (अशुभ) न होगा ।

टिप्पणी—यहाँ द्व्यर्थक 'हंस' के प्रयोग से चमत्कार लाया गया है और राजहंस को भावी प्रिय-मिलन का सूचक संकेतित कर शकुन (शुभ) बताया गया है । यह नाटकीय 'पताकास्थान' तुल्य है, जिसमें भावी का इङ्गित दे दिया गया है । चन्द्रकलाकार ने यहाँ श्लेषालङ्कार माना है, साहित्यविद्याधरीकार के अनुसार यहाँ अपह्नुति और वक्रोक्ति अलङ्कार हैं ॥ ९ ॥

हंसोऽप्यसौ हंसगतेस्सुदत्याः पुरः पुरश्चारु चलन् बभासे ।
वैलक्ष्यहेतोर्गतिमेतदीयामग्रेऽनुकृत्योपहसन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

जीवातु—एवं दमयन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह—हंसोऽपीति । असौ हंसोऽपि हंसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्याः सुदत्याः शोभनदन्तायाः भैम्याः, सुदती व्याख्याता । पुरः पुरः वीप्सायां द्विर्भावः । अग्रे समन्तात्, चारु चलन् रम्यं गच्छन् सन् वैलक्ष्यमेव हेतुस्तस्य वैलक्ष्यहेतोः, अहो मामयमतिविडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थं

मित्यर्थः । 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमर । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, बभासे बभौ लोके परिहासका तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

अन्वय—हसगते सुदत्या पुर पुर चारु चलन् असौ हस अपि वैलक्ष्यहेतो तदीया गतिम् अनुकृत्य उच्चैं उपहसन् इव बभासे ।

हिन्दी—हसगामिनी, सुन्दर दाँतो वाली (दमयन्ती) के आगे आगे सुन्दरता से चलता वह हस भी दमयन्ती को लज्जित करने के निमित्त उसकी गति का अनुकरण करके उच्च स्वर से जैसे उपहास करता हुआ ही शोभित हुआ ।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती के दो विशेषण दिये गये हैं, एक तो वह 'हस-गति' है और दूसरे 'सुदती' है । तो जिस हस की गति दमयन्ती का उपमान बनी है, वह तो उससे श्रेष्ठ हुआ ही, उसकी शुभ्रता और सौन्दर्य के समुख मानो सफेद दाँत भी गर्वयोग्य नहीं है । इस प्रकार दोनों विशेषताओं के न्यून हो जाने से दमयन्ती का लज्जित होना स्वाभाविक ही है । इसके अतिरिक्त हस उसकी चाल का अनुकरण कर रहा है और यह पकड मे भी नहीं आ रहा है—यह भी उपहास का कारण है । उत्प्रेक्षालकार, साहित्यविद्याधरीकार ने 'हसगते' मे लुप्तोपमा का भी निर्देश किया है ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी त यथा करप्राप्यमवैति नूनम् ।
तथा सखेलं चलता लतासु प्रतार्य तेनाचकृषे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

जीवातु—पदे पद इति । भावयन्तीति भाविनि हसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थ । 'भविष्यति गम्यादय' इति साधु । पदे पदे त हस यथा करप्राप्य करग्राह्य नून निश्चितमवैति प्रत्येति, तथा सखेल चलता गच्छता तेन हसेन प्रतार्य वञ्चयित्वा लतासु आचकृषे आकृष्टा, एकान्त नीतेत्यर्थ ॥११॥

अन्वय—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे पदे त यथा करप्राप्य नूनम् अवैति तथा सखेल चलता तेन प्रतार्य लतासु आचकृषे ।

हिन्दी—हंस को ग्रहण करने के भाव से युक्त वह कोमलांगी (दमयन्ती)

प्रत्येक अगले चरण-विन्यास में उस हंस को जैसे ही निश्चयत हाथ-आने योग्य समझती, वैसे ही क्रीडा सहित चलता-चलता वह (हंस) उसे वचना करते लताओं के समीप ले गया।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस पीछा करती दमयन्ती को सखियों से अलग एकान्त स्थली में ले गया जहाँ उसे नल-संदेश सुनाया जा सके। साहित्य-विद्याधरी के अनुसार छेकानुप्रास और जाति अलंकार ॥ ११ ॥

रुषा निषिद्धालिजनां यदैनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार।
तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं स कीरवन्मानुषवागवादीत् ॥ १२ ॥

जीवातु—रुषेति। रुषा निषिद्धालिजना निवारितसखीजना यदा छाया एव द्वितीया यस्यास्तामेकाकिनीं कलयाञ्चकार विवेद, तदा श्रमाम्भःकण-भूषिताङ्गीं स्वेदाम्बुलवपरिष्कृतशरीरां श्रिग्रागान्तां स हंस कीरवत् शुक-वन्मनुष्यस्येव वाग्यस्य स सन्नवादीत् ॥ १२ ॥

अन्वय—यदा स रुषा निषिद्धालिजनाम् एनां छायाद्वितीयां कलयाञ्चकार तदा श्रमाम्भःकणभूषिताङ्गीं कीरवत् मानुषवाक् अवादीत्।

हिन्दी—जब उस हंस ने क्रोध से जिसने सखियों को साथ-आने में रोक दिया था, उस (दमयन्ती) को केवल छायासहचरी (जिसके साथ केवल छाया ही है ऐसी, अकेली) समझ लिया, तब श्रम से संजात स्वेदकणों से सुशोभित अंगोंवाली (दमयन्ती) से वह तोते के सदृश मानुषी वाणी में बोला।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार उपमा और रूपक अलंकार ॥ १२ ॥

अये! कियद्यावदुपैषि दूरं व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम्?।
उदेति ते भीरपि किन्नु बाले विलोकयन्त्या न घना वनालीः? ॥१३॥

जीवातु—अय इति। अये बाले! व्यर्थं कियद्दूरं यावदुपैषि उपैष्यसि? 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्'। किमर्थं परिश्राम्यसि वा? घना सान्द्रा वनालीर्वन-पङ्क्तीर्विलोकयन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्नु? ॥ १३ ॥

अन्वय—अये कियद् दूर यावत् व्यर्थम् उपैषि, किमर्थं परिश्राम्यसि वा? बाले, घना वनालीः विलोकयन्त्या ते भीः अपि न उदेति किन्नु?

हिन्दी—अरे, कितनी दूर तक व्यर्थ चली आ रही हो, अथवा किस लिए परिश्रम कर रही हो (थक रही हो)? अरी बाले, सघन वनपंक्तियों को देख कर तेरे मन में भय भी नहीं उत्पन्न होता क्या ?

टिप्पणी—नारायणी टीका के सकरण में 'व्यर्थं परिश्राम्यसि किमित्थम्' पाठान्तर है। उसके अनुसार 'व्यथम्' का पदच्छेद है 'वि+अथम्' अर्थात् 'वये इति व्यर्थम् पक्ष्यथम्'—'वि' अर्थात् पक्षी हंस के निमित्त क्यों परिश्रम कर रही हो ? भाव यह कि एक पक्षी के लिए इतना श्रम व्यर्थ है। विद्याधर ने इस पद्य में उल्लेख्य अलङ्कार अनुप्रास माना है ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पदं त्वां मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः ।
आलीव पश्य प्रतिषेधतीयं कपोतहुङ्कारगिरा वनाली ॥ १४ ॥

जीवातु—वृथेति। वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, 'ऋक्पूरि'त्यादिना समासान्त अ, 'अपथं नपुंसकम्'। तस्मिन्नपथे दुर्मार्गे अकृत्ये च पदं पादं व्यवसायं च अर्पयन्ती 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुष्वि'त्यमरः। मरुता ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा च वनाली आलीव सखीव प्रतिषेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यार्थः कर्म। यथा लोके अमार्गवृत्तं सुहृज्जनः पाणिना वाचा च वारयति तद्वदित्यर्थः। अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाश्रयणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

अन्वय—वृथा अपथे पदम् अर्पयन्तीं त्वाम् पश्य इयं वनाली मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पैः कपोतहुङ्कारगिरा आली इव प्रतिषेधति।

हिन्दी—व्यर्थ अगम्य मार्ग में पैर धरती (अथवा निषिद्ध आचरण करती) तुझे देख, यह वनपंक्ति वायु से हिलते पल्लवरूप करों को हिलाती, कबूतरों की 'गुटुरगूँ'-रूप वाणी द्वारा सखी के समान बरज रही है।

टिप्पणी—'वनाली' (प्रकृति) का मानवीकरण—'पर्सानिफिकेशन'। पल्लवपाणि में रूपक, वनाली—आली में उपमा ॥ १४ ॥

धार्यः कथंकारमहं भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।
अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

जीवातु—धार्य इति। एकत्रैव गतिर्यस्यास्तया एकगत्या वसुधायामेव गत्या

भूमात्रचारिण्येत्यर्थः । शिवनामवत्तद्धसमासः । भवत्या वियद्विहारी खेचरोऽहं कथङ्कारं कथमित्यर्थः । 'अन्यथैवं कथमित्थमुसिद्धाप्रयोगश्चेदि'ति' कथंशब्दोपपदात्करोतेर्णमुल् । धार्यो धर्तुं ग्रहीतुं शक्य इत्यर्थः । 'शकि लिङ् चे'ति चकाराच्छक्यार्थे कृत्यप्रत्ययः । अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदुद्दीपकेन वयसा यौवनेन शिशुशब्दस्य भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः । न खण्डितं न निवर्तितम् अहो विरुद्धवयसोरेकत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थः । अधारणार्थत्वस्य वसुधागतिवियद्विहारपदार्थहेतुकत्वादेकः काव्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवाखण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वादपर इति सजातीयसङ्करः ॥ १५ ॥

अन्वय —वसुधैकगत्या त्वया वियद्विहारी अहं कथङ्कारं धार्यः ? अहो; स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्वं न खण्डितम् ।

हिन्दी—धरती पर ही चल सकनेवाली तेरे द्वारा, आकाश में विहार करने वाला मैं भला किस प्रकार पकड़ा जा सकूँगा ? अरे, काम के मित्र इस वयस् (यौवन) ने भी तेरी शिशुता को नहीं मिटाया ।

टिप्पणी—भूमात्रचारिणी मानुषी कहीं गगनविहारी हंस को पकड़ सकती है ? फिर भी दमयन्ती का हंस को पकड़ने का यत्न उसकी शैशवोचित अबोधता ही है । हंस इसी पर व्यंग्य करता कह रहा है—'इतनी बड़ी हो गयी, पर तेरा बचपन अभी नहीं गया ।' 'वयस्' के दो अर्थ हैं—(१) यौवन की आयु, (२) पक्षी (हंस) । नारायण ने तृतीय चतुर्थ चरण से सम्बद्ध वाक्य में 'काकु' का प्रयोग कर वाक्य गठन इस प्रकार किया है—'स्मरस्य सख्या अनेन वयसा अपि तव शिशुत्वं न खण्डितम्, अपितु खण्डितमेव ।' अर्थात् कामसदृश नल के मित्र मुझ हंस पक्षी द्वारा उसका प्रणय-संदेश तेरा बचपन खण्डित ही किया गया ही समझो । कहाँ मन में प्रणय-वार्ता पड़ी कि बचपना गया । विद्याधर ने यहाँ विरोध और विशेषोक्ति अलंकार माने हैं, मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दो काव्यलिङ्ग-भेदों का सजातीय संकर है ॥ १५ ॥

सहस्रपत्रासनपत्रहंसवंशस्य पत्राणि पतत्त्रिणः स्मः ।
अस्मादृशां चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ प्रस्तुतोपयोगितया निजान्वयं निवेदयति—सहस्रेति ।

सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहमा वाहनहसा तेषां वशस्य कुलस्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वशो वेणौ कुले वर्गे', 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्व । पतत्त्रिण स्म ब्रह्मवाहनहसवश्या वयमित्यर्थ । अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादृशामस्मद्विधाना 'त्यदादिष्वि'त्यादिना दृशे क्विन् चाटुषु सुभाषितेषु ये रसा शृङ्गारादय त एव अमृतानि स्वर्लोके लोका जना, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमर । तेभ्य इतरैर्मनुष्यैर्दुर्लभानि लब्धुमशक्यानीत्यर्थ ॥ १६ ॥

अन्वय —सहस्रपत्रासनपत्रहसवशस्य पत्राणि पतत्त्रिण स्म अस्मादृशा चाटुरसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ।

हिन्दी—हस कहने लगा—हम सहस्रदल कमल के आसनपर बैठनेवाले ब्रह्मा के वाहन हस के कुल रूप वश (बांस) के की सततिरूप पत्ते पक्षी हैं, हम—जैसों के प्रियवचनरूप रस के अमृत स्वर्ग लोक से भिन्न लोकों (भू पातालादि) के वासियों को दुर्लभ हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती हस को पकड तो सकती ही नहीं, हस का इस प्रकार उससे मिलन भी एक दुर्लभ सयोग ही है, सो अमृतरस से हसवचन सुनना बड़े सौभाग्य की बात है भूलोकवासिनी दमयन्ती के लिए । वामन के अनुसार ओज होता है अर्थ की प्रौढि—'अर्थस्य प्रौढिरोज ।' विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है, क्योंकि 'मनुष्य' पद से वाच्य अर्थ के लिए 'स्वर्लोकलोकेतर' कह कर प्रौढि लायी गयी है । उन्होने यहाँ उल्लेख अलकार छेकानुप्रास माना है । यों सामान्यत रूपक स्पष्ट है ॥ १६ ॥

स्वर्गापगाहेममृणालिनीना नालामृणालाग्रभुजो भजाम ।
अन्नानुरूपां तनुरूपऋद्धि कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

जीवातु—अथ स्वाकारस्य कनकमयत्वे कारणमाह–स्वर्गेति । स्वर्गापगा स्वर्णदी तस्यां हेममृणालिन्यस्तासां या नाला काण्डा यानि मृणालानि कन्दाश्च । अत्र नालामृणालशब्दस्य शब्दानुशासन वेधा शब्दानामितिवत्समासे गुणभूतेन सम्बन्ध मोढव्य 'नालो नालमथास्त्रियामि'त्यमरवचनान्नालेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशे न च तत्रापि सन्देह । तद् व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च

स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात् । यथा च दशमे सर्गे प्रयोक्ष्यते 'मृदुत्वमभीक्ष्णमृणा-
लनालया' इति, 'नालं स्याद्बिसकन्द' इति विश्व , तेषामग्राणि भुञ्जत इति
तद्भुज वयमिति शेष । वक्षानुरूपमाहारस्तस्मादात्मनो शरीरस्य रूपर्द्धि
वर्णसमृद्धिम् 'ऋद्धस्फीत' इति प्रकृतिनाव । भजाम प्राप्ता स्म इत्यर्थ । तथा हि
कार्यं जन्य द्रव्य निदानादुपादानात्, 'आरम्भतोपयोग' इत्युपादानता गुणान्
रूपादिविशेषणगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थं । प्राप्तिविशेषवाचिनस्तत्सामान्य-
लक्षणात् प्रायेण आहारपरिणतिविशेषपूर्विका प्राणिना कायकान्तिरिति भावः ।
सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ १७ ॥

अन्वय—स्वर्गापगाहेममृणालिनीना नालामृणालाग्रभुज (वयम्) अन्नानुरूपा तनुरूपर्द्धि भजाम , हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते ।

हिन्दी—स्वर्गङ्गा में उत्पन्न स्वर्ण कमलिनियों के नाल—मृणालो का अग्रभाग खाने वाले हम अपने खाद्य के अनुरूप ही शरीर शोभा रूप समृद्धि के भाजन हैं, क्योंकि कार्य कारण से ही गुण प्राप्त करता है।

टिप्पणी—नैयायिकों के अनुसार—'कारणगुणा , कार्यं गुणानारभन्ते'—कारण के गुण ही कार्य में आते है, जैसे निदानादिकारण मृत्पिण्डादि से कार्य घट आदि में गुण आते हैं। इसी प्रकार स्वर्णकमल भोजन से हंस का स्वर्ण-शरीर है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास के साथ अनुप्रास भी उल्लेखनीय माना है ॥ १७ ॥

धातुर्नियोगादिह नैषधीय लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।
हैमेषु हंसेष्वहमेक एव भ्रमामि भूलोकविलोकनोत्कः ॥ १८ ॥

जीवातु—कथमत्र स्थानविसञ्चरणे कारणमाह—धातुरिति । धातु-
र्ब्रह्मणो नियोगादादेशादिह भूलोके नैषधीय नलीय लीलासर सेवितु क्रीडा-
सरसि विहर्तुमित्यर्थं । आगतेषु हैमेषु हेमविकारेषु । विकारार्थेऽण् प्रत्यय ।
'नस्तद्धित' इति टिलोप । हंसेषु मध्ये अहमेक एव भूलोकविलोकने उत्क उत्सुक
सन् 'दुर्मना विमना अन्तर्मना स्यादुत्क उन्मना' इत्यमर । उत्कशब्दात्कन्
प्रत्ययान्तो निपात भ्रमामि पर्यटामि ॥ १८ ॥

अन्वय —धातुः नियोगात् इह नैषधीय लीलासर सेवितुम् आगतेषु हैमेषु हंसेषु एकः अहम् एव भूलोकविलोकनोत्कः भ्रमामि ।

हिन्दी—विधाता के आदेश से यहाँ (पृथ्वी मंडल में) निषधराज के क्रीडासरोवर में विहारार्थ आये सुवर्ण हंसों में मैं एक मैं ही भूलोक के दर्शनार्थ उत्सुक हो भ्रमण कर रहा हूँ ।

टिप्पणी—इस पद्य में स्वर्ण हंस ने ब्रह्मलोक छोड़ अपने भूमंडल पर होने का कारण स्पष्ट किया है ॥ १८ ॥

विधेः कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः ।
स्कन्धस्य विश्रान्तिमदां तदादि श्राम्यामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥ १९ ॥

जीवातु—अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—विधेरिति । कदाचिद्विधेः ब्रह्मणो भ्रमणीविलासे भुवनभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्यः अवसन्नेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः स्वकुलवृद्धेभ्यः स्कन्धस्यांसस्य, 'स्कन्धो भुजशिरोऽसोऽस्त्री'त्यमरः । विश्रान्तिमदां प्रादाम् । स्वयमेव एवाहमित्यर्थः । ददातेर्लुङि 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक् । तदादि तत्प्रभृति अविश्रमभनवरतं 'नीवाक्तोपदेश'स्यादिना श्रमेर्वृद्धिप्रतिषेध , विश्वगो विश्वं गच्छन्नपि 'अन्यत्रापि दृश्यत' इति गमेड्प्रत्ययः । न श्राम्यामि न खिद्ये ॥ १९ ॥

अन्वय—कदाचित् विधेः भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यः स्वमहत्तरेभ्यः स्कन्धस्य विश्रान्तिम् अदाम् तदादि अविश्रमविश्वगः अपि न श्राम्यामि ।

हिन्दी—किसी समय (एकबार) विधाता के भ्रमण विनोद में (वाहनी भूत) श्रम से थके अपने गुरुजनों के कंधे को मैंने विश्राम दिया था, तब से बिना विश्राम किये विश्वगमन करने पर भी मैं नहीं थकता ।

टिप्पणी—बिना थके विश्वयात्रा करने का कारण यहाँ हंस ने स्पष्ट किया । अपने गुरुजनों की सहायता कर उसने उन्हें संतुष्ट किया था, तभी से उसे यात्रा में थकान न आने की क्षमता प्राप्त हुई । काव्यलिंग अलङ्कार ॥ १९ ॥

बन्धाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्पाशादिरासादितपौरुषः स्यात् ।
एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्यं विरलोदयस्य ॥ २० ॥

जीवातु—अथ व्याधादिबन्धनमपि न मेऽस्तीत्याह—बन्धायेति । मादृशि दिव्ये तिरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजन्मनो नरस्य मर्त्यस्य प्रायेणैवविधो

नास्तीत्यर्थः । अन्यत्र विरो विगतरेफः स चासौ लोदयो लोदयवांश्च मत्वर्थीयोऽकारः । तस्य रेफस्थानाधिष्ठितलकारस्य नलस्येत्यर्थः । शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते, भुज्यत इति भोगः सुखं स्वर्गभोगस्य स्वर्गसुखस्य भाग्यं तत्प्रापकादृष्टमित्यर्थः । स्वप्राप्तेस्तत्प्रापकत्वादिति भावः । तदेकं विना कश्चित् पाशादि पाशाद्युपायः । बन्धाय दण्डनार्थंजालादिकपौरुषं प्राप्तव्यापारो न स्यात् । स्वर्भोगभाग्यैकलभ्या वयं, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थः । अस्मादृग्लाभः स्वर्ग्यस्य फलं स्वर्गपदार्थ इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—मादृशि दिव्ये विरलेऽपि विरलोदयस्य नरस्य एकं स्वर्भोगभाग्यं विना कश्चित् पाशादि बन्धाय जालादिकपौरुषं न स्यात् ।

हिन्दी—मेरे समान अलौकिक पक्षी के सम्बन्ध में किसी विरलजन्मा नर के एक स्वर्ग भोगने के भाग्य के अतिरिक्त कोई पाश (जाल) आदि बाँधने में सामर्थ्यशील न होगा ।

टिप्पणी—सामान्य पक्षी को जाल में पकड़ा जा सकता है, पर हंस सामान्य नहीं, दिव्य पक्षी है । उसे वही पकड़ सकता है, जिस विरल मनुष्य का स्वर्गभोग भाग्य हो । अन्य किसी में यह सामर्थ्य नहीं । 'विरलोदस्य नरस्य' का अर्थ 'नल' भी किया जा सकता है । प्रथम सर्ग में वर्णन है कि नल ने हंस को पकड़ लिया था, तो नल ऐसा मर्त्य प्राणी है, जिसमें दिव्य हंस को पकड़ने की क्षमता है । विग्रह है—विगत रेफः यस्य स विर, तस्य विगतरेफस्य स्थाने लस्य उदय यस्मिंस्तस्य नलस्य अर्थात् जिस 'नर' में से 'र' हटा कर 'ल' का उदय हो गया है, वह 'नर' अर्थात् नल ॥ २० ॥

इष्टेन पूर्तेन नलस्य वश्यास्स्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।
महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

जीवातु—तच्च भाग्यं नलस्यैवास्तीत्याह—इष्टेनेति । इष्टेन यागेन पूर्तेन खातादिकर्मणा च । 'त्रिष्वथ क्रतुकर्मेष्टं पूर्तं खातादिकर्मणि'त्यमरः । वश्या वशङ्गता इति प्राग्दीव्यतीयो यत्प्रत्ययः । अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि भूलोके स्वर्भोगं सृजन्ति स्वर्गसुखं सम्पादयन्तीत्यर्थः । ननु देवाश्च कथं लोकान्तरकार्यान्तरभोग्यं स्वर्गमिहानीं सृजन्तीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरति ।

महीरुहो वृक्षा दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य सेकस्य जलसेकस्य धवने सामर्थ्यात् समानकालावाद्यन्तौ उत्पत्तिविनाशावस्येत्याकालिकं उत्पत्त्यनन्तरं विनाशीत्यर्थः । 'आकालिकडाद्यन्तवचने' इति समानकालशब्दस्याकालादेशे ठञ्प्रत्ययान्तो निपातः । प्रकृते स्वकालमेव कोरकमुद्गिरन्तीत्यर्थः । 'तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया' इति शब्दार्णवे । दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाददेशकालेऽपि फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थः दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २१ ॥

अन्वय—इष्टेन पूर्तेन वश्या अमर्त्या अत्र अपि नलस्य स्वर्भोगं सृजन्ति, महीरुहः दोहदसेकशक्तेः आकालिकं कोरकम् उद्गिरन्ति ।

हिन्दी—यज्ञक्रिया और कूपादि निर्माण इत्यादि से वश में किये जा सकने योग्य अमर्त्य (देव) यहाँ (भूलोक) भी नल के लिए स्वर्गभोगों की सर्जना कर देते हैं, (अमर्त्य अर्थात् मनुष्येतर) भू में उत्पन्न होने वाले वृक्ष खाद और सींचने की शक्ति से असमय (भी) कली उत्पन्न कर देते हैं ।

टिप्पणी—'स्वर्भोगभाग्य' पुण्य कर्मों से बनता है । यज्ञ, कूप, तडाग आदि के निर्माण से प्रसन्न हो देवता मनुष्य को भूलोक में ही स्वर्ग सुख-सौभाग्य उपलब्ध कर देते हैं । वृक्ष में असमय कोरक दर्शन के उदाहरण से कथन को पुष्ट किया गया । दृष्टान्त अलंकार–'अर्थविशेषं पूर्वं यादृग् न्यस्तो विनिश्चितरमो । तादृशमन्यं न्यस्येदत्र पुनः सोऽत्र दृष्टान्तः ॥'—रुद्रट ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलादवतीर्य तूर्णं स्ववाहिनीवारिकणावकीर्णे ।
तं वीजयामः स्मरकेलिकाले पक्षेर्नृप चामरबद्धसख्यैः ॥ २२ ॥

जीवातु—स्वर्भोगमेवाह—सुवर्णेति । सुवर्णशैला मेरोस्तूर्णमवतीर्य्य अवरुह्य स्ववाहिनीवारिकणावकीर्णे मन्दाकिनीजलबिन्दुसम्पृक्तैः चामरेषु बद्धसख्यैस्तत्सदृशैः पक्षैः पतत्रैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः तादृक्पक्षवीजनैः सुरतश्रान्तिमपनुदाम इत्यर्थः ॥ २२ ॥

अन्वय—सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्य स्ववाहिनीवारिकणावकीर्णैः चामरबद्धसख्यैः पक्षैः स्मरकेलिकाले तं नृपं वीजयामः ।

हिन्दी—स्वर्णशैल सुमेरु से झट उतर कर स्वर्गगा के जल-कणों से

व्याज चँवर के समान (अथवा अमरों (देवों) से सख्य अर्थात् मैत्री रखने वाले) पंखों से सुरतकेलि के समय हम उस राजा पर पंखा झलते हैं।

टिप्पणी—हंस अपने पंखों से नल पर पंखा झलते हैं और देव स्वर्गीगों की पूजना। इस प्रकार समकर्मा होने के कारण अमरों और हंस-पक्षों में सख्य (मैत्री, सादृश्य) हुआ। साहित्यविद्याधरी के अनुसार उपमा ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता व्यक्तिस्तदा सा प्रथमाभिधेया।
या स्वौजसा साधयितुं विलासैस्तावत्क्षमा नामपदं बहु स्यात् ॥ २३ ॥

जीवातु—क्रियेतेति। साधुविभक्तिचिन्ता सज्जनविभागविचारः क्रियेत चेत्सा व्यक्तिः नलाभिधाना व्यक्तिः मूर्तिः प्रथमाभिधेया प्रथमं परिगणनीया। कुतः या व्यक्तिः स्वौजसा विलासैर्व्याप्तिभिः तावद्बहु तथा प्रभूतं नास्ति नामो नतिर्यस्येति—अनाममनम्रं पदं परराष्ट्रं साधयितुं स्वायत्तीकर्तुं क्षमा समर्था स्यात्। अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता सतविभक्तिविचारः क्रियेत चेत् यदा सा प्रथमा व्यक्तिः अभिधेया विचार्या, या स्वौजसा 'सु औ जस्' इत्येषां प्रत्ययानां विलासैः विस्तारैस्तावद्बहु अनेकं नामपदं सुबन्तपदं 'वृक्षः' इत्यादिकं पदं साधयितुं निष्पादयितुं क्षमा। अत्राभिधाया प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रितत्वाल्लक्षणाया-श्चानुपपत्त्यनावेनानाकादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥ २३ ॥

अन्वय—साधुविभक्तिचिन्ता क्रियेत चेत् तदा सा व्यक्तिः प्रथमाभिधेया या स्वौजसा विलासैः तावत् बहु अनामपदं (पक्षान्तरे नामपदम्) साधयितुं क्षमा स्यात्।

हिन्दी—(१) नलपक्ष यदि सज्जनों के विभाग की विचारणा की जाय तो वह व्यक्ति (नल) प्रथम कहा जायेगा, जो कि अपने बल-पराक्रम के प्रभाव से अनेक शत्रुओं को अपने अधीन करने में समर्थ है। (२) प्रथमादि विभक्ति पक्ष—यदि विवेकपूर्वक 'सुप्' आदि विभक्तियों का विचार किया जाय तो वह 'प्रथमा' विभक्ति ही प्रथम वाच्य होगी, जो कि सु-औ-जस् (सभी वचनों के प्रत्ययों) के विस्तार (विसर्ग-लोप-आदेश आदि) से अनेक नामपदों-(प्रातिपदिकों) को निष्पन्न करने में समर्थ होगी।

टिप्पणी—भाव यह है कि जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में प्रथमा विभक्ति

सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सब विभक्तियों मे वही पहिली होती है और उसी के एकवचन, द्विवचन, बहुवचन के सु-औ जस् प्रत्ययों मे विसर्गलोप, वृद्धि, दीर्घ करके 'वृक्ष' आदि प्रातिपदिकों को सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार सबको अपने शौर्य औदार्य आदि से स्ववश करने मे, समर्थ राजा नल ही पृथ्वी मंडल के सज्जनों मे अग्रगण्य है। प्रथमा विभक्ति इस कारण भी सर्वप्रधान है कि अन्य किसी विभक्ति की अप्राप्ति में प्रथमा ही होती है--'प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (अष्टाध्यायी २।३।४६)। कहा भी जाता है--'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते'। प्रथमा विभक्ति कर्ता कारक की विभक्ति है, कर्ता ही सब कारकों मे प्रधान होता है, क्योंकि सभी व्यापार कर्ताश्रित ही होते हैं--'व्यापाराश्रयः कर्ता।' ऐसे ही राजा नल भी सर्वसामर्थ्यवान् होने के कारण सज्जनों मे 'प्रथमाभिधेय' है।

इस पद्य में अभिधावृत्ति के प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रित होने के कारण और अनुपपत्ति के अभाव के कारण लक्षणा को अवकाश न होने से अप्रकृत (अप्रस्तुत) प्रथमा विभक्त्यर्थ की प्रतीति ध्वनि से होती है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ समासोक्ति मानी है, क्योंकि सामा-न्यतः प्रथमा सर्वत्र विहित होती है--'सामान्येन प्रथमायाः सर्वत्र विहितत्वात्स-मासोक्तिरलङ्कारः'॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाऽध्वरराज्योपमयेव राज्यम्।
भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियसात्कृतश्रीः पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

जीवातु--राजेति। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोर्ङ्वनिप्', श्रिता आश्रिता ये श्रोत्रियाः छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थः। 'श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ' इत्यमरः। 'श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते' इति निपातः। तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्रीः सम्पद्येन स राजा नलः अध्वरेषु यदाज्यन्तदुपमया तत्सादृश्येनैव तद्वदेवेत्यर्थः। राज्यं विबुधा देवा विद्वांसश्च तद्व्रजत्रा दानेन तत्स-द्धाधीनं कृत्वा 'देये त्रा च' इति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च, 'तद्धितश्चा-सर्वविभक्तिरि'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्यं शेषं हुतशेषं भुङ्क्ते अन्त्यं पश्चान्निर्दिष्टं राज्यं त्वशेषं कृत्स्नमखण्डं भुङ्क्ते, अहो उपभुक्तादन्यः शेषः

पूर्वस्याशेषस्य तथात्वम्, अन्त्यस्य अशेषत्वं कथं विरोधादित्याश्चर्यम्, अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः, अखण्डमिति परिहारः ॥ २४ ॥

अन्वय—निजश्रोत्रियसात्कृतश्रीः यज्वा स राजा अध्वराज्यशेषमथ एव राज्यं विबुधव्रजसात् कृत्वा अहो, पूर्वं शेषम् अन्त्यम् अशेषं भुङ्क्ते।

हिन्दी—अपने आश्रयस्थ वेदाध्यायिजनों (श्रोत्रियों) को सम्पत्तिदान करनेवाला, यज्वर्त्ता वह राजा अध्वर (यज्ञ) के घृत के सदृश ही राज्य को विबुधों (विद्वानों-देवों) के समूह के अधीन करके पहिले शेष का भोग करता है, पश्चात् अशेष (सम्पूर्ण) का भोग करता है, यह आश्चर्य है।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल विधिपूर्वक यज्ञादि सम्पन्न करता है, विद्वानों, देवों को समान-पूजा करता है और समस्त राज्यैश्वर्य का भोग करता है, अर्थात् धर्मनिष्ठ, दानी और ऐश्वर्यवान् है। 'शेष' और 'अशेष' में विरोध है। जो राज्य पहिले 'शेष' (अवशिष्ट) रह गया है, वह पश्चात् 'अशेष' (सम्पूर्ण) कैसे होगा? यह विरोध है। परिहार है कि 'शेष' अर्थात् यज्ञ में देवव्रजार्पित 'घृत' और 'अशेष' अर्थात् सम्पूर्ण राज्य, अर्थात् जैसे राजा नल यज्ञ में अर्पित करके यज्ञावशिष्ट घृत का उपभोग करता है, वैसे ही देव और विद्वानों को अर्पित करके सम्पूर्ण राज्य का उपभोग करता है।

नारायण पण्डित ने 'अध्वराज्य' का एक और विग्रह किया है—'अध्वनि मार्गे एव यद्राज्यम्' अर्थात् जो राज्य मार्ग में ही है, वह 'सर्वजनोपभोग्य' है, राजा नल जो उस समस्त का उपभोग कर लेते हैं, यह विरोध है अतः आश्चर्य-कारण है, परिहार यह है कि सर्व-साधारण को दानयज्ञादि से सन्तुष्ट कर सम्पूर्ण राज्य-भोग करते हैं। भाव यह है कि नल अनेक यज्ञों के कर्ता और आसमुद्राधरणी के अधिराज्य का भोग करते हैं।

'शेष–अशेष' के विरोध-परिहार के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ विरोधाभास अलङ्कार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और उपमा-उत्प्रेक्षा व्यतिरेक अलङ्कारों का सङ्कर है ॥ २४ ॥

दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैरमोघमेघव्रतमर्थिसार्थे ।
सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेव नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

जीवातु—दारिद्र्येति । दारिद्र्यं दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्यदारिणो द्रविणौघस्य धनराशेर्वर्षैरर्थिसार्थे विषये अमोघमेघव्रतं वर्षुकत्वलक्षणं यस्य तं सन्तुष्टं दानहृष्टमिष्टदेव यज्ञाराधितसुरलोकनाथं तं नलं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि याचन्त्येवेत्यर्थः । नाथतेर्याच्ञार्थस्य दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

अन्वय—दारिद्र्यदारिद्रविणौघवर्षैः अर्थिसार्थे अमोघमेघव्रतं सन्तुष्टम् इष्टदेव लोकनाथं तं के नाम इष्टानि न नाथन्ति ?

हिन्दी—दरिद्रता को दूर भगानेवाले धन समूह की वर्षा के द्वारा याचकसमूह के मध्य जिसका मेघव्रत सफल हो गया है (जो राजा नल उस मेघ के समान सन्तुष्ट है, जो जलधार बरसा कर लोगों को सुख देकर सन्तुष्ट हो जाता है), इष्टदेव (हित कर राजा अथवा जो देव यज्ञ कर्ता है अथवा जिसे देवता प्रिय हैं), लोकों के स्वामी से कौन इष्ट, धन आदि की याचना नहीं करते हैं ? सभी करते हैं।

टिप्पणी—राजा नल धारासार जल बरसाने वाले बादल-जैसा दानी है, जिससे दान प्राप्त कर सबकी इच्छा पूरी हो जाती है। उससे सारा जगत् उसी प्रकार याचना करता है, जिस प्रकार प्रसन्न ब्रह्मादि देवों से याचना की जाती है। काकु वक्रोक्ति, अनुप्रास और उपमालंकार ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधां विधाय रम्भा चिरं भामतुलां नलस्य ।
तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबरं सा ॥ २६ ॥

जीवातु—अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमां भां सौन्दर्यमस्मद् मत्तः श्रोत्रसुधां विधाय कर्णे अमृतं कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थः । तत्र तस्मिन्नले अनुरक्ता सती तं नलमनाप्य अप्राप्य, आङ्पूर्वादाप्नोतेः क्त्वो ल्यबादेशः नञ्समासः । अन्यथा ल्यबादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य नामाक्षरसम्पर्काद्धेतोर्नलकूबरं कुबेरात्मजं भेजे किल । तादृक्तस्य सौन्दर्यमित्यर्थः ॥ २६ ॥

अन्वयः—सा रम्भा नलस्य अतुलां नाम अस्मत् चिरं श्रोत्रसुधां विधाय तत्र अनुरक्ता तम् अनाप्य तन्नामगन्धात् नलकूबरं भेजे।

हिन्दी—वह रम्भा (अप्सरा) नल की अतुलनीय रूप-कांति को हमसे चिरकाल तक कर्णामृत बनाकर उनमें अनुरक्त हो गयी, किन्तु उसको प्राप्त न कर उनके नाम से थोड़ी सी समानता होने के कारण कुबेर पुत्र नलकूबर को भजने लगी।

टिप्पणी—पौराणिक कथा का आश्रय बना कर नल की प्रशंसा। स्वर्ग सुन्दरी रम्भा ने प्रेम के कारण नलकूबर को नहीं स्वीकारा, वह तो इसलिए उसको स्वीकार बैठी कि उसके नाम में भी 'नल' है। नल ही नहीं उनका नाम भी स्वर्गसुन्दरियों की स्पृहा की वस्तु है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्मामिरितः प्रयातैः केलीषु तद्गानगुणान्निपीय।
हा हेति गायन् यदशोचि तेन नाम्नैव हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥ २७ ॥

जीवातु—स्वर्लोकमिति। केलीषु विनोदगोष्ठीषु तस्य नलस्य कर्तुर्गाने गुणान्निपीय इत अस्मात्लोकात् स्वर्लोकं प्रयातैरस्माभिर्हरिगायन इन्द्रगायको गन्धर्वः 'ण्वुट् चे'ति गायते शिल्पिनि ण्वुट्प्रत्ययः। गायन् यद्यस्मात् हाहेत्यशोचि, ततस्तेनैव कारणेन नाम्ना हाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भावः। हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसामि'त्यमरः। 'आलापाक्षरानुकारनिमित्तोऽयमाकारान्तः पुंसि चे'ति केचित्। 'हा हा खेदे हू हू हर्षे गन्धर्वेऽप्यन-व्ययं' इति विश्वः। अव्ययमेवेति भोजः अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धा-दतिशयोक्तिः। तथा च गन्धर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यते ॥ २७ ॥

अन्वयः—केलीषु तद्गानगुणान् निपीय इत स्वर्लोकं प्रयातैः अस्माभिः हरिगायनः गायन् यत् हा हा इति अशोचि, तेन नाम्ना एव हाहा अभूत्।

हिन्दी—विनोदगोष्ठियों में उस (नल) का जो गान होता था, उसके गुणों को सादर सुनकर यहाँ (भूलोक) से स्वर्ग लोक में पहुँचे हम (हंसों) ने इन्द्र के गायक के प्रति 'हा—हा' इस प्रकार कह जो खेद प्रकट किया, उसी निन्दा से उसका 'हाहा' नाम पड़ गया।

टिप्पणी—'हा हा' खेद सूचक अव्यय भी है, और 'हाहा', 'हूहू' नाम के दो गन्धर्व भी कहे जाते हैं। इसी शब्दसाम्य के आधार पर यहाँ असबध मे सबध-कथन है, अतः अतिशयोक्ति अलकार है। भाव यह है कि नल का गान गन्धर्वों से भी अधिक मोहक है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ यह व्यजित होता है कि नल का गान 'गन्धर्वातिशायि' है ॥ २७ ॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभावं हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजायाः।
पुण्येन नालोकत नाकपालः प्रमोदवाष्पावृतनेत्रमालः ॥ २८ ॥

जीवातु—शृण्वन्निति। नाकपाल इन्द्र सदारः सवधूकः तस्य नलस्य उदारभावमौदार्यं शृण्वन्नत एव प्रमोदवाष्पैरानन्दाश्रुभिरावृतनेत्रमालस्तिरोहितदृष्टिव्रज सन् पुलोमजायाः शच्याः मुहुर्हृष्यन्नलानुरागादुल्लसल्लोमरोमाञ्चं पुण्येन शच्या भाग्येन नालोकत नापश्यत् अन्यथा मानसव्यभिचारापराधाद् दण्डयेवेत्यर्थ ॥ २८ ॥

अन्वय—सदारः नाकपालः तदुदारभावं शृण्वन् प्रमोदवाष्पावृतनेत्रमालः पुलोमजायाः मुहुः हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकत।

हिन्दी—अपनी पत्नी (इन्द्राणी शची) के सहित स्वर्ग का पालक इन्द्र उस (नल) के औदार्य को सुनता आनन्द अश्रुओं से नेत्र पूर्ण हो जाने के कारण पुलोमसुता शची के बारबार होते रोमांच को उसके पुण्य के कारण ही न देख पाया।

टिप्पणी—नल के वदान्यभाव को सुनकर इन्द्र तो प्रसन्न होता ही था, जिससे आनन्दाश्रु उसके नेत्रों मे भर जाते थे और वह कुछ भी देखने मे असमर्थ रहता था, शची इन्द्राणी के मन मे भी नल के प्रति अनुराग उत्पन्न हो रहा था, जिससे वह रोमांचित हो जाती थी। आनन्दाश्रुओं से नेत्र भरे होने से उस रोमांच को इन्द्र न देख पाया। यह इन्द्राणी का कोई पुण्य ही था, अन्यथा पर पुरुष मे अनुरागवती पत्नी को पा इन्द्र उसे मानसिक व्यभिचार की अपराधिनी मानने लगता और क्रोध तथा ईर्ष्या से दग्ध हो उसे दड देता। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और भावोदय अलकार ॥ २८ ॥

साक्षीश्वरे शृण्वति तद्गुणौघान् प्रसह्य चेतो हरतोऽर्धशम्भुः ।
अभूदपर्णाङ्गुलिरुद्धकर्णा कदा न कण्डूयनकैतवेन ? ॥ २९ ॥

जीवातु—सेति । ईश्वरे हरे प्रसह्य चेतो हरतः बलात् मनोहारिणस्तस्य नलस्य गुणौघान् शृण्वति सति सा प्रसिद्धा अर्धं शम्भोरर्धशम्भुः शम्भोरर्धाङ्गभूतेत्यर्थः । तथा चापरिहरणमशक्यमिति भावः । अपर्णा पार्वत्यपि कदा कण्डूयनकैतवेन कण्डूनोदनव्याजेन अङ्गुल्या रुद्धौ पिहितौ कर्णौ यया सा नाभूत् अभूदेवेत्यर्थः । अन्यथा चित्तचलनादिति भावः ॥ २९ ॥

अन्वयः—ईश्वरे प्रसह्य चेतः हरतः तद्गुणौघान् शृण्वति सा अर्धशम्भुः अपर्णा अपि कण्डूयनकैतवेन कदा अङ्गुलिरुद्धकर्णा न अभूत् ?

हिन्दी—महादेव के बलात् मनोहरण करनेवाले उस (नल) के गुणों का श्रवण करते समय उस शिव के अर्द्धांश अपर्णा पार्वती ने खुजलाने के व्याज से कब अँगुली से अपने कानों को नहीं मूँद लिया ? सदा ही मूँद लिया।

टिप्पणी—इस श्लोकव्याज से नल के गुणों की आकर्षणशीलता का कथन है। पार्वती उमा शिव की अर्द्धाङ्गिनी हैं, शिव को अर्द्धनारीश्वर कहा जाता है। शिव-प्राप्ति के लिए उन्होंने तप करते पत्ते खाना भी छोड़ दिया था, इसी से उन्हें 'अपर्णा' कहा गया—'पुनि परिहरे सुखानेउ परना, उमहि नाम तब भयउ अपरना ॥' (रामचरितमानस, बालकाण्ड, ७४।७)। कालिदास ने बताया है—'स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः । तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥' (कुमारसम्भव ५।२८)। वे पतिव्रताओं में अग्रगण्य हैं, किन्तु उनके पति, उनके अर्द्धाङ्ग शिव जब झटिति मनोहरण करनेवाले राजा नल के गुणों का श्रवण करते हैं, उस समय विवशतः पार्वती को भी नल-गुण-श्रवण करना होता है, जिससे पातिव्रत-भङ्ग की आशङ्का हो जाती है, अतः जब-जब ऐसे अवसर आते हैं, वे कान खुजलाने के बहाने अँगुली से कान बंद कर लेती हैं अन्यथा उनका चित्त चञ्चल हो सकता है। विद्याधर ने उत्पन्न अभिलाष के निगूहन के कारण इस पद्य में व्याजोक्ति अलङ्कार माना है ॥ २९ ॥

अलं सजन् धर्मविधौ विधाता रुणद्धि मौनस्य मिषेण वाणीम् ।
तत्कण्ठमालिङ्ग्य रसस्य तृप्ता न वेद तां वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

जीवातु—अजमिति । विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्त धर्मविधौ सुकृताचरणे सजन् धर्मासक्त सन्नित्यर्थ । वाणी स्वभार्यां वाग्देवी वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनव्रतस्य मिषेण रुणद्धि नलक्याप्रसङ्गान्निरुणद्धि, तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति भाव । किन्तु वेदजड छान्दस विधाता तामुभयीमपि वाणी तस्य नलस्य कठ ग्रीवामालिङ्ग्य मुखमाश्रित्य च रसस्य तृप्ता तद्रागास्वादपुष्टामन्यत्र शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च। सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'पूरणगुणे' त्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित् । वक्रा प्रतिकूलकारिणी वक्रोक्त्यलङ्कारयुक्ताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो लटो वे'ति णलादेश अशक्यरक्षा स्त्रिय इति भाव । अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुतवर्णात्मकवाणीवृत्तान्त प्रतीते प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३० ॥

अन्वय —धर्मविधौ सजन् विधाता मौनस्य मिषेण अल वाणी रुणद्धि (अथवा वाणी रुणद्धि अलम्), वेदजड स तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य तृप्ता तां वक्रा न वेद ।

हिन्दी—धर्माचरण (सन्ध्यावन्दनादि) में आसक्त ब्रह्मा मौन के मिस अत्यतता के साथ (स्वपत्नी) वाणी (वर्णात्मिका वाक् और सरस्वती) का निवारण करते रहते हैं (अथवा वाणी का निवारण व्यर्थ ही करते हैं), वेदाभ्यास से जड वे उस (नल) के कठ का आलिंगन कर रस से तृप्त हुई उस वक्रा (प्रतिकूला, वक्रोक्तिरूपा) को नही जान पाते ।

टिप्पणी—आशय यह है कि नल रसध्वनियुक्ता वक्रोक्ति का पूर्ण ज्ञाता है । इसी आधार पर यह कल्पना की गयी है कि यद्यपि विधाता सन्ध्यादि के बहाने बराबर मौन रहते हैं कि कहीं उनकी वाणी रूपा पत्नी वाक् इस प्रकार बाहर जाकर पर पुरुष को न भजने लगे, पर वाक्, वाणी सरस्वती तो परम चतुरा है, वेदाभ्यासजड, बूढ़े ब्रह्मा जान ही नही पाते कि उनकी पत्नी सरस्वती उन्हें छोड शृंगाररसतृप्ता परपुरुष नल का कठालिंगन कर आती हैं । शृंगारादि रसमयी जो वक्रोक्तियाँ नल के कठ से उद्भूत होती हैं, वे ही जैसे सरस्वती द्वारा उसके कठ का आलिंगन है । प्रस्तुत वाग्देवी के कथन से अप्रस्तुत वाणी-व्यापार की प्रतीति हो जाने से

यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास, व्याजस्तुति और समासोक्ति का निर्देश किया है ॥ ३० ॥

श्रियस्तदालिङ्गनभूर्न भूता व्रतक्षतिः काऽपि पतिव्रतायाः ।
समस्तभूतात्मतया न भूत तद्भर्तुरीर्ष्याकलुषाणुनापि ॥ ३१ ॥

जीवातु—श्रिय इति । पतिव्रतायाः श्रियः श्रीदेव्याः तद्भर्तुर्विष्णोः समस्तभूतात्मतया, सर्वभूतान्तरात्मत्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः । तदालिङ्गनभूर्नलाश्लेषभवा काऽपि व्रतक्षतिः पातिव्रतभङ्गो न भूता नाभूत् । अत एव तद्भर्तुर्विष्णोरपि ईर्ष्यया नलालिङ्गनभुवा असूयया यत्कलुष कालुष्य मन क्षोभ तु क्षालितत्वेन अस्य धर्मवर्मिवचनत्वादत इव क्षीरस्वामी 'शस्त साध त्रिपु द्रव्ये पाप पुण्य सुखादि चैत्यत्र आदिशब्दात्कलुषविषमादय' इति उभयवचनेषु सङ्ग्राह । तस्याणुना लेशेनापि न भूत नाभावि । नपुसके भावे क्तः । अत्र ध्वन्यादिविविक्ताश्लोकेनेल्सौन्दर्ये तात्पर्यातातीचित्यदोष ।३१।

अन्वय—पतिव्रतायाः श्रियः तद्भर्तुः समस्तभूतात्मतया तदालिङ्गनभूः काऽपि व्रतक्षतिः न भूता, तद्भर्तुः ईर्ष्याकलुषाणुना अपि न भूतम् ।

हिन्दी—पतिव्रता श्री (लक्ष्मी) के पति विष्णु के सर्वभूतात्मा होने के कारण उनके उस (नल) के आलिंगन से उत्पन्न किसी प्रकार के पातिव्रत आदि का क्षय नहीं हुआ और (इसी कारण) उनके स्वामी विष्णु के हृदय में ईर्ष्याजनित कालुष्य का अणु भी नहीं उत्पन्न हुआ ।

टिप्पणी—शोभासम्पत्ता, राज्यलक्ष्मी इत्यादि के कारण नल श्रीसम्पन्न है, अर्थात् श्रीद्वारा आलिंगित है, परन्तु फिर भी उनका पातिव्रत-क्षय नहीं होता, क्योंकि उनके पति विष्णु ही सर्वभूतात्मा होने से सब में व्याप्त हैं, अर्थात् सब विष्णुरूप ही हैं । नल भी विष्णुरूप है, इस प्रकार लक्ष्मी का पातिव्रत भग नहीं हुआ । विष्णु के मन में ईर्ष्याजन्य मलिनता भी नहीं उत्पन्न हुई, क्योंकि वे अपनी सर्वभूतात्मता से परिचित हैं । वे जानते हैं कि श्री उनका आलिंगन करके एक प्रकार से समस्त विश्व का ही आलिंगन करती हैं । आशय यह है कि राजा नल विष्णु के समान श्री-शोभा-सामर्थ्य सपन्न है । मल्लिनाथ ने बताया है कि इन श्लोकों में कवि का आशय नल के

सौन्दर्यातिशय का निरूपण करना है, अतएव शची, उमा, सरस्वती और लक्ष्मी के पातिव्रतभंग का अनौचित्य नहीं मानना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार है ॥ ३१ ॥

धिक् तं विधेः पाणिमजातलज्जं निर्माति यः पर्वणि पूर्णमिन्दुम्।
मन्ये स विज्ञः स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्झद्भवमूर्ध्नि यस्तम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—धिगिति। तमजातलज्जं निस्त्रपं विधे पाणिं धिक् यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीरपि पर्वणि जातावेकवचनं पर्वस्विरयर्थं। पूर्णमिन्दुं निर्माति अद्यापीति भाव। स विज्ञः अभिज्ञ इति मन्ये यः पाणिः स्मृततन्मुखश्रीः सन् तमिन्दुं कृतं अर्धं एकदेशो यस्य तं कृतार्धमर्धनिर्मितमेव भवमूर्ध्नि हरशिरसि औज्झत्। अतिसौन्दर्ययुक्तमस्यास्यमिति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वय—स्मृततन्मुखश्रीः यः पर्वणि पूर्णम् इन्दुं निर्माति अजातलज्जं तं विधेः पाणिं धिक्, मन्ये यः भवमूर्ध्नि तं कृतार्धम् औज्झत् सः विज्ञः।

हिन्दी—उस (नल) की मुख शोभा का स्मरण होते हुए भी जो पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, उस निर्लज्ज विधाता के हाथ को धिक्कार है, मैं मानता हूँ कि जिस (विधिहस्त) ने शिव के मस्तक पर उस (चन्द्र) को आधा रखकर छोड़ दिया, वह विशेषज्ञ है (समझदार है)।

टिप्पणी—एक रमणीय रचना करके उसके पश्चात् उससे उत्कृष्ट ही निर्माण करना उचित है, अथवा एक उत्तम आदर्श देखकर उससे निकृष्ट रचना तो नितान्त अनुचित है। विधाता के हाथ ने ऐसा किया। नल का रमणीय मुख देखकर, उसे ध्यान में रखते हुए भी जो वह प्रति पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, वह अकुशलता ही विज्ञापित करता है, क्योंकि नल के मुख की शोभा के सम्मुख, पूर्ण चन्द्र नगण्य है। हाँ, शिव के मस्तक पर जो उसने चन्द्र को आधा बना के छोड़ दिया, यह चतुरता दिखायी। आशय है कि नल का मुख चन्द्र से कहीं अधिक रमणीय है। उपमेय मुख से उपमान चन्द्र को हीन दिखाने के कारण यहाँ प्रतीप अलंकार है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में प्रतीप और प्रतीप अलंकार है ॥ ३२ ॥

निलीयते ह्रीविधुरः स्वजैत्रं श्रुत्वा विधुस्तस्य मुखं मुखान्नः ।
सूरे समुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ २२ ॥

जीवातु—निलीयत इति । विधुश्चन्द्रः स्वस्य जैत्रं, नृत्यन्तात्मतादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । तस्य नलस्य मुखं नोऽस्माकं मुखाच्छ्रुत्वा ह्रीविधुरः लज्जाविधुरः सन् कदापि सूरे सूर्ये दर्शोऽमिदिरलयं, कदापि समुद्रस्य पूरे प्रवाहे तदुत्पन्नत्वात् कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे आकाशे सञ्चरणापन्नेऽम्बरे निलीयते अन्तर्वर्तते, न कदाचिदपि स्यात् तुल्यत्वमिति भावः । अत्र विधोः स्वाभाविकसूर्यादिप्रवेशे परागजयप्रयुक्तह्रीनिलीनत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या ॥ २२ ॥

अन्वयः—विधुः नः मुखात् तस्य मुखं स्वजैत्रं श्रुत्वा ह्रीविधुरः कदापि सूरे कदापि समुद्रस्य पूरे अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे निलीयते ।

हिन्दी—चन्द्रमा हमारे (हंसों के) मुख से उस (नल) के मुख को स्वजयी (अपने को—चन्द्र को—जीतनेवाला) सुनकर लज्जा से विकल हो कभी (अमावस्या को) सूर्य में, कभी (ज्वार-काल में) समुद्र के प्रवाह में और कभी (वर्षाकाल में) आकाश में भ्रमण करने वाले बादलों के मध्य छिप जाता है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी कन्द मणिमा से चन्द्र की अपेक्षा नलमुख को रमणीय बताया गया है । स्वविजयी के भय से सभी जहाँ स्थान मिलता है, वहाँ छिप जाते हैं । ऐसा ही चन्द्र भी करता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा है, विद्याधर ने समासोक्ति और पर्याय अलंकारों का निर्देश किया है ॥ २२ ॥

सम्प्राप्य न स्वध्वजभृत्यवर्गान् दैत्यारिरत्यद्भुतनलस्तुत्यै ।
तत्तत्कुचन्नाभिसरोजपीनाद्धानुविलज्ज्य रमते रमायाम् ॥ २४ ॥

जीवातु—सम्प्राप्येति । दैत्यारिः विष्णुः स्वध्वजस्य गरुडस्य पक्षिराजस्य भृत्यवर्गान् नोऽस्मान् अतिक्रान्तमत्यद्भुतनलविजयीत्यर्थः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः । तस्य नलस्य स्तुत्यै स्तोत्राय, 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिरि'त्यमरः । सम्प्राप्य तत्तत्कुचता तथा नुत्या निमीलितानाभिसरोजेन पीता-

त्तिरोहिताद्धातुर्ब्रह्मणो विलज्ज यथा तथा रमाया रमते। अत्र विष्णोरुक्त-व्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति ॥ ३४ ॥

अन्वय –दैत्यारि स्वध्वजभृत्यवर्गान् नः अत्यब्जनलास्यनुत्यै सज्ञाप्य धातु तत्सड्कुचन्नाभिसरोजपीतात् रमाया विलज्ज रमते।

हिन्दी—दैत्यरिपु (विष्णु) अपने ध्वज (गरुड) के सेवकगण हम (हसों) को कमल को अतिक्रात करने वाले (जयी) नल-मुख की स्तुति के निमित्त आज्ञा देकर विधाता के (लज्जा से) मुद गये उस नाभि कमल मे छिप जाने के कारण लक्ष्मी के साथ लज्जा छोडकर रमण करते है।

टिप्पणी—बूढे ब्रह्मा लज्जा से मुँदे विष्णु के कमल मे छिप गये, एकात हो गया, परिणामत विष्णु की लज्जा का कारण न रहा। आशय यह कि विष्णु नाभि, सरोज से भी नल मुख अधिक शोभाशाली है। मल्लिनाथ के अनुसार असबध में सबध कथन के कारण अतिशयोक्ति, विद्याधर के अनुसार प्रतीप अलकार ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवास्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्त ।
चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेधाऽपि सन्तीति शशस वेधा ॥ ३५ ॥

जीवातु—रेखाभिरिति। अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वा-त्रिंशतारेखाभिर्गणनात्सख्यानाच्चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र आस्ये सन्ति सम्भवन्त्यनेनेति वेधा शशसेवेत्युत्प्रेक्षा। 'अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमासा न्यायविस्तर। पुराण धर्मशास्त्रञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ आयु-र्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेत्यनुक्रमात्। अर्थशास्त्र पर तस्माद्विद्या ह्यष्टादश स्मृता ॥' इति ॥ ३५ ॥

अन्वय —वेधा अस्य आस्ये द्वात्रिंशता दन्तमयीभि रेखाभि गणनात् चतुर्दश अष्टादश च विद्या द्वेधा अपि अत्र सन्ति—इति शशस इव।

हिन्दी—विधाता ने इस (नल) के मुख में बत्तीस दाँतो की रेखाओ से गणना करके चौदह और अठारह विद्याएँ दोनों ही प्रकार से यहाँ है— मानो यह कहा।

टिप्पणी—प्रथम सर्ग में नल को सर्वविद्याओं का ज्ञाता बताया गया है (द्रष्टव्य १।४-५), यहाँ अन्य भंगिमा से उसी का पुन प्रतिपादन। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

श्रियौ नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः ।
वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

जीवातु—श्रियाविति । तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ सौन्दर्यसम्पत्तौ निरीक्ष्य, 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मी श्रीरि'ति यादवः । स्मरामरेन्द्रावपि न स्मरामः किं च तस्मिन्नरेन्द्रे क्षमयो क्षितिक्षान्त्यो 'क्षितिक्षान्त्यो क्षमे'त्यमर । सम्यग्वासेन निर्वाधस्थित्या शेषबुद्धौ फणिपतिबुद्धदेवौ चित्ते न दध्म न धारयाम खलु । अत्र द्वयोरपि श्रियो द्वयोरपि क्षमयो प्रकृतत्वाद् केवलप्रकृतश्लेष । एतेन सौन्दर्यादिगुणे स्मरादिभ्योऽप्यधिक इति व्यतिरेको व्यज्यते । श्लेषयथासख्ययो सङ्कर ॥ ३६ ॥

अन्वय—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियौ निरीक्ष्य स्मरामरेन्द्रौ अपि न स्मराम तस्मिन् क्षमयो च सम्यक् वासेन बुद्धौ शेषबुद्धौ न दध्म खलु ।

हिन्दी—उस राजा (नल) की दोनों शोभाओं (देह-सौन्दर्य और धनसम्पत्ति) को देखकर हम कामदेव और देवराज का भी स्मरण नहीं करते और उसमें दोनों क्षमाओं (पृथ्वी तथा क्षान्ति) की भलीभाँति स्थिति देखकर बुद्धि में शेषनाग और तथागत बुद्ध को भी नहीं धरते ।

टिप्पणी—आशय यह है कि राजा नल काम से भी अधिक सुन्दर, देवराज इन्द्र से भी अधिक समृद्ध, शेषनाग से भी अधिक क्षमता से धरा का धारण करने वाले और तथागत गौतम बुद्ध से भी अधिक क्षमाशील हैं । विद्याधर ने यहाँ यथासंख्य का निर्देश किया है, मल्लिनाथ व्यतिरेक का व्यञ्जित होना और श्लेष-यथासंख्य का संकर मानते हैं ॥ ३६ ॥

विना पतत्रं विनतातनूजैस्समीरणैरीक्षणलक्षणीयैः ।
मनोभिरासीदनणुप्रमाणैर्न लङ्घिता दिक्कतमा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

जीवातु—विनेति । पतत्रं विना स्थितैरिति शेष । विनतातनूजैः वैनतेयैः, अपक्षतार्क्ष्यैरित्यर्थः । ईक्षणलक्षणीयैः चक्षुर्ग्राह्यैः समीरणैर्वायुभिः अनणु-

प्रमाणं 'अणुपरिमाणं मनः' इति तार्किकाः, तद्विपरीतैर्महापरिमाणैर्मनोभिर्वैनतेयादिसमानवेगैरित्यर्थः। एवंविधैः तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिताऽऽसीत् ? सर्वापि लङ्घितैवासीदित्यर्थः। अत्राश्वानां विशिष्टवैनतेयादित्वेन निरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पक्षं विना विनतातनूजैः ईक्षणलम्भनीयैः समीरणैः अनणुप्रमाणैः मनोभिः तदश्वैः कतमा दिक् न लङ्घिता आसीत् ?

हिन्दी—पक्षरहित गरुडों, आँखों से देखे जानेवाले पवन और अनणु-प्रमाण (विशाल) मन के सदृश उसके घोड़ों ने कौन सी दिशा को नहीं लाँघ डाला ? सभी को लाँघ डाला।

टिप्पणी—राजा नल के अश्व वैनतेय गरुड, वायु और मन के समान वेगशाली हैं, इस प्रकार वे बिना पक्ष के गरुड, लोचनगोचर पवन और अनणुपरिमाण मन-जैसे हैं। स्पष्ट ही है कि गरुड पक्षवाला, समीरण अदृग्गोचर मन अणुपरिमाण माना जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक और विद्याधर के अनुसार विभावना है ॥ ३७ ॥

संग्रामभूमीषु भवन्त्यरीणामस्रैर्नदीमातृकता गतासु।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिस्सुभिक्षम् ॥ ३८ ॥

जीवातु—संग्रामेति। अरीणामस्रैरसृग्भिर्नद्येव माता यासां तास्तासां भावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यम्बुसम्पन्नसस्याढ्यता, 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्' इत्यमरः। 'नद्यृतश्च' इति कप्, 'स्वतलोर्गुणवचनस्य' इति पुंवद्भावः। तां गतासु संग्रामभूमीषु तस्य नलस्य बाणधारा बाणपरम्परास्ता एव पवनाशनास्तेषां राजव्रजीयैः राजसमूहसम्बन्धिभिः, 'वृद्धाच्छः'। असुभिः प्राणवायुभिः सुभिक्षम्। भिक्षाणां समृद्धिर्भवति समृद्धावव्ययीभावः। नदीमातृकदेशेषु सुभिक्षं भवतीति भावः। रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अरीणाम् अस्रैः नदीमातृकतां गतासु सङ्ग्रामभूमीषु राजव्रजीयैः असुभिः तद्बाणधारापवनाशनानां सुभिक्षं भवति।

हिन्दी—शत्रुओं के रुधिर से 'नदीमातृक' (नहरों, नदियों आदि से परिषिक्त) बनी रणभूमियों में राज-समूह के प्राणों से उस (नल) की बाणधारा रूप वायुभक्षी सर्पों के लिए सुभिक्ष बन जाता है।

टिप्पणी—जिस प्रकार नदी-नहर आदि से सींची गयी भूमि में प्रचुर अन्न उत्पन्न होता है और उस 'नदीमातृक' भूमि के वासियों के लिए वहाँ सुकाल हो जाता है, ऐसे ही प्रभूत शत्रु नरेशों के हत होने से बहे रुधिर से रणभूमियाँ सिंच जाती हैं और राजा नल के शत्रु-प्राणहर बाणरूप सर्पों के लिए शत्रुओं के निर्गत प्राणवायु रूप खाद्य की प्रचुरता से उपज हो जाती है। भाव यह है कि नल संग्राम क्षेत्र में सभी शत्रुओं को मारकर भूमि को रुधिर से परिप्लावित कर देते हैं। रूपक अलङ्कार ॥ ३८ ॥

यशो यदस्याजनि संयुगेषु कण्डूलभावं भजता भुजेन।
हेतोर्गुणादेव दिगापगालीकूलंकषत्वं व्यसनं तदीयम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—यश इति। संयुगेषु समरेषु कण्डूलभावं कण्डूलत्वं, 'सिध्मादिभ्यश्चे'ति मत्वर्थीयो लच्। भजता अस्य भुजेन यद्यशः अजनि जनितं, जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। तदीयं तस्य यशः सम्बन्धि दिश एव आपगा नद्यस्तासामालिः राजि तस्याः कूलङ्कषतीति कूलङ्कषं, खिदभागवतवत्समासः 'सर्वकूल' इत्यादिना खचि मुमागमः। तस्य भावस्तत्त्वं तत्र व्यसनमासक्तिः हेतोः कारणस्य भुजस्य गुणादेव कण्डूलत्वादागतमिति शेषः। यशसो दिक्कूलकषणानुमितायाः कण्डूलतायाः तत्कारणकण्डूलभुजगुणपूर्वत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ३९ ॥

अन्वय—कण्डूलभावं भजता अस्य भुजेन संयुगेषु यत् यशः अजनि तदीयं दिगापगालीकूलंकषत्वं व्यसनं हेतोः गुणात् एव।

हिन्दी—खुजली मिटाते इन (नल) के बाहु ने संग्रामों में जो यश अर्जित किया, उस यश में दिशारूप नदियों की पंक्तियों के किनारा को रगड़कर तोड़ डालना रूप व्यसन कारण के गुण से ही आया है।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल की भुजाएँ समर में शत्रुओं को मारकर अपनी खुजली मिटाती रहती हैं, इस प्रकार खुजलाना भुजा का व्यसन बन गया है। तो इस खुजलाहट के फलस्वरूप शत्रु-विजय कर जिस यश की उत्पत्ति

होती है, कारण गुण कार्य मे भी आते हैं'—इस नियम से कार्य स्वरूप उस यश का भी खुजलाना व्यसन बन गया है। सो नल का यश भी दिशा रूप नदियो के किनारे खुजलाहट मिटाने को रगड रगड कर तोड डालता है। अर्थात् नल का यश विस्तार मे असीम है, भूगोल की कोई सीमा उसे बाँध नही पाती। सब दिशाओं मे व्याप्त है उसका यश। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा का सकेत दिया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक है ॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याःसमाप्तिर्यदि नायुष स्यात्।
पारेपरार्द्धं गणित यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥ ४० ॥

जीवातु—यदीति। किं बहुना, त्रयाणा लोकाना समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धितार्थे'त्यादिना समाहारे द्विगु, अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रिया भाष्यते, 'द्विगो'रिति डीप्। गणना परा मलगणसंख्यानतत्परा स्याद्यदि तस्या॰ त्रिलोक्या आयुष समाप्तिर्न स्याद्यदि अमरत्व यदि स्यादित्यर्थ। परार्द्धस्य चरमसंख्याया। पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये षष्ठ्या वे'ति अव्ययीभाव 'गणित स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि संख्या स्यादित्यर्थ। तदा स नलोऽपि गणेया गणितु शक्या निःशेषा निखिला गुणा यस्य स स्यात्, गणेय इति औणादिक एयप्रत्यय। अत्र गुणाना गणेयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादति॰ शयोक्ति ॥ ४० ॥

अन्वय—यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात् यदि तस्या आयुष समाप्ति न स्यात् यदि गणित पारेपरार्द्धं स्यात् स अपि गणेयनिःशेषगुण स्यात्।

हिन्दी—यदि तीनों लोक गणना मे तत्पर हो जायें, और उन (गणना॰ पर त्रिलोक) की आयु की समाप्ति न हो, और यदि गणित विज्ञान चरम संख्या को पार कर ले, तब भी उस (नल) के समग्र गुणो की गणना संभव नहीं है।

टिप्पणी—आशय यह है कि तीनों लोको के प्राणी सदा जीवित रहकर भी नल के गुणों की गिनती करने बैठें और गणना करने के लिए जो गणित विज्ञान में चरम संख्या निर्धारित की गयी है, वह भी पार कर ली जाय, तब भी नल के गुण नही गिन जा सकते। अगणनीय हैं सर्वथा वे। मल्लि-

नाथ के अनुसार सम्बन्ध में भी असम्बन्धरूपता के कारण अतिशयोक्ति है। चन्द्रालोककार जयदेव द्वारा निर्दिष्ट 'सम्भावना' अलङ्कार की भी यहाँ सम्भावना है॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरश्चामन्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः।
गतेषु रम्येष्वधिकं विशेषमध्यापयामः परमाणुमध्याः॥ ४१ ॥

जीवातु—एवं नलगुणाननुवर्ण्य भूपालमन्दिरान्तःपुरेऽपि परिचयं दर्शयति—अवारितेत्यादि। तिरश्चां पक्षिणामवारितद्वारतया अप्रतिषिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः। तस्य राज्ञो नलस्यान्तःपुरे निविश्य प्रविश्य परमाणुमध्यास्तदङ्गनाः रम्येषु गतेषु अधिकमपूर्वं विशेषं भेदमध्यापयामः अभ्यासयामः। दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्॥ ४१ ॥

अन्वय—तिरश्चाम् अवारितद्वारतया तस्य राज्ञः अन्तःपुरे निविश्य परमाणुमध्याः रम्येषु गतेषु अधिकं विशेषम् अध्यापयामः।

हिन्दी—पक्षियों के निमित्त द्वार बन्द न होने से उस राजा के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो हम परमाणु के समान कृश कटिवाली ललनाओं को रमणीय गतियों के विषय में और भी लोकोत्तर विशेषता लाने का पाठ पढ़ाया करते हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि राजा नल के रनिवास में अत्यन्त कृश कटिवाली और रमणीय गति वाली ललनाएँ हैं। विद्याधर के अनुसार लुप्तोपमा अलङ्कार॥ ४१ ॥

पीयूषधारानधराभिरन्तस्तासां रसोदन्वति मज्जयामः।
रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः काव्येन काव्यं सृजताऽऽदृताभिः॥ ४२ ॥

जीवातु—पीयूषेति। किं च पीयूषधाराणाम् अनधराभिरन्यूनाभिरमृतसमानाभिः काव्यं सृजता स्वयं प्रबन्धकर्त्रा, कवेरपत्यं पुमान् काव्यस्तेन, 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्यः' इत्यमरः। 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' इति ण्यप्रत्ययः। आदृताभिरत्यादि विस्मयकारीभिरित्यर्थः। रम्भादीनां दिव्यस्त्रीणां सौभाग्यं पतिवाल्लभ्यं तत्प्रयुक्तानि रहःकथाभी रहस्यवृत्तान्तवर्णनाभिस्तासां नलान्तःपुरस्त्रीणाम् अन्तरन्तःकरणं रसोदन्वति शृङ्गाररससागरे मज्जयामः अवगाहयामः॥ ४२ ॥

अन्वय—पीयूषधारानधराभिः काव्यं सृजता काव्येन आदृताभिः रम्भादिसौभाग्यरहःकथाभिः तासाम् अन्तः रसोदन्वति मज्जयामः।

२ नै० तृ०

हिन्दी—अमृतधाराओ से अन्यून काव्य के कर्ता काव्य (शुक्राचार्य) से आहत (शुक्राचार्य के काव्य मे वर्णित) रम्भादि अप्सराओ के सौभाग्य की रहस्यमयी कथाओं के द्वारा हम उन (ललनाओ) के अन्त करण को इस-सागर मे मज्जित कराते रहते है।

टिप्पणी—नलात पुर-ललनाएँ न केवल सुदेहा और हसगामिनी हैं, प्रत्युत हम से अप्सरियो की रहस्यकथाएँ सुन-सुन अप्सराओ के समान मोहक और पुरुषवशीकरण मे समर्थ तथा रसमयी हो गयी हैं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा अलकार ॥ ४२ ॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् क्रियेऽहम् ?।
जिह्रेति यन्नैव कुतोऽपि तिर्यक्कश्चित्तिरश्चस्त्रपते न तेन ॥ ४३ ॥

जीवातु—काभिरिति। किञ्च यद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान्न जिह्रेति न लज्जत एव ह्री-लज्जायामिति धातोर्लट्, 'श्लावि'ति द्विर्भाव। तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न त्रपते न लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्त पुरे काभिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्त। सैव विश्वास-निक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थ। तस्य वणिक् गोप्ता न क्रिये न कृतोऽस्मि ?। सर्वासामप्यहमेव विस्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थ ॥ ४३ ॥

अन्वय—यत् तिर्यक् कुत अपि नैव जिह्रेति, तिरश्च कश्चित् अपि न त्रपते तेन तत्र काभि अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् न क्रिये ?

हिन्दी—क्योकि पक्षी कही भी लज्जा नही करता और पक्षियो से कोई भी लज्जा नही करता इससे वहाँ किन ललनाओ ने मुझे अतिनवीन (गोपनीय) कामाज्ञा को रखलेने का विश्वासी व्यापारी नही बनाया ? सभी ने बनाया।

टिप्पणी—पक्षी लज्जा के कारण नही होते, अत नलात पुर की ललनाओ के नितनूतन गोपनीय कामव्यापार हस के समुख चलते रहते हैं। भाव यह कि हस नल-राज्य विषयक निगूढ व्यापारो का भी वेत्ता है, इसके साथ ही विश्व-सनीय भी है अर्थात् दमयन्ती भी उस पर विश्वास करके अपने गूढ व्यापार उसे बता सकती है, यह प्रकट न होगा। विद्याधर के अनुसार रूपक और काव्यलिग अलकार ॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽसत्यपि नान्यमेति योगादरन्ध्रे हृदि वा निरुन्धे ।
विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्ण- ॥ ४४ ॥

जीवातु—अथ स्वस्य एवंविधविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति । विरञ्चे-र्ब्रह्मणो नानाननैश्चतुर्मुखैर्वादेन व्याख्यानेन धौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य सयमविद्याया श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्ण सम्पूर्णश्रोत्रस्तत्वाङ्नियमविद इत्यर्थ । अहमिति शेष । योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदये या वार्ता निरुन्धे, सा वार्ता लोकवार्ता किमुतरहस्यवार्तेति भाव । असत्यपि विनोदार्थं कथितापि, किमुत सतीति भाव । असत्यपि अन्यपुरुषान्तर नैति न गच्छति । यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नान्यमेति तद्वदिति भाव । अतोऽस्मासो विश्वास्य इति पूर्वेणान्वय । अत्र वार्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादि-पदार्थहेतुत्वात् काव्यलिङ्गभेद ॥ ४४ ॥

अन्वय —विरञ्चिनानाननवादधौतसमाधिशास्त्रश्रुतिकर्णपूर्ण योगात् अरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे सा वार्ता असती अपि अन्य न एति ।

हिन्दी—ब्रह्मा के अनेक (चार) मुखों के कथन द्वारा पवित्र किये गये योगशास्त्र के श्रवण से जिसके कान पूर्ण हैं, ऐसा मैं प्रयत्नपूर्वक नीरन्ध्र (अभेद्य, निर्दोष) हृदय में जिसे छिपा रखता हूँ, वह बात झूठी परिहास कथा होने पर भी अन्य व्यक्ति के पास नहीं जाती ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में संकेतित अपनी विश्वसनीयता को और भी दृढ बनाने का प्रयत्न । ब्रह्मा के सबध से योगवार्ता का ज्ञानी हंस निर्दोष और स्ववशीकृत मन का स्वामी है । उसका हृदय छिद्ररहित है, इस कारण कोई बात उससे बाहर जा ही नहीं सकती । जिस प्रकार 'असती' अर्थात् कुलटा नारी भी रोक लिये जाने पर बाहर आकर परपुरुष से नहीं मिल सकती, उसी प्रकार बात 'असती' अर्थात् असत्य या परिहासपूर्ण होने पर भी हंस के छिद्ररहित हृदय म निरुद्ध हो किसी अन्य व्यक्ति के कान नहीं पड़ सकती । काव्यलिंग अलकार ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवापभोगं तवान-वाप्य लभ्यते वतान्या ।
कुमुद्वतीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सवं दुर्लभमम्बुजिन्या ॥ ४५ ॥

जीवातु—अथ श्लोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति–नलेत्यादि। तवानवाप्यं नलपरिग्रहाभावात्तया दुराप, 'कृत्यानां कर्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयार्थे। त्रिदिव स्वर्गं पृषोदरादित्वात् साधु। तस्य उपभोग तादृग् भोगमित्यर्थः। तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भाव। अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुराप ज्योत्स्नोत्सव चन्द्रिकाभोगम् इन्दो कर्तुं परिग्रहेण कुमुदान्यस्याः सन्तीति कुमुदिनीव, 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' 'मादुपधायाश्चे'-त्यादिना मकारस्य वकार। नलस्य कर्तु राश्रयेण नलस्वीकरणेन अन्या लभते, बतेति खेदे। ईदृग्भोगयोग्येक्षिणी त्व बुद्धिमान्द्यात् न शोचसि इति भाव'॥ ४५॥

अन्वय—अम्बुजिन्या दुर्लभ ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुद्वती इव तव अनवाप्य त्रिदिवोपभोग नलाश्रयेण अन्या लभते बत।

हिन्दी—जैसे कमलिनी को दुर्लभ चाँदनी का भोग चन्द्र के अंगीकरण से कुमुदिनी प्राप्त कर लेती है, वैसे ही तुझे अप्राप्य स्वर्गोपभोग नल का आश्रय लेकर कोई दूसरी प्राप्त कर रही है, यह खेद की बात है।

टिप्पणी—नल की प्रशंसा करने के पश्चात् दमयन्ती के मन मे उसके प्रति राग उत्पन्न करने की प्रयास। दमयन्ती निश्चयत स्वर्गानन्द के उपभोग योग्य है, पर वह सभव नल-परिग्रह से ही है। विद्याधर के अनुसार उपमा अलकार॥ ४५॥

तन्नैषधानूढतया दुराप शर्म त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म।
रसालवल्ल्या मधुपानुविद्ध सौभाग्यमप्राप्तवसन्तयेव॥ ४६॥

जीवातु—तदिति। किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभि कृतेभ्य प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जन्म तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थ। चाटुग्रहण पूर्वोक्तनिजवचनीज-माधुपलक्षण, शर्म सुख त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थ। रसालवल्ल्या सहकारश्रेण्या मधुपानुविद्ध सौभाग्य रामणीयकमिव नैषधेन नलेन अनूढतया अपरिणीतत्वेन हेतुना दुराप तस्मात्ते नलपरिग्रहाय यत्न कार्य्यं इति भाव॥ ४६॥

अन्वय—तत् अस्मत्कृतचाटुजन्म शर्म त्वया अप्राप्तवसन्तया रसाल-वल्ल्या मधुपानुविद्ध सौभाग्यम् इव नैषधानूढतया दुरापम्।

हिन्दी—वह हमारे प्रिय वचनों से जनित आनन्द जैसे वसन्त जिसे प्राप्त नहीं हुआ है, उस आम्रवल्लरी को भ्रमरकृत सौभाग्य (मकरन्द का आस्वादन, गुञ्जार आदि) नहीं प्राप्त होता है, वैसे ही नियमतः से अविवाहित तुझे दुष्प्राप है।

टिप्पणी—आज जो हंस द्वारा निर्दिष्ट सुख-भोग दमयन्ती को प्राप्त नहीं है, वे नल से विवाह कर लेने पर प्राप्त हो सकेंगे। पूर्वश्लोक में अम्बुजिनी के उपमान से यही सूचित किया गया था, यहाँ आम्रवल्ली के उपमान से सूचित है। उपमा अलङ्कार ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तं दृष्टं विधेः केन मनः प्रविश्य ?।
अजातपाणिग्रहणाऽसि तावद्रूपस्वरूपातिशयाश्रयश्च ॥ ४७ ॥

जीवातु—अथ पुनरस्या नलप्राप्त्याशा जनयन्नाह तस्येत्यादि। यद्वा तस्य नलस्यैव हस्तं किं यास्यसि ? यास्यस्येवेत्यर्थः। केन विधेर्मनः प्रविश्य दृष्टं, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः। कुतस्तावदद्यापि अजातपाणिग्रहणा अकृतविवाहा असि तथाच विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः। रूपं सौन्दर्यं स्वरूपं स्वभावः शीलमिति यावत्। तयोरतिशयः प्रकर्षस्तस्याश्रयश्चासि। योग्यताऽस्यत्वाच्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय—तस्य एव हस्तं वा किं न यास्यसि ? विधेः मनः केन प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहणा रूपस्वरूपातिशयाश्रयः च तावत् असि।

हिन्दी—तुम उस (नल) के ही हाथ में क्यों न जाओगी ? विधाता के मन किसने घुस कर देखा है ? अविवाहिता और रूप (सुन्दरता) तथा स्वरूप (स्वभाव शील) के आश्रय की स्थली हो। अथवा रूप-स्वरूप अर्थात् सहज सौन्दर्य की तुम आश्रय हो।

टिप्पणी—नल से दमयन्ती का विवाह असम्भावित नहीं है। सम्भव है कदाचित् अदृष्ट विधाता की यही इच्छा हो, कौन जान सकता है ? स्थिति तो अनुकूल ही है। दमयन्ती अविवाहिता है और अटूट सहज सौन्दर्यशालिनी और शीलगुणवती भी ॥ ४७ ॥

निशाशशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरि योजयेत प्रतीत ।
विधेरपि स्वारसिक प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

जीवातु—तत्र विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निशेति। निशा निशया 'पद्दन्नि'त्यादिना निशादेश । शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीश शिव, श्रिया लक्ष्म्या हरि च योजयतो विधे प्रयासो यत्नोऽपि परस्पर योग्यसमागमाय योग्यसङ्घटनायैव स्वारसिक स्वरसप्रवृत्त प्रतीत प्रसिद्ध ज्ञातः। निशाशशाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भाव ॥ ४८ ॥

अन्वयः—निशाशशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरि योजयत विधेः अपि स्वारसिकः प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय प्रतीत ।

हिन्दी—रात्रि से चन्द्र को, शिवा (उमा) से कैलासपति शिव को और लक्ष्मी से विष्णु को संयोग देते विधाता का भी स्वरसमय (परमोपयुक्त) प्रयत्न परस्पर योग्य-संमिलन के लिए ही प्रख्यात हुआ है ।

टिप्पणी—हस यहाँ दो तथ्य प्रकट करना चाहता है—एक तो यह कि भाग्यविधाता ब्रह्मा सदा समान रूप गुण-शील वालों का संयोग कराने के लिए विख्यात है, स्वेच्छाचारी होने पर भी अरसिक नहीं है, इसके प्रमाण हैं तीन युगल—निशा शशाक शिवा गिरीश और श्री हरि। दमयन्ती नल का जोड़ा भी ऐसा ही रहेगा। दूसरा तथ्य यह है कि दमयन्ती भी नल के योग्य ही है, सो योग्य से योग्य संयोग होगा। विधाता ऐसा ही करता आया है। सम अलकार—'सम स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो'—साहित्य-दर्पण ॥ ४८ ॥

वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।
सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मल्लीमाला न मृद्वी भृशकर्कशेन ॥ ४९ ॥

जीवातु—नलान्यसम्बन्धस्त्वयोग्य इत्याह—वेलातिगेति। वेलामतिगच्छतीति वेलातिगा नि सीमा स्त्रीणामिमे स्त्रैणा गुणा 'स्त्रीपु साभ्या नञ्स्नञावि'ति वचनात् नञ्प्रत्यय । त एवाब्धिस्तस्य वेणी प्रवाहभूत, त्वमिति शेष । वेलाऽब्धिजलवृद्धौ घने। 'काले सीम्नि च वेणी तु केशबन्धे जलस्रुतौ' इति वैजयन्ती। नलादितरेण योगयोग्या योगार्हा नासि । तथाहि

मृद्वी मल्लीमाला मृदुवर्जनेन दर्भगुणेन न सदर्भ्यते न सगुम्फ्यते। दृन-ग्रन्थ इति धातो कर्मणि लट्। व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४९ ॥

अन्वयः—वेलातिगस्त्रैणगुणाब्धिवेणी नलेतरेण योग्ययोग्या न असि, मृद्वी मल्लीमाला मृदुवर्जनेन दर्भगुणेन न सन्दर्भ्यते।

हिन्दी—तीर का अतिक्रमण कर जाने वाले स्त्रीगुण-सागर की प्रवाह रूपा (निःसीम नारीगुणों से सम्पन्न) तुम नलातिरिक्त पुरुष से संयुक्त करने योग्य नहीं हो, कोमल मल्लिकापुष्पमाला का ग्रथन अत्यन्त कर्कश कुश-तन्तु से नहीं होता।

टिप्पणी—भाव यह कि समस्त नारी जनोचित गुण दमयन्ती में हैं, उसका योग सर्वगुणसम्पन्न नल से ही होगा, क्योंकि 'योग्यं योग्येन योजयेत्'। मल्लिका दर्भ की कठोर डोरी से नहीं गूँथी जाती। मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक द्वारा दृष्टान्त अलङ्कार, विद्याधर ने रूपक-सम-दृष्टान्त का निर्देश किया है ॥ ४९ ॥

विधिं वधूसृष्टिमपृच्छमेव तद्यानयुग्यो नलकेलियोग्याम्।
त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीता मयास्य संक्रीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

जीवातु—विधिमिति। किं च, विधिं ब्रह्माणं नलस्य केलेः क्रीडाया योग्यामर्हां वधूसृष्टिं स्त्रीनिर्माणं तस्य विधेर्यानस्य रथस्य युग्यो रथवोढा तत्र परिचित इत्यर्थः। 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्'इति यत्प्रत्ययः। अहमपृच्छमेव दुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम्। मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गव्रजे संक्रीडति कूजति सति 'समोऽकूजने' इति वक्तव्येऽपि कूजनेनात्मनेपदम्, त्वन्नामवर्णा मया कर्णेन पीताः गृहीताः। न केवलं लिङ्गात् किन्त्वाप्तमुखादपि ज्ञातोऽयमर्थ इत्यर्थः ॥५०॥

अन्वय—तद्यानयुग्यः नलकेलियोग्यां वधूसृष्टिं विधिम् अपृच्छम् अस्य चक्रचक्रे संक्रीडति मया त्वन्नामवर्णा इव कर्णपीताः।

हिन्दी—उस (ब्रह्मा) के यान को ढोते समय नल की क्रीडायोग्य वधू की सर्जना के विषय में विधाता से मैंने पूछा था, उसके यान के पहियों की ध्वनि में मैंने तेरे नाम के अक्षर जैसे सुने थे।

टिप्पणी—हंस एक द्विविधा-सी रचना चाहता है, इसीसे उसने कहा कि

कानों मे 'दमयन्ती'—जैसे कुछ वर्ण पडे, अर्थात् पहियों की खड खड मे भलीभाँति तो नही सुना जा सकता, पर लगा ऐसा हो कि जैसे 'दमयन्ती' कहा गया। विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास और उपमा का निर्देश किया है।५०।

अन्येन पत्या त्वयि योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा।
जनापवादार्णवमुत्तरीतुं विधा विधातुः कतमा तरी स्यात्? ॥ ५१ ॥

जीवातु—अन्येनेति। किं च, अन्येन नलेतरेण पत्या त्वयि योजितायां घटितायां सत्यां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन अभिज्ञत्वख्यात्यैव नीतायुषो विधातुर्वा जनापवादार्णवमुत्तरीतुं निस्तरीतुं 'वृतो वे'ति दीर्घः। कतमा विधा कः प्रकारः तरी तरणिः स्यात्? न काऽपीत्यर्थः। 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः। अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तेति भावः॥ ५१ ॥

अन्वय—वा त्वयि अन्येन पत्या योजितायां विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनः विधातुः जनापवादार्णवम् उत्तरीतुं, कतमा विधा तरी स्यात्?

हिन्दी—अथवा तुम्हें नलातिरिक्त पति से सम्बद्ध करके, विज्ञ होने के यश में जिसका जन्म बीता है, उस विधाता को लोकनिन्दा के समुद्र से निस्तार पाने में कौन सी नौका मिलेगी?।

टिप्पणी—विधाता सदा से सर्वज्ञ कहा जाता है। वह यदि नल से भिन्न किसी पुरुष से तेरा विवाह करा देगा, तो उसकी ऐसी लोकनिन्दा होगी कि निस्तार न हो सकेगा। अतः नल-दमयन्ती दयो'ग ही विधि विधान है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक ॥ ५१ ॥

आस्तां तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि! श्रमिताऽतिवेलम्।
सोऽहं तदागः परिमार्ष्टुकामस्तवेप्सितं किं विदधेऽभिधेहि ॥५२॥

जीवातु—इत्यमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गान्तरेण निगमयति—आस्तामिति। तत्पूर्वोक्तमास्तां तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अलं, तया साध्यं नास्तीत्यर्थः। गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवलं श्रूयमाणक्रियापेक्षया कारकोत्पत्तिः, किन्तु गम्यमानक्रियाऽपेक्षयाऽपि' इति न्यासकारः। किन्तु हे तन्वि, कृशाङ्गि! मया अतिवेलम् अत्यर्थं श्रमिता खेदिताऽसि, श्रमेर्ण्यन्तात् कर्मणि क्तः। तत् श्रमणरूपमागोऽपराध

परिमाष्टुंकाम परिहर्तुकाम । 'तु काममनसोरपी'ति मकारलोप । सोऽहं कि त्वदीप्सित तव मनोरथं विदधे कुर्वे, अभिधेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अन्वय —तद् अलम्, अप्रस्तुतचिन्तया अलम्, तन्वि मया अतिवेल श्रमिता असि, तद् आगः परिमाष्टुंकाम स अहम् अभिधेहि किं तव ईप्सित विदधे ?

हिन्दी—(अतएव) अब यह सब (कथन-वर्णन) रहे, जो विषय प्रस्तुत नहीं है, उसकी चिन्ता व्यर्थ है। हे कोमलांगी, तुम्हें बहुत समय तक श्रान्त किया, उस अपराध का परिमार्जन करने का इच्छुक मैं कहो, क्या तुम्हारा अभिलषित करूँ ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख अलंकार अनुप्रास ।५२।

इतीरयित्वा विरराम पत्त्री स राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः ।
हृदे गभीरे हृदि चावगाढे शंसन्ति कार्यावतरं हि सन्तः ॥ ५३ ॥

जीवातु—इतीति । स पत्त्री हंस इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भैम्या हृदयं बुभुत्सुर्जिज्ञासुर्विरराम तूष्णीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । तथाहि—सन्तः कार्यज्ञाः गभीरे अगाधे हृदि हृदे च अवगाढे प्रविष्टे सति कार्यस्य स्नानादे रहस्योक्तेश्च अवतरं तीर्थं प्रस्ताव च शंसन्ति कथयन्ति, अन्यथा अनर्थं स्यादिति भाव । अवतरो व्याख्यात । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ५३ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदयं बुभुत्सुः स पत्त्री विरराम, हि सन्तः गभीरे हृदे हृदि च अवगाढे कार्यावतरं शंसन्ति ।

हिन्दी—ऐसा कह कर राजकुमारी दमयन्ती के हृदय का जिज्ञासु वह पक्षी चुप हो गया, क्योंकि सज्जन गहरे सरोवर के आलोडित होने और गूढ़ हृदय का ज्ञान होने पर 'कार्यावतर' (पार आने का मार्ग और कार्य के निमित्त प्रस्ताव) करते हैं ।

टिप्पणी—इतना विवरण देकर हंस इस कारण चुप हो गया कि अब कुछ स्पष्ट बात कहे, जब दमयन्ती के मन का भाव ज्ञात हो जाय । समझदार व्यक्ति तभी कोई निश्चित प्रस्ताव करते हैं, जब सबद्ध व्यक्ति का मनोभाव प्रकट हो जाय, जैसे कि गहरे जलाशय की थाह पता चलने पर ही निश्चय

किया जाता है कि अार किस मार्ग से आया जायेगा। अर्थान्तरन्यास अल्कार ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्य वाच मनसा मुहूर्तम् ।
पतत्रिण सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु ॥ ५४ ॥

जीवातु—किञ्चिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीपत्साचीभूता विलोला आयासाद्विलुलिता मौलि केशबन्धो यस्या सा । 'मौलय सयता कचा' इत्यमर । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरथ कृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मुहूर्तमल्पकाल मनसा वाच्य वचनीय विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्रिण जगाद ।५४।

अन्वय –किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु सा पृथिवीन्द्रपुत्री मुहूर्त मनसा वाच विचिन्त्य पतत्रिणं जगाद ।

हिन्दी—कुछ तिरछा चचल मस्तक किये, मुख के संमुख चन्द्र को तृणसमान करती वह पृथिवीपति की पुत्री क्षणभर मन मे कथनीय को विचार कर पक्षी से बोली ।

टिप्पणी—सहजसौन्दय, नारी के स्वाभाविक देह अलकार और लावण्यभगिमा की चित्रमयी प्रस्तुति। साहित्यविद्याधरी के अनुसार उल्लेख्य अलकार उपमा ॥ ५४ ॥

धिक्चापले वत्सिमवत्सलत्व यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।
समीरसङ्गादिव नीरभङ्ग्या मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

जीवातु— धिगिति । चापले चपलकर्मणि, युवादित्वादण्, 'वत्सस्य भाव' वत्सिमा शिशुत्वम् पृथ्वादित्वादिमनिच् । तेन निमित्तेन वत्सलत्व वात्सल्य बाल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थ । तद्धिक् । कुत ? यस्य चापलवात्सल्यस्य प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या चपलायमानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या नीरभङ्ग्या जलवीच्येव तटस्थ उदासीन कूल गतश्च त्वमुपद्रुत पीडितोऽसि । अधर्महेतुत्वाद् बालचापल सोढव्यमिति भाव ॥ ५५ ॥

अन्वय —चापले वत्सिमवत्सलत्व धिक् यत्प्रेरणात् समीरसङ्गात् नीरभङ्ग्या इव उत्तरलीभवन्त्या मया तटस्थ त्वम् उपद्रुत असि ।

हिन्दी—चचलता के विषय मे बालभाव से जो (मेरा) मोह था,

उसे धिक्कार है, जिसकी प्रेरणा से समीरण के संग से लहरी के समान सतरल (अति चपल) होती मैंने तीर-स्थित व्यक्ति समान तटस्थ (अरिष्ट) तुम्हें पीड़ित किया।

टिप्पणी—पन्द्रहवें श्लोक में हंस ने दमयन्ती के बालभाव पर कटाक्ष किया था—'अहो शिशुत्वं तव खण्डितं न'। दमयन्ती ने अपने हंस के प्रति प्रथम वचन में ही उस बालभाव पर क्षोभ प्रकट किया। कवि की प्रबन्ध-कुशलता का एक श्रेष्ठ उदाहरण। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य उपमालंकार॥

आदर्शतां स्वच्छतया प्रयासि सतां स तावत्खलु दर्शनीयः।
आगः पुरस्कुर्वति सागसं मां यस्यात्मनीदं प्रतिबिम्बितं ते॥ ५६॥

जीवातु—आदर्शतामिति। स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आत्मन्यन्ये पुरोगत-वस्तुप्रतिफलनस्थितिरिति आदर्शो दर्पणस्ततां प्रयासि, कुतः यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बिन्धिनि सागसं सापराधां मां पुरस्कुर्वति पूजयति अग्रे कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वरूपे च, 'पुरस्कृतः पूजितेऽरात्यभियुक्तेऽग्रतः कृते'। 'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्मणी'ति चामरः। इदं मदीयमागोऽपराधः प्रति-बिम्बितं प्रतिफलितम्। पुरोवर्त्ति धर्म्माणामात्मनि सङ्क्रमणादादर्शोऽसीत्यर्थः, ततः किमत आह—स आदर्शः सतां साधूनां तावत्प्रथमं दर्शनीयः अथवा पूजनश्चेति तावच्छब्दार्थः खलु 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत् सदा बुधः॥' इति शास्त्रादिति भावः॥ ५६॥

अन्वय—स्वच्छतया आदर्शतां प्रयासि यस्य ते आगः सागसं मां पुरस्कुर्वति आत्मनि इदम् आगः प्रतिबिम्बितम्, स सतां तावत् दर्शनीयः खलु।

हिन्दी—निर्मलता के कारण तुम आदर्शभाव (दर्पणता) को प्राप्त कर रहे हो, जिस तुम्हारे मुझ अपराधिनी को आदर देते स्वरूप में यही (मेरा तुम्हें कष्ट देने का) अपराध प्रतिबिम्बित हो गया है, वह आदर्श सज्जनों को अवलोकनीय है।

टिप्पणी—जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में सब कुछ प्रतिबिम्बित हो दीखने लगता है, उसी प्रकार हंस के स्वाभाविक स्नेह-व्यवहार में दमयन्ती को अपनी बाल्यचपलता के कारण हुए अपराध का स्पष्ट बोध हो गया। हंस के

व्यवहार पर तुष्ट होती दमयन्ती उसे सज्जनों के आदर्श—दृष्टान्त रूप में स्वीकारती हुई हंस की प्रशंसा करती है कि उसने सापराधा पर भी ऐसी वत्सलता का प्रदर्शन किया विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर और श्लेष ॥ ५६ ॥

अनार्यमप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य ! तावत् ।
हंसोऽपि देवांशतयाऽभिवन्द्यः श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्तिः ॥ ५७ ॥

जीवातु—अनार्यमिति । हे सौम्य ! भवान् कुमार्याः शिशोर्मम सम्बन्धि अनार्यमप्याचरितं स्वदुपद्रवरूपं दुश्चेष्टितं क्षाम्यतु सहताम्, हंसोऽपि तिर्यग्गीः स्वयं । त्वमिति शेषः । भवानित्यनुषङ्गे असीति मध्यमपुरुषायोगात् देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा विष्णुरिव वन्द्योऽसि ॥ ५७ ॥

अन्वय—सौम्य भवान् कुमार्याः मम अनार्यम् अपि आचरितं तावत् क्षाम्यतु, हंस अपि देवांशतया मत्स्यमूर्तिः श्रीवत्सलक्ष्मा इव वन्द्य असि ।

हिन्दी—हे सौम्य (तन-मन से सुन्दर), तुम मुझ बालिका द्वारा हुए अनुचित भी आचरण को पहिले क्षमा करो, हंस (पक्षी) होते हुए भी जिस प्रकार मत्स्यरूप-धारी, श्रीवत्समणि से अलंकृत (विष्णु) देव का अंश होने से मत्स्य भी पूजित है, उसी प्रकार देवांश (ब्रह्मवाहन) होने से तुम भी वन्दनीय हो।

टिप्पणी—'सत्सङ्गतिः कथय किं न करोति पुंसाम्'—सो हंस देवांश होने से पक्षी होते हुए भी मानवी सुन्दरी द्वारा पूज्य ठहराया गया। उदाहरण स्वरूप मत्स्य को लिया गया, मत्स्यरूप में विष्णु ने अवतार लिया था। इस अवतार में वे पृथ्वीरूपिणी नौका के आश्रय होकर समस्त जीवों का आधार बने थे—'मत्स्यो युगान्तसमये मनुनोपलब्धः क्षोणीमयो निखिलजीवनिकायकेतः । विस्रंसितानुरुभये सलिले मुखान्मे आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥' (श्रीमद्भागवत २।७।१२, दर्शनीय मत्स्यपुराण) जैसे मत्स्यमूर्ति भगवान् का अंश होने से जलचर मत्स्य भी वन्दनीय बन गया, ऐसे ही हंस (पक्ष) भी ब्रह्मवाहन होने से वंद्य हो गया। नारायण ने 'सौम्य' की निरुक्ति पर एक आपत्ति उठायी है कि देवताधिकार में सोम से 'टयण्' का विधान है, तो 'सौम्य' की निरुक्ति चिन्तनीय है। समाधान में उन्होंने बताया है कि इस प्रकार व्युत्पत्ति होने से प्रयोग उचित हो जायेगा—'सोमस्य चन्द्रस्येयं

सौमी सुधा तामर्हति सौम्यः देवतुल्य ।' दण्डादित्व से 'य' प्रत्यय होगा और देवतुल्य अर्थ में सौमी + य = सौम्य निष्पन्न हो जायेगा। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उपमा अलंकार ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि का त्वदीक्षामुद मदक्ष्णोरपि याऽतिथेयाम् ।
निजामृतैर्लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—अथ यदुक्तं त्वयेप्सितं किं विदधे ? अभिधेहीति, तत्रोत्तरमाह—मत्प्रीतिमिति। का मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थः । आधित्ससि आधातुं कर्तुमिच्छसि ? दधाते सन्नन्ताल्लट्। या प्रीतिर्मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुद त्वदीक्षणप्रीतिमतिथेयात्त्वद्दर्शनोत्सवादन्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थः । तथाहि इन्दुः प्रजानां जनानां निजामृतैर्लोचनसेचनात् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी। किं वा सृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५८ ॥

अन्वय—का मत्प्रीतिम् आधित्ससि, या मदक्ष्णोः त्वदीक्षामुदम् अपि अतिथेयाम् ? इन्दुः निजामृतैः प्रजानां लोचनसेचनात् पृथक् किं वा सृजति ?

हिन्दी—और कौन-सा मेरा प्रिय सम्पादन करोगे, जो मेरे नेत्रों को तुम्हारे दर्शन से प्राप्त आनन्द को भी अतिक्रांत कर जाय ? अथवा चन्द्र अपनी अमृत-किरणों से लोक जनों के लोचन परिषिक्त करने के अतिरिक्त और किस कार्य का सम्पादन करता है ?

टिप्पणी—अभिजात वचनों की पराकोटि। आशय यह है कि तुमने दर्शन देकर मुझे अत्यन्त प्रसन्न किया। यह पर्याप्त है। चन्द्र अमृत वर्षा करके लोचनानन्द ही तो दे सकता है ! हंस ने बावनवें श्लोक में कहा था—'यदीप्सितं किं विदधेऽभिधेहि' । सो दमयन्ती उसके उत्तर में संकेत करती है कि यदि अन्य कुछ कर सकते हो तो तुम नल-प्राप्ति के निमित्त यत्न करो। यह संकेत अगले श्लोक में और स्पष्ट है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलङ्कार, विद्याधर के अनुसार आक्षेप ॥ ५८ ॥

मनस्तु यं नोज्झति जातु यातु मनोरथः कण्ठपथं कथं सः ।
का नाम बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाषं कथयेदलज्जा ॥ ५९ ॥

जीवातु—अत्र सर्वथा मनोरथः कथनीय इत्यभिप्रेत्य तत्र शक्यमित्याह—

मनस्त्वति। मनो मच्चित्त कर्तृ य मनोरथ जातु कदापि नोज्झति न जहाति, स मनोरथ कण्ठपथ वाग्विषयम् उपकण्ठदेश च कथं यातु, सम्भावनायां लोट्। सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः। केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भाव। कुत ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दो पाणिना ग्रहे ग्रहणे अभिलाष कथयेत्। तथा द्विज! पक्षिन्! राजपाणिग्रहाभिलाष नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तथा च दुर्लभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथ लज्जावत्या वक्तु शक्या इत्यर्थ। पूर्व एवालङ्कार ॥ ५९ ॥

अन्वय—म मनोरथ कण्ठपथ यातु, मन य जातु न उज्झति ? का नाम अभिज्ञा बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाष (अथवा 'द्विज, राजपाणिग्रहाभिलाषम्') कथयेत् ?

हिन्दी—वह अभिलाष (मनेच्छा) कठमार्ग से बाहर (वचनगोचर) कैसे हो, मन जिसे कभी त्यागता ही नहीं ? कौन समझदार बाला चद्रमा को हाथ मे पकडने का अभिलाष कह सकती है (क्योंकि इच्छा कर भी नहीं सकती) अथवा हे द्विज (पक्षी), कौन अभिज्ञा बाला राजा नल से विवाह होने की अभिलाषा कह सकती है ? नल तो दुर्लभ है, उसकी इच्छा करना भी 'बालता' है।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की प्राप्ति दुर्लभ अथवा इतनी असभव मानती है कि उसकी इच्छा करना ही मूर्खता है, अभिलाष कथन और भी बडी मूर्खता है। नल तो उस चन्द्र के समान है, जिसे हाथों पकडा ही नहीं जा सकता। 'अभिज्ञा' का पाठांतर 'अलज्जा' भी है। उस स्थिति मे यह अर्थ भी होगा कि पाणिग्रहण के विषय मे तो प्रौढा भी नहीं कह सकती, क्योंकि निर्लज्जा कौन बनेगी ? 'बाला' तो कभी कह ही नहीं सकती। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और श्लेष ॥ ५९ ॥

याच तदीयां परिपीय मृद्वीं मृद्वीकया तुल्यरसां स हस ।
तत्याज तोष परपुष्टघुष्टे घृणाञ्च वीणाक्वणिते वितेने ॥ ६० ॥

जीवातु—वाचमिति। स हस मृद्वीकया द्राक्षया, 'मृद्वीका गोस्तनी

दांशे'त्यमर । तुल्यरसा समानस्वादा मधुरार्थामित्यर्थं । मृद्वी मधुराक्षरा तदीया वाच परिपीय कल्यादराकर्ण्य परपुष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोष प्रीति तत्याज, वीणाक्वणिते च घृणा जुगुप्सा 'घृणा जुगुप्साकृपयोरि ति विश्व'। वितेने ॥ ६० ॥

अन्वय'—स हंस मृद्वीकया तुल्यरसा तदीया मृद्वी वाच परिपीय परपुष्ट-घुष्टे तोष तत्याज वीणाक्वणिते च घृणा वितेने ।

हिन्दी—उस हंस ने द्राक्षा रस के समान मधुररसमयी उस (दमयन्ती) की कोमल वाणी का परिपान करके (भलीभाँति सुनकर) कोकिल कूजन पर तुष्टि को त्याग दिया और वीणा के झनकार के प्रति घृणा प्रकट की ।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-स्वर और वीणा की झङ्कृति से अधिक सरस और कोमल है । अनुप्रास और प्रतीप अलकार ।६०।

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि हंसः ।
तच्छंसिते किञ्चन संशयालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

जीवातु—मन्दाक्षेति । तस्या भैम्या मन्दाक्षेण ह्रिया मन्दा सन्दिग्धार्था अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तथोक्तमुक्त्वा समाकुञ्चितवाचि नियमितवचनाया सत्यामय हंसस्तच्छंसिते भैमीभाषिते किञ्चन किञ्चित्संशयालु सन्दिहान. सन्, 'स्पृहिगृही'त्यादिना आलुच् प्रत्यय' । मुखाम्भोज गिरा युयोज मुखेन गिरमुवाचेत्यर्थ ॥ ६१ ॥

अन्वय'—अय हंस मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि तच्छंसिते किञ्चन संशयालु मुखाम्भोज गिरा युयोज ।

हिन्दी—उस हंस ने लज्जा से थोड़े शब्दों में कहकर उस (दमयन्ती) के चुप हो जाने पर उसके कथन पर कुछ संदेह करते हुए मुखकमल से वाणी की योजना की (कहने के लिए मुख कमल खोला) ।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जा के कारण स्पष्ट न कहने पर हंस को थोड़ा-सा संदेह बना रहा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और समासोपमा अलकार ॥ ६१ ॥

करेण वाञ्छेव विधु विधर्तुं यमित्यमात्थादरिणी तमर्थम् ।
पातु श्रुतिभ्यामपि नाधिकुर्वे वर्ण श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—करेणेति । हे भैमि ! करेण विधु चन्द्र विधर्तु ग्रहीतु वाञ्छेव यमर्थमित्थ 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती-आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रूव पञ्चानामि'ति ब्रुवो लटि सिपि थलादेश ब्रुवश्चा-ह्वादेश.' 'आहस्थ' इति हकारस्य थकार । तमर्थमन्ते भवोऽन्तिमो वर्णः शूद्र. 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमि'ति इमच् । श्रुतेर्वर्णं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्या पातु श्रोतुमपीत्यर्थः । नाधिकुर्वे नाधिकार्यस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः । अत सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—करेण विधु विधर्तुं वाञ्छा इव यम् इत्थम् आदरिणी आत्थ तम् 'अयम् अन्तिम वर्ण. श्रुते वर्णम् इव श्रुतिभ्या पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ?

हिन्दी—'हाथ से चन्द्रमा पकड़ने' की आकांक्षा के समान जिस (प्रयोजन) को तुमने इतने गोपनीय और आदर के साथ कहा, उस अर्थ को—जैसे चतुर्वर्णों में अतिमवर्ण (शूद्र) वेद के अक्षर को कान मे डालने का अधिकारी नहीं होता, वैसे ही मैं क्या सुनने का भी अधिकारी नहीं हूँ ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा था—'क्ष नाम वाला द्विराजपाणिग्रहा-भिलाष कथयेत्' । इसमे 'द्विजराज' का अर्थ चन्द्र है और 'द्विज + राज'—इस प्रकार पदच्छेद करके 'राज' (नल) भी हो जाता है । इसी अस्पष्टता पर हस का आक्षेप है । वह कहता है कि मैंने रहस्य-गोपन का विश्वास दिलाया, नल से संपर्क बतलाया, पर फिर भी सलज्जता के नाम पर मुझसे दुराव छिपाव ? ध्वनि से अर्थ होता है कि हस इस रहस्य का जानने का अधिकारी है । वह बताना चाहता है कि वह केवल दयनीय ही नहीं है, नल-प्राप्ति में पूर्ण सहायक भी है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तैकपद्यामपि वर्त्तते य. ।
यत्रान्धकार खलु चेतसोऽपि जिह्मेतरैर्ब्रह्म तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—ननु तमर्थमत्यन्तदुर्लभत्वाद्वक्तु जिह्मेमीत्याशङ्क्याह–अर्थाप्यत इति । हे भैमि ! भवत्या किंवा इयदेतावच्चया तथा अर्थाप्यते किमर्थमयमर्थो

द्विजराजान्निष्ट्वदति दुर्लभत्वेनाध्यवसित इत्यर्थः । अर्थशब्दात्तदाचष्टे इत्यर्थे णिच 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वक्तव्य' इत्यापुगागमः । कृदन्तस्याप्यर्थापयति इत्यत आह-चोऽर्थः एक पादो यस्यामिति एकपदी एकपादसञ्चारयोग्यमार्गः । 'वर्तन्येकपदीति चे'त्यमरः । 'कुम्भीपदीषु चे'ति निपातनात् साधुः । चित्तैकपद्या मनोमार्गेऽपि वर्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽपि यश्चित्तस्थार्थः । स कथं दुर्लभ इति भावः । तथाहि-यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्धकारः प्रतिबन्धः तद् ब्रह्म जिह्मेतरैरकुटिलैः कुशलधीभिरिति यावत् । अवाप्यं सुप्रापम् अमनोगम्यं ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः । अत एवार्थापत्तिरलङ्कारः । 'कैमुत्येनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरि'ति वचनात् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते यः चित्तैकपद्याम् अपि वर्तते ? यत्र चेतसः अपि अन्धकारः, तद् ब्रह्म अपि जिह्मेतरैः अवाप्यं खलु ।

हिन्दी—(उसे) आप इतना दुष्प्राप्य क्यों मान रही हैं जो मन की पगडंडी में विद्यमान है (मन मे छिपी जिसकी इच्छा है) ? जिसके विषय में चित्त का भी अंधेरा है (मन में स्पष्टता नहीं है), वह ब्रह्म भी अलस व्यक्तियों से भिन्न (आलस्यहीन) व्यक्ति द्वारा निश्चय पूर्वक प्राप्य है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि आपके मन का भाव न तो पूर्णतः छिपा ही है और न नल अप्राप्य ही है और संसार मे उद्योगी व्यक्ति तो ब्रह्म को भी पा लेते है, जो अवाङ्मनोगोचर है । अप्राप्य है, अमनोगम्य ब्रह्म भी जब प्राप्त हो जाता है, तब नलप्राप्ति तो मनोगत अर्थ है । अतएव मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अर्थापत्ति अलंकार है, विद्याधर विरोधाभास मानते हैं ॥ ६३ ॥

ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।
तिर्यञ्चमप्यञ्च मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथ मयि मृषावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तत्र न शङ्कितव्यमित्याह-ईशेत्यादिना त्रयेण । ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्तो रूपान्तरं मध्यो यस्याः सा तयोक्ता हे कृशोदरीत्यर्थः । लोकेशलोके शेरत इति लोकेशलोकेशयाः ब्रह्मलोकवासिनः 'अधिकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्ययः । शयवासवासिष्वकालादि'त्यलुक् तेषां लोकानां जनानां मध्ये अज्ञं मूढं तिर्यञ्चं पक्षिणमपि

मामिति शेष । मृषा अनृत तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भावस्तत्ता सत्यवादितेत्यर्थ । उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञानमाद्य स्यादि'त्यमर । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्यय बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्व तथात्वेन ज्ञात तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायामि'ति नपुसकत्वम् । सम साधारण सर्वैर्ज्ञायत इति समज्ञा कीर्ति' पूर्ववदङ्प्रत्यय तदुपज्ञ तथात्वेनादौ ज्ञाता समज्ञा कीर्तिर्येन त तथोक्त मामञ्च, सत्यवादिन विद्धीत्यर्थ । अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

अन्वय —ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये　लोकेशलोकेशयलोकमध्ये　अज्ञ तिर्यञ्चम् अपि मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च ।

हिन्दी—हे परमेश के (अष्टविध) ऐश्वर्य के मध्य जो अणिमा नामक ऐश्वर्य है, उसके विवर्त्त (रूपान्तर)—रूप मध्यभाग वाली (सूक्ष्मकटि), लोकेश्वर (ब्रह्मा) के लोकवर्त्ती जनों के मध्य (ब्रह्मलोकवासी प्राणियों के बीच) मुझ अज्ञानी पक्षी को भी तुम असत्य से अपरिचित (सत्यवादी) और रसज्ञ (सहृदय) जनों के भावों का आद्यज्ञाता और समज्ञाता समझकर पूजो (अथवा 'अज्ञम्' को केवल 'अञ्च' से पूर्व अन्वित करलेने पर सत्यवादिता और सहृदयता के रसज्ञाता मुझ सर्वज्ञ को तुम अज्ञानी समझो) ।

टिप्पणी—शारीरिक सौन्दर्य के द्योतक सबोधन 'कृशोदरि' से दमयन्ती को सबोधित कर हंस उसे यह बताना चाहता है कि ब्रह्मलोक के प्राणियों के मध्य अजाना पक्षी होते हुए भी मैं सत्यवादी और रसज्ञ सहृदय हूँ, ऐसा समझ पूजनीय हूँ, पर ऐसे मुझे तुम यदि मूर्ख समझोगी तो इसमें तुम्हारी ही हानि है । ब्रह्मलोक के सत्यवादी और रसज्ञ प्राणियों के बीच रह मैं मूर्ख और अरसिक कैसे हो सकता हूँ ? श्रीहर्ष ने ऐसी शब्द योजना की है कि दोनों भाव मर्दित हो जाते हैं । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण और अनुप्रास अलकार है । अष्टसिद्धियाँ (ऐश्वर्य) हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य (अभिलषित पा लेने की क्षमता), ईशित्व (सामर्थ्यातिशय) और वशित्व । 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा । प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्व वशित्व चाष्टसिद्धय ' ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीना प्रतिवेशिनीना सरस्वती वासवती मुखे नः ।
ह्रियेव ताभ्यश्चलतीयमद्धापथान्न ससर्गगुणेन वद्धा ॥ ६५ ॥

जीवातु—मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीना प्रतिवेश्मना श्रुतीना वेदाना ब्रह्ममुखस्थाना श्रुतीना मध्ये वासवती निवसन्ती इय नोऽस्माक मुखे सरस्वती वाक् ससर्ग एव गुण श्लाघ्यधर्मस्तन्तुश्च तेन बद्धा सती, ताभ्य श्रुतिभ्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा । अद्धापथात्सत्यमार्गान्न चलति सर्वथा दोषगुणा भवन्तीति भाव । 'सत्ये त्वद्धाञ्जसाद्वयमि'त्यमर ॥ ६५ ॥

अन्वय—न मुखे इय सरस्वती प्रतिवेशिनीना श्रुतीना मध्ये वासवती ससर्गगुणेन वद्धा ताभ्यः ह्रिया इव अद्धापथात् न चलति ।

हिन्दी—हमारे मुख में विद्यमान यह सरस्वती (वाणी) पड़ोसिनी श्रुतियों (वेदों) के मध्य में स्थित रहने से सग गुण से सबद्ध होने के कारण उनको लज्जा से ही जैसे सत्पथ से विचलित नही होती । (अथवा 'अद्धा अपथात्' पदच्छेद करनेपर 'निश्चयपूर्वक 'अपथ' अर्थात् कुमार्ग पर नही चलती') ।

टिप्पणी—श्रुतिसमत व्यवहार करने वाला कुपथ पर चल ही नहीं सकता, वह सत्पथ से विचलित नहीं होता । हस की वाणी तो वेदों की प्रतिवेशनी है, वह कैसे झूठी हो सकती है ? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने समासोक्ति और उपमा का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीमप्यभिलाषि चित्तम् ।
कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वशये शयालु ॥ ६६ ॥

जीवातु—तत किमित्यत आह—पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तरस्थेऽपीति भाव । अभिलाषि साभिलाष ते तव चित्त कर्तृ पर्यङ्कता शयनपर्यङ्कत्वमापन्न सरस्वान् सागरोऽङ्कश्चिह्न यस्यास्तामतिदुर्गमामित्यर्थ । ता लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेत्तर्हि तद्दुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि । पर्यङ्कस्थमपि पर्यङ्कस्थमिव जानीहि ॥ ६६ ॥

अन्वय—ते चित्त पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीम् अभिलाषि, कुत्र अपि वस्तुनि प्रयाति चेत् (अथवा 'कुत्र अपि अभिलाषि ते चित्त

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कापुरीम् प्रयाति चेत्') तत् अपि स्वहस्ते दयालु अवेहि ।

हिन्दी—यदि तेरा चित्त जिसके परित (चारो ओर) समुद्र का वृत्त घिरा हुआ है (अथवा समुद्र जिसका पलग (शय्या) बना हुआ है), उस लका का अभिलाषी है, अथवा वह अन्य किसी दुष्प्राप्य वस्तु की ओर जा रहा है (अथवा 'किसी भी वस्तु की अभिलाषा करने वाला तेरा मन समुद्र के मध्य बसी लका की ओर जा रहा है), तो उसे भी तू अपने हाथ में विद्यमान समझ ।

टिप्पणी—दुगम समुद्र के मध्य में स्थित दुष्प्राप्य लका या ऐसी ही किसी अन्य वस्तु को भी दमयती प्राप्त कर सकती है, अन्य किसी अभिलाष की पूर्ति तो सरल ही है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च बभाण भैमी ।
चेतो नल कामयते मदीय नान्यत्र कुत्रापि च साभिलाषम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—इतीति । तेन पत्ररथेन पक्षिणा हसेन इतीत्थमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकूतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वम् । हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती बभाण । किमिति ? मदीय चेतो लङ्का नायते, किन्तु नल राजान कामयत इति श्लेपभङ्ग्या बभाणेत्यर्थ । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाष न ॥ ६७ ॥

अन्वय —तेन पत्ररथेन इति ईरिता ह्रीणा हृष्टा च भैमी बभाण—मदीय चेत लङ्काम् न अयते, कुत्र अपि अन्यत्र साभिलाषम् न (अथवा मदीय चेत नल कामयते कुत्र साभिलाष न, अथवा कुत्र अपि अन्यत्र न साभिलाष मदीय चेत अनल कामयते) ।

हिन्दी—उस हस द्वारा इस प्रकार सबोधित लज्जा और प्रसन्ता से पूर्ण भीमसुता ने कहा —'मेरा चित्त लका की ओर नही जाता, कही और भी अभिलाषा नही है' । अथवा मेरा चित्त नल की कामना करता है, कही और साभिलाष नही है, अथवा कही और अनाकृष्ट मेरा मन अनल (आग) की कामना करता है) ।

टिप्पणी—शब्द पर कवि का कितना अधिकार हो सकता है, किस प्रकार वह उनके कौशलपूर्ण प्रयोग से अर्थ-चमत्कार प्रकट कर सकता है, यह इस श्लोक में स्पष्ट है। एक-सी शब्दावली के विभिन्न पदच्छेद करके तीन अर्थ निकल आते हैं, वे अर्थ जो दमयंती की इच्छा का क्रमिक रूप हैं—(१) दमयंती को इन्द्र की चाह नहीं है, (२) वह नल को कामना करती है, (३) यदि यह न हो तो आग में जल मरने की इच्छा है। एक लज्जावती कुमारी के सब अभिप्राय संकेतित हो गये। श्लेष का ही सामर्थ्य है। मल्लिनाथ की टिप्पणी है—कि श्लेष-महिमा से सब कुछ कह दिया गया। विद्याधर कहते हैं—'यहाँ श्लेष है।' दमयंती का हर्ष इसलिए है कि हंस कहता है कि सब कुछ प्राप्त कर सकती है जो भी कामना करे। लज्जा है कि कैसे सीधे शब्दों में अपने मनोभिलाष को प्रकट कर दे? ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् ।
आचष्ट विस्पष्टमभाषमाणामेनां स चक्राङ्कपतङ्गशक्रः ॥ ६८ ॥

जीवातु—विचिन्त्येति । विस्पष्टमभाषमाणां श्लेषोक्तिव्याजेनाभिलषितमेव भाषमाणामित्यर्थः । एनां दमयन्तीं स चक्राङ्कपतङ्गशक्रः हंसपक्षिश्रेष्ठः बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शीलं स्वभाव एव शैलः लज्जा नद्येव नदी तस्यां मज्जदनङ्गनागो यस्य तं विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मथत्वं ज्ञात्वा लज्जाविसर्जनार्थं वाक्यमुवाचेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वय—स चक्राङ्कपतङ्गशक्रः विस्पष्टम् अभाषमाणाम् एनां बालाजनशीलशैलं लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं विचिन्त्य आचष्ट ।

हिन्दी—वह हंस विहगों का स्वामी पूर्ण स्पष्ट न कह सकने वाली उस (दमयंती) से बालाओं के शील (स्वभाव) रूप-पर्वत और लज्जा रूपिणी नदी में डूबते कामरूप हाथी का विचार करते हुए बोला।

टिप्पणी—स्पष्ट भाषण के दो कारण हंस ने समझ लिए—(१) एक तो कुमारी बालिकाओं का शील, जो स्पष्ट भाषण को दुर्लंघ्य पर्वत-जैसा रोके खड़ा है, (२) लज्जा की अतिशयता, जिसमें कामनाएँ डूब कर रह जाती हैं। भाव यह कि हंस समझ गया कि कुमारी अनौचित्यशील और

लज्जा से अभिभूत दमयन्ती ने जो कह दिया, वही पर्याप्त है। इससे अधिक वह क्या कहती ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नलं मनः कामयते ममेति ।
आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्या श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम् ? ॥ ६९ ॥

जीवातु—नृपेणेति । श्लेषकवे श्लेषभङ्ग्या कवयित्र्याः श्लिष्टशब्द प्रयोक्त्र्या इत्यर्थः, कवृवर्णने इति धातोरौणादिक इकारप्रत्ययः । भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहणं पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्म्मणी'ति विहिताया षष्ठ्या 'कर्म्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि शेषे षष्ठीसमासः । तत्र स्पृहेति मनः मनो नलं कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नलं कामयत इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

अन्वयः—श्लेषकवेः भवत्या नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नलं कामयते इति श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया न आश्लेषि किम् ?

हिन्दी—श्लेषकविता की विदुषी आपका—'राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है', 'मेरा मन नल की कामना करता है', इन दोनों श्लोकों का अर्थ क्या भली बुद्धि वाला मैं न समझ पाया ? (अपितु समझ गया)

टिप्पणी—दमयन्ती का भाव समझ कर हंस ने कहा कि मैं आपकी श्लेष चातुरी भली भाँति समझ गया हूँ। आपने जो दो श्लोकों—'का नाम बाला' इत्यादि (३।५९) और 'चेतो नलं कामयते' (३।६७) में श्लेष काव्य का प्रयोग करते हुए जो कहा, वह मैंने भलीभाँति समझ लिया। अब मुझसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययं तु सम्भाव्य भाव्यस्मि तदज्ञ एव ।
लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेषुरपि स्मरः स्यात् ॥ ७० ॥

जीवातु—तर्हि किमर्थं करेण वाञ्छेत्यादिकमनवद्युक्तवद्युक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति । किन्तु त्वच्चेतसः स्थैर्यविपर्ययमस्थिरत्वं सम्भाव्य आशङ्क्य तदज्ञः तस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञः अनभिज्ञः भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादयः' इति साधु अस्मि । त्वच्चित्तनिश्चयपर्यन्तमित्यर्थः । धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः इति भविष्यत्ताया गुणात्त्वावर्तमानतानुरोधः । नन्वेवमनु

स्तावा मयि पुन इव शङ्कैत्याशङ्क्य स्रीणां चित्तचाञ्चल्यसम्भवादित्याह—स्म इति । लोलशीले चचलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापराद्धेषुरीषच्च्युतमार्गः स्यात् कुशलोऽपि धन्वी चञ्चलत्वात्स्यादपराध्यत इति भाव । 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद् यश्च्युतसायक' इत्यमर । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ७० ॥

अन्वय —नु स्वस्वैतस्य स्वैरैर्विनयैः संभाव्य सदस एव मावो अस्मि हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मर अपि दरापराद्धेषु स्यात् ।

हिन्दी—किन्तु तुम्हारे चित्त की अस्थिरता की सम्भावना करके उक्त श्लोकार्थ से अनभिज्ञ ही बना रहूँगा, क्योंकि चचल स्वभाव वाला के हृदय-रूप पर कामदेव के बाण भी कुछ चूक जाते हैं ।

टिप्पणी—हम का कथन है कि मैं जान जानकर भी अजाना ही बना रहना चाहता हूँ, क्योंकि लड़कियाँ होती हैं चचल स्वभाव की । न तो उनका मन बदलते देर लगती है और न उन्हें काम ही तरुणियों के समान व्यथा देता है । अर्थान्तरन्यास ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्र खलु नैषधेन्दुस्तद्बोधनीय कथमित्थमेव ? ।
प्रयोजन सांशयिकप्रणोदुकनृपाजनेनेव न मद्विधेन ॥ ७१ ॥

जीवातु—महीति नैषध इन्दुरिव नैषधेन्दुर्नलचन्द्र महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्र खलु तस्मात् स नल । पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्विधेन मादृशा विदुषा ईदृक् सांशयिक सन्देहदुःस्थम् अस्थिर प्रयोजन प्रति इत्थमेव मुग्धाकारेणैव कथ बोधनीय ? अनर्हमित्यर्थ । 'गतिबुद्धी'त्यादिना अणि कर्तुर्नलस्य कर्मत्व, 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति अभिधानाच्च ॥ ७१ ॥

अन्वय —तत् महीमहेन्द्र स नैषधेन्दु मद्विधेनेव पृथग्जनेन ईदृक् सांशयिक प्रयोजन प्रति इत्थम् एव कथ बोधनीय ।

हिन्दी—इस पृथ्वी के महेन्द्र उस नैषधचन्द्र के प्रति मेरे जैसे प्राकृत जन पक्षी द्वारा (अथवा 'पृथग्जनेन इव मद्विधेन' अन्वय करके प्राकृतजन के समान मुझ जैसे विद्वान् द्वारा) ऐसे सशयपूर्ण अस्थिर प्रयोजन का निवेदन किस प्रकार किया जाय ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का भाव तो स्पष्ट कहा नहीं गया, सो बात सदेह की है। उसे हस जैसा समझदार प्राणी एक मूर्ख की भांति इतने बडे राजा से कह नहीं सकता अथवा कहीं यह न समझ लिया जाय कि हस तो पक्षी है, उसने न जाने क्या समझा और प्रलाप कर दिया। सो बात साफ होनी चाहिए। एक महीमहेन्द्र से वह अप्रामाणिक, सदेहास्पद सदेश नहीं कह सकता। विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यलिंग ॥ ७१ ॥

पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि वा वृणीषे।

त्वदर्थमर्थित्वकृतिर्प्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

जीवातु—अथैतमेव बोधने को दोषस्तत्राह–पितुरिति। पितुर्नियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्य नलादन्य युवान यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निषधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थ तुभ्य, 'चतुर्थी तदर्थे'-इत्यादिना चतुर्थी समास, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वचनव्यम्'। तदत्तया अर्थित्वकृति अर्थित्वभजन तत्र प्रतीतिर्विश्वास कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थ। तस्मादसदिग्ध वाच्यमिति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वय—पितु नियोगेन निजेच्छया वा यदि अन्य युवान वृणीषे त्वदर्थम् अर्थित्वकृति मयि निषधेश्वरस्य कीदृक् प्रतीतिः स्यात्।

हिन्दी—पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छासे यदि तुम नलातिरिक्त युवा का वरण करती हो, तो तुम्हारे निमित्त याचना करते मेरे प्रति निषधराज का विश्वास कैसा होगा ?

टिप्पणी—इस का तात्पर्य है कि दमयती जब तक निश्चयपूर्वक अपना निर्णय स्पष्ट न कहेगी हस की नल से उसके साथ विवाह करने की प्रार्थना ठीक नहीं होगी। यदि दमयती के पिता ने अन्यत्र कहीं अपनी बेटी ब्याहने का निर्णय ले लिया और दमयती ने उससे बाध्य हो अन्य किसी पुरुष को वर लिया अथवा उसकी ही इच्छा बदल गयी, तो नल हस को एक लबाडिया या झूठा ही तो समझेंगे। सो स्पष्ट कहे बिना कार्य आगे नहीं बढेगा ॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम्।

इत पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपतिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—अन्यथा तया वक्तुं न शक्यते तर्हि ततोऽप्यदीप्सित कर्त्तव्ये प्रतिज्ञाम् अङ्गीकारयितुमाह—त्वयेति । हे उर्वीशतनुजे ! भैमि ! त्वयापि वा किं विनातुं किं ननु शङ्कितविक्रिये सम्भावितविकारे अस्मिन् विषये राजपाणि-ग्रहणघटनकार्ये अहम्, अतिक्रिये विनियुज्ये, अनियोज्य इत्यर्थः । करोतेर्यङि लट्, किन्तु इतः पृथगस्मादन्यत् यदभ्यर्थयसे तत्सर्वं कुर्वे करोमीत्यर्थः ॥

अन्वय—त्वया अपि शङ्कितविक्रिये अस्मिन् विषये विनातुं किं वा नियुज्ये ? उर्वीशतनुजे, इतः पृथक् यत् यत् प्रार्थयसे तत् सर्वं कुर्वे ।

हिन्दी—और तुम भी जिसमें परिवर्तन की आशंका है, उस इस विवाह-विषय में प्रयोजन करने का अधिकार मुझे क्यों दे रही हो ? हे पृथ्वी के स्वामी की पुत्री (राजकुमारी), इससे भिन्न जो जो तुम से चाहोगी, मैं वह सब करूँगा ।

टिप्पणी—हंस एक और उत्तेजना देता है–अच्छा हो कि तुम इस सन्देहास्पद कार्य-साधन में मुझे नियुक्त ही न करो । इस विवाह विषयक कार्य के अतिरिक्त, जो भी कहो, मैं कर दूंगा अर्थात् या तो स्पष्ट कहो, या फिर इस विषय को ही छोड़ो । विद्याधर ने इस श्लोक में अनुप्रास अथवा 'नियत-स्थानपदयमक' का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

श्रवःप्रविष्टा इव तद्गिरस्ता विधूय वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना ।
ऊचे ह्रिया विस्मयितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुरुहूतपुत्री ॥ ७४ ॥

जीवातु—श्रव इति । धरित्रीपुरुहूतपुत्री भूमीन्द्रसुता भैमी श्रवःप्रविष्टा इव न तु सम्यक् प्रविष्टाः तद्गिरो हंसवाचः । वैमत्येन असम्मत्या धुतेन कम्पितेन मूर्ध्ना विधूय प्रतिक्षिप्य ह्रिया कर्त्री विस्मयितानुरोधा शिथिलित-वृत्तिलज्जा सती पुनरप्यूचे उवाच ॥ ७४ ॥

अन्वय—धरित्रीपुरुहूतपुत्री श्रवःप्रविष्टाः तद्गिरः वैमत्यधुतेन मूर्ध्ना विधूय इव ह्रिया विस्मयितानुरोधा पुनः ऊचे ।

हिन्दी—धरणी के इन्द्र की पुत्री (पृथ्वीन्द्रसुता दमयन्ती) कानों में घुसी हंस (हंस) की वचनावली को असम्मति में हिलते सिर से मानो निरस्त करती हुई लज्जा के अनुरोध को शिथिल कर (लज्जा छोड़) पुनः बोली ।

टिप्पणी—दमयती ने हंस के वचनों के प्रति असमति प्रकट करने के लिए सिर हिलाया, जैसे कान में प्रवेश करते किसी दुष्ट कीट को सिर के झटके से निवारित करना चाहती हो। इस आवेश में उसने लज्जा छोड कर निम्नांकित स्पष्ट वचन कहे। उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

मदन्यदानं प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा।
निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्याः ॥ ७५ ॥

जीवातु—मदिति। मम अन्यदानमन्यस्य दानं प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितुर्नियोगेनेत्यादि श्लोकस्तर्कः। एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्तस्य एवेत्यर्थः। निशो निशाया अपि 'पद्दन्न'त्यादिना निशाया निशादेशः सोमाच्चन्द्रादितरकान्तशङ्का पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कारं प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्यं कुर्याः कुरु सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः। यथा निशायां निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीयः, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः। रूपकालङ्कारः ॥ ७५ ॥

अन्वय—मदन्यदानं प्रति त्वदीये हृदि या एषा कल्पना तावद् वेदः निशः अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य ओङ्कारं कुर्याः।

हिन्दी—मेरे नलातिरिक्त पुरुष को दिये जाने के विषय में तुम्हारे हृदय में जो यह कल्पना 'वेद' (वेदसम प्रामाणिक) है, तो रात्रि की भी चन्द्रेतर प्रियविषयकशंका को इस (मेरे अन्य दान विषयक तथ्यांगीकार) का 'ओंकार' कर लो।

टिप्पणी—दमयती का कथन यह है कि उसके अन्य किसी पुरुष से विवाह होने के विषय में जो हंस कल्पना कर रहा है, वह निर्मूल है। यदि वह इस शंका को वेद के समान सत्य और प्रामाणिक माने बैठा है, तो उसे इसे सत्य मानने के पूर्व यह भी मानना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा के अतिरिक्त भी प्रिय होता है। यदि दमयती विषयक हंस की आशंका वेद है, तो रात्रि विषयक तथ्य को वेदमन्त्रों से पूर्व उच्चारित होनेवाला ओंकार (ॐ) मानना होगा अर्थात् जैसे चन्द्रमा ही रात्रि का प्रिय है, वैसे ही नल ही दमयती का। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और अतिशयोक्ति ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्पर्कमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्कितेयमहो महीयस्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—सरोजिनीति । सरोजिन्या मानसरागस्य मनोऽनुरागस्थितेर-न्यतरास्यप्रवृत्तेश्च अनर्कसम्पर्कमर्केतरकान्तसङ्गान्तिमतर्कयित्वा अनूहित्वा तदेव मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहं शङ्कित इति तच्छङ्कितस्य भावस्तत्ता महीयो महत्तर साहसिक्यं साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनादाश्चर्यम् ।

अन्वय—सरोजिनीमानसरागवृत्तेः अनर्कसम्पर्कम् अतर्कयित्वा तव इयं मदन्यपाणिग्रहशङ्किता अहो, महीयः साहसिक्यम् ।

हिन्दी—कमलिनी के मनोऽनुराग के होने का सूर्यातिरिक्त के साथ सबंध की तर्कणा न करके तुम्हारी यह मेरे नलातिरिक्त के साथ विवाह की शङ्का आश्चर्य और बड़े साहस की बात है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि जिस प्रकार कमलिनी का अनुराग सूर्य से ही होता है, अन्य से नहीं उसी प्रकार दमयन्ती का विवाह नल से ही संभव है, नलातिरिक्त से नहीं । जब कमलिनी-सूर्य के संबंध में तुम को शङ्का नहीं है, तो दमयन्ती-नल के विषय में उसकी शङ्का बड़ा दुःसाहस है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और अतिशयोक्ति ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाऽतर्कि तदेतदेव स्वेनानलं यत्किल संश्रयिष्ये ।
विनाऽमुना स्वात्मनि तु प्रहर्तुं मृषागिरं त्वां नृपतौ न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—साध्विति । किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनलं नलादन्यम् अग्निं च संश्रयिष्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया अतर्कि ऊहितं तदेतदेव साधु अतर्कि, किन्तु अमुना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं कर्मणोऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमी । 'अनेकशक्तियुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः । सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विवक्ष्यते ॥' इति वचनादनलं संश्रयिष्ये इत्यनुषङ्गः नृपतौ नले विषये त्वां मृषागिरमसत्यवाचं कर्तुमनलं एव शरणम् अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥७७॥

अन्वय—एतत् एव त्वया साधु तर्कितं किल यत् स्वेन अनलम् संश्रयिष्ये, अमुना विना तु स्वात्मनि प्रहर्तुम्, नृपतौ त्वां मृषागिरं कर्तुं न ।

हिन्दी—यही तुमने ठीक विचार किया कि मैं स्वयम् ही अनल (नलातिरिक्त, अग्नि) का आश्रय ले लूँगी, किन्तु (नल) के बिना अपने को समाप्त करने के लिए (अग्नि अनल का आश्रय लूँगी), न कि तुम्हें नरराज (नल) के सम्मुख झूठा सिद्ध करने के लिए (अनल अर्थात् नल-व्यतिरिक्त का आश्रय)।

टिप्पणी—हंस ने 'पितुर्नियोगेन' इत्यादि (७२) में आशंका प्रकट की थी कि तुम स्वेच्छया अनल (नल व्यतिरिक्त) को वर लो तो उसे नल झूठा समझेंगे, इसी का एक प्रकार से उपहास करती दमयन्ती ने कहा कि वह निश्चय ही स्वेच्छया नल से विवाह न होने पर अनल (अग्नि) का आश्रय लेगी—आत्मदाह कर लेगी, किन्तु 'अनल' (नल व्यतिरिक्त) से विवाह करके हंस को नल के सम्मुख झूठा नहीं सिद्ध करेगी। विद्याधर द्वारा उल्लेख्य अलंकार श्लेष ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलम्भं पुनराह यस्त्वां तर्कस्स किं तत्फलवाचि मूकः ?।
अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—मदिति। किञ्च, यस्तर्क ऊहः मद्विप्रलम्भं मया विप्रलम्भनीयं 'पोरदुपधादि'ति यत्प्रत्ययः। आह बोधयतीत्यर्थः स तर्कः तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूकः अशक्तः किम् ? अतो मध्यमत्यवादिन्वशङ्का न कार्येत्यर्थः। कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चय अत आह—अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्कः शङ्कितुमशक्यः व्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणो यस्याः सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाणं चेत्तर्हि के तु वेदाः सन्तु ? न केऽपीत्यर्थः सम्भावनायां लोट्। वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्यथेति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वय—पुनः यः तर्कः मद्विप्रलम्भं त्वाम् आह सः तत्फलवाचि मूकः किम् ? अशक्यशङ्काव्यभिचारहेतु यदि वेदाः न, के तु सन्तु ?

हिन्दी—और फिर जिस तर्क ने तुम्हें यह बताया कि मैं तुम्हारी प्रतारणा करूँगी, उसने परिणाम को बताने में क्या वह गूँगा है ? जिन (वचनों) में व्यभिचार के (अज्ञानादि) कारणों की शंका की ही नहीं जा सकती, यदि वे वेद (प्रामाणिक) नहीं हैं तो वेद क्या हैं ?

टिप्पणी—७२ वें श्लोक में हंस ने आशंका की थी कि यह झूठा बनेगा, दमयन्ती द्वारा प्रतारित होगा। दमयन्ती इसके उत्तर में कहती है कि यह आशंका भी निर्मूल है। हंस ने जिस तर्क से यह सोच लिया कि दमयन्ती उसे प्रतारित करेगी, उस तर्क ने उसे यह नहीं बताया कि हंस को प्रतारित करने में दमयन्ती को लाभ क्या होगा ? हंस तो ज्ञानी है, उसे अपनी प्रामाणिकता पर विश्वास होना चाहिए, अन्यथा फिर उसकी प्रामाणिकता ही क्या रह जायेगी ? अथवा दमयन्ती यह कहना चाहती है कि वह जो कह रही है, वह पूर्ण सत्य और प्रामाणिक है, वेद के समान, जिसमें अज्ञानादि व्यभिचार-कारणों की आशंका ही नहीं की जा सकती। जो वाणी अव्यभिचारिणी है—अपरिवर्तनीय। यदि वेद झूठे हैं तो दमयन्ती की वाणी भी। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ७८ ॥

अनैषधायैव जुहोति किं मां तातः कृशानौ न शरीरशेषाम् ?।
ईष्टे तनूजन्मतनोस्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्स एव ॥ ७९ ॥

जीवातु-एवं निजेच्छया नलान्यवरणं निरस्य पित्राज्ञयापि तन्निरस्यति-अनैषधायेति। तातो मम जनकः। 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः। माम् अनैषधाय नैषधान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति काकु, तदा शरीरशेषां मृतां तत्रापि कृशानौ न किं न तु जीवन्तीं नाग्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थः तदग्नेरन्यस्मै देयेति भावः। कुतः ? स जनकः तनूजन्मतनो आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणी'ति शेषे षष्ठी। तथापि शरीरस्य पितृस्वामिकत्वेऽपीत्यर्थः। मत्प्राणनाथस्तु नल एव प्राणानामतज्जन्यत्वादिति भावः। अतो मय्यविश्वासं मा कृथा इत्यर्थः ॥७९॥

अन्वय—तातः शरीरशेषां माम् अनैषधाय जुहोति, कृशानौ एव किं न ? सः तनूजन्मतनोः ईष्टे तथापि मत्प्राणनाथः तु सः नलः एव।

हिन्दी—पिता शरीरमात्रावशेष (मृत) मुझे निषधराजातिरिक्त को देते हैं तो अग्नि को ही क्यों नहीं देते ? वे (पिता) स्वदेह से जन्म पाने वाले देह के स्वामी हैं, तथापि मेरे प्राणों का स्वामी तो वह नल ही है।

टिप्पणी—दमयन्ती का भाव यह है कि पिता जीवित दशा में नलातिरिक्त से उसका विवाह नहीं कर पायेंगे, यदि वे ऐसा करेंगे तो दमयन्ती प्राण दे

देगी और फिर उस शरीरमात्रावशेषा को पिता द्वारा अग्नि मे ही समर्पित किया जो सकेगा। पिता का अधिकार शरीर मात्र पर है, क्योंकि उसे उन्होंने जन्म दिया है, उसे वे ले सकते हैं, किन्तु प्राणो के स्वामी तो नल ही हैं। अत हस को दमयती का विश्वास करना ही उचित है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

जीवातु—फलितमाह–तदेकेति। तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्व तदेव पदम-धिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते परनीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुतैव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भाव। साध्विति सामान्योपक्रमान्नपु सकत्वम्, 'शक्य श्वमासेनापि क्षुन्निवर्तयितुमि'ति भाष्यकारप्रयोगात्। ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तर चेन्नृपान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह–अहेलिनेति। नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थ। तद्वममापि किं युवान्तरेणेति भाव। दृष्टान्तालङ्कार ॥ ८० ॥

अन्वय—तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु, नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ?

हिन्दी—उस (नल) की एक दासी होने के पद से जो उत्कृष्ट मेरे मनोरथ को पूर्ण करने की तुम्हारी भली ही इच्छा है, किन्तु कमलिनी अमृत के आकार भी अहेलि (असूर्य) चद्र का क्या करेगी ?

टिप्पणी—हस ने ७३ वें श्लोक में कहा था कि वह इस सदेहास्पद कार्य-योजना मे नही पडना चाहता, किंतु अन्य किसी दमयती के मनोरथ को वह पूर्ण करेगा। इसी का उत्तर इस श्लोक मे है। दमयती हस को साधुवाद देती बताती है कि वह और कुछ चाहती ही नही, केवल नल की दासी होना उसका अभीष्ट है। भले ही उससे उत्कृष्ट कुछ हो, होता रहे, उससे दमयंती को क्या काम ? चद्र अमृतनिधि है, पर वह सूर्य तो नही है। कमलिनी का क्या इससे सबध ? दृष्टात अलकार ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम्।
चित्ते ममैकस्म नलस्त्रिलोकीसारो निधि- पद्मसुखस्स एव ॥ ८१ ॥

जीवातु—तदिति । तस्मिन्नेवैकस्मिन् लुब्धे लोलुपे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिमपि लब्धुं चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते धनविषयेऽपि मम स नलस्त्रिलोकीसारस्त्रैलोक्यश्रेष्ठः पद्ममुखः पद्मानन एक स नल एव त्रैलोक्यसारः; धनमित्यर्थः । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत पुमान्तर इति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलुब्धे मे हृदि अनर्घं चिन्तामणिम् अपि लब्धुं चिन्ता नास्ति । वित्ते (चित्ते वा) अपि मम स नलः त्रिलोकीसारः पद्ममुखः एक एव ।

हिन्दी—उसी एक में लुब्ध मेरे मन में अमूल्य चिन्तामणि को भी पाने की चिन्ता नहीं है । धन के विषय में भी (अथवा मेरे चित्त में भी) मेरा वह नल त्रिलोकी का सारभूत (सर्वोत्कृष्ट) कमलवदन अकेला ही है ।

टिप्पणी—भाव यह कि नल के अतिरिक्त किसी दुर्लभतम वस्तु को भी पाने की इच्छा दमयन्ती की नहीं है । विद्याधर के अनुसार रूपक और श्लेष ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

जीवातु—श्रुतश्चेति । किं बहुना स नलः श्रुतः दूतद्विजन्मादिमुखादाकर्णितश्च, मोहात् भ्रान्तिवशात् हरित्सु दृष्टः साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रितबुद्धिधारं निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाहं यथा तथा ध्यातश्च । अथाद्य मम तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिरसुव्ययः प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थः । शेषः कार्यशेषः स च तव हस्ते आस्ते त्वदायत्तः तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र श्रवणदर्शनश्रवणमनननिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिर्मुमुक्षोर्देहत्यागो मोक्षो गुर्वायत्त एवेत्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव अभिमाया प्रस्तुतार्थनिष्ठत्वादिति सङ्क्षेपः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—श्रुतः मोहात् हरित्सु च दृष्टः नीरन्ध्रितबुद्धिधारं ध्यातश्च, अद्य मम तत्प्राप्तिः असुव्ययः वा द्वयम् एव शेषः तव हस्ते आस्ते ।

हिन्दी—(उसे दूतमुख से मैंने) सुना है मोह के मारे सब दिशाओं में देखा है और निरन्तर बुद्धिविचारणा से उसी का ध्यान किया है । आज मुझे उसकी प्राप्ति अथवा मेरे प्राणों का नाश—दो ही तुम्हारे हाथ में मेरे लिए रह गये हैं ।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस यदि कुछ करना चाहता है तो दमयंती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिधा द्वारा प्रकृतार्थ का नियन्त्रण हो जाने के कारण ब्रह्म के श्रवण, मनन, निदिध्यासन से सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति दुःखोच्छेद रूप मोक्ष गुरु के अधीन है—यह ध्वनि है। प्रकाशकार ने भी ऐसा ही कहा है—'तत्त्वमसि' इति श्रुतौ तच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मणः प्राप्तिः कस्यचिदेव सुकृतिनो भवति, तथा मम नलप्राप्तिस्त्वत्प्रसादादेव।' विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार॥ ८२॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यम्।
निवार्यतामार्य ! वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये ! भृशं का ?॥ ८३॥

जीवातु—सञ्चीयतामिति। हे हंस ! आश्रुतपालनोत्थं प्रतीज्ञातार्थनिर्वाहणोत्थं नम् 'अङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातमि'त्यमरः। मत्प्राणानां विश्राणनं दानं तज्जञ्च पुण्यं सुकृतं सञ्चीयतां संगृह्यताम्, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम्। अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशमेव मुद्रा औदासीन्यं, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः॥ ८३॥

अन्वय—आश्रुतपालनोत्थं मत्प्राणविश्राणनजं च पुण्यं सञ्चीयताम्, आर्य, वृथा विशङ्का निवार्यताम्, अये भद्रे अपि भृशं का इयं मुद्रा ?

हिन्दी—प्रतिज्ञा पालन से समुत्पन्न, मुझे प्राण दान करने का पुण्य-संचय करो, हे आर्य, व्यर्थ की आशंका छोड़ो, अरे तुमने संदेह रहित (मंगल) विषय में भी यह कैसी उदास मुद्रा बना रखी है ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चय और अनुराग का विश्वास दिलाती दमयंती इस पद्य में यह स्पष्ट करती है कि नल से उसका संबंध कराने में हंस को दो पुण्य मिलेंगे—एक उसने स्वयं जो वचन दिया है, उनका पालन होगा और दो—दमयंती के प्राण बचाने का श्रेय भी हंस को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से सब प्रकार की आशंका और संदेह का परित्याग कर हंस को इस मंगलकार्य-सिद्धि के लिए उदासीनता छोड़ प्रयत्नशील हो जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य छेकानुप्रास अलंकार॥ ८३॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय ! विज्ञ ! याच्ञां कृत्वापि वाक्यं विविधं विधेये ।
यशःपथादाश्रवतापदोत्थात् खलु स्खलित्वास्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

जीवातु—अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्कर विज्ञ ! विशेषज्ञ ! उभयत्र 'इगुपधे'त्यादिना कप्रत्ययः । याच्ञां प्रार्थनां विलङ्घ्य अलं याच्ञाभङ्गो न कार्य इत्यर्थः । विधेये विनीतजने विविधं वाक्यं वक्ता कृत्वापि अलं, तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रवो यथोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः । तस्य भावास्तत्ता सैव पदं पदभेदः तदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला मिथ्यावादविनोदो येन तस्माद्यशःपथात् स्खलित्वा चलित्वा खलु न स्खलितव्यमित्यर्थः अन्यथा हानिः स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये' इत्यमरः । 'अलं खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वे'ति उभयत्रापि क्त्वाप्रत्ययः इह 'न पादादौ खल्वादयः' इति निषेधस्योद्देश्यत्वाभिप्रायत्वात्प्रत्ययस्य खलशब्दस्यानुद्देश्यत्वान्नेव पादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

अन्वय—प्रियविज्ञ, (अथवा प्रिय, विज्ञ,) आश्रवतापदोत्थात् अस्तखलोक्तिखेलात् यशःपथात् स्खलित्वा खलु याच्ञा विलङ्घ्य, विधेये विविधं वाक्यं कृत्वा अपि अलम् ।

हिन्दी—हे प्रिय को भलीभाँति जाननेवाले, (अथवा प्रिय और विज्ञ अथवा 'प्रियेषु विषु ॥'—प्रिय पक्षियों में ज्ञानी,) वचन-पालन-कर्ताओं में पद अर्थात् श्रेष्ठ स्थान से उत्पन्न (अथवा चरण-प्रजात), खलवचनों के खेल से रहित यश के मार्ग से स्खलित हो (हटकर) मेरी याचना का लंघन मत करो और करणीय कृत्य के विषय में भी नानाविध उलटा-सीधा विचार भी छोड़ दो ।

टिप्पणी—नल को विशेषज्ञ के विशेषण से सबोधित करती दमयन्ती उसे चेतावनी देती है कि सज्जन वचन का पालन करते हैं, वे दुष्टों के समान वचन देने को खेल नहीं समझते । प्रतिज्ञा-पालन ही यश का मार्ग है । यदि हंस वचन पालन में उल्टी-सीधी बातें सोचेगा और दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देगा तो वह अयश का भागी होगा । नीर क्षीर-विवेकी हंस तो ज्ञानी और सज्जन माने जाते हैं । विद्याधर ने उल्लेख्य अलङ्कार अनुमान माना है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यार्त्तमुदे दददुभ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।
मह्यं मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मं कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौत ॥ ८५ ॥

जीवातु—स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीवं दददुभ्य स्वप्राणव्ययेन परत्राणं कुर्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थः । 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकु, त्रपाया मन प्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सो तव कीर्त्या धौत शुद्धो धर्मं कराद्धस्तात् भ्रश्यति, न चैतत्सवाहंमिति भाव ॥ ८५ ॥

अन्वयः—ईदृशबद्धमुष्टे तव आर्त्तमुदे स्वजीवम् अपि दददुभ्य त्रपा न, यत् मदीयान् असून् मह्यम् अदित्सो तव कीर्तिधौत धर्मं करात् भ्रश्यति ?

हिन्दी—ऐसे मुट्ठी बाँधे बैठे (कृपण तथा अकर्मण्य) तुम्हे दुःखी जनों (पीड़ितों) की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन भी दे देने वाले (कर्मण्य दानियो) व्यक्तियों के सम्मुख लाज भी नहीं लगती क्योंकि मेरे प्राणों को मुझे ही न देने की इच्छायुक्त तुम्हारे यश से धुला (स्वच्छ) धर्म हाथ से गिर पड़ेगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती कहती है कि उसके प्राण उसे ही न देने वाले हंस के यश और धर्म—दोनों नष्ट हो जायेंगे। इस श्लोक में 'बद्धमुष्टि' शब्द के प्रयोग से चमत्कार आया है। 'मुट्ठी बाँधना' कृपणता का लक्षण भी है और अकर्मण्यता का भी। तो ये दोनों स्थितियाँ हंस के लिए लज्जाजनक हैं। उसे शिबि, रतिदेव तथा हरिश्चन्द्र आदि जैसे वचनपालक और याचकों के कल्याणहित स्वप्राण भी अर्पित कर देने वाले महाजनों का स्मरण करके अपनी अदानशीलता और अकर्मण्यता को त्यागना ही उचित है। कदाचित् वह 'मुट्ठी बाँधे' इसलिए बैठा है कि यश और धर्म उसके खुले हाथ से गिर न जायें, पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि वचन से हटना और याचक को निराश करने वाले 'बद्धमुष्टि' कृपण—अकर्मण्य के यश धर्म नष्ट हो जाते हैं। 'बद्धमुष्टि के कर से गिर जाना' के आधार पर ग्रन्थकार ने यहाँ 'विरोधाभास' का निर्देश किया है। वे 'काकु' का भी निर्देश करके इस अर्थ का भी संकेत

करते हैं कि हंस सब कुछ समझ रहा है कि यश-धर्म इस स्थिति में नष्ट हो जायेंगे । विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीवं त्वयि जीवदेऽपि शुध्यामि जीवाधिकदे तु केन ।
विधेहि तन्मा त्वदृणेष्वशोध्यमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—दत्त्वेति । किं च जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीवं मत्प्राणं दत्त्वापि शुध्यामि आनृण्यं गमिष्यामीत्यर्थः । किन्तु जीवादधिकं प्रियं तद्दे त्वयि केन शुध्यामि ? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थः । तत्प्रति प्राणी मम तु न किञ्चिदस्तीति भाव । तत्तस्मादनावादेव मा त्वदृणेषु अशोध्येषु-ऋणग्रस्ता नखिशुनेव अमुद्रे अपरिमिते दारिद्र्य त्वद्देयवस्त्वभावरूप तस्मिन्नेव समुद्रे । मग्ना विधेहि नलसङ्घट्टनेन मामृणग्रस्ता कुर्वित्यर्थः । अशोध्येषु, मग्नामिति मग्नत्वानुवादेन अशुद्धिविधीयते दरिद्राणामृणमुक्तिर्नास्तीति भाव ॥८६॥

अन्वयः—जीवदे त्वयि आत्मजीव दत्त्वा अपि शुध्यामि, जीवाधिकदे तु केन (शुध्यामि) ? तत् मा त्वदृणेषु अशोध्येषु अमुद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्ना विधेहि ।

हिन्दी—जीवन देने के तेरे ऋण का शोध तो मैं अपना जीवन देकर भी कर लूँगी, परन्तु जीवन से भी अधिक (नल) के दान के ऋण का क्या देकर शोध कर सकती हूँ ? सो तुम ऋण-परिशोधन में असमर्थ रहने के कारण मर्यादाहीन (अपरिमित) दरिद्रता के समुद्र में मुझे मग्न बना दो ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का महत्त्व जीवन से भी अधिक है । जीवनदान का बदला तो जीवन देकर चुकाया जा सकता है, नल-दान मिलने का ऋण तो चुकाया ही नहीं जा सकता । सो हंस ऐसा उपकार करे कि दमयन्ती उसकी सदा ऋणी बनी रहे । विद्याधर ने इस श्लोक में विरोधाभास का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपक का ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पण्यमन्यन्न चेदस्तु तदस्तु पुण्यम् ।
जीवेशदातर्यदि ते न दातुं यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—क्रीणीष्वेति । हे जीवेशदातः प्राणेश्वरद ! मज्जीवितमेव पण्यं क्रेयं वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशाख्यमूल्यदानेन स्वीकुरुष्वेत्यर्थः । अन्यदेतन्मूल्यानुरूपं वस्त्वन्तरं नास्ति चेत्तर्हि पुण्यं सुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुभ्य

दातु न प्रभवामि न शक्नामि तावत्तर्हि यशोऽपि कीर्ति गातु प्रभवामि, ख्यातिसुकृतार्थमेवोपकुरुष्वेत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अन्वय —पण्य मज्जीवितम् एव क्रीणीष्व, अन्यत्, वस्तु न चेत् तत्पुण्यम् अस्तु जीवितेशदाह यदि ते दातु न प्रभवामि, तावत् यश गातुम् अपि (प्रभवामि) ।

हिन्दी—तुम विक्रयार्थ उपस्थित मेरे जीवन का ही क्रय करलो, और विक्रेय वस्तु न हो तो पुण्य तो है ही, हे जीवन के स्वामी के दाता, मैं यदि तुम्हे देने में समर्थ नही हूँ तो यशोगान मे तो समर्थ हूँ ।

टिप्पणी—आशय है कि हस यदि दमयती को नल दान मे ला देगा तो वह उसे प्राणों का अधिकारी मान लेगी, जब चाहे वह दमयन्ती के प्राण माग सकता है । इससे हस को पुण्य होगा और सदा ऋणभग्न रहती दमयन्ती उसका यशोगान करती रहेगी । दमयन्ती नल का सयोजन करके हस को महान् यश प्राप्त होगा । साहित्यविद्याधरी के अनुसार अतिशयोक्ति अलकार ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यानिभ्या कृतज्ञानयवाद्रियन्ते ।
प्राणै पणै स्व निपुण भणन्त क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकार कुर्वित्याह—वराटिकेति । वराटिकोपक्रियया कपर्दिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान् उपकारज्ञान् इभ्या धनिका, 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी'त्यमर । नाद्रियन्ते धनलोभान्नोपकुर्वन्तीत्यर्थ । सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मान निपुण भणन्त, सन्त एते वय त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थ तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणै क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत जनैरित्यर्थ । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽहमुपकर्तव्येति भाव । हन्त हर्षे ॥ ८८ ॥

अन्वय —वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्या न आद्रियन्ते, हन्त, सन्त तु स्व निपुण भणन्त तान् एव प्राणै पणै क्रीणन्ति ।

हिन्दी—एक कौडी बराबर उपकार करने से भी प्राप्य कृतज्ञ जनो का आदर धन के लोभी आदर नहीं करते, किन्तु आश्चर्य है कि सज्जन अपने को उनके अधीन कहते, उन (कृतज्ञो) को ही प्राणो के मूल्य से ही खरीद लेते है ।

टिप्पणी—तात्पर्य यह है कि धन के लोभी अमीर कृतज्ञ का मूल्य नहीं समझ पाते, उनके लिए तो आदर का कारण धन ही होता है। इसके विपरीत सज्जन कृतज्ञ जनों का अत्यन्त आदर करते हैं और यह समझते हैं कि इनका मूल्य तो सामान्य है, थोड़ा सा उपकार करके उनका क्रय बड़ा सस्ता है। इससे दमयन्ती अपने को कृतज्ञ बताती हुई स्वीकार के लिए हंस से आग्रह करती है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ॥ ८८ ॥

स भूभृदष्टावपि लोकपालास्तैर्मे तदेकाग्रधियं प्रसेदे।
न हीतरस्माद्घटते यदेत्य स्वयं तदाप्तिप्रतिभूर्ममाभूः ॥ ८९ ॥

जीवातु—स इति। किञ्च स भूभृन्नलः अष्टावपि लोकपालाः, तदात्मक इत्यर्थः। 'अष्टाभिर्लोकपालानां मात्राभिर्निर्मितो नृपः' इति स्मरणात्। अत एव तदेकाग्रधियं नले एकतानबुद्धिं मे मम तैर्लोकपालैः प्रसेदे प्रसन्नं भावे लिट्। देवता ध्यायतः प्रसीदन्तीति भावः। कुतः ? इतरस्मात् प्रसादादन्यस्मादित्यर्थः। स्वयं स्वयमेवागत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः तत्प्राप्तिलग्नकोऽभूरिति यत् तन्न घटते हि। तत्प्रसादाभावे कुतो ममेदृक् श्रेयः ? इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

अन्वय—सः भूभृत् अपि अष्टौ अपि लोकपालाः, तदेकाग्रधियं मे तैः प्रसेदे, हि यत् स्वयम् एत्य मम तदाप्तिप्रतिभूः अभूः (तत्) इतरस्मात् न घटते।

हिन्दी—वह धरणीधर (राजा नल) भी इन्द्रादि अष्ट लोकपाल रूप है, उस (नल) में ही एकतान बुद्धिवाली (एकाग्रतया अनुरक्ता) मेरे प्रति वे (अष्ट लोकपाल) प्रसन्न हो गये हैं, कारण कि जो तुम अपने आप आकर उस (नल) की प्राप्ति में लग्नक हो गये, वह और (लोकपालातिरिक्त) किसी प्रकार से नहीं घटता।

टिप्पणी—दमयन्ती को जो नल से संयोजना का साधक हंस स्वयं मिल गया, वह सामान्य बात नहीं है। वह दमयन्ती के नल के प्रति एकाग्र अनुराग का प्रमाण है। राजा अष्ट लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होता है, सो नल के माध्यम से अष्ट लोकपाल ही दमयन्ती पर कृपालु हो गये हैं। इसी से यह सब घटित हो रहा है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और अनुमान का निर्देश किया है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्मभुवार्जितस्य भूत्वाऽपि मूलं मयि वीरणस्य ।
भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

जीवातु—अकाण्डेति । हे हंस ! विः पक्षी 'विविष्किरपतत्त्रिण' इत्यमरः । 'रोरी'ति रेफलोपे 'ढ्लोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घः । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अर्जितस्य कृतस्य रणस्य गाढप्रहारलक्षणस्य मूलं हंसानामुद्दीपकत्वेन निदानं भूत्वाऽपि अन्यत्र काण्डो दण्डः तद्वर्जितमकाण्डं यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अर्जितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूलं मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्वं नैषधदातृत्वम् । अन्यत्र उशीरत्वं चेत्यर्थः । हृदः चन्दनलेपकृत्यं शैत्योत्पादनं न कर्ता करिष्यत्येवेत्यर्थः परोपकारशीलत्वादिति भावः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु ।' 'स्याद्वीरणं वीरतरं मूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अभयं नलदं सेव्यमि'ति चामरः वीरणस्येति शब्दश्लेषः । अन्यत्रार्थश्लेषः । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृताप्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हंसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दनकृत्यलक्षणप्रकृतकार्योपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्करः ॥ ९० ॥

अन्वयः—अकाण्डम् एवमपि आत्मभुवा अर्जितस्य रणस्य मूलं भूत्वा अपि विः भवान् नलदत्वम् एत्य हृदः चन्दनलेपकृत्यं न कर्ता ? अथ च—'अकाण्डमेव ' अर्जितस्य वीरणस्य मूलं भूत्वा अपि भवान् न कर्ता ?'

हिन्दी—अनवसर (कौमारावस्था में) ही मेरे प्रति 'आत्मभू' (काम) द्वारा आरोपित युद्ध के मूलकारण होकर भी हंसविहंगम आप नल का देने वाले होकर मेरे हृदय पर क्या चन्दनलेप का कार्य नहीं करेंगे ? अथवा—विधाता द्वारा मेरे निमित्त सृष्ट पर्वरहित वीरणघास (खस खस) के मूल (जड) आप नलदत्व (उशीरता — खस-खस होना) का प्राप्त होकर मेरे (संतप्त) हृदय पर चन्दन का (ठंडा) लेप न करेंगे ? करना ही उचित है ।

टिप्पणी—दमयन्ती पर अनवसर ही कौमारावस्था में ही काम ने युद्ध आरोपित कर दिया है, जिसका कारण है नल का संवाद देने वाला हंस ।

तो उचित यही है कि वह हंस ब्रह्मा द्वारा दमयन्ती के निमित्त ही विशेषतः उत्पादित पर्वरहित खस खस घास के भाव को प्राप्त कर—शीतलता-दायक खस-खस (उशीर) बनकर, विरहसंतप्त दमयन्ती के हृदय पर चन्दन-लेप के समान राजा नल की उपलब्धि कराये। जिसने पीड़ा दी, वही उपचार करे। यही उचित है। हंस ही इस कार्य को सम्पन्न कर सकता है, अन्य कोई नहीं। यहाँ 'वीरण' में शब्द-श्लेष है, अन्यत्र अर्थ-श्लेष। परिणाम अलंकार भी है, क्योंकि 'नलदत्वम् एत्य'—इसमें प्रकृत और अप्रकृत ने अभेदाध्यवसाय द्वारा हंस में आरोप्यमाण उशीर की प्रकृति के साथ तादात्म्य से 'मदनकृत्य'—रूप प्रकृत कार्य में उपयोग है और परिणाम होना ही है आरोप्यमाण की प्रकृतोपयोगिता में। इस प्रकार यहाँ श्लेषोत्थापित-परिणाम होने से संकर है॥ ९० ॥

अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किल स्थैर्यसहे विचारः।
गुरूपदेशं प्रतिमेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जातु न कालमार्तिः॥ ९१ ॥

जीवातु—अलमिति। हे हंस ! विलम्ब्यालं न विलम्बितव्यमित्यर्थः। 'अलङ्खल्वोरि'त्यादिना क्त्वाप्रत्यये ल्यबादेशः। त्वरितुं वेला हि त्वराकालः खल्वयमित्यर्थः। 'कालसमयवेलासु तुमुन्' इति तुमुन्। स्थैर्यंसहे विलम्बसहे कार्ये विचारो विमर्शः किलेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः, तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रग्राहिणी प्रतिमा प्रज्ञा गुरूपदेशमिव आर्त्तिराधिर्जातु कदापि कालं न प्रतीक्षते, कालक्षेपं न सहत इत्यर्थः। उपमार्थान्तरन्यासयोः संसृष्टिः॥९१॥

अन्वय—विलम्ब्य अलम्, हि त्वरितुं वेला, किल स्थैर्यसहे विचार, तीक्ष्णा प्रतिमा गुरूपदेशम् इव आर्तिः जातु कालं न प्रतीक्षते।

हिन्दी—विलंब मत करो, शीघ्रता करने का समय है, जिसमें विलंब सह लिया जाय, उस कार्य में सोच विचार किया जाता है। शिष्य की कुशाग्र तुल्य तीव्र नव-नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा जैसे गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करती, वैसे ही पीड़ा विलम्ब (समय) की प्रतीक्षा नहीं करती।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती अब विरह पीड़ा सहने में असमर्थ है, अतः हंस को अब अधिक सोच-विचार में ऊहापोह में समय बिताना ठीक नहीं। तीक्ष्णबुद्धि कार्य करने में यह प्रतीक्षा नहीं करता कि जब गुरु की

कार्य निर्देश करें, तब वह कुछ करें, वह तो अविलम्ब कार्य में लग जाता है, विलंब उसे सह्य नहीं, ऐसे ही विरह-पीड़ा भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती। मल्लिनाथ यहाँ उपमा अर्थान्तरन्यास की संसृष्टि मानते है, विद्याधर काव्यलिंग उपमा ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृता हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥ ९२ ॥

जीवातु—अथानन्तरकृत्य सविशेषमुपदिशति-अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोकपञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगतः अन्तःपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न याच्यः, दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राज्ञोऽभिहितकर्मत्वम् कुतः ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणामास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः । तेन बलात् कृतो बलात्प्रतिवर्तितो अन्यवधूनिषेधः उदयेत् उत्पद्यत ॥ ९२ ॥

अन्वय—गतेन त्वया शुद्धान्तगतः सः राजा मदर्थम् न अभ्यर्थनीयः, हि तदा प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतः अन्यवधूनिषेधः उदयेत् ।

हिन्दी—यहाँ से जाकर तुम शुद्धान्तनिवास में स्थित उस राजा से मेरे निमित्त प्रार्थना न करना क्योंकि उस समय प्रिय रानियों के मुख सम्मुख होने से उत्पन्न दक्षिणभाव के अनुरोध से और एक पत्नी के विषय में नकारात्मकता उठ सकती है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने हंस को सलाह दी कि जब राजा नल अन्तःपुर में अन्य रानियों के साथ बैठे हों तो वहाँ वह दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उपस्थित न करे, क्योंकि यह उचित न होगा। कारण कि नल हैं दक्षिण नायक—सब प्रियाओं में एक-सा अनुराग रखनेवाले, उनको अपनी प्रियाओं का मुख देखते ' अपने दक्षिणभाव के कारण एक और पत्नी लाने का प्रस्ताव अनुकूल न लगेगा। राजा के मन में दो भाव उत्पन्न होंगे—एक तो और एक पत्नी लाने के संबंध से लज्जा, दो—समक्ष उपस्थित प्रियाओं से अधिक सुन्दरी की कल्पना के कारण उनकी अवज्ञा समझी जाने से उनके प्रति प्रीति का अभाव प्रकट होना। उस स्थिति में हंस का दमयन्ती विषयक प्रस्ताव उचित न होगा। काव्यलिंग अलंकार ॥ ९२ ॥

शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥९३॥

जीवातु—शुद्धान्तेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तःपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्ततुष्टे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निवेदितव्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमदे'त्यादिना सोपसर्गस्य निषेधात् । तथाहि अपां तृप्ताय जलैस्तृप्ताय जनाय । 'पूरणगुणे'त्यादिना षष्ठीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् षष्ठी 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्मधुरा सुगन्धिः कर्पूरादिवासना शोभनगन्धा । अत्र कवीनां निरङ्कुशत्वादुपमानत्वे उदकान्तत्व-नियमानादरः । तुषारा शीतला वारिधारा न स्वदते न रोचते हि । दृष्टान्ता-लङ्कारः ॥ ९३ ॥

अन्वय—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यम्, हि अपां तृप्ताय स्वादुः सुगन्धिः तुषारा वारिधारा न स्वदते ।

हिन्दी—जब निषधराज शुद्धान्तपुर में सम्भोग करके परितुष्ट हों, तब भी यह कार्य (विवाह-प्रस्ताव) न करना, क्योंकि जो जन जल पीकर पूर्ण तृप्त हो चुका है, उसे स्वादिष्ट, सुगन्धि और अति शीतल जल की धारा में भी स्वाद नहीं आता ।

टिप्पणी—एक दूसरे अनवसर की ओर संकेत । जो नारी भोग से तृप्त हो, उसे स्त्री-चर्चा वैसे ही अरुचिकर लगती है, जैसे जिसकी प्यास बुझ गयी है, उसे स्वादिष्ट, कर्पूर-केवड़ा आदि की सुगन्ध से युक्त अति शीतल जल भी नहीं रुचता । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास माना है ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ! ॥ ९४ ॥

जीवातु—विज्ञापनीया इति । हे हंसकुलावतंस ! नैषधस्य हृदि हृदये क्रुधा क्रोधेन कदुष्णे ईषदुष्णे चकारात्को कदादेशः । मदर्था मदर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या, गिरो वाचो न विज्ञापनीया न निवेद्याः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रस-नेन्द्रिये सिता शर्करापि तिक्तायते तिक्तीभवति लोहितादित्वात् क्यष्, 'वा क्यषः' इति आत्मनेपदम् । अत्रापि दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९४ ॥

अन्वय —हसकुलावतस , नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे त्वया मदर्था गिर. न विज्ञापनीया रसने पित्तेन दूने सिता अपि तिक्तायते ।

हिन्दी—हे हसवंशप्रसूत, निषधराज का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर तुम मेरे निमित्त वचन न कहना, जीभ के पित्त बिगडने से दूषित होने पर मिसरी भी तीती लगती है।

टिप्पणी—तीसरे अनवसर की चर्चा । क्रोध मे व्यक्ति को उचितानुचित का भान नही रहता, सो जब निषधराज कुछ क्रुद्ध हों, तब भी दमयन्ती-विषयक चर्चा का कुफल हो सकता है । यद्यपि दमयती रूपगुणसपन्ना अनुपम रमणीरत्न है, फिर भी उचित अवसर का अभाव उसे अवमानना योग्य बना सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात अलकार, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास माना है और 'तिक्तायते' को उपमा कहा है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्थयाच्ञा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्त ।
तदार्थितस्यानवबोधनिद्रा- बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

जीवातु—धरेति । तुर त्वरित सहयत्यभिभवत्यरीनिति तुरापाडिन्द्र-सहतेश्चौरादिकत्वात् क्विप्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घं , प्रकृतिग्रहणे ण्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धमोऽन्तु तुराषब्द टाबन्तमाह । तस्मिन् धरा-तुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाड् परत्वात् 'सहे साड स' इति षत्व नास्ति । कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्थयाच्ञा मत्प्रयोजनप्रार्थना न कार्या । तथाहि—तदा व्यासङ्गकाले अर्थितस्य अनवबोध अबोध ॥ एव निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञान बिभर्ति, अनादर-प्रतीतिं करोतीत्यर्थं । तच्चातिकष्टमिति भाव ॥ ९५ ॥

अन्वय.—धरातुरासाहि कार्यान्तरचुम्बिचित्ते मदर्थयाच्ञा न कार्या, तदा अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाचरणस्य मुद्रा बिभर्ति ।

हिन्दी—धरती के इन्द्र (नल) का चित्त जब अन्य कार्य मे तल्लीन हो, तब भी मेरे निमित्त याचना न करना, उस समय याचित (नल) की अबोध रूप—अनवगमरूप निद्रा अवहेलना का रूप धारण कर सकती है ।

टिप्पणी—एक चौथा अनवसर । अन्य कार्यासक्त नल भी दमयन्ती-

विषयक प्रार्थना के लिए उपयुक्त न होगा । दूसरे काम में चित्त के आसक्त होने पर वह इस प्रार्थना पर ध्यान न दे सकता है और प्रस्ताव की अवज्ञा हो सकती है । विद्याधर के अनुसार उल्लेख अलङ्कार काव्यलिङ्ग । इस प्रकार चार श्लोकों में दमयन्ती ने प्रस्ताव के निमित्त चार अननुकूल अवसरों का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यमिदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयास्मिन् समयं समीक्ष्य ।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योः कार्यस्य कार्यस्य शुभा विभाति ॥९६॥

जीवातु—विज्ञेनेति । तस्माद् त्वया विज्ञेन विवेकिना त्वया समयं समीक्ष्य इव कालेऽस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम् । विलम्बे स्वाभिप्रायमुद्घाटयितुमाह—आत्यन्तिकेति । हे हंस ! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योर्मध्ये कार्यस्य विदुषस्ते का कतरा शुभा समीचीना विभाति ? अत्यन्तासिद्धेः कालविलम्बेनापि कार्यसाधनमिति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मात् विज्ञेन त्वया समयं समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरेन्द्रे विज्ञाप्यम् । कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्ध्योः कार्यस्य का शुभा विभाति ?

हिन्दी—अतएव विवेकज्ञ आप उचित समय की प्रतीक्षा कर यह (प्रस्ताव) इस नरपति (नल) के सम्मुख उपस्थित करें । कार्य सर्वथा सिद्ध ही न हो अथवा विलम्ब से सिद्ध हो—इन दोनों स्थितियों के मध्य कौन-सी स्थिति आपको शुभ (अच्छी) प्रतीत होती है ?

टिप्पणी—कार्य की दो स्थितियाँ सम्भव हैं—(१) वह सम्पन्न न हो, (२) वह विलम्ब से सम्पन्न हो । कोई समझदार मानेगा कि पहिली की अपेक्षा दूसरी ही स्थिति अच्छी है । सो हंस को अपना प्रस्ताव उचित अवसर पर ही रखना चाहिए, भले ही कुछ विलम्ब हो जावे । विद्याधर के अनुसार उल्लेख अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ९६ ॥

इत्युक्तवत्या यदलोपि लज्जा सानौचिती चेतसि नश्चकास्तु ।
स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—इतीति । इत्यमुक्तवत्या तथा लज्जा अलोपित्यक्तेति यत् । सा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, अनौचिती अनौचित्यङ्गतमेतत् नोऽस्माक शृण्वता चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मर साक्षी प्रमाण, य स्मर ता भैमीमुन्माद्य उन्मादावस्था प्राप्यैततदनुचित वचनमवीवन्त् वादयतिस्म । वदतेर्णौ चङि 'गतिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुं कर्मत्वम् । प्रकृतिस्थस्याय दोषो न दामोपहतचेतसि इति भाव ॥९७॥

अन्वय —इति उक्तवत्या यत् लज्जा अलोपि सा न चेतसि अनौचिती चकास्तु, तु तददोषतायां स्मर साक्षी, य ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत् ।

हिन्दी—यह सब (उपर्युक्त) कहती दमयती ने जो लज्जा का लोप कर दिया, वह भले ही हम लोगों के चित्त मे अनुचित प्रतिभासित हो, किन्तु उस (दमयती) की निर्दोषता मे काम ही प्रमाण है, जिसने उसे उन्माद मे भरकर यह कहलाया ।

टिप्पणी—लज्जा त्याग कर वाला दमयन्ती जो यह सब बोल गयी, वह श्रोता, पाठक अथवा कवि को अनुचित लग सकता है, पर दोष उसका नहीं उस काम का है जिसके कारण उत्पन्न उन्माद ने उससे यह कहला डाला । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसीमा मुदमुद्वहेते ।
पूर्वस्स्मरस्पर्धितया प्रसून नून द्वितीयो विरहाधिढूनम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—कामो वा विमर्यमेव कारयतीत्याचक्षूप तस्याय निसर्गो यदुन्मत्तेन क्रीडतीति सदृष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हर स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य असीमा दुरन्ता मुदमुद्वहेते दधतु । वहे स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् किन्तु तत्र निर्देशक्रमात् पूर्वो हर स्मरस्पर्धितया स्मरद्वेषितया प्रसून धुत्तूरकुसुम तस्यायुधतयेति भाव । अयस्तु द्वितीय स्मरस्तु विरहाधिढून विरहव्यथादु स्थमुन्मादावस्थापन्नमित्यर्थं । अयत्र विनोदलाभादित्यर्थ । 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरमुचुकुन्दयोरि'ति विश्व । उभयोरभेदाध्यवसायात् समानधर्मत्वविशेषणमाहात्म्यात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उभयश्लेष तेन हरवत् स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

अन्वय —परस्परस्पर्धितया नूनं हरः स्मरः च द्वौ अपि उन्मत्तम् आसाद्य असीमां मुदम् उद्वहेते, पूर्वः प्रसूनं द्वितीयः विरहाविद्धजनम्।

हिन्दी—अन्योन्य के प्रतिस्पर्धी होने के कारण महादेव शिव और काम ये दोनों ही ऐसा लगता है कि उन्मादी को प्राप्त कर असीम प्रसन्नता-धारण करते हैं। इनमें पहिले शिव उन्मत्त अर्थात् धतूरे के फूल को, और दूसरा काम उन्मत्त अर्थात् विरहोन्मादी जन को अथवा शिव के गण पिशाच को (प्राप्त कर)।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती के उन्मादजनित निर्लज्ज व्यवहार का कारण स्मर बताया गया था। यहाँ कवि और-एक सम्भावना करता है। उन्मत्त का अर्थ उन्मादग्रस्त तो है ही, धत्तूर और पिशाच भी है। इस आधार पर कवि संकेत करता है कि शिव और काम दोनों 'उन्मत्त' को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं। उन्मत्त-धतूरा शिव को प्रिय है और उन्मत्त पिशाच तो उनका गण ही ठहरा। सो दोनों की प्राप्ति पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है। प्रतिस्पर्द्धा की बात यहाँ यह है कि शिव-काम में शत्रुभाव है, सो 'उन्मत्त' को प्राप्त कर दोनों में प्रसन्न होने की भी प्रतिस्पर्धा हो जाती है कि कौन अधिक प्रसन्न हो? उन्मत्त 'धत्तूर' काम का एक बाण ही है, सो उसकी प्राप्ति उसकी प्रसन्नता का कारण होगी ही, 'उन्मत्त' व्यक्ति इसलिए उसकी प्रसन्नता का कारण बनता है कि वह अपने प्रभाव की सिद्धि देखता है।

अथवा शिव काम के आयुध-प्रतिस्पर्द्धी के अस्त्र 'धत्तूर' को पाकर प्रसन्न होते हैं कि चलो, शत्रु की वस्तु पर अधिकार हुआ। ऐसे ही काम भी 'उन्मत्त' अर्थात् पिशाच को पाकर प्रसन्नता से भर जाता है कि चलो, शत्रु का एक सेवक पकड़ में आया।

अथवा दोनों ही परस्पर स्पर्द्धा में उन्मत्त को पा एक-दूसरे से अधिक प्रसन्नता व्यक्त करते हैं।

'विश्व' कोष के अनुसार 'उन्मत्त' के अर्थ हैं उन्मादी और धत्तूर और मुचुकुन्द। इस प्रकार दोनों में अभेद होने से समानधर्मत्व विशेषणभाव है, इस प्रकार प्रकृताप्रकृत गोचर होने से यहाँ शब्द और अर्थ श्लेष हुआ, जिससे

हर के तुल्य स्मर भी उन्मत्तप्रिय है, यह उपमा व्यग्य होती है। यह जीवातु-कार मल्लिनाथ का कथन है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा व्यतिरेक अलकार है ॥९८॥

तयाऽभिधात्रीमथ राजपुत्री निर्णीय ता नैषधबद्धरागाम् ।
अमोचि चञ्चूपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूय ॥ ९९ ॥

जीवातु—तयेति । तथाऽभिधात्री ता राजपुत्री भैमी नैषधे नले बद्धरागा निर्णीय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूय चञ्चूपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्व-ममोचि आबादीदित्यर्थ ॥ ९९ ॥

अन्वय—अथ तथा अभिधात्री ता राजपुत्री नैषधबद्धरागा निर्णीय तेन विहायसा विहस्य भूय चञ्चुपुटमौनमुद्रा अमोचि ।

हिन्दी—इसके अनतर उस प्रकार कहनेवाली उस राजकुमारी को निषध-राज के अनुराग मे आबद्ध मानकर उस पक्षी ने हँसकर पुन अपनी चोच की मौनस्थिति का परित्याग किया, अर्थात् कहने के लिए चोच खोली ।

टिप्पणी—हस को दमयन्ती के नल पर अनुरक्त होने का विश्वास हो गया और वह कहने लगा । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है और छेकानुप्रास अलकार ॥९९॥

इद यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्व पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

जीवातु—इदमिति । हे क्ष्मापतिपुत्रि ! इद त्वदुक्त तत्त्व यदि सत्य यदि तर्हि अस्मिन् विषये स्वविधेय मत्कृत्य न पश्यामि, किन्तु त्वा नृप च उच्च-कैरत्यन्त तापयता पञ्चेषुणैव इय योजना युवयो सङ्घटना अजनि जाता । जने कर्मणि 'चिणो लुक्' ॥ १०० ॥

अन्वय—क्ष्मापतिपुत्रि, यदि इद तत्त्व तत् अस्मिन् स्वविधेय न पश्यामि, त्व नृप च उच्चकै तापयता पञ्चेषुणा एव इय योजना अजनि ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी की बेटी, यदि यह (सबोक्त) सत्य है, तो इस सबध मे मुझे कुछ करणीय नही दीखता, तुम्हे और राजा नल को अत्यधिक विरह सतप्त करते पञ्चबाण (काम) ने ही इस योजना की सृष्टि की है ।

टिप्पणी—दमयन्ती और नल के मन में एक-दूसरे को पाने की उदम्य कामना है, अतः हंस का कार्य अब कुछ रह ही नहीं जाता। योजना तो बनी-बनायी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ कार्यकारण पौर्वापर्यरूपा अतिशयोक्ति है ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणा तस्योपवासव्रतिना तपोभि ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजा स्व देवभूय चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

जीवातु—त्वदिति। किन्तु त्वद्बद्धबुद्धे त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव ध्यायत इत्यर्थ । अत एव तस्योपवासव्रतिना त्वदासङ्गाद्विषयान्तरव्यावृत्ताना तपोभिरुक्तोपवासव्रतरूपैरद्य त्वा लब्ध्वा मन्मुखेन लब्धप्राया निश्चित्य साक्षात्करिष्यतीति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजा बहिरिन्द्रियाणा स्व स्वकीय देवभूय देवत्वमिन्द्रियत्व सुरत्वञ्च, 'देव सुरे राज्ञि देवमाख्यात-मिन्द्रियमि'ति विश्व । चरितार्थ सफलमस्तु । अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्व स्यादिति भाव । अर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ १०१ ॥

अन्वय.—त्वद्बद्धबुद्धे तस्य उपवासव्रतिना तपोभि अद्य त्वा लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजा बहिरिन्द्रियाणा स्व देवभूय चारितार्थम् अस्तु।

हिन्दी—तुम्हारे प्रति अपनी बुद्धि को प्रतिबद्ध किये उस (नल) की उपवास-व्रत में लगीं, तपश्चरण द्वारा आज तुमको प्राप्त कर अमृतपान की परितृप्ति की भाजन बाह्य इन्द्रियों का अपना 'देवत्व' (इन्द्रियत्व और देवता होना) सफल हो।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग के विषय में जानकर नल चरितार्थ हो जायेगा, उनकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियाँ तृप्त हो जायेंगी, जैसे दमयन्ती के रूप में उन्हें अमृत की मन्दाकिनी मिल गयी हो। इस प्रकार उनका देवत्व अर्थात् इन्द्रिय-होना ही चरितार्थ न होगा, प्रत्युत देवत्व अर्थात् देव होना भी सफल हो जायेगा, क्योंकि यह माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता का वास होने से वे 'देव' कही जाती हैं। उदाहरणार्थ—सूर्य 'चक्षु' होकर आँखों में प्रविष्ट है—'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्' (ऐतरेय० २।४)। दमयन्ती के अभाव में नल की इन्द्रियाँ न तो कृतार्थ ही थीं और न उनका 'देव' नाम ही

सार्थक था, जब वे कृतकाम होंगीं। 'विश्व' कोष के अनुसार 'देव' शब्द सुर, राजा और इन्द्रिय अर्थों का वाचक है। क्वचित् उपवासादि व्रत-परिचालन में लगकर तपस्यारत हो और तल्लीन भाव से ब्रह्म में बुद्धि लगाकर ही पुण्य भाजन हो ब्रह्म को प्राप्त करता है और मोक्षानंद रूप देवत्व प्राप्त करता है, ऐसी ही नल की बाह्येन्द्रियों की स्थिति है। मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थान्तर प्रतीति से ध्वनि का संकेत किया है, विद्याधर समासोक्ति मानते हैं ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोर्मूर्तिरभून्मदीया दग्धा परं साऽस्य न ताप्यतेऽपि।
इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

जीवातु—मदुक्त नृप पञ्चे पुष्पापयतीति तदाह—तुल्येति। आवयो-र्नलस्य मम चेत्यर्थः। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति सर्वग्रहणात्त्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेषः। मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत्। तत्र मदीया सा मूर्तिः परं निःशेषं दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुर्न ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा। अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थः। तस्य नलस्य देहतापं विधत्ते। तस्मात्सिद्धिपदमुपविष्टते ते मनोरथ इति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वय—आवयोः मूर्तिः तुल्या अभूत्, मदीया दग्धा परम् अस्य सा ताप्यते अपि न—इति अभ्यसूयन् इव अतनुः त्वद्विरहात् तस्य देहतापं विधत्ते।

हिन्दी—हम दोनों (काम-नल) का रूप समान था, मेरा (काम का) देह तो जल गया, किन्तु इस (नल) का देह तपाया भी नहीं जाता—इस प्रकार मानो ईर्ष्या करता अदेह कामदेव तेरे वियोग से उसके देह को तप्त कर रहा है।

टिप्पणी—विरही नल की स्मरजन्य ताप दशा का व्याज से वर्णन। विद्याधर ने यहाँ चिन्ता नामक स्मर दशा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, प्रकाशकार यहाँ कामजनित विरहज्वर मानते हैं ॥ १०२ ॥

लिपिं दृशा भित्तिविभूषणं त्वां नृपः पिबन्नादरनिर्निमेषम्।
चक्षुर्नरैरर्पितमात्मचक्षूरागं स धत्ते रचितं त्वया नु ॥ १०३ ॥

जीवातु—अथास्य दशावस्था वर्णयन् चक्षुःप्रीतिं तावत् श्लोकद्वयेनाह—

भित्तिमित्यादि। हे भैमि! स नृपो भित्तिविभूषण कुड्यालङ्कारभूतां लिपिं चित्रमयीं त्वां दृशा आदरेणास्यया निर्निमेषं पिबन् चक्षुर्नीरैरश्रुभिरर्पितं त्वया नु त्वत्ता वा रचितमात्मचक्षुषो रागमात्मानमनुरागञ्च धत्ते। अत्रानेककारणसम्भवादुभयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैकत्वाध्यवसायात्कारणविषये सन्देहः॥

अन्वयः—स नृप भित्तिविभूषण लिपि त्वां दृशा आदरनिर्निमेष पिबन् चक्षुर्नीरैः अर्पित नु त्वया रचितम् आत्मचक्षुराग धत्ते।

हिन्दी—वह राजा दीवार की अलंकार चित्ररूप में बनी (दीवार पर बने चित्र रूपमें) तुमको दृष्टि से आदर पूर्वक बिना पलक लगाये पीता हुआ (एकटक आदर-अनुराग से देखता) आँखों से बहती आँसू की झड़ी से जनित मानों तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किये—अपने नेत्रों में लाली को धारण कर अपनी आँखों के अनुराग प्रकट कर रहा है।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के 'चक्षु-प्रेम' का वर्णन है। वह दीवार पर बने दमयन्ती के चित्र को अनुराग और आदर से एकटक निहारता रहता है, जिससे उसकी आँखों से आँसू बह जाते हैं और वे लाल हो जाती हैं, इसी पर कवि की कल्पना है कि नेत्रों का यह एकटक निहारना, आँसू बहाना और लाली उसके 'चक्षु-प्रेम' का प्रमाण है। कवि-समय के अनुसार अनुराग का रंग लाल माना जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ संदेह अलंकार है, क्योंकि चक्षुराग का कारण एकटक निहारना अथवा अनुराग—दोनों हो सकते हैं। विद्याधर नयन प्रीति और विषय निवृत्ति स्मर-दशा मानते हुए उत्प्रेक्षा अलंकार मानते हैं। प्रकाशकार ने उत्प्रेक्षा का कारण माना है कि बाष्पजनित-लौहित्यमा मानों दमयन्ती विषयक, तद्रचित नयनानुराग है। प्रथम काम दशा। 'रतिरहस्य' के अनुसार दस काम-दशाएँ हैं—'नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः। निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः। उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः'॥ १०३॥

पातुं दृशाऽऽस्ये त्वमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमेषयाऽर्जन्ति।
मर्मेदमित्युग्मजनि नेत्रवृत्ते प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवादः॥ १०४॥

जीवातु—इममेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—पायुरिति । अस्तनिमीलया निर्निमेषया दृशा आलेख्यमयी चित्रगतां त्वामादरात्पातुर्द्रष्टुरित्यर्थः पिबतेस्तृन् प्रत्ययः । अत एव 'न लोके'त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्त्वमिति द्वितीया । नृपस्य नेत्रवृत्ते प्रीतेश्चक्षुःप्रीतेर्निमेषस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेषः । भिदादित्वादङ् प्रत्ययः । अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवादः कलहः अस्ति भवतीत्यर्थः ॥ १०४ ॥

अन्वय—अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयीं त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य नेत्रवृत्ते प्रीते निमेषच्छिदया विवादः अस्ति ।

हिन्दी—अपलक दृष्टि से चित्रगता (चित्र में बनी) तुमको आदर से पीते (निहारते) राजा के नेत्रों में वर्तमान अनुराग का निमिषच्छिदा (अपलक देखना) से विवाद चल रहा है ।

टिप्पणी—नेत्रानुराग का अन्य भंगिमा से वर्णन । नेत्रप्रीति और निमिषच्छिदि—दोनों का दावा है कि नयनाश्रु का कारण वह है । नेत्र प्रीति कहती है—ये आँसू मैंने उत्पन्न किये हैं, निमिषच्छिदि कहती है मैंने । यहाँ भी 'नयनप्रीति' काम दशा का ही वर्णन है ॥ १०४ ॥

त्वं हृद्गता भैमि ! बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या ।
न चित्तमाक्रामसि तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

जीवातु—अथ मन सङ्गमाह—त्वमिति । हे भैमि ! त्वं बहिर्गताऽपि हृद्गता अन्तर्गता, अति विरोधे तेन चाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । कया गत्या केन प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे' कर्तुं क्यङ् प्रत्ययः । नासि अस्येवेत्यर्थः । यतः प्राणोऽपि नासिक्या नासाद्वारेण आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यन्तर्गतो भवतीति शब्दश्लेषः । अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन सङ्कीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्चर्यरसः चित्तमाक्रामसि न किञ्चिच्चित्रमित्यर्थः । कुतः यस्मादेतन्मनो नलचित्तं भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका यस्य तद्भवदेकवृत्ति, भवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । जीवितभूतस्य प्राणायितत्वे किं चित्रं, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भावः ॥

अन्वयः—हे भैमि, (१) बहिर्गता अपि हृद्गता त्वं कथं गत्वा अन्यप्राणापिता न असि ? (२) बहिर्गता त्वं नासिकया आस्यगतया अपि प्राणापिता। (१) यत् भवदेकवृत्ति एतत् मनः चित्रम्, न आक्रामति तत् चित्रम्। (२) चित्रं तत्र चित्तं न आक्रामति यत् एतत् मनः भवदेकवृत्तिः।

हिन्दी—हे भीमकुमारी, (१) बाहर रहती भी हृदय में बसती तुम किस प्रकार इस (नल) को प्राणतुल्या नहीं हो ? हो ही। (२) बाहर निवास करती तुम नासिका और मुख की गति (सौन्दर्य) से नल के प्राणों में स्थित हो अर्थात् प्राणतुल्या हो, जैसे नासिका द्वारा बारह अंगुल बाहर गया वायु मुख द्वारा प्रविष्ट हो प्राणवायु की संज्ञा पाता है। (२) यों कि आपके प्रति एकनिष्ठ यह मन चित्रवत् अचंचल, आपके चित्र पर झपट क्यों नहीं कर देता—यह आश्चर्य है (विरह चपल हो आक्रमण कर देना चाहिए)। (२) तुम्हारा चित्र चित्त को नहीं छोड़ता, क्योंकि यह मन आपमें तल्लीन है।

टिप्पणी—तृतीय चरण में 'चित्तम्' भी है और पाठान्तर 'चित्रम्' भी। वस्तुतः इसमें दूसरी स्मरदशा चित्तासंग का वर्णन है, जिसमें मन की दमयन्ती के प्रति तन्मयता और एकनिष्ठता का विवेचन है। विद्याधर ने यहाँ विषय-निवृत्ति और संकल्प नामक कामदशाओं का प्रतिपादन माना है तथा विरोधाभास-श्लेष-उपमा की संसृष्टि ॥ १०५ ॥

अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानततिं तदीयाम्।
श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥ १०६ ॥

जीवातु—अथ द्वाभ्यां सङ्कल्पावस्थामाह—अजस्रमिति। दूरदीर्घाम् अत्यन्तायतां तदीयां सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् ततिं पङ्क्तिम् अजस्रं त्वमारोहसि, श्वासान् पुनः स नलः अधिकं वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् तन्मयता त्वदात्मकत्वमाप्य प्राप्य, आप्नोतेराङ्, समासे क्त्वो ल्यबादेशः, अन्यथा कथमन्यारोहणादन्यस्य श्वासमोक्ष इति भावः। अत्र श्वास-मोक्षणारोहणयोः कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वोक्तेरसङ्गत्यलङ्कारः 'कार्यकारणयो-

भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरि'तिलक्षणात् तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ १०६ ॥

अन्वय —दूरदीर्घां त्वदीया सङ्कल्पसोपानततिम् अजस्रम् आरोहसि यत् पुनः स तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिक श्वासान् वर्तते ।

हिन्दी—तुम उस (नल) के मनोरथों की बहुत बड़ी सीढ़ियां पर निरन्तर चढ़ी रहती हो (नल प्रतिक्षण तुम्हारे विषय में ही विचारता रहता है) कि वह नल तुम्हारे ध्यान में उस समय त्वत्स्वरूप हो लम्बे लम्बे साँस छोड़ता है ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय स्मरदशा सङ्कल्प का वर्णन है । नल दमयन्ती को प्राप्त करने के उपाय सदा सोचता रहता है और लम्बे नि श्वास छोड़ता रहता है । वह दमयन्ती का ध्यान करते-करते तत्स्वरूप ही हो जाता है भृङ्गीकीट के समान । सीढ़ियां पर बारम्बार चढ़ता-उतरता व्यक्ति श्रम के कारण लम्बे उच्छ्वास लेता हो, तो सङ्कल्पसोपानतति पर निरन्तर आरोहण करती दमयन्ती के ध्यान में तद्रूपता के कारण मानो थका नल सतत उच्छ्वासें छोड़ता रहता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्वास-सोपानारोहण रूप कार्य-कारणों की वैयधिकरण से उक्ति के आधार पर असङ्गति अलङ्कार है, कारण कि कार्य-कारण की भिन्न-देशता असङ्गति होती है—कार्य कहीं, कारण कहीं । नल के दमयन्ती-तादात्म्य की उत्प्रेक्षा असङ्गतिमूलक है, अतः सङ्कर है । विद्याधर के अनुसार यहाँ असङ्गति अलङ्कार का आभास है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य या मन्त्रयते रहस्त्वा तां व्यक्तमामन्त्रयते मुखं यत् ।
तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचिती सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

जीवातु—हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदयं कर्तृ या त्वां रहः उपांशु 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । मन्त्रयते सम्भाषते तां त्वां तन्मुखं कर्तृ व्यक्तं प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिये ! क्व यासि ? मामनुयान्ति पश्य इत्येवमुच्चैरुच्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशनं, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वैरिणो नलद्वेषिणः पुष्पायुधस्य मित्रं सखा यश्चन्द्रः । तेन यत् सख्यं मैत्री सादृश्यञ्च, तस्य औचिती औचित्यं खलु । अरिमित्रस्याप्यरित्वा-

दुश्चिन्तनेनतद्रहस्यभेदनमित्यर्थः । अत्र मुखस्येन्दुत्वोत्प्रेक्षणाच्चन्द्रस्य च कन्दर्पमित्रत्वेन तद्वैरिणि वैरनिमित्तत्वमुत्प्रेक्षितं ॥ १०३ ॥

अन्वय —तस्य हृद् या त्वां रह मन्त्रयते तां मुखं व्यक्तम् आमन्त्रयते, तात्, तदुमुखस्य तद्वैरिपुष्पायुधमित्रचन्द्रस्य औचिती खलु ।

हिन्दी —उस (नल) का हृदय जो तुमसे एकान्त में गुप्त मन्त्रणा करता है, मुख उसे स्पष्ट व्यक्त कर देता है, उस (नल) के मुख भी (स्पष्ट व्यक्ति) उस (नल) के शत्रु कुसुमायुध (काम) के मित्र चन्द्र का मित्रजनोचित करना ही है।

टिप्पणी—यह भी सकरुण दशा है। भाव यह है कि नल तो मन-ही-मन गुप्त रूप से दमयन्ती-विषयक विचार करता है, परन्तु उसके मुख पर झलकते वियोगजनित पीलापन, म्लानभाव आदि उसके भाव को प्रकट कर देते हैं। सौन्दर्यातिरेक श्री के कारण काम नल का प्रतिस्पर्द्धी और शत्रु है, चन्द्र काम का मित्र है। मित्र का शत्रु शत्रु होता है—इस दृष्टि से नल चन्द्र का भी शत्रु हुआ। मुख की प्रतिस्पर्द्धा (मुख-चन्द्र) के कारण भी चन्द्र नल और नल मुख का शत्रु है। अथवा मुख रूप में चन्द्र ही है, जो अपने मित्र (काम) के शत्रु (नल) का रहस्य प्रकाशित कर रहा है और इस प्रकार नल की कामायत्तता की स्पष्ट घोषणा कर रहा है। मुखरूप चन्द्र का इस प्रकार मित्र की सहायता करना मित्रजनोचित व्यवहार है। उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ १०३ ॥

स्मितस्य रात्रावधिगम्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ती।
आलिङ्ग्य या चुम्बति लोचने सा निद्राऽधुना न त्वदृतेऽङ्गना वा॥

जीवातु—अथ एकेन जागरमरतिञ्चाह–स्मितस्येति। रात्रौ शय्यामधिशय्य शय्यायां गत्वा 'अधिशीङ्स्थासां' इति अधिकरणस्य कर्मत्वम्। स्मितस्य तस्य मनो मोहे सुखकारवस्ये निमज्जयन्ती सती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति, सा निद्रा त्वदृते त्वत्तो विना 'अन्यारादितरर्ते' इत्यादिना पञ्चमी। त्वद्विरहार्दितोऽस्त्वदन्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रानिषेधाज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषलक्षणा अरतिश्चोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः प्रस्तुतयोरेवालिङ्गनादिचुम्बनादिधर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलप्रकृतगोचरा-

तुल्ययोगितालङ्कार । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवल तुल्यधर्मत । औपम्य गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥ १०८ ॥

अन्वय —रात्रौ शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मन मोहे निमज्जयन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति सा निद्रा त्वद्दते अङ्गना वा अधुना नास्ति ।

हिन्दी—रात में शय्या पर लेटे उसके मन को मोह मे मग्न करती जो आलिंगन करके नेत्रो का चुम्बन करती है, तेरे बिना वह नींद अथवा अन्य रमणी इस समय नही है । अथवा 'वह नींद रूपी अगना' तेरे बिना इस समय नही आती ।

टिप्पणी—यहां 'निद्राच्छेद' नामक चतुर्थी स्मर दशा का वर्णन है । नल को आजकल दमयन्ती के वियोग मे न तो नींद ही आती है और न अन्य स्त्री ही भाती है । रात भर पलँग पर पडा नल दमयन्ती के विचार ही मे डूबा जागा रह जाता है । आलिंगन-चुम्बनादि धर्मों के साधर्म्य से निद्रा और अगना मे औपम्य की प्रतीति होती है, जो दोनो प्रस्तुत हैं और प्रकृत गोचर हैं, अत-मल्लिनाथ के अनुसार यहां तुल्ययोगिता अलकार है । विद्याधर ने विकल्प अलकार का निर्देश किया है ॥ १०८ ॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणर्लावण्यशेषा कृशतामनायि ।
अनङ्गतामप्ययमाप्यमान स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

जीवातु—अथ कार्श्यावस्थामाह—स्मरेणेति । अय नल स्मरेण बाणै-र्निस्तक्ष्य निशात्य वृथैव लावण्य कान्तिविशेष , 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तर-लत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपाल । तदेव शेषो यस्यास्ता तनुता कार्श्यमनायि नीत । नयतेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लुङ् 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणामि'ति वचनात् । वृथात्व व्यनक्ति—अनङ्गता कृशाङ्गताम् 'अनुदरे'तिवदीषदर्थे नञ् समास , आप्यमानो आनीयमानोऽपि अत्र पूर्ववदप्रधाने शानच् तेन स्मरेण सार्द्धं स्पर्धां न विज-हाति, तथापि त जिगीषत्येवेत्यर्थ । अङ्गकार्श्येऽपि स्पर्द्धाबीजलावण्यस्या-कार्श्यादङ्गकर्शन वृथैवेति भाव । अत एव विशेषोक्तिरलङ्कार , 'तत्सामग्र-यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिरलङ्कृति ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

अन्वय—स्मरेण बाणैः निखनस्य वृथा एव अयं लावण्यशेषा कृशताम् अनायि, अनङ्गताम् आप्यमानः अपि तेन सार्धं स्पर्धां न विजहाति।

हिन्दी—काम ने बाणों से भेद भेद कर व्यर्थ ही इस (नल) को, सौन्दर्य ही जिसमें अवशिष्ट रह गया है (सौन्दर्यविशिष्ट), उस कृशता को पहुँचाया, अशरीरभाव को प्राप्त होकर भी नल ने इस (काम) के साथ स्पर्धा को नहीं छोड़ा।

टिप्पणी—तनुता नामक पंचमी स्मरदशा। काम ने पीडित कर नल को इतना दुर्बल-कृश कर दिया है कि अब उसमें शरीर नाम का कुछ रह ही नहीं गया है, सौन्दर्य ही शेष है। इसमें काम का कोई लाभ तो नहीं हुआ, हाँ 'अनङ्गता' में भी नल इसकी प्रतिस्पर्धा करने लगा। यह हानि ही हुई। अनग होकर भी नल सौन्दर्य समता में काम को पराजित कर रहा है। भाव यह है कि यद्यपि नल अत्यन्त दुर्बल हो गया है, पर उसके सौन्दर्य में रत्ती भर भी न्यूनता नहीं आयी। लावण्य शोभा-विशेष को कहते हैं—'जैसे मोती में छाया की भी एक विशिष्ट तरलता दिखायी देती है, वैसे जो अंगों में प्रतिभासित हो, उसे लावण्य कहते हैं।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०९ ॥

त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत्।
स्मरेण बाणैरतितक्ष्य तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥ ११० ॥

जीवातु—अथ द्वाभ्यां लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि। स्मरेण तीक्ष्णैर्बाणैरतितक्ष्य शरीरमिति शेषः। अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापभीरुत्वनीचत्व-गहत्वप्राज्ञ्यत्वमपि कियानल्पोऽपि लून विनिमितुत्प्रेक्षा, यदस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वत्प्राप्तिसाधनादेनसः पापादपि न त्रस्यति, भीत्रार्थानां भयहेतुरिति अपादानत्वाद् पञ्चमी त्वय्येव दास्येऽपि त्वद्विषयतदास्यविषये न लज्जते ॥ ११० ॥

अन्वय—स्मरेण तीक्ष्णैः बाणैः अतितक्ष्य अस्य स्वभावः अपि किं कियान् लूनः, यत् त्वत्प्रापकात् एनसः अपि न त्रस्यति, त्वयि दास्ये अपि न लज्जते?

हिन्दी—काम ने तीक्ष्ण बाणों से अत्यधिक भेद भेद कर इस (नल) का स्वभाव (प्रकृति-आदत) भी क्या कुछ छिन्न-भिन्न कर डाला है, जो तुम्हें प्राप्त

करा सकने वाले पाप (बलपूर्वक राक्षस विवाहादि) से भी वह नहीं डर रहा है और तेरी दासता करने में भी नहीं लजा रहा है ?

टिप्पणी—'त्रपानाश' नामक सातवीं स्मरदशा। इस समय नल की दशा ऐसी है कि वह दमयन्ती को पाने के लिए राक्षस-विवाह में प्रयुक्त बल प्रयोगादि जैसे पाप भी कर सकता है, इसमें न उसे डर है। और जहाँ तक लज्जा नाश का, निर्लज्जता का प्रश्न है, नल को दमयन्ती का दास होना भी स्वीकार्य है। स्वभावतः नल पापभीरु है, लज्जाशील है, पर ऐसा लगता है कि काम ने उसका स्वभाव भी बदल डाला है। केवल शरीर ही छिन्न भिन्न नहीं किया, प्रत्युत गहरे आघात कर स्वभाव तक छिन्न भिन्न कर डाला। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ११० ॥

स्मार ज्वर घोरमपत्रपिष्णोस्सिद्धागदङ्कारचये चिकित्सौ।
निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजेव लज्जा ॥ १११ ॥

जीवातु—स्मारमिति। घोरं दारुणं स्मारं ज्वरं कर्तुमनसाद चिकित्सौ प्रतिकर्त्तरि कितनिवास इति धातो 'गुप्तिज्किद्भ्यः सनिति निन्दाक्षमाव्याधि-प्रतीकारेषु इष्यते' इति रोगप्रतीकारे सन् प्रत्ययः, 'सनाशंसभिक्ष उः', 'नलोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। सिद्धागदङ्कारचये सिद्धवैद्यसङ्घे कर्मण्यणि 'कारे सत्यागदस्ये'ति मुमागमः। निदानमौनाद्रोगनिदानानभिधानाद्धेतोरपत्रपिष्णो-र्लज्जाशीलस्य 'अलङ्कृञि'त्यादिना इष्णुच्। तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा सङ्क्रमादागता साङ्क्रामिकी रुजेव, 'अक्षिरोगो ह्यपस्मारः क्षयः कुष्ठो मसूरिका। दर्शनात् स्पर्शनाद्दानात् सङ्क्रमति नरान्नरम् ॥ इति उक्तक्षयादि-रोगा इवेत्यर्थः, भिदादित्वादङ् प्रत्ययः, अविशत् ॥ १११ ॥

अन्वय—घोर स्मारं ज्वरं चिकित्सौ सिद्धागदङ्कारचये निदानमौनात् अपत्रपिष्णोः तस्य विशाला लज्जा साङ्क्रामिकी रुजा इव अविशत्।

हिन्दी—दारुण काम ज्वर की चिकित्सा के निमित्त एकत्र सिद्धवैद्य समूह में निदान समय मौन रह जाने से (निदान न कर सकने से) लज्जाशील उस (नल) की विशाल लज्जाशीलता बड़े सांक्रमिक रोग (छूत की बीमारी) की भाँति प्रविष्ट हो गयी।

टिप्पणी—यह भी ज्वरावस्था के प्रसंग में ही कहा गया है। राजा की कृशता आदि रोग की चिकित्सा के लिए बड़े-बड़े सिद्ध वैद्य आये, पर कोई ठीक ठीक निदान न कर सका, अतः वे बेचारे बड़े लज्जित हुए। इसी पर कल्पना की गयी है कि लज्जाशील नल की लज्जा एक छूत के रोग की भाँति वैद्यों को जा लगी। नल तो अपना रोग लज्जाशीलता से कहते नहीं, तो वैद्य कैसे बतायें? फलतः वे लज्जित हुए। प्रकाशकार ने एक और-प्रकार से भाव स्पष्ट किया है—निदान करते समय वैद्यों ने नल से ही रोग-विषय में कुछ पूछा, उस पर नल ने लज्जा छोड़ कह दिया कि यह ज्वर दमयन्ती के कारण है। इस भेद को जान कर अथवा बिना कहे रोग को समझ न सके, इस कारण वैद्य लज्जित हो गये। इस प्रकार लज्जा-रोग का संक्रमण हुआ। कहा गया है कि अक्षि रोग, मिरगी, क्षय, कोढ़ और मसूरिका (चेचक) दर्शन, स्पर्श, दान से एक व्यक्ति से दूसरे को हो जाते हैं। ऐसा भी कहा गया है कि अक्षि रोग, ज्वर, कोढ़ और मिरगी सहभोज आदि के कारण संक्रमित हो जाते हैं—'अक्षिरोगो ज्वरः कुष्ठं तथाऽपस्मार एव च। सह भुक्त्यादिसम्बन्धात्संक्रमन्ति नरान्तरम्' ॥ विद्याधर के अनुसार अपह्नुति-रचना है, क्योंकि वैद्यों में लज्जान्तर का आरोप हुआ है ॥ १११ ॥

बिभेति रुष्टाऽसि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे ।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यहेतोरुक्तस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥११२॥

जीवातु—अथ उन्मादावस्थामाह—बिभेतीति । स नलः अकस्मादकाण्डे रुष्टा कुपितासीति बिभेति, अकाण्डे अनवसरे उपेत्य किल प्राप्येव हसति, अहेतोरकस्माद्यान्तीं गच्छन्तीं किल त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति । सर्वोऽप्ययमुन्मादानुभावः । उन्मादश्चित्तविभ्रमः ॥ ११२ ॥

अन्वय—सः अकस्मात् रुष्टा असि इति बिभेति अकाण्डे उपेत्य हसति किल अहेतोः यान्तीम् त्वाम् अनुयाति इव, त्वया उक्त इव मोघं प्रतिवक्ति ।

हिन्दी—वह (नल) 'कहीं सहसा तुम रुष्ट हो गयी हो', इससे डर जाता है, मानों तुम्हारे निकट पहुँच कर अनवसर पर हँस पड़ता है, अकारण जाती

हुई तेरे पीछे जैसे चल देता है और जैसे तुमने कुछ कहा हो, इस प्रकार व्यर्थ प्रत्युत्तर देने लगता है।

टिप्पणी—आठवीं स्मरदशा उन्माद का वर्णन। वियोगोन्मत्त नल उलटे-सीधे कार्य करने लगता है। उन्माद में चित्त विभ्रम हो जाता है—'उन्मादश्चित्तविभ्रमः।' विद्याधर ने उल्लेख्य अलङ्कार उत्प्रेक्षा माना है॥ ११२॥

भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्यः।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्धपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम्॥ ११३॥

जीवातु—अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति। भवत्या वियोगो भवद्वियोगः, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः'। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्'। आर्तिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुः यमुनाया मूर्च्छामयं मूर्च्छावस्थारूपं यद्द्वीपं तत्र यन्महान्ध्यं महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के महीभृद्भटो राजवीरः स एव कुञ्जरः निःशरण्यो निरालम्बः सन् मज्जति हा हेति खेदे। रूपकालङ्कारः। आर्तिधारायास्तमोविकारत्वेन रूपसाम्याद्यमुनारूपणम्॥ ११३॥

अन्वय—हा, हा, भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुः मूर्च्छामयद्वीपमहान्धपङ्के निःशरण्यः अयं महीभृद्भटकुञ्जरः मज्जति।

हिन्दी—हाय हाय आपके वियोग की अविच्छिन्न दुःख परम्परा रूप यम की भगिनी यमुना के मूर्च्छावस्थारूप महामोहरूप कीचड़ में निराश्रित यह वीर धरणीधर रूपी हाथी धँसा जा रहा है।

टिप्पणी—नवीं मूर्च्छा दशा का विवरण। जैसे यम की बहिन—विनाश स्वरूपा यमुना के दलदल में कोई बड़ा हाथी फँस कर डूबता है, वैसे ही महामूर्च्छा में फँसे नल की खेदजनक दशा है। रूपक अलङ्कार॥ ११३॥

सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु।
दशासु शेषा खलु तद्दशा या तया नभःपुष्प्यतु कोरकेण॥ ११४॥

जीवातु—दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति। सव्यापसव्याभ्यां वामदक्षिणाभ्यां व्यसनान्मोचनात् द्विरुक्तैर्द्विगुणीकृतैर्दशभि-

रित्यर्थः । पञ्चेषुबाणैः पृथगर्जितासु प्रत्येकमुत्पादितासु दशासु 'दृङ्मनःसङ्ग-सङ्कल्पा जागरः कृशताऽरतिः । ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ।' इत्युक्तासु चक्षुःप्रीत्यादिदशावस्थासु शेषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थे-त्यर्थः । तदेव कोरकेण कलिकयेति रूपकम् । नभः, पुष्प्यतु पुष्पितमस्तु । अस्य सा दशा खपुष्पकल्पाऽस्तु, कदापि मा भूदित्यर्थः । तच्च स्वरूपाकीर्तनादिति भावः । पुष्प—विकसने इति धातोर्लोट् ॥ ११४ ॥

अन्वय—सव्यापसव्यध्वसनात् द्विरुक्तैः पञ्चेषुबाणैः पृथक् अर्जितासु दशासु शेषा या तद्दशा तया कोरकेण नभः खलु पुष्प्यतु ।

हिन्दी—सव्य (वाम), अपसव्य (दक्षिण) हाथों से छोड़े जाने के कारण दो गुने (५ × २ = १०) हुए पंचबाण (काम) के बाणों द्वारा पृथक्-पृथक् उत्पादित दशाओं के मध्य (उपर्युक्त दशाओं के बीच) अवशिष्ट जो दशा (दसवीं मरण दशा) है उसकी कोर रूप कली से आकाश निश्चित रूप से फूले ।

टिप्पणी—दशमी अवस्था मरण दशा का चित्रण । काम के पाँच बाण हैं, वह क्रमशः बायें दायें-दोनों हाथों से एक-एक बाण का युगल छोड़ता है, जिससे दो दशाएँ उत्पन्न होती हैं । दसवीं दशा है मरण, जो अवश्य है । इसका वर्णन कवि इस प्रकार करता है कि वर्णन भी हो जाय और उसकी अमङ्गल-मयी, अशुभ उच्चारणीयता न आ सके । वह कहता है कि काम बाणों के अन्तिम युग्म की नोक आकाश में जाकर लगे, जिससे वहाँ फूल खिलें । अर्थात् जैसे आकाश पुष्प नहीं होता, उसी प्रकार निश्चय वह दसवीं मरण-दशा न हो । अशुभ होने से कवि ने मरणदशा का नाम भी नहीं लिया, केवल 'तद्दशा' (वह दशा) कहा । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर, यथासंख्य अलङ्कार ।११४।

त्वयि स्मराधेस्सततास्मितेन प्रस्थापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।
आगत्य भूतस्सफलो भवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥ ११५ ॥

जीवातु—त्वयीति । त्वयि विषये स्मराधेः स्मरपीडाद् हेतोः सतत-मस्मितेन स्मितरहितेन खिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि । अथ आगत्य

गुणलोभवत्या भवत्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूत सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—स्मराधे सतनास्मिनेन तेन भूमिभृता त्वयि प्रस्थापित आगत्य गुणलोभवत्या भवत्या भावप्रतीत्या सफल भूत अस्मि।

हिन्दी—काम रोग से निरन्तर खिन्न होते उस पृथ्वीपति (नल) के द्वारा तुम्हारे पास भेजा गया मैं (यहाँ) आकर गुणों के प्रति लोभ शीला आपके भाव (प्रेम) के विश्वास से सफल हो गया हूँ।

टिप्पणी—हंस कहता है कि उसने नल को दमयन्ती के वियोग में अतीव खिन्न पाया, उसका दौत्य स्वीकार कर वह हंस दमयन्ती के पास पहुँचा कि उसे नलानुरक्त कर सके। परन्तु वहाँ पहुँच कर उसने पाया कि दमयन्ती गुणों का आदर करने वाली है, वह नल पर उसके गुणों के कारण स्वयम् अनुरक्त है। इस प्रकार दमयन्ती का भाव जान कर हंस ने अपने को कृतकाम माना। विद्याधर के अनुसार अनियत-देशावयव यमक अलङ्कार ॥ ११५ ॥

धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिका या यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ ११६ ॥

जीवातु—धन्येति। हे वैदर्भि ! भैमि ! वैदर्भीरीतिरपि गम्यते। धन लब्धा धन्या असि कृतार्थासीत्यर्थः। 'धनगण लब्धे' इति यत्प्रत्ययः। कुतः ? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषे प्रसादादिभिः पार्शैश्चेति गम्यते, नैषधो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीति भावः। समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो, वशीकृत इति भावः। एतेन वैदर्भीत्यादिविशेषणाद् गुणैर्मावुकमिवेत्युपमालङ्कारो युज्यते। तथाहि चन्द्रिका या अब्धिमपि गभीरमपीति भावः। उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि अभ्यधिका स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न कापीत्यर्थः दृष्टान्तालङ्कारः। एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयन्त्याश्चन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

अन्वयः—वैदर्भि, धन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैषधः अपि समाकृष्यत, चन्द्रिकायाः इतः स्तुतिः का स्यात् यत् अब्धिम् अपि उत्तरलं करोति।

हिन्दी—हे विदर्भकुमारी, तुम धन्य हो, जिसने उत्कृष्ट गुणों से निषधराज को भी आकृष्ट कर लिया। चाँदनी की इससे बड़ी प्रशंसा क्या हो सकती है कि वह समुद्र को भी उद्वेल (क्षुब्ध) कर डालती है?

टिप्पणी—नल-जैसे सागर-सम गम्भीर धर्मवीर को भी जो अपने उत्कृष्ट गुणों से आकृष्ट कर ले, वह नारी प्रशंसायोग्य होगी ही। इससे अधिक दमयन्ती की प्रशंसा हो ही क्या सकती है कि उसने निषधराज को आकृष्ट कर लिया? धन्य है वह चाँदनी, जो महासागर को भी चपल कर अपनी ओर खींचती है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार प्रतीप। चन्द्रकलाकार ने प्रतिवस्तूपमा मानी है। इस श्लोक में 'धन्यासि वैदर्भि' कथन से कवि का वैदर्भीरीतिप्रेमी होने का संकेत भी माना गया है ॥ ११६ ॥

नलेन भायाः शशिना निशेव त्वया स भायान्निशया शशीव।
पुनः पुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते नु युवां युयुक्षुः ॥ ११७ ॥

जीवातु—फलितमाह—नलेनेति। शशिना निशेव त्वं नलेन भायाः। भातेराशीर्लिङ्। सोऽपि निशया शशीव त्वया भायात्, भातेः पूर्ववदाशीर्लिङ्। किं च अत्र दैवानुकूल्यमपि सुलभमित्याह पुनः पुनस्तयोर्निशाशशिनोर्युगं युनक्ति योजयतीति तद्युगयुक् विधाता युवां नलं त्वां च 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यमि'ति एकशेषः। योक्तुमिच्छति युयुक्षुः युजेः सन्नन्तादुप्रत्ययः स्वभ्यासमभ्यासस्य समृद्धौ निरन्तराभ्यास इत्यर्थः। समृद्धयर्थेऽव्ययीभावः। तत्परत्वात् तदन्या वैरूप्यनिवर्त्यादम् भावः। आस्ते नु? तथाऽस्मन्ये इति किमित्यर्थः। अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी कस्मात् इति व्याख्यानं कस्यापि यन्न्यस्तत्यर्थः। स्यात् तथाऽसामञ्जस्यादिदमुत्प्रेक्षणीयम्। अत्र दमयन्तीनलयोरन्योन्यशोभाजननेनोत्तरोऽयमलङ्कारः। 'परस्परक्रियाजननमन्योन्यमि'ति लक्षणात्। उत्प्रेक्षानुप्राणित इति सङ्करः। तन्मूलं चेव विनातु पुनर्निशाशशियोजनाया दमयन्तीनलयोजनाभ्यासत्वोत्प्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

अन्वय—शशिना निशा इव नलेन भायाः, स निशया शशी इव त्वया भायात्, नु पुनः पुनः तद्युगयुक् विधाता युवां युयुक्षुः स्वभ्यासम् आस्ते।

हिन्दी—जैसे चन्द्र से रात शोभित होती है, वैसे ही तुम नल से शोभित

होओ और वह (नल) रात्रि से चन्द्र के समान तुम से शोभित हो। मैं समझता हूँ कि बार-बार (प्रतिमास) निशा-चन्द्र के जोड़े को संयुक्त करने वाला विधाता तुम दोनों का संयोग कराने की इच्छा से अपना अभ्यास बढ़ाता रहता है।

टिप्पणी—दमयन्ती-नल के मिलन की शुभकामना करता हुआ कल्पना करता है कि बारबार निशा-चन्द्र का संघटक विधाता उन दोनों के संयोग के लिए ही एक अभ्यासरत शिल्पी के समान अपना अभ्यास किया करता है कि वह ऐसे रमणीयतम युगल की संरचना कर सके जो अनुपम हो। भाव यह कि दमयन्ती-नल का जोड़ा निशा-चन्द्र के जोड़े से भी उत्कृष्ट होगा। क्योंकि यहाँ नल-दमयन्ती के परस्पर शोभित होने की उक्ति है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अन्योन्य अलंकार है। साथ ही वह दो उपमाओं से अनुप्राणित है, विधाता की अभ्यास-विषयक उत्प्रेक्षा उपमामूलक ही है, अतः अन्योन्य-उपमायुगल-उत्प्रेक्षा का संकर है। विद्याधर यहाँ उपमा-उत्प्रेक्षा के साथ साथ आशी. अलंकार भी मानते हैं ॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि ? परं तवैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्त्रावलीनां रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

जीवातु—स्तनद्वय इति। हे तन्वि ! किञ्च नैषधस्य नलस्य अनल्पेन महता वैदग्ध्येन नैपुण्येन विवर्धनीनामुज्जृम्भणीनां पत्त्रावलीनां रचना समाप्तिं सम्पूर्णतां प्राप्स्यति यदि, तर्हि पृथौ पृथुनि मापितपु स्वत्वाङ्कितकल्पेन पु बङ्गाव। तवैव स्तनद्वये परं प्राप्स्यति, नान्यस्या इत्यर्थः। अन्यस्या अयोग्यत्वादितिभाव ॥

अन्वय —तन्वि, नैषधस्य अनल्पवैदग्ध्यविवर्धनीनां पत्त्रावलीनां रचना यदि समाप्तिं प्राप्स्यति, परं तव पृथौ स्तनद्वये एव।

हिन्दी—हे कृशाङ्गि, निषधराज की प्रभूत कौशल की सूचिका पत्रश्रेणी समूह की रचना यदि समाप्ति को प्राप्त करेगी तो केवल तेरे विशाल कुच-युगल पर ही।

टिप्पणी—हंस दमयन्ती के कुचयुगल की विशालता की प्रशंसा करता कहता है कि विलास-क्रीडा में पत्रावली बनाने का नल का संपूर्ण कौशल

उन पर समाप्त हो जायेगा, अर्थात् नल समस्त कौशल और साधनों का प्रयोग करने पर भी दमयन्ती के विशाल कुचयुगल पर समग्रतया पत्रावली-रचना न कर सकेगा। विद्याधर ने यहाँ सम अलंकार माना है—'समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित्' ॥ ११८ ॥

एकः सुधांशुर्न कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वन्नयनद्वयस्य।
त्वल्लोचनासेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

जीवातु—एक इति। एकः सुधांशुस्त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि तृप्तौ प्रीणने क्षमो न स्यात्तस्मान्नलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीयः सन् त्वल्लोचनयोरासेचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु। 'तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनादि'त्यमरः। आसिच्यते अनेनेत्यासेचनकः, करणे ल्युट्, स्वार्थे कः ॥११९॥

अन्वयः—एकः सुधांशुः त्वन्नयनद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिक्षमः न स्यात् तत् नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः त्वल्लोचनासेचनकः अस्तु।

हिन्दी—एक अमृतकर चन्द्र तेरे दो नयनों को किसी प्रकार तृप्त करने में समर्थ न हुआ होगा, सो वह (चन्द्र) नल के मुखरूप शीत किरण (चन्द्र) के साथ दो बनकर तेरे नयनयुगल को अत्यन्त तृप्त करने वाला बने।

टिप्पणी—दो नयनों की तृप्ति एक चन्द्र से संभव नहीं है, सो नलमुख-के साथ चन्द्रमा मिलकर दमयन्ती के दो नयनों को तृप्त कर सकेगा। दो नयन, दो चन्द्र। एक आकाश का चन्द्र, दूसरा नलमुख-चन्द्र। नल दमयन्ती को प्राप्त हो, अथवा इस आवश्यकतावश नल-प्राप्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह आशय है। रूपक ॥ ११९ ॥

(युग्मम्)

अहो तपःकल्पतरुर्नलीयस्त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्रीः।
त्वद्भ्रूयुगं यस्य खलु द्विपत्री तवाधरो रज्यति यत्प्रवालः ॥ १२० ॥
यस्ते नवः पल्लवितः कराभ्यां स्मितेन यः कोरकितस्तवास्ते।
अङ्गम्रदिम्ना तव पुष्पितो यः स्तनश्रिया यः फलितस्तवैव ॥ १२१ ॥

जीवातु—अथ द्वाभ्यां नलतपःसाफल्यमाह—अहो इत्यादिना। नलस्यायं नलीयः, 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धसंज्ञायां वृद्धाच्छः। अत एव कल्पतरुः अभिनव

प्रसिद्धकल्पतरुविलक्षण इत्यर्थ । अत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह—त्वदित्यादि । अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्य य कल्पतरु तव पाणिजाग्रे करुहाग्रे- नित्य स्फुरन्ती अङ्कुरश्रीर्यस्य स अङ्कुरवानित्यर्थ, यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव द्वयो पत्रयो समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्पन्नपत्रद्वय खलु, तवाधरो यत्कलम्बो यस्य नालिका बिसलयकाण्ड इत्यर्थ, 'अस्य तु नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे'-त्यमर ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुपिरजो प्राचा श्यन् परस्मै-पदञ्चे'ति कर्मकर्तरि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराभ्या पल्लवित सञ्जात-पल्लव, यस्तव स्मितेन कोरकित सञ्जातकोरक सन् आस्ते, यस्तवाङ्गाना म्रदिम्ना मार्दवेन पुष्पित सञ्जातपुष्प, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण फलित सञ्जातफल । सर्वत्र तारकादित्वादितच् प्रत्यय । अत्र श्लोकद्वयेन तपसि दमयन्तीनखादिषु च कल्पतरुतावयवस्वरूपारोपावयवरूपक तथा अवयविनि कल्पतरोरवयवाना नखाङ्कुरादीनाञ्च मिथ कार्यकारणभूताना भिन्नदेशत्वादसङ्गत्याभिधिमिति सङ्कर, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्ग-तिरि'ति लक्षणात् ॥ १२०–१२१ ॥

अन्वय—अहो, त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुरश्री मदीय तप कल्पतरु, यस्य द्विपत्री त्वद्भ्रूयुग यत्कलम्ब तव अधर रज्यति, य ते कराभ्या मम पल्लवित, य तव स्मितेन कोरकित आस्ते, य तव अङ्गम्रदिम्ना पुष्पित, य तव एव स्तनश्रिया फलित । (युग्मम्) ।

हिन्दी—तेरे नखाग्रभागरूप चमकते अकुरों से शोभावाली नल का तपारूप कल्पवृक्ष आश्चर्यमय है, जिसकी दो पत्तियाँ तेरी दोनो भौंवें हैं, जिसका नाल (डठल) बना तेरा अधर शोभित है, तेरे कर-युगल जिसे पल्लवित बनाते हैं (अर्थात् हाथ ही पत्ते हैं), जो तेरी मद मुसकान से कलिकावान् बनता है, जो अगों की मृदुता रूप पुष्पों से युक्त है और जिसके फल तेरे ही शोभा-युक्त कुचयुगल हैं ।

टिप्पणी—दो पद्यों मे सपूर्ण भाव स्पष्ट होने के कारण यह 'युग्म' है । इसमें दमयन्ती-देह को उस विचित्र कल्पवृक्ष के रूप म चित्रित किया गया है, जिसकी प्राप्ति में नल का तप ही कारण है । इस विचित्र कल्पतरु को

सचरना अनोखी है। दमयन्ती की दो भौंहें उसकी ऊपरी दो पत्तियाँ हैं, ओठ लाल अधर हैं, करयुगल फल हैं, मद स्मित कली है, अन्य कोमल अंग फूल हैं और कुचयुगल फल हैं। इसमें वैचित्र्य यह भी है कि अन्य वृक्ष में पत्तियाँ, कलियाँ, फूल, फल एक क्रम से अनेक बार में आ पाते हैं इस कल्पतरु में सब एक साथ ही आ गये हैं। नल को बड़ी तपस्या से यह कल्पतरु प्राप्त हो रहा है। मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में सावयवरूपक और व्यतिरेक का संकर है। दमयन्ती के अंग कल्पतरु के कोरक, पुष्प, फल आदि हैं जो अलंकारानुसार उनमें भिन्न रहता है ॥ १२०-१२१ ॥

कलीकृताऽऽसीत्खलु मण्डलीन्दोर्मयूखरश्मिग्रथिता स्मरेण।
तुला च नाराचलता निजैव मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ वाम् ॥ १२२ ॥

जीवातु—किञ्च समानुरागत्वाच्च युवयोः समागम इत्याह कलीति। स्मरेण कर्त्रा वां युवयोर्मिथोऽनुरागस्य अन्योन्यरागस्य, मम तत्र तस्य त्वयि, तयोरनुरागयोरित्यर्थः। समीकृतौ समीकरणे निमित्ते तदर्थमित्यर्थः। मयूखा एव रश्मयो रज्जवस्तासां प्रकरः समूहो यस्याः सा 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। इन्दोर्मण्डली बिम्बं कलीकृता आसीत्। 'कलोऽस्त्री लोहनालमि'ति शाब्दिकलक्षणम्। ततो निजा नाराचलता बाणवल्ली सैव तुला तुलादण्डीकृतेति शेषः। तेनानुरागस्य कनकादिवत् समत्वस्य कार्यकारणानुसिद्धेरेकदेशविवर्तिरूपकम् ॥ १२२ ॥

अन्वय—स्मरेण वां मिथोऽनुरागस्य समीकृतौ मयूखरश्मिग्रथिता इन्दोर्मण्डली कलीकृता आसीत् तुला च निजा नाराचलता एव।

हिन्दी—काम ने तुम दोनों (नल-दमयन्ती) के परस्पर अनुराग की मात्रा जानने के निमित्त तौलने के कार्य में किरणसमूहरूप रज्जु में बाँधकर चन्द्र के मण्डल को काँटे का तराजू का पल्ला बनाया और तुलादण्ड बनाया अपनी ही बाणलता को।

टिप्पणी—नल और दमयन्ती के मध्य किसमें अनुराग की मात्रा कितनी है, इसकी तौल कामदेव ने चन्द्रमण्डल के पल्ले बनाकर उसमें किरणरज्जु बाँधकर और बाणलता का तुलादण्ड बनाकर की, तब ज्ञात हुआ कि दोनों के

अनुराग की मात्रा कितनी है ? एकदेशविवर्ति रूपक अलंकार, क्योंकि इक्षुमण्डलादि में कसादिरूपण से ही स्मर के कार्य कारण रूप की सिद्धि होती है ॥ १२२ ॥

> सत्त्वसृतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेषु ।
> लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निर्गतास्तत् प्रविशन्तु भूयः ॥ १२३ ॥

जीवातु—सत्त्वेति । किं च मदनोत्सवेषु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण सृतो यः स्वेदः सात्त्विकविकारविशेषः तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टेन सान्द्रे निरन्तरे अत एव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्ना सङ्क्रान्ता । अतएव उत्थिता त्वत्कुचतटाद्विश्लिष्टा । मधूच्छिष्टं निकषयन्त्कनकरेखावदिति भावः । स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालसमासः । तन्निर्गता । तत्पाणिपद्मोत्पन्ना त्वत्कुचपत्ररेखा भूयः तत् पाणिपद्मं 'वा पुंसि पद्मं नलिनमि'त्यमरः । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनियमादिति भावः । युवयोः समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३ ॥

अन्वय—मदनोत्सवेषु सत्त्वसृतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिताः त्वत्कुचपत्ररेखाः भूयः तत् प्रविशन्तु ।

हिन्दी—कामोत्सवों में सात्विक भाव से टपकते पसीनारूप गाढ़े मोम से संयुक्त उस (नल) के करकमल में लगकर उभरीं तेरे कुचों की पत्ररेखाएँ पुनः उसी में प्रविष्ट हो जायें ।

टिप्पणी—यह मिलन संबंधी आशीर्वचन है, जिसमें संयोग शृङ्गार का वर्णन है । विलास-क्रीडा में नल दमयन्ती के कुचों पर अपने करकमलों से पत्रावली रचना करेगा । रतिकाल में संजात स्वेदरूप मधूत्थ (मोम) उसके हाथों पर लग जायेगा । रतिसमय में कुचस्पर्श के कारण कुचों पर बनी पत्रावलियाँ पसीने से नल के हाथों पर उभर आयेंगी । हंस ऐसे मदनोत्सव के घटित होने का आशीर्वचन कहता है । भाव यह है कि नल दमयंती का समागम हो । जैसे कार्य का कारण में ही लय होता है, ऐसे ही पत्रावली रूप कार्य नल-करकमल रूप कारण में लीन हो जाये । विद्याधर के अनुसार रूपक और आशी अलंकार ॥ १२३ ॥

वन्याद्वयनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः ।
प्रसूनवृष्टिं पुनरुक्तमुक्तां प्रतीच्छतं भैमि ! युवां युवानौ ॥ १२४ ॥

जीवातु—वन्येति । किं च हे भैमि ! वन्यद्वयनानारतेत्यादिकरणैः कामतन्त्र-प्रसिद्धैरवद्वयं मन्दं नानारतमुत्तानकादिविविधसुरतं तदेव मल्लयुद्धं तेन प्रमोदितैः सन्तोषितैः केलिवने मरुद्भिः वायुभिर्देवैश्च 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । पुनरुक्तं यथा तथा मुक्तां प्रसूनवृष्टिं युवतिश्च युवा च युवानौ, 'पुमान् स्त्रिया' इत्येकशेषः । युवां प्रतीच्छतं स्वीकुरुतम् । युद्धविजयिनां हि देवैः पुष्पवृष्टिः क्रियत इति भावः ॥ १२४ ॥

अन्वयः—भैमि, वन्याद्वयनानारतमल्लयुद्धप्रमोदितैः केलिवने मरुद्भिः पुनरुक्तमुक्तां प्रसूनवृष्टिं युवानौ युवाम् प्रतीच्छतम् ।

हिन्दी—हे भीमसुते, कामशास्त्रादि से प्रसिद्ध नानाविधसुरत रूप मल्लयुद्ध से प्रमोदित (प्रकृष्ट परिमल से संयुक्त) क्रीडावन में बहते समीरों द्वारा बार-बार विसर्जित पुष्प-वर्षा का तुम दोनों तरुण-तरुणी ग्रहण करो ।

टिप्पणी—दो मल्लों की नानाविध दाँव पेंच से लड़ती कुश्ती को देखने वाले जिस प्रकार प्रसन्न हो उन पर फूल बरसाते हैं, वैसे ही दमयन्ती के तुम्हारे क्रीडोपवन में बहते मनोरम रतमल्लयुद्ध से विविध वासना का प्रमोद करते दम्पती पर आनन्दित हो पुष्पवर्षा करेंगे । यह भी सुखद संयोग की कामना से पूर्ण आशीर्वचन है । 'मरुत्' से सामान्य सुगंधि समीरण में भी तात्पर्य है और देवविशेष के माध्यम द्वारा देवों से भी अर्थात् नल-दमयन्ती-मिलन से देवगण भी सन्तुष्ट हो पुष्पवर्षा करेगा । विद्याधर के अनुसार यहाँ काव्य-लिङ्ग, यमकानुप्रास, श्लेष की संसृष्टि है ॥ १२४ ॥

अन्योन्यसङ्गमवशादधुना विभातां तस्यापि तेऽपि मनसी विकसद्विलासे ।
स्रष्टुं पुनर्मनसिजस्य तनुं प्रवृत्तमादाविव द्व्यणुककृत्परमाणुयुग्मम् ॥१२५॥

जीवातु—अन्योन्येति । किं च, अधुना अन्योन्यसङ्गमवशाद्विकसद्विलासे दर्शनात्प्रभृति तस्यापि तेऽपि नलस्य तव च मनसी मनसिजस्य कामस्य तनुं शरीरं पुनः स्रष्टुमारब्धुं प्रवृत्तमत एवादौ द्व्यणुकारम्भकं द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्ममिव विभाताम् इत्युत्प्रेक्षेति

तत्कृत् तदारम्भकं, करोते वित्वप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भावः । विभाता कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थः । भातेर्लोट्, 'तस्ये'ति तसः तामादेशः ॥ १२५ ॥

अन्वयः—अधुना अन्योन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे तस्य अपि ते अपि मनसी मनसिजस्य तनु पुनः सृष्टु प्रवृत्तम् आदौ द्व्यणुककृत् परमाणुयुग्मम् इव विभाताम् ।

हिन्दी—इस समय (पूर्वोक्त नल-दमयन्ती-संवाद के पश्चात्) परस्पर मिलन के कारण उल्लास से विकसित उस (नल) के भी और तेरे (दमयन्ती के) भी मन मनोभव (काम) के (दग्ध) देह की पुनः सर्जना के निमित्त प्रवृत्त आरम्भ में द्व्यणुक का निर्माण करनेवाले परमाणु युगल के समान सुशोभित हों ।

टिप्पणी—न्याय-सिद्धांत है कि महत्कार्य के आरम्भ में पहिले दो सक्रिय परमाणुओं द्वारा एक द्व्यणुक का निर्माण किया जाता है, इसी प्रकार क्रमशः महत् कार्य का आरम्भ किया जाता है—'सक्रियाभ्यां द्वाभ्यां परमाणुभ्यामेकं द्व्यणुकमारभ्यते, एवं क्रमेण महाकार्यमारभ्यते ।' काम के दग्ध देह को पुनः स्वरूप देने के लिए सगम-विलसित उल्लसित दमयन्ती नल के मन ही समर्थ हो सकते हैं, जो उन दो परमाणुओं के समान हैं (मनः परमाणुप्रमाणम्), जिनसे एक द्व्यणुक का निर्माण होता है । हंस की कामना है कि कामदेह की पुनर्निर्मिति-रूप महत् कार्य को सम्पन्न करने में नवदम्पती के उल्लसित मन प्रवृत्त हों । काम के मनोज होने के कारण मन से ही उसका देह निर्माण होगा । भाव यह है कि नल-दमयन्ती का सग-विलास इतना अनुराग बहुल हो कि जैसे उससे अदेह काम पुनः शरीरी हो जाय । अनुराग बहुल नल-दमयन्ती द्वारा ही यह सभव है, अन्यसे नहीं । प्रेममय दम्पती को परिणय-फल काम जैसी स्वरूपवान् सतान पाने का आशीर्वाद भी इससे सकेतित है । उत्प्रेक्षा अलङ्कार, वसततिलका छद ॥ १२५ ॥

काम कौसुमचापदुर्जयममुं जेतुं नृपं त्वां धनु-
र्वल्लीमज्ञगवत्कुलामधिगुणामासाद्य माद्यन्नसौ ।
ग्रीवालङ्कृतिपट्टसूत्रलतया पृष्ठे कियल्लम्बया
भ्राजिष्णुं कषरेखयेव निभृतसिन्दूरसौन्दर्यया ॥ १२६ ॥

जीवातु—कामेति । असौ यो कलत्रिपुरिति भाव । काम कौसुमेन चापेन दुर्जयं जितेन्द्रियत्वादिति भाव । अमुं नृपं त्वां जेतुमजगवत्या धनुः-प्रभुत्वा इत्येतुजस्त्वात्त्व, 'द्वौ वशौ कुण्डलकरावि'त्यमर । अधिगुणामधिकला-बन्धादिगुणामतिरिक्तान्च निभृतसुवर्तमान सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थाया नानान्त-राले मिलन्त सौन्दर्यं शोभा यस्या तया कषरेखया कालान्तरे सिन्दूरलक्ष्मीति-परीक्षार्थं कृतयर्षरेखयेवेत्युत्प्रेक्षा । पृष्ठे ग्रीवापश्चाद्भागे कियत् किञ्चिद्यथा तथा लम्बया लम्बता ग्रीवालङ्कृति ग्रीवालङ्कारभूता या पट्टसूत्रलता तया भ्राजिष्णु भाष्णीत्ये 'भुवश्चे'ति वकारादिष्णुच् । भ्राजमाना त्वामेव धनुर्वल्लीं चापलतामासाद्य माद्यति दृप्यति । इत्योत्प्रेक्षानुद्योगी रूपकालङ्कार ।१२६।

अन्वय —असौ काम कौसुमचापदुर्जयम् अमुं नृपं जेतुम् अजगवत्कुलाम् अधिगुणा निभृतसिन्दूरसौन्दर्यया कषरेखया इव पृष्ठे कियल्लम्बया ग्रीवाऽलङ्कृतिपट्टसूत्रलतया भ्राजिष्णुं त्वाम् एव धनुर्वल्लीम् आसाद्य माद्यति ।

हिन्दी—यह कामदेव फूलों के धनुष से दुर्जेय इस राजा (नल) को जीतने के लिए निर्दोष कुल में जन्मी, गुणवती, (विवाहिता के चिह्न) लगे सिंदूर के सौंदर्य से शोभित कसौटी की रेख के समान पीठ पर कुछ लम्बी ग्रीवा की अलङ्कारभूता पट्टसूत्रलता को धारती तुम को ही, बिना-घुने-कटे बांस से बनी, घिसे सिंदूर से उत्तम प्रमाणित कसौटी की रेखा से युक्त बड़ी प्रत्यंचा को कुछ लंबी ग्रीवा की सुन्दर सूत्रलता के तुल्य धारण किये धनुष् रूप लता के रूप में प्राप्त कर हर्षित हो रहा है ।

टिप्पणी—काम अब तो अपने सामान्य पुष्पचाप से नल को जीत न सका था । अब दमयन्ती रूप एक नवीन धनुर्लता को पाकर उसे विश्वास हो रहा है कि अब नल-विजय सम्भव है । इस प्रकार दुर्जेय की जयाशा से काम प्रसन्न हो रहा है । भाव यह है कि रूप-गुणालङ्कृता दमयन्ती, नल जैसे मनस्वी

के मन मे भी मनोज को उद्बुद्ध कर सकेगी। दमयन्ती की माँग मे लगा सिंदूर मानो उसकी पवित्रता और उत्तमता का प्रमाण है। डाँस की निर्दोषिता के लिए उस पर भी सिंदूर रगडा जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक श्लेष-उत्प्रेक्षा से सकीर्ण रूपक अलकार है, विद्याधर रूपक उपमा अलकार मानते हैं। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १२६ ॥

> त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्त राजहस विभो
> वेध्य विद्धि मनोभुव स्वमपि ता मञ्जु धनुर्मञ्जरीम्।
> यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमान लस-
> न्नाभीमध्यबिला विलासमखिल रोमालिरालम्बते ॥ १२७ ॥

जीवातु—त्वदिति। विभोर्मनोभुव कामस्य पक्षिवेद्धुरिति शेष। तव गुच्छावलेर्मुक्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठगि'ति वामन। गुटिका गुलिका विद्धि जानीहि। स राजहस राजश्रेष्ठ तमेव राजहस कलहस श्लिष्टरूपकम्। 'राजहसो नृपश्रेष्ठे कादम्बकलहसयो'-रिति विश्व। वेधितु प्रहर्तुमर्ह वेध्य लक्ष्य, विध विधाने 'ऋहलोर्ण्यत्' 'अनेकार्था धातव' एवमाह—'वेधितश्छिद्रितावि'त्यत्र स्वामी। अन्ये त्वाहु—स्वप्नेऽपि विधानार्थ एव प्रयोगाच्च विध-वेधन इत्येनाकारस्य पाठ, पाठान्तर तु प्रामादिकमन्धपरम्परायातमिति विद्धि। स्वमा-त्मानमपि 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वमि'त्यमर। ता वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जु मञ्जुला धनुर्मञ्जरी चापवल्लरी विद्धि, यस्या नित्यमङ्कनिवासेन समीप-स्थितया लालिततमया अत्यादृतया ज्यया मौर्व्या भुज्यमानमनुभूयमानमखिल विलास शोभा ज्यारूपतामित्यर्थ। लसन्नाभ्येव मध्य बिलङ्गुलिकास्थान यस्या सा रोमालिस्त्वद्रोमराजिरालम्बते भजति। अत्र मौक्तिकादौ गुटिका-द्यवयवरूपणादवयविनि कामे वेद्धृत्वरूपणस्य गम्यमानत्वादेकदेशविवर्तिसाव-यवरूपकमलङ्कार ॥ १२७ ॥

अन्वय—विभो मनोभुव त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिका स राजहस वेध्य स्वम् अपि ता मञ्जु धनुर्मञ्जरीं विद्धि, यन्नित्याङ्कनिवासलालिततमज्या-भुज्यमानम् अखिल विलास लसन्नाभीमध्यबिला रोमालि आलम्बते।

हिन्दी—सान्ध्यराग स्नोजन्य (कम) की उसी कुण्डावली (वर्तुल लड़ी मुक्तामाला) के मोती बींध दिया है, वह नाराच के हूस (नल) देख (देखने योग्य सुन्दर) है और स्वयं तुम वह (धनुष) मनोहर कुण्डली हो—(ऐसा समझो), जिसकी रोमावली निम्न तक (मध्य भाग) में रहने से अटित वाला बीच, प्रत्यञ्चाद्वारा नुपुर उत्तम लीला-विलास को, पुष्पेषु नासिका मध्यछिद्र के मुक्त हो धारण कर रही है।

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक के भाव को अन्य प्रकार से स्पष्ट किया गया है। कामदेव का निशाना है राजहंस नल, उसका धनुष है दमयन्ती, जिसकी मोती-माला के मोती के छिद्रों की पंक्तियाँ हैं, जिन्हें प्रत्यञ्चारूप रोमावली से युक्त नासिका मध्य के छिद्र से स्व कर कामदेव राजहंस नल को निशाना बनायेगा। पक्षियों को छोड़ने का एक विशेष धनुष होता है, जिसकी प्रत्यञ्चा में एक ऐसा गोल छेद-जैसा स्थान बनाया जाता है, जिससे रखकर लक्ष्य पर गोलियाँ फेंकी जाती हैं, एक बड़ी गुलेल के समान। मल्लिनाथ के अनुसार एकावलीवर्ति-सायकवदनक है, विद्याधर भी एकावली ही मानते हैं। कुण्डावली के लिए द्रष्टव्य—"हारभेदा यष्टिभेदाद् गुच्छगुच्छार्धगोस्तनाः। अर्धहारो माणवक एकावल्येकयष्टिका॥" (अमरकोश २।६।१०५-१०६) ॥ १२७ ॥

पुष्पेषुश्चिकुरेषु ते शरवणं स्वं नाम्नि मूले धनू
रौद्रे चक्षुषि चापयष्टिममुनाप्याष्ट्य च यन्निर्मिते।
निर्विद्यापरदानम न विनतुस्त्वा तन्वनाकुना
पत्राल्लिन्दरुरोमवैलामन्या वलनालयते॥ १२८॥

जीवातु—पुष्पेषुरिति। यः पुष्पेषु कामो यन्निर्मितो येन नाम्ना सौन्दर्यातिशयात् यद्रूप निर्दिष्ट ईर्ष्यया योवनवैभव्यं ... । तन्वनाग्रेरितित्यर्थो निर्दिष्टो निःशेषवर्णीति इत्याद्। ते तव चिकुरेषु केशेषु स्वं स्वकीय शरवणं स्वयुद्धयुत्पन्नाजातमिति भावः। नाम्नि मूले ... ननु भ्रूलतायामिति भावः। तथा रौद्रे चक्षुषि धनुरिव अनुग्राहकत्वेन, विनश्यन्दग्धपीनाद। 'फोऽत्रिज्वरीप घाट्टो ना' इत्यमरः। तनु शरीरं च निर्मितं

क्षिप्तवान् । पूर्वमेव दग्धतनुत्वादिति भावः । स्वरितेत्त्वात्तङ् । स पुष्पधुवितमुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नलविजयार्थं त्वामेवाश्रमं तपोवनमाश्रयत् आश्रितवान् तपश्चर्यार्थमिति शेषः । अन्यथा कथं त जेष्यतीति भावः । अत एव त्वदुरोज एव शैलो निलयो यस्या सा तन्निष्ठेत्यर्थः । पत्त्रालिः पत्ररचना पर्णचयश्च तस्य कामस्य पर्णशालायते सेवाचरति । उपमानात् कर्तुः क्यङ् । अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीना पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिगरणेन तदभेदाध्यवसायाद्भेदे अभेदलक्षणातिशयोक्ति, तत्पर्णशालायत इत्युपमा चोत्थापितेन त्वमाश्रममिति रूपकेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्याश्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥

अन्वय —यज्जितः निर्विद्य यः पुष्पेषु ते चिकुरेषु स्वं शरचयं भालमूले धनुः रौद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्ट्र तनुं च चिक्षिपे, वितनुः सः अधुना तज्जयाय त्वाम् आश्रमम् आश्रयत्, त्वदुरोजशैलनिलया पत्त्रालिः तत्पर्णशालायते ।

हिन्दी—जिस (नल) के द्वारा जीते जाने पर वैराग्य को प्राप्त जिस कुसुमबाण (काम) ने तेरे केशो मे अपनी बाणावली को, ललाट के मूल (भ्रू-स्थान) मे धनुष को और (भगवान्) रुद्र के (तृतीय) नेत्र रूप दारुण भ्राष्ट्र (भाड) मे अपने देह को फेंक दिया था, तनुहीन (अनग) उसने अब उस (नल) के जयार्थ तुझ (दमयन्ती) रूप तपोवन का आश्रय लिया है, तेरे उरोजात (कुचयुग्म) रूप पर्वत पर होनेवाली पत्रावली रूप पत्रसमूह (पत्ते) उस (कामाश्रम) की पर्णशाला बन रहे हैं ।

टिप्पणी—प्रत्येक दृष्टि से नल द्वारा पराजित काम विरागी हो गया था । जैसे हारा व्यक्ति अपने आयुधादि त्याग कर जल मरता था, वैसे ही काम अपना धनुर्बाण त्याग जल मरा था । अब यही दमयन्ती के आश्रय से नल विजयार्थ पुन सन्नद्ध हो रहा है । अब उसे तपोवनरूपा दमयन्ती प्राप्त हो गयी है, जहाँ पर्णकुटी बनाकर अब वह तपश्चर्या कर रहा है । नया आश्रय, नये आयुध । दमयन्ती की केशावली बाण हैं, भौंहें धनुष हैं, भवनेत्रजन्मा वह्नि मे वह जल मरा था । अब नये आयुध प्राप्त कर वह दमयन्ती रूप तपोवन मे, जहाँ उच्चकुच शैल पर पत्रावलीरूप पर्णशाला बनी है, तप साधना कर रहा है । दमयन्ती की सहायता से काम नल विजय मे समर्थ होगा । कवि ने यहाँ

दमयन्ती के केश-चय और उरःस्थल (कूर्पास) की काम-दाम और धनुष् से श्रेष्ठता का भी संकेत दिया है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लोक के पूर्वार्द्ध में शर-चापादि के साथ पुष्पादि विषय के अभेदप्रतिपादन के कारण अभेदलक्षणा अतिशयोक्ति है, 'दर्पाङ्कशालायते'—उपमा है, 'त्वामाश्रमम्'—मकोर्णरूपक तथा व्यञ्जक का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा है—इस प्रकार सङ्कर है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-समासोक्ति-रूपक उपमा की संसृष्टि है। शार्दूलविक्रीडित छन्द।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में बताया है कि उपमान की जाति अथवा प्रमाणगत न्यूनता-अधिकता का यदि प्रतिपादन हो तो वह उपमा का दोष होता है। इस दृष्टि से दमयन्ती उरोजों को शैल कहना—दोष है। परन्तु विद्याधर ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि दोष नहीं है, क्योंकि 'पर्यङ्कायते' इस रूपक का अंग है। निर्मित-पुरुष-व्यापार कर्म में क्रियमाण यह रूपक दोष नहीं गुणातिशय है॥ १२८॥

इत्यालपत्यथ पतत्रिणि तत्र भैमीं सख्यश्चिरात्तदनुसन्धिपरा परीयुः।
शर्मास्तु न विमृज मामिनि सोऽप्युदीर्य वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम्॥

जीवातु—इतीति। तत्र तस्मिन् पतत्रिणि हंसे भैमीमिति इत्यमालपति आलपमाने सति अथास्मिन्नवसरे चिरात्प्रभृति तस्या भैम्या अनुसन्धिपरान्वेषणाम्, 'वदर्तौ धां किरि'ति कि। तत्परा सख्यः परीयुः परिवव्रुः, इणो लिट्। हंसोऽपि 'ते तव शर्मास्तु सुखमस्तु, मा विसृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषधाधिपराजधानीं जगाम॥ १२९॥

अन्वय—अथ तत्र पतत्रिणि इति भैमीम् आलपति चिरात् तदनुसन्धिपरा सख्यः परीयुः न अपि ते शर्म अस्तु मा विसृज इति उदीर्य वेगात् *निषधाधिपराजधानीं जगाम।*

हिन्दी—तदनन्तर वहाँ पक्षी (हंस) के इस प्रकार वार्तालाप करते समय बहुत समय से उस (दमयन्ती) के अनुसन्धान में लगी सखियाँ चारों ओर से आ गयीं। वह (हंस) भी 'तुम्हारा कल्याण हो, मुझे विदा दो'—यह कह कर वेग पूर्वक निषधराज की राजधानी की ओर चल पड़ा। (उड़ चला)।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार ओज गुण । वसन्ततिलका छद ॥१२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्व्यामिश्रितामाश्रयत्
प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन रसात् ।
स्वाद स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्ताऽपि तृप्ति न सा
ताप प्राप नितान्तमन्तरतुलामानर्च्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

जीवातु—चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मन कामस्य शरप्रसूनाना शरभूतपुष्पाणा मधुभिस्तद्रसैं क्षौद्रैश्च 'मधु मद्य पुष्परसे क्षौद्र' इत्यमर । व्यामिश्रितामाश्रयद् तथा मिश्र सदित्यर्थं । असीम नि सीमम् अपरिमितमित्यर्थ । मकारान्तोत्तरपदो बहुव्रीहि । मृष्ट शुद्धम् । अ यन्नामल तच्च तद् सुरभि सुगन्धि च, सञ्जकुब्जवद्विशेषणसमास । प्रेयसो नलस्य दूत सन्देशहरो य पतङ्ग पुङ्गव इव पतङ्गपुङ्गवो हसश्रेष्ठ पुमान् गौ पुङ्गव । 'गोरतद्धितलुकी' ति टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्ववत् टचि 'टिड्ढाणजि'त्यादिना ङीप् । सैव हैयगवीन ह्योगोदोहोद्भव घृतमिति रूपकम् । 'हैयङ्गवीन सज्ञायामि'ति निपात । तद्गवी तद्धेनु तस्या इति च गम्यते रसाद्रागात् स्वाद स्वाद पुनरास्वाद्य आभीक्ष्ण्ये णमुल्प्रत्यय । पौन पुन्यमाभीक्ष्ण्यम् 'आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत' इति उपसख्यानात् द्विरुक्ति । तृप्ति प्राप्तापि अपिर्विरोधे अन्त नितान्त ताप न प्राप अतुला मूर्च्छामपि नानर्च्छ न प्राप, 'ऋच्छत्यृतामि'ति गुण । 'अत आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घ । तस्मान्नुड् द्विहल' इति नुट् । मधुमिश्रघृतस्य विषत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोध । स च पूर्वोक्तपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन इति रूपकोत्थापित इति सङ्कर । 'मधुनो विषरूपत्व तुल्यांशे मधुसर्पिषी' इति वाग्भट ॥ १३० ॥

अन्वय—सा चेतोजन्म शरप्रसूनमधुभि व्यामिश्रिताम् आश्रयत् असीममृष्टसुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन रसात् स्वाद स्वाद तृप्ति प्राप्ता नितान्तम् अन्त तापम् अपि न प्राप अतुला मूर्च्छाम् अपि न आनर्च्छ । अथवा—'सा स्वाद स्वादम् अपि तृप्ति न प्राप्ता, नितान्तम् अन्त ताप प्राप, अतुला मूर्च्छाम् अपि आनर्च्छ ।'

हिन्दी—वह (दमयन्ती) मनोज (काम) के पुष्पबाणों के मधु (शहद) से मिश्रित, असीम स्वादिष्ट और सुगंधि प्रिय (नल) के दूत पक्षिराज (हस)

की वाणी रूप नाम्न का नम्पूर्वक निरन्तर आस्वादन करके तृप्त हो न तो मूर्च्छ मन सताप को ही प्राप्त हुई और न असीम मूर्च्छा को। अथवा अन्वयान्तर में भी तृप्त न हो, मूर्छ मन सताप और असीम मूर्च्छा को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—'हैयगवीन' में माखन अर्थ ही नहीं, घृत भी गृहीत है। मधु-घी यदि सममिश्रित खा लिये जायें तो मारक विष बन जाते हैं। इस प्रकार घी शहद का व्यामिश्रण खाने से भी दमयन्ती का सतप्त और मूर्च्छित न होना विरोध है, 'पदङ्कपुङ्खवगवीहैयङ्गवीन' में रूपक है, अत मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सङ्कर है। विद्याधर के अनुसार भेदाभेदरूपा अतिशयोक्ति, वैद्यक शास्त्रव्यवहार के समारोपण से समासोक्ति तथा विषमालङ्कार का सङ्कर है। शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १३० ॥

तस्या दृशो वियति बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तद्वाष्पवारि न चिरादवधिर्बभूव।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृषे तदनेन दृष्टेरारादपि व्यवदधे न तु चित्तवृत्त ॥ १३१ ॥

जीवातु—तस्या इति। वियत्याकाशे बन्धुमनुव्रजन्त्यास्तस्या दृशो नैमी-दृष्टे तद्वाष्पवारि बन्धुजनविप्रयोगजन्य तदश्रुजल न चिरादचिरादवधिर्बभूव, 'ओदकान्त प्रिय पान्थमनुव्रजेदि'ति शास्त्रात्तदृक् सीमाभूदित्यर्थः। तत तस्माद् बाष्पोपगमादेव हेतोरनेन हृनेन दृष्टे पार्श्वे समीप विप्रचकृषे विप्र-कृष्टेनाभावि। बाष्पावरणात् समीपस्थोऽपि नालक्ष्यतेत्यर्थः। चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन नाभावि, स्नेहबन्धात्मनसो नापत इत्यर्थः। उभयत्रापि भावे लिट्। समीपस्थस्य विप्रकृष्टत्व दूरस्थस्य सन्नि-कृष्टत्व चेति विरोधाभास ॥ १३१ ॥

अन्वय—वियति बन्धुम् अनुव्रजन्त्या तस्या दृश तद् बाष्पवारि न चिरात् अवधि बभूव, तत् अनेन दृष्टे पार्श्वे अपि विप्रचकृषे, चित्तवृत्ते तु आरात् अपि न व्यवदधे।

हिन्दी—आकाश में सखा (हस) अनुगमन करती उस (दमयन्ती) की आँखों के वे अश्रुजल बहुत शीघ्र मर्यादा बन गये। वह (हस) इस (अश्रुजल) के कारण दृष्टि के निकट रहते हुए भी (यद्यपि) दूर हो गया (तथापि) दूर होने पर भी मनोजगत् से दूर न हुआ।

टिप्पणी—परम्परा के अनुसार जलाशय तक जाकर वधुजन को विदा करते हैं, इस प्रकार दमयन्ती की दृष्टि ने अश्रुजलाशय तक पहुँचाकर विदा दे दी। भाव यह कि उडा जाता हस आँसू आ जाने के कारण शीघ्र ही आँख से ओझल हो गया। हस आँखो स दूर तो हो गया, पर प्रिय सदेश वाहक होने के कारण मन से दूर न हुआ, उसका स्मरण होता रहा। निकट स्थित हस के दूर हो जाने और दूरस्थ के निकट रहने का वर्णन होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ विरोधाभास माना है, विद्याधर ने अतिशयोक्ति और विरोध का निर्देश किया है। वसततिलका छद ॥ १३१ ॥

अस्तित्व कार्यसिद्धे स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदै-
राख्यातु वृत्तमेतन्निषधनरपतौ सर्वमेक प्रतस्थे।
कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि! पदवी विस्मृता किन्नु मुग्धे?
मा रोदीरेहि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्या वयस्या ॥ १३२॥

जीवातु—अस्तित्वमिति। अथ एक अनयोरेकतरो हस पक्षयो कम्पभेदैश्चेष्टाविशेषै कार्यसिद्धेरस्तित्व सत्ताम् 'अस्ती'त्यव्यय विद्यमानपर्यायस्तस्मात्त्वप्रत्यय। स्फुट कथयन् वृत्त निष्पन्नमेतत्सर्व निषधनरपतौ नले विषये आख्यातु तस्मै निवेदयिष्यितियर्थ, प्रतस्थे। अन्या दमयन्ती वयसा तुल्या वयस्या सख्य 'नौवयो' इति यत्प्रत्यय। 'हे प्रियसखि! मुग्धे! कान्तारे विषमे निर्गतासि सङ्कट प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किम् नु? मा रोदी, एहि, याम गच्छाम' इत्युपहृतवचसो दत्तवचना सत्य एना निन्यु ॥

अन्वय—अथ एक पक्षयो कम्पभेदैः कार्यसिद्धेः अस्तित्व स्फुट कथयन् एतद् सर्व वृत्त निषधनरपतौ आख्यातु प्रतस्थे, अन्या वयस्या प्रियसखि, कान्तारे निर्गता असि, मुग्धे, किं नु पदवी विस्मृता? मा रोदी, एहि याम—इति उपहृतवचस निन्यु।

हिन्दी—इसके अनन्तर (दमयन्ती हस मे से) एक (हस) पखो को विशेष प्रकार से हिलाने के द्वारा काय सिद्धि के हो जाने को स्पष्टत कहता हुआ यह सब समाचार निषधनरेश को बताने के लिए चला गया, दूसरी (दमयन्ती) को सखियाँ—'हे प्यारी सखी, जगल में निकल आयी हो, अरी

भोली-भाली, क्या राह भूल गयी ? मत रोओ, आओ चलें —इस प्रकार के वचन कहती हुई (राजमहल) ले गयीं।

टिप्पणी—हंस तो जैसे सफलता का वृत्तांत सुनाने के लिए पंखों को विशेष प्रकार हिलाता हुआ निषधदेश की ओर उड़ गया। समागत सखियों ने आंखों में आंसू भरी दमयन्ती को समझा कि भोली सखी मार्ग में भटक जाने पर सहमी है, और वे उसे सान्त्वना देती हुई राजप्रासाद की ओर ले चलीं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार। स्रग्धरा छंद ॥ १३२ ॥

सरसि नृपमपश्यद् यत्र तत्तीरभाजः
स्मरतरलमशोकानोकहस्योपमूलम्।
किसलयदलतल्पग्लापिनं प्राप तं स
ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः ॥ १३३ ॥

जीवातु—सरसीति। हंसो यत्र सरसि नृपमपश्यत् दृष्टवान् तस्य सरसस्तीरभाजस्तटवर्तिनः ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चेषोरिषुभिः स्पर्द्धत इति तत्स्पर्धिनी तत्समश्री। पुष्पर्धिः पुष्पसमृद्धिः मौलिः शिखरं यस्य तस्याशोकानोकहस्य अशोकवृक्षस्य उपमूलं मूले विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः। स्मरेण तरलं चञ्चलं किसलयदलतल्पं पल्लवशयनं ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन म्लापयतीति तथोक्तं तं नृपं प्राप ॥ १३३ ॥

अन्वय —स: यत्र सरसि नृपम् अपश्यत् तत्तीरभाजः ज्वलदसमशरेषुस्पर्धिपुष्पर्धिमौलेः अशोकानोकहस्य उपमूलं स्मरतरलं किसलयदलतल्पग्लापिनं तं प्राप।

हिन्दी—उस हंस ने जिस सर के निकट राजा को देखा था, उसी के तट पर स्थित, देदीप्यमान विषम बाण (काम) के बाणों से स्पर्धा करते फूलों की समृद्धि से युक्त चोटी वाले अशोक वृक्ष की जड़ के निकट कामपीडा से चंचल नव-पल्लवों की शय्या को म्लान करते उस (नल) को पाया।

टिप्पणी—जिस क्रीडा सरोवर के तीर पर राजा नल और हंस की प्रथम भेंट हुई थी, उसी के तट पर फूलों से लदे अशोक वृक्ष के नीचे कामपीड़ित

राजा को किसलयशय्या पर लेटे दमयन्ती के समीप से, लौट हंस ने पाया। विद्याधर के अनुसार उपमा। मालिनी छंद ॥ १३३ ॥

परवति! दमयन्ति! त्वां न किञ्चिद्वदामि
द्रुतमुपनम किं मामाह सा शंस हंस!।
इति वदति नलेऽसौ तच्छशंसोपनम्रः
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहायां विलम्बः॥ १३४ ॥

जीवातु—परवतीति। परवति! पराधीने दमयन्ति! त्वां न किञ्चिद्वदामि नोपालभे किन्तु हे हंस! द्रुतं शीघ्रमुपनम आगच्छ, सा दमयन्ती मां किमाह, शंस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तिनमिव सम्बोध्य आलपति सति। असौ हंस उपनम्रः पुरोगतः सन् कार्यंश तद् वृत्तं शशंस कथयामास। तथाहि-सुकृतां साधुकारिणां 'सुकर्मपापपुण्येषु कृञः' इति क्विप्। प्रियमनु इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहायां स्वेच्छायां एव विलम्बः। न त्विच्छानन्तरं तत्सिद्धेर्विलम्ब इति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १३४॥

अन्वय—परवति दमयन्ति, त्वां किञ्चिद् न वदामि, हंस, द्रुतम् उपनम, शंस—सा मां किम् आह?—इति वदति नले उपनम्रः असौ तत् शशंस, हि सुकृतां प्रियम् अनु स्वस्पृहायां विलम्बः।

हिन्दी—हे पराधीन दमयन्ती, तुमसे मैं कुछ नहीं कहता, हंस शीघ्र निकट आओ, कहो—उसने मेरे प्रति क्या कहा?'—ऐसा कहते नल के निकट आये उस (हंस) ने वह (समाचार) कहा, क्योंकि पुण्यशील जनों का अपने लक्ष्य के प्रति स्वेच्छामात्र का विलंब होता है।

टिप्पणी—उतावले राजा नल को तुरन्त पास आकर हंस ने सब सफलता का इतिवृत्त बता दिया, कुछ भी विलम्ब नहीं लगाया। वास्तविकता यह है कि नल सदृश पुण्यश्लोक व्यक्तियों को इच्छा करते ही अभीष्ट की प्राप्ति हो ही जाती है, जो विलंब होता है वह केवल उनके इच्छा करने में होता है, अभीष्ट प्राप्ति में विलम्ब का अन्य कारण नहीं होता। अर्थान्तरन्यास अलंकार, मालिनी छंद॥ १३४॥

कथितमपि नरेन्द्रः शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियायाः।
अधिगतमतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथान्वाचचक्षे॥ १३५॥

जीवातु—कथितमिति। स नरेन्द्रो नलः कथितमपि प्रियाया दमयन्त्या भाषितं वचनं किमिति किमिति पृच्छन् हंसं शंसयामास, पुनराख्यापयामास, किं च अतिवेलोऽवधिनाशी य आनन्दः स एव मार्द्वीकं मृद्वीकाविकारो द्राक्षामद्यं 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षे'त्यमरः। तेन मत्तः सन् अधिगतं सम्यक् गृहीतं तद्वृत्तं स्वयमपि शतकृत्वः शतवारं 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्'। तथा तदुक्तप्रकारेण अन्वाचचक्षे अनुदितवान्। मत्तोऽप्युक्तमेव पुनः पुनर्वक्तीति भावः॥ १३५॥

अन्वयः—सः नरेन्द्रः कथितम् अपि प्रियायाः भाषितं किम् किम् इति पृच्छन् हंसं शंसयामास, अतिवेलानन्दमार्द्वीकमत्तः अधिगतं तत् स्वयम् अपि शतकृत्वः तथा अन्वाचचक्षे।

हिन्दी—उस नरराज (नल) ने हंस द्वारा बता दिये गये भी प्रिया के कथन को 'क्या-क्या'—यह पृच्छा करते हुए हंस से (बारबार) कहलाया और निःसीम आनन्द रूप द्राक्षामद्य से मतवाला होकर भली भाँति सुने-समझे उन सब को स्वयम् भी सौ (अनेक) बार उसी प्रकार पुनः पुनः कहा।

टिप्पणी—हंस से सब समाचार बारंबार राजा ने सुना और आनन्दोन्मत्त होकर उसे स्वयं भी बारबार कहा। आनन्दातिशय और उत्साहातिरेक द्योतन। विद्याधर के अनुसार जाति अलङ्कार, मालिनी छंद॥ १३५॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तार्तीयीकतया मितोऽयमगमत्तस्य प्रबन्धे महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः॥ १३६॥

जीवातु---श्रीहर्षमित्यादि। तृतीय एव तार्तीयीक। 'द्वितीयतृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे वक्तव्य' तस्य भावस्तत्ता तया मितस्तृतीय इत्यर्थ। शेष सुगमम् ॥ १३६ ॥

इति मल्लिनाथ-सूरिविरचिताया 'जीवातु' समाख्याया 'नैषध'-
टीकाया तृतीय सर्ग ॥ ३ ॥

अन्वय --तृतीय चरण में 'द्वैतीयीकतया' के स्थान मे 'तार्तीयीकतया', शेष द्वितीय सर्ग के अन्तिम श्लोक के तुल्य।

'तार्तीयीकतया'--तृतीय रूप से ॥ १३६ ॥

॥ नैषधीयचरित का तृतीय सर्ग समाप्त ॥

—०—

॥ श्रीः ॥

नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत'जीवातु'टीकासहित-

सान्वय-सटिप्पण'चन्द्रिका'हिन्दीव्याख्योपेतम्

चतुर्थः सर्गः

अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशः कुसुमं धनुः ।
श्रुतिनयोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

जीवातु—अथ राज्ञः स्वयंवरं प्रत्युपोद्घातत्वेनास्मिन्सर्गे भैम्या मदनावस्थां वर्णयितुमारभते—अथेत्यादि। अथ भैम्याः प्रियसन्देशश्रवणानन्तरम् आत्मभूः कामः, नलस्य गुणं आत्मोत्कर्षहेतुः शौर्यसौन्दर्यादिको धर्मः, तमेव गुणं मौर्वीं, विधाय। सुरभि सुगन्धि, मनोज्ञञ्च। 'सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृतः' इति विश्वः। तस्य नलस्य, यशः, तदेव कुसुमं धनुर्विधाय। तथा सुमनस्तया सुमनस्त्वेन पुष्पत्वेन च, श्रुतिनयोपगतं कर्णपथं गतं, पुनः पुनः भैम्या श्रुतमित्यर्थः। आकर्णमाकृष्टञ्च, तं नलमेव, इषुं विधाय। तां भैमीं जिगाय। तदेकासक्तचित्तां चकारेत्यर्थः। 'सल्लिटोर्जेः' इति कुत्वम्। रूपकालङ्कारः। अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ आत्मभूः नलस्य गुणं गुणं तस्य सुरभि यशः कुसुमं धनुः सुमनस्तया श्रुतिपथोपगतं तम् इषुं विधाय ताम् आशु जिगाय।

हिन्दी—तदनन्तर (हंस के चले जाने के पश्चात्) आत्मजन्मा काम ने नल के (वीरता, सौन्दर्य आदि) गुण को गुण (प्रत्यञ्चा), उसके सुरभि

(सुगंधि) पुष्प सदृश सुरभि (प्रसिद्ध) यश का धनुष और सुमनस्ता (सुमनस्क-मनीषी होने तथा पुष्पभाव) के कारण बारबार श्रुत (सुने गये) उस (नल) को कान तक खींचा गया बाण बनाकर उस (दमयंती) को शीघ्र ही जीत लिया।

टिप्पणी—हंस से नल वार्ता जान कर उसके चले जाने के पश्चात् नल के वियोग में दमयन्ती कामव्यथा से आक्रान्त रहने लगी। एक मात्र नल का ही विचार उसके मन पर छा गया। इस समग्र सर्ग में दमयंती के नल संबद्ध अनुराग की पुष्टि दिखाने के लिए श्रीहर्ष ने विप्रलंभ-शृंगार को प्रधानता दी है। बताया भी गया है कि विप्रलम्भ के बिना संयोग की पुष्टि भी नहीं होती—'न विना विप्रलम्भेन संयोगः पुष्टिमश्नुते।' विप्रलम्भ के निर्वेद आदि व्यभि-चारिभाव तथा आलस्यादि विभावों का यत्र-तत्र इस सर्ग में विशद वर्णन है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में रूपक अलंकार प्रधान है, विद्याधर ने रूपक-दीपक-श्लेष का संकर माना है। इस सर्ग में १ से ११५ संख्या के श्लोक तक द्रुतविलम्बित छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण—एक नगण (।।।), दो भगण (ऽ।।, ऽ।।), एक रगण (ऽ।ऽ) क्रम से होते हैं—'द्रुत-विलम्बितमाह नभौ भरौ' ॥ १ ॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम्।
सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत ॥ २ ॥

जीवातु—यदिति। सा भैमी, अतनुज्वरमनङ्गज्वरम्, अधिकज्वरञ्च, भजतीति तद्भाक् सती। भजो ण्विः। प्रियकथैव सरसी सरः तस्या रसो राग, जलञ्च तत्र मज्जनमासक्तिमवगाहञ्च, तनुते स्म चकारेति यत्। 'लट् स्मे' इति भूते लट्। तस्य मज्जनस्य, सपदि चिरं दीर्घकालं, अन्तरमभ्यन्तरं, तापयतीति तत्तापिनी, विषमा उद्दीपनात्मिका, परिणतिः, परिपाकः, समपद्यत सञ्जाता। अत एव ज्वरशान्त्यर्थाद्रसमज्जनात्तद्वृद्धेरूपानर्थोत्पत्तेर्विषमा-लङ्कारभेदः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना वा स्याद्विषमालङ्कृतिस्त्रिधा॥' इति लक्षणात्। एतेन द्वादशावस्थापक्षे नवमी सञ्ज्वरावस्थोक्ता। तदुक्तम्—'चक्षुःप्रीतिर्मनःसङ्गः सङ्कल्पोऽथ प्रलापिता।

जागर कार्श्यमरतिर्ह्रीत्यागोऽथ सञ्ज्वर । उन्मादो मूर्छनं चैव मरणञ्चरमं विदु' ॥ २ ॥

अन्वय —अतनुज्वरभाक् सा यत् प्रियकथासरसीरसमज्जन तनुते स्म तस्य लघदि चिरातरतापिनी विषमा परिणति समपद्यत ।

हिन्दी—कामज्वर से पीडिता उस दमयन्ती ने जो प्रिय (नल) कथा रूपिणी सरसी के रस रूप रस (जल) में स्नान किया, उसका मुग्ध दीर्घ-काल तक अतनु को तपानेवाला विषम परिणाम हुआ ।

टिप्पणी—ज्वर में जल व्यक्ति स्नान करने से विषमज्वर से प डित हो जाता है, उसी प्रकार कामज्वराक्रान्ता दमयन्ती ने जो सरोवरस्नान-सदृश प्रिय-कथा रसस्नान किया, उससे उसकी पीडा और भी विषम हो गयी । भाव यह कि नल-चर्चा सुनने से पीडा बढ़ गयी, फल विषम-विपरीत हुआ । मल्लि-नाथ ने यहाँ विषम अलंकार माना है, क्योंकि ज्वरशान्ति के निमित्त किया सरसी-स्नान शमन के स्थान में ताप बढ़ाने वाला ही हुआ और इस प्रकार अर्थ के स्थान में अनर्थ सघटित हो गया । विद्याधर ने यहाँ रूपक मानते हुए कहा है कि यहाँ अर्थान्तर की प्रतीति रूपक-द्वारा ही होती है, अत समासोक्ति की सम्भावना नहीं है । काम की बारह दशाएँ बतायी गयी हैं—(१) नेत्रानु-राग, (२) मन सग, (३) सकल्प, (४) प्रलाप, (५) जागरण (६) कृशता, (७) अरति (विराग), (८) लज्जात्याग, (९) प्रसूतज्वर, (१०) उन्माद, (११) मूर्च्छा और (१२) मरण । यहाँ नवमी दशा 'सज्वर' (प्रसूतज्वर) का चित्रण है ॥ २ ॥

ध्रुवमधीतवनीयमनीरता दयितदूतपतङ्गतिवेगतः ।

स्थितिनिवृत्तिविरोधकरी कृषणकोदरी तदुदिता स हि यो मदनज्वर ॥ ३ ॥

जीवातु—ध्रुवमिति । कृशोदरी सूक्ष्ममध्या, इय दमयन्ती, स्थिति-र्मर्यादा गतिनिवृत्तिश्च, तद्विरोधकरी, तद्विरोधहेतुमित्यर्थ । परस्परतोऽन्य-त्रागमनाविरोधित्वादिति भाव । 'कृञो हेतु' इत्यादिना हृत्यर्थे टप्रत्यये डीप् । अधीरता चपलताम्, एकत्रानवस्थानमित्यर्थ, दयितदूतो य पतन् पतत्री हस । 'पतत्रिपतगपक्षिण' इत्यमर । तस्य गतिवेगत गमनवेगाद-

धीतवती, गृहीतवती, प्राप्तवतीत्यर्थ । ऐतेन चापलाख्य सञ्चारी भाव उक्त । 'चापल त्वनवस्थान रागद्वेषादिसम्भवम्' इति लक्षणात् । तस्य हसपक्षवेगजत्वमुत्प्रेक्षते—ध्रुवमिति । ननु कथमन्यवेगादन्यत्र क्रियोत्पत्तिरित्याशङ्क्य यदनन्तरमित्यायेन समर्थयति । योऽर्थो यस्यानन्तरस्सन्निहित स तस्मादुदित उत्पन्न इत्युत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ३ ॥

अन्वय —द्व्यणुकोदरी इय स्थितिविरोधकरीम् अधीरता ध्रुव दयितदूतपतद्गतिवेगत अधीतवती, हि य यदनन्तर स तदुदित ।

हिन्दी—द्व्यणुक जैसे उदरवाली (अत्यन्त कृश उदरवती) इस (दमयती) ने स्त्रीजनोचित मर्यादा के विरुद्ध अधीरता (चचलता) का पाठ निश्चयतः प्रिय के दूत, पक्षी हस की गति के वेग से पढा, कारण कि जो जिसके निकट रहता है, वह उसी से उत्पन्न रहता है ।

टिप्पणी—कामपीडिता दमयन्ती का धैर्य जाता रहा, वह चञ्चल रहने लगी । अचचलता स्त्रीजनोचित मर्यादा है, दमयन्ती ने चचलता प्राप्त की, वह मारी विरुद्ध भाव है । गौतम के अनुसार जिसके तुरन्त बाद जो दीखता है, वह पूर्ववर्ती उत्तरभूत का कारण होता है—'यदनन्तरमेव यद्दृश्यते तत्तस्य कारणम् ।' सो धैर्यशीला दमयन्ती मे यह 'स्थितिविरोधकरी अधीरता' मलदूत हस से भेट होने के अनन्तर ही दीखी, अत पूर्वोक्त न्याय के अनुसार इस अधीरता का कारण उस हस का गति वेग ही प्रतीत होता है । उसी के साहचय से दमयन्ती मे यह अस्थिरता आयी है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा अर्थान्तरन्यास का अगागिभाव सकर है, चारित्रवर्द्धन की 'तिलक' टीका और विद्याधर की 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार उत्प्रेक्षा और हेतु अलकार है ॥३॥

अतितमा समपादि जडाशय स्मितलवस्मरणेऽपि तदाननम् ।
अजनि पङ्करपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जन ॥ ४ ॥

जीवातु—अतितमामिति । तस्या भैम्या आनन, स्मितलवस्य हासलेशस्य स्मरणेऽपि किमुत करण इति भाव । अतितमामतिमात्रम् । 'किमेत्तिङ' इत्यादिना अव्ययादामुप्रत्यय । जडाशय मूढचित्त, समपादि सम्पन्न, तदश जातमित्यर्थ । 'चिण्‌ पद ' इति कर्तरि चिण् । तस्या ईक्षणमेव नयनमव,

खञ्जनः खञ्जरीटः, यथाङ्ग एव निजाङ्गम्, तत्र अनिशं तस्याः कौ-
तेऽपि पङ्गुरतनयं, भजति जात । 'दीनजन इत्यादिना वने क्वापि
चित् । ज्वरवेगात् स्मितलीलाऽपि लुप्ता इति भावः ॥ ४ ॥

अन्वयः—मदानन स्मितलवस्मरणे अपि कीर्तिता खञ्जनः सननादि,
तदीक्षणखञ्जनः यथाङ्गनिजाङ्गभ्रमिकेऽपि पङ्गुः भवति ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) का मुख मुस्कान के लव (लेशमात्र) का स्मरण करने में भी अत्यन्त विमुख हो गया, उसका नेत्ररूप खञ्जन पक्षी नेत्रमात्र रूप अपने आँगन में फुदकने में भी पङ्गु (लँगड़ा) हो गया ।

टिप्पणी—विरहमग्न रहने वाली हर्षितानना दमयन्ती के मुख पर नल के वियोग में छोटी सी मुस्कान भी न आ पाती, उसके चञ्चल नयन इतने स्थिर हो गये कि विलास की मात्रा भी उनमें न दीखती । वे चञ्चल खञ्जरीट से अब एक टूटही टाँग वाले पक्षी जैसे बन गये । कामज्वर ने दमयन्ती की मुस्कान छीन ली, नयनों की चञ्चलता को तिरोहित कर डाला । 'तिलक' टीका के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और रूपक हैं, 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार विशेषोक्ति और रूपक ॥ ४ ॥

किमु तदन्तरुभौ भिषजौ दिवः स्मरनलौ विशतः स्म विगाहितुम् ।
तदभिकेन चिकित्सितुमाशु तां मखभुजामधिपेन नियोजितौ ॥ ५ ॥

जीवातु—अथास्याः स्मरनलयोर्निरन्तरान्तःप्रवेशनात् उत्प्रेक्षते—
किम्विति । तदभिकेन नैषधकामुकेन, 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' इति निपा-
तितः । मखभुजामधिपेन देवेन्द्रेण, तां भैमीमाशु चिकित्सितुं प्रतीकर्तुं,
नियोजितौ प्रेषितौ उभौ दिवो भिषजौ स्वर्वैद्यावश्विनौ, स्मरनलौ सन्तौ,
विगाहितुं रोगनिदानं निश्चेतुम्, तस्याः दमयन्त्याः, अन्तरन्तश्शरीरं प्रविशतः
स्म किमु । अश्विनौ स्मरनलावेव तौ किमित्युत्प्रेक्षा । तेनास्य मदना-
भिन्नानलसौन्दर्यं व्यज्यते । अत्र चिन्ताख्यः सञ्चारी भावः सूचितः । 'ध्यानं
चिन्तेप्सितानाप्तिः शून्यताश्वासतापकृत्' इति लक्षणात् ॥ ५ ॥

अन्वय—तदभिकेन मखभुजाम् अधिपेन ताम् आशु चिकित्सितुं नियोजितौ
उभौ दिवः भिषजौ स्मरनलौ विगाहितुम् तदन्तः विशतः स्म किमु ?

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की कामना करने वाले यज्ञभोजी देवों के राजा इन्द्र द्वारा उस (दमयन्ती) की शीघ्र चिकित्सा करने को नियुक्त दोनों स्वर्वैद्य अश्विनीकुमार काम और नल वनकर विमर्श (रोग-निदान) करने के निमित्त क्या उसके अतस् मे प्रविष्ट हो गये थे ?

टिप्पणी—उस समय दमयन्ती के अतःकरण मे दो का ही वास था—नल का और तद्विषयक काम (अभिलाष) का, जैसे उनके रूप मे दमयन्ती कामी इन्द्र के भेजे स्वर्ग वैद्य रोग-परीक्षा के लिए अतः प्रविष्ट हो। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलकार। चिंता नामक सचारी भाव ।।५।।

कुसुमचापजतापसमाकुल कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम् ।
अहरहर्वहदभ्यधिकाधिका रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम् ॥६॥

जीवातु—अथ चिन्तानुभाव सन्ताप वर्णयति—कुसुमेत्यादि । कुसुमचापजेन स्मरसमुत्थेन, तापेन समाकुल विह्वलम्, अत एवाहरह अहन्यहनि । अत्यन्त-सयोगे वीप्साया द्विर्वचनम् । 'रो सुपि' इत्यह्नो नकारस्य रेफादेश । अभ्यधिकाधिकामत्यन्ताधिकाम् । आभीक्ष्ण्ये द्विर्भाव । रविरुचिग्लपितस्य अर्कांशुदृतस्य, विधोरिन्दो., विधा प्रकार, तादृशीमवस्थामित्यर्थ । अत एव सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धाग्निदर्शनालङ्कार । वहत् प्राप्नुवत्, कमलकोमल तन्मुखमैक्ष्यत दृष्ट सखीजनेनेति शेष । सकरुणमिति भाव ॥ ६ ॥

अन्वय—कुसुमचापजतापसमाकुलम् अह अह अभ्यधिकाधिका रविरुचिग्लपितस्य विधो विधा वहत् कमलकोमल तन्मुखम् ऐक्ष्यत ।

हिन्दी—पुष्पधन्वा (काम) के कारण उत्पन्न ताप से व्याकुल, कमल सदृश कोमल उस (दमयन्ती) का मुख प्रतिदिन उत्तरोत्तर सूर्यकिरणों से म्लान चन्द्र की दशा को धारण करता प्रतीत होता था ।

टिप्पणी—नल-वियोग में व्यथिता दमयन्ती के मुख की शोभा प्रतिदिन उत्तरोत्तर—पहिले दिन से दूसरे दिन अधिक—फीकी पड़ती जा रही थी । जैसे सूर्यकिरणों के तापकारी प्रकाश में चन्द्रमा शोभाहीन दिखायी देता है, वैसी ही दमयन्ती के कमल मुख की स्थिति थी । सूर्य से कमल का विकास होता है, परन्तु यहाँ सूर्यरुचि से कमल मुख को म्लान कहा गया है । कमल के समान

सुकुमार दमयन्ती का मुख दिन-दिन कामज्वर से श्रीहीन होता जा रहा था, यह कवि का आशय है। यहाँ सादृश्य के आक्षेप से असम्बद्ध वस्तुसम्बन्ध के कारण निदर्शना अलङ्कार है, यह जीवातुकार का मत है। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार भी इस पद्य में निदर्शना है। चन्द्रकलाकार 'कमलकोमलम्' में उपमा और 'चन्द्रविधा' को मुख द्वारा प्राप्ति रूप असम्बद्धवस्तुसम्बन्धविधान का निदर्शन होने से निदर्शना—अतएव उपमा-निदर्शना का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर मानते हैं। श्लोक संख्या ६ से १० तक पाँच श्लोकों में 'ताप' का वर्णन है। ताप चिन्ता का अनुभाव है॥ ६ ॥

तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम तत्कुचकुम्भयुगं तया ।
अनलसङ्गतितापमुपैतु नो कुसुमचापकुलालविलासजम् ॥ ७ ॥

जीवातु—तरुणतेति । तस्याः कुचावेव कुम्भौ तयोर्युगं (कर्तृ), तरुणता तारुण्यमेव, तपनद्युतिरातपस्तया निर्मितः कृतो द्रढिमा काठिन्यं यस्य तत्तथा, कुसुमचाप एव कुलालः कुम्भकारस्तस्य विलासेन व्यापारेण जातं तज्जम्, अनलसङ्गतिः नलसङ्गत्यभावः। क्वचित् प्रसज्यप्रतिषेधे नञ्समास इष्यते। अर्थाभावेऽव्ययीभावे वा नपुंसकत्वम्। सैवानलसङ्गतिरग्निसंयोग इति श्लिष्टरूपकम्, तया तापमुपैतु नो स्यात्, उपैत्येवेत्यर्थः प्रश्नकाले लोट्। तथा हि—आमो घटः कुलालेन दार्ढ्याय प्रथममातपेन पक्वः पश्चादग्निना पच्यते। रूपकालङ्कारः॥ ७ ॥

अन्वय—तरुणतातपनद्युतिनिर्मितद्रढिम कुसुमचापकुलालविलासजं तत्कुचकुम्भयुगम् अनलसङ्गतितापं नो उपैतु ? (उपैत्येव)।

हिन्दी—तरुणाईरूपी घाम (धूप) से जिसने कठोरता (कड़ाई) प्राप्त कर ली है और पुष्पधन्वा (काम) रूपी कुम्भकार की विलास लीला के कारण जिसकी सर्जना हुई है, ऐसा उस (दमयन्ती) का कुचरूप घटयुग्म अनलसङ्गति (नल वियोग) रूप अग्नि में पकाये जाने के ताप (कामज्वर, घटपक्ष में तपाया जाना) को क्या न प्राप्त करे ? करेगा ही।

टिप्पणी—कामविलासक्रीडा के निमित्त भराव और तारुण्य के कारण

कठोर बना दमयन्ती का कुचयुग्म नल की सगति न होने से उसी प्रकार सतप्त हो रहा है, जैसे किसी कुम्भकार के द्वारा निर्मित घडे धूप मे सूख कर आग मे तपाये जाते हैं। कुचयुग्म दो घडे हैं, काम उनका सर्जनहार कुम्हार है, तरुणाई धूप है, जिसमे वे कठोर हुए है या सूखे हैं, 'अनल' (नलाभाव) आग है, जिसमे वे तप रहे है। दृढ कुचकलशयुग यौवन की सपूर्णता के चिह्न हैं। पूर्ण-यौवना प्रिय-वियोग में सतप्त होती ही है। कुम्हार जैसे घडो को बनाकर उनके सूख जाने पर उन्हें आग मे तपाता है, वैसे ही काम नलाभाव मे दमयती के अगविशेष को व्यथित कर रहा है। प्रकाशटीकाकार ने 'कुसुमचापकुलाल-विलासजम्' का 'अनलसङ्गतितापम्' का विशेषण मान कर अर्थ का सकेत दिया है कि 'तरुणाई' रूप तपनद्युति से द्रढिमा को प्राप्त उसका कुचकुम्भयुग काम कुम्भकार के विलास (क्रीडा, कृत्य) से अनलसगति (नलाभाव, अग्नि-सयोग) से जनित ताप को क्यो न प्राप्त करे?' यह अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि कुचकलश का सर्जक काम-कुम्भकार नही है, हाँ, वह उन्हें ताप देने वाला अवश्य है। मल्लिनाथ ने यहाँ 'अनलसङ्गति' मे श्लिष्ट रूपक और काकु वक्रोक्ति का उल्लेख किया है, वैसे प्रधानतया वे रूपक ही मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास, श्लेष और रूपक हैं ॥ ७ ॥

अधृत यद्विरहोष्मणि मज्जित मनसिजेन तदूरुयुग तदा।
स्पृशति तत्कदन कदलीतरुर्यदि मरुज्वलदूपरदूषित. ॥ ८ ॥

जीवातु—अधृतेति। तदा यत्तस्या ऊरुयुग मनसिजेन विरहोष्मणि विरह-दाहे मज्जितम्, अधृत अवस्थितम्। धृङवस्थाने इति धातोर्लुङि तङ्। ह्रस्वा-दङ्गात्' इति सलोप। कदलीतरु, मरौ मरुदेशे ज्वलता तप्यमानेन ऊपरेणो-षरक्षेत्रेण, दूषितो यदि दूषितश्चेत्। तत्कदन, तेनोरुयुग्मेन कदन कलह साम्य-मित्यर्थ। स्पृशति। अत्रोपमानस्य कदलीतरोरुपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपा-लङ्कारभेद। 'उपमानस्याक्षेप उपमेयत्वकल्पन प्रतीपम्' इति लक्षणात्। उपरप्ररूढकदलीकाण्डकल्प तदासीदित्यर्थ ॥ ८ ॥

अन्वय—तदा यत् तदूरुयुग मनसिजेन विरहोष्मणि मज्जितम् अधृत, यदि कदलीतरु मरुज्वलदूपरदूषित (स्यात्) तत्कदन स्पृशति।

हिन्दी—उस समय जो उस (दमयन्ती) का जघायुगल मनोभव (काम) ने वियोग की अग्नि में निमज्जित कर रखा था, यदि केले का वृक्ष मरुभूमि की जलती ऊसर में पड़ दूषित हो जाय, तब उस (ऊरुयुग) की समानता का स्पर्श कर सकता है।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का ऊरुयुग अत्यन्त सन्तप्त था रहा था, मरुभूमि की आग में धधकती ऊसर में पड़े कदली वृक्ष के तुल्य। कहाँ स्निग्ध, चिक्कण, कोमल कदलीतरु, कहाँ ऊसर की आग ? यहाँ उपमान कदलीतरु के उपमेय रूप में कल्पित होने के कारण मल्लिनाथ 'प्रतीप' मानते हैं, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ ८ ॥

स्मरशराहतिनिर्मितमज्वरं करयुगं हसति स्म दमस्वसुः ।
अनपिधानसनत्तपनातपं तपनिपीतसरस्सरसीरुहम् ॥ ९ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मरशराहत्या निर्मितमज्वरं जनिततापं, दमस्वसुः करयुगं (कर्तृ) अनपिधानादनावरणात् (हेतो), पतत् प्रविशत्, तपनातपः सूर्यातपः, यस्मिन् तत्तथा, तपेन ग्रीष्मेण निपीते शोषिते सरसि यत्सरसीरुहं पद्मं, तद्धसति स्म तत्सदृशमभूदित्यर्थः । 'हसतीर्ष्यत्यसूयती'ति दण्डिना सादृश्यपर्याये पठितत्वात् । अत एवोपमालङ्कारः ॥ ९ ॥

अन्वय —स्मरशराहतिनिर्मितज्वरं दमस्वसुः करयुगम् अनपिधानसनत्तपनातपं तपनिपीतसरस्सरसीरुहं हसति स्म ।

हिन्दी—काम बाणों के आघात से उत्पन्न ज्वरदाह से युक्त दमभगिनी (दमयन्ती) का करयुगल जिस पर सूरज की धूप प्रतिबन्धरहित पड़ रही हो, ऐसे ग्रीष्म ऋतु ने जिसे पी डाला है (गर्मी से सूखे), उस सरोवर में स्थित कमल का उपहास कर रहा था।

टिप्पणी—गर्मी से सूखे तालाब में पड़े कमलों की जो दुरवस्था होती है, कामजनित दाह से दमयन्ती के हस्त युग्म की दशा उससे भी चिन्तनीय थी। सूखे तालाब में सीधी पड़ती धूप से झुलसते कमलसम कोमल करयुगल अत्यन्त सन्ताप का अनुभव कर रहे थे। काव्यादर्शरचयिता दंडी ने 'हसति, ईर्ष्यति, असूयति' आदि को भी समानतावाचक माना है, इस आधार पर मल्लिनाथ

यहाँ उपमा का विधान करते हैं। तिलक और साहित्यविद्याधरी में भी उपमालङ्कार का ही निर्देश किया गया है ॥ ९ ॥

मदनतापभरेण विदीर्य नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसुः ।
निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमधात्प्रतिवघ्नती ॥ १० ॥

जीवातु—मदनेति। दमनस्वसुः हृदा हृदयेन कर्त्रा मदनतापस्य भरेण औत्कटयेन (हेतुना) विदीर्य, नो उदपाति नोत्पतितमिति यत्, भावे लुङ्। तमनुत्पतनरूपमपराधं प्रतिबध्नती निरुन्धती, निबिडपीनकुचद्वयेन यन्त्रणा बन्ध (कर्त्री), अधात्। हृदयकृतापराधं स्वयमुवाहेत्यर्थः। अत्रातिदाहेऽप्यस्फुटनं हृदयस्यायुःशेषनिबन्धनं तस्य कुचयन्त्रणानिमित्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते। सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १० ॥

अन्वय —दमस्वसुः हृदा मदनतापभरेण विदीर्य यत् नो उदपादि, तम् अपराधं निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा प्रतिवघ्नती अधात्।

हिन्दी - दमभगिनी (दमयन्ती) का हृदय काम-सन्ताप की प्रचुरता से विदीर्ण होकर जो उत्पतित नहीं हुआ, उस अपराध को घने पीन स्तनयुगल के बंधन ने रोककर धारण किया।

टिप्पणी—आशय यह है कि काम व्यथा इतनी प्रबल थी कि उसके कारण हृदय फट कर गिर जाता। वह उत्पतित नहीं हुआ, यह जैसे उस हृदय का अपराध था। वस्तुतः यह अपराध हृदय का नहीं था, उन घनकुचयुगल का था, जिनके बंधन में पकड़कर हृदय बाहर नहीं आ सका। मल्लिनाथ ने दाह के कारण स्फुटित हो जाने योग्य हृदय के कुचनियन्त्रणा से अस्फुटित रह जाने के कारण गम्या उत्प्रेक्षा मानी है, क्योंकि व्यञ्जक का प्रयोग नहीं है। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ।
मृदुतनोर्वितनोतु कथं न तामवनिभृत्तु निविश्य हृदि स्थितः ॥ ११ ॥

जीवातु—निविशत इति। शूकशिखा कण्टकाग्रं, पदे चरणे निविशते प्रविशति यदि, 'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदम्। सा प्रविष्टा शूकशिखा। कियतीमिव व्यथां पीडाम्, इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। कीदृशीं व्यथामित्यर्थः। न सृजति

नोन्मादयति, महतीमेव मृद्वतीत्यर्थः। अवनिभृद्राजा नल, पर्वतश्च। स तु, हृदि निविश्य स्थित सन्, मृदुतनो कोमलाङ्ग्या, ता तथाविधा, व्यथा कथ न वितनोतु तनोत्वेवेत्यर्थः। सम्भावनाया लोट्। अत्र पदे सूक्ष्मकण्टकप्रवेशे दुस्सहा व्यथा। किमुत मृद्व्या हृदि महत्प्रवेशेनेति कैमुत्यन्यायेनार्थापत्तेरर्था-पत्तिरलङ्कार ॥ ११ ॥

अन्वय —यदि शूकशिखा पदे निविशते सा कियतीम् इव व्यथा न सृजति ? मृदुतनो हृदि निविश्य स्थित अवनिभृत् तु ता कथ न वितनोतु ?

हिन्दी—यदि (अन्न के पौधो के अवशिष्ट निम्न भाग) डठल की नोक पैर में घुस जाती है, तो कितनी अधिक पीडा नही उपजाती ? (अत्यधिक पीडा उपजाती है।) कोमल तन दमयन्ती हृदय मे स्थित अवनिभृत् (पर्वत अर्थात् नल राजा) भला उस (अत्यधिक व्यथा) का विस्तार क्यो न करे ? (करना ही उचित है)।

टिप्पणी—'अवनिभृत्' द्व्यर्थबोधक शब्द है—(१) पर्वत, (२) राजा। इसी शब्द के प्रयोग से यहाँ चमत्कारकारिता आयी है। हृदय की अपेक्षा पैर अधिक कठोर होता है। तो कठोर पैर मे चुभी डठल की छोटी नोक भी जब पीडा उत्पन्न कर देती है, फिर कोमलतर दमयन्ती के हृदय मे धँसा पहाड (पक्षान्तर मे राजा नल) और भी अधिक पीडा का कारण होगा ही। कोमल हृदय मे धँसा 'अवनिभृत्' तो पीडा दे ही रहा है, पीडा का यह एक और कारण है कि अवनिभृत् नल हृदय मे स्थित होकर भी प्राप्त नही होता। इतना निकट और इतना अप्राप्य ! कैसी विडबना है ! पैर मे धसा छोटा सा कटक भी व्यथा देता है, कोमलागी के कोमलतम हृदय में यदि इतना बडा अवनिभृत् धँस जाय तो फिर कहना ही क्या ? इस आधार पर कैमुत्यन्याय से अर्थापत्ति होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थापत्ति अलकार माना है। तिलककार के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति तथा द्रव्य क्रिया विरोध अलकार। सचारीभाव चिन्ता का चित्रण ॥ ११ ॥

मनसि सन्तमिव प्रियमीक्षितु नयनयो स्पृहयान्तरुपेतयो ।
ग्रहणशक्तिरभूदिदमीययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

जीवातु—मनसीति। मनसि सन्त हृदि वर्तमान प्रियमीक्षितु स्पृहया अन्तरुपेतयोरन्त प्रविष्टयोरिव, इदमीययोरस्या सम्बन्धिनो। इदशब्दात्यदादे 'वृद्धाच्छ'। नयनयो सम्मुख पुरोदेश- वास्तु स्थान यस्य तस्मिन्नपि पुरोवर्तिन्यपि वस्तुनि, ग्रहणशक्ति साक्षात्करणसामर्थ्यं नाभूत्। नलव्यासङ्गान्न किञ्चिदन्यद्राक्षीदित्यर्थ। तद्व्यासङ्गनिमित्तस्य बाह्यादर्शनस्य चक्षुषोरन्त• प्रवेशननिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते। चिन्तैव सञ्चारी भाव ॥ १२ ॥

अन्वय—मनसि सन्त प्रियम् ईक्षितु स्पृहया अन्त उपेतयो इव इदमीययो नयनयो सम्मुखवास्तुनि अपि वस्तुनि ग्रहणशक्ति न अभूत्।

हिन्दी—मन मे स्थित प्रिय (नल) को देखने की आकाक्षा से मानो अन्तस् मे प्रविष्ट जैसे इस (दमयन्ती) के दोनो नेत्रों मे सम्मुख स्थित भी वस्तु को ग्रहण करने की शक्ति (देख लेने की क्षमता) नही थी।

टिप्पणी—विरह से बलात दमयन्ती की आँखें धँस-सी गयी थी, इसी पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि वे अन्तर्विद्यमान प्रिय की दर्शनाकाक्षा से भीतर धँसी जा रही थी। फिर भी निकटस्थित प्रिय को न देख सकने के कारण व्यथा और अधिक हो जा रही थी। लगता है, विरह के कारण दमयन्ती के नयन इतने सामर्थ्यहीन हो गये थे कि निकटस्थित प्रिय-दर्शन भी न कर पा रहे थे। सचारी भाव चिन्ता का वर्णन। तिलक, जीवातु, साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलकार ॥ १२ ॥

हृदि दमस्वसुरश्रुझरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानते।
हृदयभाजमराजत चुम्बितु नलमुपेत्य किलागमितं मुखम् ॥ १३ ॥

जीवातु—हृदीति। विरहेणात्ता प्राप्ता मुखानतिर्यया सा तस्या नम्रमुखाया दमस्वसु मुखम्। अश्रुझरेणाश्रुप्रवाहेण, प्लुते सिक्ते, हृदि हृदये प्रतिफलम् प्रतिबिम्बित सत्, हृदयभाज हृदि स्थित, नल चुम्बितुमुपेत्य गत्वा, आगमित सञ्जातागमन किल, प्रत्यागतमित्युत्प्रेक्षा। तारकादित्वादितच्। किलेति सम्भावनायाम्। 'वार्तासम्भाव्ययो किल' इत्यमर। अराजत रराज। सम्भावनायामुत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

अन्वय—विरहात्तमुखानते दमस्वसु मुखम् अश्रुझरप्लुते हृदि प्रतिफलत् हृदयभाज नल चुम्बितुम् उपेत्य किल आगमितम् अराजत।

हिन्दी—वियोग के कारण जिसका मुख झुक गया है, ऐसी दम-भगिनी (दमयन्ती) का मुख अश्रु-प्रवाह से सिंचे हृदय पर प्रतिबिम्बित होता हृदय में स्थित नल के चुम्बन को जाकर लौट आया जैसा सुशोभित हो रहा था।

टिप्पणी—सम्भावनार्थक 'किल' के प्रयोग के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति हैं। चिंता के अनुभाव रोदन का चित्रण ।१३।

सुहृदमग्निमुदञ्चयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः ।
अकलि निःश्वसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता ॥ १४ ॥

जीवातु—सुहृदमिति । गन्धवहेन बाह्यवायुना, सुहृदं सखायम् । 'रोहिताश्वो वायुसख' इत्यग्नेर्वायुसखत्वाभिधानात् । मृगीदृशः भैम्याः, मनसि, स्मरमेवाग्निमुदञ्चयितुमुद्दीपयितुं, निःश्वसितेन निःश्वासवातव्याजेन, विनिर्गमेण बहिर्निस्सारणेन, अनुमितं निह्नुतं, प्रागज्ञातं, यद्वेशनमन्तःप्रवेशस्तत्र मायिता मायाविन्वम् । तत्कल्पनापाटवं वीक्षादिस्वादिति अकलि कलितं प्राप्तम्, नूनमिति शेषः । अग्निदो हि गूढं प्रविश्य प्रकाशं निर्गच्छति, तद्वद्वायुरपि यादृङ्निःश्वासव्याजेन तथा कृत्वा निर्गतं इत्युत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

अन्वय—मृगीदृशः मनसि सुहृदं स्मरम् अग्निम् उदञ्चयितुं निःश्वसितेन गन्धवहेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता अकलि ।

हिन्दी—मृगनयना (दमयन्ती) के मन में स्थित मित्र कामदेव रूप अग्नि को उद्दीप्त करने के निमित्त निःश्वास रूप वायु ने बाहर निकलने से जिसके गुप्त प्रवेश का अनुमान हो, वह माया स्वीकारी ।

टिप्पणी—विरहपीडिता, कामसन्तप्ता दमयन्ती लम्बी-लम्बी सासें लेती । कवि ने इस पर कल्पना की दमयन्ती के हृदय में जो काम रूप अग्नि है, उसे उत्तेजित करने या हृदय-कारागार से मुक्ति दिलाने के लिए अग्नि का मित्र वायु पहिले निःश्वास रूप में अतस् में प्रविष्ट हुआ और उसी कपट वेश में बाहर निकला । मित्र की सहायता मित्र करता ही है । कपट रूप इसलिए प्रतीत हुआ कि जब कामाग्नि का मित्र वायु निःश्वास वेष में बाहर निकल रहा है तो उच्छ्वास वेष में अन्दर प्रविष्ट भी हुआ होगा । मल्लिनाथ के अनुसार

उत्प्रेक्षा अलकार। विद्याधर ने समासोक्ति और रूपक का निर्देश किया है। नि श्वास भी चिंता का अनुभाव है ॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमपीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः।
दश दिश खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ॥ १५ ॥

जीवातु—विरहेति। तस्या दमयन्त्या, दृग्दृष्टिरेव, लिपिकरी चित्रकरी, विरहेण पाण्डिमा शरीरश्वैत्य, रागोऽनुराग स एव रागो रक्तिमा। श्लिष्टरूपकम्। तमो मोहस्तदेव मपी तस्या शितिमा नीलिमा। तस्या एव्या निजो नैसर्गिक पीतिमा कनकवर्ण, चतुर्णां द्वन्द्व, तैरेव वर्णकैः चित्रसाधनै, दश दिशस्ता एव भित्तीरिति शेप। नलस्य रूपकै प्रतिकृतिभिचित्रिता सञ्जातचित्रा, तारकादित्वादितच्। अकल्पयदसृजत्खलु। निरन्तरचिन्ताजनितया भ्रान्त्या प्रतिदिश मिथ्यानलानद्राक्षीदित्यर्थ ॥ १५ ॥

अन्वय—तद्दृक् लिपिकारी विरहपाण्डिमरागतमोमपीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकै दश दिश नलरूपकचित्रिता अकल्पयत् खलु।

हिन्दी—उस (दमयती) की दृष्टि रूपिणी चितेरी ने विरह मे सजात पाडुरता रूप भूरे, अनुराग रूप लाल, मूर्च्छा रूप मसी (स्याही) के काले और अपने काञ्चन (देह रूप) पीत वर्णों (रगों) से दसो दिशाओ मे नल के रूपक (चित्र) बना दिये।

टिप्पणी—वियोग पीड़िता दमयती वियोग मे पाडुर हो गयी, अनुराग की तीव्रता मे मूर्च्छित हो जाती, उसका देहरूप काचनपीत था ही। सब ओर वियोग मे उसे नल-ही नल दीखता। इसी पर यह कवि कल्पना है कि पाडुरता-राग-मूर्च्छा-काञ्चनपीतदेह के भूरे, लाल, काले, पीले रगो की सहायता से चितेरी दमयती दृष्टि ने दश दिशा रूप भित्तियाँ नल के विविध चित्रो से परिपूर्ण कर दी। मल्लिनाथ ने यहाँ चिंताजनित भ्राति मानी है। इसे ही नारायण ने उन्माद दशा माना है। उनके अनुसार दृष्टि की लिपिकरी रूप मे उत्प्रेक्षा की गयी है। विद्याधर रूपक और विशेष अलकार मानते हैं ॥ १५ ॥

स्मरकृतिं हृदयस्य मुहुर्दशा बहु वदन्निव नि श्वसितानिल।
व्यधित वाससि कम्पमद श्रिते भ्रमति मं सति नाश्रयबाधने ॥ १६ ॥

जीवातु—स्मरहृतिमिति। निःश्वसितानिल, स्मरहृतिमदनकर्तृकहृष्टि-स्था, हृदयस्य हृत्पिण्डस्य, दशानवस्थां बहु बहुवार (क्रियाविशेषणम्), वदन्निव एव कम्पत इति व्यवदनितेत्युत्प्रेक्षा। अदो हृदय, श्रिते वाससि, कम्पस्खलन, तत्कारण वाससः, मुहु व्यथित विहितवान्। दधातेर्लुङि तङ्। 'स्थाध्वोरिच्च' इतीकार। 'हृस्वादङ्गात्' इति सिचो लोप। तथा हि-आश्रयबाधने सति, को नाम न बाधते। सर्वोऽपि बाधस्यैवेत्यर्थ। तद्वाधे तदाश्रितस्य स्वस्यापि बाधादिति भाव। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ १६ ॥

अन्वय—निःश्वसितानिल स्मरहृति हृदयस्य दशा बहु वदन् इव अदः श्रिते वाससि कम्प मुहु व्यथित, आश्रयबाधने सति क न बाधते ?

हिन्दी—निःश्वास वायु ने कम्पविहित (दमयती के) हृदय की अवस्था को अनेक बार मानो कहते हुए, उस (हृदय-वक्ष) पर स्थित वस्त्रो को कम्पन देते हुए बारबार पीडा दी, आश्रयस्थली के बाधित (बाधा-व्यथा युक्त) होने पर कौन नहीं डरता ? सभी डरते हैं।

टिप्पणी—दीर्घ निःश्वास के कारण दमयती के हृदय-वक्ष स्थल पर पडे वस्त्र बार-बार हिल उठते हैं। हृदय पर स्थित होने के कारण हृदय वस्त्रों का आधारभूत आश्रय हुआ, सो आश्रय स्थल पर विपत्ति आने पर आश्रित वस्त्र भी विपद्ग्रस्त हो त्रस्त हुए। आश्रय कंपित होगा तो आश्रित भी कंपित होगा। आशय यह कि विरहनिःश्वास के कारण हिलते वस्त्र दमयती की प्रबल व्यथा की सूचना दे रहे थे। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलकार, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार अर्थान्तरन्यास और उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

करपदाननलोचननामभि शतदलैः सुतनोर्विरहज्वरे।
रुचिमितो बहु पीतचरं चिरादनिशतापमिषादुदसृज्यत ॥ १७ ॥

जीवातु—करेति। करौ पदे आनन लोचने इति नामानि येषा तै, तदाकारपरिणामात्तन्नामधारिभि शतदलै कुशेशयै (कर्तृभि) चिराद चिरकालप्रभृति, पीतचर रसवशाद् पूर्वपीत, भूतपूर्वे चरट्प्रत्यय। बहु भूरि, रविमह भूर्यतेज, सुतनो दमयन्त्या, विरहज्वरे ज्वरावस्थाया, अनिश-

तापमिषाग्निरन्तरोप्मव्याजात्, उदसृज्यत उत्सृष्टम्। नूनमिति शेष। अत्र पद्मानां भैमीकरचरणादिभ्यो नाममात्रभेदः न रूपभेद इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः। तन्मूला चेयं पूर्वपीततेजोवमनोत्प्रेक्षा। सा च तापव्याजादित्यपह्नवानुप्राणितेति सङ्कर ॥ १७ ॥

अन्वय—करपदाननलोचननामभिः वनदलैः चिरात् पीतचर बहु रविमह सुतनौ विरहज्वरे अनिशतापमिषात् उदसृज्यत।

हिन्दी—हस्त, चरण, मुख और नेत्र नामधारी कमलों द्वारा बहुत काल से पहिले पी लिया गया प्रचुर सूर्य तेज सुन्दरी (दमयन्ती) वियोग ज्वर में निरन्तर ताप के व्याज से (जैसे) उत्सृष्ट किया जा रहा था।

टिप्पणी—वियोग ज्वर मे दमयती के कमल-तुल्य हाथ, पैर, मुँह, आँखें सभी तप रहे थे। कवि ने कल्पना की है कि कर-पदादि रूप वाले कमलो ने विकसित होने के लिए पहिले सूर्य तेज अत्यधिकमात्रा मे पी डाला, जो उन्हे सह्य न हुआ। इसी कारण ज्वर ताप के रूप मे बार-बार उसे भीतर से बाहर निकाल रहे हैं—अधिकमात्रा में पी लिये गये को वमन करके निकाल रहे है। भाव यह है कि विरह व्यथिता दमयती का प्रत्यग काम ज्वर से अत्यधिक सतप्त था। इस पद्य मे दमयती के कर-पदादि नामत ही कमल से भिन्न कहे गये हैं, रूपत नही, अर्थात् करादि अगो मे पूर्णतया कमल रूप सादृश्य है, भेद नाममात्र का है। इस कारण अभेदकथन होने से जीवातु टीका मे यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया गया है और बताया गया है कि 'पूर्वपीततेजोवमन' की उत्प्रेक्षा तन्मूलक ही है, और वह 'ताप-व्याजात्' कथन होने से अपह्नव से अनुप्राणित है। इस प्रकार सकर है। तिलक और साहित्यविद्याधरी में अतिशयोक्ति, समासोक्ति और अपह्नुति का निर्देश किया गया है ॥ १७ ॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्धरणिभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत्।
अनुमितोऽपि च वाष्पनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नल ॥ १८ ॥

जीवातु—उदयतीति। आलिभिः सखीभिः, तत्र तस्यां, धरणिभृतो भीमभूपाद्भवतीति तद्भूः भैमी तस्या पर्वतभूमौ च विमृश्य व्याप्तिमनुसन्धाय, बाष्पनिरीक्षणादश्रुलिङ्गदर्शनात्। अन्यत्र, धूमदर्शनात्। 'बाष्पोऽश्रुण्यपि धूमे च'

च' इति वैजयन्ती। अनुमितिः अनुमितः, अन्यत्र लिङ्गज्ञानादिनाऽरीतिरपि तापकरः सन्तापजनकः, न तु नैव, अनलः अनलोऽपि न व्यभिचार नाऽपगतो वस्तुनीति यद् तदद्भुतमद्भुतवदभूदित्युत्प्रेक्षा। 'अद गतौ' इति धातोः लङ्। तत्पिताऽनलोऽपि तस्याः हृद्गतस्मरानलदहनमप्रकटितमही इति तस्मात्। वाष्पात्मलिङ्गदर्शनात्ज्ञानम्। तच्चाव्यभिचारीति स्फुटो विरोधस्तदनुलिङ्गात् सन्तापकरो मदनो निश्चित इत्याभासीकरणाद्विरोधाभासः। स च श्लेषानुप्राणितः। तापकरो मदन इति श्लेषः। अन्यत्रावधेय। अपि विरोधे ॥ १८ ॥

अन्वयः—आलिभिः तत्र धराभृद्भुवि विमृश्य वाष्पनिरीक्षणात् अनुमितः अपि तापकरः नलः (मदनः) यत् न व्यभिचार, तत् अद्भुतवत् अदयति स्म।

हिन्दी—(१) सखियों द्वारा उस राजा की आत्मजा (दमयन्ती) में विचार पूर्वक आंसुओं को देखकर भी विरहताप देने वाले मदन का अनुमान भी ठीक कर लिया, यह आश्चर्य ही हुआ।

(२) सखियों द्वारा उस पर्वतभूमि में विचार पूर्वक भाफ निकलती देख कर भी जो ताप देने वाली अग्नि (अनल) का अनुमान ठीक से कर लिया यह आश्चर्य की वस्तु ही है।

टिप्पणी—जहाँ भाफ-धुआँ होता है, वहां आग होती है—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः', यह अनुमान-सिद्ध है। धुआं-भाफ देखकर आग का अनुमान कर लिया जाता है, जो आश्चर्यजनक है। 'धराभृत्प्रभू' पर्वत के तुल्य धराभृत्-राजा की बेटी दमयन्ती के वाष्प-भाफ तुल्य अश्रु देखकर जो अनल रूप मदन का ठीक अनुमान कर लिया, वह अनुमान की प्रणाली के समान ही आश्चर्यजनक है। बिना बताये ही सखियों ने दमयन्ती का मदनानुराग जान लिया, यह आश्चर्य ही हुआ। मल्लिनाथ ने बताया है कि वाष्प-निरीक्षण से अनल का ज्ञान होता है, वह व्यभिचारी है। इस स्फुटित विरोध का अश्रु रूप लिङ्ग से सन्तापकर मदन का निश्चय किया गया। इस प्रकार का आभास होने के कारण यहाँ विरोधाभास है और वह श्लेषानुप्राणित है। 'तापकरानल'—यह श्लेषोक्ति है, अन्यत्र अवधेय। 'अपि' विरोध-

वाचक है। तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार श्लेष–व्यतिरेक अलङ्कार है॥ १८॥

हृदि विदर्भभुवं प्रहरन् शरैः रतिपतिर्निषधाधिपते कृते।
कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिरमूर्च्छदलं खलु॥ १९॥

जीवातु—हृदीति। निषधाधिपते कृते नलस्यार्थं, तत्प्रहारार्थमित्यर्थः। 'अर्थे कृते च शब्दौ द्वौ तादर्थ्येऽव्ययसंज्ञितौ' इति वचनात्। विदर्भभुवं दमयन्तीं, शरैर्हृदि प्रहरन्, नलस्य सदा तद्गतत्वादिति भावः। रतिपतिः कामः, कृता तदन्तरगस्य भैमीहृद्गतस्य स्वस्य दृढव्यथा येन सः, स्वयमपि तद्गतत्वात् प्रहृत इत्यर्थः। फलती अनीतिर्दुर्नीतिर्यस्य सोऽलमत्यन्तममूर्च्छद्वर्धत खलु। अमुह्यादिति च गम्यते। 'मूर्च्छामोहसमुच्छ्राययोः' इत्यनुशासनात्, तदभेदेन मूर्च्छालक्षणकार्यदर्शनाद्रतिपतेः स्मरस्यापि प्रहारः उत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। सा च श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः। परप्रहारोद्यतस्य स्वप्रहारव्यानघोत्पत्तिविषमभेदश्च व्यज्यते॥ १९॥

अन्वय—निषधाधिपते कृते विदर्भभुवं हृदि शरैः प्रहरन् रतिपतिः कृततदन्तरगस्वदृढव्यथः फलदनीतिः अलम् अमूर्च्छत् खलु।

हिन्दी—निषधराज (नल) के निमित्त विदर्भतनया (दमयन्ती) के हृदय पर प्रहार करता रति का स्वामी (काम) उस (दमयती) के हृदय में स्थित स्वयं को प्रभूत पीड़ा देकर दुर्नीति के फल को प्राप्त हुआ (स्वयम् भी) लगता है, गहरी मूर्च्छा को प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती के हृदय में काम अति-प्रचुर हो गया। 'अमूर्च्छत्' का एक अर्थ 'वृद्धि को प्राप्त होना' भी है, जिससे 'काम-प्रचुरता' भाव व्यक्त होता है। इस स्थिति में यह कल्पना करनी होगी—सौन्दर्य में नल काम का प्रतिद्वन्द्वी है, नलानुरक्ता दमयन्ती भी इस कारण काम की शत्रु है, क्योंकि शत्रु का मित्र शत्रु होता है। अतः दमयन्ती के हृदय पर प्रहार करने से शत्रु को व्यथा देता काम 'अलम् अमूर्च्छत्' अर्थात् बढ़ गया अर्थात् उन्नति को प्राप्त हुआ और शत्रु के मित्र पर प्रहार वाली उसकी नीति फलवती (फलदा+नीति) हो गयी।

'अमूर्च्छत्' के 'मूर्च्छित हो गया' अर्थ में इस प्रकार विचारना होगा, नल का स्थान दमयन्ती का हृदय था, उन बिना वियोगिनी दमयन्ती के हृदय में काम भी विराजमान था। उस 'हृदय' पर प्रहार करके काम ने फलाफल पर विचार नहीं किया, सो प्रहार उस पर भी हो गया। वह गहरी मूर्च्छा को प्राप्त हो गया और इस प्रकार अनीति फल गयी (फलत्—अनीति)। अथवा शत्रु तो नल था और प्रहार दमयन्ती के हृदय पर किया, वहाँ उन बिना काम स्वयं स्थित था, इस प्रकार अपनी अनीति का फल काम को स्वयं भोगना पड़ा। अथवा नल दमयन्ती के हृदय-दुर्ग में छिपा था, काम का उचित था कि वह उस दुर्ग-स्थित शत्रु पर प्रहार करते समय यह विचार लेता कि स्वयम् उसकी रक्षा का उचित प्रबन्ध है अथवा नहीं? बिना विचारे किये प्रहार का वह स्वयं लक्ष्य बना और अनीति का—अविचार का फल पा गया।

केन्द्रीय भाव यही है कि दमयन्ती की कामपीड़ा बढ़ गयी। मूर्च्छा से वृद्धि को प्राप्त काम दमयन्ती को बड़ी पीड़ा दे रहा था।

मल्लिनाथ ने इस श्लोक में श्लेषानुप्राणित अतिशयोक्ति द्वारा उपानिद गम्या उत्प्रेक्षा का निर्देश करके संकर अलङ्कार माना है। तिलक और साहित्य-विद्याधरी में उत्प्रेक्षा-श्लेष का निर्देश किया गया है॥ १९॥

विधुरमानि तया यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्धृदयं तथा।
अपि वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृततदुपलत्वमजिज्वलदंशुभिः॥ २०॥

जीवातु—विधुरिति। तया दमयन्त्या, विधुश्चन्द्रः, भानुमान् सूर्यः, अमानि मेने यदि विरहितापकत्वात्र चित्रम्। किन्तु, स सूर्यत्वाभिमतो विधुः, वियोग एव भरो भारस्तेनापि यदस्फुटनमविदरणं, तेन स्फुटीकृतं व्यक्तं सूर्योपलत्वं यस्य तत्। अन्यथाभिनारात्प्लोष्टादिवद्विशीर्येतेति भावः। तद्धृदयमपि सूर्यकान्तमणीत्यर्थः। कथं तथा सूर्यवत् अंशुभिः स्वतेजोभिः, अजिज्वलत् ज्वलयति स्म। ज्वलतेर्णौ चङ्। अहो विधुर्विरहिणा-मुद्दीपनत्वात् सूर्यस्तत्तु नाम। तद्धृदयोज्ज्वलयितृत्वं तु चित्रमित्यर्थः॥२०॥

अन्वय—तया यदि विधुः भानुमान् अमानि, स तु वियोगभरास्फुटनस्फुटी-कृततदुपलत्वम् तद्धृदयम् अपि कथं तथा अंशुभिः अजिज्वलत्, अहो!

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने यदि चन्द्र को सूर्य मान लिया, (परन्तु) वह (सूर्य मान लिया गया चन्द्र) तो वियोग के भार से भी विदीर्ण न होकर जिसने अपना पाषाण (सूर्यकांतमणि) होना प्रकट कर दिया है, ऐसे उसके हृदय को भी कैसे उस प्रकार जला रहा था ? यह आश्चर्यजनक है।

टिप्पणी—आशय यह है कि विरहिणी दमयन्ती का चन्द्रमा ऐसा ताप दे रहा था कि वह उसे सूर्य मान रही थी। इसमें आश्चर्य-विषय यह है कि चन्द्र हृदय को सन्तप्त कैसे कर रहा था ? दमयन्ती के हृदय ने तो अपने को एक पत्थर (सूर्यकान्तमणि) प्रमाणित कर दिया था, क्योंकि यदि वह पत्थर न होता तो वियोग के भार से फट जाता, तो चन्द्र पत्थर को तपा कैसे रहा था ? इसके अतिरिक्त पत्थर—सूर्यकान्तमणि रूप में प्रमाणित हृदय को तो सूर्य ही ज्वलित कर सकता है, चन्द्र नहीं। तो चन्द्र उसे कैसे जला रहा था ? इससे ऐसा लगता है कि या तो यह सूर्य रूप प्रमाणित चन्द्र अतीव आश्चर्य का विषय है या फिर यह चन्द्र है ही नहीं, सूर्य ही है। चन्द्र में आरोपित सूर्य की भावना नहीं है, वास्तविक सूर्य है। तिलक और साहित्य विद्याधरी के अनुसार यहाँ विरोधालङ्कार है। 'शङ्का' व्यभिचारी भाव का वर्णन ॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुहया तया क्व सदृगस्तु वियोगनिमग्नया।
प्रियधनुं परिरभ्य हृदा रतिः किमनुमर्तुमनेत चितावपि ॥ २१ ॥

जीवातु—हृदयेति। वियोगनिमग्नया विरहाग्निमग्नया, अत एव हृदयदत्तसरोरुहया सन्तापशान्त्यै वक्षोनिक्षिप्तपद्मया, तया समाना दृश्यत इति सदृक् सदृशी स्त्री 'समानान्ययोश्च' इत्युपसङ्ख्यानात्समानोपपदाद्दृशो क्विन्प्रत्ययः। 'दृग्दृशवतुषु' इति समानशब्दस्य सभावः। क्वास्तु न क्वापीत्यर्थः। रतिः कामपत्नी, हृदा वक्षसा प्रियस्य स्वभर्तुः, धनुः पौष्पमित्यर्थः परिरभ्य, अनुमर्तुम् अनुगमनं कर्तुं, चितावपि, अनेत शयिता किम्। प्रियधनुमनुमर्तुं चितावपि शयाना साक्षाद्रतिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा। तज्ज्वराग्निस्तया प्रज्वलतीति भावः ॥ २१ ॥

अन्वय—वियोगनिमग्नया हृदयदत्तसरोरुहया तया सदृक् क्व अस्तु ? हृदा प्रियधनुं परिरभ्य अनुमर्तुं चितावपि रतिः अनेत किम् ?

हिन्दी—विरह में निमग्न (अतएव) हृदय पर कमल आरोपित किये उस (दमयन्ती) के सदृश कहाँ होगी ? हृदय से प्रिय (कामदेव) का पुष्प-धनुष् लगाये अनुमरण (मृत पति के साथ मरण) के लिए चिता की लपटों में रति सोयी थी क्या ?

टिप्पणी—इस तथा अगले (बाइसवें) श्लोक में कामदशा मरण का सूचन है। कवि यह कहना चाहता है कि विरह से प्रचुर पीड़िता, कमला होने पर दमयन्ती अनुपम सुन्दरी थी, विश्व में वैसी कोई दीखनी ही नहीं थी। अग्नि के अधिक कमल-पुष्प रूप धनुष् को वक्ष से लगाये मृतपति काम के साथ जल मरने को उद्यत रति से उसकी समता के विषय में विचार किया जा सकता है, किन्तु विचारमात्र, वास्तविकता ऐसी नहीं है। कारण कि रति तो पति के भस्मावशेष हो जाने पर जल जाने को चिता पर लेटी थी, दमयन्ती तो प्रिय-वियोग में ही कमल रूप धनुष को हृदय में लगाये, प्रिय-प्रतीक को हृदय पर धर कर सतियों की मर्यादा के अनुकूल आचरण करती (वियोगाग्नि में) आग में जली जा रही है। सो इस नया-वीती स्थिति में भी विश्व की अद्वितीय सुन्दरी रति से भी दमयन्ती की समानता सम्भव नहीं। जीवातु-तिलक-साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ २१ ॥

अनलभावमिव स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुध्यत।
प्रशमनाय विधाय तृणान्यमून् ज्वलति तत्र यदुज्झितुमैहत ॥ २२ ॥

जीवातु—अनलभावमिति। इयं दमयन्ती, स्वनिवासिनः स्वनिष्ठस्य, विरहस्य नलवियोगस्य, रहस्यं गम्भीराभिप्रायमविज्ञातम्, अनलभावमग्नित्वं, नल-रहितत्वञ्च गम्यते। नाबुध्यत नाजानादित्यर्थः। कुतः, यद्यस्मात्, तत्र तस्मिन्विरहे, ज्वलति सति, प्रशमनाय प्रज्वलनप्रतीकारार्थम्, अमून्, तृणानि विधाय तृणप्रायान् कृत्वा तृणान्यकार्षीदिति। उज्झितुं त्यक्तुं प्रक्षेप्तुञ्च। ऐहत ऐच्छत्। अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छान्तये तत्र तृणप्रक्षेप इत्यर्थः। विरह-दुःखान्मर्तुमैच्छदिति तात्पर्यार्थः ॥ २२ ॥

अन्वय—इयं स्वनिवासिनः विरहस्य रहस्यम् अनलभावं न अबुध्यत, यत् तत्र ज्वलति प्रशमनाय अमून् तृणानि विधाय उज्झितुम् ऐहत।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) अपने मे वास करते विरह का रहस्य अनलभाव (अग्नि की सत्ता, पक्षान्तर में अ+नल भाव अर्थात् नल का अभाव) न समझी, जो कि उस वियोगाग्नि के जलते रहने पर उसके बुझाने के लिए प्राणों को तृण बना कर छोडना (डालना) चाह रही थी।

टिप्पणी—दमयन्ती यदि विरह को अग्नि रूप मे समझती तो क्या उस अग्नि के प्रशमन (बुझाने) के लिए प्राण रूप तृण उसमे डालती ? तृण पडने से आग बुझती नही, जलती ही है। सो दमयन्ती ने विरहाग्नि भाव को ठीक ठीक नहीं समझा। 'प्रशमन' का अर्थ यम भी है, 'अनलभाव' का अन्य अर्थ नल की अप्राप्ति भी हुआ—अ+नल+भाव, नलभाव का निषेध। इस स्थिति मे 'काकु' के आधार पर अर्थ हुआ कि दमयन्ती ने यह समझ लिया कि नल की प्राप्ति असमव है, अत तृणसमान प्राणो मे 'प्रशमन' (यम) को दे देना ही उचित है। 'अनलभाव न अबुध्यत ? अपि तु अबुध्यत एव। भाव यह कि नल की प्राप्ति असम्भव मान कर दमयन्ती प्राण देना चाह रही थी। विरह अग्नि के समान दु सह हो रहा था। तिलक टीका के अनुसार यहाँ अनुमान–अतिशयोक्ति–विरोध का सकर है, साहित्यविद्याधरी के अनुसार अनुमान और अतिशयोक्ति ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणस्स न योषिता कथमिमा हृदय मृदु नाम यत्।
तदिषुभि कुसुमैरपि धुन्वता सुविवृत विबुधेन मनोभुवा ॥ २३ ॥

जीवातु—प्रकृतिरिति। योषिता हृदय मृदु नामेति यत्। नामेति प्रसिद्धौ। स इति विधेयप्राधान्यात् पुल्लिङ्गता। प्रकृति प्रकृतिसिद्ध, गुणो मादवगुण, इमां दमयन्ती कथ नैतु प्राप्नोत्वेवेत्यर्थं। कुत ? तन्मृदुत्व कुसुमैरपि इषुभि, धुन्वता विबुधेन देवेन विदुषा च मनोभुवा, सुविवृत सम्यग्व्याख्यातम्, विद्वदधिकारत्वात्सन्दिग्धार्थनिर्णयस्येत्यर्थं। कुसुमादपि सुकुमारमस्या हृदयमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अन्वय — योषितां हृदय मृदु नाम, यत् स प्रकृति गुण इमां कथ न एतु ? तत् कुसुमै अपि धुन्वता विबुधेन मनोभुवा सुविवृतम्।

हिन्दी—नारियों का हृदय कोमल प्रसिद्ध है, सो वह स्वाभाविक गुण इस (दमयन्ती) में क्यों न आता ? उसे पुष्प बाणों से भी कम्पित (पीडित) करते विद्वान् मनोभव (काम) ने भली भाँति स्पष्ट कर दिया।

टिप्पणी—नारी-हृदय कुसुम कोमल होता है, यह मान्य है ही। कामदेव ने दमयन्ती को फूलों के ही बाणों से प्रहार करके पीडित कर डाला, इससे यह सिद्ध हो गया कि नारीजनोचित प्राकृतिक गुण कोमलता दमयन्ती में भी है। यदि वह कोमल न होती तो क्या फूलों से पीडित होती ? मदनबाणों से दमयन्ती पीडित थी, यह आशय है। तिलक टीका के अनुसार अनुमानालंकार, साहित्यविद्याधरी के अनुसार अनुमान-श्लेष। 'नारी-प्रकृति' 'गुण' अर्थात् 'डोरी' है, जिसको आधार बना काम पुष्प-बाण छोड रहा है ॥२३॥

रिपुतरा भवनादविनिर्यतीं विधुरुचिर्गृहजालबिलैर्नु ताम्।
इतरथात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितुं बिसवेषधराविशत् ॥ २४ ॥

जीवातु—रिपुतरेति। रिपुतराऽतिद्वेषिणी, विधुरुचिश्चन्द्रप्रभा, भवनादविनिर्यतीमनिर्गच्छन्ती, इणश्शतरि ङीप्। तां भैमीं ज्वलयितुं, सन्तापयितुं, इतरथा निजरूपेण प्रवेशे आत्मनिवारणशङ्कया। स्वप्रवेशप्रतिषेधभिया, बिसवेषस्य धरा सती, गृहस्य जालबिलैर्गवाक्षरन्ध्रैः अविशत् प्रविष्टा किम्। शिशिरोपचारबिसाङ्कुरा निरन्तरान्तःस्थितभैमीशायनाय प्रच्छन्नप्रविष्टेन्दुकरा इव प्रविभान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अन्वय—रिपुतरा विधुरुचिः भवनात् अविनिर्यतीं तां ज्वलयितुम् इतरथा आत्मनिवारणशङ्कया बिसवेषधरा गृहजालबिलैः अविशत् नु।

हिन्दी—महावैरिन चाँदनी भवन से बाहर निकलती उस (दमयन्ती) को सताप देने के लिए चाँदनी के रूप में प्रवेश करने पर अपने रोक दिये जाने की आशङ्का से कमलनाल का वेष धारण करके भवन के झरोखों के छिद्रों से जैसे प्रविष्ट हो गयी।

टिप्पणी—दमयन्ती को कामसंताप के उपचारार्थ प्रयोग में लाये जाने वाले मृणाल भी संताप देते थे। इसी पर कवि ने संभावना की है कि लगता है वे 'बिस' नहीं थे, अपितु बिसवेषधारिणी महावैरिन चाँदनी थी, जो रूप

बदल कर चुपचाप असामान्य गवाक्ष मार्ग से भीमात्मजा की हत्या के लिए घुस आयी थी। वेष इसलिए बदला कि स्वरूप में वैरिन चाँदनी को द्वार पर ही रोक दिया जाता—कौन घुसने देता महावैरिणी को? गवाक्षमार्ग इसलिए अपनाया कि रूप बदलने पर भी कदाचित् मुख्य द्वार पर पहिचान ली जाय, अमुख्य मार्ग ही चुपचाप प्रवेश के लिए अधिक उपयुक्त होता है। हत्यारे हत्या के लिए यही रीति अपनाया करते हैं। 'भवन से बाहर न निकलना' निर्वेद सञ्चारी का अनुभाव है। इससे निरन्तर भीतर रहती दमयन्ती की हत्या के निमित्त चन्द्रप्रभा जैसे लगते थे—इस सम्भावना के आधार पर इस श्लोक में मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षालंकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ सन्देहोत्प्रेक्षा और समासोक्ति है॥ २४॥

हृदि विदर्भभुवोऽश्रुभृति स्फुटं विनमदास्यतया प्रतिबिम्बितम्।
मुखदृगोष्ठमशरापि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिला शराः॥२५॥

जीवातु—हृदीति। विदर्भभुवो वैदर्भ्याः, विनमदास्यस्तया नम्राननत्वेन (हेतुना) अश्रूणि बिभर्तीत्यश्रुभृत्, क्विप्। तस्मिन्नश्रुसिक्त इत्यर्थः। हृदि वक्षसि, वैमल्यात् स्फुटं यथा तथा प्रतिबिम्बितं, मुखं च दृशौ च ओष्ठश्च मुखदृगोष्ठम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। मनोभुवा कामेन, तस्य मुखादेः उपमाकुसुमानि पद्मम् उत्पले बन्धूके च पञ्चधा स्थितान्युपमानपुष्पाणि तान्येव अखिला पञ्चापि शरा अशरोपि रोपितम्। तस्यास्तथाविधे वक्षसि प्रतिफलितं मुखाद्यवयवपञ्चकं पञ्चशरनिखातम्, तदुपमानकुसुमशरपञ्चकमिवाऽदृश्यतेत्युत्प्रेक्षार्थः॥ २५॥

अन्वय—विदर्भभुवः विनमदास्यतया अश्रुभृति हृदि स्फुटं प्रतिबिम्बितं मुखदृगोष्ठं मनोभुवा तदुपमाकुसुमानि अखिला शराः अरोपि।

हिन्दी—विदर्भतनया (दमयन्ती) के मुख नीचे झुके होने का कारण आँसुओं से भरे हृदय में स्पष्ट प्रतिबिम्बित होते (झलकते) मुख, दोनों नेत्र और दोनों अधरोष्ठों के रूप में जैसे मनोभव (कामदेव) ने उनके उपमानभूत अपने समस्त (पाँचों) बाण आरोपित कर दिये।

टिप्पणी—विरहिणी, व्यथिता दमयन्ती मुँह नीचा किये आँसू गिराती रहती थी। ऐसा लगता था कि जैसे काम ने एक साथ पाँचों बाण उसके हृदय में फेंक दिए हैं। पाँच बाण दमयन्ती का मुख, नयनकमल और दोनों ओठ हैं, जो आँसू भरी उसकी छाती पर स्पष्ट प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। मुख पद्म है, दो नेत्र, दो नील कमल हैं और दोनों अधरोष्ठ दो बन्धूक-पुष्प (दोपहरिया के फूल) हैं। कमलादि पुष्पादि के उपमान माने गये हैं, उन्हीं के रूप में काम ने अपने पाँचों बाण दमयन्ती के हृदय में आरोपित कर दिये। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है विद्याधर ने समासोक्ति मानी है। प्रकाशकार ने 'मुखनृपोदय' में व्यञ्जकत्व का निर्देश किया है ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोलतले विधुर्ध्वनित भीमभुवः प्रतिबिम्बितः ।
अनुसरत्सितताशुतया मुखं निजसखं सुखमङ्कमृगार्पणात् ॥ २६ ॥

जीवातु—विरहेति। विधुः भीमभुवः भैम्याः, विरहेण पाण्डुनि कपोलतले गण्डस्थले, प्रतिबिम्बितः सन्, अनुसरन्त्या सितताशुतया स्वाद्यदोषात् दुर्लक्ष्य-शुभ्रकिरणतया, मुखमनायासेन अङ्कमृगार्पणात् सितकलङ्कमृगसमर्पणात्, मुखं भैमीमुखं निजसखं स्वसदृशं, व्यनक्ति विहितवान्। दोषिणो हि स्वदोषं निर्दोषेऽपि स्वसदृशेऽपि सङ्क्रमय्य समीकुर्वन्तीति भावः। केचित्तिलकदानेनात्मसमं कुर्वन्तीति भावं वर्णयन्ति। अत्र चन्द्रस्य कपोलसादृश्येन तद्वैवर्ण्य-नात् सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

अन्वय—भीमभुवः विरहपाण्डुकपोलतले प्रतिबिम्बितः विधुः अनुसरत्-सितताशुतया मुखम् अङ्कमृगार्पणात् मुखं निजसखं व्यधित।

हिन्दी—भीमतनया के वियोग में पाण्डु कपोल-स्थल में प्रतिबिम्बित होते चन्द्र ने न लक्षित हो पाती शुभ्र किरणों (अथवा अलक्षित श्वेतता) के कारण सरलतापूर्वक गोद में स्थित मृग (काले मृग चिह्न) को समर्पित करके (दमयन्ती के) मुख को अपना सखा (स्वसदृश) बना लिया।

टिप्पणी—भाव यह है कि सामान्यावस्था में दमयन्ती का कपोलतल चन्द्र

से कहीं अधिक शोभाशाली था, अत चन्द्र उसकी सदृशता में नगण्य था। अब पीडावस्था में दमयन्ती का कपोलतल कृश और पाडुर हो गया है सो अब चन्द्र का जो श्वेतांश है, वह दमयन्ती के कपोलतल मे प्रतिबिम्बित नही होता, क्योकि उसके और कपोलतल के वर्ण में कोई अन्तर नही रह गया है, जो दमयन्ती की स्वस्थ अवस्थायें थी और जिसमे वर्ण असाम्य के कारण चद्र प्रतिबिम्बित हो जाता था। अब चन्द्र झलकता नही, केवल इसका कलक झलकता है, जो अब दमयन्ती का कपोलतलाश हो लगता है—डिठौना। कवि ने कल्पना की है, इस स्थिति मे अपना मृगाक उपहार स्वरूप देकर चन्द्र ने दमयन्ती के मुख को अपना मित्र (स्वसदृश) बना लिया है। मैत्री समान व्यक्तियों में ही होती है और मैत्री करते समय उपहार दिया ही जाता है। इस प्रकार व्यथाप्राप्ता दमयन्ती अल्प शोभनीय पाण्डुर कपोलतल को स्वसम पा चन्द्र ने अक-मृग भेंट दे मैत्री स्थापित कर ली। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक मे कपोल लावण्य के कारण चन्द्र और कपोलतल में अभेद वर्णित होने से सामान्यालकार है, विद्याधर के अनुसार उपमा। तिलक व्याख्या के अनुसार यहाँ तद्गुणालकार है, रुद्रट के अनुसार जिसका लक्षण है—'यस्मिन्नेक-गुणानामर्थाना योगलक्ष्यरूपाणाम ससर्गे नानात्व न लक्ष्यते तद्गुण स।' २६।

विरहतापिनि चन्दनपांसुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना।
विषधराभबिसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम्॥ २७॥

जीवातु—विरहेति। सा दमयन्ती, विरहतापिनि वपुषि, चन्दनपांसुभि, मस्मधवलैरिति भाव, अर्पित सम्पादित, पाण्डिमैव मण्डन यस्या सा, विषधराभ सर्पकल्प, बिसमेवाभरण यस्या सा सती, रतिपति स्मर, प्रति शम्भुरेवेयमिति विभीषिका विशेषेण भयोत्पादन, भीषयतेर्धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्। 'सुप्सुपा' इति समास। न तु शम्भोर्विभीषिकेति कर्तरि षष्ठीसमास 'तृज-काभ्या कर्तरि' इति निषेधात्। दधे दधार, नूनमिति शेष। गम्योत्प्रेक्षा॥

अन्वय—विरहतापिनि वपुषि चन्दनपांसुभि- अर्पितपाण्डिममण्डना विषधराभबिसाभरणा सा रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिका दधे।

हिन्दी—विरह से सतप्त शरीर पर चन्दन-चूर्ण लगा होने से पाडुरिमा-

रूप प्रसाधन से संयुक्त, सर्पों के तुल्य बिसों (कमलनालों) के आभरण धारती वह (दमयन्ती) रति के पति (काम) के प्रति शिव जैसी भयानकता को धारण कर रही थी।

टिप्पणी—विरह-ज्वर से संतप्त दमयन्ती के देह पर लगा चन्दन लेप ताप के कारण सूख कर चन्दन-धूल बन गया था और उसका समग्र शरीर पाण्डु भस्म से आच्छादित प्रतीत हो रहा था। लम्बे मृणाल सर्प तुल्य दीख रहे थे। इस प्रकार दमयन्ती शिव जैसी प्रतीत हो रही थी और कामदेव के भय का कारण बन रही थी। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दमयन्ती ने चन्दन-चूर्ण और कमलनाल इसीलिए धारण किये थे कि उसमें शम्भु-भ्रान्ति से आक्रान्त काम डर जाय। वियोगतापाधिक्य का वर्णन। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ २७ ॥

विनिहितं परितापिनि चन्दनं हृदि तया भृतबुद्बुदमाबभौ।
उपनमन् सुहृदं हृदयेशयं विधुरिवाङ्कगतोडुपरिग्रहः ॥ २८ ॥

जीवातु—विनिहितमिति। तया भैम्या, परितापिनि हृदये वक्षसि, विनिहितं भृतबुद्बुदम् अनिक्वाथस्फोटकं, चन्दनं सुहृदं सखायं, हृदये शेत इति (त) हृदयेशयं मन्मथम् 'अधिकरणे शेतेः' इत्यच्प्रत्ययः। 'शयवास-वासिष्वकालात्' इत्यलुक्। उपनमन्नुपसर्पन्, अङ्कगतोडुपरिग्रहः अन्तिकस्थ-तारकापरिकरः, विधुरिवाबभावित्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वयः—परितापिनि हृदये तया विनिहितं भृतबुद्बुदं चन्दनं हृदयेशयं सुहृदं उपनमन् अङ्कगतोडुपरिग्रहः विधुः इव आबभौ।

हिन्दी—संतप्त-हृदय पर उसके द्वारा लगाया गया (खौलजाने के कारण) बुलबुलों से युक्त चन्दन हृदय में स्थित मित्र कामदेव के निकट जाते, समीपस्थ तारिका समूह रूप परिग्रह से युक्त चन्द्र के समान सुशोभित हुआ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरहतप्त वक्ष स्थल पर लगा शीतल चन्दनलेप ताप से खौलने लगा, जिससे बुद्बुद उठने लगे। ऐसा प्रतीत हुआ कि बुलबुलों से पूर्ण चन्दन रूप में अपने तारिकादार परिवार के साथ चन्द्र हृदयस्थित मित्र कामदेव के पास जा रहा है। शुभ्र चन्दन चन्द्र है, उसमें उठता बुद्बुदसमूह

सारिकावर्ग है, चन्द्र का प्रिय-परिवार। मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

स्मरहुताशनदीपितया तया बहु मुहु सरस सरसीरुहम् ।
श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरमुज्झितम् ॥ २९ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मरहुताशनदीपितया कामाग्नितप्तया तया बहु भूरि, सरस मार्द्र सरसीरुह सरोज, मुहु श्रयितु शैत्याय सेवितुम्, अर्धे पथि अर्धपथे कृत, तत्पर्यन्तमानीत सत्, अन्तरा मध्ये, श्वसितेन भैमीनि श्वासेन, निर्मित स्मर सद्य शोषात् कृतमर्मरशब्द सत्, उज्झित वैरस्यात्त्यक्तम् तथोष्णस्तन्नि श्वास इति भाव । 'अथ मर्मर । स्वनिते वस्त्रपर्णानाम्" इत्यमर । ईदृग्माम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदोऽलङ्कार ॥ २९ ॥

अन्वय:—स्मरहुताशनदीपितया तया बहु सरस सरसीरुह श्रयितु मुहु अर्धपथे कृतम् अन्तरा श्वसितनिर्मितमर्मरम् उज्झितम् ।

हिन्दी—कामाग्नि से तप्त उस (दमयती) के द्वारा शीतोपचार के लिए लाया जाता पर्याप्त गीला कमल बारबार आधे मार्ग मे—बीच मे ही नि श्वास वायु द्वारा सूखे पत्ते मे होनेवाली मर्मर ध्वनि से युक्त करके छोड दिया गया ।

टिप्पणी—इस श्लोक मे सतापाधिक्य का वर्णन है । दमयती के शीतोपचार के निमित्त बारबार कमल भली भाँति भिगोकर लाया जाता, पर आधे रास्ते मे ही वह गीला, पानी टपकाता सरसीरुह दमयती के गरम गरम नि श्वासो से सूखकर सूखे पत्ते की भाँति खड़खड़ाने लगता, अत व्यर्थ हो जाने से फेंक दिया जाता । मल्लिनाथ के अनुसार असबध मे सबधकथन के कारण अतिशयोक्ति ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्स्यति स्तनयुग तव ताम्यति किं न्विति ।
जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवथुकुड्मलनेन पृथुस्तनीम् ॥ ३० ॥

जीवातु—प्रियेति । हृदि वक्षसि, निहिते न्यस्ते, नीरजे पद्मे, दवथु परिताप, टुडु "ट्वितोऽथुच्" इत्यथुच्प्रत्यय । तेन यत्कुड्मलन मुकुलन निपीडय ग्रहणमिति यावत् । तेन पृथुस्तनी दमयन्ती, तव स्तनयुग (कर्तृ) एवमनेन प्रका-

रेण, प्रियकरेण इह निपीड्य ग्रहणम् अवाप्स्यति ? किं नु म्लिम्यं, ताम्यतीति वदन्तु वदन्तु । नूनमिति शेषः ॥ ३० ॥

अन्वयः—हृदि निहिते नीरजे दवथुदुःखेन पृथुम्लानीम इति वदन्तु — किं नु तव स्तनयुगम् एव प्रियकरग्रहम् अवाप्स्यति ?

हिन्दी—(दमयन्ती के) हृदय पर रखे गये कमलयुगल परिताप से सङ्कुचित हो (उसी सङ्कोच को संकेतित कर) विशाल कुचों वाली दमयन्ती से जैसे यह कहते थे—क्या तेरा स्तनयुग्म इसी प्रकार प्रिय के हाथों का सम्पर्क प्राप्त करेगा और सङ्कुचित होगा ?

टिप्पणी—तापाधिक्य के कारण कमल-सङ्कोच । प्रिय-स्पर्श की आशंका थी, 'प्रियकरग्रहम्' का अर्थ 'प्रिय-पाणिग्रहण' भी हुआ । 'प्रियकरग्रहम् एवम् अवाप्स्यति किं नु ताम्यति ?' स्तनयुग्म प्रिय पाणिग्रहण को ऐसे ही प्राप्त करेगा, क्या म्लान होती हो ? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥३०॥

त्वदितरो न हृदापि मया धृतः पतिरितीव नलं हृदयेशयम् ।
स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुतया निजशुद्धताम् ॥३१॥

जीवातु—त्वदिति । सा भैमी, हृदयेशयं हृदि स्थितं नलं त्वदितरः त्वत्तोऽन्यः, कामो वाऽन्यो वा पतिः, मया हृदापि न धृतः मनसापि न चिन्तितः, इति निजशुद्धताम् आत्मनिर्दोषतां, पाण्डुत्वञ्च । विरहपाण्डुतया तद्व्याजेनेत्यर्थः स्मरहविर्भुजि बोधयति स्मेव मदनाग्निना सा अग्निदिव्येन स्वशुद्धिं सीता राममिव नलं बोधयामासेवेत्युत्प्रेक्षा । 'गतिबुद्धि' इत्यादिना अग्निकर्तुर्नलस्य णौ कर्मत्वम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—त्वदितरः पतिः मया हृदा अपि न धृतः —इति इव सा हृदयेशयं नलं निजशुद्धतां विरहपाण्डुतया स्मरहविर्भुजि बोधयति स्म ।

हिन्दी—तेरे अतिरिक्त पति मैंने हृदय से भी नहीं धरा,—मानो ऐसा वह (दमयन्ती) हृदयस्थित नल को अपनी शुद्धता का विरहपाण्डुरिमा के व्याज से कामाग्नि में दग्ध होती हुई बोध करा रही थी ।

टिप्पणी—लङ्का से लौटी सीता ने राम से अपनी शुद्धि के प्रमाण में

कहा था—'कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम्। राघव सर्वधर्मज्ञ तथा मा पातु पावक।' (वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड—११६।२७)। दमयती भी मानो कामाग्नि में दग्ध हो ऐसे ही सीता की भाँति प्रिय को अपनी शुद्धता का प्रमाण दे रही थी। मल्लिनाथ–विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार। चन्द्रप्रभाकर ने उत्प्रेक्षा रूपक की संसृष्टि मानी है ॥३१॥

> विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता　कमलिनी　निमिषद्दलमुष्टिभिः।
> किमपनेतुमचेष्टत किं पराभवितुमैहत तद्वयः पृथुम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—विरहेति। विरहतप्ते तदङ्गे भैमीशरीरे, निवेशिता निहिता, कमलिनी पद्मलता, निमिषद्भिरानमद्भिर्दलैः पत्रैरेव मुष्टिभिः मुष्टिवर्गः (करणं) पृथु तद्वयः तस्यास्तापम्, अपनेतुमपच्छेत्तुमचेष्टत व्याप्रियत किम्। पराभवितुं तिरस्कर्तुमहत किम्। अचेष्टत किमित्युत्प्रेक्षा। वस्तुतस्तु, न किञ्चित्कर्तुं शशाक। प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थः। सोऽयं भीषकस्य भयप्रवेश इति भावः। अत एवानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः। तदुत्थापिता चेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ३२ ॥

अन्वय—विरहतप्ततदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिषद्दलमुष्टिभिः पृथु तद्दवथुम् अपनेतुम् अचेष्टत किम्, पराभवितुम् ऐहत किम्?

हिन्दी—विरह में तपते उस (दमयती) के अंगों पर रखी कमलिनी सकुचित होते दल रूपी मुट्ठीयों से क्या उसके ताप को दूर हटाने की चेष्टा कर रही थी, क्या उसे पराभव देना चाह रही थी?

टिप्पणी—ताप से सकुचित होती कमलिनी के माध्यम से कवि ने उसके शत्रु को पराभव देने की इच्छा करने वाली के रूप में चित्रित किया है, जो मुँदते पत्ते रूप मुट्ठी से ताप को धमका रही है। परन्तु कुछ कर न पायी, स्वयं ही दग्ध हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार विषम और उत्प्रेक्षा का सकर, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

> इयमनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविसारिवियोगविषावशा।
> शशिकलेव खराशुकरार्दिता करुणनीरनिधौ निदधौ न कम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—इषुभिरिति। इयं भैमी, अनङ्गशरावलिरेव पन्नगा तैः क्षति, नपुंसके भावे क्तः। तेन विकारिणा व्यापिना, विषेणैव विषेण आवृता सती, खरांशोस्तिग्मांशोः करैरर्दिता पीडिता, शशिकलेव कं जनं करुणा-नीरनिधौ चोत्तर साम्यौ। 'करुणा तु रसे वृक्षे कृपायां करुणा मता' इति विश्वः। न निदधौ निदधावेव, निमज्जयामासैवेत्यर्थः। अत्र रूपकोपमयोरङ्गाङ्गि-भावेन सङ्करः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—अनङ्गशरावलिपन्नगक्षतविकारविषावृता इयम् खरांशुकरार्दिता शशिकला इव कं करुणानीरनिधौ न निदधौ ?

हिन्दी—काम-बाणावलि रूप सर्पों के डसने से फैलते विषरूप विष से वेवश यह (दमयन्ती) प्रखरकिरण (सूर्य) की किरणों से पीड़ित (मन्द, ज्योतिहीन) चन्द्रकला की भाँति किसको करुणा के सागर में नहीं डाल रही थी? सभी दमयन्ती की व्यथा को देखकर करुणाविगलित हो जाते थे।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती की विवशता सूचित की गयी है। चन्द्रकला के उपमान द्वारा दमयन्ती की कृशता संकेतित है। साँप से काटे व्यक्ति का जल प्रवाह किया जाता है, यहाँ आश्चर्य यह है कि काम-बाण-सर्पदष्टा दमयन्ती अन्य व्यक्तियों को करुणा जलाशय में निमग्न कर रही है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक-उपमा का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है, विद्याधर भी रूपक-उपमा का निर्देश करते हैं ॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तयार्द्रमृणाललतार्पिता।
स्वजयिनीश्वसया नविभस्मयोर्मलिनतामभजद् भुजयोर्युगम् ॥ ३४ ॥

जीवातु—ज्वलतीति। तया भैम्या, मन्मथवेदनया मदनज्वरदुःखेन, ज्वलति प्रज्वलिते निजे हृदि वक्षसि, अर्पिता आर्द्रा सरसा, मृणाललता बिस-वल्ली, स्वजयिनो स्वजेत्रो, 'विदर्भ' इत्यादिना इतिनिर्दलन। भुजयो-स्तदीययोरेव, नविभस्मयोः नवीनभस्मयोः स्तयोः, यस्या भस्मवेदर्भ्याः। गम्योत्प्रेक्षा। भृश मलिनता वैवर्ण्यमभजत्। जितो वैतुरस्य तुल्यता वैवर्ण्यं भजतीति भाव ॥ ३४ ॥

अन्वयः—तया मन्मथवेदनया ज्वलति निजे हृदि अर्पिता आर्द्रमृणाललता

स्वजयिनो सविधस्थयो भुजयो त्रपया भृश मलिनताम् अभजत् ।

हिन्दी—उस (दमयती) के द्वारा काम-वेदना से जलते अपने हृदय पर रखी गयी गीली कमलनाल की वेल अपने को जीतने वाले (हृदय के) समीपस्थ वाहुओ से लज्जित हो अत्यन्त मलिनता को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—अपने से अधिक रूप-गुणशाली के समुख प्राय सभी लज्जित हो जाते है । दमयती की भुजाएँ कमल-नाल की अपेक्षा अधिक कमनीय थी, अत उनको निकट पा कमल-नाल वल्ली मलिन हो गयी । विजयी के समीप सभी को लज्जित होना पडता है । विद्याधर और प्रकाशकार नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पिनि शैवल हृदि तया निहित विचलद्बभौ ।
मततवद्गतहृच्छयकेतुना हृतमिव स्वतनूघनघर्षिणा ॥ ३५ ॥

जीवातु—पिकेति । तया भैम्या, पिकरुतश्रुत्या कोकिलकूजितश्रवणेन कम्पिनि वेपमाने, हृदि वक्षसि, निहित शैत्यार्थं न्यस्त विचलद् आधारचलनादिति भाव । शैवल, स्वतन्वा शैवलशरीरेण सह, घनघर्षिणा, भृशसङ्घर्षिणा, द्वयोरपि जलचरत्वादिति भाव । सतत तद्गतस्य भैमीहृद्गतस्य हृच्छयस्य कामस्य, केतुना चिह्नेन, मत्स्यन हृत ताडितमिव, बभाविस्युत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

अन्वय —तया पिकरुतिश्रुतिकम्पिनि हृदि निहित विचलत् शैवल स्वतनूघनघर्षिणा सततवद्गतहृच्छयकेतुना हृतम् इव बभौ ।

हिन्दी—उस (दमयती) के द्वारा कोकिल-शब्द के श्रवण मे कपित हृदय पर रखी गयी (हृत्कपन के कारण) विचलती शैवाल अपने देह को प्रचुर रूप से *घर्षित करने वाले निरन्तर उस (दमयती) के हृदयस्थित* (काम) के ध्वजचिह्न (मत्स्य) से ताडित होती जैसी सुशोभित हुई ।

टिप्पणी—सन्ताप शमन के लिए दमयन्ती के हृदय-स्थल पर सिवार घास रखी गयी थी, वह हृदय कोकिल-रव सुनकर कपित होने लगा और अपने आधार वक्षस्थल के हिलने-कापने के कारण सिवार भी विचलित हो गयी । कवि ने कल्पना की है, कि मानो सिवार के कपन का कारण दमयन्ती के हृदय म निरन्तर वास करते काम के ध्वज चिह्न मत्स्य के द्वारा

आघात है, जिससे शरीर का निविड घर्षण सिवार के साथ हो रहा है। शैवाल रखी होने पर भी कोकिल रुति दमयती के हृदय में कंपन कर देती थी। घर्षण का घनत्व कंपन के आधिक्य की सूचना के लिए है। उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ ३५ ॥

न खलु मोहवशेन तदाननं नलमनः शशिकान्तमबोधि तत्।
इतरथाऽभ्युदये शशिनस्ततः कथममुस्रवदश्रुमयं पयः ॥ ३६ ॥

जीवातु—नेति। नलमनः (कर्तृ), मोहवशेन विरहप्रयुक्ता ज्ञानवशेन, तदाननं भैमीमुखं (कर्म), शशिकान्तमिन्दुसुन्दरम् इन्दूपमञ्च, नाबोधि खलु नाबुद्ध किमिति काकु। अबुध्यत एवेत्यर्थः। तच्च सत्यमिति भावः। 'दीपजन' इत्यादिना कर्तरि चिण्। इतरथा, तदसत्यत्वे शशिनोऽभ्युदये ततो भैमीमुखाद-श्रुमयमश्रुरूपं, पयः कथं असुस्रवत् स्रुतं चन्द्रोदये पयःस्रावाच्चन्द्रकान्तत्वं सत्य-मित्यर्थः। चन्द्रोदये दाहोद्रेकादुरोदेति भावः। द्रवतेर्णिश्रिद्रुस्रुभ्य इत्यादिना चङि धातोस्वहादेशः ॥ ३६ ॥

अन्वय—नलमनः मोहवशेन तदाननं शशिकान्तं न अबोधि खलु, (अपितु तत्त्वत एव अबोधि) इतरथा शशिनः अभ्युदये ततः अश्रुमयं पयः कथम् असुस्रवत् ?

हिन्दी—नल के मन ने मोहवश उस (दमयती) के मुख को चन्द्रकांत (चन्द्रकांत मणि अथवा चन्द्रवत् कांत) नहीं समझा, (अपितु तत्त्वतः समझा), अन्यथा चन्द्रोदय होने पर उस (मुख) से आँसू-रूप जल कैसे स्रवित हुआ ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का मुख सत्य ही 'शशिकान्त' (चन्द्रकांत मणि समान अथवा चन्द्र के समान मनोहर) था। नल का मन यद्यपि दमयती-मुख पर मुग्ध था, पर उस मुख को चन्द्रकांत समझना मोह के कारण नहीं था, वह वस्तुतः चन्द्रकांत था ही, यदि वह चन्द्रकांत मणि नहीं होता तो चन्द्रोदय होने पर उससे आँसू-जल कैसे टपकता ? यह अश्रु-स्रवण मुख के चन्द्रकांतमणि होने का प्रमाण है, क्योंकि चन्द्रोदय पर ही चन्द्रकांत मणि द्रवित होती है। चन्द्रवत् कांत पक्ष में यह तर्क है कि

मुख चन्द्र समान कांत होने से चन्द्र का प्रतिपक्षी अमित्र है, अत शत्रु चद्र का उदय देख कर जलन से दुख के आँसू टपका रहा है, अथवा चद्र के समान कांत होने के कारण 'समानसख्य' के न्याय से मुख चद्र का मित्र है, अत मित्र का उदय—उन्नति देखकर वह आनन्द के अश्रु बहा रहा है। इस श्लोक में चद्रोदय देख विरहिणी दमयती के बाष्पातिरेक का वर्णन किया गया है। विद्याधर के अनुसार अनुमान अलकार ॥ ३६ ॥

रतिपतेर्विजयास्त्रमिषुर्यथा जयति भीमसुतापि तथैव सा।
स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहत योजयितु स ताम् ॥३७॥

जीवातु—रतिपतेरिति। रतिपते कामस्य यथेषु विजयस्यास्त्र निजयास्त्र विजयसाधनमायुध जयति। तथैव सा भीमसुतापि विजयास्त्र सती जयति। ततस्तस्मात् (हेतोः) स काम, स्वस्य विशिखानिषूनिव, ता भैमी, पञ्चतया पञ्चसङ्ख्यावत्त्वेन, मरणेन च। 'पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता मरणेऽपि च' इति विश्व। योजयितुमैहत। स्वेषुवर्गविजयास्त्रत्वेनैव पञ्चत्वेनापि योजयितुमैच्छत्। नियत सत्यमित्युत्प्रेक्षार्थं। अन्यथा, किमर्थमेनामिरय पीडयेदिति भाव। उपमानोत्प्रेक्षयो सङ्कर ॥ ३७ ॥

अन्वय—रतिपते इषु यथा विजयास्त्र जयति तथा एव सा भीमसुता अपि तत स्वविशिखान् इव ता पञ्चतया नियत योजयितुम् ऐहत।

हिन्दी—रति के स्वामी (काम) का बाण जिस प्रकार विजयास्त्र होता हुआ सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है, उसी प्रकार वह भीमतनया भी (काम का विजयास्त्र हो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त) है, उस कारण ही उस (काम) ने उस (भैमी) को 'पञ्चतया'—पाँच बाणों के समान निश्चयत प्रयोग में लाने की इच्छा की अन्यथा क्या काम उसकी 'पञ्चतया योजना की इच्छा' अर्थात् पञ्चत्व (मृत्यु) योजना की इच्छा करता ?

टिप्पणी—मरणदशा का वर्णन। वस्तुत काम की इच्छा तो यह थी कि यह विश्वसुन्दरी दमयन्ती का प्रयोग अपने पाँचो बाणों के तुल्य विश्व विजयार्थ करता, इसी से उसने उसे पञ्चता अर्थात् 'पाँच बाणों का भाव' दिया, जो दमयन्ती की पचता (पचत्व–मृत्यु) योजना समझी गयी। आशय

यह है कि वियोगजन्य कामव्यथा के कारण दमयन्ती मरणासन्न हो रही थी। मल्लिनाथ ने यहाँ उपमा-उत्प्रेक्षा का सङ्कर माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ ३७ ॥

शशिमयं दहनास्त्रमुदित्वरं मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी।
झटिति वारुणमश्रुमिषादसौ तदुचितं प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३८ ॥

जीवातु—शशिमयमिति। वियोगिन्यसौ भैमी, उदेतीत्युदित्वरमुद्यत्, 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' शशिमयं शशिरूपं, मनसिजस्य दहनास्त्रम् आग्नेयास्त्रं विमृश्यालोच्य, झटिति द्राक्। अश्रुमिषाद्वारुणं वरुणदैवतम्, 'सास्य देवता' इत्यण्प्रत्ययः। तस्याग्नेयस्योचितं प्रतीकारक्षमं, प्रतिशस्त्रमुपाददे प्रयुक्तवतीत्यर्थः। चन्द्रतापसहिष्णुरश्रुधारणा केवलमरोदीत्यर्थः। सापह्नवोत्प्रेक्षा।

अन्वय—वियोगिनी असौ मनसिजस्य शशिमयं दहनास्त्रम् उदित्वरं विमृश्य झटिति अश्रुमिषात् तदुचितं वारुणं प्रतिशस्त्रम् उपाददे।

हिन्दी—विरहिणी उस (दमयन्ती) ने काम के चन्द्ररूप आग्नेयास्त्र को उद्गमनशील विचार कर झट से आँसुओं के बहाने उसके उपयुक्त वारुण प्रतिशस्त्र (प्रतिरोधी शस्त्र) ग्रहण कर लिया।

टिप्पणी—इस श्लोक में चन्द्रोदय को देख उत्पन्न हुए दमयन्ती के अश्रु-प्रवाह का वर्णन है, चन्द्र को देख कष्ट से वियोगिनी रोती ही है। कवि ने चन्द्र की काम के आग्नेयास्त्र रूप में कल्पना की है। और उस दहनास्त्र के शमनार्थ दमयन्ती के आँसुओं की वरुणास्त्र के रूप में, जिससे काम के दहनास्त्र का प्रतिरोध हो सके। भाव यही है कि चन्द्रोदय असह्य होने के कारण विरहिणी रो पड़ी। मल्लिनाथ के अनुसार सापह्नवोत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्नुति ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुदं सुतनुरस्त्रमुदस्तमवेक्ष्य सा।
उचितमायतनिश्वसनच्छलाच्छ्वसनमस्त्रममुञ्चदमुं प्रति ॥ ३९ ॥

जीवातु—अतनुनेति। सा सुतनुर्भैमी, नवं नूतनम्, अम्बुद मेघमेव, अतनुना अनङ्गेन, उदस्तम् उत्क्षिप्तम्, आम्बुदमम्बुदस्येदं पार्जन्यास्त्रम् अवेक्ष्य आयतनिश्वसितच्छलाद्दीर्घनिश्वासमिषादमुमम्बुदं प्रति, उचितं प्रतीकारक्षमं

श्वसन श्वसनात्मकमस्त्र वायव्यास्त्रममुञ्चत् प्रायुङ्क्त । मेघदर्शनात् दीप्तमदन-ज्वरा दीर्घमुष्ण च निशश्वासेत्यर्थः । अत्रापि सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वय —सा सुतनु अम्बुदम् अतनुना उदस्तम् याम्बुदम् अस्त्रम् अवेत्य आयतनिःश्वसच्छलात् अमु प्रति उचित स्वसनम् अस्त्रम् अमुञ्चत् ।

हिन्दी—उस सुन्दरी (दमयन्ती) ने बादल को अतनु (काम) के द्वारा चलाया गया पर्जन्यास्त्र मान कर लबे निःश्वास के ब्याज से उस (मेघास्त्र) के प्रतिरोधार्थ उपयुक्त श्वसनास्त्र (वायव्यास्त्र) छोड़ा ।

टिप्पणी—दमयन्ती की विरहव्यथा का वर्णन करते कवि ने ३७ वें श्लोक से ४२ वें श्लोक तक युद्ध के आघात-प्रत्याघात का चित्र उपस्थित किया है । पूर्व श्लोक में बताया गया कि काम ने चन्द्र रूप में दमयन्ती पर आग्नेयास्त्र का प्रहार किया, प्रत्युत्तर में दमयन्तीने अश्रुरूप में उसके प्रति-रोधास्त्र वारुणास्त्र का प्रयोग किया । इस श्लोक में पुन काम के पूर्वप्रहार का वर्णन है और दमयन्ती द्वारा उसके निवारण का । वारुणास्त्र के उत्तर में काम ने उसका शमन करने वाला पर्जन्यास्त्र चलाया आकाश में छाये मेघ के रूप में, दमयन्ती ने उसे देखा और उसके निवारणार्थ दीर्घ निःश्वास रूप में वायव्यास्त्र छोड दिया । आकाश में छाये वर्षा के बादलों को देख वियोगिनी दमयन्ती लबे-लबे दु खभरी साँसे लेने लगी—यह आशय है । 'अतनु' (काम के अर्थ में) और 'सुतनु' (दमयन्ती के विशेषण रूप में) का चामत्कारिक का प्रयोग दर्शनीय है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भी सापह्नवोत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्नुति ॥३९॥

रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती सुदती मलयानिले ।
तदुरुतापभयात्तमृणालिकामयमिय भुजगास्त्रमिवादित ॥ ४० ॥

जीवातु—रतिपतीति । सुदतीय भैमी मलयानिले विषये रतिपतिप्रहिता-निलहेतितां कामप्रयुक्तवायव्यास्त्रताम् । 'हेति शस्त्र प्रहरण ह्यायुधश्चास्त्रमेव च' इति हलायुध । प्रतियती जानती । इण कर्तरि ङीप् । तेनास्त्रेण य उरुस्ताप ततो भयात्, आत्ता अङ्गीकृता या मृणालिका तन्मय बिसरूप,

भुजगास्त्रम् अदित्वेव जातवती किमित्युत्प्रेक्षा। भुजगाना वाताहारत्वादिति भावः। 'स्याध्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः ॥ ४० ॥

अन्वय—सुदती इव मलयानिले रतिपतिप्रहितानिलहेतितां प्रतियती तदुरगाशनपातभृणालिकामयं भुजगास्त्रम् इव आददे।

हिन्दी—सुन्दर दाँतों वाली वह (दमयन्ती) मलयपवन की रति के स्वामी (काम) द्वारा प्रयुक्त वायव्यास्त्र समझ कर उसे उसके प्रति कष्ट की आशंका करते हुए मृणाल रूप भुजगास्त्र से सज्जित हो गयी।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में वर्णित दमयन्ती द्वारा प्रयुक्त वायव्यास्त्र के उत्तर में कामदेव ने भी मलयपवन के व्याज से वायव्यास्त्र छोड़ा, दमयन्ती ने उसके प्रतिरोध के लिए भयानक कष्ट की आशंका से मृणालरूप भुजगास्त्र धारण कर लिया। सर्प वायु को पी जाता है। वासन्ती मलयपवन चलने पर दमयन्ती ने पीड़ा-निवृत्त्यर्थ मृणाल-धारण किये। आकारसाम्य। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

न्यधित तद्धृदि शल्यमिव द्वयं विरहिता च तयापि च जीवितम्।
किमथ तत्र निहत्य निखातवान् रतिपतिः स्तनबिल्वयुगेन तत् ॥४१॥

जीवातु—न्यधितेति। रतिपतिस्तद्धृदि भैमीहृदये, विरहिता विरहित्वं च तयापि विरहित्वेऽपि, जीवितं चेति द्वयं, शल्यं शङ्कुमिव, न्यधित निखातवानित्यर्थः। जीवतो विरह विरहिणो जीवनं च द्वे अपि शल्यप्राये इत्यर्थः। दधातेर्लुङि तङ्। 'स्याध्वोरिच्च' इतीकारः। 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपः। अथ निखननानन्तरं, तच्छादकस्तनावेव बिल्वे परिणतबिल्वफले, तयोर्युगेन तत्र हृदि निहत्य आहत्य, निखातवान् किम्। यथा लोके निखातं शङ्कुं दार्ढ्याय पाषाणेन घ्नन्ति तद्वदिति भावः। पूर्वार्धे शल्यनिखननोत्प्रेक्षा। उत्तरार्धे निहत्य निखननोत्प्रेक्षा। निखातवानित्यनुवादः ॥ ४१ ॥

अन्वय—रतिपतिः तद्धृदि विरहिता तया अपि जीवितं च द्वयं शल्यम् इव न्यधित अथ तत् स्तनबिल्वयुगेन तत्र निहत्य निखातवान् किम्?

हिन्दी—रतिस्वामी (काम) ने उस (दमयन्ती) के हृदय में वियोग-भाव और जीवित रहना—जैसे ये दो शल्य गाड़ दिये थे और तदनन्तर क्या उस पर स्तन रूप दो बिल्वफल इसी प्रकार ठोंक कर गाड़ दिये थे?

टिप्पणी—एक विरह और दूसरे उसके साथ जीवित रहना—ये दो कष्ट दमयन्ती को भोगने पड रहे थे। विरही जीवन अतिपीडादायक था। कवि ने कल्पना की है कि कामदेव ने ये दो काँटे विरह और जीवित रहना—दमयन्ती के हृदय मे गाड दिये और वे ढीले रहकर कहीं निकल न जायें, इस आशंका से दो पत्थर जैसे बेल (स्तन युगल) ठोक दिये। पूर्ण यौवन में दमयन्ती को वियोग कष्ट सहकर जीना पड रहा था, सो यह द्विगुणित दु ख था। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में शल्यनिखनन उत्प्रेक्षित और उत्तरार्द्ध में निहनन। इस प्रकार दो उत्प्रेक्षाएँ हैं। विद्याधर उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार मानते हैं ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन ता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।
स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४२ ॥

जीवातु—अतीति। ता दमयन्तीम् अतितरा, शरव्ययता शरव्य लक्ष्य कुर्वता, शरव्यशब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्ताल्लट शतृप्रत्यय। अत एव निखिला ये पुष्पमया स्वशरास्तेषा क्षयात् व्ययात् फलान्यपि मुञ्चता क्षिपता मदनेन तदुरसि तस्या वक्षसि, स्तनावेव ताले तालफले, तयोर्युगस्यार्पणाक्षेप, अकारि। स्फुटमित्युत्प्रेक्षा। शरक्षये पाषाणादिनापि प्रहरन्तीति भाव ॥४२॥

अन्वय—ताम् अतिशरव्ययता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् फलानि अपि मुञ्चता मदनेन तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा अकारि स्फुटम्।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) को बारबार बाणो का लक्ष्य बनाते हुए अपने सम्पूर्ण पुष्प बाणो का व्यय कर देने के कारण फल भी छोड़ते काम ने उस (दमयन्ती) के उर स्थल मे मानो दो स्तन रूप दो तालफलों से भी प्रहार कर दिया था।

टिप्पणी—प्रहरणशील काम दमयन्ती को व्यथित करने के लिए एक के बाद एक प्रहार कर रहा था। उसने इसी क्रम में अपने पाँचों पुष्प बाण दमयन्ती को लक्ष्य बनाकर उस पर छोड दिये। जब पुष्प समाप्त हो गये, तब फलों से प्रहार किया और स्तन रूप दो ताल फलो से भी प्रहार कर दिया। ये कठोर स्तन रूप ताल-फल क्या थे, जैसे कठोर पाषाण थे। जब प्रहारकर्ता काम के फूल, फल भी समाप्त हो गये, तो पत्थर न फेंकता?

मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक और उत्प्रेक्षा, जिनकी चन्द्रनाकार ने संसृष्टि मानी है ॥ ४२ ॥

अथ मुहुर्बहुनिन्दितचन्द्रया स्तुतविधुन्तुदया च तया बहु ।
पतितया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ॥ ४३ ॥

जीवातु—अथेति । अथानन्तरं स्मरतापमये कामज्वरूपे, गदे रोगे 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः । पतितया मग्नया । अत एव, मुहुः बहु बहुधा निन्दितचन्द्रया, तस्योद्दीपकत्वादिति भावः । मुहुः स्तुतो विधुं तुदतीति विधुन्तुदो राहुर्यया तया, विधुन्तुदत्वादेवेति भावः । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः । 'विध्वरुषोस्तुदः' इति खश्प्रत्ययः 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः । तया दमयन्त्या, अश्रुविमिश्रं मुखं यस्याः सा अनिष्टाशङ्कया रुदती सखी, निजगदे निगदिता । विप्रकृतो ह्यपकर्तारं निन्दति तदपकर्तारञ्च स्तौतीति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वय—अथ स्मरतापमये गदे पतितया मुहुः बहुनिन्दितचन्द्रया बहु च स्तुतविधुन्तुदया तया अश्रुविमिश्रमुखी सखी निजगदे ।

हिन्दी—तदनन्तर कामतापरूप रोग में ग्रस्त, बारबार अनेकधा चन्द्र की निन्दा करती और अनेक बार चन्द्रपीडक राहु की स्तुति करती वह (दमयन्ती), आँसुओं से जिसका मुख आच्छन्न था, ऐसी सखी से कहने लगी ।

टिप्पणी—अन्त में काम से पराजित, कामतापरोगग्रस्ता दमयन्ती चन्द्र को कोसती हुई तथा चन्द्रशत्रु राहु की स्तुति करती हुई अपनी सहानुभूति से पूर्ण सखी से कहने लगी जो कथन इस सर्ग के ९९ वें श्लोक तक है। ७३ वें तक चन्द्रोपालम्भ है, मानो कामोपालम्भ । अपनी स्वामिनी के दुःख का अनुभव करती अनिष्ट की आशंका से उसकी सखी भी रो रही थी । विद्याधर के अनुसार उल्लेखनीय अलंकार छेकानुप्रास ॥ ४३ ॥

नरसुराब्जभुवामिव यावता भवति यस्य युगं यदनेहसा ।
विरहिणामपि तद्वदसून् हरन् किमिति न क्षयं गणिताहमे ॥ ४४ ॥

जीवातु—नरेति । नरसुराब्जभुवां मनुष्यदेवब्रह्मणामिव, यावता अनेहसा

कालेन, यस्य जन्तोर्युगं भवति, गणितागमे ज्योतिश्शास्त्रे तत्सर्वं वक्तव्यमेवेति शेषः। यथा ब्रह्मणो दिनं देवादीनां युगादिकमित्युक्तम्, तद्वदन्यस्यापि गणितशास्त्रे वक्तव्यमिति भावः।

तत् किमित्याशङ्क्य चाह। विरहिणां तद्युगं कथं किमिति रतवताम्-वियुक्तानां यूनां क्षणेन मितं गणितं न। अवियुक्तानां क्षणो वियुक्तानां युगमिति किमिति नोक्तमित्यर्थः। तथा तस्याः एकैकक्षण एकैकयुगकल्पोऽभूदित्यर्थः।

अन्वय—नरसुराब्जभुवाम् इव यावता अनेहसा यस्य यद् युगं भवति गणितागमे विरहिणां तद् कथं रतवद्युवक्षणमितं न?

हिन्दी—मनुष्य, देव और ब्रह्मा के तुल्य जितने काल परिमाण से जिसका जो युग होता है ज्योतिःशास्त्र में (वह तो गिन लिया गया, परन्तु) वियोगियों का वह (युग) अवियोगी तरुणों के क्षण के परिमाण का क्यों नहीं गिना गया?

टिप्पणी—४४, ४५, ४६ श्लोकों में विरह की दुःसहता का वर्णन किया गया है। गणितागम—ज्योतिःशास्त्र में नरों, देवों और ब्रह्मा के युगों में किसका कितना काल परिमाण होता है, इसकी गणना की गयी है, जैसे ३६० दिन में मानव का एक वर्ष होता है, वह देवों का एक दिन रात होता है। देवों के बारह सहस्र वर्षों का चतुर्युग होता है। ऐसे ही एक सहस्र चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है और उतने में ही एक रात। ऐसे पाँच सौ वर्षों का एक परार्द्ध होता है और दो परार्द्धों की परमायु होती है। कवि की उद्भावना है कि इस रीति से मनुष्यादि के युगादि की गणना तो ज्योतिःशास्त्र में की गयी, परन्तु वियोगी और संयोगी तरुणों का कितने परिमाण का कितना युग होता है, इसकी गणना नहीं की गयी। यह उचित नहीं है। यदि गणना करते तो ज्ञात होता कि संयोगी (रतवत्) तरुणों का जो क्षण होता है, वह वियोगिजनों का एक युग होता है। गणितागम में इसका उल्लेख होना चाहिए। यह दमयन्ती का कथन है, जो यह कहना चाहती है कि उन वियोग का एक-एक क्षण एक-एक युग के समान प्रतीत हो रहा है, जो काटे नहीं कटता। रतवत

तरुणों के क्षण का चतुर्थांश भी वियोगियों के लिए एक युग है। विद्याधर के अनुसार उपमा और अतिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

जनुरधत्त सती स्मरतापिता हिमवतो न तु तन्महिमादृता।
ज्वलति भालतले लिखिता सतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥ ४५ ॥

जीवातु—जनुरिति। सती भवपूर्वपत्नी दक्षकन्या, स्मरतापिता विरहाग्नितप्ता सती, हिमवतो जनुर्जन्माधत्त। तस्य हिमवतो महिमा आदृतो यया सा तन्महिमादृता, आदृततन्महिमा सती तु न। आहिताग्न्यादित्वान्निष्ठाया परनिपातः। विरहतापशान्त्यर्थं हिमाद्रेर्जाता। न तु तत्तु परसामर्थ्यानुरोधादित्युत्प्रेक्षा। हरस्य भालतले लिखितो ब्रह्मणा लिखितः सतीविरह एव ज्वलति, लोचन नेत्यारोप्यापह्नवालङ्कारः ॥ ४५ ॥

अन्वय—स्मरतापिता सती हिमवतः जनु अधत्त तन्महिमादृता तु न, हरस्य भालतले लिखितः सतीविरहः एव ज्वलति, लोचनं न।

हिन्दी—काम से संतापित हो सती (दक्षपुत्री) ने हिमालय से जन्म धारण किया था, उस (हिमालय) के प्रति आदर भाव के कारण तो नहीं, शिव के मस्तक पर स्थित सती का वियोग ही दीप्त है, (शिव का) नेत्र नहीं।

टिप्पणी—सचमुच विरह असह्य होता है। वियोग वशात् सती जल मरी और उन्होंने उसी जलन को मिटाने के लिए हिमालय (हिम के आलय) से जन्म लिया। शिव जी के मस्तक पर तीसरा नेत्र नहीं है, वस्तुतः सती की वियोगाग्नि दीप्त है। तो जगत् के माता-पिता सती-शिव भी जब विरह से इतने व्यथित हैं तो सामान्य मानुषी दमयन्ती की तो गणना ही क्या? वह तो और भी व्यथित होगी। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में उत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्ध में अपह्नुति अलङ्कार, विद्याधर ने केवल अपह्नुति को उल्लेख्य माना है।४५।

दहनजा न पृथुर्दवथुव्यथा विरहजैव पृथुर्यदि नेदृशम्।
दहनमाशु विशन्ति कथं स्त्रियः प्रियमपासुमुपासितुमुद्धुराः ॥ ४६ ॥

जीवातु—दहनेति। दहनजा अग्निदाहजा या, दवथुव्यथा तापदुःख, पृथुः अधिका न। किन्तु विरहजैव पृथुः। ईदृश न यदि इदमित्थं न चेत्।

स्त्रिय, अपासुमपगतप्राण मृत, प्रियम्, उपासितु प्राप्तम्, उत्कृष्टा धूर्भारो यासा ता उद्धुरा अनर्गला सत्य इत्यर्थ । 'ऋक्पू' इत्यादिना समासान्तोऽकार । कथमाशु दहन विशन्ति । अग्निदाहाद्विरहदाह एवाधिक इत्यर्थ । तस्य नत्परिहारार्थेन स्त्रीणामग्निप्रवेशकार्येण समर्थनात् कार्येण कारण-समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ४६ ॥

अन्वय —दहनजा दवथुव्यथा न विरहजा एव पृथु, यदि ईदृश न अपासुम् प्रियम् उपासितुम् उद्धुरा स्त्रिय आशु दहन क्व विशन्ति ?

हिन्दी—अग्नि से उत्पन्न ताप की पीडा बडी नही होती, वियोगजन्य (पीडा) ही बडी होती है यदि ऐसा नहीं है तो गतप्राण (मृत) प्रिय की सेवा को उत्सुक नारियाँ झटपट आग मे क्यो प्रविष्ट हो जाती हैं ?

टिप्पणी—मृतप्रिय के सहमरण को नारियाँ इसीलिए उद्यत हो जाती हैं कि वियोगाग्नि का ताप चिताताप की अपेक्षा कही दु सह है । उनका चिता-प्रवेश इसके पक्ष में अकाट्य तर्क है । मल्लिनाथ के अनुसार कार्य से कारण-समर्थनरूप, अर्थान्तरन्यास अलकार, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्विरहिणीवधपङ्ककलङ्किता ।
कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृता सखि! विलोकय दुर्विनय विधो ॥ ४७ ॥

जीवातु—हृदीति । विरहिणीवधाख्य पङ्क पाप्मा । 'अस्त्री पङ्क पुमान् पाप्मा' इत्यमर । तेन कलङ्किता सञ्जातकलङ्का, अमू कला, हृदि अभ्यन्तरे नितरा लुठन्ति वर्तन्ते । कुमुदै सख्य कुर्वन्तीति तत्कृत, विशुद्धा इत्यर्थ । तास्तु कला बहिष्कृता । हे सखि, विधोर्दुर्विनय, दौजन्य, विलोकय । दुर्जना पापिष्ठानन्त कुर्वन्ति विशुद्धान् बहिष्कुर्वन्तीति भाव ॥ ४७ ॥

अन्वय—सखि, विधो दुर्विनय विलोकय—अमू विरहिणीवधपङ्क-कलङ्किता कला: हृदि नितरां लुठन्ति कुमुदसख्यकृतस्तु बहिष्कृता ।

हिन्दी—हे सखि, चद्र की अनीति तो देख—ये वियोगिनियों के वध रूप कीचड से कलङ्कित कलाएँ तो हृदय पर सुतरा लोट रही हैं, कुमुदों से (उन्हें विकसित कर) मित्रता करने वाली (कलाएँ) बहिष्कृत हैं ।

टिप्पणी—चद्रकला से असह्य व्यथित हो दमयन्ती कह रही है कि चद्र

बड़ा दुष्ट है, वह पापियों—कलंकितों को तो हृदय में बसाता है—आदर देता है, और उपकारियों को दूर भगाता है। उदाहरणार्थ—चंद्र के पास दो प्रकार की कलाएँ हैं। एक तो वे हैं, जिनकी असह्यता के कारण वियोगिनियाँ मर जाती हैं, उन हत्यारी-हत्या-कलंक से युक्त कलाओं को चंद्र अपने भीतर रख लेता है कृष्ण पक्ष में, और जो कुमुद-विकासकारिणी, अतएव परोपकारिणी कलाएँ हैं, शुक्लपक्ष में उन्हें दूर भगा देता है। यह दुष्टों का स्वभाव है सज्जन तो उपकारी को आदर देते हैं, अपकारी को दूर रखते हैं। चंद्र इसके विपरीत आचरण कर रहा है, अतः दुर्विनयी है। अथवा—चंद्र दुष्ट और अविनीत है, उसने हत्यारी कलाओं को तो दमयन्ती के हृदय पर लोटने—मानो उसकी हत्या करने—भेज दिया है, उन उपकारिणी कलाओं को दूर भेज दिया है, जो कुमुदविकास का कारण हैं। दमयन्ती को ताप हो रहा है, अतः उसकी प्रतीति है कि चंद्र की कलाएँ दो प्रकार की हैं, जो संताप कारिणी हैं, वे मूर्त हैं, विद्यमान हैं, जो उपकारिणी हैं, वे अमूर्त हैं। यही चंद्र का दुर्विनय है जो उसने आनन्ददायिनी कलाओं को दमयन्ती-सम्पर्क में नहीं आने दिया, उन वियोगिनी-वध-कलंकिताओं को भेज दिया कि जाकर दमयन्ती का भी वध करो। उस दुष्ट पर अब ये कलंकिनी कलाएँ रह गयी हैं, उपकारिणी कलाएँ तो बहिष्कृत हैं। विद्याधर के अनुसार समासोक्ति अलंकार ॥ ४७ ॥

अयि विधुं परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ।
ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया किमुदधौ जड ! वा वडवानलात् ॥४८॥

जीवातु—अयीति। अयि सखि ! विधुं परिपृच्छ। हे जड मूढ ! त्वया दाहवदान्यता दाहदातृत्वं दाहकत्वमित्यर्थः। किं ग्लपितशम्भुगलाच्छोषितशम्भुकण्ठात् गरलात् कालकूटात्, उदधौ वडवानलाद्वा कुतः कस्मात् गुरोः स्फुटमशिक्ष्यत शिक्षिता, अभ्यस्तेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

अन्वय—अयि, विधुं स्फुटं परिपृच्छ—जड, त्वया दाहवदान्यता कुतः गुरोः अशिक्ष्यत, किं ग्लपितशम्भुगलात् गरलात् वा उदधौ वडवानलात् ?

हिन्दी—हे सखि, चंद्र से स्पष्टतया पूछ—हे दुमते, तू ने जला डालने

जिस गुरु से सीखा, क्या शिवजी के गले को जलाने वाले विष कालकूट (वधु) से अथवा समुद्र-स्थित वडवाग्नि से ?

टिप्पणी—वियोगिनी दमयन्ती को चन्द्रमा कालकूट विष और वडवाग्नि के समान अथवा उनसे अधिक दाह दे रहा है, अतः दमयन्ती जानना चाहती है कि दाहनकला की शिक्षा उसे किससे मिली है ? चन्द्र, कालकूट और वडवानल सभी का समुद्र से संबंध है, सो ऐसा लगता है कि यह शिक्षा चन्द्र को कालकूट से मिली है, जिसने शंकर–शिव का भी गला जला डाला या फिर *वडवाग्नि से, जिसने जलनिधि को भी दहन दुःख दिया ? विद्याधर के अनुसार* उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ४८ ॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।
शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥ ४९ ॥

जीवातु—अयमिति । अयं विधुः, अयोगिवधूवधपातकैः वियोगिस्त्रीहिंसापापैः, करणैः, भ्रमिं भ्रमणम्, अवाप्य प्रापय्य आप्नोतेर्ण्यन्तात् क्त्वो ल्यबादेशः । 'विभाषाऽऽपः' इति विकल्पादयादेशाभावः । शितिनिशा कृष्णपक्षरात्रिस्तस्यामेव दृषदि शिलायां स्फुटन्तः पातवेगाद्विदलन्तः तत उत्पतन्तश्च ये कणाः खण्डाः, तेषां गणैरधिकं तारकिताम्बरं यस्मिन् तारकस्वच्छन्दाः सन् । अत एव कृष्णपक्षे तारकबाहुल्यमिति भावः । तारकवच्छन्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । 'विन्मतोर्लुक्' मतुपो लुक् दिवोऽन्तरिक्षान्निपात्यते खलु । उत्कटपापकारिणः पुरे परिभ्राम्य शिलायां निपात्य हन्यन्त इति भावः ॥ ४९ ॥

अन्वय—अयम् अयोगिवधूवधपातकैः भ्रमिम् अवाप्य शितिनिशादृषदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः दिवः पात्यते खलु ।

हिन्दी—यह (चन्द्र) वियोगिनी नारियों के वध रूप पापों के कारण भ्रमि (चक्कर) को प्राप्त हो (घुमाया जाकर) काली रात रूपी पत्थर पर (पटके जाते समय) टूटकर उछलते कणों से बहुत से तारकों से आकाश को आच्छादित करता आकाश अथवा स्वर्ग से नीचे पटक दिया जाता है ।

टिप्पणी—पापियों को स्वर्ग से गिराया ही जाता है और घुमा कर पत्थर

पर जोर से पटक कर दड भी दिया जाता है, जिससे वे चूर-चूर हो बिखर जाते हैं। कृष्णपक्ष में चद्र तो प्रायः मंद रहता है, तारे अधिक प्रकाशित दीखते हैं। इसी पर यह कल्पना है—शुक्लपक्ष में उदित हो चद्र ने वियोगिनियों को जलाकर मार डाला, उनकी हत्या का पाप किया। इसका दंड उसे मिला कृष्णपक्ष में। उठाकर काली रात रूप काले पत्थर पर घुमाकर उसे पटक दिया गया और वह खंड-खंड हो तारों के रूप में बिखर गया। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक और अनुमान हैं ॥ ४९ ॥

त्वमभिधेहि विधुं सखि ! मद्गिरा किमिदमीदृगधिक्रियते त्वया।
न गणितं यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरःस्थितिभूरपि विस्मृता ॥ ५० ॥

जीवातु—त्वमिति। हे सखि ! त्वं मद्गिरा विधुमभिधेहि उपालभस्व। तत्प्रकारमेवाह—त्वया महात्मनेति भावः। किं किमर्थमिदमीदृक् स्त्रीवधात्मकं (कर्म), अधिक्रियते आचर्यते ? पयोनिधौ जन्म न गणितं यदि मास्तु। हरशिर एव स्थितिभूर्निवासभूमिः साऽपि विस्मृता ? महाकुलप्रसूतस्य सम्भुशिरोभूतस्य तवेदमनुचितमित्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वय—सखि, त्वं मद्गिरा विधुम् अभिधेहि—त्वया ईदृक् इदं किम् अधिक्रियते, यदि पयोनिधौ जन्म न गणितम् हरशिरःस्थितिभूः अपि विस्मृता ?

हिन्दी—हे सखि, मेरी बात चंद्र से कह कि तू ऐसा यह (दुष्कृत्य) क्यों कर रहा है ? यदि तू ने (अपने) समुद्र में जन्म को नहीं गिना तो क्या शिव शिर पर स्थित रहना भी भुला दिया ?

टिप्पणी—किसी दुष्कृत्यकर्ता को उसके गौरव का स्मरण कराया जाता है कि वह अच्छे कुल में जन्मा है, सज्जनसंगति मिली है, उच्च पद मिला है, उसे बुरा कार्य नहीं करना चाहिए, अन्यथा गौरव समाप्त हो जायेगा। यहाँ चंद्र को भी उसके महाकुल में जन्म, उच्च संगति और उच्च पद का स्मरण करा कर दुष्कृत्य न करने की शिक्षा दी जा रही है। दुष्कृत्य का अनौचित्य बताया जा रहा है। नारी से सीधे बात नहीं की जाती, सो दमयन्ती भी सखी के माध्यम से चंद्र को उपालंभ दे रही ॥ ५० ॥

निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन ! चूर्णितः।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः ॥ ५१ ॥

जीवातु--निपततेति । हे शशलाञ्छन सकलङ्केत्यर्थः । त्वमुदधौ निपतता मथनसमय इति शेषः । मन्दरभूभृता मन्दराद्रिणापि न चूर्णितः, पीतपयोनिधेः आचमितसमुद्रस्य मुनेः अगस्त्यस्य, जठराचिषि जठरानलेऽपि जीर्णता न गतोऽसि । वातापिवदिति भावः । बतेति खेदे । मद्भाग्यविपर्यय एवायमिति भावः ॥ ५१ ॥

अन्वयः--शशलाञ्छन बत त्वम् उदधौ निपतता मन्दरभूभृता अपि न चूर्णितः पीतपयोनिधेः मुनेः जठराचिषि अपि जीर्णतां न गतः असि ।

हिन्दी--हे शश के कलंक से युक्त (कलंकी), खेद है कि तू समुद्र में (मथन के निमित्त) गिरते मंदराचल से भी (पिसकर) चूर्ण चूर्ण नहीं हुआ, समुद्र पी जाने वाले मुनि (अगस्त्य) के जठर (उदर) की आग में (पच कर) भी नष्ट नहीं हुआ ।

टिप्पणी--दमयन्ती का चंद्र पर आक्रोश--ऐसे पापी को दो-दो बार भी मौत न आयी, मथन के समय न तो मंदराचल के नीचे पिसा और न अगस्त्य मुनि के पेट में समुद्रपान के समय भीतर पहुँच कर वातापी राक्षस के समान पचा गया । कलंकियों को मौत भी तो नहीं आती ! कैसा दुर्भाग्य है बेचारी दमयन्ती का ? विद्याधर के अनुसार विभावना अलंकार ॥ ५१ ॥

किमसुभिर्गलितैर्जड ! मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामनः ।
मम किल श्रुतिमाह तदर्थिका नलमुखेन्दुपरां विबुधस्मरः ॥ ५२ ॥

जीवातु--किमिति । हे जड मूढ ! गलितैर्निष्क्रमितैः, असुभिः, प्राणैः स्वमारणेनेत्यर्थः । भीमसुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु निमज्जेत् । सम्भावनायां लोट् । इति मन्यसे किम् ? 'यत्रास्य पुरुषस्याग्नि वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीं शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन् केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते' इति श्रुतिप्रामाण्यादिति भावः । मोऽपि वृथाभिमान इत्याह--स मृतमनश्चन्द्रमेतीत्येव रूपोऽर्थोऽभिधेयो यस्यास्ता तदर्थिका, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्समासान्तः । 'प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वं स्यात इदाप्यसुपः' इतीकारः, श्रुतिं पूर्वोक्तवेदवाक्यम् । विबुधो देवो विद्वांश्च, स्मरः नलस्य मुखेन्दुः, मुखचन्द्रः, परो मुख्यार्थो यस्यास्तां तत्पराम् । 'पर दूरान्यमुख्येषु' इति वैजयन्ती । मम आह किल ब्रूते

न्तु। विद्वदुक्त एवार्थो ग्राह्य इत्यर्थः। परलोकेऽपि मे मनो नल एव नान्य इति भाव ॥ ५२ ॥

अन्वय—जड, मत्कृते असुभि नीलसुतासन' मदि निमज्जतु—इति मन्यसे किम्? विबुधस्मरः तदर्थिनां श्रुतिं नलमुखेन्दुपरां मम आह किल।

हिन्दी—अरे मूर्ख (चन्द्र), प्राण चले जाने पर भीमनगर की बेटी का मन तुझ में निमग्न हो जायेगा—क्या तू यह माने बैठा है? निश्चयपूर्वक विद्वान् देव काम ने मुझे उससे सम्बद्ध वेदवाक्य का प्रमुख अर्थ नल-मुख चन्द्र बताया है।

टिप्पणी—श्रुति-प्रमाण है कि मृत व्यक्ति की वाणी अग्नि में मिल जाती है, प्राण वायु में, नेत्र आदित्य में, मन चन्द्र में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में और रक्त-वीर्य जल में। दमयन्ती 'मनश्चन्द्रम्' के आधार पर चन्द्र को उपालम्भ देती है कि तू इसलिए कदाचित् मेरी मृत्यु चाहता है कि मर कर मेरा मन तुझ में निमग्न हो जायेगा, जो मेरे जीते जी तो तेरी ओर आकृष्ट भी नहीं होता। पर तू मूर्ख है, श्रुतिवाक्य का अर्थ तूने समझा ही नहीं, इसे ठीक-ठीक समझा विद्वान् देव स्मरणशील (स्मरतीति स्मर) काम ने। उसने मुझे बताया है कि 'मनश्चन्द्रम्' श्रुतिवाक्य में 'चन्द्र' का प्रमुख विशिष्ट अर्थ 'नलमुख' है, सामान्यार्थ 'चन्द्र' नहीं, प्रत्युत 'मुखचन्द्र'। तू मूर्ख देव है, यदि विद्वान् देव होता तो विशिष्ट अर्थ समझ पाता। मूर्ख सामान्य अर्थ ही समझ पाते हैं। भाव यह है कि मैं मरने पर भी नलानुरागिणी ही रहूँगी, अन्य किसी के प्रति मेरा अनुराग सम्भव नहीं। विद्याधर के अनुसार श्लेष और अतिशयोक्ति ॥ ५२ ॥

मुखरयस्व यशोनवडिण्डिमं जलनिधे कुमुदोज्ज्वलयाम्बुना।
अपि गृहाण वधूवधपौरुषं हरिणलाञ्छन! मुञ्च कदर्थनात् ॥ ५३ ॥

जीवातु—मुखरयस्वेति। हे हरिणलाञ्छन शशाङ्क! यशस नवडिण्डिमं कीर्तिप्रकाशक नूतनवाद्यविशेषं मुखरयस्व मुखरं, रवाकुलं कुरु, अधुना जलनिधेः उज्ज्वलकस्य कुमुदोज्ज्वलस्य प्रकाशस्य, वधूवधपौरुषमपि स्त्रीवधशौर्यञ्च, गृहाण स्वीकुरु। किंतु, कुत्सितोऽर्थः कदर्थः पीडाकरः 'को कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः। कदर्थीकरणं कदर्थना कदर्थनशब्दात्। 'तत्करोति'

इति ण्यन्ताद्‌च । ता मुञ्च शीघ्र मारय । न तु पीडयेत्यर्थ । अत्र वधू-वधस्यानिष्टत्वेनाविधेयस्य विधानात्। 'विष भुङ्क्ष्व' इतिवन्निषेधपरो विध्याभास अनिष्टनिषेधाभासपराक्षेपालङ्कारभेद । तथा चालङ्कारसूत्रम्–'अनिष्ट विध्याभासश्चे'ति ॥ ५३ ॥

अन्वय —हरिणलाञ्छन, यशोनवडिण्डिम मुखरयस्व, अधुना जलधि कुलम् उज्ज्वलय, वधूवधपौरुषम् अपि गृहाण, कदर्थना मुञ्च ।

हिन्दी—अरे मृग-कलक धारने वाले (कलकी), कीर्ति का नवीन डिंडिम घोष कर (ढिंढोरा डुग्गी पिटवादे), अब तो समुद्र का कुल उज्ज्वल कर ले, स्त्री-वध की वीरता भी अर्जित कर, (पर) यह पीडा देना छोड दे।

टिप्पणी—यह स्तुति रूप मे निन्दा है। स्त्री वध मे कोई पौरुष तो है ही नही, न इसमे कीर्ति मिलती है और न कुल का सुनाम ही होता है। इसके विपरीत नारी-हत्या, कायरता और निन्दा के कारण कुल मर्यादा-विघातक ही होती है। दमयन्ती को पीडा दे देकर मारने से यही सब 'कलक' चन्द्र को मिलेगा, और वह कलकी तो ह ही। दमयन्ती का कथन है कि भले ही 'सदाकलकी' चन्द्र को कलक भय न हो, पर इतना तो उसे मान ही लेना चाहिए कि निरपराधिनी दमयन्ती को इतनी पीडा न दे। अच्छा हो कि झटपट प्राण ले ले, यह पीडा असह्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक मे अनिष्ट, अत एव अविधेय, 'वधू-वध' के विधान के कारण निषेधपरक विधि का आभास है—'विष भुङ्क्ष्व' के समान। इस प्रकार अनिष्टनिषेधा-भासपरक आक्षेपालकार है। ['विष भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्था '—विष खा, इसके घर मत खा—इसमे विधिवाचक—'विष खा'—कथन से निषेधार्थ ही मान्य होता है। यहाँ विष खाने की अनुज्ञा नही है, इसका पूरा तात्पर्य दूसरे वाक्य से सबद्ध है—किसी विशिष्ट घर में भोजन करने से अच्छा है, विष खाना, अर्थात् इस घर मे भोजन करना विष भोजन से भी अधिक भयावह है। व्यजना के प्रसग मे विवेचक आचार्यों ने इस वाक्य पर विचार किया है। (दर्शनीय 'काव्य प्रकाश' पचम उल्लास, 'दशरूप' चतुर्थ प्रकाश।) 'वधूवधपौरुष गृहाण' में भी ऐसी ही निषेधपरक विधि का निर्देश है।] विद्याधर के अनुसार यहाँ स्तुतिनिंदा है। 'मुखरय+सु+अयश' विच्छेद

करके 'स्पन्द की दुर्गीपीट' तथा 'उज्ज्वलद' का अन्वाय 'अनिर्वल' भी किया गया है ॥ ५३ ॥

निशि शशिन् ! भज कैतवभानुतामसति भास्वति तापय पाप माम् ।
अहमहन्यवलोकयितास्मि ते पुनरहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् ॥ ५४ ॥

जीवातु—निशीति । हे शशिन् ! पाप ! क्रूर ! 'नृशंसो घातुकः क्रूरः पापः' इत्यमरः । निशि भास्वत्यसति । कैतवभानुता कपटसूर्यत्वं भज । मां तापय, किं त्वहन्यहनि, अहर्पतिना सूर्येण, 'अहरादीनां पत्यादिषु' इति रेफादेशः । ते तव, निर्धुतदर्पतां निरहङ्कारताम् अवलोकयितास्मि द्रष्टास्मीत्यर्थः । लुटि मिपि तासिप्रत्ययः । पापिष्ठा स्वभावमात्तिन्मरणपन्त पराम् हिनस्तीति भावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—शशिन्, निशि भास्वति असति कैतवभानुता भज, पाप, मा तापय, अहम् पुनः अहनि ते अहर्पतिनिर्धुतदर्पताम् अवलोकयितास्मि ।

हिन्दी—अरे चन्द्र, रात में भास्वत् (सूर्य) के न रहने पर कपट सूर्य बन ले, पापी क्रूर, सताप कर ले मुझे, मैं भी दिन में दिनेश (सूर्य) के द्वारा तेरे दर्प को दलित होता देखूँगी ।

टिप्पणी—रात में दमयन्ती पीडाकर चन्द्र को दिन में अपने इस पापकर्म का दण्ड सूर्य के सम्मुख भुगतना पड़ेगा, रात में वह पापी दमयन्ती को चाहे जितना सताले । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ ५४ ॥

शशकलङ्क ! भयङ्कर ! मादृशां ज्वलसि यच्छिति भूतपतिशिरः ।
तदमृतस्य तवेदृशभूयनाद्भुतकरी परमूर्धविधूननी ॥ ५५ ॥

जीवातु—शशकलङ्केति । हे शशकलङ्क शशाङ्क ! मादृशां वियोगिनामित्यर्थः । भयं करोतीति भयङ्कर उद्वेजक ! 'मेघर्तिभयेषु कृञः' इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागमः । यद्यस्मात्, भूतपति शिव शिरोधारणविषये, स्थित सन् निशि ज्वलसि प्रदीप्यसे । तत्तस्मादमृतस्यामृतमयस्य मूर्तेतरस्य च, तव परेषां द्रष्टृणां स्वाधिष्ठाना च, मूर्धविधूननी एकत्र विस्मयादन्यत्राक्षेपाच्च शिरःकम्पकरी, ईदृग्भूतता इत्थम्भूतत्वम् ईशशिरोधार्यत्वञ्च, अद्भुतकरी विस्मयकरी । हरशिरोमणेरमृतस्य इव इत्थं प्रज्वलना-

त्मकत्वमद्भुतमिति वाक्यार्थः । जीवत ईदृगलातपिशाचत्वमद्भुतमिति व्यङ्ग्यार्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय—शशकलङ्क, मादृशां भयङ्कर, यत् भूतपतिं श्रितः निशि ज्वलसि यत् अमृतमयस्य तव परमूर्धविधूननी ईदृग्भूतता अद्भुतकरी ।

हिन्दी—अरे शश का कलङ्क धारनेहारे, मुझ जैसी (विरहिणी) नारियों के लिए भयकारक (चन्द्र), जो सब प्राणियों के स्वामी (शिव) का आश्रित होकर भी तू जलाता है, वह अमृत से पूर्ण तेरा अन्य के सिर को कंपित कर देने वाला स्वभाव आश्चर्यजनक है ।

टिप्पणी—चन्द्रमा 'सुधांशु' (अमृत किरण) कहा जाता है, इसके अतिरिक्त वह सब भूतों प्राणियों अथवा गणों के स्वामी शिव अथवा 'भूतानां पतिम्'—आकाश में स्थित है । ऐसी स्थिति में अन्य को पीड़ा देने का—पीड़ा से सिर हिला हिला डालने का स्वभाव चन्द्र को कहाँ से मिला? यह आश्चर्य ही है । अमृतमय भी जला रहा है, प्राणियों के स्वामी का आश्रित होकर भी कष्ट दे रहा है । घोर आश्चर्य । यह ठीक नहीं है । अथवा महादेव का आश्रय पाकर भी और अमृत निकट रहते हुए जो रात में ऐसा आग का गोला बनकर जीवित रहते पिशाच का कार्य कर रहे हो, यह आश्चर्य है, क्योंकि भूत-पिशाच तो मर कर हुआ जाता है, मरा ही भूत बन कर सिर पर आया करता है और लोगों के सिर कँपाया करता है । चन्द्र तो जीता पिशाच बन गया है । अथवा अमृतमय अर्थात् जलपूर्ण होकर भी चन्द्र का जलाना आश्चर्य कारण है । जलाती तो आग है, जल नहीं । भाव यह है कि इसकी चन्द्र जीवितपिशाच 'जिदामृत' है । विद्याधर के अनुसार श्लेषालङ्कार ॥ ५५ ॥

श्रवणपूरतमालदलाङ्कुरं शशिकुरङ्गमुखे सखि ! निक्षिप ।
किमपि तुन्दिलितः स्थगयत्वमुं सपदि तेन तदुच्छ्वसिमि क्षणम् ॥५६॥

जीवातु—श्रवणेति । हे सखि ! श्रवणपूरं कर्णावतंसं, यस्तमालदलाङ्कुरस्तमालपल्लवस्तं, शशिकुरङ्गस्य मुखे वक्त्रे, निक्षिप । तेन दलाङ्कुरेण, सपदि, किमपि कियदपि, तुन्दिलितस्तुन्दिलीकृतः, स्थूलीकृतस्सन्, अमुं शशिनं, स्थगयतु छादयतु । ततस्तस्माद्धेतोः, क्षणमुच्छ्वसिमि प्राणिमि, 'श्वस-

दिम्य सार्वधातुके इतीडागम ॥ ५६ ॥

अन्वय —सखि, श्रवणपूरतमालदलाङ्कुर शशिकुरङ्गमुखे सखि निक्षिप, तेन किमपि तुन्दिलित अमु स्थगयतु येन् क्षणम् उच्छ्वसिमि ।

हिन्दी—अरी सखी, कान में रखे तमाल पत्र के अङ्कुर को चन्द्र के (वाहन) हिरन के मुख में (खाने को) झटपट डाल, उससे कुछ पेट भर कर (तोंद बढ़ाकर) वह इसे (चन्द्र को) ढक ले कि मैं क्षण भर साँस ले सकूं।

टिप्पणी—वाहन कुरङ्ग का खाकर पेट बढ़ जायेगा, जिससे चन्द्रा तक आयेगा और दमयन्ती के उसके मध्य अन्तराल हो जायेगा। अथवा चढेगी और दमयन्ती को कुछ विश्राम मिलेगा। अभी तो चन्दा साँस भी नहीं लेने देता। विद्याधर के अनुसार 'हेतु' अलङ्कार ॥ ५६ ॥

असमये मतिरुन्मिषति ध्रुवं करगतैव गता यदियं कुहूः।
पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि ! मुखं न विधो पुनरीक्ष्यते ॥५७॥

जीवातु—असमय इति । हे सखि ! असमये मति कार्यधी, उन्मिषति उदेति, ध्रुवम् । न तु योग्यकाल इत्यर्थं । कुत, यद्यस्मादियं कुहू नष्टचन्द्रा-मावास्या करगता स्वायत्तैव, हस्तनक्षत्रगता च गता । तदास्ता, पुनरुपैति पुनरागच्छति चेदित्यर्थ । निरुध्य निवास्यते स्थाप्यते । तस्य फलमाह—विधोर्मुखं पुनर्नेक्ष्यते । तस्यातन्नाशकत्वादिति भाव । पापिष्ठस्य तस्यादर्शन-मेव फलमित्यर्थ ॥ ५७ ॥

अन्वय —सखि ध्रुवम् असमये मति उन्मिषति, यत् इय करगता एव कुहूः गता, पुनः उपैति चेत् निरुध्य निवास्येत, विधो मुखं पुनः न ईक्ष्यते ।

हिन्दी—हे सखी, निश्चय ही बुरा समय आने पर बुद्धि स्फुरित होती है। जो यह 'करगता'—हाथ में आयी (अथवा कर अर्थात् हस्त नक्षत्रगता आश्विनमास की) भी अमावस्या निकल गयी, यदि फिर आयेगी तो रोक कर रख ली जायेगी, चन्द्रमा का मुख फिर न दीखेगा।

टिप्पणी—चन्द्र-दर्शन के कारण जो दुर्भाग्य—बुरा समय आया है, उसमें ही दमयन्ती को यह बुद्धि आयी कि अब जब अमावस आये तो उसे रोक लिया जाय, जिससे फिर इस पापी चन्दा का मुख न देखना पड़े। कोई सद्-

व्यक्ति पापी का मुख देखना नही चाहता। विद्याधर ने यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार माना है ॥ ५७ ॥

अयि! ममैष चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम्।
अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकरा पिबत कति शीकराः ॥५८॥

जीवातु—अयीति। अयि सखि! एप मम चकोरशिशुविषपरीक्षार्थं गृहसवर्धितो बालचकोर। यथाह कामन्दक —'चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्' इति। पिबतीति पिब, 'पाघ्राध्मा' इत्यादिना शतृप्रत्यये पिबादेश। सिन्धो पिबस्य समुद्रपायिनो मुनेरगस्त्यस्य शिष्यता, न व्रजतीति काकु। व्रजतीत्यर्थं। तथा च अय चकोरश्चन्द्र निश्शेष पास्यतीत्याशय, न चैतदशक्यमित्याह—अब्धिमशितु पातुमधीतवत अभ्यस्तवत अत एव, पिबत अब्धिपानप्रवृत्तस्यास्य चकोरस्य, शशिकरा कति वा शीकरा कतिचित्कणा इत्यर्थं। अत्र समुद्रपायिनो दण्डापूपिकया शशिकरपानसिद्धेरर्थापत्तिरलङ्कार ॥ ५८ ॥

अन्वय—अयि एष मम चकोरशिशु सिन्धुपिबस्य मुने शिष्यता न व्रजति? अब्धिम् अशितुम् अधीतवत पिबत अस्य शशिकरा कति वा शीकरा?

हिन्दी—अरी, यह मेरा चकोर का बच्चा क्या सागरपायी मुनि (अगस्त्य) के शिष्यत्व को न्ही चला जायेगा? समुद्र-पीना सीखे इसको पान करते हुए चन्द्र की किरणें कितनी बूदें होंगी?

टिप्पणी—चन्द्र न दीखे—इसका दूसरा उपाय। यदि दमयती का पाला चकोर विहगबाल मुनि अगस्त्य का शिष्य बन उनसे सागर-पान की शिक्षा प्राप्त कर ले तो फिर इस छोटे से चन्दा की तो वह कुछ बूदो के समान पी जायेगा। 'दडापूपिकान्याय' (जो दडा खायेगा, वह अपूप भी खा लेगा) से समुद्रपायी का चन्द्रकिरणपान सिद्ध है, अत मल्लिनाथ के अनुसार अर्थापत्ति अलकार, विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोघन बहिरितो मुकुरञ्च कुरुष्व मे।
विशति यत्र यदैव विधुस्तदा सखि! सुखादहित जहि त द्रुतम् ॥५९॥

जीवातु—कुर्विति। हे सखि! एक गुरु महान्तम् अयोघन तताय पिण्डघट्टनमयोमुद्गर करे कुरु विगृहीत्यर्थं। इतोऽस्मत्साधनाद्बहि, मे मम मुकुर

दर्पण च कुरुष्व विधेहि । तत्र मुकुरे यदा विधु विशति प्रतिफलति, तदैव, सुखाद-नायासात्, अहित शत्रु, त विधु, द्रुत जहि मारय । हन्तेर्लोटि सिपि हिरादेश । 'हन्तेर्ज' इति जादेशस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वाच्च हेर्लुक् । अत्र च चन्द्रप्रहारादिप्रलापा मेघसन्देशादिवन्मदनोन्मादविकारा इत्यनुसन्धेयम् ॥५९॥

अन्वय—सखि, करे एक गुरुम् अयोघन कुरु मे मुकुर च इत बहि कुरुष्व तत्र यदा विधु विशति अहित त सुखात् द्रुत जहि ।

हिन्दी– हे सखी, हाथ में एक भारी लोहे का घन ले और मेरे दर्पण को इधर से बाहर की ओर कर दे, उसमें जैसे ही चन्द्र प्रवेश करे, उस वैरी को अनायास झट से (घन से) मार दे ।

टिप्पणी—भाव यह कि शीशे में जब चन्दा की परछाहीं पड़े तभी झट से उस पर लोहे का घन पटक दिया जाय, जिससे शीशे में बन्दी चन्द्रमा भी चूर-चूर हो जाये । मल्लिनाथ ने इसमें प्रलाप मानते हुए उन्माद-विकार का संकेत किया है । मेघ सदेश की भाँति चन्द्रप्रहारादि भी प्रलाप ही है—कामार्त का चेतनाचेतनाविवेक । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार अनुप्रास ।५९।

उदर एव धृत- किमुदन्वता न विषमो वडवानलवद्विधु ।
विषवदुज्झितमप्यमुना न स स्मरहर किमसु बुभुजे विभु ॥६०॥

जीवातु—उदर इति । विषम क्रूरकर्मा, विधु , उदन्वता उदधिना, 'उदन्वानुदधौ च' इति निपात । वडवानलवद्वडवाग्निना तुल्य, 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति ' उदरे कुक्षावेव कि न धृत । अथवा, अमुना उदन्वता उज्झितमप्यमु विधु विभु समर्थ स्मरहर, विषवद्विषेण कालकूटेन तुल्य, पूर्ववद्वति । कि न बुभुजे न ग्रस्तवान् । उभयथापि स्वय जीवेम इति भाव ॥ ६० ॥

अन्वय—विषम विधुः उदन्वता वडवानलवत् उदरे एव कि न धृत ? अमुना उज्झितम् अपि अमु स विभु स्मरहर विषवत् कि न बुभुजे ?

हिन्दी—दु सह चन्द्र को समुद्र ने वडवाग्नि के समान पेट में ही क्या नहीं रखा ? (और फिर) इस (समुद्र) के द्वारा छोड़े हुए भी इस (चन्द्र) को उस समर्थ काम-विनाशक (शिव) ने विष के समान क्यों न खा डाला ?

टिप्पणी—'न बाँस रहता, न बाँसुरी बजती' । यदि समुद्र ने चन्द्र को पेट में ही रहने दिया होता और (इसके अतिरिक्त) शिव ने ही यदि इसे

खा डाला होता, कितना अच्छा होता! न चन्द्र रहता, न उगता, न वियोगिनी पीड़ित होतीं। समुद्र और शिव के लिए यह कोई नया कृत्य नहीं है। समुद्र वडवाग्नि को तो उदर में रखता ही है, शिव विषपान कर ही चुके हैं। एक दुःसह चन्द्र और सही। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रमा वडवाग्नि और कालकूट से भी अधिक असह्य है, इसी से समुद्र और शिव यथेच्छ न कर सके। विद्याधर के अनुसार संदेह अलंकार॥ ६०॥

असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेष पुनर्विशदं विषम्।
अपि निपीय सुरैर्जनितक्षयं स्वयमुदेति पुनर्नवमार्णवम्॥ ६१॥

जीवातु—असितमिति। आर्णवमर्णवे जातं, 'तत्र जातः' इत्यण्प्रत्ययः। असितं मेचकं विषं कालकूटाख्यमेकेनैव सुरेण महादेवेन, अशितं गिलितमपि, पुनर्नाभून्नाजनि। एष चन्द्रो नामार्णवं विशदं विषं पुनः सितविषं तु सुरैर्बहुभिर्देवैः 'प्रथमां पिबते वह्निः' रित्याद्युक्तक्रमेण, निपीय जनितक्षयं कृतनाशमपि, स्वयं नवं तद्रूपेणैव, पुनरुदेत्यागच्छतीति व्यतिरेकः॥ ६१॥

अन्वय—असितम् आर्णवं विषम् एकसुराशितम् अपि पुनः न बभूव, एषः विशदं सुरैः निपीय जनितक्षयम् अपि स्वयं पुनः नवम् उदेति।

हिन्दी—काला समुद्रजात विष (कालकूट) एक देव (महादेव) द्वारा खा लिया जाने पर ही फिर न उत्पन्न हुआ, यह शुभ्र (विष चन्द्र) अनेक देवों द्वारा पिया जाकर नाश को प्राप्त होने पर भी अपने आप फिर नया उत्पन्न हो जाता है।

टिप्पणी—समुद्र से एक नहीं दो प्रकार के विष जन्मे, एक काला कालकूट, दूसरा शुभ्र चन्द्रमा। कालकूट को अकेले शिव ने ही पिया था, फिर भी वह नष्ट हो गया। यह सफेद विष काले विष से अधिक प्रचंड निकला। अनेक अग्नि आदि देवता प्रतिमास (कृष्णपक्ष में) मिल कर इसका पान करते हैं और इसे पूर्णतया नष्ट कर देते हैं, परन्तु समूचा नष्ट होने पर भी—आश्चर्य है—यह फिर से नवीन होकर उत्पन्न हो जाता है। भाव यह कि चन्द्र रूप शुभ्र सामुद्र विष काले विष कालकूट से अधिक प्रबल, दृढ और विषम है। मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक, विद्याधर ने व्यतिरेक और विरोधालङ्कार का निर्देश किया है॥ ६१॥

विरहिवर्गवधव्यसनाकुल कलय पापमशेषकल विधुम् ।
सुरनिपीतसुधाकमपापक ग्रहविदो विपरीतकथा कथम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—विरहीति । हे सखि ! विरहिवर्गवधे व्यसनेनासक्त्या, आकुल सङ्कुल, सतान्दम् अशेषकल पूर्णकल, विधु पाप क्रूर विद्धि सुरनिपीता सुधा यस्य त क्षीणमितरथं । शेषिण कर्मसामान्य । अपोऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पाद् ह्रस्वभाव । अतएव एवापापकन्त सौम्य कलय् । तथा कार्यदर्शनादिति भाव । किन्तु ग्रहविदो दैवज्ञास्तु कथ विपरीतकथा 'क्षीणेन्द्वर्कार्किभूपुत्रा पापास्तत्संयुतो बुध । पूर्णचन्द्रबुधाचार्यशुक्रास्ते स्यु शुभग्रहा ॥' इत्येव विरुद्धवाच । अनुभवविरोधादग्राह्य तद्वाक्यमिति भाव ॥ ६२ ॥

अन्वय —विरहिवर्गवधव्यसनाकुलम् अशेषकल विधु पाप कलय, सुरनिपीतसुधाकरम् अपापक, ग्रहविद कथ विपरीतकथा ?

हिन्दी—(सखी,) वियोगि-वृन्द के वध की आसक्ति मे व्याकुल (अथवा वियोगि-वध व्यसन के कारण अकुल अर्थात् नीच कुलोत्पन्न) सम्पूर्ण कलावाले (पूर्णिमाचन्द्र) को पापी समझ और देवा द्वारा जिसका अमृत पी लिया गया है, उस (अमा-चन्द्र) को निष्पाप । ग्रहज्ञाता (न जाने) क्यो इसके विपरीत कहा करते है ।

टिप्पणी—ज्योतिःशास्त्रियों के कथनानुसार पूर्ण चन्द्र शुभ ग्रह होता है और क्षीण चन्द्र अशुभ । उन्होंने बताया है—'क्षीण चन्द्र, सूर्य, शनि, मगल और उनसे सयुक्त बुध पापग्रह होते है और पूर्ण चन्द्र, बुध, बृहस्पति और शुक्र शुभ ग्रह ।' किन्तु पूर्णचन्द्र वियोगिजनों को व्यथा देता है, अत दमयन्ती के मतानुसार वही पापग्रह है, अमाचन्द्र नही । वह ज्योतिःशास्त्र के वचन को इसी कारण झूठा मानती है, क्योकि अनुभव से ग्रहवेत्ताओ का कथन सर्वथा सिद्ध नहीं होता । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ ६२ ॥

विरहिभिर्बहुमानमवापि य स बहुल खलु पक्ष इहाजनि ।
तदमिनि: सकलैरपि यत्र तैर्व्यरचि सा च तिथि: किममा कृता ॥ ६३ ॥

जीवातु—विरहिभिरिति । य पक्षो विरहिभि बहुमान सत्कारमवापि प्रापित, क्षीयमाणचन्द्रत्वादिति भाव । अवपूर्वादाप्नोतेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । 'गतिबुद्धि'—इत्यादिना अणि कर्तु कर्मत्वम् । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण ' इत्य-

भिधानात् । स विरहिभिर्बहूकृत पक्ष इहास्मिन् लोके बहुप्रकार लाति आदत्त इति व्युत्पत्त्या बहुल 'आतोऽनुपसर्गे क' न तु 'बहोल्लच्' इति भाव । अजनि जात । खल्वित्युत्प्रेक्षा । किञ्च तथापि, यत्र यस्या तिथौ सकलैरपि तैर्विरहिभि तदमितिस्तस्य बहुमानस्यामितिरपरिमितिर्व्यरचि अकारि । नष्टचन्द्रत्वादिति भाव । सा च तिथि अमा अमितिर्बहुमानस्यास्यामिति व्युत्पत्त्या अमा, अमानामिका कृता किम् ? माते र्भावार्थे सम्पदादित्विपि नञ्समासे मत्वर्थीये चाकारप्रत्यये 'यस्येति चे'ति लोपे 'अजाद्यतष्टाप्' । न त्वमा सहभावोऽस्या सूर्याचन्द्रमसोरिति व्युत्पत्येत्युत्प्रेक्षा । अमेति सहार्थे अव्ययम्, ततो भावप्रधानान्मत्वर्थीयाकाराट्टाप् ॥ ६३ ॥

अन्वय —विरहिभि॰ य॰ पक्ष बहुमानम् अवापि स खलु इह बहुल अजनि, तै सकलै अपि यत्र तदमिति व्यरचि किम् च सा तिथि अमा कृता ?

हिन्दी—वियोगियों ने जिस पक्ष (पखवारा) को अत्यन्त सम्मान दिया, वह यहाँ (जगत मे) 'बहुल' (बहुमान प्राप्त करने वाला) काला पाख हो गया, उन सब (वियोगियों) ने ही जिस तिथि मे उस (सम्मान) की अपरिमितता कही, क्या उसी तिथि को 'अमा' नाम दे दिया ?

टिप्पणी—'अमा' की सामान्यस्वीकृत व्युत्पत्ति है—'अमा सह वसतोऽस्या सूर्यचन्द्रमसो॰' अर्थात् जिस तिथि मे सूर्य-चन्द्र की 'अमा' अर्थात् 'सहवसति' (एक साथ वास) हो, वह अमा है । वियोगिनी दमयन्ती को चन्द्र व्यथाकारक है, अत वह 'अमा' की दूसरी व्युत्पत्ति करती है । उसका कथन है कि चन्द्र क्षयशील कृष्ण पक्ष को 'बहुल' इसलिए कहा जाता है कि वह वियोगि जन मात प्राप्त है—बहुमान लभते इति बहुल , बहु लातीति बहुल । अमावस्या को सम्मान अमित—अपरिमेय हो जाता है, अत उस तिथि को—'अमिति बहुमानस्य यस्या सा अमा' यह विग्रह करके 'अमा' कहा जाता है । 'अमा' अर्थात् अतिमानवती तिथि । 'मानि' धातु से भावार्थ मे सपदादि क्विप् करके नञ् समास और मत्वर्थीय अकार प्रत्यय को, 'यस्य च' (अष्टा॰ ६ । ४ । १४८) से लोप किया और 'अजाद्यतष्टाप्' (अष्टा॰ ४ । १ । ४) से 'टाप्' करके 'अमा' निष्पन्न हो गया । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ ६३ ॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् किमु विधुं ग्रसते न विधुन्तुदः।
निपतितं वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिभं निजमुज्झति ॥ ६४ ॥

जीवातु—स्वेति। विधुन्तुदो राहुः, विधुं चन्द्रं, स्वरिपोर्विष्णोस्तीक्ष्णं निशितं यत् सुदर्शनं तदिति विभ्रमात् साद्दश्यमूलभ्रमान्न ग्रसते किमु ? तालुच्छेदभयादिति भावः। अन्यथा भ्रमाभावे, वदने निपतितं वक्त्रान्तर्गतम्। अत एव, निजं स्वायत्तं, बलिकरम्भनिभम् उपहृतदध्युपसिक्तसक्तुसद्दशं, स्वाधिष्ठितमित्यर्थः। 'करम्भा दधिसक्तव' इत्यमरः। एनमिति शेषः। कथमुज्झति तद्गिरतोऽरुत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

अन्वय—विधुन्तुदः विधुं स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् न ग्रसते किमु, अन्यथा वदने निपतितं बलिकरम्भनिभं कथम् उज्झति ?

हिन्दी—राहु चन्द्र को अपने वैरी (विष्णु) के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र के भ्रम से तो कहीं नहीं ग्रस पाता है, अन्यथा मुख में पड़े बलि-पूजा के निमित्त रूप करम्भ (दही-भात) के समान (चन्द्र) को छोड़ क्यों देता ?

टिप्पणी—राहु के द्वारा बारम्बार ग्रस्त होने पर भी चन्द्र बच क्यों गया ? कल्पना है कि राहु उसे अपना शिरच्छेद करनेवाले विष्णु का सुदर्शन चक्र समझ कर खाते-खाते डर कर छोड़ देता है। यदि उसे ऐसा भ्रम नहीं होता तो आकार-वर्ण साम्य से पूजार्थ उपहार में लाये करम्भ (दही-भात या दही-सत्तू) के सदृश चन्द्र को वह खा नहीं जाता, मुंह में रख कर भी छोड़ क्यों देता ? मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगतं न निजेच्छया शशिनमुज्झति राहुरसंशयम्।
अशित एव गलत्ययमत्यय सखि ! विना गलनालबिलाध्वना ॥ ६५ ॥

जीवातु—वदनेति। हे सखि ! यद्वा राहुः वदनगर्भगतमास्यान्तःप्रविष्टं शशिनं निजेच्छया स्वेच्छया, नोज्झति। असंशयं संशयो नास्ति। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। किं स्वयं शशी अशितो गिलित एव अत्ययं विना अकृच्छ्रेणेत्यर्थः। 'अत्ययोऽतिक्रमे कृच्छ्रे' इति वैजयन्ती। गलनालबिलाध्वना कण्ठनालान्तःकुहरमार्गेण, गलति निस्सरति। राहोः शिरोमात्रत्वेन कण्ठनालनिस्सृतस्याशितस्य जठराग्निसंयोगविरहादस्य पापिष्ठस्येन्दोः पुनरुदय इत्यभिप्रायः ॥ ६५ ॥

अन्वय —सखि, राहुः वदनगर्भगतं शशिनम् अधराय निजेच्छया न उज्झति, अदित एव अयम् प्रत्यय विना गलनालविलाध्वना गलति ।

हिन्दी—हे सखि, राहु मुँह के बीच पडे चन्द्र को नि सन्देह स्वेच्छा से नही त्यागता, खाया (निगला) हो गया यह बिना नष्ट हुए कण्ठनाली के छेद के मार्ग से निकल जाता है ।

टिप्पणी—राहुभुक्त किंतु अवशिष्ट चन्द्र विषयक दूसरी सम्भावना । राहु का उदर ही नही है, राहु चन्द्र को खाता है, किंतु बिना गला पचा वह कण्ठनली के छिद्र से बाहर आ जाता है । राहु के उदर न होने से चन्द्र नष्ट होने से बच जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने विरोधाभास माना है ॥ ६५ ॥

ऋजुदृशः कथयन्ति पुराविदो मधुभिदं किल राहुशिरश्छिदम् ।
विरहिमूर्धभिदं निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानलः ॥६६॥

जीवातु—ऋजुदृश इति । ऋजुदृशः तादात्विककार्यमात्रदर्शिन , न स्वागामिकार्यदर्शिन इत्यर्थः । पुराविद पुराणज्ञा पूर्वपुरुषा , मधुभिदं विष्णु, राहुशिरश्छिदं कथयन्ति किल । किलेति वार्तायाम् । विरहिमूर्धभिदं वियोगिशिरश्छिदं न निगदन्तीति काकु । तथैव कथनीयमित्यर्थः । कुतस्तस्य राहोर्जठरानलो यदि अस्तीति शेष । शशी क्व नु ? न क्वापि स्यादित्यर्थः । राहुशिरश्छेदेन तदीयजठराग्निविच्छेदत्वाद्विरहिमारक शशिनमुज्जीवयतस्य विष्णुविरहिशिरश्छेदीत्येव व्यपदेश्य न राहुशिरश्छेदीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अन्वय —ऋजुदृशः पुराविद मधुभिदं राहुशिरच्छिदं कथयन्ति किल, विरहिमूर्धभिदं न निगदन्ति, यदि तज्जठरानल शशी क्व नु ?

हिन्दी—सरलदृष्टि अथवा यथादृष्ट ग्राही पुराणेतिहास के वेत्ता मधु के नाशक (विष्णु) को 'राहु का शिरच्छेत्ता' कहते हैं, वियोगिजनो के सिरो का काटनेवाला नही कहते, यदि राहु के जठराग्नि (पेट मे आग) होती, तो चन्द्रा कहाँ रह पाता ।

टिप्पणी—मधुरिपु विष्णु को राहु के सिर को काटनेवाला कहा जाता है, क्योकि यह यथार्थ है कि उन्होंने अमृत-वितरण-काल मे ऐसा किया था । किंतु वियोगिनी दमयन्ती की सम्मति मे विष्णु को 'वियोगियों के सिर को-

काटनेवाला' कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि न वे राहु का शिरश्छेद करते और न शिव उसका 'शिरोच्छेदक' राहु रूप और न चन्द्र दुःखदाता और न वियोगी इस प्रकार व्यथित होकर प्राण देते। यदि विष्णु राहु-शिर-च्छेद न करते तो सम्पूर्ण शरीरवाला राहु चन्द्र को खाता और वह पचा भी, इसलिए मैं चन्द्र-रहित पाता। वियोगियों को उसके कारण मरण-व्यथा न भोगनी पड़ती। सम्पूर्ण दोष विष्णु का है, इसका उत्तरदायित्व उनको ही मिलना चाहिए। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ६६ ॥

स्मरनयनौ रविविभिः स्मरवैरिणा मखमृगस्य यथा दलितं शिरः।
सपदि संदधतुर्भिषजौ दिवः सखि! तथा तमसोऽपि करोतु कः ॥६७॥

जीवातु—स्मरसमानाविति। रविविभिः स्मरसमौ कायकान्तिभिः स्मरतुल्यौ अश्विनौ च, दिवो भिषजौ स्वर्वैद्यौ, स्मरवैरिणा हरेण, दलितं छिन्नं, मखमृगस्य यज्ञमृगस्य शिरो यथा सपदि सद्यः सन्दधतुः, संयोजयामासतुः। यो यस्य मित्रं स तस्य वैरं नियोजयतीति युक्तम्। किन्तु, हे सखि! तमसो राहोरपि तथा शिरस्सन्धानं करोतु। न कोऽपीत्यर्थः। हरेण मखमृगशिरश्छेदे पुराणप्रसिद्धम्, अश्विनौ पुनः सन्धानमकुरुतां 'ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्' इति श्रुतिः ॥ ६७ ॥

अन्वय—सखि, रविविभिः स्मरसमौ दिवो भिषजौ स्मरवैरिणा दलितं मखमृगस्य शिरः यथा सपदि सन्दधतुः तथा तमसः अपि कः करोतु ?

हिन्दी—हे सखि, देह-कान्ति से काम-समान स्वर्ग के वैद्यों (अश्विनी कुमारों) ने कामारि (शिव) के द्वारा काटे यज्ञ-हरिण के सिर को जैसे तत्काल जोड़ दिया था, वैसे राहु का सिर भी कौन जोड़े ? (कोई नहीं जोड़ता)।

टिप्पणी—सिर-धड़ जुड़ जाते तो राहु पूर्ण देह बन जाता। अश्विद्वय ऐसा कर सकते हैं क्योंकि उन्होंने ऐसा किया था। श्रुति-प्रमाण है—'तब उन दोनों ने यज्ञ-मृग का सिर जोड़ दिया।' शिव ने यज्ञ-मृग का सिर काटा था अश्विनीकुमारों ने जोड़ दिया, क्योंकि वे काम-तुल्य हैं। काम-शत्रु के किये को उलटदेना उनके लिए स्वाभाविक है, इस प्रकार शिव के शत्रु की कृतज्ञता उन्होंने कर दी। राहु का सिर वे क्यों जोड़ेंगे, क्योंकि उसे तो

शिव ने नहीं, विष्णु ने काटा है, जो काम के शत्रु नहीं हैं, प्रत्युत कृष्णावतार में 'कामतात' हैं। इस प्रकार राहु उदरविहीन ही रहेगा और उससे खाया चन्द्र सदा बचता रहेगा और विरही व्यथा पाते रहेंगे। खेद है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६७ ॥

नलविमस्तकितस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कबन्धगलेन वा।
मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्तदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—नलेति। अथवा, रणे नलेन विमस्तकितस्य तथापि मृतिभिया मरणभयेन भृशमुत्पततः उद्गच्छतो रिपोः, कबन्धगलेन अपमूर्धकलेबरकण्ठेन सह तमोग्रहस्य शिरः, तस्य गलस्यासृजा रक्तेन दृढबन्धनं निविडसंयोगं सत् किं न मिलति न सङ्गच्छते ? तथा च तज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्येदिति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वय—वारणे मृतिभिया भृशम् उत्पतत नलविमस्तकितस्य रिपोः कबन्धगलेन तमोग्रहशिरः तदसृग्दृढबन्धनं किं न मिलति ?

हिन्दी—अथवा युद्ध में मरणभय से अत्यर्थ आकाश की ओर उछलते, नल द्वारा मस्तक रहित किये शत्रु के धड़ की गरदन के साथ अन्धकार ग्रह (राहु) का शिर उस (धड़) के रक्त से दृढता के साथ जुड़ क्यों नहीं मिल जाता ?

टिप्पणी—राहु को उदरयुक्त करने का दूसरा प्रकार संकेतित है पूर्व श्लोक में बताया गया कि 'मखमृग' को तो देववैद्यों ने जोड दिया, पर राहु को जोड़ने वाला कोई नहीं है। यहाँ जोड़ने की संभावना इस प्रकार की गयी है कि चन्द्र है वियोगिजनों का शत्रु और राहु उसका शत्रु है। इस प्रकार राहु वियोगियों का मित्र हुआ। कोई वियोगी उसकी सहायता कर सकता है। नल वीर है, युद्ध में शत्रु वध करता है, वियोगी भी है। संग्राम में मरण-भय से आकाश की ओर उछलते शत्रु का मस्तक नल द्वारा जब कटेगा तब यह संभव है कि उसके धड के साथ बहते रक्त से राहु का शिर जोड दिया जाय, जिससे वह पूर्णांग होकर चन्द्र का खा ले और वियोगियों को चैन मिले। ऐसा कोई वियोगी कर क्यों नहीं देता ? कर देना उचित है। विद्याधर द्वारा निर्दिष्ट अलंकार उत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

सखि ! जरां परिपृच्छ तमश्शिरस्सममसौ दधतापि कबन्धताम् ।
मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥ ६९ ॥

जीवातु—सखीति । अथवा, हे सखि ! जरां जराख्यां निशाचरीं परिपृच्छ । असौ जरा कबन्धताम् अशिरस्कतां दधतापि केतुना समं केतुना सह तमसो राहोः शिरः मगधराजस्य जरासन्धस्य वपुर्दलयोः शरीरार्धभागयोः युग्मवत् युगलमिव, किमिति न प्रतिसीव्यति न सन्धत्ते ?। शिरोमात्र राहु शरीर-मात्र केतु तयो सन्धाने पूर्ववत्सम्पूर्णकायेन चन्द्रो बाध्येतेति भाव । जरा-कृताङ्गसन्धानो जरासन्ध इति भारती कथानुसन्धेया ॥ ६९ ॥

अन्वय—सखि, जरां परिपृच्छ—असौ कबन्धतां दधत केतुना सम तमः शिर अपि मगधराजवपुर्दलयुग्मवत् किमिति न प्रतिसीव्यति ?

हिन्दी—हे सखी, जरा राक्षसी से पूछ—यह कबन्ध (धड़) रूप धारी केतु के साथ राहु का सिर भी मगध के राजा (जरासन्ध) के शरीर के दोनों भागों के समान क्यों नहीं सिल देती ?

टिप्पणी—राहु को पूर्ण करने का एक और उपाय । जरा नाम की राक्षसी ने एक शरीर के दो भागों को सिल दिया था, जिससे जरासन्ध बना और मगध का राजा हुआ, जिसका श्रीकृष्ण ने भीमद्वारा वध कराया था। जरा राक्षसी है, राहु भी राक्षस है । यदि जरा को सन्देश भेजा जाय तो वह राहु-केतु को जोड़कर एक कर सकती है । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥६९॥

वद विधुन्तुदमालि ! मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजधिया रिपुम् ।
किमु दिवं पुनरेति यदीदृशः पतित एष निषेव्य हि वारुणीम् ॥ ७० ॥

जीवातु—वदेति । हे आलि सखि ! मदीरितैः मद्वाक्यैः विधुन्तुदं राहुं वद, रिपुं द्विजराजश्चन्द्रो ब्राह्मणश्चेत्यत्र, तद्धिया त्यजसि किम् ? तथा न्तीत्याह—यद्यस्मादेव चन्द्रो वारुणीं प्रतीचीं सुरां च । 'वारुणी गन्धदूर्वायां प्रतीच्यां सुरा-योरपि' इति विश्वः । निषेव्य गत्वा पीत्वा च । पतितः च्युतः पातकी च । ईदृशः पतितोऽपि पुनर्दिवमन्तरिक्षं स्वर्गं च एति यदि किमु । द्वयोरपि पतितयोरधोगतिरेव नोर्ध्वगतिरित्यर्थः । अतः पतितस्य कृते धैर्यं कुतस्तरां तद्वधे दोषस्तवेति भाव ॥ ७० ॥

अन्वय —आलि, मदीरितं विधुन्तुद वद—रिपु द्विजराजधिया त्यजसि किम् यत् एष ईदृश पतित हि वारुणी निषेव्य दिव पुन किमु एति ?

हिन्दी—अरी सखी, मेरे वचन विधुपीडक (राहु) से कह—क्या यह शत्रु को ब्राह्मण समझ कर छोड रहा है ? जब कि यह ऐसा पतित (गिरा हुआ, नीच) है तो फिर वारुणी (मदिरा तथा वरुण की दिशा पश्चिम) का सेवन कर 'द्यौ' (आकाश स्वर्ग) मे पुन आता कैसे है ?

टिप्पणी—दमयन्ती कहती है कि राहु को बता दो वह चन्द्र को ब्राह्मण समझ कर क्षमा न करे, यह तो मद्यसेवन करनेवाला ब्राह्मण है पतित—नीच जाने कैसे स्वर्ग मे पहुँच गया है ? यहाँ द्विजराज (तारों का राजा, ब्राह्मण), वारुणी (मदिरा, पश्चिम दिशा) द्यौ (आकाश, स्वर्ग) और पतित (नीचे गिरा, पातकी) शब्द अनेकार्थक हैं। द्विजराज (तारकपति) इतना गिरा हुआ और निर्लज्ज है कि पश्चिम दिशा में डूब कर भी फिर फिर आकाश मे आ धरता है। भला आदमी अपराध करके बार-बार फिर वैसा ही करने को मुँह नहीं दिखाता। यह चन्द्र ही ऐसा नीच है। चन्द्र को ब्राह्मण मान राहु खा जाने से न चूके, यह तो मदिरापायी ब्राह्मण है, इस पियक्कड को न जाने क्यों स्वर्ग मे घुसने दिया जाता है ? चन्द्र तो बस नाम का ही ब्राह्मण है, वैसे पतित है, वारुणी सेवी। विद्याधर के अनुसार समासोक्ति अलकार। हिन्दी के सस्कृत पडित, आचार्य, कवि केशवदास का ऐसा ही एक दोहा द्रष्टव्य है—'जहीं वारुणी की करी रचक रुचि द्विजराज। तहीं कियो भगवन्त बिन सपति शोभा साज ॥'—रामचन्द्रिका–५।१४ ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमयं खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवामननोज्झितः ?।
प्रकृतिरस्य विधुन्तुद ! दाहिका मयि निरागसि का वद विप्रता ?॥७१॥

जीवातु—दहतीति। विधुन्तुद ! अयं विधु द्विजवासनया द्विजत्वसामान्येनेत्यर्थ। पातितेऽपि जातेरनपायादिति भाव। गरुडवद् गरुडस्येव 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्यय। ते तव कण्ठ दहति खलु। विधु तेन दाहेनाज्झित किम् ? अस्य विप्रता का वद, न कापीत्यर्थ। तथा हि, अस्य विधो प्रकृति निरागसि निरपराधायां मयि दाहिका दग्ध्री। अनपराधस्त्रीघातुकस्य कुतो ब्राह्मणत्वमित्यर्थ। 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमर। पुरा किल क्षुधितेन गरुत्मता

निषादेषेन म्लेच्छान् भक्षयता गरुत्मता अष्टद्विजः कश्चित् तद्गलदहनेन सहसो-द्गीर्ण इति पौराणिकी कथा । तथा माघश्चाह—'विप्र पुरा पतगराडिव निर्जगार' इति ॥ ७१ ॥

अन्वय—विधुन्तुद, अयं किं कण्ठं दहति गरुडवत् द्विजराजतया उज्झितः ? अन्यः प्रकृतिः दाहिका, निरागसि मयि का विकृता ? इह ।

हिन्दी—हे चन्द्रपीडक (राहो) यह (चन्द्र) क्या (खाने समय तेरा) कण्ठ जलाता है, जिसने गरुड के समान (तूने इसे) ब्राह्मण-बुद्धि से छोड दिया, अथवा इसका स्वभाव है, अन्यथा निरपराधिनी मुझ पर यह कौन-सी ब्राह्मणता दिखा रहा है ? इह ।

टिप्पणी—पुराण-कथा है कि माता विनता की दासता से मुक्ति दिलाने के लिए अमृत लाते गरुड ने निषादाकृति ब्राह्मण को खा जाना चाहा था। उन्हें कश्यप का वरदान था कि ब्राह्मणातिरिक्त सब को मार्ग में गरुड खा सकते हैं। ब्राह्मण की पहिचान यह है कि उसे खाते ही गला जलने लगेगा। सो निषादाकृति ब्राह्मण को मुख में रखते ही गरुड के गले में जलन होने लगी और उन्होंने उसे ब्राह्मण समझ कर छोड दिया। इस श्लोक में इसी पुराण-कथा का आश्रय लिया गया है कि राहु ने—गले में दाह कर रहा है, इस लिए चन्द्र ब्राह्मण है सो—उसे गरुड के समान ही छोड दिया। दमयन्ती चन्द्र के वारुणी-सेवन की ओर संकेत करके कह रही है कि चन्द्र नाम का ही 'द्विजराज' है, कर्म से तो यह पतित शराबी है। निरपराध को सताने वाला भी कहीं ब्राह्मण होता है ? इसकी प्रकृति ही है—पर-पीडन। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमालंकार ॥ ७१ ॥

नन्न्या कलया किल दंष्ट्रया सनवधाम दशनाय विनिर्मितः ।
विरहिणीगणचर्वणसाधनं विधुरतो द्विजराज इति श्रुतः ॥ ७२ ॥

जीवातु—मन्यऽयेति । विधुः अकन्या कया मन्यामि, कलानिरेव दंष्ट्रया दशनेन, दन्तविशेषे प्रकृतिरन्यत् । जनवन्न वा देवेश्वचनम् । दशनाय दन्तकार्याय चर्वणाय तस्याविरहिणीभूय, विरहिणीगणस्य चर्वणसाधनं किञ्चिद्द-न्तसाधनं विनिर्मितः, किल ब्रह्मणेति शेषः । अतोऽस्माद्दंष्ट्राविशेषत्वाद् 'द्विज-राज' इति श्रुतः न तु विप्रविशेषत्वादित्यर्थः । 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः ।

क्षतो नायमुपेक्ष्य इति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वय —विधु सकलया कलया दष्ट्रया समवधाय कि यमाय विरहिणी-गण चर्वणसाधन विनिर्मित अत द्विजराज इति श्रुत. ?

हिन्दी—चन्द्र सपूर्ण कला रूप दष्ट्राओ से भली भाँति सयोजन करके क्या यम के लिए विरहिणियों को चबाने का साधन बनाया गया है, इसीसे 'द्विजराज' (दाँतो का राजा) प्रसिद्ध है ?

टिप्पणी—चन्द्र का जो 'द्विजराज' विरुद है, वह इसलिए नही कि वह ब्राह्मणश्रेष्ठ है यह तो इसलिए 'द्विजराज' है कि दष्ट्राओं से इसका निर्माण हुआ है, जिससे यमराज वियोगिनियों को चबा डालता है ? हृदय करने का यत्र है यह—दाँतों का राजा । विद्याधर ने इस श्लोक मे अपह्नवोत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ७२ ॥

स्मरमुख हरनेत्रहुताशनाज्ज्वलदिद विधिना चकृपे विधु ।
बहुविधेन वियोगिवधैनसा शशमिषादथ कालिकयाङ्कित ॥ ७३ ॥

जीवातु—स्मरमुखमिति । अथ विधुरचन्द्रो नामेद स्मरमुख ज्वलत् प्रज्वलदेव विधिना दैवेन हरनेत्रहुताशनात्चकृपे मध्ये आकृष्ट । अथवा बहुविधेन वियोगिवधेन यदेन पाप, तेनैव कालिकया श्यामिकया, शशमिषादङ्कित । दाहकालिमा वा, पापकालिमा वा शशमिषाद् दृश्यत इति सापह्नवोत्प्रेक्षाद्वयम् ॥ ७३ ॥

अन्वय—अथ विधु इद ज्वलत् स्मरमुख विधिना हरनेत्रहुताशनात् चकृपे, बहुविधेन वियोगिवधैनसा कालिकया शशमिषात् अङ्कित ।

हिन्दी—अथवा चन्द्ररूप इस दहकते कामनुख को विधाता ने शिव के तृतीय नेत्र की आग से बनाया है, अनेक प्रकार से वियोगि जनो के वध के पाप की द्योतक कलौंस खरहे के ब्याज से इस पर लगा दी गयी है ।

टिप्पणी—चन्द्र की दाहकता और पातक का द्योतन । मल्लिनाथ के अनुसार दो सापह्नवा उत्प्रेक्षाएँ, जिनका चन्द्रप्रभाकार ने दो प्रतीयमान उत्प्रेक्षाओं और अपह्नुति के अगागिभाव सकर रूप में निर्देश किया है । विद्याधर इस श्लोक मे रूपक और अपह्नुति मानते हैं ॥ ७३ ॥

[द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रह- ।
विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया स्फुरति राहुरय न निशाकर ॥ १ ॥]

[अन्वय —विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया द्विजपतिग्रसनाहितपातकप्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रह अय राहु स्फुरति, निशाकर न ।

चरित्रवर्धनकृततिलकव्याख्या—द्विजपतीति ॥ भो सखि, विरहिणीना वियोगिनीना वदनेन्दुजिघित्सया मुखचन्द्रभक्षणेच्छया राहुरेव स्फुरति न निशाकर । कीदृश —द्विजपतिश्चन्द्रो विप्रश्रेष्ठश्च तदग्रसनात्तद्ग्रहणादाहित यत्पातक तस्मात्प्रभवमुत्पन्न यत्कुष्ठ तेन सितीकृतो धवलीकृतो विग्रह शरीर यस्य स तथा ॥ रूपकोऽयम ॥

हिन्दी—वियोगिनियो के मुखचन्द्रो को खाने की इच्छा से द्विजराज (चन्द्र और ब्राह्मणश्रेष्ठ) को ग्रसने के पातक से उत्पन्न कोढ के कारण शुभ्र शरीर वाला यह राहु ही चमक रहा है, निशाकर (चन्द्र) नही ।

टिप्पणी—भाव यह है कि यह जो आकाश मे चमक रहा है, वह वस्तुत शुभग्रह चन्द्र है ही नही, यह तो पापग्रह राहु है। इसने जो चन्द्र को ग्रस कर ब्रह्म हत्या की है, उसी के पाप से इसे कोढ हो गया है, जिससे शुभ्र होकर यह चन्द्रमा का भ्रम उत्पन्न कर रहा है। इसी कारण तो यह इतना क्लेश कारक है। जिनराज की सुखावबोध व्याख्या मे इस पर टिप्पणी है—'अनेन ब्रह्महत्याविमुक्त फलमनुभवतोऽपि पुन स्त्रीहत्याकरणोद्यतस्यास्य नास्ति त्रपेत्य भिप्राय ।' इसने एक बार ब्रह्महत्या-पातक का फल तो पा लिया, पुन स्त्रीहत्या करने को तैयार है, लाज भी नही आती अपह्नुति अलकार।]

इति विधोर्विविधोक्तिविगर्हण व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा ।
अतितरा दधती विरहज्वर हृदयभाजमुपालभत स्मरम् ॥ ७४ ॥

जीवातु—इतीति । अतितरामतिमात्रम्, अव्ययादाम्प्रत्यय । विरहज्वर दधती सा दमयन्ती इतीत्थ, व्यवहितस्य विप्रकृष्टस्य, विधोर्विविधोक्तिभि- र्विगर्हण निन्दा वृथेति विमृश्य, अरण्यरुदितप्रायमिति विचार्य, हृदयभाज सन्नि- हित स्मरमुपालभत निनिन्द । पाक्षिकफलसम्भावनयेति भाव ॥ ७४ ॥

अन्वय—अतितरा विरहज्वर दधती सा व्यवहितस्य विधो इति

विविधोक्तिविगर्हणं वृथा इति विमृश्य हृदयभाजं स्मरम् उपालभत ।

हिन्दी—अत्यन्त वियोग-ताप से पीडिता वह (दमयन्ती) दूरस्थित चन्द्र को इस प्रकार अनेक कथनों से निन्दा व्यर्थ है—यह विचार कर हृदयस्थित काम को उलाहना देने लगी ।

टिप्पणी—दूर आकाश में रहते चाँद को गरियाने से क्या लाभ ? भीतर बैठे काम से कहना उचित है ॥ ७४ ॥

हृदयमाश्रयसे बत मामकं ज्वलयसीत्थमनङ्ग ! तदेव किम् ? ।
स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धन क्व भवितासि ? हुताश ! हुताशवत् ।७५।

जीवातु—हृदयमिति । हे अनङ्ग ! मामकं मामकम् । 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि मम' कादेशः । हृदयमाश्रयसे । तदेवेत्थं किं ज्वलयसि दहसि ? बत । हुताश दुर्बुद्धे ! स्वयं त्वमपि, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्निः, कर्मण्यण् । तद्वत् क्षणदग्धनिजेन्धनो दग्धाश्रय सन्नित्यर्थः । क्व भवितासि क्व भविष्यसि ? न क्वापीत्यर्थः । अनद्यतने लुट् । परहिंसाव्यसनेनात्मनाशं न पश्यसीत्याशयेन हुताशेत्यामन्त्रणम् ॥ ७५ ॥

अन्वय—अनङ्ग, बत मामकं हृदयम् आश्रयसे, तत् एव इत्थं किं ज्वलयसि ? हुताश, स्वयं हुताशवत् क्षणदग्धनिजेन्धन क्व भवितासि ?

हिन्दी—अरे अतनु काम, खेद है कि तू मेरे हृदय का आश्रय लिये है, उसे ही इस प्रकार क्यों जला रहा है ? अरे दुष्ट आकांक्षा करने वाले, स्वयम् हुत को खाने वाले अग्नि के तुल्य क्षण में अपने ईंधन को जला डालकर (तू) कहाँ होगा ?

टिप्पणी—काम को उपालम्भ देती हुई दमयन्ती ने कहा कि मूर्ख काम, तू तो वह मूर्खताभरा कार्य कर रहा है कि जिस डाल पर बैठा है, उसे ही काट रहा है। मेरे हृदय में घर बनाये है, उसे ही जला रहा है। जब तेरा बसेरा ही जल जायेगा, तब तू रहेगा—बसेगा कहाँ ? यह तो तू आग के समान कर रहा है कि जिस ईंधन पर वह आश्रित होती है, उसे ही जलाकर राख कर देती है और स्वयं भी नष्ट हो जाती है। ऐसे ही तेरी भी दशा होगी। विद्याधर के अनुसार यहाँ उल्लेख्य अलंकार है अनुप्रास और उपमा ॥ ७५ ॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यतां त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया ।
स्मर ! निरैक्ष्यत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः ॥ ७६ ॥

जीवातु—पुरभिदेति । हे स्मर ? त्वम् अक्षिगत इति शेष । अनक्षिसन्निकृष्टस्याक्ष्णा दग्धुमशक्यत्वाददृश्यस्य च दाहायोगादिति भाव । पुरभिदा हरेण, त्रिनयनस्व त्र्यक्षत्व, शुम्भादित्वाण्णत्वाभाव । तस्य परिप्लुतिशङ्कया तृतीयाक्षिवैयर्थ्यभयेनेत्यर्थ । अदृश्यता गमितो नाशं प्रापित, 'गतिबुद्धि'— इत्यादिना अणिकर्तुं कर्मत्वे तत्रैव क्त । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति वचनात् । किन्तु, कस्यचनापि यस्य कस्यचिदपि जनस्याक्षिगते दृग्गोचरे द्वेष्ये च । 'द्वेष्ये त्वक्षिगतो वध्य ' इत्यमर । त्वयि त्रिभिर्नयनै किं न निरैक्ष्यत, किमिति न निरीक्षितम् । अतोऽस्य त्रिनयनस्व व्यर्थमेवेत्यर्थ । त्वाक्षिगत इव मादृशाक्षिगतेऽपि त्वयि तृतीयाक्षिनिरीक्षणाभावादपरोपकारिणस्तस्य वैयर्थ्यं, निरीक्षणञ्च देवस्य जितकामत्वादन्येषां तु कामजितत्वादुत्प्रेक्ष्यत इति । त्वयि निरैक्ष्यतेत्यत्र कर्मणोऽपि स्मरस्य अनेकशक्तियुक्तस्येति न्यायेन मातरि प्रहृतमित्यादिवदाधारत्वविवक्षायामविवक्षितकर्मकादीक्षतेर्भावे लकार । 'प्रसिद्धेरविवक्षात कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् ॥ ७६ ॥

अन्वय—स्मर, त्वम् पुरभिदा त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया अदृश्यता गमित , कस्यचन अपि अक्षिगते त्वयि त्रिभि नयनैः किं न निरैक्ष्यत ?

हिन्दी—हे काम, तुझे पुरारि (महादेव) ने (अपने) तीननेत्र होने की अतिव्याप्ति अथवा व्यर्थता की शंका से विलुप्त कर दिया था, परन्तु तुम्हारे किसी जन के भी अक्षिगत (प्रत्यक्ष और शत्रु) होने पर क्या (उसने) तीन नेत्रों से (क्रोध युक्त हो) नहीं देखा ? अपितु देखा ही । अथवा 'किम्' का अर्थ 'किन्तु' मानने पर तुम्हारे अक्षिगत (प्रत्यक्ष अर्थात् साक्षात) होने पर किसी ने भी तीन नेत्रों (क्रोध) से नहीं देखा ।

टिप्पणी—'अक्षिगत' (प्रत्यक्ष और द्वेष योग्य—'आँख में खटकने वाला') और 'त्रिनयनत्व' (तीन नेत्र होना और क्रोध) अनेकार्थ शब्द हैं । शिव को त्रिनेत्र माना गया है, तीसरा नेत्र ज्ञान नेत्र भी कहाता है । यहाँ कल्पना यह की गयी है कि शिव के सम्मुख जब काम शत्रुरूप में प्रत्यक्ष हुआ तो उन्होंने

उसे अनग कर दिया। यह इस लिए कि यदि वे ऐसा न करते तो उनका 'त्रिनयनत्व' अतिव्याप्त अतएव व्यर्थ हो जाता। काम जब अन्य व्यक्तियों को 'अक्षिगत' होता तो वे भी 'त्रिनेत्र' अर्थात् क्रोधयुक्त हो जाते हैं। जब शिव ने उसे क्षार कर अप्रत्यक्ष कर दिया तो अब कोई 'त्रिनेत्र' न होगा और शिव के त्रिनेत्रत्व की अतिव्याप्ति न होगी। केवल शिव 'त्रिनेत्र' रहेंगे, अन्य कोई नहीं। इसके अतिरिक्त कामदहन से पूर्व शिव का तीसरा नेत्र व्यर्थ पड़ा था, उसका उपयोग हो गया, व्यर्थता बच गयी। त्रिनेत्रधारी शिव परमज्ञानी हैं, यदि तृतीयनेत्र—ज्ञाननेत्र रहने पर भी वे कामदहन न करते तो उनका ज्ञान-नेत्र सार्थक ही नहीं होता, व्यर्थ हो जाता।

परन्तु शिव का यह कार्य चरितार्थ नहीं हुआ, जब-जब नर-नारी को काम 'अक्षिगत' (द्वेषी शत्रु) हो व्यथित करने लगता वे त्रिनेत्र (क्रोधयुक्त) होते ही थे। अथवा शिव का यह कार्य इस लिए भी सार्थक नहीं हुआ कि काम के 'अक्षिगत' (प्रत्यक्ष अर्थात् आविर्भूत) होने पर कोई 'त्रिनेत्र' होता ही नहीं, सभी कामानन्दलीन हो जाते हैं। शिव की 'त्रिनेत्रता' अतिव्याप्ति—परिप्लुत होती ही नहीं है। काम के 'अक्षिगत' होने पर किसी का 'त्रिनेत्रत्व' मिलता ही नहीं, क्रोध आता ही नहीं। कहाँ सब 'त्रिनेत्र' (ज्ञानी) हो सकते हैं? अत शिव की यह आशङ्का व्यर्थ ही थी। भाव यह है कि 'त्रिनेत्रत्व-परिप्लुतियका' दोनों स्थितियों में व्यर्थ हो गयी। यदि यह माना जाय कि कामाक्रान्त होने पर सब 'त्रिनेत्र' (क्रोधपूर्ण) हो जाते हैं, तब भी शिव का काम को 'अदृश्य' करदना सार्थक न हुआ, 'परिप्लुति' हो ही गयी। यदि यह माना जाय कि कामाविष्ट हो कोई 'त्रिनेत्र' (क्रोधमय अथवा ज्ञानी) नहीं होता तब आशङ्का ही व्यर्थ थी। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वसत्यपि मे न रतिः कुतः ?।
अथ न सम्प्रति सङ्गनिरास्त वामनुमृता न भवन्तमियं किल ॥७७॥

जीवातु—सहचर इति। हे स्मर ! रते रतिदेव्या, सहचरोऽसीति विश्रुतिः प्रसिद्धिः त्वयि वसति हृदयस्थे सत्यपि मे कुतो रतिः ?

अथवा, सम्प्रति वा युवयोः सङ्गतिर्नास्ति। कुतः, इयं रतिर्मृतेव नानुमृता किल। किमिति वार्तामात्रम्। अनुमरणाभावादसङ्गतिरित्यर्थः। अत्र प्रीति-लक्षणाया रतेर्देव्या सहाभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिर-लङ्कारः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—रते सहचरः असि इति विश्रुतिः, त्वयि वसति अपि मे कुतः रतिः न? अथ सम्प्रति वा सङ्गतिः न अस्ति, इयं मृते न अनुमृता किल।

हिन्दी—काम तुम रति (स्वपत्नी) के सहचारी हो, ऐसा विख्यात है, किन्तु तुम्हारे (मेरे हृदय में) बसने पर भी (वहाँ) रति (प्रीति, सन्तोष, प्रियसङ्ग) क्यों नहीं है? अथवा (ऐसा लगता है) आजकल तुम दोनों (रति-काम) का साथ नहीं है, वह (रति) तुम्हारे दग्ध होनेपर मरी भी तो नहीं है।

टिप्पणी—यह श्रुति प्रसिद्धि वेदवाक्य दो प्रकार से ठीक नहीं है कि रति-काम सहचर हैं। एक तो दमयन्ती के हृदय में काम है, किन्तु रति (प्रियसङ्ग) नहीं, दूसरे काम के साथ रति ने मरण भी नहीं स्वीकारा। दोनों प्रकार से 'श्रुति' प्रमाणित नहीं होती। कामाविष्ट दमयन्ती को 'रति' भी प्राप्त होती और काम के साथ रति भी जल मरती तो 'श्रुति' सत्य सिद्ध होती। और जब काम दग्ध हो गया, रति नहीं हुई तो वे साथ रहे ही नहीं, दमयन्ती के हृदय में काम के साथ रति कैसे आती? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रीति-लक्षणा रति का कामपत्नी रति के साथ अभेदाध्यवसाय होने के कारण अति-शयोक्ति अलङ्कार है, विद्याधर के अनुसार विभावना और हेतु ॥ ७७ ॥

रतिवियुक्तमनात्मपरज्ञ किं स्वमपि मामिव तापितवानसि ?।
कथमतापभृतस्तव सङ्गमादितरथा हृदयं मम दह्यते ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—रतीति। आत्मानं परञ्च न जानातीत्यनात्मपरज्ञ सर्वघातुक मार! मामिव रतिवियुक्तं स्वमात्मानमपि तापितवानसीत्युत्प्रेक्षा। कुतः, इतरथा स्वात्मसन्तापने, अतापभृतस्तापरहितस्य तव सङ्गमात् सम्पर्कात् मम हृदयं कथं दह्यते? तत्सम्पर्कात्तापो नात्मसम्पर्कादित्यर्थः। सन्तापनादपि, स्वयमतप्तेन त्वया परस्तापः क्रियते यथा वह्नौ(?)स्तत्समुखैः शिरोमुखैरिति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वय —अनात्मपरज्ञ, त्वं रतिवियुक्त स्वम् अपि माम् इव किं तापितवान् असि, इतरथा अतापमृत तव सङ्गात् मम हृदयं कथं दह्यते ?

हिन्दी—अरे अपना और पराया (लाभ हानि) न समझने वाले (काम) तू ने रति (स्वप्रिया) से विरहित अपने को भी (रति अर्थात् प्रियसंगविहीना) मेरे समान क्या सतप्त कर रहा है, अन्यथा असतप्त तेरे संग से मेरा हृदय क्यो जला जाता है ?

टिप्पणी—भर्तृहरि के अनुसार कुछ व्यक्ति स्वार्थ-नाश के मूल्य पर दूसरे का कार्य सिद्ध करते हैं, वे सत्पुरुष होते ह, उत्तम जन । कुछ स्वार्थ नाश न होने देकर परोपकार करते हैं, वे मध्यम जन कहाते हैं । नीच वे होते है, जो परहानि करके स्वार्थ सिद्ध कर लेते हैं । एक चौथे प्रकार के व्यक्ति होते हैं—राजर्षि ने कहा है कि हम नही जानते वे किस कोटि मे आते हैं—'ते के न जानीम हे'—ऐसे व्यक्ति स्वय को पीडित करके भी परपीडन अपना धर्म समझते हैं । खुद तो डूबेंगे, मगर यार को ले डूबेंगे ।' इनके लिए मुख्य है—परपीडा, भले ही स्वय भी पीडा सहनी पडे । दमयन्ती के अनुसार काम भी इसी कोटि का है, जो स्वय ताप सह रहा है और दमयन्ती को ताप दे रहा है । न अपनी सुख, न परायी सुख । विद्याधर के अनुसार इस पद्य मे अनुमान और उपमालकार हैं ॥ ७८ ॥

अनुममार न मार ! कथ नु सा रतिरिति प्रथितापि पतिव्रता ।
इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तथासि किमुज्झित ? ॥ ७९ ॥

जीवातु—अनुममारेति । हे मार मारक ! पतिव्रतेति प्रथितापि सा रति कथ नानुममार कथ नानुमृता ? 'मृते म्रियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इत्यनुस्मरणादिति भाव । अथवा, इयद्भिरेतावद्भिरमरर्यैरित्यर्थ । अनाथवधूना वियोगिस्त्रीणा, वधै पातकी त्व तया दयितयापि विरहमसहमानयापीति भाव । उज्झित त्यक्तोऽसि त्रिमिथुत्प्रेक्षा । 'आशुद्धे सम्प्रतीदयो हि महापातकदूषित' इति स्मरणादिति भाव ॥ ७९ ॥

अन्वय —मार, पतिव्रता इति प्रथिता अपि सा रति कथं न अनुममार, इयदनाथवधूवधपातकी दयितया अपि तथा किम् उज्झित असि ?

हिन्दी—हे मारक (काम), 'पतिव्रता'—विख्यात भी उस रति ने क्यों अनुमरण नहीं स्वीकारा ? अरे, इसने अनाथा (नाथरहिता प्रिय-वियुक्ता) वधुओं के वध का पाप तूने किया है कि 'उस दयिता' (दयायुक्ता, प्रिय पत्नी) ने भी क्या तुझे छोड़ दिया ?

टिप्पणी—पतिव्रता रूप में प्रसिद्ध रति काम के साथ सती कदाचित् इस कारण नहीं हुई कि वह महापातकी है, अनेक वियोगिनियों की हत्या का पातक उसके सिर पर है। दयावती रति भी उस पर दया न दिखा सकी, ऐसा पापी है काम। याज्ञवल्क्यस्मृति (आचाराध्याय) के अनुसार महा-पातकी के शुद्ध होने की प्रतीक्षा करना ही उचित है, सहमरण नहीं। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षालंकार हैं ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जितेन्द्रियस्त्वदुरुकीर्तितनुं मदनाशयत् ।
तव तनूमवशिष्टवतीं ततः समिति भूतमयीमहरद्धरः ॥ ८० ॥

जीवातु—सुगत इति। जितेन्द्रियो वशी सुगतो बुद्ध एव विजित्य, तव उरु महती कीर्ति एव तनु शरीरं, यशस्त्वाद्यनाशयत् नाशितवान्। तत कारणादवशिष्टवतीमवशिष्टां भूतमयी पाञ्चभौतिकीं तव तनुं समिति युद्धे हर शम्भुरहरत् सम्भोगकारैरलम्। तथापि निर्लज्ज कथमित्थमस्मानन्याय्यमयसीति विस्मिताः स्म इति भावः ॥ ८० ॥

अन्वय—मद ! जितेन्द्रियः सुगतः एव विजित्य त्वदुरुकीर्तितनुं मनाशयत्, ततः अवशिष्टमयीं भूतमयीं तव तनुं समिति हरः अहरत्।

हिन्दी—क्योंकि इन्द्रियजयी सुगत बुद्ध ने ही जीतकर तेरे (काम के) महायशरूप शरीर को नष्ट कर दिया था, उस कारण से अवशेषमात्र पांच-भौतिक तेरे शरीर को युद्ध में हर (महादेव) ने हरा।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना दुष्ट है कि उसे सब वध्य मानते हैं। बुद्ध ने मारा, शिव ने मारा। बुद्ध ने पहिले उसका यश हरा, कीर्तिहीन काम-शरीर शिव ने नष्ट कर दिया। वस्तुतः यशः शरीर ही तो महत्त्वपूर्ण होता है, उसके न रहने पर तो जो रह जाता है, वह 'मृतवत्' है, पिशाच-शरीर काम को पिशाचता से शिव को मुक्ति देनी ही थी। परन्तु आश्चर्य यह है

कि पूर्णत नष्ट होने पर भी काम व्यथित करता है। विद्याधर के अनुसार रूपक अलकार ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग ! निगृह्णता ।
अहह नीतिरवाप्तभया ततो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥ ८१ ॥

जीवातु–फलमिति । हे अनङ्ग ! विषमनेत्र त्र्यक्ष, कुसुमैर्निगृह्णता निरुन्धता प्रहरतेत्यर्थ । त्वया यत्फल मरणरूपमलभ्यत । ततस्तस्मात् फलाद्वाप्तभया· प्राप्तभया नीति , सर्वथा साधनान्तरेणापि वैरनिर्यातन कार्यमित्येवरूप (कर्त्री), कुसुमैरपि विग्रह नेच्छति । अहहेत्यद्भुते । किमुत साधनान्तरै 'पुष्पैरपि न योद्धव्य कि पुनर्निशितै· शरै'रिति नीत्या कुसुमान्यपि मोक्तु बिभेतीति भाव ॥ ८१ ॥

अन्वय –-अनङ्ग, विषमनेत्र कुसुमै निगृह्णता त्वया यद् फलम् अलभ्यत अहह तत अवाप्तभया नीति कुसुमै अपि विग्रह न इच्छति ।

हिन्दी–-अरे अङ्गहीन (काम), असम (तीन) नेत्र वाले (शिव) पर फूलों से प्रहार करते तूने फल पाया, (अथवा ज्ञानाश्रय शरीर के न होने से अज्ञानी, तूने पुष्पबाणो से विषमनेत्र (मृत्युजय अथवा तीक्ष्ण-स्वभाव नायक–विषम नेत्र नायक·—) पर प्रहार कर जो मूर्खता का फल पाया), उससे भयप्राप्त नीति फूलो से भी युद्ध करना उचित नही समझती ।

टिप्पणी–युद्ध के विरोध मे कहा जाता है कि युद्ध तो फूलो से भी नहीं करना चाहिए तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रो की तो बात दूर है—लगता है, यह भय की नीति मूर्ख काम ने जो शिव पर फूलों से प्रहार कर मूर्खता की, जिसके फल स्वरूप भस्म होना पडा, उसी के कारण बन गयी है। कहाँ मृत्युजय, विषम योद्धा, पाशुपतधारी, त्रिनेत्र शिव, कहाँ कोमल, फूलो से युद्ध करनेवाला, अनग काम ? मूर्खता तो काम करता आया ही है, वह सदा का मूर्ख और दुष्ट है। विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षालकार ॥ ८१ ॥

अपि धयन्निरामरवत्सुधा त्रिनयात्कथमापिथ ता दशाम् ? ।
भण स्तैरधरस्य रसादरादमृतमात्तघृण खलु नापिब ? ॥ ८२ ॥

जीवातु–-अपीति । हे स्मर ! इनरामरवद् देवान्तरवत्, सुधा धयन्

पिबन्नपि, धेट्-शतृ प्रत्ययः । त्रिनयनादीश्वरात्, कथं ता दशां मरणावस्थाम्, आपिथ प्राप्तोऽसि ? आप्नोतेर्लिटि थलि क्रादिनियमादिडागमः । नञ् वद । अथवा, रतेः स्त्रियाः, अधरस्योष्ठस्य, रसे स्वादे, आदरादासक्तेर्हेतोः आत्तघृणः प्राप्तजुगुप्सः सन् । 'घृणा जुगुप्साकृपयोः' इति वैजयन्ती । अमृतं नापिब खलु । अमृतपानेऽप्यन्येष्वमरेषु त्वमेको मृत इति भावः ॥ ८२ ॥

अन्वय—इतरामरवत् सुधां धयन् अपि त्रिनयनात् कथं ता दशाम् आपिथ ? वा, रतेः अधरस्य रसादरात् आत्तघृणः अमृतं न अपिब खलु ?

हिन्दी—अन्य देवों की भाँति अमृत पीने पर भी त्र्यम्बक (शिव) से कैसे तू दशा (मरण) को प्राप्त हो गया ? अथवा, रति (प्रिया) के अधररस के प्रति आदर के कारण घृणायुक्त हो क्या अमृत पिया नहीं था ?

टिप्पणी—अमृत तो सब देवों ने पिया था और अमर हो गये थे। काम ने भी अमृत पिया होगा, फिर भी वह शिव के द्वारा क्यों दुर्दशा को प्राप्त हुआ ? लगता है कि रति का अधरामृत अमृत की अपेक्षा उसे अधिक आनन्ददायक, आदरणीय लगता होगा, अतः काम ने अमृत न पिया होगा और दग्ध हो गया। स्पष्ट है काम, जो उसने अधररस के आगे अमृत नगण्य माना। महामूर्ख और अविचारी है वह। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥८२॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तव परेत ! बभूव पिशाचता ? ।
यदधुना विरहाधिमलीमसामभिभवन् भ्रमसि स्मर ! मद्विधाम् ॥ ८३ ॥

जीवातु—भुवनेति । परेत प्रेत ! तव भुवनानां मोहनमचेतनीकरणं तज्जेनैनसा पापेन पिशाचता बभूव किम् ? कुतः स्मर ! यद्यस्मादधुना विरहाधिना वियोगव्यथया मलीमसां मलिनां, मद्विधां मादृशीमबलामभिभवन् पीडयन् भ्रमसि । पापिष्ठाः किल पिशाचतां गताः दुर्बलस्त्रीबालादीन् पीडयन्ति, त्वमपि तादृक्कोऽपि पिशाच इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

अन्वय—परेत, स्मर, किं तव भुवनमोहनजेन एनसा पिशाचता बभूव, यत् अधुना विरहाधिमलीमसां मद्विधाम् अभिभवन् भ्रमसि ?

हिन्दी—अरे मृत काम, (अथवा हे मृत, स्मरण कर) क्या संसार को चेतना-विहीन करने से उत्पन्न पाप के कारण तू पिशाच हो गया है कि

अब विरहराग से मलीन मुझ जैसी को पीडित करता डोल रहा है ?

टिप्पणी—निश्चय ही काम मर कर पिशाच हो गया है, कच्चा मांस खानेवाला 'पिशम् अत्तीति पिशाच' तभी तो वह दुर्बल दमयन्ती को सता रहा है। पिशाच ही स्त्री बालको आदि को सताया करते हैं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर ! स्खलति ते कृपया न धनु करात् ।
अथ मृतोऽसि ! मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिरुरीकृतबन्धन ॥८४॥

जीवातु—बतेति । हे स्मर ! मृत्युमपि न ददासि । तेन दु खान्तो भवेदिति भाव । अथवा कृपया ते कराद्धनुरपि न स्खलति न भ्रश्यति । पूर्ववद्भाव । अथ मृतोऽसि । तथापि न स्खलतीत्याह—मृतेन च मृतेनापि, उरीकृतबन्धन अङ्गीकृतबन्धनः दृढबद्ध इत्यर्थ । 'ऊयङ्कृत् उररीत्यप्र करोति कुरुते पर' इति भट्टमल्ल । मुष्टिर्न मुच्यते खलु । बतेति खेदे । तत कृताऽता-दपि क्रूरोऽसीति भाव ॥ ८४ ॥

अन्वय—स्मर, बत मृत्युम् अपि न ददासि, कृपया ते करात्, धनु अपि न स्खलति, अथ मृत असि, मृतेन च उरीकृतबन्धन मुष्टि न मुच्यते किल ।

हिन्दी—रे काम, खेद है कि तू मौत भी नही देता अथवा दया (या ते + अकृपया—दयाहीनता) से तेर हाथ से धनुष् भी नही गिर जाता, अथवा तू मर गया है, मरा हुआ ही बांधकर मुठ्ठी नही खोल पाता ।

टिप्पणी—काम दमयन्तो को जो मार नही डाल रहा है, उसका कारण है उसका स्वय मर जाना, तभी तो वह निश्चेष्ट पड़ा है, न धनुष् उसके हाथ से गिर रहा है, न बँधी मुट्ठी ही खुल पा रही है। य मृतक के लक्षण हैं। अथवा महाकृपण है काम, वह किसी को क्या देगा ? देने के लिए। उसकी मुट्ठी खुलती ही नही, धनुष् तक तो उसके हाथ से फिसलता नही कि कही कोई ले न ले। वह मौत भी माँगने पर नही देता। काम यम से भी अधिक क्रूर है, वह मौत ही दे देता है। उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

दृगपहस्तपमृत्युविस्पता शमयने परनिर्जरसेविता ।
अतिशयान्व्ययपु क्षतिपाण्डुना स्मर! भवन्ति भवन्तमुपासिन ॥८५॥

जीवातु—इमिति। हे स्मर ! परनिर्जरसेविता त्वत्तोऽन्यदेवतासेवको जनः तृच्। इहो रूपं दृति. आध्यम्, अपमृत्युरकालमरणं, विरूपता अङ्गवैवर्ण्यञ्च, शमयते निवनयति। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। मित्त्वाद्ध्रस्वत्वम्। भवन्तमुपासितुं त्वत्सेविनो जनस्य तु। ताच्छील्ये तृन्। 'न लोक'—इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। अतिशयेनाध्य दृष्टप्रघात, वपुःक्षति शरीरविपत्ति पाण्डुता वैवर्ण्यञ्च, ता भवन्तीति देवतान्तरभक्तस्य उक्तदोषशान्तिः फलं, त्वद्भक्तस्य तदुदय इत्यहो भवनवात्सल्य कामदेवस्येत्युपहासः। अत्रानर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारभेदः ॥ ८५ ॥

अन्वय—स्मर, परनिर्जरसेविता रुगपहस्यपमृत्युविरूपता शमयते, भवन्तम् उपासितु अतिशयाग्घ्यवपु क्षतिपाण्डुता भवन्ति।

हिन्दी—अरे काम, अन्यदेवो की सेवा करने वाला हृष्टिनाश (अघत्व), अकालमृत्यु और विरूपता (कुष्ठ, अपगता आदि) का शमन करता है, परन्तु आपकी उपासना करने वाले को अतिशय रूप से अघता, देहक्षय, पीलिया (पाण्डुरोग) होते हैं।

टिप्पणी—काम देवता तो है पर ऐसा है कि उसके उपासकों को अनेक रोग हो जाते हैं जब कि अन्य सूर्यादिक देवो के उपासकों के रोगों का उपशम होता है। धन्य है काम की भक्तवत्सलता ! भाव यह कि देव होने पर काम प्रशसनीय नहीं उपहास योग्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अनर्थोत्पत्तिरूप विषमालकार भेद है विद्याधर ने व्यतिरेकालकार का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशमनमस्त्वमतो विधिः सुमनसः कृतवान् भवदायुधम्।
यदि धनुः दृढमाशुगमायसं तव सृजेत् प्रलयं त्रिजगद् व्रजेत् ॥ ८६ ॥

जीवातु—स्मरेति। स्मर ! नृन् शमति हिनस्तीति नृशमो घातुकः, 'शमु हिंसायाम्' इति धातोः पचाद्यच्। त्वमतिनृशमतमः अतो (हेतो) विधिः स्रष्टा, सुमनसः पुष्पाणि भवत आयुधं कृतवान्। तव दृढं धनुरायसमयोमयम् आशुगं शरञ्च सृजेद्यदि। त्रयाणां जगतां समाहारस्त्रिजगत् (कर्तृ), प्रलयं विनाशं व्रजेत्। तव पापिष्ठता दृष्ट्वा विदुषा परमेष्ठिना सम्यगनुष्ठितमिति भाव ॥ ८६ ॥

अन्वय—स्मर, त्व नृशसतम अत विधि सुमनस मवदायुध कृतवान्, यदि तव धनु दृढम् आशुग च आयस सृजेत् त्रिजगत् प्रलय व्रजेत् ।

हिन्दी—रे काम, तू अत्यन्त क्रूर है, इसलिए विधाता ने फूलों के तेरे अस्त्र बनाये, यदि तेरा धनुष् कठिन और बाण लोहे का बनाता (अथवा 'धनु' आशुग दृढम् आयस च सृजेत्'—धनुर्बाण कठिन और लोहे का बनाता) तो त्रिलोकी में प्रलय हो जाता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना क्रूर और दुर्मना है कि यदि विधाता फूलों के कोमल धनुर्बाण के स्थान में उसके आयुध दृढ लोहे के बना देता तो वह विश्वभर में प्रलय कर डालता, इतनी मारकता तो पुष्पायुध होने पर ही है । विद्याधर के अनुसार हेतु अलकार ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरा दहतु ते जगतामपि मा भयम् ।
इति विधिस्त्वदिषून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृत ॥ ८७ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मररिपोस्त्वदरेर्हरस्य रोपशिखी बाणाग्नि 'पत्री रोप इषुर्द्वयो' इत्यमर । पुरा त्रयामिव ते तव रोपशिखी जगतां भयं मा दहत्विति मत्वेति शेष । गम्यमानार्थत्वादप्रयोग । विधि स्रष्टा, अनिर्वृतस्त्वा कुसुमेषु कृत्वाप्यपरितुष्ट सन्, त्वदिषून् कुसुमानि मधुभिर्मकरन्दै, अन्तर-सिञ्चत् अग्निघाग्त्यर्थमौक्षत् किमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा पापिष्ठस्य ते को वारयितेति भाव ॥ ८७ ॥

अन्वय—स्मररिपो रोपशिखी पुराम् इव ते जगता भयम् अपि मा दहतु—इति अनिर्वृत विधि त्वदिषून् कुसुमानि मधुभि किम् अन्त असिञ्चत् ?

हिन्दी—कामशत्रु (शिव त्रिपुरारि) के बाणाग्नि ने जैसे त्रिपुरदाह किया था, वैसे ही तेरे बाणों की आग त्रिलोकी को न जला डाले—यह विचार कर चिंतित विधाता ने तेरे बाणों को फूलों के मधु से अन्त सिक्त नहीं किया था ?

टिप्पणी—शिव त्रिपुरारि हैं, उन्होंने त्रिपुरदाह किया । लगता है कि काम भी सुर नहीं असुर है । असुररिपु शिव का शत्रु होने से वह त्रिपुरासुर का मित्र हुआ । शिव त्रिलोकीनाथ कहाते हैं । कदाचित् मित्रवध का बदला लेने के लिए काम त्रिलोकी को जला डालता, यह विचार कर विधाता ने

फूलों के मधु से काम-बाणों को सींच दिया कि छिद्र आदि होने के कारण उनमें दारुणता न आ सके। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उपमा-उत्प्रेक्षा। चन्द्रप्रभाकार के अनुसार परस्परसापेक्षी उपमा उत्प्रेक्षा की संसृष्टि ॥ ८७ ॥

विधिरनङ्गममेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः खलु लक्ष्यमकल्पयत् ।
अपि स वज्रमदास्यत चेत्तदा त्वदिषुनिर्व्यदलिष्यदसावपि ॥ ८८ ॥

जीवातु—विधिरिति । विधिर्ब्रह्मा अनङ्गमनवयवम् । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः । अत एवाभेद्यमवेक्ष्य, निरवयवद्रव्यस्यादविनाशत्व निश्चित्य, जनमनः, ते तव, लक्ष्यमकल्पयदित्युत्प्रेक्षा । सावयवलक्ष्यदानपक्षे स विधिर्वज्रमदास्यत् चेद्दद्याद्यदि, तदा त्वदिषुभिरसौ वज्रोऽपि व्यदलिष्यद्विदीर्णो भवेत् । अतो दुष्कारी स्रष्टेति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—विधिः अनङ्गम् अभेद्यम् अवेक्ष्य जनमनः ते लक्ष्यम् अकल्पयत् खलु, सः वज्रम् अदास्यत चेत् तदा त्वदिषुभिः असौ अपि व्यदलिष्यत् ।

हिन्दी—विधाता ने (अणुपरिमाण होने के कारण) अङ्गहीन—निरवयव, (अत) अच्छेद्य (तोड़े न जाने योग्य) देखकर जन-मन का तुम्हें लक्ष्य (निशाना) बनाया, यदि वज्र को (भी लक्ष्य) बनाता तो तेरे बाणों से वह भी चूर्ण हो जाता।

टिप्पणी—काम इतना कठोर और हिंस्र है कि वज्र को भी लक्ष्य पाने पर भेद डालता, विधाता ने जान-बूझ कर, विचार कर उसे ऐसा लक्ष्य दिया, जो अङ्गहीन है—अणुपरिमाण जन-मन, वह टूट ही नहीं सकता। काम से बढ़ा हिंसाप्रिय कोई नहीं। विद्याधर के अनुसार विरोधालङ्कार ॥ ८८ ॥

अपि विधिः कुसुमानि तवाशुगान् स्मर ! विधाय न निर्वृतिमाप्तवान् ।
अदित पञ्च हि ते स नियम्य तान् तदपि तैर्दलं जगतीं जगत् ॥ ८९ ॥

जीवातु—अपीति । हे स्मर ! विधिः कुसुमान्येव तवाशुगान्विधायापि, निर्वृतिं कृतकृत्योऽस्मीति परितोषं नाप्तवानित्युत्प्रेक्षा । कुतः, हि यस्मात् सोऽनिर्वृतो विधिस्तान् कुसुमान्याशुगानपि, नियम्य इयन्त एवेति नियमं कृत्वा । ते तव, पञ्चैवादित दत्तवान् तदपि तथापि तैः पञ्चभिरेव जगत्

जर्जरित जर्जरीकृतम् । बतेति खेदे । विश्वनियन्ताप्येव विफलयत्न , कोऽन्योऽस्ति नियन्तेति भाव ॥ ८९ ॥

अन्वय —स्मर, विधि कुसुमानि तव आशुगान् विधाय अपि निर्वृतिं न आसवान्, हि स तान् नियम्य पञ्च एव ते अदित, बत, तदपि तैं जगत् जर्जरितम् ।

हिन्दी—काम, विधाता फूलों को ही तेरे बाण बनाकर नहीं रह गया, उसने उन (बाणों) का नियमन करके तुझे पाँच ही दिये । पर हाय, तब भी उन (पाँच बाणों) से (ही) संसार को जर्जर कर डाला ।

टिप्पणी—*काम की हिंस्रवृत्ति का एक और प्रमाण कि पाँच बाणों से ही जग को व्याकुल कर दिया । विधाता जैसे नियन्त्रक को भी इच्छित सफलता न मिली । विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ८९ ॥*

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वण सुमनस कति पञ्च सुरद्रुमा ? ।
तव तु हीनतया पृथगेकिका विगियतापि न तेऽङ्गविदारणम् ॥९०॥

जीवातु—उपहरन्तीति । स्मर ! पञ्च सुरद्रुमा मन्दारादय कस्य सुपर्वण कति सुमनस कियन्ति कुसुमानि, नोपहरन्ति नोपायनीकुर्वन्ति ? सर्वस्याप्यमितमुपहरन्तीत्यर्थ । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमर । तव तु हीनतया नीचतया पृथक् प्रत्येकमेकिकामेकाकिनीमेकैका सुमनोव्यक्तिमुपहरन्तीत्यर्थ । अत एव पञ्चबाणत्व तवेति भाव । 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकराद् कन्प्रत्यये पूर्वस्येकार । इयता एतावदवमाननापि ते तवाङ्गविदारण शरीरविपत्तिर्नास्ति । धिक् । अवमतस्य जीवना मरणमेव वरमिति भाव ॥ ९० ॥

अन्वय—पञ्च सुरद्रुमा कस्य सुपर्वण कति सुमनस न उपहरन्ति तव तु हीनतया पृथक् एकिकाम्, इयता अपि ते अङ्गविदारणम् न ! धिक् !

हिन्दी—पाँच देववृक्ष किस देव को कितने फूल उपहार में नहीं देते ? (अगणित फूल प्रत्येक देव को देते हैं) किन्तु तेरे हीन होने के कारण तुझे एक वृक्ष एक ही फूल देता है, इतने पर भी तेरे अंग विदीर्ण नहीं होते ? धिक्कार है ।

टिप्पणी—काम के पाँच पुष्प बाण हैं, जो एक एक देवतरु से एक एक के क्रम से उसे प्राप्त हुए हैं। इसी आधार पर काम की नीचता प्रमाणित की गयी है। पञ्च देवतरु हैं—मन्दार, पारिजात, सन्तान, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन —'पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः । सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥ अमरकोष। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ९० ॥

कुसुममप्यतिदुर्नयकारि ते किमु वितीर्य धनुर्विधिरग्रहीत् ।
किमकृतैष यदेकतदास्पदे द्वयमभूदधुनापि नलभ्रुवौ ॥ ९१ ॥

जीवातु-कुसुममिति । विधिः कुसुममपि दुर्दम्यमपीन्द्यं । अतिदुर्नयकारि अनर्थकारकं धनुस्ते तव वितीर्य दत्वा, अग्रहीत् किमु पुनर्जहार किमित्युत्प्रेक्षा । पापीयसे दत्तं हस्तग्राह्यमेवेति भावः । किन्त्वेष विधिः, किमकृतम् अकार्यमेव कृतवानित्यर्थः । कुतः, यद्यस्मादेकस्य तस्य धनुष आस्पदे स्थाने, अधुना नलभ्रुवोर्द्वयमभूदिति । तेनैव धनुषा नलभ्रुवौ द्वे निर्मितवता तेन कान्तकमुद्धृत्य अन्यमारोपितं यदेकासहिष्णोर्द्वयमसह्यं सम्पादितमिति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—विधिः कुसुमम् अपि अतिदुर्नयकारि धनुः ते वितीर्य अग्रहीत् किमु, किन्तु एष किम् अकृत, यत् एकतदास्पदे अधुना नलभ्रुवौ द्वयम् अभूत् ।

हिन्दी—विधाता ने फूल होते हुए भी अत्यन्त दुर्नीति कारक धनुष् तुझे देकर क्या वापस ले लिया, किन्तु उसने यह क्या किया कि एक उसके स्थान में अब नल की भौंहों के रूप में दो हो गये ?

टिप्पणी—काम को विधाता ने फूल का धनुष् दिया किन्तु उससे भी जब काम अत्यन्त दुष्टता करने लगा तो उससे वापस ले लिया। पर यह अब दो गुनी भूल कर दी कि उस एक धनुष् से नल की दो भौंहें बना दी। इससे अब काम को दो धनुष् मिल गये, अन्याय दो गुना हो गया। बात् का उपकार तो न हुआ, दो गुना अपकार हो गया। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ ९१ ॥

षडृतवः कृपया स्वकमेककं कुसुममक्रमनन्दितनन्दनाः ।
ददति षड् भवते कुरुत भवान् धनुरिवैकमिषूनिव पञ्च ते ॥ ९२ ॥

जीवातु—षडिति । अक्रमेण यौगपद्येन, नन्दितनन्दना प्रकाशितसुरोद्याना, युगपन्निजकुसुमदानसमर्था इत्यर्थः। षड्ऋतवो वसन्तादयः, कृपया, न तु प्रीत्येति भावः। स्वकं स्वसम्बन्धिनम् (न्धि) एककमेकैकमेव असहाय कन्प्रत्ययः। कुसुमं ददाना इति शेषः। तथा चोक्तरीत्या, प्रत्येकमेकैकदानान्मिलित्वा, षड्, भवते तुभ्यं ददाति। तैं षड्भिः कुसुमैरेकं धनुरिव, एकेनेति शेषः। पञ्चेषूनिव, पञ्चभिरिति शेषः। भवान् कुरुते। अहो! अवमानेऽपि निर्लज्जस्य ते परहिंसाव्यसनमिति भावः॥ ९२॥

अन्वयः—अक्रमनन्दितनन्दनाः षट् ऋतवः कृपया स्वकम् एककं कुसुमं भवते ददति, तैः एकं धनुः इव पञ्च इषून् इव भवान् कुरुते।

हिन्दी—क्रम का उल्लंघन करके इन्द्र के नन्दन उपवन को नन्दित (विकसित) करनेवाली छः ऋतुएँ कृपा करके अपना एक-एक फूल तुम्हें देती हैं, उनमे एक को तुम धनुष् के तुल्य और पाँच को बाणों के तुल्य कर लेते हो।

टिप्पणी—संसार में वसन्त आदि ऋतुएँ क्रम से आती हैं, पर नन्दन कानन में उनका कोई क्रम नहीं, वे एक साथ उसे विकसित कर देती हैं। उन छः ऋतुओं ने भी कृपा करके—प्रीति से नहीं—केवल एक-एक फूल काम को दिया, जिससे बेचारे ने एक धनुष् और पाँच बाण बना लिए। और करता भी क्या वह महादरिद्र? काम को कोई स्नेह देता ही नहीं, दरिद्र जानकर थोड़ी-सी भीख दे दी जाती है। फिर भी वह स्वभावतः इतना हिंसाप्रिय है कि उन फूलों का उपयोग यह किया कि आयुध बना लिये। विद्याधर के अनुसार उपमा॥ ९२॥

यदतनुस्त्वमिदं जगते हितं क्व स मुनिस्तव यः सहते क्षती।
विशिखमाश्रवणं परिपूर्य चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिषे॥ ९३॥

जीवातु—यदिति। हे मार! त्वमतनुरशरीरीति यत्तदिदमतनुत्वं जगते हितं 'हितयोगे च' इति चतुर्थी वक्तव्या। तथा हि, विशिखं बाणमविचलद्भुजमकम्पहस्तं यथा तथा आश्रवणं परिपूर्याकर्णमाकृष्य उज्झितुं मोक्तुमीशिषे शक्नोषि चेत्तव क्षती प्रहारान् सहते, स मुनिः क्व, न क्वापीत्यर्थः।

अनङ्गत्वेऽप्येव जगद्‌द्रोहिणस्तव धानुष्कान्तरवद् कायव्यापार जगति जितेन्द्रिय-त्वर्यवास्तमियादित्यनङ्गत्वमेव जगद्धितमित्यर्थ ॥ ९३ ॥

अन्वयः—यत् त्वम् अतनु इद जगते हितम्, विशिखम् अविचन्द्र मुक्तम् आश्रवण परिपूर्य उज्झितुम् ईहिषे चेत् य तव क्षतो सहेते स मुनि क्व ?

हिन्दी—काम, जो तुम अशरीरी है, यह जगत् के कल्याण मे है, (शरीरी होने पर) बाण को अकपित बाहु कान तक खींचकर जो तुम छोडने की इच्छा करते तो जो तुम्हारे आघात सहता, वह मुनि कहाँ मिलता ?

टिप्पणी—अच्छा हुआ कि काम को महादेव ने भस्म कर अतनु बना दिया, शरीरधारी होने पर उसके प्रहार सह सकनेवाला कोई मुनि भी नहीं मिलता। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलकार ॥ ९३ ॥

सह तया स्मर! भस्म झटित्यभू पशुपति प्रति यामिषुमग्रही ।
ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्तव पिकस्वर एव स पञ्चम ॥९४॥

जीवातु—सहेति। हे स्मर! पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीस्तया सह झटिति सहसा भस्माभू । अधुना वितनोरनङ्गस्य तव पिकस्वर कोकिलालाप एव, स दत्त पञ्चम, पञ्चसङ्ख्यापूरण शरोऽभूत्। ध्रुवम्। अत एव, पिक कूजति पञ्चम'मित्यादौ पिकस्वरे पञ्चमसज्ञाप्रवृत्तिरिवेति भाव। 'पञ्चमो रागभेदे स्यात् पञ्चानामपि पूरणे' इति विश्व। शरकार्यकारित्वात् पिक-स्वरस्य शरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

अन्वय —स्मर, पशुपति प्रति याम् इषुम् अग्रही तया सह झटिति भस्म अभू, अधुना वितनो तव ध्रुव पिकस्वर एव स पञ्चम अभूत्।

हिन्दी—कामदेव, पशुपति शिव को लक्ष्य बना जो बाण तुमने ग्रहण किया, उसके साथ तुरत भस्म हो गये, अब अगहीन तेरा निश्चयत कोकिल स्वर ही पच बाण बन गया।

टिप्पणी—काम तो भस्म हो अतनु हो गया, पर साथ भस्म हुए बाण अतनु न रहे, कोकिल-स्वर एक साथ पच बाण का काम करने लगा। भरत के 'बृहद्देशी' और 'नारदीय शिक्षा' में बताया गया है—'कोकिल पञ्चमो वदेत्।' कोकिल पचम स्वर में बोलता है। यह स्वरविषयक मान्यता है,

इसी को आधार बनाकर शब्दच्छल से इस श्लोक में कोकिल स्वर के पच-बाणत्व की कल्पना की गयी है। विरहीजनों का उद्दीपन होने से इस पर बाणत्वारोप किया गया है। उत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

स्मर! सम दुरितैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रमः।
सुरहिताय हुतात्मतनुः पुनर्ननु जनुर्दिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

जीवातु—स्मरेति। हे स्मर! भगवतो हरस्यापि, दुरितैः सम भवत्पापैः सह भगवद्दृष्टिपातस्य पापहरत्वादिति भावः। भवद्दहनश्रमोऽफलीकृतो निष्फली कृतः, सुरहिताय हुतात्मतनुर्हरकोपानले स्वयतत्स्वदेहः सन्, तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे अत्यन्तसयोगे द्वितीया। दिवि सुलोके, पुनर्जनुः पुनरुत्पत्तिमापिथ ननु प्राप्नोषि खलु। सुरप्रार्थितात्तस्मादेवेति शेषः। तच्चास्मत्पापफलमिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वय—स्मर, भगवतः अपि भवद्दहनश्रमः दुरितैः समम् अफलीकृतः ननु सुरहिताय हुतात्मतनुः तत्क्षणं दिवि पुनः जनुः आपिथ।

हिन्दी—हे काम, भगवान् शंकर का भी तुम्हे जला देने का श्रम पापों के साथ साथ निष्फल हो गया, क्योंकि देवताओं के हित के लिए अपने देह को आहुत कर देने वाले तुमने तत्क्षण स्वर्ग में पुनः जन्म पा लिया।

टिप्पणी—काम पर उसे भस्म कर देने वाली शंकर की दृष्टि जब पड़ी तो उसके शरीर के साथ साथ शिव दृष्टि पड़ने से उसके पाप भी अफल निष्फल और नष्ट हो गये। वह भस्म तो हुआ परन्तु पुनः स्वर्ग में जन्म पाकर उसने अपना भस्म होना भी निष्फल कर दिया। देवताओं के हितार्थ तारकासुर को मारने के लिए शिव सुत की आवश्यकता थी, किन्तु सती के आत्मदाह के पश्चात् शिव उदासीन हो गये थे। वे पुनः उमा से विवाह करें, शिव पुत्र का जन्म हो, तारकासुर मारा जाए और देवताओं को शान्ति मिले। इस कार्य-सिद्धि के लिए शिव समाधिभग में यत्नशील काम शिवकोपजन्मा वह्नि में जल कर भस्मावशेष हो गया—'क्रोध प्रभो संहर संहरेति यावद् गिरः खे मरुतां चरन्ति। तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार।'—कालिदास (कुमारसम्भव)। इस देवकार्य में काम भस्म हुआ। सभवतः इसी पुण्य से

वह स्वर्ग में पुन जन्म पा पुन वियोगिजनों को पीडित करने लगा। 'प्रकाश' टीका में 'स्मर सम दुरितैरफलीकृतो' के स्थान में 'स्मर स मद्दुरितैरफलीकृतो' पाठ है। इस स्थिति में अर्थ होगा— मद्दुरितैं मम पातकैं' अर्थात् दमयन्ती के पापों के कारण ही शिवद्वारा भस्मीभूत काम पुनर्जन्म पा गया उसने देवकार्य का पुण्य जो किया था। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ९५ ॥

विरहिणो विमुखस्य विधूदये शमनदिक्पवन स न दक्षिण ।
सुमनसो नमयन्नटनीं धनुस्तव तु बाहुरसौ यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

जीवातु—विरहिण इति। हे स्मर! त्वासौ बाहुर्यदि विधूदये चन्द्रोदये सहायलाभे सतीत्यर्थं सुमनस पुष्प नाम धनु, अटनी कोटी। 'कोटिरस्याट-निर्गोधा' इत्यमर। नमयन् दक्षिणो विरहिजनप्रहारदक्ष स्यात्, प्रहर्तुं प्रवृत्त-श्चेदित्यर्थं। 'सव्येतरश्च' इति ध्वनि। तदा विमुखस्य विधुविमुखस्य चन्द्रोदयपराङ्मुखस्य विरहिणो वियोगिजनस्य स दक्षिणत्वेन प्रसिद्ध शमन-दिक्पवनो याम्यदिग्वात', दक्षिणो दाक्षिण्यवान् अनुकूलश्च न। किन्तु सोऽपि त्वत्सहकारित्वान्निर्दयप्रहर्तैवेत्यर्थं। अत सर्वानर्थमूलत्वात् त्वमेव पापिष्ठ इत्यर्थं। प्रत्यङ्मुखस्य दक्षिणोऽपि वाम इति ध्वनि। शमनदिक्पवनोऽपि न दक्षिण इति स्फुरत, विरोधाभासाऽलङ्कार ॥ ९६ ॥

अन्वय — विधूदये सुमनस धनु, अटनीं नमयन् तव असौ बाहु, यदि दक्षिण, विमुखस्य विरहिण स शमनदिक्पवन दक्षिण न।

हिन्दी—चन्द्रोदय होने पर फूलों को धनु झुकाने में तुम्हारा (काम का) यह बाहु यदि 'दक्षिण (दक्ष) है तो 'विमुख' अर्थात् चन्द्रोदय की दिशा पूर्व से पराङ्मुख अर्थात् पश्चिमदिशाभिमुख वियोगियों के लिए वह यमराज की दिशा (दक्षिणदिशा) का पवन (मलयानिल) 'दक्षिण' (दाहिना) नहीं होगा, अथवा 'दक्षिण' (अनुकूल) न होगा।

टिप्पणी—वियोगियों के लिए चन्द्रोदय, काम और मलयानिल—तीनों (अनुकूल नहीं होते,) अदक्षिण (प्रतिकूल) होते हैं। इन तीनों का दु सहत्व प्रतिपादन करना कवि का उद्देश्य है। चन्द्रोदय होने पर, काम अपनी भुजा से

प्रहारार्थ धनुष्कोटि आगे को, झुका लेता है, मलयपवन आदोलित होने लगता है, तोनो ही प्रतिकूल बन कष्ट देने लगते हैं । पूर्व मे चन्द्रोदय होने पर विरही पश्चिम की ओर मुंह करके खडे हो जाते हैं कि चन्द्र दर्शन न हो । उस स्थिति मे मलयपवन की उद्भव दिशा उनके 'दक्षिण' (दाहिने) नही रह जाती, बायें पड जाती है, अत 'वामनेदिक्पवन दक्षिण न' । इस प्रकार काम-प्रहारार्थ भले ही अपनी भुजा को 'दक्षिण' (दक्ष) रखे रहे, चन्द्रोदय भी 'वाम' (विमुख प्रतिकूल) है, 'दक्षिण' दिशा भी 'वाम (बायें) पड जाती है— मलयानिल भी 'वाम' (बायी ओर से यह आनेवाला—अत प्रतिकूल) है। काम की 'दक्षिणता'–दाक्षिण्य तो 'वाम' है ही। मल्लिनाथ के अनुसार विरोधा भास अलकार—मलयपवन 'दक्षिण' (दक्षिणदिगुद्भव) नही, वाम (बाये हाथ की ओर से बहनेवाला–प्रतिकूल) है प्रकाशकार ने काकु की सहायता से एक अन्य अर्थ निकाला है—जैसे फूलों की धनुष्कोटि को झुकाता काम का बाँहु दक्षिण है, वैसे ही अपने सम्मुख आ पडते फूलो की कोटि को झुकाता मारक यम की दिशा का पवन क्या दक्षिण नही है ? है । भाव यही है कि दोनो ही दु सह है—चन्द्रोदय के समय काम अपनी धनुष्कोटि को झुकाता और मलयानिल फूलो की डालों को झुकाता झकझोरता । विद्याधर ने यहाँ भी अतिशयोक्ति ही मानी है ॥ ९६ ॥

किमु भवन्तमुमापतिरेकक मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम् ।
यदजयत्तत एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् ॥ ९७ ॥

जीवातु—किम्विति । हे मदन ! उमापति महेश मुख्य इन्द्वैकवद्भाव । तेन मदमुदाभ्या मदानन्दाभ्याम् अन्धयति व्यामोहयति कामिजनमित्यन्धम् अन्धकम् । 'अन्धदृष्टप्रतीघाते' इति धातोश्चौरादिकात् पचाद्यच् । अयोगिज नान्तक वियोगिजनमृत्युम्, एकक्मेकाकिन, भवन्तमेव अजयदिति । तत एव स भगवान् उमापति । मदनान्धकमृत्युजित् मदनजिदन्धकजिन्मृत्युजिदिति गीयते किमु गीयत एवेत्यर्थ । मदनवदन्धकमृत्यू अपि त्वत्तोऽन्यौ न स्त इति भाव । अत्र मदनादीनां मिथो भेदेप्यभेदोक्तेरतिशयोक्ति ॥ ९७ ॥

अन्वय —उमापति मदमुदान्धम् अयोगिजनान्तकम् एकक भवन्तम् एव यद् अजयत्, किमु तत एव स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् न गीयते ?

हिन्दी—उमा (पार्वती) के स्वामी (शिव) गर्व और प्रसन्नता से भरे हुए, वियोगिजनों के अतक (यमराज) अर्थात् तुम्हें हो जो जीता क्या उसी से वे भगवान् (शिव) मदन, अधक और मृत्यु के जयी नहीं प्रसिद्ध हैं? अपितु हैं ही।

टिप्पणी—काम 'मद' उत्पन्न करता है, अतः वह 'मदन' है—मदयतीति मदन। काम में व्यक्ति अंधा हो जाता है—विवेकहीन, अतः काम अधक भी है—अन्धीकरोति इति अधक। काम वियोगियों को मृत्युसम कष्ट देता है, अतः वह अन्तक भी है—अन्तं करोति इति अन्तक। प्रतीत होता है कि शिव ने न तो अधकासुर को मारा और न मृत्यु को ही जीता, एक काम को भस्म कर जयी हुए। एक ही काम के ये तीन नाम हैं—मदन, अधक, अतक (मृत्यु)। इस प्रकार एक कामजित् उमापति के तीन विरुद पड़ गये—मदनजित्, अन्धकजित् और मृत्युंजय। भाव यह है कि काम ही तीन-तीन नाम धार कर कष्ट देता है। अथवा काम अधक और अन्तक दोनों से अधिक कष्ट देता है। कष्ट देने की क्षमता में उसने अधक और अतक को भी जीत लिया है, इस प्रकार अधक-अतक-जित् काम के जयी शिव मदनजित् होने से ही अन्धकजित् और अन्तकजित् भी प्रसिद्ध हो गये। मल्लिनाथ के अनुसार भेद होने पर भी अभेद कथन होने से इस श्लोक में अतिशयोक्ति है, विद्याधर के अनुसार सापह्नवोत्प्रेक्षालंकार है ॥ ९७ ॥

त्वमिव कोऽपि परापकृतौ कृती न ददृशे न च मन्मथ! शुश्रुवे।
स्वमदहद्दहनाज्ज्वलनात्मना ज्वलयितुं परिरभ्य जगन्ति यः ॥९८॥

जीवातु—त्वमिति। हे मन्मथ! त्वमिव परापकृतौ परापकारे कृती कुशलः कोऽपि न ददृशे न दृष्टः, न शुश्रुवे न च श्रुतः, यः अपकर्ता दहनादग्नि-संयोगात्, ज्वलता प्रज्वलता आत्मना स्वाङ्गेन जगन्ति परिरभ्याश्लिष्य ज्वलयितुं दग्धुं, स्वमात्मानमदहत् परिरभ्य परगात्रदूषणाय स्वगात्रे पङ्कलेपवत्, परदाहव्यसनादेवात्मदाहाङ्गीकारस्तवेत्यहो दुर्व्यसनमिति भावः ॥ ९८ ॥

अन्वय—मन्मथ, त्वम् इव परापकृतौ कृती कः अपि न ददृशे न च शुश्रुवे यः दहनात् ज्वलता आत्मना जगन्ति परिरभ्य ज्वलयितुं स्वम् अदहत्।

हिन्दी--हे मन्मथ (मनोमथनकारी काम), तेरे जैसा पर अपकार में प्रवीण न कोई देखा और न सुना, जिसने कि अग्नि से जलते स्वदेह से लोकों का आलिंगन करके जला डालने के लिए स्वयम् को जला डाला।

टिप्पणी—भर्तृहरि के अनुसार 'ते के न जानीमहे'—कोटिवाला व्यक्ति जो स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों को कष्ट देता है। ऐसा है यह परपीडक मन्मथ। ऐसा देखने में तो नहीं ही आता, सुनायी भी कम ही पड़ता है। विद्याधर के अनुसार उपमा और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९८ ॥

त्वमुचितं नयनार्चिषि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः ।
तव वयस्यमपास्य मधुं मधुं हतवता हरिणा बत किं कृतम् ? ॥ ९९ ॥

जीवातु—त्वमिति। हे वीर ! शम्भुना नयनार्चिषि नेत्राग्निशिखायां रक भुवनानां शान्तिके शान्तिप्रयोजके। 'प्रयोजनम्' इति ठक्। होमहविराहुति उचितं वध्यस्य वधादिति भावः। तव वयस्यं सखायं, मधुं वसन्तम् अपास्योपेक्ष्य मधुं मध्वाख्यं, दैत्यं हतवता हरिणा किं कृतम् ? बतेति खेदे। वध्यवधाद्धर साधुकारी। हरिस्तदुपेक्षणादसाधुकारीत्यर्थः। समित्रः स्मरो वध्य इति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वय—त्वम् शम्भुना नयनार्चिषि उचितं भुवनशान्तिकहोमहविः कृतः, बत तव वयस्यं मधुम् अपास्य मधुं हतवता हरिणा किं कृतम् ?

हिन्दी—तुझे 'शम्' (कल्याण) जिससे हो, ऐसे 'शम्भु' (शिव) ने नयनज्वाला में ठीक ही त्रिभुवनशांति के निमित्त आयोजित होम की हवि (आहुति) कर दिया। खेद है कि तेरे मित्र मधु (वसंत) को छोड़कर मधु राक्षस का वध करके हरि (विष्णु) ने क्या किया ? उचित नहीं किया।

टिप्पणी—शम्भु—शम् भवति अनेन - ने काम को नेत्राग्नि में भस्म कर दिया, ठीक किया। त्रिभुवन में शान्ति होती, पर विष्णु यह क्या कर बैठे कि मधु नामक राक्षस को तो मारा, किन्तु तेरे उत्पाती मित्र, राक्षस मधु से भी अधिक पीडक मधु (वसंत) को छोड़ दिया। जो प्रलयकर है, उसने तो अपना 'शम्भु (शान्तिकर्ता) रूप दिखाया और जो जगत् का पालक है—स्थितिकर्ता

उस विधि ने अपना अनर्थकारक रूप 'हरि' (अविवेकी वानर) दिखा दिया। कितना खेद जनक है यह समस्त व्यापार! विद्याधर के अनुसार रूपातिशयोक्ति अलंकार ॥ ९९ ॥

इति कियद्वचसैव भृशं प्रियाधरपिपासु तदाननमाशु तत्।
अजनि पांसुलमप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेरिव ॥ १०० ॥

जीवातु—इतीति। प्रियस्य नलस्याधरमोष्ठं पिपासु पातुमिच्छु 'मधुपिपासुप्रभृतीनां गम्यादिपाठात् समासः' इति वामनः। तत् प्रसिद्धम्, तस्या भैम्या आननम् इतीत्थं, कियद्वचसैव, अप्रियवाग्भिर्निष्ठुरोक्तिभिः, ज्वलन् कुप्यतो मदनस्य यः शोषणबाणः तस्य हतेः प्रहारादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। आशु शुष्कं, पांसुलं पांसुमद् अजनि जातम् ॥ १०० ॥

अन्वय—प्रियाधरपिपासु तत् तदाननम् इति कियद्वचसा एव अप्रियवाग्ज्वलन्मदनशोषणबाणहतेः इव आशु पांसुलम् अजनि।

हिन्दी—प्रिय (नल) के अधर का प्यासा वह उस (दमयंती) का मुख इस प्रकार (उपर्युक्त) कुछ वचन कहने में ही निंदायुक्त कथन से (क्रोध के कारण) जल उठे काम के 'शोषण' (नामक) बाण से जैसे आहत हो शीघ्र ही सूख गया।

टिप्पणी— विरहव्यथिता दमयन्ती का मुख बोलते-बोलते थक गया, इस पर दो कल्पनाएँ की गयीं—मानो मुख प्यास से सूख गया, प्यास तब बुझे जब प्रियाधरामृत-पान हो। मानो निन्दा सुनकर क्रुद्ध हुए काम ने शोषण नामक बाण से घायल कर दिया, जिससे मुख सूख गया। मल्लिनाथ के अनुसार हेतूत्प्रेक्षा और श्लेषोक्ति ॥ १०० ॥

प्रियसखीनिवहेन सहाथ सा व्यरचयद्गिरमर्धसमस्यया।
हृदयमर्मणि मन्मथसायकैः क्षततया बहु भाषितुमक्षमा ॥ १०१ ॥

जीवातु—प्रियसखीति। अथ सा दमयन्ती, मन्मथसायकैः हृदयमर्मणि क्षततया गाढं प्रहृततया। अत एव बहु भाषितुं प्रपञ्च्य वक्तुमक्षमा सती, प्रियसखीनिवहेन सह आप्तसखीसङ्घेन साकम्, अर्धरूपया समस्यया सम्भूयकारिकया। 'समस्या तु समासार्था' इत्यमरः। 'संज्ञायां समजनिषदे'त्यत्र सम्पूर्वादस्यतेर्वा

हुलक क्यङ् इति क्षीरस्वामी। गिर व्यरचयत्। पूर्वार्धं सखीजनसमस्या, तदुत्तरत्वेनोत्तरार्धं स्वयमरचयदित्यर्थं ॥ १०१ ॥

अन्वय —अथ मन्मथमार्गणैः हृदयमर्मणि क्षततमा बहु भाषितुम् अक्षमा सा प्रियसखीनिवहेन सह अर्धसमस्यया गिर व्यरचयत्।

हिन्दी —तदनन्तर मन्मथ के बाणो द्वारा हृदय के मर्म मे अत्यधिक विद्ध, अधिक बोलने मे असमर्थ वह (दमयन्ती) प्यारी सखियो के साथ आधी समस्या से युक्त (जिसके अर्धभाग की पूर्ति प्रत्युत्तर से हो) बात करने लगी।

टिप्पणी—व्यथिता, बलाता होने से दमयन्ती को अधिक बोलना कष्ट कर होने लगा, अत वह इस प्रकार अपनी रहस्यविद् सखियों से बातचीत करने लगी कि आधी बात सखियाँ कहती, आधी दमयन्ती कहती, समस्यापूर्ति के सदृश। समस्या अर्थात् सक्षेपोक्ति, जिसमें अपूर्ण होने कारण विक्षिप्त-- विस्तृत का समास--सक्षेप हो, वह समस्या। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास, हेतु और सहोक्ति। आगे के आठ श्लोको का पूर्वार्द्ध सखी-कथन है, उत्तरार्द्ध दमयन्ती का प्रतिवचन ॥ १०१ ॥

अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धीरतयाऽऽत्मन ।
असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि ! रक्षितुमात्थ माम् ॥१०२॥

जीवातु—अकरुणादिति। हे भैमि ! आपदि सहजया धीरतया धैर्येण। 'विपदि धैर्यमि'ति नीतेरिति भाव। अकरुणान्निर्दयाद् सूनशरात् कुसुमेषो, आत्मन स्वस्यासून् प्राणान् अव रक्ष। अथेदानीमसव एव मम विरोधिन शत्रव। तन्मूलत्वात् दुःख सवेदनस्येति भाव। हे सखि ! मा कथमरीन् रक्षितुमात्थ ब्रवीषि ? 'ब्रुव पञ्चानाम्' इति साधु। सम्प्रति मे प्राणरक्षण-माशीविषपोषण पयोभिरिति भाव ॥ १०२ ॥

अन्वय —अकरुणात् सूनशरात् सहजया धीरतया आपदि आत्मन असून् अव। सखि, अद्य असव एव मम विरोधिन, माम् अरीन् रक्षितु कथम् आत्थ।

हिन्दी—सखियो ने कहा—निर्दय पुष्पबाण (काम) से स्वाभाविक धैर्यपूर्वक आपत्ति मे अपने प्राणों की रक्षा करो। दमयन्ती ने प्रत्युत्तर दिया—आज प्राण ही तो मेरे विरोधी हो गये हैं, मुझसे वैरियो की रक्षा करने को क्यो कहती हो ?

टिप्पणी—पूर्वार्द्ध सखीवचन, उत्तरार्द्ध दमयन्ती का उत्तर। इतनी मर्मान्तक व्यथा है दमयन्ती को प्राण ही उसे भारी और कष्टदायी लग रहे हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ से लेकर आठ वाक्यों (१०२–१०९) में श्लेषवक्रोक्ति है। रुद्रट के अनुसार श्लेषवक्रोक्ति का लक्षण है—"वक्त्रा यदन्यथोक्तं व्याचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः। वचनं यत्पदभङ्गैर्ज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः" ॥१०२॥

हितगिरं न शृणोषि किमाश्रवे ! प्रसभमप्यव जीवितमात्मनः।
सखि ! हिता यदि मे भवसीदृशी मदरिमिच्छसि या मम जीवितम् ॥१०३॥

जीवातु—हितगिरमिति। आशृणोति वाक्यमिति आश्रवा। पचाद्यच्। हे आश्रवे ! वाक्यकारिणि ! 'वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः। प्रसभं बलादप्यात्मनो जीवितं प्राणमव रक्ष। 'एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि' इति न्यायादिति भावः। हितगिरमात्मवाक्यं किं न शृणोषि ? । हे सखि ! या त्वं मदरिं मम जीवितमिच्छस्यपेक्षसे। इत्थमीदृशी शत्रुवृद्धिमीहमानापि मे हिता भवसि यदि। न तु भवसि। अतो न शृणोमीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वय—आश्रवे, हितगिरं किं न शृणोषि ? प्रसभम् अपि आत्मनः जीवितम् अव। सखि, यदि या मदरिं मम जीवितम् इच्छसि, ईदृशी मे हिता भवसि ?

हिन्दी—सखी बोली—हे आश्रवे (कहे को सुनने वाली), हितैषियों के वचन क्यों नहीं सुनती ? प्रयत्न करके भी अपने जीवन की रक्षा करो। दमयन्ती ने कहा—सखि, यदि जो तू मेरे शत्रु जीवन की इच्छा करती है, ऐसी मेरी हितैषिणी है ? (नहीं है)।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती ने प्राणों को अपना शत्रु कहा था उसी को रखने का आग्रह करने वाली सखी को उसने हितेच्छुक मानना उचित नहीं माना। काकु ॥ १०३ ॥

अमृतदीधितिरेष विदर्भजे ! भजसि तापममुष्य किमंशुभिः ?।
यदि भवन्ति मृताः सखि ! चन्द्रिका शशभृतः क्व तदा परितप्यते ॥१०४॥

जीवातु—अमृतदीधितिरिति। हे विदर्भजे दमयन्ति ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देशः। अमृतदीधितिः सुधांशुः। अमुष्य सुधांशोरंशुभिः किमिति ताप

भजसि ? अत्रामृतशब्दस्यार्थान्तराश्रयेणोत्तरमाह—यदीति । हे सखि ! शशभृत-श्चन्द्रिका मृता भवन्ति यदि, तदा क्व परितप्यते ? न क्वापीत्यर्थः । अस्या मृतदीधितित्वादेवेद दुःख, मृतदीधितिश्चेत् सर्वारिष्टशान्तिः स्यादिति भावः । अत्र अमृतेति सुधाविवक्षया प्रयुक्तस्य मृतेतरार्थत्वेन योजनाद्वक्रोक्तिरलङ्कारः । 'अन्ययोक्तस्य वाक्यस्य काक्वा श्लेषेण वा भवेत् । अन्यथा योजनं यत्र सा वक्रोक्तिर्निगद्यते ॥' इति ॥ १०४ ॥

अन्वयः—विदर्भजे, एष अमृतदीधितिः, किम् अमुष्य अंशुभिः तापं भजसि ? सखि, यदि शशभृतः चन्द्रिकाः मृताः भवन्ति तदा क्व परितप्यते ?

हिन्दी—सखी ने कहा—हे विदर्भसुते, यह (चन्द्र) अमृत किरण है, क्या इसकी किरणों से संताप होता है ? दमयन्ती ने उत्तर दिया—सखी, यदि शश (कलंक) धारी (चन्द्र) की किरणें 'मृत' (नष्ट) हो जाती तो किससे संताप मिलता ?

टिप्पणी – दमयन्ती ने कहा कि ताप का कारण तो चन्द्र किरणें ही हैं, ये न हों तो ताप ही न हो । 'अमृत' का प्रचलित अर्थ सुधा या पीयूष है, दमयन्ती ने इसका अर्थ लिया अ + मृत = न मरा, जीवित । उसने कहा कि चन्द्रा अ + मृत किरणों (अमृतकिरण) वाला न होकर 'मृत -(नष्ट)-किरण होता तो संताप का कारण ही न रह जाता । प्रचलित अर्थ से भिन्नार्थ योजना के आधार पर मल्लिनाथ ने इस श्लोक में वक्रोक्ति अलकार माना है ॥ १०४ ॥

व्रज धृतिं त्यज भीतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिरुदञ्चति ।
ज्वलयति स्फुटमातपमुर्मुरैरनुभव वचसा सखि ! लुम्पसि ॥ १०५ ॥

जीवातु—व्रजेति । (हे मुग्धे !), धृतिं व्रज धैर्यं भज । अहेतुकां भीतिं त्यज । अयमचण्डमरीचिः शीतांशुरुदञ्चत्युदेति, न चण्डांशुरित्यर्थः । आतपैरेव मुर्मुरैस्तुषानलैः । 'मुर्मुरस्तु तुषानल' इति वैजयन्ती । स्फुटं प्रत्यक्षं यथा तथा, ज्वलयति दहति । हे सखि ! अनुभवं प्रत्यक्षं वचसा आगमेन लुम्पसि बाधसे । तदयुक्तं प्रावप्लवनवाक्यवत् प्रत्यक्षेणैवास्य बाधादित्यर्थः । अत्राचण्डकरे चण्डकरभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ १०५ ॥

अन्वय—धृति व्रज, अहतुका भीति त्यज, अयम् अचण्डमरीचि उदञ्चति। सखि, आतपमुर्मुरैः स्फुटं ज्वलयति, अनुभवं वचसा लुम्पसि ?

हिन्दी—सखी—धैर्य धारण करो, अकारण भय को त्यागो, यह अप्रचण्ड-किरण (शीतकिरण चन्द्र) उदित हो रहा है। दमयन्ती—सखी, उष्ण अंगारों से यह प्रत्यक्षतः जला रहा है तू (मेरे) अनुभव को वचनों से मिटाना चाहती है ?

टिप्पणी—उदयप्राप्त करता चन्दा भले ही शीतांशु हो, पर दमयन्ती को सुपानल के तुल्य दग्ध कर रहा है। वह स्वानुभव को झूठा कैसे मान ले ? चन्द्र को शीतांशु तो केवल कहा जाता है, अनुभव में तो वह प्रचण्डांशु है। वचन की अपेक्षा अनुभव बड़ा, अतएव स्वीकार्य होता है। यहाँ 'अचण्डकर' (चन्द्र) में 'चण्डकर' (सूर्य) के भ्रम को आधार मान कर मल्लिनाथ ने भ्रान्तिमान् अलंकार का निर्देश किया है॥ १०५॥

अयि ! शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विधोरपि न सि गोचरः।
रुचिफलं सखि ! दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून् ॥१०६॥

जीवातु—यदुक्तमचण्डमरीचिरिति तद्विश्वासयति—अयीति। अयि (मुग्धे) मैमि ! विधोरपीति शेष। विधोश्चन्द्रस्य रुचेस्तेजसो गोचरो विषयो नासि यदि, त्वदङ्गमङ्गीद तेजश्चान्द्रं न वेत्सीत्यर्थ। तर्हि तवैव हृदयाय शपे। त्वज्जीविताय शृणुमीत्यर्थ। 'श्लाघह्नु ङ' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी। तर्हि, सखि ! रुचिफलमेव तेजोमात्रकार्यमेव दृश्यते। न तु चन्द्रकार्यम्। मन्नाग्यविपर्ययेणाभिमवनिवृत्तेरिति भाव। कुत, यद्यस्मात्त्वचं ज्वलयति दहति। असून् प्राणान् उल्ललयति उन्मूलयति। सर्वं तेज उष्णत्वाद्दाहकमेव, अभिमवात्तु विपर्यय इति पदार्थतत्त्ववादिन ॥ १०६॥

अन्वय—अयि, यदि विधो रुचे गोचर न असि तत् तव एव हृदयाय शपे। सखि, रुचिफलं दृश्यते एव यत् त्वचं ज्वलयति असून् उल्ललयति।

हिन्दी—सखी—अरी, यदि तुम चन्द्र की चमक की गोचर न होओ (चाँदनी में न बैठी होओ) तो मैं तुम्हारे हृदय की ही शपथ लेती हूँ। दमयन्ती—सखी, रुचि (चाँदनी में होने) का परिणाम तो दीख ही रहा है कि त्वचा को जला रही है और प्राणों का उन्मूलन कर रही है।

टिप्पणी—सखी सौगध खाकर चन्द्र की विद्यमानता प्रमाणित करना चाहती है, परन्तु दमयन्ती का शरीर चांदनी मे जला जा रहा है, प्राण निकले जा रहे है। वह कैसे माने कि यह चन्दा है और वह चांदनी मे है? उसे तो लग रहा है कि सूर्य की प्रचंड किरणें उसे अत्यन्त व्यथित कर रही हैं ॥१०६॥

विधुविरोधितिथेरभिधायिनीमयि ! न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम् ।
सखि ! किमर्थगवेषणया ? गिरं किरति सेयमनर्थमयी मयि ॥१०७॥

जीवातु—विध्विति । अयि मैमि ! विधुविरोधितिथे कुह्वाख्याया नष्टे दु॰तिथेरभिधायिनी, तदभिधायककुहूशब्दोच्चारिणी 'कुहू कुह्वि'ति नामग्रह तदाह्वायिनीमित्यर्थः। कोकिला पुन किं नेच्छसि। मा भूच्चन्द्र तद्विरोधिनीमेनां किं नेच्छसीत्यर्थः ?। हे सखि ! अर्थगवेषणया कुहूशब्दस्य नष्टचन्द्रा तिथिरर्थ इति विचारेण किम्? तत्साध्य किमपि नास्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षयाकरणत्वात्तृतीया । कुतः, सेय कोकिला मयि विषये गवादिशब्दवदभिधेयवती न भवतीत्यर्थमयी, रपपोषादिवदर्थशून्यत्वात् । किञ्च, अनर्थमयी अशनिघोषवदापद्रूपा च, ताम्। अनर्थशब्दान्मयट्प्रत्यय । गिर किरति विक्षिपति ॥ १०७ ॥

अन्वय —अयि, विधुविरोधतिथे अभिधायिनीं कोकिला पुन किं न इच्छसि ? सखि, अर्थगवेषणया किम् ? सा इय मयि अनर्थमयी गिर किरति।

हिन्दी—सखी—अयि, (फिर) चन्द्र की शत्रुतिथि (अमावस्या–'कुहू') का उद्घोष करने वाली कोकिला को तुम क्यो नही चाहती ? दमयन्ती—सखी, अर्थ ढूँढने मे क्या लाभ ? वह यह तो मेरे पक्ष मे अनर्थभरी वाणी 'कूक' रही है।

टिप्पणी—कोकिला 'कुहू-कुहू' बोलती है। 'कुहू' का अर्थ अमावस्या भी है, जिसमे चन्द्र दर्शन नही होता। इस प्रकार 'कुहू' अर्थात् अमा चन्द्र की शत्रु हुई। शत्रु का नाम रटने वाली कोकिला को दमयन्ती मित्र रूप मे आदर न देकर उसे भी व्यथा देनेवाली मानती है। सखी को इस पर आक्षेप है। दमयन्ती को उचित है कि वह 'कुहू कुहू' बोलती कोयलिया को चाहे। इस पर दमयन्ती का उत्तर है कि भले ही 'कुहू' का अर्थ अमावस हो, उसे तो वे 'कुहू' के बोल

अनर्थकारक—पीडादायक बन रहे हैं, वह कैसे अनर्थवादिनी कोकिला को इच्छा करे ? कोकिलस्वर की विरहिणियों को पीड़ित करनेवाले के रूप में प्रसिद्धि है। भाव यह है कि कोकिला बोलती ही है, 'कुहू' को बुलाती नहीं,—वंचिका है वह ॥ १०७ ॥

हृदय एव तवास्मि स वल्लभस्तदपि किं दमयन्ति ! विषीदसि ? ।
हृदि परं न बहिः खलु वर्तते सखि ! यतस्तत एव विषद्यते ॥ १०८॥

जीवातु—हृदय इति । हे दमयन्ति ! स ते वल्लभो नलः तव हृदय एवास्ति वर्तते । तदपि तथापि किं विषीदसि खिद्यसे ? हे सखि ! यतो हृदि परं हृद्येव वर्तते बहिर्न वर्तते खलु । तत एव विषद्यते खिद्यते । तदर्थमेव नष्ट । यतः स्मर्यत एव, न तु दृश्यते, अतो मे विषाद इत्यर्थः ॥ १०८ ॥

अन्वय—दमयन्ति स वल्लभः तव हृदये एव अस्ति तदपि किं विषीदसि ? सखि, हृदि परं वर्तते न खलु बहिः तत एव विषद्यते ।

हिन्दी—सखी-हे दमयन्ति, वह प्रिय (नल) तेरे हृदय में ही है, तो भी क्यों विषाद कर रही हो ? दमयन्ती—हे सखि हृदय में ही विराजमान है, बाहर नहीं आता, इसीलिए तो खिन्न हूँ ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल मनोगोचर ही है, नयनगोचर, बहिरिन्द्रियगोचर नहीं होता, अतः प्रत्यक्षसुख न मिलने के कारण दमयन्ती विषण्ण है ॥ १०८ ॥

स्फुटति हारमणौ मदनोष्मणा हृदयमप्यनलङ्कृतमद्य ते ।
सखि ! हतास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतमः स मम व्यवधापितः ॥१०९॥

जीवातु—स्फुटतीति । हे भैमि ! मदनोष्मणा कामज्वरेण, हारमणौ हृदयालङ्कारररत्ने स्फुटति विदलति सति, अद्य ते तव हृदयं वक्षोऽपि अनलङ्कृतं न भवतीत्यनलङ्कृतम् आपरिष्कृतं जातम् । अथ हृदयमन्तरङ्गमप्यनल नलरहितं कृतमित्यर्थान्तरं मत्वोत्तरमाह—हे सखि ! स प्रियतमः मम हृद्यपि व्यवधापितो यदि दूरीकृतश्चेत् । दधातेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'अर्तिह्री' इत्यादिना पुगागमः । तदा हतास्मि । वक्रोक्तिरलङ्कारः । लक्षणमुक्तम् ॥ १०९ ॥

अन्वय—मदनोष्मणा हारमणौ स्फुटति अद्य ते हृदयम् अपि अनलङ्-

कृतम् । सखि, यदि स मम प्रियतम हृदि अपि व्यवधापित सदा हृता अस्मि ।

हिन्दी—सखी—कामजनित वियोगाग्नि से हार की मणि टूट जाने के कारण हे दमयन्ति, आज तेरा हृदय भी 'अनलङ्कृत' (अलकारहीन) है। दमयन्ती—हे सखी, यदि मेरा वह प्रियतम हृदय में से दूर हो गया है, तो मैं मरी।

टिप्पणी—हार की मणि के टूट जाने से दमयन्ती का हार उतार कर रख दिया गया फलस्वरूप उसका हृदय—वक्ष स्थल 'अनलङ्कृत' अर्थात् भूषण-रहित हो गया। सखी ने जब इसके विषय में कहा तो दमयन्ती ने 'अनलङ्कृत' का अर्थ लिया नल से रहित (अ + नल + कृत) और वह घबरा कर मरण-पीड़ा का अनुभव करती मूर्च्छित हो गयी। मल्लिनाथ ने यहाँ वक्रोक्ति का निर्देश किया है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है—विद्याधर ने इन आठों श्लोकों में श्लेषवक्रोक्ति मानी है ॥ १०९ ॥

इदमुदीय तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका ।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता ॥ ११० ॥

जीवातु—इदमिति । स भैमी, इद पूर्वोक्त 'सखि ! हृतास्मी'ति वाक्यम् उदीर्य उच्चार्य, तदैव मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका प्रवृद्धकामानला सती, मुमूर्च्छ मुमोह 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोरि'त्यर्थद्वयेऽपि धातो स्मरणात् । तथाहि दु खिता सञ्जातदु खा, दु खिनी सा। अनुपपत्तिमतीमनङ्कृतमिति श्लेषशब्द-श्रवणजन्यभ्रान्तिविषयत्वादनुपपन्नामपीत्यर्थ । अवलम्बलवस्य हृदयसङ्गतिमात्र-लक्षणस्य प्राणाधारलेशस्यापि छिदामुच्छेदक क्व सहता, कथ सहेतेत्यर्थ । दु खोद्विग्नस्य भ्रान्तमभ्रान्त वानिष्टमवेदनमतिदु सहमतो युक्तमस्या मूर्च्छन-मिति भाव । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कार ॥ ११० ॥

अन्वय —मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका सा इदम् उदीर्य तदा एव मुमूर्च्छ, दु खिता अनुपपत्तिमतीम् अपि अवलम्बलवच्छिदा क्व सहताम् ?

हिन्दी—जिसके मन में कामानल धधक रहा था, ऐसी वह (दमयन्ती) इतना (पूर्वोक्त) कहकर उसी समय मूर्च्छित हो गयी। दुःखिनी अघटित (काल्पनिक, अतएव) भी आधार का लेशमात्र टूट जाने को कैसे सह पाती ?

टिप्पणी—यद्यपि विरहिणी, पीडिता दमयन्ती का प्रिय उसके निकट

नहीं था, निराधार थी वह, तथापि उसके हृदय में तो वह था। ठीक नहीं, अस्तु उस आधार तो था, फिर नहीं, उसका अमूर्त भाव तो था। 'अनन्तहृत' सुनकर दमयन्ती घबरा कर समझी कि नल हृदय से भी गया छोटा सा आधार भी छिन गया। यह दुःख वह दुबिधा न सह सकी और तत्क्षण मूर्च्छित हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास और विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ ११० ॥

अपिबत् क्वापि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ।
व्यधित कापि हृदि व्यजनानिलं न्यधित कापि हिमं सुतनोस्तनौ ॥ १११ ॥

जीवातु—अपिबेति। कापि सखी सुतनोर्भैम्या मुखे सलिलम् अपिबत् आहितवतीत्यर्थः। कापि स्तनौ सरोजदलैः प्यधित पिहितवती, 'वष्टि भागु-रिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः। कापि हृदि व्यजनानिलं व्यधित विहितवती। तालवृन्तेन वीजयामासेत्यर्थः। कापि तनौ शरीरे हिमं चन्दनम्। 'चन्दनेऽपि हिमं विदुः' इति विश्वः। न्यधित निहितवती ॥ १११ ॥

अन्वय—का अपि सखी सुतनोः मुखे सलिलम् अपिबत्, का अपि सरोजदलैः स्तनौ प्यधित, का अपि हृदि व्यजनानिलं व्यधित, का अपि तनौ हिमम् न्यधित।

हिन्दी—(दमयन्ती को मूर्च्छित देख) किसी सखी ने सुन्दरी (दमयन्ती) के मुख में जल डाला, किसी ने कमलदलों से स्तन ढक दिये, किसी ने हृदय पर पंखा झल कर हवा की और किसी ने शरीर पर शीतल चन्दन का लेप किया।

टिप्पणी—कामज्वर का उपचार। क्रियाओं का सुन्दर प्रयोग ॥ १११ ॥

उपचचार चिरं मृदुशीतलैर्जलजजालमृणालजलादिभिः।
प्रियसखीनिवहः स तथा क्रमादियमवाप यथा लघु चेतनाम् ॥ ११२ ॥

जीवातु—उपचचारेति। स प्रियसखीनिवहः मृदुशीतलैर्जलजजालमृणा-लजलादिभिः जलजजालं पद्मसमूहः, मृणालं जलं। आदिशब्दाद्व्यजनादि-साधनविशेषैः क्रमात् चिरं तथोपचचार, यथेयं भैमी लघु क्षिप्रं चेतनां समा-सवान् ॥ ११२ ॥

अन्वय—स प्रियसखीनिवह मृदुशीतलैः जलजजालमृणालजलादिभिः क्रमात् चिरम् तथा उपचचार यथा इय लघुचेतनाम् अवाप।

हिन्दी—प्यारी सहेलियो के समूह ने कोमल-शीतल कमलदलो, मृणालो और जल आदि से क्रमपूर्वक (यथारीति) देर तक ऐसा उपचार किया, जिससे उस (दमयन्ती) को शीघ्र चेतना प्राप्त हो गयी।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और जाति अलकार ॥ ११२ ॥

अथ 'कले ! कलय श्वसिति स्फुट चलति पक्ष्म चले ! परिभावय।
अधरकम्पनमुन्नय मेनके ! किमपि जल्पति कल्पलते ! शृणु ॥ ११३ ॥
रचय चारुमते ! स्तनयोर्वृतिं गणय केशिनि ! केश्यमसयतम्।
अवगृहाण तरङ्गिणि ! नेत्रयोर्जलझराविति शुश्रुविरे गिर ॥ ११४ ॥

जीवातु—अथ भैम्या कलादय सप्त सख्यस्तासा तद्दशापरीक्षाव्यग्राणा मिथ कलकल श्लोकद्वयेनाह —अथेति। अथानन्तरम्, इति गिर शुश्रुविरे इति सम्बन्ध। ता एवाह—हे कले ! स्फुट व्यक्त, श्वसिति प्राणिति, कलय आकलय। हे चले ! पक्ष्मनेत्रलोम, चलति चक्षुरुन्मिषतीत्यर्थं। परिभावय परामृश। हे मेनके ! अधरकम्पनमोष्ठचलनमुन्नय तर्कय। हे कल्पलते ! किमपि जल्पति, शृणु रचयेति। हे चारुमते ! स्तनयोर्वृतिमावरण रचय। हे केशिनि ! असयत विस्रस्त कैश्य केशसमूह, 'केशाश्वाभ्या यञ्छावन्यतरस्याम्' इति यञ्प्रत्यय। गणय चिन्तय। बधानेत्यर्थ। हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोजलझरावश्रुप्रवाहौ, अवगृहाण बधान। इति गिर शुश्रुविरे श्रुता ॥ ११३-११४ ॥

अन्वय —अथ कले, स्फुट श्वसिति, कलय, चले, पक्ष्म चलति, परिभावय, मेनके, अधरकम्पनम् उन्नय, कल्पलते, किम् अपि जल्पति, शृणु। चारुमते, स्तनयो वृतिं रचय केशिनि, असयत कैश्य गणय, तरङ्गिणि, नेत्रयो जलझरौ अवगृहाण—इति गिर शुश्रुविरे।

हिन्दी—तदनन्तर हे कले, (दमयन्ती) ठीक से साँस ले रही है ? ध्यान से देख, अरी चले, पलक हिल रहे है ? विचार कर, ए मेनके, ओठो का कपन देख, कल्पलते, क्या कुछ बोली ? सुन ! अयि चारुमते, स्तनो को ढक दे, केशिनि, बिखरे बाल सँवार दे और तरगिणि, बहते आँसू पोछ—इस प्रकार की बाते सुन पडने लगी।

टिप्पणी—इन श्लोकों में विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और जाति अलंकार हैं। सखी-निवह के सार्थक नामों का प्रयोग और नाटकीय वाक्य दर्शनीय हैं। भर्तृदारिका के निद्राग्रस्त हो जाने पर सखी-समूह के चिन्ता, कर्मठता आदि भावों का सुन्दर चित्रण है ॥ ११३-११४ ॥

कलकलः स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः।
यमधिगम्य सुतालयमेतवान् द्रुततरः स विदर्भपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

जीवातु—कलकल इति। तदा तस्मिन् सखीजनव्याकुलकाले, आलिजनाननात् सखीमुखात्त्वरितेरितः सम्भ्रमोक्तिमि, विपुलो महान्, स कलकल उदलसदुदियाय। यं कलकलमधिगम्याकर्ण्य, स विदर्भपुरन्दरः भीमभूपतिः द्रुततरोऽतित्वरितः, सुतालयमेतवान् कन्यान्तःपुरं प्राप्तवान् ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तदा आलिजनात् त्वरितेरितः स विपुलः कलकलः उदलसत् यम् अधिगम्य सः विदर्भपुरन्दरः द्रुततरः सुतालयम् एतवान्।

हिन्दी—तब सखियों के समूह के शीघ्रता से उच्चरित सम्भ्रमवचनों के कारण एक महान् कोलाहल उठ पड़ा जिसे सुनकर वह विदर्भेन्द्र (राजा भीम) अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक पुत्री के आवास में पहुँच गया।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और जाति अलंकार ॥ ११५ ॥

कन्यान्तःपुरबोधनाय यदधीकारान्न दोषा नृपं
द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदङ्कारश्च तावूचतुः।
देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिलं
स्यादस्या नलदं विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥११६॥

जीवातु—कन्येति। कन्यान्तःपुरस्य बोधनाय योगक्षेमानुसन्धानाय, यदधीकारायोर्मन्त्रिवैद्ययोरधीकाराभियोगात्। 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः। दोषा परपुरुषप्रवेशादयो बाधादयश्च, न सन्तीति शेषः। अस्तिर्भवति-परोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति वचनात्। तौ मन्त्रिप्रवरश्च अगदमपरोग करोतीत्यगदङ्कारो वैद्यश्च। 'रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यौ चिकित्सके' इत्यमरः। 'कर्मण्यण्' 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागमः। तौ नृपं तुल्यमेकवाक्यमूचतुः। देव राजन्! आकर्णय सुश्रुतेन सम्यक्श्रुतेन, चर एव चरको गूढचारः, तस्यो-

वचेन वाक्येन । अन्यत्र सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन चरकाचार्यप्रणीतग्रन्थेन, अखिल तापनिदान जाने । अस्यास्तापस्य दलने निवर्तने, नल राजान ददातीति नलद, तत्सघटक विना । 'आतोऽनुपसर्गे क' अन्यत्र, नलदमुशीर विना । 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम् । अभय नलद सेव्यम्' इत्यमर । कोऽपि न क्षमो न स्यात् । 'शकि लिङ्' इति शक्यार्थे लिङ् अत्र द्वयोरपि नलदयो प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतश्लेषोऽलङ्कार ॥ ११६ ॥

अन्वय —कन्यान्त पुरबोधनाय यदधीकारात् दोषा न मन्त्रिप्रवर अगदङ्कारश्च द्वौ नृप तुल्यम् ऊचतु —देव, आकर्णय, सुश्रुतस्य चरकस्य उक्तेन अखिल जाने, अस्या तापस्य दलने नलद विना क अपि क्षम न स्यात् ।

हिन्दी—कन्या के अन्त पुर मे योगक्षेम को जानने के लिए जिस अधिकरण से दोष (सामाजिक मर्यादा दोष और वातपित्तकफ दोष) नहीं है, मन्त्रिश्रेष्ठ और चिकित्सक दोनो राजा से एक समान बोले—देव, सुनिए । (१) मन्त्री ने कहा—सुश्रुत (भलीभाँति सुन) और चरक (चरो) द्वारा कहे (कथन) से मैं सब जान गया हूँ कि इस (दमयन्ती) के सताप का शमन करने मे नलद (नल राजा) के अतिरिक्त कोई समर्थ न होगा । (२) चिकित्सक ने कहा—सुश्रुत और चरक नामक मान्य आयुर्वेद ग्रन्थो मे कहे गये (लक्षणो) से मैं भली-भाँति जान गया हूँ कि इसका ताप मिटाने मे नलद (उशीर) के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी—कन्या के अन्त पुर मे परपुरुष-प्रवेश मर्यादा के विरुद्ध है, परतु ऐसे व्यक्ति जिनसे व्यवस्था बनी रहे, पुरुष होने पर भी प्रविष्ट हो सकते हैं । मन्त्री और वैद्य ऐसे ही पुरुष होते हैं । मन्त्री व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी और अधिकारी है । किसी प्रकार का अमर्यादित और निन्दनीय, वर्जित कार्य अन्त पुर मे न हो, इसकी व्यवस्था मन्त्री पर है । शरीर को रोगी बना देने वाले वात, पित्त, कफ—त्रिदोष की व्यवस्था चिकित्सक पर है । अत ये दोनो दमयन्ती के अन्त पुर मे गये ।' 'सुश्रुत' (भलीभाँति सुना, वैद्यकग्रन्थ), 'चरक' (चर और आयुर्वेदग्रन्थ) और 'नलद' (राजा नल, उशीर) अनकार्थ शब्द हैं, जिनके प्रयोग से मन्त्रिप्रवर और अगदङ्कार के तुल्यकथन की

योजना की गयी है। मल्लिनाथ ने श्लेष अलङ्कार निर्देश किया है और विद्याधर ने तुल्ययोगिता और श्लेष का। शार्दूलविक्रीडित वृत्त ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमानं भेदव्ययाकृति मिथःप्रतिघातमेव।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भैम्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य ॥११७॥

जीवातु—ताभ्यामिति। ताभ्यां मन्त्रिभिषग्भ्यां, भेदव्ययो नामाभेदः स एवाकृतिर्यस्य तद् भेदव्ययाकृति, अभिन्नाकारमेकरूपं यथा तथा, युगपदेकदा, अभिधीयमानं नलशब्दादिवाक्यमिति शेषः। मिथोऽन्योन्यं प्रतिघातो विरोधो यस्य तन्मिथःप्रतिघातं मिथोभिन्नमेवाभूत्। अभिधानयौगपद्यादेकशब्दाच्च भिन्नार्थैकवाक्यवत् प्रतीयमानमपि तद् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमेवासीदित्यर्थः। राज्ञस्तु न तत्र दृष्टिरित्याह—भैम्यां विषये अनिष्टशतशङ्कितया अनिष्टानेकशङ्कावत्त्वेन आकुलस्य विह्वलचित्तस्य, 'प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि' इति न्यायादिति भावः। तस्य नृपतेः भीमस्य श्रोत्रे तु किञ्चिन्न पपतुः न किञ्चिदर्थं जगृहतुः। व्याकुलान्तःकरणतया तद्वाक्ये नातीव कर्णं दत्तवानित्यर्थः ॥११७॥

अन्वयः—ताभ्यां भेदव्ययाकृति अपि युगपद् अभिधीयमानं मिथःप्रतिघातम् एव अभूत्, भैम्याम् अनिष्टशङ्कितया आकुलस्य तस्य नृपतेः श्रोत्रे तु किञ्चित् न पपतुः।

हिन्दी—उन (मन्त्री, और वैद्य) दोनों के द्वारा स्वरूपतः अभिन्न भी एक साथ कहा गया परस्पर विघातक ही हुआ, (क्योंकि) भीमसुता (दमयन्ती) के अनिष्ट की शङ्का से व्याकुल उस राजा के कानों में तो कुछ भी न पड़ा।

टिप्पणी—बेटी के अनिष्ट की शङ्का से व्याकुल राजा मन्त्री और वैद्य-दोनों के वचनों पर ध्यान न दे सका। व्याकुल होने से उसने कुछ सुना ही नहीं जैसे। भाव यह कि बेटी को रुग्ण पा राजा अत्यन्त व्याकुल हो गया। विद्याधर के अनुसार जाति अलङ्कार। वसन्ततिलका वृत्त ॥ ११७ ॥

द्रुतविगमितविप्रयोगखिन्नामपि तनयां नृपतिः पदप्रणम्राम्।
अकलयदनमागुरागिमग्नां झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः ॥११८॥

जीवातु—द्रुतेति। नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगखिन्नां द्रागपसारितवियो-

रोपचारचिह्नामपि, पदे प्रणम्रां पादपतिताम् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम्। तनयामसमाशुगाधिमग्नां मदनव्यथामग्नाम् अकलयन्निश्चिकाय। तथाहि विज्ञा प्रवीणा 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिता' इत्यमरः। झटित्यविलम्बेन पराशयवेदिनो हि, प्रकाशकलिङ्गमन्तरेण आकारमात्रेण परेङ्गित निश्चिन्वतीत्यर्थः। कामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥११८॥

अन्वयः--नृपतिः द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नाम् अपि पदप्रणम्रां तनयाम् असमाशुगाधिमग्नाम् अकलयत्, हि विज्ञाः झटिति पराशयवेदिनः।

हिन्दी--राजा ने शीघ्रतापूर्वक विरह के चिह्नों के दूर कर दिये जाने पर भी चरणों में प्रणत पुत्री (दमयंती) को विषमबाण (काम) के रोग में मग्न समझ लिया, क्योंकि चतुर-समझदार व्यक्ति झट से दूसरे के आशय को जान लेते हैं।

टिप्पणी--राजा के आने का समाचार जानते ही सखियों ने विरहताप शमनार्थ एवं उशीरादि शीतोपचारों (श्लोक १११ १२) को झटपट हटा दिया, किन्तु प्रवीण राजा तुरन्त समझ गया कि बेटी कामरोग-व्यथित है। चतुर जनों से भेद छिपा नहीं रहता। अर्थान्तर न्यास अलंकार। मल्लिनाथ ने चार श्लोकों (संख्या ११८ १२१) में पुष्पिताग्रा छन्द माना है, जिसका लक्षण है—'अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।' पुष्पिताग्रा के प्रथम तृतीय चरणों में इस क्रम से बारह वर्ण होते हैं—२ नगण (।।।, ।।।), १ रगण (ऽ।ऽ), १ यगण (।ऽऽ) और द्वितीय-चतुर्थ चरण में तेरह—१ नगण (।।।), २ जगण (।ऽ।, ।ऽ।), १ रगण (ऽ।ऽ), और १ अंतिम वर्ण गुरु (ऽ)। इस दृष्टि से संबद्ध श्लोक पुष्पिताग्रा है। विद्याधर ने इन्हीं श्लोकों में औपच्छन्दसिक वृत्त माना है, जिसका लक्षण उन्होंने दिया है—'पर्यन्ते यौ तथैव शेषमौपच्छन्दसिकं, सुधीभिरुक्तम्।' इसके अनुसार चारों चरणों के अंत में यगण (।ऽऽ) होना चाहिए (कदाचित् -'यौ'—अर्थात् दो यगण)। इन श्लोकों के चरणांत में यगण तो है, एक यगण। सामान्यतया छन्दःशास्त्र में औपच्छन्दसिक का नाम मालभारिणी भी माना गया है, जिसके प्रथम तृतीय चरणों में ग्यारह वर्ण (।।ऽ, ।।ऽ, ।ऽ।, ऽऽ) और द्वितीय-

चतुर्थ में बारह वर्ण (।ऽऽ, ऽ।।, ऽ।ऽ, ।ऽऽ) होते हैं। ऐसा सब्द्ध श्लोकों मे नहीं है ॥ ११८ ॥

व्यतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम्।
'दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः' ॥११९॥

जीवातु—व्यतरदिति। अथ पिता भीमः, नतशिरसे लज्जानतमुखायै सुतायै दमयन्त्यै, मौलिं मुखमुन्नमय्य हे वत्से! कियद्भिः कतिपयैरेव वासरैः स्वयंवरे त्वं गुणमयं गुणाढ्यमभिमतं दयितमाप्नुहीत्याशिषं मुहुर्व्यतरद् ॥११९॥

अन्वयः—अथ पिता नतशिरसे सुतायै मुहुः मौलिम् उन्नमय्य आशिषं व्यतरत—स्वयंवरे, त्वं कियद्भिः एव वासरैः गुणमयम् अभिमतं दयितम् आप्नुहि। (अथवा त्वं कियद्भिः एव वासरैः स्वयंवरे गुणमयम् अभिमतं दयितम् आप्नुहि)।

हिन्दी—तदनन्तर पिता (राजा भीम) ने सिर नीचा किये उपस्थित पुत्री (दमयन्ती) को—(उसका) मस्तक क्षण भर को उठाकर आशीष् दिया—हे स्वयंवरण करनेवाली, तू कुछ ही दिनों में गुणवान् और मनचाहा प्रिय पति प्राप्त करे। (अथवा तू कुछ ही दिनों में स्वयंवर में गुणवान्··· प्राप्त करे)।

टिप्पणी—प्रिय पुत्री को राजा ने आशीष् देते हुए आश्वासन दिया कि वह व्यथित न हो, शीघ्र ही स्वयंवर में उसे अभिलषित पति प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। राजा ने व्याधि जान ली और कहा—'स्वयंवरमहं कर्तास्मि।' विद्याधर के अनुसार आशीरलंकार॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजासखीरवादीत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशीनाम्।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥१२०॥

जीवातु—तदन्विति। तदनु आशीर्वादानन्तरम् 'अनुर्लक्षणे' इति कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। स नृपस्तनुजासखीः सुतावयस्या अवादीदूचे। किं तत्राह—यस्माद्, तुहिनऋतौ शिशिरकाले, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभाव। गते निर्गत एव, वसन्ते पुष्पपरिणामातापस्य दुःसहत्वाच्चेति भावः। ईदृशीनां कोमलाङ्गीनां यौवनप्रविष्टानां शरीरे कुसुममपि शरायते शरवदाचरति, तद्वद् दुःसह

भवति । एकत्र गात्रमार्दवादन्यत्र मदनबाणत्वाच्चेति भाव । तत्तस्मादस्या कोमलाङ्गया युवत्या च, उचित योग्यमुपचार प्रतीकारमाचरत ॥ १२० ॥

अन्वय --तदनु स तनुजासखी अवादीत्--हि तुहिनऋतौ गते एव ईदृशीना शरीरे कुसुमम् अपि शरायते तत् अस्याम् उचितम् उपचारम् आचरत ।

हिन्दी—तत्पश्चात् राजा ने बेटी की सखियों को आज्ञा दी—क्योंकि शिशिर ऋतु व्यतीत होने पर ऐसी कोमलागियो (तारुण्य प्राप्ताओं) के शरीर में लगा फूल भी बाण का कार्य करता है, अत इसका ऋतु के अनुकूल उपचार करो ।

टिप्पणी--दमयन्ती की उचित देखभाल करने का आदेश देकर राजा ने पिता के अनुकूल व्यवहार किया । 'कुसुममपि शरायते' मे 'कुसुमशर' (काम बाण) का सकेत । वसत मे 'पुष्पबाण' व्यथा देता है, तदुचित उशीरादि उपचार आवश्यक हैं । विद्याधर के अनुसार उपमालकार ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया व स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान् ।
कृशिमशमनयानया तदाप्तु रुचिरुचिताथ भवद्विधाभिधाभि ॥१२१॥

जीवातु--कतीति । किंच, कतिपयदिवसै अल्पदिनैरेव, वो युष्माक, वयस्यया सख्या भैम्या, वरीयान् श्रेष्ठ पुमान्, स्वयमभिलष्य कामयित्वा वरिष्यते । य कामयते त वरिष्यतीत्यर्थ । तत्तस्माद् अथेदानीम्, अनया दमयन्त्या (कर्त्र्या), भवतीना विधेव विधा यासा तासा भवद्विधाना सखीना, सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भाव । अभिधाभिरुक्तिभिर्या कृशिमशमना कार्श्य- निवर्तना, तया उपायभूतया रुचि कान्ति प्रीतिश्च, आप्तुमुचिता आसव्या, स्वयवरपर्यन्त भवदुपलालनावचनै खेद विहाय प्रसन्नया सन्तुष्टया च स्थातव्यमित्यर्थ । इतेत्यादिश्लोकचतुष्टय पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ १२१ ॥

अन्वय --कतिपयदिवसै व वयस्यया स्वयम् अभिलष्य वरीयान् वरिष्यते तत् अथ अनया भवद्विधाभिधाभि कृशिमशमनया रुचि आप्तुम् उचिता ।

हिन्दी—(राजा ने और भी आज्ञा दी)—कुछ दिनों मे तुम्हारी सखी (दमयन्ती) द्वारा अपनी इच्छानुसार वरवर (अच्छा वर) वरा जायेगा, अत सम्प्रति इसे (दमयन्ती को) आप जैसी सखियों के समझाने से कृशता दूर करके कांति प्राप्त करना उचित होगा ।

टिप्पणी—राजा ने दमयन्ती की सखियों को आदेश दिया कि शीघ्र ही स्वयंवर का आयोजन होगा, जिसमें दमयन्ती का अभीष्ट वर प्राप्त करने का पूर्ण अवसर मिलेगा। सखियों को चाहिए कि दमयन्ती को सान्त्वना देकर-समझा-बुझा कर व्यथाभाव दूर करें, जिससे वह प्रसन्न और शोभाशालिनी प्रतीत होने लगे। इस प्रकार अप्रत्यक्ष पिता ने पुत्री को अपना अभिप्राय पूर्ण करने का संकेत दिया, जिससे वह सन्तुष्ट हो। विद्याधर के अनुसार उल्लेखनीय अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ १२१ ॥

एवं यद्वदता नृपेण तनया नापृच्छि लज्जास्पदं
यन्मोहः स्मरभूरकल्पि वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः।
यच्चाशीः कपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना
तन्मत्वालिजनो मनोऽधित मुदामानन्दमन्दाक्षयोः ॥ १२२ ॥

जीवातु—एवमिति। एवं वदता नृपेण, तनया दमयन्ती, लज्जास्पदं लज्जाहेतु नापृच्छि न पृष्टेति यत्। ज्ञातो प्रश्नायोगादिति भावः। पृच्छेर्दुहादित्वाद्प्रधाने कर्मणि लुङ्। मोहो मूर्च्छा च वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिर्लिङ्गैः स्मरभूः कामजोऽकल्पि निश्चित इति यत्। तत्र तस्या पुत्र्या सख्यो अनुरूपा या सान्त्वना सान्त्वोक्तिः स्यात्, सा चाशीः कपटादाशीर्व्याजेनाभीष्टलाभादिवादीनि च यत्, तत्सर्वं मत्वा बोध्य, आलिवर्गो मनः स्वचित्तम् आनन्दमन्दाक्षयो अधिमग्नमनोऽधित। लज्जानन्दसागरयोरपीत्यर्थः। स्वेष्टसिद्धेरानन्दः स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जा ॥ १२२ ॥

अन्वयः—एवं वदता नृपेण तनया लज्जास्पदं यत् न अपृच्छि, यत् वपुषः पाण्डुत्वतापादिभिः स्मरभूः मोहः अकल्पि, यत् च तत्र सदृशी या सान्त्वना स्यात् आशीः कपटात् अवादि, तत् मत्वा आलिवर्गः मनः आनन्दमन्दाक्षयोः अधिमग्नम् अतनोत्।

हिन्दी—ऐसा कहते राजा ने बेटी से लज्जा का कारण जो न पूछा, जो शरीर के पीलेपन और सन्ताप आदि से कामजन्य मूर्च्छा समझ ली और जो उसके उपयुक्त सान्त्वना हो सकती थी, वह आशीष् के व्याज से दे दी, उसे समझकर सखियों ने मन को आनन्द और मन्दाक्षता (लज्जा) के समुद्र में निमग्न कर दिया।

टिप्पणी—राजा ने जो अवसरोचित (श्लोक सं० ११९-१२१) वचन कहे, उससे दमयन्ती सहित सखियों को महाप्रसन्नता हुई साथ भी लज्जा भी लगी, क्योंकि उसका लज्जा का कारण प्रकट हो गया। इष्ट सिद्धि पर प्रसन्नता और रहस्य भेद के कारण लाज। विद्याधर के अनुसार रूपक समुच्चयभाव-शबलतालंकार का संकर, शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १२२ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तुर्यः स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातर्ययं तन्महा-
काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वलः ॥ १२३ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति। श्रीहर्षमित्यादि सुगमम्। तुर्यश्चतुर्थः। 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' इति साधु। स्थैर्यविचारण नाम स्वप्रणीतप्रकरण तद्-भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने चतुर्थः सर्गः समाप्तः ॥ ४ ॥

अन्वयः—तृतीयसर्गवत्—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुषुवे। स्थैर्यविचारणप्रकरण भ्रातरि नलस्य चरिते अत्र तन्महाकाव्ये अयं निसर्गोज्ज्वलः तुर्यः सर्गः व्यगलत्।

हिन्दी—तृतीय सर्ग के समान—कवियों के मुकुट के हीरमणि उत्पन्न किया। 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण के सहोदर नल के चरित इस 'नैषधीयचरित' महाकाव्य में यह प्रकृत्या उज्ज्वल चतुर्थ सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—इस श्लोक में बताया गया कि 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण और 'नैषधीयचरितम्' सहोदर संबंध है, अर्थात् दोनों के जन्म का कारण एक ही है। इस प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने यह बता दिया कि उन्होंने 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण भी रचा था ॥ १२३ ॥

नैषधीयचरिते चतुर्थः सर्गः समाप्तः

— o —

नैषधीयचरितम्

कथासार

(चतुर्थ सर्ग)

स्मरमाकुला विरहाधिना विदर्भजा निशा सुधांशोर्ज्वर—
ज्वालाभिर्द्रुतमुर्मुरीकृतसुमावस्थाय शान्तमुहुर् ।
भीमस्तत्परिचारिकाकलकलाहूतस्तया वीक्ष्य तां
जातो व्याधिरपि स्वयम्वरमह कर्त्तास्म्यवादीदिति ॥

—श्रीकृष्णरामकवि

उधर महानुरागिणी दमयती के पार्श्व से उड़कर हंस नल के निकट पहुँचा, इधर विदर्भदेश में दमयती नल के वियोग से संतप्त रहने लगी। कैसे उसे वियोग-ताप ज्वर रहने लगा, धैर्य जाता रहा, हँसी उड़ गयी, चेहरा पीला पड़ गया। कामसंतप्ता वियोगिनी विदर्भतनया भाँति भाँति की कल्पनाएँ करती, न जाने क्या-क्या कहती, उसके आँसू आ जाते। बार-बार वह चन्द्रमा को लक्ष्य कर अनेक विध आक्रोश प्रकट करती। चन्द्र और काम पर अपना विषाद और आक्रोश प्रकट करते-करते दमयन्ती मूर्च्छित हो गयी। घबरायी सखियाँ भाँति-भाँति के उपचार में लगीं। उनका कोलाहल भीमराज तक जा पहुँचा। चिकित्सकों और सचिवों के साथ राजा ने पहुँच कर बेटी को देखा। चतुर राजा ने व्याधि समझी और घोषणा की कि शीघ्र ही दमयंती-स्वयंवर होगा। समझदार राजा लजाती बेटी से क्या पूछता?

पद्यानुक्रमणिका

(चतुर्थ सर्ग)

नैषधीयचरितम्

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयंवरमहाय महीन्द्रः।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

जीवातु—अथ दमयन्तीस्वयंवराय इन्द्रादागमन वक्तुं तदुपयोगितया नारदस्येन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति। अथ स महीन्द्रो भीमभूपतिः, स्वयंवर-महाय स्वयंवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्, यावदागमयते आगमनेनानमनेन विलम्बत इत्यर्थः। 'आगमे क्षमायामात्मनेपदं वक्तव्यम्'। 'क्षमोपेक्षा कालहरणे'ति काशिका। तावदेव ऋषिर्नारदः, 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। इन्द्रं दिदृक्षु-रिन्द्रदिदृक्षुः सन्, मधुपिपासुवत् गम्यादिपाठाद् द्वितीयसमासः। त्रिदशधाम स्वर्गं प्रति जगाम। सर्गेऽत्र स्वागतावृत्तम्। 'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वय—अथ सः महीन्द्रः स्वयंवरमहाय यावत् नरेन्द्रान् आगमयते तावत् एव इन्द्रदिदृक्षुः ऋषिः नारदः त्रिदशधाम जगाम।

हिन्दी—पुत्री दमयंती का समाश्वासन कर वह धरती का इन्द्र (भीमराज) स्वयंवरमहोत्सव (में सम्मिलित होने) के निमित्त जब राजाओं (को निमन्त्रण दे) की प्रतीक्षा कर रहा था, तब ही इन्द्र को देखने के इच्छुक ऋषि नारद देवलोक गये।

टिप्पणी—लोक-परम्परा में कहा जाता है कि नारद कलहप्रिय ऋषि हैं—'नरसमूहं कलहद्वारा द्यतीति नारदः'। प्रस्तुत प्रसंग में भी नारद की स्वर्गयात्रा संघर्ष का एक कारण बनी। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास। इस सर्ग के श्लोक संख्या १–१३३ में स्वागता छंद है, जिसके

प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ण इस क्रम से होते हैं—१ रगण (ऽ।ऽ), १ नगण (।।।), १ भगण (ऽ।।), दो गुरु (ऽऽ) ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु त प्रययौ यत्पर्वतः स खलु तस्य सपक्षः ।
नारदस्तु जगतो गुरुरुच्चैर्विस्मयाय गगनं विललङ्घे ॥ २ ॥

जीवातु—अथ षड्भिस्तद्गमनप्रकार वर्णयति—नेत्यादि । पर्वतो नारदसखो मुनि शैलश्च । 'पर्वत शैलदेवर्ष्यो' इति विश्व । त नारदमनु प्रययाविति यद् अत्र चित्रमाश्चर्यं न । कुत ; स पर्वतस्तस्य नारदस्य सपक्ष सखा खलु पक्षवाश्चेति गम्यते । उभयथाप्यनुयान युक्तमेवेति न चित्रमित्यर्थ । किंतु, जगतो लोकस्य उच्चैरुन्नत , गुरुराचार्यं तस्मादलघुश्च, स नारदस्तु, विस्मयाय गगन विललघे लघयामास । तल्लघन विस्मयाय भवतीत्यर्थ । गुरुद्रव्यस्य पातनार्हस्य उत्पतन विरुद्धमिति श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ २ ॥

अन्वय —यत् पर्वत तम् अनुययौ अत्र चित्र न, खलु स तस्य सपक्ष, जगत गुरु नारद तु गगन विललङ्घे, उच्चै विस्मयाय (अथवा 'जगत उच्चै गुरु नारद तु गगन विललङ्घे, विस्मयाय' । अथवा 'उच्चै गगन विललङ्घे, विस्मयाय ।') ।

हिन्दी—जो कि पर्वत ऋषि उन (नारद) के पीछे-पीछे गये, इसमें आश्चर्य नही है, क्योकि वे उनके सपक्ष (अर्थात् परस्पर मित्र) हैं, जगत् के गुरु नारद ने जो आकाश का लघन किया, यह बडे आश्चर्य की बात है । (अथवा 'जगत् के बडे गुरु होकर नारद जी ने बात है ।' अथवा 'ऊँचे आकाश का लघन किया, यह बात है ।) ।

टिप्पणी—इस श्लोक मे प्रयुक्त 'पर्वत' (पहाड और पर्वत नामक ऋषि) 'सपक्ष' (पक्ष और मित्र), 'नारद' (नार जल ददाति नारद =मेघ और देवर्षि नारद) 'गुरु' (भारी और पूज्य) अनेकार्थ शब्द हैं । इस आधार पर उक्त सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक अन्यार्थ की कल्पना हो जाती है—पहाड (पर्वत) मेघ (नारद) के पीछे-पीछे गया, यह आश्चर्य नही है, क्योकि यह पक्ष वाला है (इन्द्र द्वारा पक्ष काट देने से पूर्व पहाडों के भी पक्ष थे, यह पौराणिक मान्यता है ।), मेघ (नार-जलयुक्त अतएव) भारी होकर भी

जो आकाश-लंघन कर गया, यह अचरज है। सजल बादल की तरह आना चाहिए। श्लेषार्थक शब्दों के आधार पर यहाँ जो विरोध आभासित हो गया है, इस आधार पर मल्लिनाथ ने इस श्लोक में श्लेषोत्थापित विरोधाभासालंकार माना है, विद्याधर ने भी गुण और क्रिया में विरोध के कारण विरोध का निर्देश किया है। विरोध का परिहार इस प्रसंगगत अर्थ से हो जाता है कि गुरु का अर्थ भारी नहीं, पूज्य है। पूज्य होकर भी नारद जी अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करते स्वर्ग लोक पहुँचे। विविधलोक-भ्रमण तो नारद का स्वभाव है। पर्वत मुनि का भी इसी कारण स्वर्गगमन विस्मयजनक नहीं है कि वे उनके मित्र और अनुयायी थे। वस्तुतः आश्चर्य का कारण कुछ भी नहीं है। प्रकाशकार ने 'जगत गुरु नारदस्तु विस्मयाय उच्चैः गगनं विलङ्घ्ये' अन्वय करके 'विस्मयाय' का अर्थ किया है, पक्षियों के स्मय (आश्चर्य) के लिए—'वीनां पक्षिणामपि स्मयाय वेगातिशयेनाद्भुताय'—वेगातिशय से पक्षियों को भी आश्चर्य में डालते—अर्थात् पक्षियों की गति से भी तीव्र गति से जगद्गुरु नारद ऊँचे गगन को पार कर गये ॥ २ ॥

गच्छता पथि विनैव विमानं व्योम तेन मुनिना विजगाहे।
साधने हि नियमोऽन्यजनानां योगिनां तु तपसाऽखिलसिद्धिः ॥ ३ ॥

जीवातु—गच्छतेति। पथि विमानं व्योमयानं विनैव गच्छता तेन मुनिना, व्योम विजगाहे प्रविष्टम्। तथा हि, साधने उपाये नियमोऽवश्यंभाव क्रियासिद्धौ नियमेन साधनान्तरापेक्षेत्यर्थः। अन्यजनानामस्मदादीनाम्, योगिनां तु तपसा योगधर्मेणैवाखिलसिद्धिः सर्वकार्यसिद्धिर्हि। तस्मान्महायोगिनोऽस्य किं विमानेनेति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३ ॥

अन्वय—विमानं विना एव पथि गच्छता तेन मुनिना व्योम विजगाहे, हि साधने अन्यजनानां नियमः योगिनां तु तपसा अखिलसिद्धिः।

हिन्दी—विमान अर्थात् यात्रोचित वाहन के बिना ही मार्ग में यात्रा करते उस मुनि (नारद) ने आकाश आलोडित कर डाला (आकाशयात्रा कर डाली), क्योंकि साधन (वाहन, सवारी) तो सामान्य जनों को आवश्यक है, योगियों को तो तप से ही सब सिद्धि हो जाती है।

टिप्पणी—'विमान' को 'व्योम' का विशेषण मानकर और 'विना एव' का अर्थ 'पक्षितुल्य' मान कर यह अर्थ भी किया जाता है कि पक्षि के समान जाते मुनि ने 'विमान' अर्थात् परिमाणातीत, अतिविस्तीर्ण आकाश पार कर लिया। वस्तुत वाहनो से सामान्य जन यात्रा करते हैं, तपस्वी योगिजनों को वाहनादि साधन अपेक्षित नही, वे तो तपोबल से समस्त काय कर डालते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष का समर्थनपरक अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति और काव्यलिंग अलकार ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानाँल्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान् ।
अर्थितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरङ्घ्रिविनम्रैः ॥ ४॥

जीवातु—खण्डितेति। एष मुनि, खण्डितो निरस्त इन्द्रभवनादीनामभिमानोऽहङ्कारो यैस्तान्, ततोऽपि समृद्धानित्यर्थ। विमानान् देवगृहान्, लङ्घते स्म अतिचक्राम। किं बहुना, अङ्घ्रिविनम्रैः पादपतितैः, तत्पतिभिर्विमानाध्युषितैर्देवैः अर्थित प्रार्थितोऽपि, अतिथितामातिथ्य, नैवानुमेने। एतन्मात्रविलम्ब च नासहिष्टेत्यर्थ ॥ ४ ॥

अन्वय—एष मुनि खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान् विमानान् लङ्घते स्म, अङ्घ्रिविनम्रैः तत्पतिभि अर्थित अपि अतिथिता न एव अनुमेने।

हिन्दी—ये मुनि (नारद) इन्द्र आदि के आवासो के अभिमान को भी खण्डित करते विमान (देवगृहो) को लांघते जा रहे थे, चरणों मे प्रणत उनके स्वामियो द्वारा प्रार्थना की जाने पर भी (उनका) आतिथ्य (नारद ने) नही स्वीकारा।

टिप्पणी—'विमान' का अर्थ 'सतखडा घर' (सतमंजिला मकान) भी होता है, अर्थात् इतने ऊँचे ऊँचे थे कि बड़े-बड़े देवगृह भी उनके समक्ष नगण्य थे। ऐश्वर्य से परिपूर्ण ऊँचे-ऊँचे आवास। जाते हुए नारद जी को प्रणाम करते उन घरों के स्वामी उनसे आतिथ्य ग्रहण की प्रणत प्रार्थना करने पर नारद जी ने विलब हो जाने के कारण प्रार्थना स्वीकारी नही। विद्याधर के अनुसार उपमा और विभावना ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपन स्व तावदेव समकोचयदर्चिः।
यावदेष दिवसेन शशीव द्रागनप्यत न तन्महसैव ॥ ५ ॥

जीवातु—तस्येति। तपनोऽर्कः, तस्य मुनेः (कर्मणः), तापनाद्भिया, सन्तापोऽस्य भविष्यतीति भयेन स्वमात्मीयमर्चिस्तेजस्तावदेव प्रागेव, समकोचयत् सङ्कोचितवान्। यावदेष तपनो दिवसेन दिवा, आतपेन स्वौजसा, शशीव, तन्महसा तस्य तेजसैव, द्राक् झटिति, स्वयमेव नातप्यत, मुनितापनादात्महानेर्वरमात्मसङ्कोच इति मत्वा मन्दप्रकाशः स्थित इत्यर्थः। यथा च सूर्योऽपि तेजिष्ठो मुनिरिति भावः ॥ ५ ॥

अन्वय—तस्य तापनभिया तपनः स्वम् अर्चिः तावत् एव समकोचयत् यावत् एषः तन्महसा दिवसेन शशी इव द्राक् न अतप्यत।

हिन्दी—उनके द्वारा प्राप्त होने वाले सन्ताप की आशंका से अथवा उनको ताप न हो, इस भय से सूर्य ने अपने तेज को पहिले ही उतना सङ्कुचित कर लिया, जितना कि यह उन (नारद) के तेज से दिन के द्वारा चन्द्र के समान शीघ्र तप्त न हो।

टिप्पणी—सूर्य ने एक विशिष्ट मात्रा में—एक नियत परिमाण में अपने तेज अर्थात् तापनक्षमता को क्षीण कर लिया। सूर्य को दो प्रकार की आशंकाएँ थीं,—एक तो यह कि मुनि यदि तपन से तप्त होंगे तो क्रुद्ध हो सूर्य को शाप दे सकते हैं, दूसरे यह कि यदि तेज अधिक क्षीण हो जायेगा तो जैसे दिन में चन्द्र की अवमानना होती है, वैसे ही तेजोहीन होने से सूर्य की अवमानना होगी। अतः सूर्य ने अपने तेज को उतनी ही मात्रा में क्षीण किया जितने में देवर्षि को ताप न व्यापे और स्वयं सूर्य भी तेजोहीन न हो जाय। भाव यह कि नारद जी सूर्य के समान ही अथवा उससे भी अधिक तेजस्वी थे। उनके सम्मुख सूर्य का तेज भी क्षीण हो गया। माघकवि ने 'शिशुपालवध' (प्रथम सर्गारम्भ) में नारद के तेज की सूर्य और अग्नि के तेज से समता की है—'गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः'—इत्यादि। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमा अलंकार ॥ ५ ॥

यन्मुहुर्दिनमणिर्द्विजराजं यत्करैरदह तेन सदा तम्।
पर्यभूत् खलु करैर्द्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ॥ ६ ॥

जीवातु—पर्यभूदिति। दिनमणिः सूर्यः, द्विजराजं चन्द्रं ब्राह्मणोत्तमञ्च, करैरंशुभिः हस्तैश्च, पर्यभूत् परिभूतवानिति यत्। तेन परिभवेन (हेतुना)

तदा नारदागमनकाले, त दिनमणि, द्विजराजो ब्राह्मणोत्तमश्च द्रश्च, करैरसु-भिर्हस्तैश्च, पर्यभूत। अहह अदभुतम्। 'अहहेत्यद्भुते खेदे' इत्यमरः। स्वकृतद्विजराजपरिभवदोषात् स्वयमद्य तेन परिभूत इत्यर्थः। तथा हि, अत्र जीवलोके क स्वकृते (कर्म) न भुङ्क्ते। सर्वेणापि स्वकर्मफलमनुभाव्यमेवे-त्यर्थान्तरन्यास ॥ ६ ॥

अन्वय —अहह यत् दिनमणि द्विजराज करैः पर्यभूत् तेन खलु तदा त द्विजराज करैः पर्यभूत्, अत्र क स्वकृत कर्म न भुङ्क्ते।

हिन्दी—अहह, जो दिनमणि (सूर्य) ने द्विजराज (ब्राह्मणराज, चन्द्र) को अपने करो (किरणरूप हाथो) से परिभव दिया, उससे ही उस काल उस (सूर्य) को द्विजराज (ब्राह्मणराज नारद अथवा उनके ही रूपमें चन्द्र) ने अपने हाथों परिभव दिया। (यहाँ ससार मे) कौन अपने किये कर्म को नही भोगता ? (सभी को कर्मफल भोगना पड़ता है)।

टिप्पणी—सूर्य ने एक ब्राह्मण (चन्द्र) को अपने हाथो अपमानित किया, दूसरे ब्राह्मण नारद अथवा उनके ही रूप मे चन्द्र के हाथो सूर्य को अपमानित हो अपने किये को भोगना पडा। कर्मफल भोगना ही पडता है। नारद के सूर्याधिक तेजस्वी होने के विषय मे प्रकारातर से उक्ति। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अर्थान्तर-न्यास ॥ ६ ॥

विष्टर तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमर्घ्यमथ कच्छरुहाभिः।
पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

जीवातु—विष्टरमिति। अथ स्वर्गसिन्धुर्मन्दाकिनी, अतिथये अस्मै नारदाय, तटकुशानामालिभिरावलिभिर्विष्टरमासन, 'वृक्षासनयोर्विष्टर' इति षत्व-निपात, अद्भिः पाद्य पादार्थं जल, कच्छरुहाभिर्जलप्रायभूम्युत्पन्नाभिस्ताभिः अर्घ्यम् अर्घार्थं पुष्पफलादि, 'पादार्घाभ्यां च' इति तादर्थ्ये यत्प्रत्यय। पद्म-वृन्दाना मधुभिर्मकरन्दै, मधुपर्कञ्च अदित दत्तवती। ददातेर्लुङि तङ् ॥ ७ ॥

अन्वय —अथ स्वर्गसिन्धु अतिथये अस्मै तटकुशालिभि विष्टरम् अद्भिः पाद्यम् कच्छरुहाभि अर्घ्यं पद्मवृन्दमधुभि च मधुपर्कम् अदित।

हिन्दी—तत्पश्चात् स्वर्नदी मन्दाकिनी ने अतिथि नारदजी को तटवर्ती कुशों का आसन, जल का पाद्य (चरण धोने के लिए), जलजन्तुओं से (फूल फल आदि) अर्घ्य और कमल-मधु से मधुपर्क समर्पित किया।

टिप्पणी—अतिथि-सत्कार का कार्य देवनदी मन्दाकिनी द्वारा सम्पन्न। आसन, चरण प्रक्षालन, अर्घ्य और मधुपर्क के समर्पण से यह कार्य हुआ। विद्याधर के अनुसार दीपक अलङ्कार ॥ ७ ॥

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाकनायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादिं ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥ ८ ॥

जीवातु—स इति। मुनि, अगाध, वियदन्तरं नभोऽभ्यन्तरं व्यतीत्य, नाकनायकनिकेतनम् इन्द्रभवन, यती योगी, अनादि, भवसिन्धु संसाराब्धिम्, सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु परमानन्दसुन्दर ब्रह्म परमात्मानमिव आप ॥ ८ ॥

अन्वय—अनादिं भवसिन्धुं सम्प्रतीर्य शर्मभरचारु ब्रह्म यती इव स अगाधं वियद् व्यतीत्य नाकनायकनिकेतनम् आप।

हिन्दी—जैसे आदिरहित (नित्य प्रवहणशील) संसारसागर को भली भाँति तर कर परमानन्द सुन्दर ब्रह्म को योगी प्राप्त करता है, वैसे ही व (नारद जी) मध्यवर्ती अगाध (विस्तीर्ण) आकाश को पार कर स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) के आवास पर पहुँचे।

हिन्दी—इन्द्र का निकेतन भी 'शर्मभरचारु' है, अतः ब्रह्म से उसकी तुलना की गयी। स्वर्गप्राप्ति भी पुण्य से ही सम्भव है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार अनुप्रास और उपमा ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतराभिश्चारु तं सदकृतातिथिमिन्द्रः।
यावदर्हकरणं किल साधोः प्रत्यवायधुतये न गुणाय ॥ ९ ॥

जीवातु—अर्चनाभिरिति। इन्द्र, तमतिथि मुनिम्, उचिताद्धितात्, उच्चतराभिरधिकाभि, अर्चनाभि पूजाभि, चारु यथा तथा सदकृत सत्कृतवान्, आदृतवानित्यर्थ। 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातनात् प्राक् प्रयोग। अधिकाचरणे हेतुमाह यावदर्हं यावदुक्तम् 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभाव। 'यावदर्हस्य करणम्' इति षष्ठीतत्पुरुष। साधो श्रद्धालो प्रत्यवायधुतये

अकरणदोषनिवारणाय, गुणायोत्कर्षाय न किल खलु। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ९ ॥

अन्वयः—इन्द्रः तम् *अतिथिम् उचितोच्चतराभिः अर्चनाभिः चारु सत्कृत,* साधोः यावदर्हंकरणं प्रत्यवायघृतये किल, गुणाय न।

हिन्दी—इन्द्र ने उन अतिथि (नारद) को उचित से भी उच्चतर पूजाविधान द्वारा भली-भाँति सत्कारा, साधु का यथोचित सत्करण—आदर-पूजादि अकरणजन्य दोष की धुति (निवारण) के लिए ही होता है, तदतिरिक्त (लाभ) के लिए नहीं।

टिप्पणी—नारद जी के इन्द्रावास पहुँचने पर इन्द्र ने यथानियम विधि-विधान से उनका सत्कार किया। ऐसा न करने से अर्थात् पूजनीय की पूजा न करने से दोष होता है, अतः इस दोष से बचने के लिए पूज्यपूजा नितांत आवश्यक है। यह तो सामान्य विधान है, कोई अतिरिक्त उपलब्धि इससे नहीं होती। कालिदास ने बताया है—'प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।' (रघुवंश-प्रथमसर्ग)। अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ ९ ॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमथाद्रियत द्राक्।
पर्वतोऽपि लभतां कथमर्चां न द्विजः स विबुधाधिपलम्भी ? ॥ १० ॥

जीवातु—नामधेयेति। अथ नारदसत्कारानन्तरम्, अद्रिभिदिन्द्रः, अद्रेः पर्वतस्य, नामधेयसमतया नामसामान्येन सखायं तत्सखं मुनिं पर्वताख्यं, द्राक् द्रुतमाद्रियत सत्कृतवान्। पर्वतः पर्वताख्ये कथं सत्कारमलभतेत्यत्राह—पर्वतोऽपि स द्विजो विबुधाधिपं देवेन्द्रं पण्डितोत्तमं च, लभते प्राप्नोतीति तल्लम्भी। 'विबुधः पण्डिते देवे' इति विश्वः। स मुनिः, कथमर्चां पूजां, न लभताम् ? लभतामेवेत्यर्थः। द्विजोऽभ्यागतो महतः प्रतिपत्तादपि विवेकिनः पूजां लभत इति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—अथ अद्रिभित् अद्रेः नामधेयसमतासखं मुनिं द्राक् आद्रियत विबुधाधिपलम्भी सः द्विजः पर्वतः अपि कथम् अर्चां न लभताम् ?

हिन्दी—तत्पश्चात् पर्वतों के भेत्ता (इन्द्र) ने 'पर्वत' नाम के साम्य से पर्वत की समता रखने वाले मुनि (पर्वत) का तुरन्त *आदर सम्मान किया।*

विबुधों के स्वामी को प्राप्त वह ब्राह्मण पर्वत (होने पर) क्यों न पूजा प्राप्त करता ?

टिप्पणी—इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काट लिये थे, वे थे पर्वतारि। इस स्थिति में आश्चर्यजनक है कि उन्होंने पर्वत का स्वागत किया। पर इन्द्र ने मुनि की पूजा इसलिए की कि वे तो नाममात्र के पर्वत थे, कोई वास्तविक पहाड़ नहीं, जो उड़कर आ गिरते फसलों को चौपट कर दिया करते थे, जिससे इन्द्र ने उनकी उड़ने की क्षमता समाप्त कर दी। पर्वतमुनि थे, शान्त, सौम्य, साधु, परपीड़क नहीं। एक और कारण भी है—वे पर्वत नामधारी मुनि 'विबुधाधिपत्नमी' थे अर्थात् पंडितों के राजा—विद्वच्छ्रेष्ठ नारद के साथ आये थे, भले ही वे मुनि जड़बुद्धि हों पहाड़ पत्थर के समान। अथवा पर्वत नाम होने पर भी उन्होंने श्रेष्ठ विद्वानों का सत्संग करके विद्या अर्जित कर ली थी, अत वे पूजार्ह थे। अथवा 'पर्वत' विबुधाधिप अर्थात् देवराज को प्राप्त कर क्यों न पूजा प्राप्त करते ? सज्जन तो घर आये शत्रु का भी सम्मान करते हैं। भाव यह है कि 'पर्वत' मुनि नाम से ही पर्वत थे, वास्तविक पहाड़ नहीं, वे पण्डितवर थे अथवा पण्डितराज नारद के साथ आये थे, वे देवराज इन्द्र जैसे महान् व्यक्ति के निकट पहुँचे थे अथवा 'पर्वत' (पहाड़) पर्वतारि के शरण आ गया था। अथवा 'पर्वतोऽपि द्विजः पूजां कथं न लभताम् ?' पहाड़-पत्थर-सा जड़मूर्ख होने पर भी ब्राह्मण को पूजा मिलती ही है। विद्याधर के अनुसार 'ओज गुण और काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ १० ॥

तद्भुजादतिवितीर्णमपर्याद् द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्रः ।
स्वर्महीस्थितिसुशिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥ ११ ॥

जीवातु—तदिति। मुनीन्द्रो नारदस्तान्, प्रसिद्धान् द्योद्रुमान् कल्पवृक्षानपि अतिवितीर्णं निरवधिकदानमपर्यादत्वात् तस्येन्द्रस्य, भुजादस्मादेव, पुरो स्व स्वर्गे, सहस्थित्या सहवासेन, सुशिक्षितया स्वभ्यस्तया, दानपारमिता नाम दानकर्मव्यवहारप्रतिपादको ग्रन्थविशेष, तयैव कारणेन वदान्यान् विवेद। इन्द्रहस्त-कल्पवृक्षाणामपि दानदिशोपदेष्टृत्वेन लिखितदानिनर्धं। कल्पवृक्षातिशयौदार्य-मस्येति भाव ॥ ११ ॥

अन्वयः—मुनीन्द्र अतिविहीणसपर्यात् तद्भुजात् स्व सहस्थितिमुशिक्षितया दानपारमितया एव तान् द्योद्रुमान् अपि वदान्यान् विवेद ।

हिन्दी—मुनिराज नारद ने अतिशय पूजा सत्कार करने वाले उस (इन्द्र के) बाहु (रूप गुरु) से अपने साथ रहने के कारण भली भांति सीख ली गयी दान की पारमितता (अतिक्रम दानशीलता) द्वारा उन (प्रसिद्ध) स्वर्ग के वृक्षों (कल्पतरु आदि) को भी दानी (उदार) समझा ।

टिप्पणी—विश्व में प्रसिद्ध है कि कल्पवृक्ष इच्छित वस्तु देता है—ऐसा दानी है । नारद जी ने पाया कि इन्द्र ने जो उनकी इतनी पूजा अर्चना की, उसी 'वदान्य' अर्थात् उदार इन्द्र के दानशीलता में प्रवण हाथ की संगति में रहकर कल्पवृक्ष आदि ने 'वदान्यता'—उदारता सीख ली है । यह उदारता कल्पवृक्षादि का सहज गुण नहीं है, ससर्गज गुण है—'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।' 'दानपारमिता' एक ग्रन्थ का नाम भी है, जिसमें दान-कर्तव्यता का प्रतिपादन हुआ है । यहाँ यह आशय भी लिया गया है कि इन्द्र के भुजारूप गुरु से कल्पवृक्षादि ने उक्त ग्रन्थ का अध्ययन किया है । 'प्रकाश'-कार ने इसे क्लिष्ट, अतएव उपेक्ष्य व्याख्या माना है । भाव यह है कि इन्द्र ने इतनी अधिक उदारता से नारद का पूजा सम्मान किया कि उसकी 'वदान्यता' के आगे कल्पवृक्ष भी नगण्य बन गया । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ।।

मुद्रितान्यजनसंकथनः सन्नारदं बलरिपुः समवादीत् ।
आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः ॥ १२ ॥

जीवातु—मुद्रितेति । बलरिपुरिन्द्रः, मुद्रितान्यजनसंकथनो निवारितेतरजनालापः सन्, नारदं समवादीत्, तेन सह सल्लापमकार्षीदित्यर्थः । किं संवाद्य तदाह—प्रायशः सुहृदोर्मित्रयोः सहवासः सङ्गमः, स्वे आत्मीयाः परे च स्वपरे तेषां यं भूरयः कथाः प्रसङ्गास्तासाम् आकरः खनिर्हि । इष्टालापानामियत्ताभावात् संवादसिद्धिरित्यर्थान्तरन्यासाभिप्रायः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः ॥ १२ ॥

अन्वयः—मुद्रितान्यजनसंकथनः सन् बलरिपुः नारदं समवादीत्, हि सुहृदोः सहवासः प्रायशः स्वपरभूरिकथानाम् आकरः ।

हिन्दी—अन्य व्यक्तियों के साथ वार्तालाप रोकते हुए बलदैत्य का शत्रु (इन्द्र) नारद से सादर वार्तालाप करने लगा, कारण कि दो मित्रों की एकत्र स्थिति प्रायः अपनी-पराई अनेक कथाओं का आकर होती है।

टिप्पणी—अन्य व्यक्तियों से वार्तालाप बन्द कर इन्द्र का नारद से सत्कार, एक तो उन दोनों की घनिष्ठता का द्योतन करता है, दूसरे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा इन्द्र की दृष्टि में नारद को अधिक आदरणीय भी प्रमाणित करता है। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास और जाति का निर्देश किया है १२॥

तं कथानुकथनप्रसृतायां दूरमालपनकौतुकितायाम्।
भूभृतां चिरमनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुरवदच्छतमन्युः॥ १३॥

जीवातु—तमिति। शतमन्युः शतक्रतुः। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। आलपनकौतुकितायामालापकौतुकितायाम्, दूरं कथानुकथनप्रसृतायाम् उत्तर-प्रत्युत्तराभ्यां दूरं गतायां सत्याम्, प्रसक्तानुप्रसक्त्या कथनेनेत्यर्थः। चिरं चिरा-त्प्रभृति भूभृतां राज्ञाम्, अनागमहेतुं ज्ञातुमिच्छुः सन्। तं नारदम्, अवदत्-पृष्टवानित्यर्थः॥ १३॥

अन्वय—शतमन्युः आलपनकौतुकितायां दूरं कथानुकथनप्रसृतायां चिरं भूभृताम् अनागमहेतुं ज्ञातुम् इच्छुः तम् अवदत्।

हिन्दी—सौ यज्ञों के कर्ता शतक्रतु (इन्द्र) ने बातचीत कौतुक के कथन और अनुकथन से अत्यधिक हो जाने पर (पर्याप्त वार्तालाप के अनन्तर) चिरकाल से राजाओं के (स्वर्ग) में न आने का कारण जानने का इच्छुक होते हुए उन (नारद) से कहा।

टिप्पणी—सामान्य शिष्टाचारपरक वार्तालाप के पश्चात् जब अन्तरंग वार्ता होने लगी तो शतमखकर्ता होने से इन्द्रपद प्राप्तकर्ता देवराज ने नारद जी से जानना चाहा कि पहिले तो युद्ध में सम्मुख लड़ वीर गति प्राप्त करने वाले अनेक नृपगण स्वर्ग आया करते थे, अब चिरकाल से ऐसा नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार अनुप्रास॥१३॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशा किन्तु सम्प्रति न वीरकरीरान् ? ।
ये परप्रहरणैः परिणामे विक्षता क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

जीवातु—प्रागिति । नृपवशा राजकुलानि, नृप एव वशा वेणवश्च । 'वशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्व पूर्वमिव, सम्प्रति, वीरत्वेन करीरानङ्कुरान् । 'वशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमर । न प्रसुवते न जनयन्ति । किं तु ? कि तैरत आह—ये इति ये वीरकरीरा , परिणामे परिपक्वावस्थाया, परेपामरीणाम् अन्येपा च । 'पर दूरान्यमुख्येपु परोऽरिपरमात्मनो ' इति वैजयन्ती । प्रहरणैरायुधै दात्रादिभिश्च, विक्षताः सन्त क्षितितल निपतन्ति ॥ १४ ॥

अन्वय—नृपवशा प्राक् इव सम्प्रति किं वीरकरीरान् न प्रसुवते तु, ये परिणामे परप्रहरणै विक्षता क्षितितले निपतन्ति ?

हिन्दी—राजकुल रूपी बाँस पहिले की भाँति आजकल क्या वीर रूप अकुरो को जन्म नही देते जो कि परिणाम (अन्त समय) मे (अथवा पूणता-रुण्य में) शत्रुओं के प्रहारो से घायल हो (आघात) भूतल में गिरते हैं ?

टिप्पणी—इन्द्र का प्रश्न है कि जैसे बाँसो के 'करीर' (अकुर) परिणत हो जाने पर (पक जाने पर) कुठारादि से आघात पा धरती पर आ गिरता है, वैसे ही 'वीर करीर' (करीरान् हस्तिपातनसमर्थान्)—हाथियो को गिरानेवाले वीर अब क्या जन्म नही लेते, जो युद्ध मे सम्मुख घाव खाकर धरती पर गिरें ? अर्थात् अब ऐसे रणवीर राजा उत्पन्न नही होते, जो युद्ध मे प्राण दें, रोगादि से जर्जर हो मृत्यु न पाते हो ? विद्याधर के अनुसार उपमा रूपक श्लेष का सकर ॥ १४ ॥

पार्थिव हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि ।
गौरवादपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिथिगौरवऋद्धिम् ॥ १५ ॥

जीवातु—तत किमत आह—पार्थिवमिति । वीरा पूर्वोक्ता रणपातिन , पार्थिव पृथिवीविकारम् अत एव गौरवात् गुरुत्वगुणयोगित्वात्, ऊर्ध्वगमनस्यो-त्पतनकर्मण , पार्थिवत्वादूर्ध्वलोकप्राप्तेश्च, दूरमायन्त विरोधि निज वपु , आजिषु युद्धेषु अपास्य मत्कृतामतिथिसत्कारस्तस्य ऋद्धिम्, 'ऋदयक ' इति प्रकृतिभाव । भज ते हि । तादृग्वीरालाभे स्वस्यातिथिलाभो न स्यादिति भाव ।

अन्वयः—हि वीराः पार्थिवं गौरवात् ऊर्ध्वगमनस्य दूरं विरोधि निजं वपुः आजिषु अपास्य मत्कृताम् अतिथिगौरवर्द्धिं भजन्ते ।

हिन्दी—क्योंकि वीरगण पृथ्वी (मिट्टी) से उत्पन्न अतएव गरुए (भारी, पतनशील , ऊँचे (अथवा स्वर्ग) जाने के अतिशय विरोधी अपने शरीर को संग्राम में त्याग कर मेरे द्वारा किये गये अतिथि-सम्मान के गौरव-ऐश्वर्य को प्राप्त कर पाते हैं ।

टिप्पणी—जैसे मिट्टी धूल से बनी भारी वस्तु ऊँचे ऊपर न जाकर नीचे ही आ गिरती है, वैसे ही यह पार्थिव शरीर भी उच्च स्वर्गलोक नहीं जा सकता । वीर व्यक्ति युद्ध में इस पार्थिव शरीर को छोड़ कर ही स्वर्ग में इन्द्र द्वारा सत्कार पा सकते हैं । माटी का शरीर क्षितितल में पड़ा रह जाता है, सूक्ष्म शरीर स्वर्गभागी होता है । योगाभ्यासी और रण में सम्मुख वीरगति पानेवाले व्यक्ति ही स्वर्ग प्राप्त करते हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डल-भेदिनौ । परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः' ॥ १५ ॥

साभिशापमिव नातिथयस्ते मां यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।
तेन न प्रियमिमां बहु मन्ये स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् ॥ १६ ॥

जीवातु—ननु तदलाभे तेषामेव सत्कारहानिस्तव तु न काचित् क्षति-रित्यत आह—साभिशापमिति । हे भगवन् मुने ! ते वीरा अतिथयः, अभि-शापेन सह वर्तत इति साभिशापं मिथ्याभिशस्तमिव । 'अथ मिथ्याभिशंसनम् । अभिशापः' इत्यमरः । मामद्य नोपयान्तीति यत् । तेन हेतुना । स्वोदरस्यै-कस्यैव, भृतिकार्येण, पोषणकृत्येन, कदर्यां कृपणाम् । 'कदर्ये कृपणः क्षुद्रः' इत्य-मरः । 'आत्मानं धर्मकृत्यं च पुत्रदारांश्च पीडयेत् । लोभाद्यः पितरौ भ्रातृन् स कदर्य इति स्मृतः ॥' इति च । इमां श्रियं न बहु मन्ये । अतिथिसत्कार-शून्यस्य श्रीवैफल्यमेव क्षतिरिति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—भगवन्, ते अतिथयः साभिशापम् इव माम् यत् अद्य न उपयान्ति तेन स्वोदरैकभृतिकार्यकदर्याम् इमां श्रियं बहु न मन्ये ।

हिन्दी—हे भगवन्, वे अतिथि अभिशप्त सदृश मेरे निकट जो आज नहीं आते हैं, उससे निज उदरमात्र भरने के कार्य से कुत्सित इस स्वलक्ष्मी को मैं अधिक आदर नहीं देता ।

टिप्पणी—वीर स्वग मे आते नही, इन्द्र को यह भला प्रतीत नही होता। ऐसा प्रतीत होता है कि पुण्यात्मा राजा अब नही होते भूलोक मे ॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पदो विपद एव विमृष्टा ।
पात्रपाणिकमलार्पणमासा तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्ट ॥ १७ ॥

जीवातु—पूर्वेति। पूर्वपुण्यविभवस्य व्ययेन लब्धा सम्पदो विमृष्टा विचारित विपद एव। सद्यः स्वोदयेन पुराकृतसुकृतनाशकत्वादिति भाव। तासु विपत्सु सम्पद्रूपास्वापत्सु। आसा सम्पदां, पात्राणा विद्याजातितपोवृत्तसम्पन्नाना पाणिकमलेष्वर्पण दानमेव विधिदृष्ट शास्त्रदृष्ट, शातिकविधि शान्तिकर्मानुष्ठानम्, नष्टसुकृतादपि अत्युत्कृष्टसुकृतोत्पादनादिति भाव। अनेन बीजाङ्कुरन्याय उक्त ॥ १७ ॥

अन्वय—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पद विमृष्टा विपद एव, तासु आसा पात्रपाणिकमलार्पण विधिदृष्ट शान्तिकविधिः।

हिन्दी—पुराकृत पुण्यो के माहात्म्य के विनियोग से प्राप्त सपदाएँ विचार करने पर विपदाएँ ही हैं, उन (सपद् रूप विपत्तियों) के रहने पर उनका योग्य व्यक्तियो के करकमलों मे दान (ही) शास्त्र समत (अथवा विधाता द्वारा निर्दिष्ट) शाति कर्म विधान है।

टिप्पणी—यद्यपि धन लक्ष्मी आदि वैभव पूर्वपुण्य से मिलता है तथापि विचार करने पर ज्ञात होता है कि उसका यदि उचित उपयोग न हो तो सपत्ति विपत्ति बन जाती है। सपत्ति का उचित उपयोग यही है कि आवश्यकतानुसार विद्या वय सपन्न उपयुक्त व्यक्तियों को दान कर जन-उपकार मे लगाया जाय। उचित उपयोग विना सपत्ति भार ही है। पात्रता के विषय याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पात्रता न केवल विद्या से आती है, न केवल तप से, विद्या तप—दोनो जिसमे हो, वह व्यक्ति पात्र होता है—'न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता। यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्र प्रकीर्तितम् ॥' (याज्ञ० आचाराध्याय)। सपत्ति मिलती है पुण्य से, पर यह है पाप, जिसके निवारण की—शाति शमन की—विधि उसका सत्पात्र को दान है। यही शास्त्र-विहित है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक मे अनुप्रास रूपक अतिशयोक्ति का सकर है ॥

तद्विमृज्य मम संशयशिल्पि स्फीतमत्र विषये सहसाघम् ।
मूयता भगवतः श्रुतिमारैरद्य वाग्भिरघमर्षणऋग्भिः ॥ १८ ॥

जीवातु—तदिति । तत्तस्मात्, अत्र विषये अस्मिन्नर्थे, मम, संशयस्य शिल्पि तज्जनकं, स्फीतं, प्रभूतम्, अघमेनं, तन्मूलत्वान्मिथ्याज्ञानस्येति भाव । यद्वा, संशयः शिल्पी जनको यस्य तदघं दुःखं, दुःखहेतुत्वात्संशयस्येति भावः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । सहसा विमृज्य निवर्त्य, भगवतो वाग्भिरद्य श्रुतिसारैर्वेदसारैः कर्णामृतैश्च । अघमर्षणऋग्भिः अघमर्षणीभिः ऋग्भिः 'स्त्रियाः पुंवत्' इत्यादिना पुंवद्भावः । 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः । भूयताम् । भावे लोट् । राज्ञामनागमनकारणमसंदिग्धं ब्रूहीत्यर्थः । अत्र मुनिवाक्येष्वारोप्यमाणस्य अघमर्षणत्वस्य प्रकृताघहरणोपयोगात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् ॥१८॥

अन्वयः—तत् अत्र विषये मम संशयशिल्पि स्फीतम् अघं सहसा विमृज्य भगवतः वाग्भिः श्रुतिसारैः अघमर्षणऋग्भिः भूयताम् ।

हिन्दी—सो इस विषय में मेरे संशय के जनक, वृद्धि को प्राप्त पाप को शीघ्र दूर करके आपके वचन वेद का सार अथवा कानों को अमृतसम लगनेवाली अघमर्षण ऋचाएँ (पापनाशक मंत्र) बनें ।

टिप्पणी—इन्द्र के मन में भूलोक के राजाओं के विषय में जो सन्देह हो गया था, वह संशय उसे पाप-सम कष्ट प्रदायक लग रहा था । नारद से उसने निवेदन किया कि वे इस विषय में कुछ सूचनाएँ देकर उसके सन्देह को दूर करें । सन्देह पाप है और नारद की वाणी पापनाशक ऋचाएँ । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में परिणाम अलंकार है, क्योंकि मुनिवाक्यों में आरोप्यमाण अघमर्षणता का प्रकृत अघहरण में उपयोग है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष है । अघमर्षण ऋचा—'ऋतं च सत्यं चाभीद्धा इत्यादि (ऋक्० ८।८।४८) ॥ १८ ॥

इत्युदीर्य मघवा विनयार्थं वर्चयन्नवहितत्वभरेण ।
चक्षुषा दशशतीमनिमेषां तस्थिवान्मुनिमुखे प्रणिधाय ॥ १९ ॥

जीवातु—इतीति । मघवा इन्द्र, इत्युदीर्य, अवहितत्वभरेण एकाग्रता-

तिशयेन, विनयर्धि विनयातिशय, वर्धयन्ननिमेषा चक्षुषा दशशती दशाना शताना समाहारः दशशती सहस्र, 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समाहारे द्विगाव-कारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रिया 'द्विगो' इति ङीप्। एतेन शतमखी व्याख्याता। मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् तस्थौ। लिट्. क्वसुरादेश ॥ १९ ॥

अन्वय —मघवा इति उदीर्य अवहितत्वभरेण विनयर्धि वर्द्धयन् अनिमेषा चक्षुषा दशशती मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान्।

हिन्दी—इन्द्र इतना कह कर एकाग्रता को अतिशयता से विनीतभाव की समृद्धि को बढ़ाता हुआ एक सहस्र अपलक नेत्र मुनि के मुख की ओर स्थिर करके बैठ गया।

टिप्पणी—यद्यपि देवराज होने के कारण इन्द्र के पलक-झपते ही नहीं थे, तथापि यहाँ 'अनिमेष' का प्रयोग उत्सुकता और एकाग्रता की अभिव्यक्ति के लिए है। भाव यह है कि अपना वक्तव्य समाप्त करके मुनि-वचन सुनने के लिए उत्सुक इन्द्र एकाग्रचित्त हो गया। विद्याधर के अनुसार जाति अलकार ॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाक पाकशासनपद स्पृशतोऽपि।
नारद प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मित- स्मितपुरस्सरमाख्यत् ॥ २० ॥

जीवातु—वीक्ष्येति। नारद नाकशासनपद स्पृशतोऽपीन्द्रत्वे तिष्ठतोऽपि। तस्येन्द्रस्य, विनये परिपाक प्रकर्ष वीक्ष्य विस्मित सन् सविस्मय सन्, कर्तरि क्त। प्रमदगद्गदयोक्त्या हर्षविस्वरया वाचा स्मितपुरस्सर स्मितपूर्वमाख्या-दाचचक्षे। 'अस्यति वक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्यय ॥ २० ॥

अन्वय—पाकशासनपद स्पृशत अपि तस्य विनय परिपाक वीक्ष्य विस्मित नारदः प्रमदगद्गदया उक्त्या स्मितपुरस्सरम् आख्यत्।

हिन्दी—इन्द्र-पद पर अधिष्ठित भी उसके विनय प्रकर्ष को देख आश्चर्या-न्वित नारद हर्षगद्गदवाणी मे मुस्कुराते [illegible] कहने लगे।

टिप्पणी—जन-जीवन मे किसी को अविनयी देखकर कहा जाता है—[illegible] तो इन्द्रपद पर बैठा [illegible]' इस प्रकार इन्द्रपद लोकमानस मे अविनय का द्योत[illegible]। इसी कारण इन्द्र को इतना विनयी पाकर नारद को आश्चर्य और

हर्ष हुआ, जो उनकी गद्गद वाणी और स्मित से प्रकट हुआ। विद्याधर की दृष्टि में इसमें अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ २० ॥

भिक्षिता शतमखी सुकृतं यत्तत्परिश्रमविदः स्वविभूतौ ।
तत्फले तव परं यदि हेला क्लेशलब्धमधिकादरदं तु ॥ २१ ॥

जीवातु—भिक्षितेति। शतानां मखानां समाहारः शतमखी (तासी), यत् सुकृतं भिक्षिता याचिता। भिक्षेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः। तत्फले तस्य सुकृतस्य फले स्वविभूतौ निजैश्वर्ये हेला अवज्ञा अनास्था यदि, 'हेलाऽवज्ञा' इति वैजयन्ती। तत्परिश्रमविदो यज्ञायासाभिज्ञस्य तव परं केवलं तदेव। नान्यस्येत्यर्थः। 'परं स्यादुत्तमानाप्तवैरिदूरेषु केवले' इति विश्वः। याचक एव याचकदुःखं जानातीति भावः। ननु धनिनां दातृत्वं किं चित्रं तत्राह—क्लेशेति। तस्य क्लेशलब्धं तु अधिकादरदम् अतिलोभकारि दुस्त्यजम्। त्वं तु महदपि क्लेशलब्धमप्यैश्वर्यमर्थिसात्करोषीति कथं न चित्रमित्यर्थः। अत्र क्लेशवाक्येन हेलावचनार्थसमर्थकवाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

अन्वय—शतमखी, यत् सुकृतं भिक्षिता तत्फले स्वविभूतौ यदि हेला तत्परिश्रमविदः तव परम्, क्लेशलब्धं तु अधिकादरदं तु।

हिन्दी—(नारद ने कहा)—सौ यज्ञ करके जो पुण्यार्जन आपने किया है, उसके फल अपने ऐश्वर्य (इन्द्रपद) में यदि आपको अवज्ञा है तो उस (शतयज्ञ करके पुण्यार्जन) के श्रम को समझनेवाले आपकी ही है, (अन्य किसी की नहीं), जो वस्तु कष्ट उठाकर प्राप्त होती है, उसके प्रति तो अधिक आदर होता है।

टिप्पणी—सौ यज्ञ करना बड़ा कठिन कार्य है। उसके पुण्य से ही इन्द्रपद मिलता है। सामान्य जनको इतने कष्ट से प्राप्त दुर्लभ पद पर बड़ा मोह और ममता होती है, आदर होता है। बड़ा पद पाने से सब लोग अविनय भी आ जाता है। इन्द्र में यह सब नहीं है। उन्हें न क्लेशलब्ध इन्द्रपद पर मोह है, न अभिमान, उनमें अविनय भी नहीं है, अतिथि-सत्कार के प्रति तो वह विशेष सावधान है। नारद जी ने यही भावना व्यक्त की। इस श्लोक में

श्लेष वाक्य द्वारा हेलाभाव का समर्थन होने से वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग अलंकार है। मल्लिनाथ और विद्याधर-दोनों की यही मान्यता है ॥ २१ ॥

सम्पादस्तव गिरामपि दूरा यन्न नाम विनयं विनयन्ते।

श्रद्दधाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभवः परमाप्तः ॥ २२ ॥

जीवातु—सम्पद इति। किं बहुना, तव सम्पदो गिरामपि दूरा अगोचराः, कुतः, यद्यस्माद्विनयं न विनयन्ते नाम न लुम्पन्ति खलु। नयतेर्लट् 'स्वरित-' इत्यादिना आत्मनेपदम्, 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यस्मादिति केचित्। तदसत्। सम्पदां कर्तृणाम् अचेतनत्वेन कर्मणो विनयस्येन्द्रियनिष्ठत्वेन चाकर्तृस्थत्वादिति। अतः स्तोतुमशक्या इत्यर्थः। किं त्विह विनयोत्तरत्वे परमाप्तः प्रमाणभूतः साक्षादनुभवः, प्रत्यक्षानुभवसिद्ध नहि चेत्क इव को वा, श्रद्दधाति विश्वसिति, न कश्चिदित्यर्थः। त्वत्सम्पदां विनयोत्तरत्वे साक्षादनुभवतां मादृशामेव श्रद्धा जायते नान्येषां, प्रायेणान्यत्र सम्पदां विनयहारित्वात्। किं बहुना, वयमपि न श्रद्दध्म इति भावः। अत्र सम्पदां वाग्गोचरत्वेऽपि तदगोचरत्वोक्त्या असम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥२२॥

अन्वय—तव सम्पदः गिराम् अपि दूराः यत् विनयं नाम न विनयन्ते, इह परमः आप्तः साक्षात् अनुभवः न आह चेत् कः इव श्रद्दधाति?

हिन्दी—तुम्हारी संपदा वाणी से भी अगोचर है, जिसने नम्रता को नामतः भी दूर नहीं किया है। इस विषय में परम विश्वसनीय प्रत्यक्ष अनुभव यदि वक्ता न होता तो कौन (इस पर) विश्वास करता? (कोई न करता)।

टिप्पणी—संपत्ति प्रायः मनुष्य को अविनयी बना देती है, जो धन ऐश्वर्य ऐसा फल न दे, वह विशिष्ट है, अनिर्वचनीय है। स्वर्ग के अधिपति इन्द्र को इतना विनयी देखकर नारद ने व्यक्त किया कि उसकी संपदा का वर्णन वाणी का विषय नहीं है। स्वर्ग का राजा इतना शिष्ट और विनयी होगा, इसका विश्वास वही कर सकता है, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव किया हो, जैसा नारद ने किया। अनुमानादि ज्ञान के साधनों से उस पर श्रद्धा संभव नहीं है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर संपदाओं को वाग्गोचर होने पर भी जो अगोचर कहा गया, इस कारण असंबंधातिशयोक्ति है, विद्याधर का भी यही निर्देश है ॥ २२ ॥

श्रीमरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हितेति ।
पश्यतो वहिरिवान्तरपीयं दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥ २३ ॥

जीवातु—श्रीमरानिति । श्रीभरान् सम्पदुच्चयान्, अतिथिसात् दानेनातिथ्यधीनं, 'देयेत्रा च' इति चकारात् सातिप्रत्ययः । करवाणि कुर्याम् । विध्यर्थे लोट् । 'आडुत्तमस्य पिच्च' इति भेति । स्वोपभोगपरता आत्मम्भरित्व, न हिता न श्रेयस्करीति पश्यतो जानत प्रेक्षमाणस्य च तव बहिरिव देह इव अन्तरात्मन्यपि कापीयं दृष्टिसृष्टिः ज्ञानसृष्टिरक्षिसृष्टिश्च । 'दृष्टिर्ज्ञानेऽक्षिदर्शने' इत्यमरः. अधिका असाधारणी, द्वयोरपि दृष्टयोः श्लिष्टशब्दोपात्तयोरभेदाध्यवसायेन बहिरिवेत्युपमा ॥ २३ ॥

अन्वयः—श्रीभरान् अतिथिसात्करवाणि, स्वोपभोगपरता हिता न—इति पश्यतः तव बहिः इव अन्तः अपि कापि इयम् अधिका दृष्टिसृष्टिः ।

हिन्दी—लक्ष्मी के भार (ऐश्वर्य) को अतिथियों को दे डालूँ, (उनको) अपने उपभोग में लगाना कल्याणकारक नहीं है—यह देखने वाले तुम्हारे बाहर (शरीर) की भाँति अन्तस में भी कोई यह विशिष्ट दृष्टि सरचना है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि इन्द्र की विचार-पद्धति श्रेष्ठ है, ऐसी वैचारिक दृष्टि सामान्य नहीं होती कि सम्पत्ति को केवल स्वोपभोग में न लगाये, उसके द्वारा अधिक लाभ अतिथियों को हो । अतिशय सुविचारी है इन्द्र । एक सहस्र नेत्रों से देखने की क्षमता रखनेवाला इन्द्र बाहर भी असाधारण है, साधारण जन तो दो नेत्रों से देखते हैं । इस प्रकार सहस्रनयन इन्द्र की जैसी असामान्य बाहरी दृष्टि है, वैसी ही उसकी अन्तर्दृष्टि भी असामान्य है । इन्द्र जैसे विचार सामान्य जन में नहीं होते । जैसे सहस्र नेत्रों से इन्द्र विश्व को देखता है, वैसे ही ज्ञान-दृष्टि से सब करणीय का विवेक भी उसमें है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लिष्ट शब्दों से दोनों प्रकार की दृष्टियों का कथन होने से अभेदाध्यवसाय द्वारा 'बहिरिव'—यह उपमा है,' विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-व्यतिरेक-सदेह-उपमा का सकर है ॥ २३ ॥

आः स्वभावमधुरैरनुभावैस्तावकैरतितरां तरलाः स्मः ।
द्या प्रशाधि गलितावधिकालं साधु साधु विजयस्व विडौजः ! ॥ २४ ॥

जीवातु—आ इति । विड भेदकम् । विड भेदने । इगुपधलक्षण क,

तदोजो यस्य तस्य सम्बुद्धि हे विडौज !, स्वभावमधुरैः निसर्गरमणीयैः, तवेमे तावकाः 'तवकममकावेकवचने' इत्यणि तावकादेश । तैरनुभवैरैश्वर्यैरतितरामत्यन्तम्, अव्ययादामुप्रत्यय । तरला लोला आनन्दलहरीमग्ना स्म इत्यर्थः । आ इत्यानन्दास्वादानुकार । गलितावधिकालमनन्तकालम्। अत्यन्त सयोगे द्वितीया । द्या स्वर्गं साधु प्रशाधि पालय । साधु, विजयस्व सर्वोत्कृष्टो भव । 'विपराभ्या जे' इत्यात्मनेपदम् ॥ २४ ॥

अन्वय—विडौज, स्वभावमधुरैः तावकैः अनुभावैः अतितरा तरला स्म, आ, गलितावधिकाल द्या साधु प्रशाधि, साधु विजयस्व ।

हिन्दी—हे विशिष्ट ओजोमय इन्द्र, निसर्गरमणीय तुम्हारे भावा के प्रकाशन अथवा ऐश्वर्य-तेज से हम अत्यन्त आनन्दित हैं, अरे, अन्तकाल तक तुम स्वर्ग का सम्यक् रूपेण शासन करो और भली भाँति विजय प्राप्त करते रहो।

टिप्पणी—इन्द्र के व्यवहार से विशेष प्रसन्न और आनन्दमग्न हो देवर्षि नारद ने उसे आशीस् दिया । विद्याधर के अनुसार 'आशी' अलकार ॥ २४ ॥

सङ्गरविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनाम् ।
यस्त्विहानुपगमः शृणु राज्ञा तज्जगद्युवमुद तमुदन्तम् ॥ २५ ॥

जीवातु—एवमिन्द्रमभिनन्द्य तत्प्रश्नोत्तरमाह—सङ्गरेति । सङ्गरे समरे, विक्षताभ्य प्रहृताभ्य तनुभ्यो गात्रेभ्य, स्रवद्भिरस्रै रसृग्भि क्षालितानि निर्णिक्तानि अखिलानि निजान्यघानि येषा तेषामत एव लघूना निर्भाराणा राज्ञा यद्यस्मात् कारणादिह स्वर्गेऽनुपगमो नागम तत्कारणभूत जगत्सु ये युवान तेषा मुदमानन्दकारणम् असाधारणार्थम्, अभेदेन व्यपदेश । त प्रसिद्धम् उदन्त वार्ताम् । 'वार्ता प्रवृत्तिवृत्तान्त उदन्त ' इत्यमर । शृणु । अत्र क्षालिताघपदार्थस्य विशेषणगत्या लघुत्वहेतुत्वात् पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ २५ ॥

अन्वय—सङ्गरविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाघलघूनां राज्ञा यत् इह अनुपगम तत् जगद्युवमुद तम् उदन्तम् शृणु ।

हिन्दी—समर में घायल शरीर से टपकते रुधिर से अपने सब पाप प्रक्षालित हो जाने के कारण लघु (हल्के) बने राजाओं का जो यहाँ (स्वर्ग

में) आगमन नहीं हो रहा है, संसार के तरुणों को संतोष का आनन्द देने वाले उस प्रसिद्ध वृत्तांत को सुनो।

टिप्पणी—भूलोक में युद्ध में वीरगति पाकर स्वर्ग में आनेवाले राजाओं की कोई न्यूनता नहीं है, वे रणभूमि में अपने बहे रक्त से अपने सब कल्मष धोकर आज भी स्वर्गाधिकारी हैं, किन्तु उनके न आने का कारण दूसरा ही है। उन्हें भूलोक में ही आनन्द और संतोष मिल रहा है। इस कथा को आगे नारद मुनि कहेंगे। इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है, क्योंकि क्षालितायसदार्थ की विशेषणगति द्वारा लघुत्वहेतुता का कथन हुआ है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति है॥ २५॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी।
भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममोघम्॥ २६॥

जीवातु—भेति। भुवो भूषणं किमप्यनर्घमूल्यं रत्नम्। असाधारणं स्त्रीरत्नमित्यर्थः। कुमारी कन्या, अनूढेत्यर्थः। सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र भुवि जयति। सर्वोत्कर्षेण जागर्ति, या अमोघं मदनशस्त्रम्॥ २६॥

अन्वयः—भुवः भूषणं किमपि अनर्घं रत्नं सा कुमारी दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र जयति, या अमोघं मदनशस्त्रम्।

हिन्दी—पृथ्वी का आभूषण, एक अनिर्वचनीय अमूल्यरत्न वह कुमारिका दमयन्ती नाम की भीमराजपुत्री (भूलोक में) संपूर्ण उत्कृष्टता के साथ विद्यमान है, जो कामदेव का अचूक शस्त्र है।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के नाम, कुल, सौंदर्य, सौभाग्य का वर्णन कर दिया गया है अर्थात् विश्व की अनुपम सुन्दरी दमयन्ती उच्चवंशजा और परम सौभाग्यशालिनी है, साथ ही उसका वय भी विवाहयोग्य है। जो उसे देख लेता है, उस पर मद चढ़ जाता है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार॥ २६॥

सम्प्रति प्रतिमुहूर्तमपूर्वा कापि यौवनजवेन भवन्ती।
आदिरस्ति मकरन्दसारभूते सा क्वापि यूनि भजते किल भावम्॥ २७॥

जीवातु—अथेन्द्रस्य मात्सर्योत्पादनाय तस्याः पुरुषान्तरासक्तिञ्च वक्ति—

सम्प्रतीति। सम्प्रतीदानीं, सा दमयन्ती, यौवनस्य जवेनोद्भववेगेन, प्रतिमुहूर्तं काप्यपूर्वा लावण्यमयावयवपोषविशेषेणान्येव भवन्ती। आशिख शिखापर्यन्तम्, अभिविधावव्ययीभावः। सुकृतसारभृते उत्कृष्टपुण्यभृते ईदृग्भाग्यसम्पन्न इत्यर्थः। क्वापि कस्मिन्नपि यूनि भावमनुरागं भजते। किलेत्यैतिह्ये ॥ २७ ॥

अन्वय—सम्प्रति सा यौवनजवेन प्रतिमुहूर्त्तं कापि अपूर्वा भवन्ती आशिख सुकृतसारभृते क्व अपि यूनि भावं भजते किल।

हिन्दी— सुना जाता है कि इस काल वह यौवन के वेग से प्रतिपल अनिर्वचनीय रूप से अपूर्व सौंदर्यशालिनी होती हुई नख से शिखा तक पुण्य की उत्कृष्टता से परिपूर्ण किसी तरुण में अनुराग रखती है।

टिप्पणी—क्षण-क्षण नूतन छवि धारण कर रमणीयता की सीमा बनती वह तरुणी भीमराजकुमारी एक समग्रसुन्दर तरुण (नल) की अनुरागिणी है—यह सूचित कर अहल्यादि-कथा से सुन्दरियों में आसक्ति रखने वाले के रूप में प्रसिद्ध इन्द्र के मात्सर्य को भी जगाने का कार्य देवर्षि ने कर दिया। वे कलहप्रिय जो कहे जाते हैं! 'किल' (श्रूयते—सुना जाता है) से कुछ अनिश्चयता का भी सङ्केत दे दिया। अर्थात् यह सुना ही जाता है, पूर्ण निश्चय नहीं है, सो इन्द्र भी भाग्य आजमा सकता है। नल नाम न लेकर कहा—'क्वापि'—किसी में। यह इन्द्र की उत्कंठा जगाने के लिए है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

कथ्यते न कतमः स इति त्वं मां विवक्षुरसि किं चलदोष्ठः ?।
अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छां निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥ २८ ॥

जीवातु—कथ्यत इति। किञ्च, चलदोष्ठस्त्वं स युवा कतम इति मां विवक्षुर्वक्तुमिच्छुरसि किम्। तर्हि अर्धवर्त्मयथोक्ते पृच्छां प्रश्नम्। भिदादित्वादङ्। न रुणत्सीति काकुः। एनां पृच्छां निर्गमेणोच्चारणेन न परिश्रमय मा खेदय। कुतः न कथ्यते। यतः पृष्टोऽपि न कथयामि, अतो न प्रष्टव्यमेवेत्यर्थः ॥२८॥

अन्वय — चलदोष्ठः त्वं सः कतमः इति मां विवक्षुः असि किम् ?। अर्धवर्त्मनि पृच्छां न रुणत्सि ? एनां निर्गमेण न परिश्रमय।

हिन्दी—तुम्हारे ओठ हिलने लगे, वह (भाग्यवान् तरुण) कौन है, क्या यह तुम मुझ से कहलाना चाहते हो ? क्या आधे मार्ग (बीच) में ही तुम

प्रश्न को नहीं रोक रहे हो ? (परतु) निर्गमन (मुख से बाहर निकाल कर, कहकर) से इस (पृच्छा) को श्रम न कराओ।

टिप्पणी—स्वाभाविक था कि इन्द्र के मनमें दमयन्ती के अनुराग के पात्र व्यक्ति का परिचय जानने की बात आती। नारद ने इन्द्र के ओठ हिलते देख यह समझा, किन्तु यह भी सूचित कर दिया कि इस पृच्छा का उत्तर वे न दे सकेंगे, अतः पूछना व्यर्थ है॥ २८॥

यत्पथावधिरणुः परमः सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात्।
बाल्या निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतमेनम्॥ २९॥

जीवातु—किं कपटादकथन, नेत्याह—यत्पथेति। परमो अणुर्यस्या योगिधियः पन्थाः, यत्पथस्तस्यावधिः सीमा, सा योगिधीरपि। बाल्या निजमन एव परमाणुः। 'अणुपरिमाणं मनः' इति सूत्रणात्। तस्मिन् ह्रीरेव दरी गुहा तच्छयहरीकृतं तद्गर्तसिंहीकृतम् एनं युवानं, यस्मान्न पश्यति तस्मान्न कथ्यत इति पूर्वेणान्वयः। योगिबुद्धेरपि परमाणुस्वरूपग्राहित्वमेव नान्तःप्रवेशे शक्तिरित्यज्ञानादकथनं, न कपटात्। सा तु मन्दाक्षमन्थरतया न कथयतीत्यर्थः॥ २९॥

अन्वय—परमः अणुः यत्पथावधिः सा योगिधीः अपि बाल्या निजमनःपरमाणौ ह्रीदरीशयहरीकृतम् एनं यस्मात् न पश्यति।

हिन्दी—परमाणु जिसके पथ की सीमा है, वह योगिबुद्धि भी बाला (दमयन्ती) द्वारा अपने मन रूप परमाणु में स्थित लज्जारूपिणी गुफा में सिंह (के समान बद) किये गये इस (नल) को जिस कारण नहीं देखपाती है, (इस कारण मैं भी नहीं कह सकता)।

टिप्पणी—नारद ने प्रश्न का उत्तर न दे सकने में कारण बताया कि दमयन्ती ने अपने अनुराग को और अपने अनुरागपात्र को लज्जा के कारण अपने मन में ऐसा छिपाया है कि परमाणु तक की बात जान लेने वाले योगियों की बुद्धि भी उसे नहीं जान सकती। दमयन्ती के मन में लज्जा है, जो उस गुफा के समान है, जिसमें नल का नाम सिंह के समान छिपा है। कौन जान सकता है उसे ? मन है अणुपरिमाण। योगियों परमाणु तक की बात तो जान

लेती है, उसके आगे की नहीं। परमाणुरूप मन में लज्जा है, मन तक की बात योगी जान सकते हैं, पर मन में बैठी लज्जा के भीतर क्या है, यह योगी नहीं जान सकते। उनके ज्ञान की सीमा तो परमाणु परिमाण मन तक ही है, आगे नहीं। दमयन्ती का प्रणयपात्र तो और भीतर छिपा है। अत नारद भी उसको कैसे जानें? उनकी योग-साधना से भी वह अगम्य है। नारी के हृदय को कौन समझ सका है? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक ॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्यं सूचिता विरहवाचिभिरङ्गैः ।
तातचित्तमपि धातुरधत्त स्वस्वयंवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

जीवातु—तर्हि कामुकीत्वमात्रं वा कथमस्याः प्रतीतमत आह–सेति। सा भैमी, विरहवाचिभिः विरहव्यञ्जकैरङ्गैः कार्श्यपाण्डिमादिपरिक्लिष्टैरिति भावः। कुसुमशरस्य कामबाणस्य शरव्यं लक्ष्यं, सूचिता। कुचचिह्नैर्वर्द्धमाने-ष्वेतावन्मात्रमवगतेत्यर्थः। तर्हि तत्पित्रा वा वरविशेषज्ञाने विवाहोपाय कथं चिन्तितस्तत्राह–तातचित्तमपि (कर्म), स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायमधत्त अकरोत्। सहकारीचकारेत्यर्थः। तत्पित्रापि धातृप्रेरणया स्वयंवर एवोपाय-श्चिन्तित इति भावः ॥ ३० ॥

अन्वय—सा विरहवाचिभिः अङ्गैः कुसुमस्य शरस्य शरव्यं सूचिता तात-चित्तम् अपि स्वस्वयंवरमहाय धातुः सहायम् अधत्त।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने (दुर्बलता, पाण्डुरता आदि से युक्त) वियोग-कहने वाले (प्रकट करने वाले) अंगों द्वारा फूल के बाण का लक्ष्य होना ज्ञापित कर अपने पिता के चित्त को भी अपने स्वयंवर महोत्सव के निमित्त विधाता का सहायक बना दिया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के जनक भीमराज भी बेटी के दुर्बल, पीले अंगों को देखकर यही जान पाये कि वह तारुण्यसुलभ व्याधि से पीड़ित है, कौन उसके अनुराग का पात्र है, यह नहीं। उन्होंने स्वयंवर की घोषणा कर दी और इस प्रकार विधि जो लीला रचना चाहते हैं, उसमें सहायक बन बैठे। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सहोक्ति अलंकार ॥ ३० ॥

मन्मथाय यदथादित राज्ञा दूतिदूत्यविषये विधिराज्ञाम् ।
तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति ॥ ३१ ॥

जीवातु—अस्तु राज्ञामनागमे किं कारणमुक्तं तत्राह—मन्मथायेति । अथ विधिर्विधाता, राज्ञां दूतिः स्वयंवराह्वान, तदेव दूत्यं दूतकर्म । 'दूतस्य भागकर्मणि' इति यत्प्रत्ययः । तस्य विषये करणाय मन्मथायाज्ञामादेशमदित दत्तवानिति यद् । तेनाज्ञादानेन तत्परवशा मन्मथपरतन्त्राः । शिवभागवतवत्समासः । पृथिवीशाः सङ्गरं गरमिवाकलयन्ति विषमिव मन्यन्ते । 'विषं स्याद्गरलं गरः' इति हलायुधः ॥ ३१ ॥

अन्वय —अथ विधिः राज्ञां दूतिदूत्यविषये मन्मथाय यद् आज्ञाम् अदित तेन तत्परवशाः पृथिवीशाः सङ्गरं गरम् इव आकलयन्ति ।

हिन्दी—तदनन्तर विधाता ने राजाओं को बुलाने के लिए दूतत्व करने को मन्मथ (काम) को जो आज्ञा दी, उससे उस (मन्मथ) की आज्ञा के पराधीन वे पृथिवी के स्वामी (राजगण) संग्राम को गरल के समान मानने लगे हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि भीमसुता के रूप-गुण पर विमुग्ध राजगण अब कामाधीन हैं, वे युद्ध को विष मान कर उससे दूर रहते हैं और दमयन्ती-स्वयंवर में सम्मिलित होने जा रहे हैं। यही कारण है कि भूतल के नृपगण युद्ध में वीरगति पा आजकल स्वर्ग में नहीं आ रहे हैं। 'गर' तो गरल है ही, जो पीता है मर जाता है, परन्तु 'सगर' तो 'सम्यक् गर' है, वह सब का नाश कर देता है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उपमा ॥३१॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूषणेषु यदि वापि गुणेषु ।
तत्र तत्र कलयापि विशेषो यः स हि क्षितिभृतां पुरुषार्थः ॥ ३२ ॥

जीवातु—येष्विति । किञ्च, दमयन्ती, भूषणेषु हारादिषु, यदि वा, गुणेषु दयादाक्षिण्यादिषु वा, येषु येषु सरसा साभिलाषा, तत्र तत्र तेषु तेषु भूषणेषु गुणेषु च कलया मात्रयापि यो विशेषः क्षितिभृतां स हि स एव । 'हि हेताववधारणे' इत्यमरः । पुरुषार्थः प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिद्भैमीमनोरञ्जनमेव पुरुषार्थो न तु क्षात्रधर्मः सङ्गर इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वय—दमयन्ती येषु येषु भूषणेषु यदि वा गुणेषु अपि सरसा तत्र तत्र कलया अपि य विशेष स हि क्षितिभृता पुरुषार्थं ।

हिन्दी—दमयन्ती की जिन-जिन आभूषणो में अथवा गुणों मे भी रुचि है, उन उन (भूषणों-गुणो) मे जो थोडी सी भी विशेषता है, वही भूमिपतियों का पुरुषार्थ रह गया है । ,

टिप्पणी—नारद ने इन्द्र को बताया कि अब उन भूमिपतियो का पौरुष युद्ध मे प्रकट नही होता, अब तो वे इसमे अपने पौरुष को चरितार्थ करते हैं कि जिन जिन हारादि आभूषणों मे दमयन्ती की रुचि है अथवा कौन से उदार तादि गुण दमयन्ती को आकृष्ट करते हैं, उनमें विशिष्टता लायी जाय। परस्पर होड लगी है दमयन्ती के रुचि के अनुकूल अपने को ढालने की राजाओं मे। धर्म-अर्थ-मोक्ष को छोड केवल तृतीय पुरुषार्थ—काम की सिद्धि मे ही वे व्यस्त हैं आजकल, कैसा युद्ध, कैसा क्षात्रधर्म ? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।
आदरादहरह कुसुमेषोरुल्ललास मृगयाभिनिवेश ॥ ३३ ॥

जीवातु—शैशवेति। कुसुमेषो कामस्य, यौवनोदयिनि यौवनप्रादुर्भाववति, राजसमाजे राजसमूहे विषये, तस्या भैम्या , शैशवव्ययदिन बाल्यापगमदिनम्, अवधि सीमा यस्मिस्तत्तथा, तद्दिनमारभ्येत्यर्थ । अहरह प्रत्यहम् । वीप्साया द्विर्भाव । अत्यन्तसयोगे द्वितीया। आदरात् मृगयायामभिनिवेश आग्रह । उल्ललास ववृधे। सर्वेषामपि यूना भैमीयौवनोद्भेदात् प्रभृति स्मरव्यसनमेव वर्तते, न समरव्यसनमित्यर्थ ॥ ३३ ॥

अन्वय—कुसुमेषोः यौवनोदयिनि राजसमाजे तस्या शैशवव्ययदिनावधि अहरह आदरात् मृगयाभिनिवेश उल्ललास ।

हिन्दी—कुसुमबाण (काम) का तरुणाई से पूर्ण राजाओं के विषय मे उस (दमयन्ती) के शैशव की समाप्ति के दिन से आरम्भ करके प्रतिदिन आदर के साथ आखेट का आग्रह उल्लसित हो गया है ।

अथवा

अन्वय—तस्या शैशवव्ययदिनावधि यौवनोदयिनि राजसमाजे कुसुमेषो मृगयाभिनिवेश अहरह आदरात् उल्ललास ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की शिशुतासमाप्ति के दिन से तरुणाई से परिपूर्ण राज-समूह में पुष्पबाण के आखेट में आग्रह दिन दिन अत्यन्त उछाह पाने लगा।

टिप्पणी—दमयन्ती का बचपन समाप्त होकर जिस दिन यौवन आया, उसी दिन से राजागण कामबाण के आखेट बनने लगे, उसी दिन से तरुण राजाओं में लौहशरों के स्थान में फूलों के बाणों से मृगया खेलने का उत्साह उल्लसित हो गया। अब उनका पौरुष दमयन्ती-प्राप्ति में ही हो गया। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितारः सादरास्त्वदतिथिर्भवितुं न।
भीमभूसुरभुवोरभिलापे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

जीवातु—इतीति। इतीत्थममी नृपा वसुमत्या कमितारः कामयितारः सन्त तृच्। वसुमतीं वा कमितारः। ताच्छील्ये तृन्। 'न लोक-'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पादुभयत्रापि णिङभावः। त्वदतिथिर्भवितुं सादराः साकाङ्क्षा न। तथा हि, नृपतीनां भीमभूः भैमी सुरभूः द्यौस्तयोरभिलापे तद्विषयानुरागे दूरमन्तरं महदन्तरमित्यर्थः, अहो, स्वर्गेऽप्यरुचिरित्याश्चर्यम्। एतेन सुराङ्गनातिशायिसौन्दर्यं दमयन्त्या इति व्यज्यते। भीमदेशसुरदेशयोः महान् विप्रकर्ष इत्यर्थान्तरप्रतीतिः। अनोत्तरवाक्यार्थेन स्वर्गाभिलाषा पूर्ववाक्यार्थातिथ्यानादरस्य समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३४ ॥

अन्वय—इति अमी वसुमतीकमितारः त्वदतिथिर्भवितुं सादराः न, अहो नृपतीनां भीमभूसुरभुवोः अभिलापे दूरम् अन्तरम्।

हिन्दी—इस प्रकार ये (दमयन्तीकामी राजगण) वसुमती (पृथ्वी पर रहने) की कामना करने लगे हैं, तुम्हारे अतिथि बनने के इच्छुक नहीं हैं। अरे, भीमपुत्री और देवभूमि (स्वर्ग) की आकांक्षा में (राजाओं में) बड़ा अंतर है।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयंती की कामना से राजा अब धरती पर ही रहना चाहते हैं, स्वर्ग नहीं आना चाहते। उनके लिए भीमसुता स्वर्ग की

अपेक्षा अधिक काम्य है। उनमें स्वर्ग के प्रति कोई रुचि नहीं रह गयी है। 'भीमभूसुरभुवो' का अर्थ यह भी है कि भीमभू (कुण्डिननगरी) और सुरभू (स्वर्गनगरी अमरावती) में बड़ी दूरी है, और राजा हैं धरती के वासी, वे निकट की नगरी कुंडिनपुरी में ही पहुँचना चाहते हैं, दूरस्थित अमरावती में नहीं। इसके अतिरिक्त भीमभू (भीमसुता दमयन्ती) और सुरभू (देवसुता देवांगना) में भी बड़ा अन्तर है, देवांगना की अपेक्षा धरती की बेटी दमयन्ती कहीं अधिक कमनीय है। सो सुरसुन्दरी से कहीं रमणीय निकट कुंडिनपुरी में प्राप्य दमयन्ती को छोड़ किसकी इच्छा होगी कि इतनी दूर स्वर्ग जाने के लिए वीर गति प्राप्त करे? यज्ञयागादि से प्राप्य स्वर्ग की अपेक्षा अब राजाओं में दमयन्ती की आकांक्षा प्रबल है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार है, क्योंकि उत्तर वाक्यार्थ से स्वर्ग में अरुचि प्रतिपादित होने के कारण पूर्ववाक्यार्थ में कथित आतिथ्य के अनादर का समर्थन होता है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ३४ ॥

तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागां सख्यसौख्यमनुकर्तुमनु त्वाम्।
यन्मृधं क्षितिभृता न विलोके तन्निमग्नमनसा भुवि लोके ॥ ३५ ॥

जीवातु—एवं राज्ञां स्वर्गानागमने हेतुमुक्त्वाथ स्वस्यागमने हेतुमाह—तेनेति। यद्यस्माद्भुवि लोके भूलोके तस्यां दमयन्त्यां, निमग्नमनसाम् आसक्तचेतसां क्षितिभृतां मृधं युद्धं न विलोके न पश्यामि। तेन युद्धालाभेन जाग्रदधृतिः समुज्जृम्भदसन्तोषः असन्तुष्टः सन्, सङ्ख्यसौख्यं युद्धसुखम्। 'मृधमास्कन्दनं सङ्ख्यम्' इत्यमरः। अनुकर्तुमनुभवितुं, त्वामनु त्वामुद्दिश्य, दिवं स्वर्गमागाम् ॥

अन्वय—यत् भुवि लोके *तन्निमग्नमनसा* क्षितिभृता मृधं न विलोके तेन जाग्रदधृतिः त्वाम् अनु सङ्ख्यसौख्यम् अनुकर्तुं दिवम् आगाम्।

हिन्दी—क्योंकि भूलोक में उस (दमयन्ती) में मन निमग्न किये हुए भूपतियों का युद्ध नहीं देख पाता, उससे अधीर होकर तुम्हारे निकट युद्ध के सुख का अनुभव करने के निमित्त स्वर्ग आया हूँ।

टिप्पणी—नारद ने इन्द्र से अपने स्वर्गागमन का कारण बताया 'सङ्ख्यसौख्य' का 'अनुसरण', इससे उनकी कलहप्रियता प्रतीत होती है। अब इन्द्र

को उचित है कि वह कोई ऐसा कार्य करे कि युद्धक्रीडा हो। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्त हन्त हन्तकरण विरुणद्धि।
पृच्छयसे तदपि येन विवेकप्रोञ्छनाय विपये रससेक ॥ ३६ ॥

जीवातु—वेदेति । हन्तृष्वकरणं समूलघातं हन्तारं भवन्तं कोपि न विरुणद्धि न विगृह्णाति । हन्तेति हर्षे । वेद यद्यपि एतावद्वेद्म्येव । 'विदो लटो वा' इति विदो णल्देशः । यद्यपीत्यवधारणे, तदपि तथापि पृच्छयसे । अतः पृच्छति न विद्वानन आह—येन कारणेन विषये भाग्ये रससेको रागानुबन्धो बलसेकश्च विवेकस्य विशेषज्ञानस्य चित्राद्यसाङ्कर्यस्य प्रोञ्छनाय प्रमार्जनाय, विषय-तृष्णानुमविवेकः पृच्छामीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अन्वय—हन्त, क जरि हन्तकरण भवन्त न विरुणद्धि—यद्यपि वेद तदपि पृच्छयसे, येन विषये रससेक विवेकप्रोञ्छनाय ।

हिन्दी—प्रसन्नता है कि प्रहारकर्ता के प्रति निश्चय तुम्हारा कोई विरोध नहीं करता है—यद्यपि यह मैं जानता हूँ, तथापि तुमसे पूछता हूँ (कि युद्ध होगा अथवा नहीं) क्योंकि अभीष्ट वस्तु अनुराग की अधिकता (वैसे ही) विवेक को समाप्त करने के लिए होती है (जैसे कि) 'रस' (जल) का 'सेक' (प्रक्षालन) चित्र आदि को धो देता है ।

टिप्पणी—ज्ञानी नारद का प्रश्न उनके अज्ञानी होने का संकेत देता है, अत वे अपनी उत्कटा को इसका कारण बताते हैं । अधिक अनुराग से अविवेक हो ही जाता है । इन्द्र शत्रुओं के साथ कठोर व्यवहार करता है, अतः उससे सब डरते हैं । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।
उत्तरोत्तरशुभो हि विभूना कोऽपि मञ्जुलतम क्रमवादः ॥ ३७ ॥

जीवातु—एवमिति । देवऋषीन्द्रे नारदे । 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभाव । एवमुक्तवति सति, मघोन आननमुद्रा मौन मघवाननमुद्रा । 'मघवा बहुलम्' इति विकल्पान्मतुवादेशाभाव । द्राक् झटित्यभेदि स्वयमेव भिद्यते स्म । 'कर्म-वत्कर्मणा तुल्यक्रिय' इति कर्तु कर्मवद्भावात् 'कर्मकर्तरि लुङ्' । तद्यादित्यर्थ

'यगात्मनेपदचिण्चिण्वद्भावा प्रयोजनम्' इति वचनात् । 'क्रियमाण तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरैः स्वगुणैर्यस्मात् कर्मकर्त्तेति त विदु ॥' इति ॥ तथाहि, विभुना प्रभुणा, कोऽपि मञ्जुलतमोऽतिहृद्य क्रमवाद प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्ति । उत्तरोत्तरशुभ उपर्युपरि शुभगो हि । अर्थान्तरन्यास ॥ ३७ ॥

अन्वय —देवऋषीन्द्रे एवम् उक्तवति मघवाननमुद्रा द्राक् अभेदि, हि विभुना मञ्जुलतम क. अपि क्रमवाद उत्तरोत्तरशुभ ।

हिन्दी—देवर्षिश्रेष्ठ (नारद) के ऐसा कहने पर इन्द्र के मुख की मुद्रा (मौन) झट छिन्न हो गयी, क्योंकि सामर्थ्यशील व्यक्तियो का रम्यतम लोकोत्तर क्रमिक वचन उत्तरोत्तर (अथवा उत्तर-प्रत्युत्तर) शुभ होता है ।

टिप्पणी—इन्द्र एक सभ्य व्यक्ति के समान नारद जी का कथन चुपचाप विना बीच मे बोले सुनता रहा, जैसे ही देवर्षिराज ने अपनी बात समाप्त की उसने तुरत उत्तर दिया । यही शिष्टाचार है, जो कल्याणप्रद और उचित होता है । अर्थान्तरन्यास ॥ ३७ ॥

कानुजे मम निजे दनुजारौ जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।
यद्भुजाङ्कमुपधाय जयाङ्कं शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ ३८ ॥

जीवातु—कानुज इति । निजे स्वीये अनुजे दनुजारौ उपेन्द्रे स्वशरणे स्वरक्षके स्वगृहे वा 'शरण गृहरक्षित्रो ' इत्यमर । जाग्रति जागरूके सति । मम रणचर्चा रणचिन्ता का ? न कापीत्यर्थ । जयोऽङ्कश्चिह्न यस्य त तद्भुजाङ्क, यस्यानुजस्य भुजोत्सङ्गमुपधायोपधानीकृत्य वीतविशङ्को निरातङ्क सन् शर्मणा सुखेन स्वपिमि शये । यथा रक्षिजने जाग्रति राजा शय्यागारे सुखेन भुजमुपधाय स्वपिति तद्वदिति भाव । इह निरातङ्कवृत्तिसुप्ति अस्वप्नत्वा दमराणाम् ॥ ३८ ॥

अन्वय —स्वशरणे निजे अनुजे दनुजारौ जाग्रति मम रणचर्चा का, जयाङ्क यद्भुजाङ्कम् उपधाय वीतविशङ्क शर्मणा स्वपिमि ।

हिन्दी—स्व शरण मे (अपने आवास में रहते अथवा अपने शरणदाता) अपने अनुज दनुजरिपु (उपेंद्र विष्णु) के जागरूक रहते हुए मेरे (लिए) युद्ध को

वया विचारणा, जिसके विजयी (अथवा जय-चिह्न से युक्त, अथवा जय के चिह्न) दक्षिण भुज का उपधान (तकिया) बना मैं सुख-पूर्वक सोता हूँ।

टिप्पणी—देवर्षि ने पूछा था कि युद्ध संभव है या नहीं ? इन्द्र ने उत्तर दिया कि जहाँ तक उसका सबंध है, रण की कोई संभावना ही नहीं है। सदा वयी उपेन्द्र विष्णु उसके रक्षक हैं, वे दनुज-दैत्यों के शत्रु और संहारक हैं। विष्णु के रक्षण में इन्द्र निश्चिंत हो सुख चैन से दिन-रात व्यतीत कर रहा है, वह युद्ध के विषय में विचारता ही नहीं। अतः स्वर्ग में तो नारद को 'सङ्ग्रसौख्य' मिलेगा नहीं। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ॥३८॥

विश्वरूपकलनामुपपन्नं तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये।
विग्रहं मखभुजामसहिष्णुर्व्यर्थतां मदशनिं स निनाय ॥ ३९ ॥

जीवातु–विश्वेति। तस्योपेन्द्रस्य विश्वरूपकल्नात् सर्वार्थसाक्षात्करणात्, यद्वा एकत्र मत्स्यकूर्माद्यनन्तरूपधारणादन्यत्र विश्वार्थरूपणात्, विश्वरूपाणि सूत्राणि तत्प्रणयनात् (हेतोः), जैमिनिमुनित्वमुदीये उत्पन्नम्। इण् गतौ कर्मणि लिट्। उपपन्नं तच्च युक्तमित्यर्थः। कुतः, स उपेन्द्रः, मखभुजां विग्रहं विरोधमन्यत्र शरीरम्, असहिष्णुर्मदशनिं मम वज्रायुधम्, नन्वत्र 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादिवाक्यजातं, व्यर्थतां स्वायुधेनैव तत्कार्यकरणान्निष्प्रयोजनत्वम्, अन्यत्र विग्रहवद्देवतानिरासेन अर्थवादत्वान्निरभिधेयत्वं च निनाय। अतो जैमिनिमुनित्वं युक्तमित्यर्थः। प्रकृताप्रकृतश्लेषः ॥३९॥

अन्वय—तस्य विश्वरूपकलनात् उपपन्नं जैमिनिमुनित्वम् उदीये, सः मखभुजां विग्रहम् असहिष्णुः मदशनिं व्यर्थतां निनाय।

हिन्दी—उस (विष्णु) के विश्वरूप स्वीकृत होने के कारण घटित जैमिनिमुनि-भाव उत्पन्न हो गया, उसने यज्ञ भोक्ता (देवों) के साथ युद्ध होना न सहकर मेरे वज्र को व्यर्थ कर दिया है।

टिप्पणी—भाव यह है कि विष्णु ने दनुज दैत्यों को इतना आतंकित कर दिया है कि उससे त्रस्त हुए वे कुछ भी उपद्रव नहीं करते और यज्ञभोगी देवगण सानन्द यज्ञभोग करते हैं, इन्द्र का वज्र युद्धाभाव करके विष्णु ने व्यर्थ बना दिया है।

'जैमिनिमुनित्वम्' से कई आशय निकलते है। (१) विष्णु को विश्वरूप कहा जाता है—'सर्वं विष्णुमयं जगत्'। जैमिनि भी विश्व मे ही हैं, अत वे भी विष्णुमय हैं। इस प्रकार जैमिनि भी विष्णु का रूप हैं—यह सिद्ध है। उन जैमिनि रूप विष्णु को यज्ञभोगी देवो का युद्ध मे लिप्त रहना भला प्रतीत नही हुआ, अत उन्होने चक्र से शत्रुओ का नाश कर दिया और इस प्रकार वज्र का कोई इतिकर्तव्य हो नही रह गया। (२) किसी समय जैमिनि ने भी सवज्र इन्द्रबाहु को स्तम्भित कर दिया था, इस प्रकार वज्र को व्यथ करके जैमिनि विष्णुरूप हुए—"जैमिनिश्च सुमन्तुश्च वैशम्पायन एव च। पुलस्ति पुलहो विष्णु पठेते वज्रवारणा ॥" (३) जैमिनि ने 'विश्वरूप' नामक सूत्रग्रन्थ रचा है, इस प्रकार 'विश्वरूपकलन' से जैमिनि मुनित्व उदय हुआ। (४) विष्णु 'मखभुजा विग्रह' (देवो का युद्धलग्न रहना) नही सहते, जैमिनि भी 'मखभुजा विग्रहमसहिष्णु' (देवों का शरीर अस्वीकारने वाले) हैं। जैमिनि ने देवताओ की सब कर्मों मे स्थिति शरीररूप मे नही मानी, क्योंकि एक समय मे शरीर अनेक स्थलो पर नही रह सकता, तब सविग्रह देव अनेक स्थलो पर आहूत होने पर कैसे सवत्र पहुँच सकते हैं? जैमिनि का कथन है कि देवता 'मन्त्रमय' हैं, मन्त्र ही उनका विग्रह है, इसीसे जहाँ मन्त्र है, वही देव हैं—'मन्त्रमयी देवतेति सर्वकर्मसु देवताना सत्त्वम्।' जैमिनि वज्र आयुध भी नही मानते, वज्र केवल अर्थवाद है। इस प्रकार घटमान जैमिनिमुनित्व उपपन्न है। मल्लिनाथ ने यहाँ प्रकृताप्रकृत श्लेष माना है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति है ॥ ३९ ॥

ईदृशानि मुनये विनयाब्धिस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य।
प्रांशुनिश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजा ॥ ४० ॥

जीवातु—ईदृशानीति। विनयाब्धि स इन्द्रो मुनये ईदृशानि युद्धनिराशानि वचनानि उपहृत्य समर्प्य, तस्थिवान् तूष्णी स्थित। अथ नारदस्य प्रांशुनिश्वसितस्य पृष्ठं चरतीति पृष्ठचरी पश्चाद्गामिनी दीर्घनिश्वासपूर्विकेत्यर्थ। निरोजा दीना वाक् निरियाय निर्जगाम ॥ ४० ॥

अन्वय—विनयाब्धि मुनये ईदृशानि वचनानि उपहृत्य तस्थिवान्, नारदस्य प्रांशुनिश्वसितपृष्ठचरी निरोजा वाक् निरियाय।

हिन्दी—विनय का समुद्र (इन्द्र) मुनि से ऐसे (उपर्युक्त) वचन कह कर चुप हो गया। (तब) नारद की दीर्घ निश्वास के पश्चात् सकम्पशील दीनवाणी निकली।

टिप्पणी—इन्द्र युद्ध की असम्भावना अत्यन्त विनय पूर्वक बताने पर नारद को अच्छा न लगा और वे लम्बी साँस लेकर दीन वाणी में बोले। अभीष्ट की पूर्ति न होने से नारद को कष्ट हुआ। विद्याधर के अनुसार रूपक और जाति अलङ्कार है ॥ ४० ॥

स्वरसातलभवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम्।
द्यां गतस्य हृदि मे दुरुदर्कः क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः ॥ ४१ ॥

जीवातु—स्वरिति। वसुमत्यां भूलोके वसन् स्वश्च रसातलं च स्वारसातले स्वर्गपाताले 'रो रि' इति रेफलोपे दीर्घः। तयोर्भवमाहवं शङ्कत इति तच्छङ्की सन्। न निर्वृणोमि न सन्तुष्यामि। द्यां स्वर्गं गतस्य मे हृदि क्ष्मातले भूपाताले। 'अध स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः। तयोर्द्वये भटानामाजिवितर्को युद्धशङ्का दुरुदर्को दुस्तरः। 'उदर्कः फलमुत्तरम्'इत्यमरः। एवं पातालगतस्य इतरलोकाजिवितर्क इति शेषः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—वसुमत्यां वसन् स्वारसातलभवाहवशङ्की न निर्वृणोमि, द्यां गतस्य मे हृदि क्ष्मातलद्वयभटाजिवितर्कः दुरुदर्कः।

हिन्दी—वसुमती (भू) पर निवास करता मैं स्वर्ग और, पाताल में सम्भव युद्ध की आशंका करता हुआ सुखी नहीं रह पाता, स्वर्ग में पहुँचे मेरे हृदय में भूतल और पाताल के योद्धाओं में युद्ध की सम्भावना निष्फल है।

टिप्पणी—इस श्लोक में वर्णनचातुर्य से नारद के सम्बन्ध में दो प्रकार की बातें कह दी गयीं—(१) उन्हें युद्ध प्रिय नहीं है, जब वे भूलोक में रहते हैं तो उन्हें स्वर्ग-पाताल में सम्भव युद्ध की आशंका से कष्ट होता है, और जब वे स्वर्ग में रहते हैं तो उन्हें डर रहता है कि कहीं पाताल और धरती के वासी परस्पर युद्ध न कर डालें। दोनों स्थितियों में नारद आशङ्कित और दुःखी रहते हैं। (२) उन्हें कष्ट है कि उन्हें युद्धक्रीडा का सुख नहीं मिल पाता। धरती पर रहे उन्हें लगता है कि स्वर्ग और पातालवासी युद्ध कर रहे होंगे,

वे उसे देख नही पा रहे, और स्वर्ग में रहते उन्हे लगता है कि कही धरती और पाताल के लोगों में युद्ध न हो रहा हो, और वे अनुपस्थित हो और उस युद्ध-सौख्य का अनुभव न कर पाये। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में काव्यलिंग अलकार है ॥ ४१ ॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तु तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।
किं भुव परिवृढा न विवोढु यत्र तामुपगता विवदन्ते ॥ ४२ ॥

जीवातु—वीक्षित इति । त्व वीक्षितोऽसि । एतदेवागमनफलमित्यर्थ । तत्तस्मात्फलान्तराभावात् अथानन्तर मा मनुष्यजगते गन्तु मर्त्यलोक गन्तुमित्यर्थ । 'गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि'' इति चतुर्थी। अनुमनुष्व अनुजानीहि। तत्र मर्त्यलोके, ता दमय ती, विवोढु परिणेतुम् उपगता भुव परिवृढा, प्रभवो भूपतय 'प्रभौ परिवृढ' इति निपात । न विवदन्ते न कलहायिष्यन्ते किम् ? अपि तु सर्व एव विवाद करिष्यन्तीति भाव । सामीप्ये। लट्। भावनादिसूत्रेण वदेरकर्मकत्वात् विमतावात्मनेपदम्। भैमी परिणेतुमागताना राज्ञा तत्सौन्दर्यमुग्धानामहमेवास्या अनुरूप इत्यादि विवादो भविष्यतीति भाव ॥ ४२ ॥

अन्वय—त्व वीक्षित असि, अथ तत् मनुष्यजगते गन्तु माम् अनुमनुष्व, तत्र ता विवोढुम् उपगता किं भुव परिवृढा न विवदन्ते ?

हिन्दी—तुम्हे देख लिया, अब फिर मनुष्यलोक मे जाने की मुझे अनुमति दो, वहाँ उस (दमयती) से विवाह करने को एकत्र कही धरती के राजा कलह तो नही कर रहे ?

टिप्पणी—इस श्लोक मे भी वैसी ही चातुरी है। (१) इन्द्र को देख लिया, सतोष हुआ कि यहाँ युद्ध की थोडी भी आशका नही है, पर देखें, कही दमयती के लिए भूतल पर तो राजा नही लड रहे है। उनका कलहनिवारण करने के लिए शीघ्र वहाँ पहुँचना है। (२) स्वर्ग में तो युद्धसभावना है नही, दमयती विवाह प्रसग मे विवाहार्थी राजाओं मे युद्ध की अच्छी सभावना है, उस युद्ध को देखने का अवसर न निकल जाय सो शीघ्र भूलोक पहुँचना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेकानुप्रास ॥ ४२ ॥

इत्युदीर्य स ययौ मुनिरुर्वीं स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन ।
वारितोऽप्यनुजगाम न यान्तं तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४३ ॥

जीवातु—इतीति । स मुनिरित्युदीर्य स्वर्पतिमिन्द्रम् 'अहरादीनां पत्या-दिषु' इति वैकल्पिको रेफादेश । प्रतिनिवर्त्य जवेनोर्वीं ययौ । स इन्द्रो वारितो निवर्तितोऽपि यान्तं गच्छन्तम् । इणो लट शत्रादेश । तं मुनिमपराण्यपि कियन्ति कतिचन पदानि । आसीनमित्यर्थ । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अनुजगाम ॥ ४३ ॥

अन्वयः—स. मुनि इति उदीर्य स्वर्पतिं प्रतिनिवर्त्य जवेन उर्वीं ययौ, वारित अपि स यान्तं तम् अपि अपराणि कियन्ति पदानि अनुजगाम ।

हिन्दी—वे मुनि (नारद) इतना कह कर स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) से लौटने को कहते हुए धरती की ओर चल दिये, रोके जाने पर भी वह (अथवा वारि-जलाशय-तक भी वह इन्द्र) जाते उन (मुनि) के पीछे भी कुछ पग चला ।

टिप्पणी—नारद जी शीघ्रतया भूमण्डल की ओर चले, शिष्टाचार वश उन्होंने अनुगामी इन्द्र को वापस जाने को कहा, पर इन्द्र कुछ दूर—जलाशय तक उनके पीछे-पीछे गया । 'वारितोऽप्यनुजगाम' के दो अर्थ हैं—वारित' निवारित' अपि अनुजगाम, वारित वारिपर्यन्तम् जलाशय यावत् अनुजगाम । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४३ ॥

पर्वतेन परिपीय गभीरं नारदीयमुदितं प्रतिनेदे ।
स्वन्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमदर्शि न पक्ष ॥ ४४ ॥

जीवातु—पर्वतेनेति । पर्वतेन मुनिना गिरिणा च गभीरं, नारदीय-मुदितं नारदवाक्यं, परिपीय प्रतिध्वने तदेवानुकृतमित्यर्थं । पर्वते । सन्निकृष्ट प्रतिनादो युक्त इति भाव । नदेर्लिट् । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्त्वाभ्यासलोपौ । स्वय तु न किञ्चिन्निवेदितवानित्याह—पर्वतपक्षच्छेदिनीन्द्रे स्वन्य कश्चिदपि पक्ष साध्य प्रयोजन यस्य च । पक्ष पार्श्वोऽन्साध्य-सहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । स्वय मार्गेण न दर्शित । उत्साहितमात्र-त्वेनाप्यन्य स्वस्य पृथक्शास्त्रानानात्तदुक्तमेवानुकृतम् । न तु पृथक्किञ्चिन्नि-

वेदितमित्यर्थः। पर्वतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनि ॥ ४४ ॥

अन्वयः—पर्वतेन गभीरं नारदीयम् उदितं परिपीय प्रतिनेदे, पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वस्य कश्चित् अपि पक्षः स्वयं न अदर्शि।

हिन्दी—(१) पर्वत (मुनि) ने गभीर नारद का कथन सादर सुनकर उसका अभिनंदन किया, पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले (इन्द्र) के प्रति अपना कोई भी मत स्वयं नहीं प्रकट किया।

(२) पर्वत (पहाड़) ने उच्च मेघ-गर्जन सुन प्रतिध्वनि की, पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले इन्द्र को कोई अपना पक्ष स्वयं नहीं दिखाया।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'पर्वत' (मुनि-पहाड़), 'नारद' (देवर्षि तथा 'नारम् उदकं ददाति इति नारदः' व्युत्पत्त्या मेघ) और 'पक्ष' (मत-पक्ष) अनेकार्थवाची शब्द हैं, जिनके आधार पर श्लेषचमत्कार आ गया है। जिस प्रकार मेघ गर्जन को पहाड़ प्रतिध्वनित कर देता है, पर्वतों के पक्षच्छेदक इन्द्र के गरजते वज्र के समक्ष अपना पक्ष स्वयं नहीं दिखाता, उसी प्रकार पर्वत मुनि ने अर्थगम्भीरता से पूर्ण नारद के कथन का अनुमोदनमात्र कर दिया, इन्द्र के प्रति स्वयं निजी मत प्रकट नहीं किया। मल्लिनाथ के अनुसार पर्वतपक्षच्छेदी इन्द्र के समक्ष पर्वत ने स्वपक्ष प्रकाशन नहीं किया—यह ध्वनि है। विद्याधर के अनुसार श्लेष है ॥ ४४ ॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीलकोमलकरग्रहणार्हम्।
भेषजं विरचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीशः ॥ ४५ ॥

जीवातु—इन्द्रस्तु भैम्यामनुरक्तोऽभूदित्याह—पाणय इति। अथ नारद-निर्गमनान्तरं, रतीशः कामो बलरिपोरिन्द्रस्य पाणये विरचिताशनिवासव्यापदाम्, अशनिवासेन वज्राग्निसम्पर्केण या व्यापदो विदाहा तासां भैमी-शीतकोमलकरस्य ग्रहं ग्रहणमेवार्हं योग्यं, भेषजमौषधमुपदिदेश। वीरामिमवेन शृङ्गारः प्रवृद्ध इति भावः। अत्र कामनिबन्धस्य भैमीपाणिग्रहणस्याशनिवा-वासतापशमनार्थत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकप्रयोगाद् गम्या ॥ ४५ ॥

अन्वय—अथ रतीशः बलरिपोः पाणये विरचिताशनिवासव्यापदां भैमी-शीतकोमलकरग्रहणार्हं भेषजम् उपदिदेश।

हिन्दी—नारद के चले जाने के पश्चात् रति के स्वामी (काम) ने बल के शत्रु (इन्द्र) के हाथ के लिए चिरकाल से वज्र के निवास (हाथ में रहने) के कारण उत्पन्न दाह के उपशमनार्थ भीमसुता के शीतल और कोमल हाथ का ग्रहण (पाणिग्रहण-विवाह)—यह उचित औषध की व्यवस्था दी।

टिप्पणी—वज्र हाथ में रहने से इन्द्र का हाथ दाह से पीड़ित रहता था, उसका उपशमन किसी ठंडी, मुलायम वस्तु से सम्भव था। सर्वथा उपयुक्त औषध दमयन्ती का शीतल-कोमल हाथ ही था। कामदेव रूप वैद्य ने उसी का निर्देश किया, अर्थात् दमयन्ती को पाणिग्रहण करके पाने का काम इन्द्र के मन में जागा। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ कामनिवर्तक भैमीपाणिग्रहण की वज्रसम्पर्कजन्यतापशमन के निमित्त उत्प्रेक्षा की गयी है। व्यञ्जक का प्रयोग न होने से यह गम्या उत्प्रेक्षा है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक है ॥ ४५ ॥

नाकलोकभिषजोः सुषमा या पुष्पचापमपि चुम्बति सैव ।
वीक्ष्य तादृगभिषज्यदसौ तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्यः ॥ ४६ ॥

जीवातु—ननु कामस्य कुतो वैद्यविद्येत्यत आह—नाकेति। नाकलोकभिषजोरश्विनोर्या सुषमा सौन्दर्यं सैव पुष्पचापं काममपि चुम्बति स्पृशति, तस्मादपि। तावेव सुषमानन्तावितीति भाव। असौ काम सा सुषमैव द्वारं तेन सङ्क्रमिता वैद्यक वैद्यस्य भैषज्यम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्'। तदेव विद्या यस्मिन् स। अतएव तादृक् स्ववैद्यसदृश मन् अभिषज्यत् चिकित्सितवान्। भिषज्यते' कण्ड्वादियगन्ताल्लङ्। वेदृशीत्युत्प्रेक्षायाम्। वाक्यार्थं कर्म ॥ ४६ ॥

अन्वय—नाकलोकभिषजो या सुषमा सा एव पुष्पचापम् अपि चुम्बति—वेधि, तद्द्वारसङ्क्रमितवैद्यकविद्य असौ तादृक् अभिषज्यत्।

हिन्दी—समझा जाता है कि स्वर्गलोक के वैद्ययुगल (अश्विनीकुमारों) का जो सौंदर्य है, वही पुष्पधन्वा (काम) का भी स्पर्श करता है, क्योंकि उसी सौंदर्य के द्वार से सङ्क्रमित वैद्यक विद्या के वेत्ता इस (काम) ने उन्हीं के समान चिकित्सा की।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में काम को औषध-व्यवस्थापक बताया गया,

किंतु काम तो चिकित्सक नहीं है। इस श्लोक में संभावना की गयी है कि काम भी तो स्वर्वैद्यों के समान ही शोभाशाली देव है। कदाचित् इसी समानता के आधार पर काम भी आयुर्वेद शास्त्र का वेत्ता हो गया हो, तभी तो उसने उन्हीं के सदृश चिकित्सा व्यवस्था की। अश्विनीकुमार भी ऐसी ही व्यवस्था देते। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी।
खण्डितं निजमसूचयदुच्चैर्मानमाननसरोरुहनत्या ॥ ४७ ॥

जीवातु—अथेन्द्राण्या ईर्ष्यानुभावमाह—मानुषीमिति। अथेन्द्रस्य भैमीरागानन्तरं मघोनः स्त्री मघोनी शची। 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीप्। 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' इति सम्प्रसारणे गुणः। पत्यौ खर्वभावं नीचत्वमवलम्ब्य मानुषीं मानुषस्त्री, 'जातेरस्त्री' इत्यादिना ङीप्। अनुसरत्यनुवर्तमाने सति आननसरोरुहनत्या शिरोनमनेन, उच्चैरुन्नतं निजं मानं सर्वोत्तरत्वाहंकारं खण्डितं भग्नमसूचयत्। आकारेणैव निजनिर्वेदमवेदयत्। न तु वाचा किञ्चिदूचे। गम्भीरनायिकात्वादिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय—अथ पत्यौ खर्वभावम्, अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति मघोनी आननसरोरुहनत्या उच्चैः निजं मानम् खण्डितम् असूचयत्।

हिन्दी—तदनन्तर पति (इन्द्र) के नीच भाव का अवलंबन कर मानुषी (दमयंती) का अनुसरण (आकांक्षा) करने पर इन्द्रपत्नी (शची) ने मुखकमल को झुकाकर अपने ऊँचे गर्व को खंडित प्रकट किया।

टिप्पणी—(१) 'मघोनी मानुषीम् अनुसरति पत्यौ खर्वभावम् अवलम्ब्य'—इस प्रकार अन्वय करके यह अर्थ भी किया गया है—'इन्द्राणी ने दमयंती का अनुसरण करते पति के प्रति निम्नभाव धारण कर प्रकट किया।' (२) 'आननसरोरुहनत्या खर्वभावम् अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति पत्यौ मघोनी उच्चैः असूचयत्'—ऐसा अन्वय करके यह अर्थ भी होता है—'मुखकमल झुकाकर नीच भाव अवलंबनकर मानुषी की इच्छा करते पति के प्रति इन्द्राणी ने अपने प्रकट किया।' आशय यह है कि स्वर्गराज इन्द्र का देवांगनाओं को छोड़ एक भूलोक की मानुषी के पीछे जाना ऊँचे स्वर्ग से

नीचे धरती पर आना ही नहीं है, मानसिक और व्यावहारिक नीचता का भी सूचक है, जिस पर इन्द्राणी ने अप्रसन्नता प्रकट की। जिस देवाङ्गना का पति उसके रहते मानुषी कामना करे, उसे अपना मान-सम्मान, पति स्नेह आदर खण्डित हुआ समझना स्वाभाविक ही है। अप्रसन्नता को द्योतन इन्द्राणी ने केवल मुख नीचा करके किया यह उसके गम्भीर नायिका भाव को सूचित करता है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में निर्वेदव्यभिचारिभाव का उदय और अपह्नुति अलङ्कार है ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मलिनिमाऽऽलम्भि तस्मिन्।
वर्ण एव स खलूज्ज्वलमन्या शान्तमन्तरमभावि भङ्ग्या ॥ ४८ ॥

जीवातु—अथान्यासामपि कासाञ्चिदप्सरसां सामीप्यानुभावानाह—य इत्यादि। मघोनीन्द्रे 'श्वयुवमघोनाम्' इत्यादिना सम्प्रसारणे गुणः। दिवमाकाशम्, उच्चरमाणे उत्क्रामति सति, 'उदश्चरः सकर्मकात्' इत्यात्मनेपदम्। रम्भया यो मलिनिमा मालिन्यम्, आलम्भि आलब्धम्, तस्मिन् अलानि। 'विभाषा चिण्णमुलोः' इति वा नुमागमः। स वर्णो मलिनिमैव, अस्या रम्भायाः, अन्तरमन्तरङ्गम्, उज्ज्वलं रोषादत्युज्ज्वलं प्रज्वलितं तत् भङ्ग्या कयाचिद्वीत्या मलिनत्वलक्षणया बाह्यनिवेदनार्थं। शान्तं शमितं निर्वापितमित्यर्थं। 'वा दान्त' इत्यादिना निपातः। अभावि खलु। निर्वाणालातमलिनमित्युत्प्रेक्षितमित्यर्थः। अन्तःकरणवैवर्ण्यमूलत्वाद्बाह्यवैवर्ण्यस्येति भावः ॥४८॥

अन्वयः—मघोनि दिवम् उच्चरमाणे रम्भया यः मलिनिमा आलम्भि तस्मिन् सः वर्णः एव अस्याः उज्ज्वलम् अन्तरम् भङ्ग्या शान्तम् अभावि खलु।

हिन्दी—इन्द्र के स्वर्ग को छोड़कर जाने पर रम्भा अप्सरा ने जो वैवर्ण्य मलिनता प्राप्त की, निश्चयतः उसके रंग ने ही उस (रम्भा) के उज्ज्वल हृदय को आकार-विशेष से दुःखित प्रकट किया।

टिप्पणी—इन्द्र के चले जाने पर रम्भा उदास हो गयी, उदासी की मलिनता ने उसके हृदय के दुःख को प्रकट कर दिया। उसके उज्ज्वल अर्थात् शृंगार रस से पूर्ण हृदय में शान्त रस का वैराग्यभाव उत्पन्न हो गया अथवा 'शान्तम् अन्तरम् भङ्ग्या उज्ज्वलम् अभावि'—शान्त हृदय भङ्गिमाविशेष से उज्ज्वल-दीप्त-क्रोधयुक्त प्रतीति देने लगा। भाव यह कि रम्भा उदास, मलीन

और क्रुद्ध हुई। खिन्नता का श्याम रंग उसके मुख पर छा गया। यह अर्थ भी किया जाता है कि रम्भा का वर्ण ऊपर ऊपर से ही उजला दीखता था, वस्तुतः वह अतस् से काली थी, जो इन्द्र के मानुषी का अनुसरण करने पर प्रकट हो गयी। जैसे दीपक भभक कर उज्ज्वल—दीप्त होता हुआ बुझकर श्याम हो जाता है, वैसे ही 'अस्या अन्तरम् उज्वल सन् शान्तम् अभावत'—रम्भा का हृदय भभककर शान्त हो गया अर्थात् बुझ गया और मलिनता का श्याम वर्ण प्रकट हो गया। विद्याधर के अनुसार भावोदय अनुप्रास-उत्प्रेक्षा की संसृष्टि ॥

जीवितेन कृतमप्सरसा तत्प्राणमुक्तिरिह युक्तमती नै ।
इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन ॥ ४९ ॥

जीवातु—जीवितेनेति। अप्सरसा नोऽस्माकं जीवितेन कृतं, कष्टत्वादिति भावः। तत्तस्मादिहास्मिन्समये प्राणमुक्तिः प्राणत्यागः, एव युक्तिमती युक्तेति घृताच्या नाम देव्या दीर्घनिःश्वसितस्य निर्गमनेन निष्क्रमणमुखेन, अनक्षरमशब्दप्रयोगं, यथा तथा अवाचि। वचेर्ब्रूञो वा कर्मणि लुङ्। उक्तमिवेत्यर्थः। अत एव व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्योत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

अन्वय—घृताच्या दीर्घनिःश्वसितनिर्गमनेन इति अनक्षरम् अवाचि—'नः अप्सरसां जीवितेन कृतं तत् इह प्राणमुक्तिः युक्तिमती।'

हिन्दी—घृताची ने लंबी साँस लेकर यह बिना बोले ही कह दिया (अथवा 'अनक्षर'—अवाच्य कहा)—'हम अप्सराओं के जीते रहने से क्या लाभ, सो अब प्राणों का त्याग ही युक्ति-युक्त है।'

टिप्पणी—स्वर्ग की अप्सरियों के रहते भी इन्द्र मानुषी के पीछे दौड़ता है, यह स्वर्गांगनाओं की घोर अवज्ञा है, अतः उनका प्राण त्याग ही उचित है—घृताची ने यह भाव प्रकट किया और, अपनी खिन्नता व्यक्त की। 'दीर्घनिःश्वासनिर्गमन' 'प्राणमुक्ति' का प्रतीक है, प्राण निःश्वासरूप तो होते ही हैं। मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास, अपह्नुति, श्लेष और अतिशयोक्ति ॥ ४९ ॥

साधु नः पतनमेवमितः स्यादित्यभण्यत तिलोत्तमयापि ।
चामरस्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोलनवलद्भुजनालात् ॥ ५० ॥

जीवातु—आप्वेति । तिलोत्तमापि देव्या तस्य चामरस्य विलोलनेन आन्दोलनेन वल्गु वल्गन्तौ भुजौ बाहू एव नालौ यस्य तस्मात्, 'वल्गैरा-लोलनेऽस्मनित माषवात्' उच्यते चामरे । चलितो विचलितान् आनकम् । करात् पाणिपद्मनालस्य पतनेन, अपवर्जनादिति भाव । एवमामरवदेव नीरस्माकमपि इत स्वर्गात् पतनमेव साधु स्यादित्यमन्यत । नतिनिवेदेति पूर्ववदुत्प्रेक्षा भुजनालात् कराब्जादिति सावयवरूपकेण समृष्टा ॥ ५० ॥

अन्वय —तिलोत्तमा अपि तद्विलोलनवल्गुभुजनालात् कराब्जात् चामरस्य पतनेन इति अमन्यत—'एवं न इतः पतनं साधु स्यात् ।'

हिन्दी—तिलोत्तमा ने भी चामर डुलाने से चञ्चल बाहु रूप मृणालदण्ड युक्त कर-कमल से चामर के गिर जाने द्वारा यह कहा—'इसी प्रकार हमारा यहाँ से पतन अच्छा होगा ।'

टिप्पणी—अवमानिता और खिन्ना अप्सरा तिलोत्तमा के हाथ से चमर गिर गया । इस प्रकार मानो उसने अपनी खिन्नता प्रकट की कि चमर के गिरजाने के समान अब हम अप्सराओं का भी स्वर्ग से पतित हो जाना ठीक होगा, जिनके रहते देवराज एक मानुषी के आकांक्षी हो गये । मल्लिनाथ के अनुसार भुजनालरूपक से समृष्ट उत्प्रेक्षा । विद्याधर के अनुसार प्रतीप-मानोत्प्रेक्षा रूपक-अपह्नुति की समृष्टि ॥ ५० ॥

मेनका मनसि तापमुदीतं यत्किमप्यनुरुरोध वहित्थात् ।
तत्स्फुटं निजहृदः पुटपाके पङ्क्तिभिर्निरगमद् बहिरस्याः ॥ ५१ ॥

जीवातु—मेनकेति । मेनका नाम काचिद् देवी मनस्युदीतमुत्पन्नं, तापमपि, किमपि किञ्चिदनिर्वाच्यं सती, अवहित्थाकारगुप्तिमकरोदिति यत्, तदाकारगोपनमेव, निजहृदः स्वमनसः, पुटपाके पुटपाके, बहिरवामुपिना, बाह्यानिर्दिष्टं । 'जातश्रोतस्तौ' इति कर्तरि क्तप्रत्ययः । पङ्क्तिभिरिति पङ्क्तिभिः, स्फुटमनुभवत् । पुटपाके बाह्यं पङ्क्तिरोऽन्तः पच्यमानद्रव्यस्येवाकारगोपनमेव व्याद् निरगात् गोप्यस्यान्तस्तापस्य व्यञ्जकमभूदित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अन्वय —मेनका मनसि उदीतं तापं किमपि यत् अवहित्थात् अकरोद् तत् निजहृदः पुटके बहिः इया पङ्क्तिभिः स्फुटम् अनुभवत् ।

हिन्दी – अप्सरा मेनका ने मन मे उत्पन्न ताप (दुख) को छिपाने की इच्छा से जो आकारगोपन किया, वह मानो अपने हृदय के मध्य मे हुए पाक–पुटपाक मे बाहर पक का स्पष्ट लेप कर दिया।

टिप्पणी—'पुटपाक' करते समय पात्र को बाहर से गीली मिट्टी लगा कर बद कर दिया जाता है, जिससे पाक-क्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है और पदार्थ बाहर नही आता। मेनका ने भी अपने प्रचुर दुख को मन ही मन छिपा रखा, किन्तु उसमे जो 'अवहित्था' अर्थात् आकार गोपन करना पड़ा, वह जैसे मन रूपी पात्र पर पकलिप्ति कर दी। मेनका का हृदय भीतर-ही भीतर ताप से पीडित होने लगा, उससे उसके मुख पर आकार गुप्ति के चिह्न स्पष्ट हो गये। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन।
शक्रसौहृदसमापनसीम्नि स्तम्भकार्यमपुपद्वपुषैव ॥ ५२ ॥

जीवातु—उर्वशीति। गुणै सौन्दर्यादिभिर्वशीकृतविश्वा रञ्जिताखिलप्रपञ्चा, उर्वशी नाम काचिद्देवी, तत्क्षणे तत्समये, य स्तिमितभाव स्तैमित्य निष्क्रियाङ्गत्वलक्षण स्तम्भो नाम सात्त्विकस्तस्य निभेन मिषेण। 'मिष निभश्च निर्दिष्टम्' इति हलायुध। वपुषैव सुहृदयशब्दाद्युवादित्वादण्प्रत्यये हृद्भावाद्भो-भयपदवृद्धि। अत एव 'सौहृददौहृदशब्दावपि हृद्भावौ' इति वामन। शक्रसौहृदस्य समापनसीम्नि समाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं जाड्यकृत्य, स्थूणा-कृत्यञ्च, अपुपद्। 'स्तम्भ स्थूणाजडत्वयो' इति विश्व। स्तम्भोत्थानावधिक मे शक्रसौहृदमिति निर्णयमकरोदित्यर्थ। 'पुषादि' इत्यादिना च्लेरङादेश ॥

अन्वय —गुणवशीकृतविश्वा उर्वशी तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन वपुषा एव शक्रसौहृदसमाप्तसीम्नि स्तम्भकार्यम् अपुपत्।

हिन्दी—सौंदर्यादि गुणो से अखिल विश्व को वश मे करनेवाली उर्वशी ने उस क्षण निश्चलता के व्याज से शरीर द्वारा ही इन्द्र के स्नेह की समाप्ति की सीमा पर खभे का कार्य ज्ञापित कर दिया।

टिप्पणी—किसी प्रदेश की सीमा पर समाप्ति-सूचक खभा गाड़ दिया जाता है। इन्द्र जब मानुषी के अनुसरण मे चल दिये, तभी उर्वशी का शरीर

अवदात और कृष्ण से वर्णान्वित हो गया। इस प्रकार उसने अपने स्वर्णोज्ज्वल देह से मानों यह प्रकट कर दिया कि अब इन्द्र के अनुराग की सीमा हो गयी—आगे इन्द्र का अनुराग समाप्त समझना चाहिए। कृष्ण क्रोध जनित खिन्नता का सूचक। जिस उर्वशी ने शिव की भीख देखी है, उसकी ऐसी घोर अवमानना! विद्याधर के अनुसार अपह्नुति और छेकानुप्रास ॥५२॥

कापि कामपि बभाण बुभुत्सुं शृण्वति त्रिदशभर्तरि किञ्चित्।
एष कश्यपसुतामभिगन्ता पश्य कश्यपसुतः शतमन्युः ॥५३॥

जीवातु—अथ काश्चित्त्रिदशरमणी वाक्यान्याह—कापीत्यादि। कापि देवी, बुभुत्सुं जिज्ञासुं कामपि देवीं विलासवतीं कामपि देवीं त्रिदशभर्तरि इन्द्रे शृण्वति सत्येव। उपहासार्थमेवेत्यर्थः। किञ्चिद्बभाण। किं तदाह—कश्यपसुतः शतमन्युः बहुमानी एव इन्द्रः, कश्यपसुतां काश्यपीं, क्षितिमित्यर्थः अभिगमिष्यति। गमेर्लृट्। पश्य। दिवं विहाय भुवं गच्छतीत्याश्चर्यं पश्येत्यर्थः। स्वयं कश्यपसुतस्तत्सुतां भगिनीमिव गच्छतीति चापल्यं व्यज्यते ॥ ५३ ॥

अन्वयः—का अपि बुभुत्सुं काम् अपि त्रिदशभर्तरि शृण्वति किञ्चिद् बभाण—'पश्य, एषः शतमन्युः कश्यपसुतः कश्यपसुताम् अभिगन्ता।'

हिन्दी—कोई देवांगना जिज्ञासु किसी देवांगना से स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के सुनते हुए कुछ ऐसा बोली—'देखो, यह शतयज्ञकर्ता कश्यपमुनि का पुत्र (इन्द्र) कश्यप की बेटी (धरती) पर अभिगमन करने जा रहा है।'

टिप्पणी—इस श्लोक में इन्द्र को निन्दनीय कार्य के लिए उद्यत संकेतित कर उसका उपहास किया गया है। इन्द्र स्वर्गराज है, उसने सौ यज्ञ किये हैं, त्रैलोक्य कश्यप महामुनि का वह बेटा है, और वह ऐसा जघन्य कृत्य कर रहा है कि कश्यप की बेटी अर्थात् अपनी बहिन का अभिगमन कर रहा है। अथवा इतना उच्च व्यक्ति होकर भी इन्द्र 'कश्य मद्य पिबतीति कश्यपः मद्यपः तस्य सुताम्' अर्थात् मद्यप की बेटी का अभिगमन कर रहा है। यह कार्य तो निम्नतर व्यक्ति के लिए भी निंदा का कारण है, इन्द्र तो शतयज्ञ और कश्यप सुत है। अथवा इन्द्र है ही निन्दनीय, वह 'शतमन्यु' अर्थात् सौ क्रोध करने वाला—अविवेकी है ही, कश्यप अर्थात् मद्यप का बेटा है, अतः ऐसा जघन्य

नृत्य कर रहा है। इसमें आश्चर्य ही क्या है? भाव यही है कि इन्द्र स्वभावत जघन्य है। मद्यप का बेटा मद्यप की बेटी का अभिगमन करे—इसमें वैचित्र्य नहीं है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और विरोधाभास हैं॥

आलिमात्मसुभगत्वसगर्वा कापि शृण्वति मघोनि बभाषे।
वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्थगुणेन॥ ५४॥

जीवातु—आलिमिति। आत्मन सुभगत्वेन सगर्वा सुभगमानिनीत्यर्थं। कापि, मघोनि शक्रे शृण्वति सत्येव, आलिं सखीं बभाषे। तदेवाह—नृणां मनुष्याणां वीक्षणेऽपि। किमुत सङ्गताविस्यर्थ। सघृणा सजुगुप्सासि। सा त्वमपि सार्थगुणेन शक्रधर्मेण, गतानुगतिकत्वरूपेणाविवेकित्वेनेति यावत्। न यासि किम्? विवेकेन चेन्न यास्येवेत्यर्थं॥ ५४॥

अन्वय—आत्मसुभगत्वसगर्वा का अपि मघोनि शृण्वति आलिं बभाषे—'त्वम् सार्थगुणेन अपि न यासि किं नृणां वीक्षणे अपि सघृणा असि?'

हिन्दी—अपने सौंदर्य पर अभिमान करने वाली किसी सुरसुन्दरी ने इन्द्र के सुनते हुए सखी से कहा—'तू सब साथ के अनुरोध से भी नहीं जा रही, क्या मनुष्यों को देखने से भी घृणा करती है?'

टिप्पणी—इस श्लोक मे भी प्रकारान्तर से इन्द्र को सुनाते हुए उसका उपहास किया गया है। सुरसुन्दरी अपनी सखी से कहती है कि जब इन्द्र धरती पर मानुषी की आकांक्षा से जा रहा है तो उसकी सखी भी गतानुगतिकतया अथवा 'सार्थगुणा' अर्थात् साथी इन्द्र के गुण—प्रेमरज्जु से बंध पृथ्वी पर क्यों नहीं चली जाती? लगता है कि सखी मनुष्य को देखने से भी घृणा करती है। जिस कार्य के करने में एक सामान्य देवी को भी लज्जा अथवा घृणा लगती है, अविवेकी इन्द्र उसे भी करने जा रहा है। कैसा अविवेकी और निंद्य है इन्द्र! इन्द्र से समझदार तो देवांगना ही है जो गतानुगतिकता मे विवेक नहीं त्यागती। विद्याधर के अनुसार वक्रोक्ति और अनुप्रास है॥ ५४॥

अन्वयुर्द्युतिपथं पितृनाथास्तं मुदाथ हरितां कमितारं।
वर्त्म कर्षतु पुरः परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घः॥ ५५॥

जीवातु—अन्वयुरिति। अथेन्द्रप्रयाणानन्तर, हरितां कमितारो दिशां

कामयितारो दिक्पतय, इन्द्रानुयानार्हा इत्यर्थः । व्याख्यातमेतत् । द्युतिभिः पिनूणा नाया दहिनवरुणयमा, तमिन्द्र, मुदा आनुव्रजन, अन्वयुरनुयाता । 'लङः शाकटायनस्यैव' इति जेर्जुसादेश । तथा हि, एक दरमेक एव पुर, वर्त्म कर्पतु मार्ग करोतु । तस्य मार्गकर्तुं गतमनुगतिर्यस्य स महार्घो महामूल्यः दुर्लभ इति यावत् । न भवति । पुरोग एव दुर्लभस्तत्पृष्ठानुधाविनस्तु सर्वत्र सुलभा एवेति न किञ्चिदत्र चित्रमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय—अथ हरिता कमितार द्युतिभिः पिनूनाया, त मुदा अन्वयु, एक पर पुर वर्त्म कर्पतु तद्गतानुगतिक महार्घ न ।

हिन्दी—इन्द्र के प्रयान के अनन्तर दिशाओं के कामुक अग्नि, वरुण और यम (दिक्पालो) ने भी उस (इन्द्र) का प्रसन्नतापूर्वक अनुगमन किया । केवल एक मार्ग-प्रवर्तन कर दे, उसके गमन का अनुगमन करने वाला दुर्लभ नहीं होता ।

टिप्पणी—जब स्वर्गराज कामुक और नीच तो अन्य दिशाओं के कामुक दिक्पाल क्यों पीछे रहते ? अग्नि, वरुण, यम ने भी इन्द्र की रीति अपनायी । गतानुगतिकता तो लोक में सामान्य है । एक कोई नया काम कर डाले, अनुकर्ताओं की कमी नहीं रहती । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥५५॥

प्रेषिता पृथगथो दमयन्त्य चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्य ।
तद्गुरु प्रति च तैरुपहारा सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः ॥ ५६ ॥

जीवातु—प्रेषिता इति । अथो अनन्तर, तैरिन्द्रादिभि, चित्तचौर्ये दमयन्त्यादिचित्तापहरणे, चतुरा निजदूत्यः दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिता । तद्गुरु तत्पितर भीमञ्च प्रति, सख्यसौख्यकपटेन मैत्रीसुखव्याजेन, निगूढः गुप्ता , उपहारा उपायनानि प्रेषिता ॥ ५६ ॥

अन्वय—अथ तै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्य दमयन्त्यै पृथक् प्रेषिता, तद्गुरु प्रति च सख्यसौख्यकपटेन निगूढा उपहारा ।

हिन्दी—तदनन्तर उन सब (इन्द्रादि) ने चित्त को चुराने में चतुर अपनी-अपनी दूतियाँ दमयती के पास पृथक्-पृथक् भेजीं और उसके पिता के पास मैत्रीसुख के व्याज से गुप्त उपहार भेजे ।

टिप्पणी—प्रत्येक दिक्पाल अपने उद्योग को दूसरे से छिपाना चाहता था, सो चुपचाप छिपा कर ही उन्होने मन वश करनेवाली दूतियाँ दमयन्ती के पास भेजी और मित्रता के बढ़ाने चुपचाप बहुमूल्य गुप्त रूप से उपहार भीमराज के निकट । 'सख्यसौख्यकपटेन' पाठ भी है, उस स्थिति मे अर्थ हुआ कि भीमराज के निकट उपहार इस व्याज से भेजे कि उसे सख्य अर्थात् युद्ध मे सौख्य अर्थात् विजय का सुख प्राप्त हुआ है, सो विजयी के प्रति आदर और उत्साह-वर्द्धन के निमित्त अमूल्य उपहार भेजे जा रहे हैं। वास्तविक इच्छा तो यही थी कि भीमराज अमूल्य उपहारो से चमत्कृत और प्रभावित हो भेंटदाता के साथ अपनी बेटी ब्याह दें। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अपह्नुति अलकार ॥ ५६ ॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्तैः स्वर्विहाय बत भूरनुसस्रे ।
द्यौर्न काचिदथवास्ति निरूढा सैव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥५७॥

जीवातु—चित्रमिति । विबुधैर्देवैः विद्वद्भिश्च, तैरिन्द्रादिभिः, स्व स्वर्गं, विहाय, बत हन्त, भूरनुसस्रे अनुसृतेति यत्। अत्र चित्र काकु, न चित्र-मित्यर्थ । कुत, अथवा द्यौ स्वर्गश्च, काचिदपि निरूढा प्रसिद्धा नास्ति। किन्तु यत्र चित्त चरति रमते सैव सा द्यौरिति ॥ ५७ ॥

अन्वय—तैः विबुधैः अपि स्व विहाय यत् भू अनुसस्रे, बत अत्र चित्रम्, अथवा द्यौ काचित् निरूढा न, हि यत्र चित्त चरति सा एव सा ।

हिन्दी—उन्होने विबुध (विद्वान्, देव) होकर भी स्वर्ग छोड़कर जो पृथ्वी पर अनुसरण किया, खेद है कि यह विचित्र है, अथवा (विचित्र नहीं है), स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान विशेष नही है, क्योंकि जहाँ चित्त रमता है, वही वह (स्वर्ग) है ।

टिप्पणी—कोई विद्वान् जब अनुचित कार्य करता है तो अचरज होता है। स्वर्ग तो अनेक पुण्यकार्य करने से प्राप्त होता है। इन्द्रत्व तो शतमखो को प्राप्त होता है, उसे छोड़कर विवेकी देव अविवेक का कार्य करने लगे, धरती पर जाने लगे सो आश्चर्य की बात है ही। प्रकारातर से यह विचारने पर यही लगता है कि स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान नहीं होता, यह तो मन की बात

है। जहाँ मन रमे, वहीं स्वर्ग है। देवों का मन धरती पर आनन्द पाने लगा, तो धरती ही स्वर्ग है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

शीघ्रलङ्घितपथैरथ वाहैर्लम्भिता भुवममी सुरसाराः ।
वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः शुश्रुवुर्ध्वनितमध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

जीवातु—शीघ्रेति । शीघ्रं लङ्घितपथैरतिक्रान्ताध्वभिः रथवाहैः रथाश्वैः भुवं लम्भिताः प्रापिताः, अमी सुरसाराः सुरश्रेष्ठाः, वक्रिताश्चलिताः, उन्नमिताश्च कन्धराः ग्रीवाः, यस्मिन् स बन्धः कायसंस्थानविशेषो येषां ते सन्तः, अध्वनि दूरं ध्वनितं शुश्रुवुः ॥ ५८ ॥

अन्वय—अथ शीघ्रलङ्घितपथैः वाहैः भुवं लम्भिताः अमी सुरसाराः वक्रितोन्नमितकन्धरबन्धाः अध्वनि दूरं ध्वनितं शुश्रुवुः ।

हिन्दी—तदनन्तर शीघ्रतया मार्ग पार करने वाले यानों (अथवा 'रथवाहैः' रथों और घोड़ों) द्वारा धरती पर लाये गये इन देव श्रेष्ठों ने ग्रीवा को टेढ़ी और ऊँची उठाकर मार्ग में दूर ध्वनि को सुना ।

टिप्पणी—अपने शीघ्रगामी वाहनों से इन्द्र, अग्नि, वरुण और यम धरती पर शीघ्र पहुँचे तो उन्हें दूर एक शब्द सुनायी दिया । विद्याधर के अनुसार, छेकानुप्रास ॥ ५८ ॥

किं घनस्य जलधेरथवैवं नैव संशयितुमप्यलभन्त ।
स्यन्दनं परमदूरमपश्यन्निःस्वनश्रुतिसहोपनतं ते ॥ ५९ ॥

जीवातु—किमिति । ते देवाः, किं घनस्य ध्वनितम्, मेघस्तनितम्, अथवा जलधेः ध्वनितम्, एवं संशयितुमपि नालभन्तैव । एतावानवकाशोऽपि नास्तीत्यर्थः । 'घनस्य' इत्यादिना तत्सूचनम् । किन्तु, निःस्वनस्य पूर्वोक्तध्वनितस्य, श्रुत्या श्रवणेन, सहोपनतं प्राप्तम्, अदूरस्थमन्तिकस्थं स्यन्दनं परं रथमेवापश्यन्निति । रथवेगोक्तिः । अत्र सन्देहसहोक्त्योः संसृष्टिः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ते किं घनस्य अथवा जलधेः एव संशयितुम् अपि न एव अलभन्त, परं निःस्वनश्रुतिसहोपनतम् अदूरं स्यन्दनम् अपश्यन् ।

हिन्दी—वे देव मेघगर्जन है अथवा सागर की गर्जना—इस प्रकार का संदेह करने का भी अवसर न पा सके कि उस ध्वनित के सुनने के साथ ही पास निकट ही एक रथ को देखा ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक मे वर्णित ध्वनित गर्जन ऐसा प्रबल था कि लगता था बादल गरज रहा है अथवा समुद्र का कोलाहल है। देव इस पर विचार भी न पाये थे कि उस ध्वनित का स्रोत एक रथ निकट ही आया दीखा। रथ को ध्वनि-गभीरता का सकेत। मल्लिनाथ के अनुसार सदेहसहोक्ति की ससृष्टि, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभाव भावबोधचतुर तुरगाणाम्।
तत्र नेत्रजनुष फलमेते नैषध बुबुधिरे विबुधेन्द्रा ॥ ६० ॥

जीवातु—सूतेति। एते विबुधेन्द्रास्तत्र रथे सूतस्य सारथे, विश्रमदो विश्रान्तिप्रद, कौतुकिभावो विनोदित्व यस्य त, विनोदार्थं स्वय प्रतिपन्नसारथ्यमित्यर्थ। अत्र हेतु तुरगाणा भावबोधचतुरम् अश्वहृदयवेदिन, नेत्रजनुषो नेत्रदत्ताया फल, लोचनासेचनकमित्यर्थ। नैषध निषधाना राजान नलम्। जनपदशब्दात् क्षत्रियादण्। बुबुधिरे ज्ञातवन्त ॥ ६० ॥

अन्वय—एते विबुधेन्द्रा तत्र सूतविश्रमदकौतुकिभाव तुरगाणा भावबोधचतुर नेत्रजनुष फल नैषध बुबुधिरे।

हिन्दी—इन देवराजो ने उस (रथ) मे रथचालक (सारथि) के *विश्रांति दायक विनोदभाव सपन्न और अश्वो के हृदय का आशय समझने मे* चतुर नयनो के जन्म लेने के सुफल (सुन्दर) निषधराज (नल) को जाना (देखा)।

टिप्पणी—गभीरध्वनि रथ मे देवो ने देखा कि निषधराजनल बैठे हैं। नल सारथि को विश्राम देकर स्वय कुशलतापूर्वक रथ-सचालन कर रहे थे। नल शालिहोत्र विद्या के पूर्ण ज्ञाता थे और वे इतने मनोहर थे कि देवो को भी यह प्रतीति हुई कि नल को देखकर उनके नेत्रो का अस्तित्व सार्थक हुआ। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलकार है ॥ ६० ॥

वीक्ष्य तस्य वरुणस्तरुणत्व यद्बभार निबिड जडभूयम्।
नौचिती जडपते किमु सास्य प्राज्यविस्मयरसास्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

जीवातु—वीक्ष्येति। वरुणस्तस्य नलस्य, तरुणत्व तारुण्य, तारुण्यभूषितरूप-

मित्यर्थः। वीक्ष्य यन्निविडं जडभूय जडत्वं स्तम्भाद नाद्भिदन्नित्यर्थः। 'भुवो भावे' इति क्यप्। बभार। प्राज्येन प्रभूतेन, विस्मयरसेनाद्भुतरसेन, जलेन च। स्तिमितस्य निश्चलस्य, जलपतेः स्तब्धपतेश्चेति डल्योरभेदात् सा जडभूय, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता। औचिती उचितकर्म, न किम्? भवत्येवेत्यर्थः। विस्मयरसाविष्टस्य स्तम्भतत्वादिति भावः। जलसिक्तस्य स्वयं जडभावस्य जाड्यमनुचितमिति व्यज्यते॥ ६१॥

अन्वयः—वरुणः तस्य तरुणत्वं वीक्ष्य यत् निविडं जडभूय बभार प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य अस्य जडपतेः सा किमु औचिती न?

हिन्दी—वरुण ने उस (नल) की तरुणता देखकर जो प्रचुर जडता धारण करली, प्रभूत अद्भुत रस से स्तब्ध इस जल के जड स्वामी का वह (जडभाव) उचित कार्य नहीं था क्या? (उचित ही था)।

टिप्पणी—नेत्रजन्म के फल अर्थात् सौन्दर्यातिरेक से दर्शनीय निषधराज को देखकर देवों पर जो प्रभाव पड़ा, जिस प्रकार वे चमत्कृत हुये, यह एक-एक श्लोक में क्रमशः निर्दिष्ट है। इस श्लोक में वरुण का आश्चर्यान्वित हो जड़ीभूत रह जाना कहा गया है। कवि के अनुसार वह तो जडपति ही है, जड़ीभूत रह जाने वाले प्राणियों का स्वामी, अतः उसका चकित रह जाना स्वाभाविक ही था, कोई नयी बात नहीं थी। वरुण जल का स्वामी है—जलपति। 'ड' और 'ल' में अभेद माना जाता है, इसी 'डल्योरभेद' के आधार पर यहाँ 'जलपति' वरुण में 'जडपति'-भाव का आरोप कर लिया गया है। वरुण जलों का ही नहीं, 'जडों' का भी स्वामी है। सो जड हो जाना तो उसकी प्रकृति है। भाव यही है कि वरुण नल से अभिभूत हो स्तब्ध रह गया। स्तब्धता विस्मय से उत्पन्न होती ही है, और जलसिक्त भी जड हो ही जाया करता है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और श्लेष अलंकार॥ ६१॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथानिम्लानिमार रविवशादवशः।
कौ यमे मदघुनापि स देवः काल एव सकलेन जनेन॥ ६२॥

जीवातु—रूपमिति। रविवशादवनतो यम, अस्य नलस्य, रूप सौन्दर्यं, विनिरूप्य विभाव्य। तथा तेन प्रकारेण, अनिम्लानिमतिवैदग्ध्यम्, अतिकालि-

मानमित्यर्थः । अपि । यद्यथा, अधुनापि स देवो यम, सकलेन जनेन, काल एव काल इत्येव, कीर्त्यते । तथा म्लानिमापेति पूर्वेणान्वय । तलेप्यनुमान- कालिमयोगादय कालो न तु प्राण्यायु कलनादिति भाव । अत्र यच्छब्दस्य कारणपरत्वेन व्याख्याने त्वनपेक्षितार्थाभिधानमनन्वयश्च स्यात् । प्रकारार्थत्वे तु न कश्चिद्विरोध । प्रकारार्थत्वञ्च निपातानामनेकार्थत्वादविरुद्धमित्यर्थ ॥

अन्वय —रविवशवतम अस्य रूप विनिरूप्य तथा अतिम्लानिम् आप यद् स देव अधुना अपि सकलेन जनेन काल एव कीर्त्यते ।

हिन्दी—सूर्यवश का भूषण (सूर्यसुत यम) इस (नल) का रूप सौन्दर्य सादर देखकर उस प्रकार अतीव म्लानि—कालिमा को प्राप्त हो गया कि वह देव आज भी समस्त जनो द्वारा 'काल' (काला, अतक) ही कहा जाता है।

टिप्पणी—यहाँ सूर्यपुत्र, मृत्यु के स्वामी यम पर पडे प्रभाव का वर्णन है। मृत्यु का स्वामी होने से यम को 'काल' कहा जाता है। काल का अर्थ कृष्णवर्ण—काला भी है। इस पर उद्भावना की गयी है कि यम को 'काल' सज्ञा इस कारण मिली है कि वह नल के रूपसौंदर्य को देख इतना ग्लानि- युक्त और निराश हुआ कि काला पड गया और सदा के लिए लोक-जीवन मे 'काल' कहा जाने लगा । उज्ज्वल रविवशका अवतस होने पर भी सचित यम काला पड गया, कितना अजरज है! विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति ॥ ६२ ॥

यद् बभार दहन खलु ताप रूपधेयभरमस्य विमृश्य ।
तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्यनलतैव तु हेतु ॥ ६३ ॥

जीवातु—यदिति । दहनोऽग्निरस्य नलस्य, रूपमेव रूपधेय सौन्दर्यम् । 'नामरूपभागेभ्य स्वार्थे धेयो वक्तव्य' इति स्वार्थे धेयप्रत्यय । तस्य भर समृद्धि, विमृश्य विचार्य ताप बभार खल्विति यत् । तत्र तापभरणे, अनलता अग्नित्व जनिकर्त्री जन्मकरी, उत्पादिका मा भूत् । नलरूपदर्शनजन्यतापे तस्या अप्रयोजकत्वादिति भाव । किन्तु तदपि तथापि चित्रमनलतैवाग्नित्वमेव हेतुरिति विरोध । नत्र नाभावहेतुरिति परिहार । अतएव विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ६३ ॥

अन्वयः—दहन अस्य रूपवैभवम् विमृश्य यत् तापम् बभार खलु तत्र अनलता अनिर्गता न भूत् तु तदपि अनलता एव हेतुः ।

हिन्दी—अग्नि ने इस (नल) के सौन्दर्य-बाहुल्य का विचार करके जो 'ताप' (दुःखादि) का धारण किया, उसमें अग्नि होना उत्पत्ति का कारण नहीं है, अपितु (अग्नि का) 'नल'-न-होना ही कारण है।

टिप्पणी—अग्नि ने निषधराज को देखा और उसके सौन्दर्यातिशय से अभिभूत हो विचार किया कि यदि अग्नि नल होता तो दमयन्ती उसकी ही हो जाती, पर यह तो अनल है—नलातिरिक्त। अग्नि को दहन अर्थात् अपनी 'अनलता' (नलभिन्नता) के कारण ही यह कष्ट-क्लेश हुआ, यह 'ताप' इस कारण नहीं कि यह दाहशील अग्नि है। 'अनलता' शब्द के आधार पर इस श्लोक में मल्लिनाथ और विद्याधर ने विरोधाभास अलङ्कार का निर्देश किया है। अग्नि के दाहकत्व का कारण 'अनलता' (अग्निभाव) कारण नहीं है, यह विरोध हुआ, 'अनलता' का अर्थ 'नल भिन्नता' अर्थ करके परिहार हो गया ॥ ६३ ॥

कामनीयकमनङ्गकृताम काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।
कौशिकः स्वमनादृत्य परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥ ६४ ॥

जीवातु—कामनीयकमिति । कौशिक इन्द्रः, अनङ्गकृतकाम तिरस्कृतमदनम्, तदीयं नलीयं, कामनीयकं कमनीयत्वं सौन्दर्यम् । 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' । काम प्रकाममक्षिभि । सहस्रेणेति भाव । अवेक्ष्य, अथ स्वमात्मानमक्षिलं यथा तथा अवज्ञयेत्यर्थः । परिपश्यन् कौशिकमुलूकमेव । 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्याल-ग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । मन्यते स्म खलु । नलस्यात्मनश्चैतावदन्तरमिति मत्वेत्यर्थः । तथा चास्य नैतौनिराश मनो बभूवेति भाव ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कौशिकः अनङ्गकृतकाम तदीयं कामनीयकम् अक्षिभिः कामम् अवेक्ष्य स्वम् अनादृत्य परिपश्यन् खलु कौशिकम् एव मन्यते स्म ।

हिन्दी—कौशिक (इन्द्र) ने कामदेव को अपमानित करनेवाले उस (नल) के 'कामनीयक' (कमनीय के भाव—सौंदर्य) को अपने (सहस्र) नेत्रों से भलीभाँति निहार कर अपने को घृणा से देखते हुए तिरस्कृत (अपने को) कौशिक (उल्लू) ही माना ।

टिप्पणी—कौशिक को कौशिक तो होना ही चाहिए, वह कौशिकातिरिक्त हो ही कैसे सकता है? पर नल के कामावमानी सौंदर्य का जब उसने अपने सहस्र नेत्रों से निहारा तो वह अपने को अत्यन्त हीन समझने लगा—एक अंधेरे में रहनेवाले, निकृष्ट, कुरूप पक्षी उल्लू के समान। भाव यह है कि नल को देखकर इन्द्र दमयन्ती-प्राप्ति के विषय में पूर्णत निराश हो गया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा लकार ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाढ्यवाद मूर्तमुत्थितमम् परिभाव्य।
विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुरा प्रबभूवु. ॥ ६५ ॥

जीवातु—रामणीयकेति। सुरा इन्द्रादय, अमु नल, मूल मूर्तिमन्तम्, उत्थितमुत्पन्न रामणीयक सौन्दर्य, कामनीयकवरिसद्ध तदेव गुणस्तस्याढ्य मेकमेवेति वाद प्रवाद, परिभाव्य त्रिजगदेकसुन्दर मत्वेत्यर्थं। हृदयानि चित्तानि, विस्मयायाद्भुतरसाय, वितेरुदु। तेन दानेन, तेषु हृदयेषु विषये न प्रबभूवु तेषा नेशिरे। दत्तद्रव्ये स्वत्वनिवृत्तेरिति भाव। विस्मयाकृष्टचित्ता बभूवुरिति परमाथ ॥ ६५ ॥

अन्वय—सुरा अमु मूर्तम् उत्थित रामणीयकगुणाढ्यवाद परिभाव्य हृदयानि विस्मयाय वितेरु तेन तेषु न प्रबभूवु।

हिन्दी—(इन्द्रादि) देवों ने इस (नल) को मूर्तिमान् उदित सौंदय गुण का अद्वैतवाद (अद्वितीय सौदर्यशाली) विचार कर (अपने) हृदयों को आश्चर्य को दे दिया, उसी से उन (देवों) का उन (हृदयों) पर अधिकार न रह गया।

टिप्पणी—जो वस्तु अन्य को दे दी जाती है, उस पर दाता का अधिकार नहीं रह जाता, प्राप्तिकर्ता का हो जाता है। नल को जब इन्द्रादि ने देखा तो चकपका कर अपने चित्तों को विस्मय को दे डाला, फल स्वरूप उनके चित्त अब उनके अधीन न रह गये। देवों को लगा कि नल जैसा सुन्दर और कोई नहीं है विश्व में—रमणीयता अद्वैत भाव से निषधराज में आ बसी है। विस्मय में पड़े देव उस समय किंकर्तव्य विमूढ हो गये, परवश चित्तों में विचारक्षमता रह ही नहीं गयी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और समास ॥ ६५ ॥

प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः संवदद्भिरमराः श्रुतपूर्वम् ।
एष एव स नलः किमितीदं मन्दमन्दमितरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

जीवातुः—प्रैयरूपकमिति । अमराः इन्द्रादयः श्रुतपूर्वं पूर्वं श्रुतं, 'सुप्सुपा' इति समासः । संवदद्भिः संवदमानैः सङ्गच्छद्भिः, प्रियरूपस्य भावः प्रैयरूपकं सौन्दर्यम् । मनोज्ञादित्वाद् वुञ् । तस्य विशेषेषु तत्तदवयवेषु । 'विशेषोऽवयवे व्यक्तौ' इत्युभयत्राप्यमरः । निवेशैः स्थानैर्लिङ्गैः स श्रुतपूर्वो नल एष एव किमिति हस्तनिर्देशः । इतीदं वाक्यं मन्दमन्दं मन्दप्रकारं, 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति द्विर्भावः । इतरेतरमूचुः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अमराः श्रुतपूर्वं संवदद्भिः प्रैयरूपकविशेषनिवेशैः स नलः एष एव किम्—इति इदम् इतरेतरं मन्दमन्दम् ऊचुः ।

हिन्दी—देवगण पहिले सुने, (अब) प्रत्यक्ष देखने हुए प्रियरूप के भाव (सौंदर्य) की उज्ज्वलता के विन्यासों के कारण 'वह नल यही है क्या'—इस प्रकार के वाक्य परस्पर धीरे-धीरे बोले ।

टिप्पणी—नल लोक विश्रुत था, उसके रूपातिशय के कारण त्रिलोकी की सुन्दरियों में 'मन्मथविभ्रम' हो जाता था (नैषधीय० १।२६) विश्व की रमणीय कामिनी उसकी कामना करती थी (१।२९-३०)। देवों ने भी पहिले नल के सौंदर्य विशेष की चर्चा सुनी थी। अब, जब नल प्रत्यक्ष हुआ, तो वे पूर्वश्रुत के आधार पर मीमांसा करने लगे कि यही वह नल है, जिसके विषय में इतना कुछ सुना था। जैसा सुना था, वैसा ही देखा-पाया। विद्याधर के अनुसार भ्रान्ति अलंकार ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विधवधूवरणार्हं भूषणं स समयः स च याञ्चा ।
तस्य कुण्डिनपुरं प्रतिसर्तुं सूचनैर्व्यवसितानि शशंसुः ॥ ६७ ॥

जीवातुः—तेष्विति । तस्य भूषणैर्नलस्य, ता प्रसिद्धा विधा प्रकारः सौन्दर्यासाधारणधर्मो यस्यास्तस्या वध्वा वरणे अर्हम् उचितं भूषणं, स समयः स्वयंवरकालः, कुण्डिनपुरं प्रतिसर्तुं, तदभिमुखं च याञ्चा च व्यवसितानि नलोद्योगान् तेषु तानधिकृत्य शशंसुः तेभ्यः [illegible]रित्यर्थः । आधारत्वविवक्षायां सप्तमी । एतैर्लिङ्गैरेतस्य स्वयंवरयात्रेयमिति निश्चिक्युरित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वय.—तस्य तद्विधवधूवरणार्हं भूषणम्, स समयः, कुण्डिनपुरं प्रतिसपन् स रथाध्वा भूपतेः व्यवसितानि तेषु शशासु ।

हिन्दी—उन (नल) का उस (दमयन्ती) जैसी वधू के वरण योग्य अलंकृत सौंदर्य, वह समय (स्वयंवर-काल) और कुंडिनपुर की ओर जाता उसके रथ का मार्ग—इन सबने भूपति (राजा नल) के उद्योगों को देवताओं के सम्मुख स्पष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—अद्वितीय राजा नल का मंडित वेष, स्वयंवर की घोषणा और कुंडिन नगरी की ओर यात्रा करता नल का रथ—इन सबको देखकर चारों देव स्पष्टतः समझ गये कि नल दमयन्ती को पाने के लिए स्वयंवर-समारोह में सम्मिलित होने आ रहा है। ये सभी चिह्न नल की स्वयंवर-यात्रा को स्पष्ट कर रहे थे, फलस्वरूप देवों ने तथ्य अवगत कर लिया। विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ६७ ॥

धर्मराजसलिलेशहुताशैः प्राणता श्रितममुं जगतस्तैः ।
प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैश्चेतसा निभृतमेनदचिन्ति ॥ ६८ ॥

जीवातु—धर्मेति । जगतः प्राणता प्राणस्य जगज्जीवनस्य, तत्प्रियता वा । श्रितममुं नलं, प्राप्यासाद्य, हृष्टा जगत्प्राणभूतपुरुषदर्शनात्संतुष्टाः, चलास्तल्लावण्यदर्शनाक्षुभ्या श्लथानुरागाः, विस्तृततापा रागशैथिल्यादेव विस्तृतविरहतापाश्च तैस्तयोक्तैस्तैः प्रकृतैर्धर्मराजसलिलेशहुताशैः चेतसा, निभृतं निगूढम् । एतदनन्तरश्लोकत्रये वक्ष्यमाणाचिन्ति चिन्तितम् । अत्र 'यमो हृष्टो वरुणश्चलो वह्निर्विस्तृततापः' क्रमात्प्रतिपादनपरश्चोत्तरश्लोकत्रयमिति कैश्चिद्' व्याख्यातम् । तदयुक्तम् । न ह्येतेषामेते धर्माः प्रतिनियताः । किंतु, त्रयाणामेकाभिप्रायेणाप्यते धर्मास्साधारणाः, अत एवोत्तरश्लोकत्रयमपि सर्वविषयम् । अत एवानन्तरश्लोके 'न' इति बहुवचनोपादानम् । यद्यपि तदनन्तरश्लोकद्वये एकवचनोपादानम्, तदपि प्रत्येकाभिप्रायादविरुद्धम् । किञ्च, इत्यवेत्य मनसेत्याद्युपसंहारश्लोके परस्परमुखदर्शनोक्त्या त्रयाणामेकाभिप्रायावगमाच्च अस्मदुक्तमेव युक्तमुत्पश्याम ॥ ६८ ॥

अन्वय—जगतः प्राणता श्रितम् अमुं प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापैः तैः धर्मराजसलिलेशहुताशैः चेतसा निभृतम् एतत् अचिन्ति ।

हिन्दी—जगत् प्राणभूत इस (नल) को पाकर प्रसन्न, चचल और अत्यधिक सन्तप्त उन धर्मराज (यम), जल के स्वामी (वरुण) और हुत के भोगी (अग्नि) ने मन में चुपचाप यह (६९, ७०, ७१ श्लोक में वर्णित) विचार किया।

टिप्पणी—विश्वप्रिय नल के सौंदर्य को देखकर ये देव स्वाभाविक रूप में पहिले प्रसन्न हुए, फिर यह सोच कर कि इसके समक्ष दमयन्ती उन्हें नहीं वरेगी, चचल हो गये और उनका मनोदाह बढ गया। अथवा—टीकाकार नारायण के अनुसार—नल था जगत् का प्राणभूत, क्योंकि वह भलीभाँति लोकपालन करता था, तो नल हुआ जगत् प्राणवायु, उसे देखकर यम प्रसन्न हुआ कि उसे उसका आखेट मिला (यम प्राणापहारक है)। वायु से जल चचल अर्थात् तरगाकुल हो जाता है, अत जलेश वरुण चचल हो गया। अग्नि वायु द्वारा और दीप्त हो जाती है, अत अग्नि में और दाह उत्पन्न हो गया। 'प्रकाश'कार की इस व्याख्या से मल्लिनाथ सहमत नहीं है। उसके अनुसार प्राणापहरण आदि सबद्ध देवों के नियत धर्म नहीं हैं, ये तीनों में होने वाले साधारण धर्म हैं। तीनों ही हृष्ट, चल, सतप्त हुए, यही अर्थ मल्लिनाथ को मान्य है। उनका यह तर्क भी है कि ६९ वें श्लोक में 'न' (बहुवचन) का प्रयोग सामूहिकता का द्योतन करता है ॥ ६८ ॥

नव नः प्रियतमोभयथामो यद्यमु न वृणुते वृणुते वा।
एकतो हि धिगमुमगुणज्ञामन्यत वयमद प्रतिलम्भ ॥ ६९ ॥

जीवातु—चिन्ताप्रकारमेवाह—नैवेत्यादिना श्लोकत्रयेण। असौ दमयन्ती, अमु नल यदि न वृणुते, वृणुते वा। उभयथापि पक्षद्वयेऽपि नोऽस्माक प्रियतमा न भवत्येव। कुत हि यस्मादेकत प्रथमपक्षे अगुणज्ञाममु धिक्। तत्तज्ञतेर सुखावहत्वादिति भाव। अन्यतो नलवरणपक्षे कथमद प्रतिलम्भ अमुष्या परिग्रह। परदारत्वादिति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय—असौ यदि अमु न वृणुते, वृणुते वा—उभयथा न प्रियतमा न, हि एकत अगुणज्ञाम् अमु धिक्, अन्यत वयम् अद प्रतिलम्भ ?

हिन्दी—(यम ने 'अथवा न' प्रयोग के कारण सब ने सोचा)—यह (दमयन्ती) यदि इस (नल) को नहीं वरती है, अथवा वरती है—दोनों

स्थितियों में हमारी प्रियतमा न हो सकेगी, क्योंकि प्रथम (अवरण की) स्थिति में इस गुणों के न पहिचाननेवाली को धिक्कारना होगा, और द्वितीय (वरण की स्थिति) में इस (दमयन्ती) की प्राप्ति कैसे होगी ?

टिप्पणी—दमयन्ती यदि नल जैसे सद्गुण सपन्न नरश्रेष्ठ का वरण नहीं करती है, तो वह मूर्ख है—गुणों का मूल्य न जानने वाली। ऐसी मूर्खा को कौन प्रियतमा बनाना चाहेगा ? और यदि नल को दमयन्ती ने वर लिया, तो फिर कहानी ही समाप्त। देवों की कामना पूर्ण नहीं होगी। दोना ही स्थितियाँ भली नहीं। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलकार ।।६९।।

मामुपैष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम् ।
ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ।। ७० ।।

जीवातु—मामिति। इय दमयन्ती, इयदेतावदस्य नलस्य, मत्तो मत्त काशान्महत्त्वमाधिक्य, न वेद यदि, तदा मामुपैष्यति। तर्हि त्वद्गतदेवत्वाद्युत्कर्षज्ञानात्त्वामेव वरिष्यतीत्यत आह—ईदृशीति। ईदृशी सर्वापरोक्षनलगतविशेषाभिज्ञा नृपपुत्री अपरादपरस्मादृवलादित्यर्थः। 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति विकल्पान्न स्मदादेश। मद्विशेष मदीयोत्कर्ष च कथमाकलयित्री ज्ञात्री। तृन्नन्तादीकार। 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेध ।। ७० ।।

अन्वय—इयम् इयत् अस्य मत्त महत्त्व यदि न वेद तदा माम् उपैष्यति, ईदृशी नृपपुत्री अपरात् मद्विशेष च कथम् आकलयित्री ?

हिन्दी—यह (दमयन्ती) इतना इस (नल) का मुझसे महत्त्व यदि न जानेगी तो मुझे वर लेगी, (परतु) ऐसी (नल-विषयक अभिज्ञान न रखने वाली) राजपुत्री अन्य (नल अथवा अन्यनृपों) से मेरा वैशिष्ट्य किस प्रकार जान पायेगी ? (न जानेगी)।

टिप्पणी—देवों ('प्रकाश'-कार के अनुसार वरुण) ने विचार किया कि नलराज मुझ से अधिक महिमावान् है, यदि दमयन्ती को इसका ज्ञान न हो तभी वह देव-वरण करेगी, अन्यथा नहीं। पर नलानुरागिणी और नल के महिमान को दमयन्ती न जाने, यह सभव नहीं है। वह नल को देवो से वैशिष्ट्य न जाने, तभी देववरण कर सकती है, परतु यदि दमयन्ती ऐसी अज्ञानी है कि नल का वैशिष्ट्य और महिमान नहीं जानती, तो फिर वह

अन्य प्रत्याशियों की अपेक्षा देवों का महत्त्व भी नहीं जान सकेगी। भाव यह कि यदि दमयन्ती अभिज्ञा है, तो नल को वरेगी और यदि अनभिज्ञा है तो किसी को भी वर सकती है, वह देवों का महत्त्व भी न जान सकेगी, और किसी सजातीय मर्त्यराजा को ही वर लेगी। दोनों स्थितियों में निराशा ही हाथ लगती है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ७० ॥

नैषधे बत वृते दमयन्त्या व्रीडितो हि न बहिर्भवितास्मि।
त्वां गृहेऽपि वनिता कथमास्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७१ ॥

जीवातु—नैषध इति। किंच दमयन्त्या नैषधे नले, वृते सति, व्रीडित सन् बहिर्नाविर्न भवितास्मि हि। बहि: क्वापि जनसमक्ष स्यान्न शक्यामीत्यर्थः। भवतेर्लुट्। बतेति खेदे। गृहेऽपि, त्वां वनिता भार्यां, ह्रिया निमीलति सङ्कुचतीति ह्रीनिमीलि। णिनिप्रत्ययः। आस्यं कथ खलु दर्शयिताहे दर्शयिष्यामि। दृशेर्ण्यन्तात्कर्तरि लुट्। 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्' इत्यणि कर्त्री वनितायाः वैकल्पिक कर्मत्वम्। अत्र णेरणादिसूत्रस्ययद्ग्रहणसामर्थ्यात्कर्तृभूतस्याणिकर्मत्वाभावेन तद्विषयत्वात् 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदमिति केचित्। अणिकर्तृकर्मयत्नेऽपि तदतिरिक्तकर्माश्रयत्वादप्यनापत्तेर्मस्त्येवेति पोण्णादिसूत्रविषयत्वमेवेति भाष्यकारः। तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभि किरातार्जुनीयव्याख्याने घण्टापथे 'स सन्तत दर्शयते गतस्मय' इत्यत्र ॥७१॥

अन्वय—दमयन्त्या नैषधे वृते बहिः हि व्रीडितः न भवितास्मि, बत गृहे अपि त्वां वनिता ह्रीनिमीलि आस्यं कथं खलु दर्शयिताहे।

हिन्दी—दमयन्ती द्वारा निषधराज के वरे जाने पर बाहर ही लज्जित न होऊँगा, खेद है कि घर में भी अपनी पत्नी को लज्जा सकुचित मुख कैसे दिखा सकूँगा।

टिप्पणी—दोनों और अपमान की स्थिति, बाहर भी, घर भी। यही सताप और कष्ट का कारण है। 'प्रकाश'-कार के अनुसार यह वह्नि की चिन्ता है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ७१ ॥

इत्यवेत्य मनसात्मविधेयं किञ्चन त्रिदिवपौ बुबुधे न।
नानाशक्रमपास्य तमेक सा स्म पश्यति परस्परमास्यम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—इतीति। त्रयाणां विबुधानां समाहारस्त्रिविबुधी यमादिदेव-त्रयम्, इति पूर्वश्लोकत्रयोक्तप्रकारेण। मनसाऽवेत्यालोक्य, किञ्च नात्मविशेषं स्वकर्तव्यं न बुबुधे न विवेद। किञ्च, सा त्रिविबुधी, तमेकं नाकनायकमिन्द्रम् पास्य अपवाय परस्परमास्यं पश्यति स्म। इतिकर्तव्यतामूढाः परोऽपि केवल-मयोग्यमुखान्यपश्यन्नित्यर्थः॥ ७२॥

अन्वय—सा त्रिविबुधी इति मनसा अवेत्य किञ्च न आत्मविधेयं न बुबुधे, तम् एकं नाकनायकम् अपास्य परस्परम् आस्यं पश्यति स्म।

हिन्दी—वह देवत्रयी इस प्रकार मन में समझ कर किंचित् भी स्वकि कर्तव्यता न समझ पायी। वे उस एक स्वर्गपति (इन्द्र) को छोड़कर एक दूसरे का मुँह देखने लगे।

टिप्पणी—६९-७१ श्लोकों में पृथक् पृथक् अथवा सामूहिक रूप में यम, वरुण और अग्नि की चिन्ता का वर्णन हुआ। इन्द्र की स्थिति इन से भिन्न है। यह देवत्रयी पूर्णतया किंकर्तव्यविमूढ हो गयी। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और भावोदय॥ ७२॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्ध स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुक्षा।
शसति स्म कपटे पटुरुच्चैर्वञ्चनं समभिलष्य नलस्य॥ ७३॥

जीवातु—किमिति। कपटे परवञ्चने, पटुः, ऋभुक्षा इन्द्रः। अधुना किं विधेयमिति विमुग्धमितिकर्तव्यतामूढम्। स्वस्यानुगानामनुयायिनां यमा-दीनामाननमवेक्ष्य तेषां दैन्यं दृष्ट्वेत्यर्थः नलस्य वञ्चनं समभिलष्य अभिसन्धाय, उच्चैः शसति स्म जगाद॥ ७३॥

अन्वय—उच्चैः कपटे पटुः ऋभुक्षा अधुना किं विधेयम् इति विमुग्धं स्वानुगाननम् अवेक्ष्य नलस्य वञ्चनं समभिलष्य शसति स्म।

हिन्दी—कपट व्यवहार में अत्यंत कुशल इन्द्र 'अब क्या करना चाहिए'—इस विषय में विमूढ अपने अनुयायियों का मुख देखकर नल को धोखा देने की इच्छा करके बोला।

टिप्पणी—इन्द्र कपटाचारियों में प्रमुख है, अतः वह अपने साथियों के समान किंकर्तव्यविमूढ न हो नल के साथ कपटाचार कर उसे धोखा देने की योजना बनाने लगा और नल से बोला॥ ७३॥

सर्वतः कुशलभागसि कच्चित्त्वं स नैषध इति प्रतिभा नः ।
स्वाशनार्धसुहृदस्तव रेखा वीरसेननृपतेरिव विद्मः ॥ ७४ ॥

जीवातु—सर्वत इति। सर्वतः सर्वस्वङ्गेषु, कुशलभागसि कच्चित्। 'कच्चित् कामप्रवेदने' इत्यमरः। न च त्वां न वेद्मीत्याह—त्वं स प्रसिद्धो नैषधो नल इति नोऽस्माकं, प्रतिभा प्रतीतिः। कुतस्तव रेखामाकृतिं स्वाशनार्धसुहृदो ममार्धासनभाजो, वीरसेननृपतेरिव तत्सदृशीं विद्मः तस्मात्तत्सुतो नलस्त्वमिति प्रतीम इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

अन्वय—त्वं सर्वतः कुशलभाक् असि कच्चित्? (त्वं) स नैषध इति नः प्रतिभा, तव रेखां स्वाशनार्धसुहृदः वीरसेननृपतेः इव विद्मः ।

हिन्दी—तुम सब प्रकार से (अङ्ग राज्याङ्गादि के सहित) सकुशल हो न? हमें ऐसा प्रतिभास होता है कि तुम निषधराज हो, हमें जान पड़ रहा है कि तुम्हारी रूपरेखा हमारे आसन के आधे भाग पर बैठने वाले मित्र राजा वीरसेन के सदृश है।

टिप्पणी—शिष्टाचार की भूमिका। आत्मीयता का प्रदर्शन। पिता के साथ अपनी गाढ़ी मैत्री का संकेत किया। पिता से पुत्र की रूपरेखा प्रायः मिला करती है। आलङ्कारिकों के अनुसार उपमानों की भी उपमान, भूषणों की भूषण अङ्गों की, नेत्रों को अमृत वर्षा के सदृश आनन्ददायिनी शोभा 'रेखा' होती है—'उपमानोपमानं या भूषणस्यापि भूषणम्। आकृती कथ्यते रेखा चक्षुःपीयूषवर्षिणी ॥' विद्याधर के अनुसार हेतु और उपमा अलङ्कार ॥ ७४ ॥

क्व प्रयास्यसि नलेत्यलमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयाजनि यन्नः ।
तत्तथैव फलमत्वरया त्वं नात्मनोर्धमिदमासमितः किम् ॥ ७५ ॥

जीवातु—क्वेति। हे नल, क्व प्रयास्यसीत्युक्त्वा पृष्ट्वा अलं, न प्रष्टव्यमित्यर्थः। 'अलंखल्वोः' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः। कुतः, यद्यस्मान्नोऽस्माकमत्र यात्रया इहागमनेन, शुभया त्वद्दर्शनेन मङ्गल्या, अजनि अभावि। भावे लुङ्। तत्तस्मात्, फलेन सत्वरया फलप्रदिन्या तया, यात्रयैव कर्त्र्या, त्वमिदमस्मदर्धासनमासनमितो न किम्? अस्मदर्धासनमेव तवागमनफलमित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वय—नल, क्व प्रयास्यसि—इति उक्त्वा अलम्, यद् न अत्र

यात्रया शुभया अजनि, तत् फलसत्वरया तया एव त्वम् इदम् अध्वन अर्धं न आगमित न किम् ?

हिन्दी—हे नल, तुम कहाँ जा रहे हो—ऐसा कहना उचित प्रश्न नहीं है, क्योंकि हमारी यहाँ (धरती पर) यात्रा शुभ हुई, सो शीघ्र फलीभूत होने वाली उसी (यात्रा) के कारण ही तुम कहीं इस आधे मार्ग में (हमें) नहीं प्राप्त हो गये हो ?

टिप्पणी—कपटव्यवहार का दूसरा विशिष्ट आयोजन। किसी से उसकी यात्रा का उद्देश्य स्थान पूछना अशुभ माना जाता है। इस लोकाचार की आड़ में यह कपट कि नल अपना दमयन्ती स्वयंवर-विषयक अभिलाष कह ही न पाये और वह इन्द्र के काम में सहायता के लिए वचनबद्ध हो जाय। इसीसे व्यक्त किया गया कि नल की इस यात्रा का कोई निज प्रयोजन नहीं है, वह देवकार्य में सहायक होने के लिए भाग्यवश आधे रास्ते में इन्द्र को मिल गया है। नल इन्द्र के कार्य में सहायक होगा ही, क्योंकि उसके पिता इन्द्र के मित्र थे। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ७५ ॥

एष नैषध ! स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिल: स हुताश: ।

यादसां स पतिरेष च शेषं शासितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—के यूयमत आह—एष इति। हे नैषध ! नल ! एष इति पुरोवर्तिनो हस्तेन निर्देश:। स प्रसिद्धो दण्डभृद्यम:, एष ज्वालजालैर्जटिलो जटावान्। ज्वालामालाकुलोऽयम्। 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमर:। पिच्छादित्वादिलच्। स हुताशोऽग्नि:, एष च स यादसां पतिर्वरुण:, शेष: शिष्ट इत्यर्थ:। सुराणां शासितारम् अवगच्छ देवेन्द्रं विद्धि ॥ ७६ ॥

अन्वय—नैषध, एष स दण्डभृत् एष ज्वालजालजटिल: स हुताश:, एष स यादसां पति:, शेषं सुराणां शासितारम् अवगच्छ।

हिन्दी—हे निषधराज, यह वह दण्डधारी (यम) है, यह ज्वालाओं की जटाओं को धारण करता वह हुतभुक् (अग्नि) है, यह जलजन्तुओं का स्वामी वह वरुण है, शेष रहे मुझे तुम देवों का शासक (देवेन्द्र) समझ लो।

टिप्पणी—नल को आतंकित करने के लिए विशेष आदरपूर्ण विशेषणों के माध्यम से देवों का परिचय कराया गया। दण्डधारी यम, जो सब को

वाक्कवलित कर देते हैं। सब जला डालने की क्षमता रखने वाले अग्नि हैं, जल पर भी शासन करने वाले वरुण हैं, और इन्द्र? वह मनुष्यों पर क्या देवों पर भी शासन करता है। इतनी महाशक्तियों का आदेश अनुल्लंघनीय है—मानना ही होगा नल को। न मानने पर कष्ट भोगने का संकेत। विद्याधर के अनुसार परिकरालंकार ॥ ७६ ॥

अर्थिनो वयममी समुपेमस्त्वां किलेति फलितार्थमवेहि।
अध्वनः क्षणमपास्य च खेदं कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—अर्थिन इति। हे नल! अमी वयमर्थिनः सन्तस्त्वा समुपेम किल प्राप्नुमः खलु। समुपपूर्वादिणो लटि मस्। इति फलितार्थमवेहि विद्धि। क्षणमध्वनः खेदमपास्य अध्वश्रमं नीत्वा भवति त्वयि कार्यनिवेदं कार्यविशेषनिवेदनम् विदेर्ण्यन्तादच्प्रत्ययः। कुर्महे ॥ ७७ ॥

अन्वय—अमी वयम् अर्थिनः त्वां समुपेम किल—इति फलितार्थम् अवेहि, क्षणं च अध्वनः खेदम् अपास्य भवति कार्यनिवेदं कुर्महे।

हिन्दी—ये हम याचक बने तुम्हारे सम्मुख आये हैं—यह तात्पर्य समझ लो, क्षण भर मार्ग की खिन्नता को मिटाकर आपसे कार्य निवेदन करते हैं।

टिप्पणी—इन्द्र अपना कपट-जाल एक के पश्चात् एक बात कहते हुए बिछाता जा रहा है। नल मित्र-पुत्र है, वह देव कार्य-साधन के निमित्त ही मानो उन्हें मार्ग में मिल गया है। सामर्थ्यशील देव उसके सम्मुख याचक हैं, अतः नल को देवकार्य-निरत होना ही पड़ेगा। कोई अवसर नहीं दिया इन्द्र ने नल को कुछ कह सकने का ॥ ७७ ॥

ईदृशीं गिरमुदीर्य बिडौजा जोषमाप न विशिष्य बभाषे।
नात्र चित्रमभिधाकुशलत्वे शैशवावधि गुरुर्गुरुरस्य ॥ ७८ ॥

जीवातु—ईदृशीमिति। बिडौजा इन्द्रः, ईदृशीं सामान्यनिर्दिष्टां, गिरमुदीर्य जोषं मौनमाप। 'तूष्णीं जोषं भवेन्मौनम्' इति हलायुधः। विशिष्य विविच्य, न बभाषे विशेषं नाचष्टेत्यर्थः, अत्रास्मिन्नभिधाकुशलत्वे उक्तिचातुर्ये, चित्रं विस्मयो न। कुतः, यस्येन्द्रस्य शैशवमवधिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तदारभ्येत्यर्थः। गुरुराचार्यो गुरुर्बृहस्पतिः। वाचस्पतिशिष्यस्य वाग्मित्वं किं चित्रमित्यर्थः। 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इति वैजयन्ती ॥ ७८ ॥

अन्वय—विडौजा ईदृशी गिरम् उदीर्य जोषम् आप विशिष्य न बभाषे, अत्र अभिधाकुशलत्वे चित्रं न, शैशवावधि गुरुः अस्य गुरुः ।

हिन्दी—इन्द्र इस प्रकार के वचन उच्चारण कर चुप हो गया, विशेष करके कुछ न कहा, इस प्रकार की वचनचातुरी में विचित्रता नहीं है, बचपन से लेकर ही बृहस्पति उसके गुरु हैं ।

टिप्पणी—मार्ग की खिन्नता दूर करने के व्याज से इन्द्र ने केवल उपयुक्त वचन ही कहे, दमयन्ती विषयक चर्चा नहीं की कि कहीं नल अस्वीकार न कर दे । बातें बनाने में इन्द्र परम चतुर ठहरा ही, बृहस्पति जैसे वाणीश्वर गुरु का शिष्य है न ! वाचस्पति का शिष्य वचनचतुर होगा ही । विद्याधर के अनुसार श्लोक में छेकानुप्रास, काव्यलिङ्ग और उत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं ॥ ७८ ॥

अर्थिनामहृषिताखिललोमा स्वं नृपः स्फुटकदम्बकदम्बम् ।
अर्चनार्थमिव तच्चरणानां स प्रणामकरणादुपनिन्ये ॥ ७९ ॥

जीवातु—अर्थीति । अर्थिनाम्ना अर्थिनामश्रवणेन, हृषिताखिललोमा रोमाञ्चिततनुः, 'हृषेर्लोमसु' इति वैकल्पिक इडागमः । नृपः, स्वमात्मानं, तच्चरणानामर्चना स्फुटकदम्बकदम्बं विकसितनीपकुसुमवृन्दमिवेत्युत्प्रेक्षा । प्रणामकरणात्तद्व्याजादुपनिन्ये समर्पयामास ॥ ७९ ॥

अन्वय—अर्थिनामहृषिताखिललोमा सः नृपः प्रणामकरणात् तच्चरणानाम् अर्चनार्थं स्वं स्फुटकदम्बकदम्बम् उपनिन्ये ।

हिन्दी—'याचक' नाम (अथवा याचकों के इन्द्रादि नाम) से जिसके समस्त रोम हर्ष से पूर्ण हो गये थे, ऐसे उस राजा (नल) ने प्रणाम क्रिया से उनके चरणों की वन्दना के निमित्त मानो अपने को विकसित कदम्ब-पुष्पों के सदृश समर्पित कर दिया ।

टिप्पणी—नैषधीय० (१।१५-१६) में नल की वदान्यता बतायी गयी है कि वह 'अल्पितकल्पपादप' था और उसने दारिद्र्य को भी दरिद्र बना दिया था, वह चाहता था कि इतना दान करे कि सुमेरु समाप्त हो जाय और दान-जल में व्यय होते-होते समुद्र सूख जाय । ऐसे दानशील नल ने जब याचकों को सम्मुख पाया तो उसका रोम-रोम खिल उठना स्वाभाविक

ही था। इस प्र देवराज और महासामर्थ्यशील त्रिदेवों को याचक रूप में पाकर तो इसे हर्ष द्विगुणित हो जाना ही था। उसने भक्तिपूर्वक देवचरणों में प्रणाम पुरस्सर अपने रोमाञ्चित शरीर का समर्पण कर दिया, मानो 'स्फुटकदम्बकदम्बक'—जैसे शरीर के रूप में कदम्ब के फूल समर्पित कर दिये। रोमाञ्चित देह की तुलना खिले कदम्बपुष्पों से की गयी है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक, उत्प्रेक्षा और अपह्नुति॥७९॥

दुर्लभं दिगधिपैः किममीभिस्तादृशं क्वमहो मदधीनम्।
ईदृशं मनसिकृत्य विरोधं नैषधेन समशायि चिराय॥ ८०॥

जीवातु—दुर्लभमिति। दिगधिपैरमीभिरिन्द्रादिभिः, दुर्लभं किं तादृशं दुर्लभं वस्तु क्व मदधीनं मदायत्तम्, अहो, ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य निधाय। 'अनत्याधान उरसिमनसी' इति गतिसंज्ञायां 'कुगतिप्रादयः' इति समासे क्त्वो ल्यबादेशः। नैषधेन नलेन, चिराद् चिरं समशायि संशयितम्। विचारितमित्यर्थः। भावे लुङ्॥ ८०॥

अन्वयः—अहो, अमीभिः दिगधिपैः दुर्लभं किम्, तादृशं मदधीनं क्वम्? ईदृशं विरोधं मनसिकृत्य नैषधेन चिराय समशायि।

हिन्दी—अरे इन (सामर्थ्यशील) दिक्पालों के लिए दुर्लभ क्या है, और वैसा (दुर्लभ वस्तु) मेरे अधीन किस प्रकार है? इस प्रकार का विरोध विचारते हुए निषधराज चिरकाल तक संशय में पड़ा रहा।

टिप्पणी—नल समस्त विद्या-विशारद था, नीतिज्ञ, सुविचारी। उसे संदेह तो हो ही गया कि कहीं कपट है, वञ्चना है। ये देव तो सब कुछ करने में स्वयं समर्थ हैं। ऐसा क्या है, जो ये नहीं कर सकते और मैं कर सकता हूँ? द्विविधा और संदेह में ग्रस्त नल कुछ क्षण तक चुपचाप विचारता रहा॥८०॥

जीवितावधि वनीयकमात्रैर्याच्यमानमखिलैः सुलभं यत्।
अर्थिने परिवृढाय सुराणां किं वितीर्य परितुष्यतु चेतः॥ ८१॥

जीवातु—विचारप्रकारमेवाह द्वाभ्यां श्लोकाभ्याम्—जीवितेत्यादि। यदस्मादखिलैर्वनीयकमात्रैर्यः कैश्चिद्याचकैः। 'वनीपको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः। जीवितावधि प्राणपर्यन्तं, याच्यमानं वस्तु सुलभम्। सुराणां परिवृढाय प्रभवे अर्थिने किं वस्तु वितीर्य दत्त्वा, चेतः परितुष्यतु सन्तुष्येत्।

प्राणान्त वस्तु सर्वार्थिसाधारण ततोऽधिकमिन्द्राय देय किमस्तीति विचारित मित्यर्थं । वितरणे चेतस स्वतृत्वविवक्षया वितरणपरितोषयो समानकर्तृत्व सिद्धि ॥ ८१ ॥

अन्वय.—यत् अखिलं वनीपकमात्रे जीवितावधि याच्यमान सुलभ सुराणा परिवृढाय अर्थिने कि वितीर्य चेत परितुष्यतु ?

हिन्दी—जो कि समस्त (सामान्य) याचकमात्र को प्राणपर्यन्त माँगे जाने पर सुलभ हैं, देवो के प्रभु के याचक होने पर क्या वितरण करके मेरा चित्त सतुष्ट होगा ?

टिप्पणी—नल ने विचार किया कि वह सामान्य पात्र-कुपात्र याचक को माँग जाने पर प्राण तक सरलता से दे सकता हैं, विशिष्ट इन्द्रादि याचको को कौन-सी ऐसी प्राणाधिक वस्तु दें, जिससे उन्हे मनस्तोष हो । देव-याचको को प्राण से भी अधिक प्रिय पदार्थ देना उचित होगा ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि धनादपि गुर्वी ।
न स्वमेव मम सा हृति यस्या षोडशीमपि कला किल नोर्वी ॥ ८२ ॥

जीवातु—नन्वस्ति लोकोत्तर वस्तु भैमी, सा दीयतामित्यत आह—भीमजेति । उर्वी भूयस्या भैम्या षोडशीमपि कला नार्हति षोडशांशसाम्यमपि न प्राप्नोतीत्यर्थं । अत एव धनादपि । किं बहुना, जीवितादपि गुर्वी अधिका सा भीमजा दमयन्ती च । मे हृदि हृदये, पर सम्यगास्ते । किंतु मम स्वमेव न भवति । अद्याप्यस्वकरणादस्वस्यादेयत्वात् । स्वत्वेऽपि 'देय दारसुतादृते' इति दाराणा दाननिषेधाच्च विचारस्तदवस्य एवेति भाव ॥ ८२ ॥

अन्वय —यस्या षोडशीम् अपि कलाम् उर्वी न अर्हति जीवितात् अपि धनात् अपि गुर्वी भीमजा मे हृदि परम् आस्ते, सा मम स्वयम् एव न ।

हिन्दी—जिसके सोलहवें अश के तुल्य भी पृथ्वी नही है, जीवन से भी और धन से भी महनीय वह भीम सुता (दमयन्ती) मेरे हृदय मे सम्यक् विराजमान है, पर वह तो अभी मेरी सपदा (स्वत्व) नहीं है ।

टिप्पणी—विचार करते नल को प्रतीति हुई कि प्राणो से, राज्य से धरती से भी अधिक प्रिय और महत्वपूर्ण एक वस्तु है—दमयन्ती । उसे दान करने से चित्त सतुष्ट हो सकता है, पर इसमें कठिनता यह है कि भले ही

दमयन्ती को नल ने भलीभांति हृदयासन पर विराजित कर लिया हो, उस पर नल का कोई अधिकार तो नहीं है, अतः दमयन्ती का दान कैसे सम्भव है? तृतीय चतुर्थ चरण का 'यस्याः षोडशी कला मम स्वम् एव स्वल्पमेव नार्हति किं पुनः समग्रा सर्वा' ऐसा भाव भी 'प्रकाश'-कार ने लिया है—जिस दमयन्ती का सोलहवाँ भाग मुझ (नल) का स्वरूप भी नहीं है, सारी की तो बात क्या? यद्यपि नल का उस काल दमयन्ती पर अधिकार नहीं था, फिर भी माना जाता है कि पत्नी पुत्र को छोड़कर शेष सब दिया जा सकता है—'देय दारसुतादृते'। इस प्रकार स्वत्व होने पर भी—पत्नीत्व प्राप्त होने पर भी दमयन्ती का दान नीति-युक्त नहीं है। नाट्यशास्त्रियों के अनुसार प्रस्तुत कथा के भावी वृत्तांत का अन्योक्तिमूलक वचन 'पताकास्थानक' कहाता है। (दशरूप १।१४) यहाँ ऐसी ही स्थिति है नाटकीय 'पताकास्थानक' की योजना। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति॥ ८२॥

मीयतां कथमभीप्सितमेषां दीयतां द्रुतमयाचितमेव।
तं धिगस्तु कलयन्नपि वाञ्छामर्थिवागवसरं सहते यः॥ ८३॥

जीवातु—पुनर्विचारमेवाह—मीयतामिति। एषामभीप्सितं वस्तु कथं मीयतां ज्ञायेत। ज्ञानस्योपयोगमाह—अयाचितं यथा तथा द्रुतं कथं दीयताम्, दातव्यमित्यर्थः। तर्हि, अर्थिवाचैव विज्ञाय दीयतामित्यत आह—यो दाता वाञ्छामर्थ्याकाङ्क्षां कलयन् जानन्नपि। अर्थिवागवसरं सहते याञ्चाकालं प्रतीक्षते, तं दातारं धिगस्तु। स महाँ इत्यर्थः॥ ८३॥

अन्वय—एषाम् अभीप्सितं कथं मीयताम्? अयाचितम् एव द्रुतं दीयताम्, यः वाञ्छां कलयन् अपि अर्थिवागवसरं सहते तं धिक् अस्तु।

हिन्दी—इनका अभीष्ट कैसे जाना जाय? बिनमाँगा ही शीघ्र देना उचित है, जो (दाता याचक की) इच्छा को समझता हुआ भी याचकों को कहने का अवसर देता है, उसे धिक्कार है।

टिप्पणी—श्रेष्ठ दान वही होता है, जो बिनमाँगे किया जाय। याचित दान तो आधा फल देता है किंतु याचक को बुलाकर देना सहस्रगुण फल-दायक है—'गत्वा यद् दीयते दानं तदनन्तफलं स्मृतम्। सहस्रगुणमाहूय

याचिते तु तदर्धकम् ।' सो नल ने विचारा कि अजाने ही प्राणाधिक महत्व शाली कुछ देवराज को दिया जाय। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥८३॥

प्रापितेन चटुकाकुविडम्ब लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।
अर्थिना यदघमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददान ॥ ८४ ॥

जीवातु—शीघ्रप्रदाने दोषमाह—प्रापितेनेति । चटुकाकुभ्या चटूक्ति काकुयोगम्या करणाभ्या, विडम्ब विडम्बना हास्यत्व, प्रापितेन, दात्रेति शेष । बह्वधिक, यथा तथा याचनेन देहीति वादेन, लज्जा लम्भितेन प्रापितेन अत्रापि दात्रेति शेष । अर्थिना करणभूतेन, उक्तरूपेणाभिपीडनेनेत्यर्थ । यदघ पापमर्जति सम्पादयति, विलम्ब्य ददानो दाता, तदघ न लुम्पति न विहन्ति। तस्य पापस्य प्रायश्चित्तमपि नास्तीत्यर्थ ॥ ८४ ॥

अन्वय —चटुकाकुविडम्ब प्रापितेन बहुयाचनलज्जा लम्भितेन अर्थिना दाता यत् अघम् अर्जति तत् विलम्ब्य ददान न लुम्पति ।

हिन्दी—चाटुकारी (खुशामद) और दीनतापूर्ण वाक्यो (के कथन) से विडबना (उपहास) को प्राप्त और बहुत बार याचना करने से लज्जा को प्राप्त याचक (को देने) से दाता जिस पाप का अर्जन करता है, विलब करके देने वाला उस (पाप) का परिमार्जन नहीं कर सकता ।

टिप्पणी—वस्तुत चाटुकारी और दीन वाक्यो के उच्चारण से याचक तो विडबना और लज्जा को प्राप्त होता ही है, सज्जन दाता को भी ऐसी स्थिति लज्जाजनक प्रतीत होती है । सच्चे दाता तो अयाचित ही दान करते हैं । नल जैसे वदान्य पुरुष की दृष्टि मे तो 'चटुकाकुवाक्य' सुन कर देना और विलब से देना दोनो ही 'पाप' है । 'चटुकाकुवाक्यो' से विडबित और लज्जित याचको की याचना दाता को पापार्जन कराती है, जिसका मार्जन देर से देकर सभव नही है । दान अयाचित और अविलब ही उचित है ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमर्थिजनाय ।
याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कात्राममूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ॥ ८५ ॥

जीवातु—यदिति । वदान्यैर्दातृभि, प्रदेय देयद्रव्यमुपनीयार्थिजनाय सलिल दीयत इति यत् । एतत्सलिलदान याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कया देहीति वादवैफल्यशङ्कया त्रासो भय तेन य मूर्च्छन तस्य चिकित्सितमित्युत्प्रेक्षा । अन्यथा निरर्थं तत्सलिलदानमिति भाव ॥ ८५ ॥

अन्वय—वदान्यैः प्रदेयम् उपनीय अर्थिजनाय यत् सलिलं दीयते एतत् याचनोक्तिविफलत्वविशङ्काप्राप्तमूर्च्छनचिकित्सितम्।

हिन्दी—उदार दाताओं के द्वारा दातव्य वस्तु को समीप स्थापित कर याचकों को जो सङ्कल्पोदक दिया जाता है, वह याचना वचनों की निष्फलता की आशङ्का से जात भय से मूर्च्छा की चिकित्सा है।

टिप्पणी—दान करते समय दाता दातव्य पदार्थ को निकट रख कर याचक के हाथ में सङ्कल्प-जल छोड़ता है। दान की यह प्रणाली है। कवि का विचार है कि वस्तुतः यह याचक की उस मूर्च्छा या अकालमृत्यु की चिकित्सा है जो याचना के निष्फल हो जाने की आशङ्का से उत्पन्न डर से सम्भव है। 'मांगन मरणसमान' होता है, कहा भी गया है—'मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके।' तो जिस प्रकार मूर्च्छा दूर करने के लिए सलिल-प्रक्षेप किया जाता है और मूर्च्छा दूर हो जाती है, उसी प्रकार सङ्कल्पसलिल याचकों के मन में उठी याचना निष्फलता की आशङ्का से सम्भव मूर्च्छा को दूर कर देता है। उन्हें विश्वास हो जाता है कि अब उनकी याचना व्यर्थ न होगी। उचित तो यह है कि याचकों के दीखते ही सङ्कल्प-जल डालने में भी विलम्ब न हो। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है॥ ८५॥

अर्थिने न तृणवद्धनमात्रं किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम्।
एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्धः॥ ८६॥

जीवातु—अर्थिन इति। कुशवतो जलस्य दायो दानम्। ददातेर्घञ्। युगागमः। स प्रतिपादकतया अस्मिन्नियावस्तीति कुशवज्जलदायी सकुशजल-दानप्रतिपादक इत्यर्थः। अत एवोक्तिविदग्धः। अभिधाव्यापारमन्तरेणार्था-देवार्थान्तरप्रतिपादनचतुर इत्यर्थः। द्रव्यदानविधिर्धनदानशास्त्रमेवमाह। किमिति अर्थिने धनमात्रं धनमेव। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः। तृणवत्तृणमिव न प्रतिपाद्यं देयम्। किंतु जीवनमपि जीवितमपि तथा देयमिति। सकुशं जलं देयमिति च गम्यते। अर्थ्यनपेक्षितकुशजलदानं विदधतो द्रव्यदानविधेरय-मेवाभिप्राय इति भावः॥ ८६॥

अन्वय —अर्थिने धनमात्र तृणवत् न प्रतिपाद्य किंतु जीवनम् अपि— कुशवज्जलदायी उक्तिविदग्ध द्रव्यदानविधि एवम् आह ।

हिन्दी—'याचक को धन ही तिनके के समान न देना चाहिए, अपितु जीवन (प्राण और संकल्पजल) भी तृणसमान दे देना चाहिए'—कुश के साथ संकल्प-सलिल प्रदायिनी, श्लेषोक्ति-पाण्डित्य से पूर्ण धनदान की शास्त्र- पद्धति ने भी ऐसा कहा है।

टिप्पणी—शास्त्रीय विधान है कि कुशयुक्तसलिल के साथ संकल्प करके दान करना चाहिए—'कुशवत्सलिलोपेत दान सकल्पपूर्वकम् ।' दातव्य वस्तु के साथ याचक के हाथ में संकल्पोदक प्रक्षेप भी किया जाता है—यही विधि है। 'जीवन' शब्द अनेकार्थ है—जीवन अर्थात् प्राण और जल। शास्त्र विधान के अनुसार दान करते समय तीन वस्तुएँ याचक को दी जाती हैं—(१) वस्तु, (२) जल, (३) जल के साथ कुश–तृण। कवि के अनुसार (नल की दृष्टि में) यह शास्त्रविधि का संकेत है कि तृण के समान दातव्य वस्तु ही नहीं, जीवन भी दिया जाता है। 'जीवन' के श्लेषार्थ से यह संकेत संभव है। इसी कारण 'शास्त्रविधि' का 'उक्तिविदग्ध' विशेषण दिया गया। भाव यह है कि याचक को यदि प्राण भी अपेक्षित हो तो निःसंकोच देने में विलंब न करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अथवा समासोक्ति है ॥

पङ्कसङ्करविगर्हितमर्हं न श्रिय कमलमाश्रयणाय ।
अर्थिपाणिकमल विमल तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥ ८७ ॥

जीवातु—पङ्केति । पङ्कः पाप कर्दमश्च । 'पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसो' इति वैजयन्ती । तत्सङ्करेण विगर्हित, कमल श्रिय आश्रयणाय नार्हम् । तत्तस्मा- त्सुधीविमल निष्पङ्कमर्थिपाणिकमल तद्वासवेश्म लक्ष्मीनिवासस्थान, विदधीत । सर्वथा धन पात्रपाणिष्वेव निक्षेप्तव्यम् । न तु भूमाविति भाव ॥ ८७ ॥

अन्वय—पङ्कसङ्करविगर्हितम् कमल श्रियः आश्रयणाय न अर्हम्, तत् सुधी तद्वासवेश्म विमलम् अर्थिपाणिकमल विदधीत ।

हिन्दी—कीचड (और पाप) के संसर्ग के कारण निंदित कमल लक्ष्मी के आवास योग्य नहीं है, अतः विमलबुद्धिवाली जन को उचित है कि उस (श्री) के आवास का स्थान स्वच्छ (निष्कलंक) याचक के करकमल को बनाये।

टिप्पणी—लक्ष्मी संपत्ति की अधिष्ठात्री है, उसका आवास कमल माना जाता है, किंतु कवि का कथन है कि वास्तविक कमल वह नहीं है, जो कीचड़ में सना रहता है। लक्ष्मी कीचड़ में नहीं रह सकती, उसके लिए तो स्वच्छ आवास ही अपेक्षित है और वह है योग्य याचक का करकमल, जो संकल्प-सलिल से प्रक्षालित हो स्वच्छ हो जाता है। भाव यह है कि श्री-संपत्ति पाप-पंक से कलुषित जन के पास नहीं रहती, वह रहती है निष्पाप, योग्य व्यक्ति के पास। अतः समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह संपत्ति का दान याचक को करे। यह भी संकेत है कि संपदा और शोभा दानी के कर-कमल में ही वास करती है, जो संकल्पसलिलप्रक्षेप करते-करते पवित्र और स्वच्छ हो गया है—निष्पाप। पापी, कृपण तो श्री-संपत्तिहीन हो जाता है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-रूपक और छेकानुप्रास ॥ ८७ ॥

याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय बत जन्म न यस्य।
तेन भूमिरतिभारवतीयं न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रैः ॥ ८८ ॥

जीवातु—याचमानेति। यस्य धनिनो जन्म याचमानजनमानसवृत्तेरभि-जनमनोरथस्य पूरणाय न भवति। बतेति खेदे। तेनैकेनैव पापीयसा। इयं भूमिरतिभारवती। न द्रुमादिभिर्बहुभिरपीत्यर्थः। तेषां प्रजानां बहूपकार-त्वादिति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—यस्य जन्म याचमानजनमानसवृत्तेः पूरणाय न, बत तेन इयं भूमिः अतिभारवती, न द्रुमैः, न गिरिभिः, न समुद्रैः।

हिन्दी—जिस (व्यक्ति) का जन्म याचक जनों के मानसव्यापार (इच्छा) की पूर्ति के लिए नहीं हुआ, उस (व्यक्ति) से यह धरती अत्यंत बोझिल है, न वृक्षों से है, न पर्वतों से और न समुद्रों से।

टिप्पणी—वस्तुतः याचकों की आकांक्षा जो पूर नहीं पाते, वे व्यक्ति व्यर्थ ही नहीं, इस धरती के भारी बोझ हैं। प्रत्यक्षतः बोझ प्रतीत होने वाले वृक्ष, पर्वत, समुद्र भार नहीं हैं, क्योंकि उनसे तो पृथ्वी के प्राणियों के अनेक कार्य सधते हैं, वे तो उपकारी हैं। तो धरती की छाती पर पड़े एक भारवान् पाषाण के तुल्य व्यक्ति को भी लोकोपकारक होना चाहिए। वृक्ष फूल फलों से, पर्वत समुद्र ओषधि रत्नों से लोकोपकार करते हैं। याचकों को

दकर मनुष्य को अपना अस्तित्व सफल बनाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार असबंध में संबंध कथन रूप अतिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

मा धनानि कृपण खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै ।
तत्र नैष कुरुते मम चित्रं यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९ ॥

जीवातु—मेति । कृपण कष्टलुब्धो, जीवन् प्राणन्, तृष्णया अतिगर्धनेन, जातु कदापि, परस्मै याचमानाय धनानि, ना (मा) र्पयतु न प्रयच्छतु । एष कृपणस्तत्र जीवनक्षणानर्पणे, मम चित्रं विस्मयं न कुरुते । किंतु, मृतोऽपि तानि धनानि, नार्पयति प्रयच्छतीति यत्तत्र चित्रं कुरुते विरोधात् । नार्पणि नृपसम्बन्धीनि कुरुत इति तदाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८९ ॥

अन्वय—कृपण जीवन् तृष्णया जातु परस्मै धनानि मा अर्पयतु, तत्र मम चित्रं न कुरुते, यत् एषः तु मृतः अपि तानि न अर्पयति ।

हिन्दी—कंजूस जीवित रहते कभी अन्य को धनार्पण न करे, इस विषय में मुझे विचित्र नहीं लगता, क्योंकि यह तो मर जाने पर भी धन दान नहीं करता ।

टिप्पणी—जो कार्य मनुष्य मरने पर भी, मृत्यु भय उपस्थित होने पर भी नहीं करता, वह जीते जी तो करता ही नहीं । इस दृष्टि से कृपण का जीवित रहते धन न देना नल को विचित्र नहीं लगता, क्योंकि वह मर जाने पर भी धन दान नहीं करता । उसका धन तो राज्याधीन हो जाता है अथवा अन्य जन खाते – उड़ाते हैं । इसके अतिरिक्त कृपण जीते जी दान न करे, इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि उसका कुछ न कुछ उपयोग तो वह करता ही है, आश्चर्य तो यह है कि मरते मरते भी वह दान नहीं करता, जब कि वह धन का कोई उपयोग नहीं कर सकता । यही आश्चर्य जनक है । आश्चर्य यह भी है कि जिसने जीते-जी किसी को नहीं दिया, मर पर राजा को दे दिया । मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास, विद्याधर यहाँ श्लेष मानते हैं ॥ ८९ ॥

माममीभिरिह याचिनवद्भिर्दातृजातमवमत्य जगत्याम् ।
यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निष्क्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीयः ॥ ९० ॥

जीवातु—मामिति । जगत्या भुवि भुवने वा । 'जगती भुवने भूम्याम्' इति विश्वः । दातृजातमवमत्यावधीय, मा याचिनवद्भिरमीभिर्देवैर्यद्यशो मयि

निवेशितं याचितम्, एतन्निष्क्रय एतस्य यशसो निष्क्रयः प्रतिनिधिभूतः । कतमस्तु पदार्थस्तदीयोऽस्तु इन्द्रादिसम्बन्धी स्यात् । किं वितीर्य अनृणो भविष्यामीत्यर्थः ॥ ९० ॥

अन्वयः—अर्थदा दातृव्रातम् अवमन्य मां याचितवद्भिः अमीभिः मत् यशः मयि निवेशितम्, एतन्निष्क्रयः तु कतमः अस्तु ?

हिन्दी—दाताओं के दाताओं (कल्पवृक्षादि) की अवमानना करके मुझसे याचना करते इन देवों ने जो यश मुझ में प्रतिष्ठित किया है, उसका मोल क्या हो ?

टिप्पणी—संसार में कल्पवृक्ष आदि महादानी हैं जो अभीष्ट देते हैं। उनके रहते जो इन्द्रादि देव नल से याचना करने आये, स्वाभाविक रूप से यह नल की यश प्रतिष्ठा का कारण था, अतः नल विचारने लगा कि वह क्या है जिसे देकर इस यश प्रतिष्ठा का मूल्य दिया जाय ? बहुत बड़ा है देवों का यह ऋण। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार छेकानुप्रास ॥९०॥

लोक एष परलोकमुपेता हा विहाय निधने धनमेकः ।
इत्यमुं खलु तदस्य निनीषत्यर्थिबन्धुरुदयद्दयचित्तः ॥ ९१ ॥

जीवातु—लोक इति । एष लोको जनः, हा कष्टम्, निधने अन्त्यकाले धनं विहाय, एकः एकाकी, परलोकमुपेता उपैष्यति । इणो लुट् । इति हेतो-रुदयद्दयमुदयत्कृपं चित्तं यस्य सोऽर्थ्येव, बन्धुरस्य लोकस्य, तद्धनम् अमुं परलोकं निनीषति नेतुमिच्छति खलु । अन्ये तु बन्धवः स्वयमेव सर्वस्वं गृह्णन्ति । नैव प्रापयन्तीत्यर्थिनामेवाप्तबन्धुता महत्ताह इति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हा, एष लोकः निधने धनं विहाय एकः परलोकम् उपेता,—इति उदयद्दयचित्तः अर्थिबन्धुः अस्य तत् अमुं निनीषति खलु ।

हिन्दी—हा खेद, यह मनुष्य अन्त्य समय में धन छोड़कर अकेला परलोक पहुँचेगा, इस कारण सदयचित्त याचक-बन्धु इस (दाता) के उस (धन) को वहाँ (परलोक में) निश्चय ले जाना चाहता है।

टिप्पणी—मृत्यु होने पर सब को धन-धान्य-पुत्र-सम्पदा यहीं छोड़कर जाना पड़ता है, इसलिए उचित है कि दान-पुण्यादि में व्यय कर धन-सम्पत्ति का सदुपयोग करे। कहा जाता है कि जो इस लोक में दिया जाता है, परलोक में

निमज्जनमुपैति खलु सुधामज्जनसुखमनुभवतीत्यर्थः । जनदेहानामन्नजत्वे तद्वदेव युष्मद्देहानामपि तथात्वे वयमेतत्सुधाकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थः । युष्मद्दर्शनादेव तावत्कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—जन्यजनकयोः भेदः न अस्ति, जनदेहः अन्नजनितः, सत्यम्, अमृताशः वः तनूः वीक्ष्य दृक् खलु सुधायां निमज्जनम् उपैति ।

हिन्दी—उत्पत्ति (कार्य , और उत्पादक (कारण) में विशेष भेद नहीं है, व्यक्ति का देह अन्न से उत्पन्न है—(ये दोनो) सत्य हैं, अमृतभक्षी आप (देवों) का शरीर देखकर दृष्टि निश्चयतः अमृत में निमग्न हो रही है।

टिप्पणी—नल के शिष्टाचारपूर्ण वचन । अमृतभोजी देवों को देखकर नल के नेत्रों को अमृत सरोवर में मग्न होने का सुख मिला, क्योंकि 'कार्य-कारणयोरभेद' न्याय से जैसा भक्ष्य, वैसा ही तज्जनित देह । देव अमृतभोजी हैं, अतः उनका देह भी अमृत, जैसे कि सुवर्ण निर्मित कुण्डल भी सुवर्ण ही होते हैं। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ ९४ ॥

मत्तपः क्व नु तनु क्व फलं वा यूयमीक्षणपथं व्रजथेति ।
ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्नः पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

जीवातु—मदिति । तनु स्वल्पं मत्तपः क्व ? । यूयमीक्षणपथं व्रजथेति फलं युष्मद्दर्शनरूपं महाफलं वा क्व ? वैरूप्यादिति भावः । अत एव विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः । अथवा ईदृशानि ईदृङ्महाफलान्यपि दधति पुष्णन्ति । 'वा नपुंसकस्य' इति नुमागमः । पुनःशब्दो वाक्यालङ्कारे । नोऽस्माकं पूर्वपूरुषतपांसि जयन्ति तानीदानीं फलन्तीत्यर्थः ॥ ९५ ॥

अन्वयः—तनु मत्तपः क्व, यूयम् ईक्षणपथं व्रजथ इति फलं वा क्व ? ईदृशानि अपि दधन्ति नः पूर्वपुरुषतपांसि पुनः जयन्ति ।

हिन्दी—थोड़ी सी मेरी तपस्या कहाँ, और आप नेत्रों के पथ पर यात्रा करें—ऐसा (महान्) फल कहाँ ? ऐसा भी विधान करते हमारे पूर्वपुरुषों के तप ही फल रहे (प्रतीत होते) हैं।

टिप्पणी—नल ने देवों से कहा कि आप देवों के दर्शन तो बड़े तप के फल स्वरूप प्राप्त पुण्यों से होते हैं, मैं तो सामान्य नियमाचरण से जीवन-यापन करने वाला व्यक्ति हूँ—थोड़ी-सी तपस्या । आपके दर्शनों के कारण

हमारे पुरखाओं के रूप ही प्रतीत होते हैं। मल्लिनाथ ने प्रथम द्वितीयचरण-वाक्य में विरूपघटनारूप विषम अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार विषम और अतिशयोक्ति है ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिला खलु देवी कर्म सर्वसहनव्रतजन्म।
यूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजैः सृजथ पादपयोजैः ॥ ९६ ॥

जीवातु—प्रतीति। इला देवी भूदेवता, सर्वसहन विश्वावमानसहनमेव व्रत येन सा सर्वसहेति ख्यायते। तस्माज्जन्म यस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थः। नियत इति कर्म सुकृत (कर्तृ) प्रत्यतिष्ठिपत् प्रतिष्ठापयामास खलु। 'तिष्ठतेरित्' इति णौ चङ्युपधाया इत्वम्। यद्यस्माद्यूयमपि निजैः पादैरेव पयोजैरिति रूपकम्; अस्या इलाया पूजन पूजा सृजथ कुरुध्वमित्यर्थः। अहहेत्यद्भुते ॥ ९६ ॥

अन्वय—सर्वसहनव्रतजन्म कर्म इला देवी प्रत्यतिष्ठिपत् खलु, अहह, यत्, यूयम् अपि निजैः पादपयोजैः अस्याः पूजन सृजथ।

हिन्दी—सब कुछ सहने के व्रत से उद्भूत कर्म (सुकृत-पुण्य) ने धरित्री देवी को निश्चयतः प्रतिष्ठापना दी है, अहा, कि आप (देव) भी अपने चरण रूपी कमलों से इस (पृथ्वी देवता) की पूजा कर रहे हैं।

टिप्पणी—निश्चय ही यह धरती पूजनीया देवी है, क्योंकि देवगण भी उसकी कमलों (चरण कमलों) से पूजा कर रहे हैं। देवों की प्रसन्नता ही बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है, परन्तु यहाँ तो देवगण पृथ्वी की पूजा कर रहे हैं। इससे प्रमाणित है कि धरती ने जो सब कुछ सहन की वृत्ति ले रखी है, उसी सुकृत का यह परिणाम है। नल ने शिष्टाचार प्रदर्शन पूर्वक देवों से उनके मृत्युलोक में पधारने का कारण पूछा। देवों का सशरीर पृथ्वी पर आना आश्चर्यजनक है ही। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा रूपक ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिकं यन्मनीषितमितो नरडिम्भात्।
तेन वश्चरणमर्चतु सोऽयं ब्रूत वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ॥ ९७ ॥

जीवातु—जीवितेति। इतो नरडिम्भान्मानुषशिशोः जीवितावधि प्राणान्ततोऽधिकं वा किमपि मनीषितमपीप्सितं यद्वस्तु सोऽयं नरडिम्भः, तेन वस्तुना, वश्चरणमर्चतु पूजयतु। ईदृगन्यद्वस्तु पुनः किमस्तु किं स्यात्, ब्रूत ॥ ९७ ॥

अन्वय—अधिक्षिति शत भूपा आसने, तोयराशि असि, ते खलु कूप, दिवि ते ते ग्रहा न आसते, भास्वत तु तुलया कतम आस्ते ?

हिन्दी—पृथ्वीमडल पर सैकडो पृथ्वीपाल हैं, तू जलनिधि (सागर) है और वे निश्चयत कूप। आकाश मे वे वे (प्रसिद्ध चद्रादि) ग्रह क्या नहीं हैं, किंतु सूर्य की तुलना मे कौन ठहरता है ?

टिप्पणी—चाटुकारी। अन्य पृथ्वीपतियो की तुलना मे नल वैसा ही है, जैसा कि कूपों की तुलना में जलनिधि समुद्र अथवा चद्रादि ग्रहो की तुलना में सूर्य। भाव यह है कि नल से बडा न तो कोई धरती पर है, न आकाश में, न मृत्युलोक मे, न स्वग मे। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात अलकार, विद्याधर के अनुसार रूपक और दृष्टात ॥ १०० ॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेम ।
त्वामिहैव विनिवेश्य रहस्ये निर्वृतिं न हि लभेमहि सर्वे ? ॥ १०१ ॥

जीवातु—विश्वेति। विश्व पश्यन्तीति विश्वदृश्वानि, सर्वदर्शीनि। दृशेर्क्वनिप्‌। तानि नयनानि येषा ते वयमगाधम् गम्भीरम्, तव गुणा दयादाक्षिण्यवशित्वसत्यमादयस्तेषाम्, तानेवाम्बुधिमवेम अवगच्छाम। इणो लटो मम्। हि यस्मात्, इहास्मिन्, रहस्ये रहस्यकृत्ये, त्वामेव विनिवेश्य नियोज्य, सर्वे वय निर्वृतिं सुख न लभेमहीति काकु। लभेमह्येव, प्रागुक्त गुणाढ्यत्वादिति भाव ॥ १०१ ॥

अन्वय—विश्वदृश्वनयना एते वयम् अगाध त्वद्गुणाम्बुधिम् अवेम, हि इह रहस्ये त्वाम् एव विनिवेश्य सर्वे निर्वृतिं न लभेमहि ?

हिन्दी—अखिल विश्व को देखने मे समर्थ नेत्रो वाले ये हम (देव) तुम्हारे अथाह गुणो के समुद्र से परिचित है, जिससे कि इस गोपनीय काय मे तुम्हें ही नियुक्त कर हम सब क्या परमसुख नही पा रहे हैं ? (पा ही रहे हैं)।

टिप्पणी—तृतीय चरण मे पाठान्तर है—'त्वामिहैवमनिवेश्य' (त्वाम् + इह + एवम् + अनिवेश्य)—अर्थ होगा कि इस रहस्य मे तुम्हे नियुक्त न करके सुख भरासा नहीं पा रहे है। भाव यह है कि देवो का काय इतना गोपनीय और महत्त्वपूर्ण है कि नलातिरिक्त व्यक्ति नहीं कर सकता। सा

अकेले ही समर्थ नल देवकार्य न करेगा तो वह न हो सकेगा और नल अपराधी होने से शाप भागी बनेगा। 'सर्व' के प्रयोग द्वारा पूर्वश्लोक में की गई सहचरवचना का गोपन। मल्लिनाथ ने 'काकु' का उल्लेख किया है, विद्याधर ने छेकानुप्रास और रूपक का ॥ १०१ ॥

शुद्धवंशजनितोऽपि गुणस्य स्थानतामनुभवन्नपि शक्रः।
क्षिप्नुरेनमृजुमाशु सपक्षं सायकं धनुरिवाजनि वक्रः ॥ १०२ ॥

जीवातु—शुद्धेति। शुद्धे अव्रणे, वंशे कुले, वेणौ च। जनितोऽपि। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे, इति विश्वः। गुणस्य शौर्यादेः मौर्व्यादेश्च। 'सत्त्वादौ रूपादौ शौर्यादौ तन्तुषु प्रयोगज्ञाः। गुणशब्दं शिञ्जिन्यामिति हलायुधः। स्थानतामाश्रयत्वमनुभवन्नपि शक्रः ऋजुमकुटिलबुद्धिम्, अवक्रश्च। सपक्षं सुहृदं सपत्रं च, एनं नलं, सायकं धनुश्चाप इव। 'अथास्त्रियौ धनुश्चापौ—' इत्यमरसिंहाभिधानात्पुंल्लिङ्गप्रयोगः। अथवायशब्दं उकारान्तोति उणादौ 'भ्रमदक्यादिसूत्रेण धनधातोः सौत्रे डप्रत्ययविधानात्। आशु। क्षिप्नुः क्षेप्ता सन्, क्षिपेः क्नुः। 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीयैव। वक्रो जिह्मोऽजनि। श्लिष्टविशेषणेयमुपमेति केचित्। प्रकृताप्रकृतश्लेष इत्यन्ये।१०२।

अन्वय—शुद्धवंशजनितः अपि गुणस्य स्थानताम् अनुभवन् अपि ऋजुं सपक्षम् सायकम् इव एनम् आशु क्षिप्नुः शक्रः धनुः इव वक्रः अजनि।

हिन्दी—शुद्ध कुल (विशिष्ट कश्यप कुल) में उत्पन्न होकर भी और विवेकादि गुणों का आश्रय होते हुए भी सीधे, पक्षयुक्त बाण के सदृश सरल शुद्ध और मित्र इस (नल) का शीघ्र क्षेपण (बाण छोडना और प्रेरण) करने का इच्छुक इन्द्र स्वच्छ बाँस से बने भी, प्रत्यंचा चढ़े धनुष् के समान वक्र (क्रूर-कुटिल और टेढ़ा) हो गया।

टिप्पणी—जैसे बाण त्यागने को प्रस्तुत धनुष् कठोर बाँस से बना होने पर टेढा हो जाता है, इसी प्रकार नल को दूतकार्य में तुरत नियुक्त करने के आकांक्षी इन्द्र ने कुटिलतापूर्वक अपने सरल मित्र नल की वंचना की। मल्लिनाथ ने कहा है कि प्रस्तुत श्लोक में कुछ विद्वान् श्लिष्ट उपमा का विधान करते हैं और कुछ प्रकृताप्रकृत श्लेष का, विद्याधर के अनुसार उपमा ॥१०२॥

तेन तेन वचसैव मघोनः स स्म वेद कपटं पटुरुच्चैः ।
आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ॥ १०३ ॥

जीवातु–तेनेति । उच्चैः पटुरतिकुशलः, स नलः, तेन तेन वचसैव मघोन इन्द्रस्य कपटं वेद स्म विवेद । अथ वेदानन्तरं, तदुचितां तस्य कपटस्योचितामनुरूपां वाणीमाचरत् । स्वयमपि कपटोक्तिमेवाकरोदित्यर्थः । तथा हि–कुटिलेषु, विषये, आर्जवमकौटिल्यं नीतिर्न हि । ततः कुटिलेनैव भवितव्यम् । अन्यथा महाननर्थमृच्छेदिति भावः ॥ १०३ ॥

अन्वय:—उच्चैः पटुः सः तेन तेन वचसा एव मघोनः कपटं वेद स्म, अथ तदुचितां वाणीम् आचरत्, हि कुटिलेषु आर्जवं नीतिः न ।

हिन्दी—अत्यन्त कुशल उस (नल) ने उन उन (९९ १०१ श्लोक) वचनों से ही इन्द्र का कपट जान लिया और तदनन्तर तदुपयुक्त (कपट योग्य) वाणी का व्यवहार किया, कारण कि कुटिल जनों के प्रति सरलता नीति नहीं होती ।

टिप्पणी—नल तो परम कुशल था, विद्या जिसकी 'रचनाप्रनर्तकी' थी, सो उसने इन्द्र का सपूर्ण कपटाचार जान लिया और वैसे ही छल-वाक्यों में उत्तर देने को उद्यत हुआ । वस्तुतः उसका यह व्यवहार उचित ही था, 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' । भारवि (किरातार्जुनीय प्रथमसर्ग) ने कहा भी है—'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।' विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ ४०३ ॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम् ।
युष्मदीयमपि या महिमानं जेतुमिच्छति कथापथपारम् ॥ १०४ ॥

जीवातु––सेयमिति । सेयमन्यजन्मनि जन्मान्तरे, मयैव कृतानां दुरितानामुच्चतरता महत्ता । तथा किमपराद्धं, तदाह–या पापमहत्ता कथापथस्य वाग्वृत्तेः, पारं दूरमवाच्यमित्यर्थः । युष्मदीयमपि महिमानं प्रभावमाज्ञारूपं जेतुमुल्लङ्घयितुमिच्छति । पापातिरेकाद्युष्मदाज्ञोल्लङ्घनेच्छा मे जायते इति विनयोक्तिः । सर्वथा युष्मन्नियोगो न क्रियत इति परमार्थः ॥ १०४ ॥

अन्वय — सा इयम् अन्यजन्मनि मया एव कृतानां दुरितानाम् उच्चतरता या कथापथपारं युष्मदीयम् अपि महिमानं जेतुम् इच्छति ।

हिन्दी—(नल ने कहा)—यह दूसरे (पूर्व) जन्म मे मेरे द्वारा ही किये गये पापो की अतिशयता है, जो कि वचन-मार्गों के पार (अवर्णनीय, वाग्गोचर) तुम्हारे भी माहात्म्य को जीतने की इच्छा कर रही है ।

टिप्पणी—देव तो अत्यन्त प्रतिष्ठित हैं, उनकी आज्ञा का पालन पुण्य कर्म है। यदि कोई व्यक्ति विरुद्ध कार्य करता है तो उसका वह दुर्भाग्य ही है। नल इन्द्रादि का अभीष्ट पालन करने मे जो असमर्थता दिखा रहा है, वह उसके जन्मान्तर के दुष्कृतो का परिणाम ही माना जा सकता है। नल ने कहा कि आपकी आज्ञा का पालन सुकृतों से ही सम्भव है, वह वैसा पुण्य-भाजन नहीं है। नल ने भी छलगिरा का आश्रय लेते हुए एक ओर तो विनयपूर्वक अपनी असमर्थता प्रकट की दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर दिया कि भीमनन्दिनी को प्राप्त करने का जो आपका अभिमान है, मैं उसका खडन करने मे समर्थ हूँ—'महीं दत्तवान् य स चासौ मान अहङ्कारश्च त महिमान भैमीप्राप्त्यहङ्कार पराजित्य या वाञ्छति सैव ममैव सामर्थ्या-तिशयता ।' अच्छा हो कि देवगण भीमनन्दिनी की इच्छा न करें १०४ ॥

वित्थ चित्तमखिलस्य न कुर्यां धुर्यकार्यपरिपन्थि तु मौनम् ।
ह्रीर्गिरास्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वीकृतैव परवागपरास्ता ॥ १०५ ॥

जीवातु—ननु कुटिलोक्तिभिर्वर मौनमत आह—वित्थेति । हे देवा, अखिलस्य जनस्य, चित्त वित्थ विदित्वा कुर्वन्तुं । तर्हि, कीदृक् चित्त तदाह—धुर्येति । धुर्यस्य इष्टसाधनसमर्थस्य, कार्यस्योपायप्रयोगस्य, परिपन्थि विरोधि, मौन तु कुर्याम् । किंतु गिरापरिहारोत्थया ह्रीरस्तु । वरम्, कार्यविरोधिनो मौनाल्लज्जावहमपि परिहारवचनमेव साध्विसर्थ । तर्हि मौनादेव परिहारे किं प्रतिषेधरोक्त्येण तत्राह—परेति । परस्य वाक् प्रार्थनोक्तिरपरास्ता अप्रति-षिद्धा सती, स्वीकृतैव पुन । अप्रतिषिद्धमनुमतमिति न्यायादङ्गीकृतैव तु मास्तु ॥ १०५ ॥

अन्वयः—अखिलस्य चित्त वित्थ, धुर्यकार्यपरिपन्थि मौन तु न कुर्याम्, गिरा ह्री अस्तु वरम्, अपरास्ता परवाक् स्वीकृता एव पुन मा अस्तु ।

हिन्दी—(तुम देवगण) सबके चित्त को जानते हो, (अत) श्रेष्ठ जनों के कार्य के प्रतिकूल मौन धारण तो नहीं करूँगा । वचनों से लज्जित

होना अच्छा, किन्तु निषेध न किये जाने के कारण (कहीं ऐसा न हो कि) दूसरों (तुम सबका) का वचन स्वीकृत (मान्य) समझ लिया जाय।

टिप्पणी—देवेन्द्र ने देवों को 'विश्वदृश्यनयना' कहा था, अतएव नल ने चुप रहना इस कारण उचित न समझा कि देव सबके मनोभाव जानते हैं। दूसरे नल उनका प्रस्ताव मानना नहीं चाहता था, और मौन रहने पर यह माना जायेगा कि नल देव प्रस्ताव से सहमत है—'मौन स्वीकारलक्षणम्'। नल का कथन है कि यह अधिक उचित है कि मनुष्य कार्य न करने की बात स्पष्ट कह दे, भले ही ऐसा कहने में लज्जित होना पड़े, पर यह अत्यन्त अनुचित है कि चुप रहने से अस्वीकृति स्वीकृति मान ली जाय। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०५ ॥

यन्मतौ विमलदर्पणिकायां सम्मुखस्थमखिलं खलु तत्त्वम्।
तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञां या न यस्य सदृशी वितरीतुम् ॥ १०६ ॥

जीवातु—तत्र तावत्तानुपालभते—यदिति। येषां वो मतावेव विमलदर्पणिकायां निम्नतादर्शे, अखिलं तत्त्वं वस्तु सम्मुखस्थं प्रत्यक्षं खलु। ते सवज्ञा अपि यूयमीदृशमुक्तप्रकाराम्। 'त्यदादिषु—' इत्यादिना दृशो कञ्प्रत्ययः। आज्ञां किं वितरथ दत्त। कीदृश्यत आह—येति। या यस्य मे वितरीतुं, दातुं, सदृशी योग्या न। तस्माद्यूयं ममोपालभ्या इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अन्वय—विमलदर्पणिकायां यन्मतौ अखिलं तत्त्वं सम्मुखस्थं खलु ते अपि ईदृशम् आज्ञां किं वितरथ, या यस्य वितरीतुं सदृशी न।

हिन्दी—स्वच्छ दर्पण जैसी जिनकी बुद्धि में संपूर्ण तत्त्व निश्चयतः समुख स्थित रहता है, वे (आप) भी ऐसा आदेश क्यों दे रहे हैं, जिसका देना (पूर्ण करना) जिस (नल) के उपयुक्त नहीं है।

टिप्पणी—देव जब सबके मनोभाव के ज्ञाता हैं तो वे नल के भाव भी जानते ही हैं। इस स्थिति में उसके दमयन्ती-अनुराग से देव अनभिज्ञ हों, यह समझ में आने की बात नहीं है। दमयन्ती की कामना करने वाले नल से देवों का दौत्यसंबंधी प्रस्ताव ऐसी दशा में अत्यन्त अनुचित है। विद्याधर के अनुसार रूपक ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्दूततां तु करवाणि कथं वः।
ईदृशां न महतां बत जाता वञ्चने मम तृणस्य घृणापि ॥ १०७ ॥

जीवातु—अथाष्टनिरयोग्यतामेवाह—यामीत्यादि। इहास्मिन् समये, या मैनीं वरीतुम्। 'वृतो वा' इति दीर्घः। यामि गच्छामि। तद्दूतता तु तस्याः एव विषये दूत्यं तु कथं वा करवाणि। अहो ईदृशा महता च तृणस्य। तृणकल्पस्य, मम, वञ्चने प्रतारणे, घृणा कृपा जुगुप्सा वापि, न जाता। अहोति खेदे ॥ १०७ ॥

अन्वय—अहो, इह यां वरीतुं यामि च तद्दूतता कथं करवाणि ? यत्, ईदृशा महता तृणस्य मम वञ्चने घृणा अपि न जाता।

हिन्दी—अरे, मैं इस समय जिस (दमयन्ती) को वरने जा रहा हूँ, उसके लिए तुम्हारा दूतकार्य कैसे करूँ ? खेद है कि इतने महान देवों को तृण-सदृश तुच्छ मेरी वञ्चना में घृणा भी नहीं उत्पन्न हुई।

टिप्पणी—नल ने इस कथन से देवों के इस प्रतारणकार्य का घृणास्पद तो बताया ही, साथ ही अपनी घृणा भी स्पष्ट कर दी। अन्वयान्तर—'ईदृशा महता वञ्चने तृणस्य मम घृणापि न जाता'—से अर्थ हुआ कि आप जैसे प्रतारकों को धोखा देने में मुझे कोई घृणा नहीं है। अथवा 'अवञ्चने मम घृणापि न जाता, अपि जाता एव'—प्रतारकों के पूजन में मुझे क्या घृणा भी नहीं आती है, आती ही है। अथवा—'ईदृशा नमहताम् (अमहताम्) तृणस्यापि अवञ्चने मम घृणा जाता' —ऐसे क्षुद्र, निम्नजातीय आपकी तृण जैसों के बीच भी पूजन में मुझे घृणा होती है। आप नीचातिनीच हैं—यह भाव। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-विरोध रूपक का सङ्कर ॥ १०७ ॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरस्या मोहमेमि च मुहूर्तमहं यः ।
ब्रूत वः प्रभवितास्मि रहस्यं रक्षितुं स कथमीदृगवस्थः ॥ १०८ ॥

जीवातु—उद्भ्रमामीति। किञ्च, योऽहमस्या भैम्या विरहान्मुहुरुद्भ्रमामि उन्माद्यामि मुहूर्तमल्पकालं, मोहं मूर्च्छां च एमि प्राप्नोमि। ईदृगवस्थः सोऽहं वो युष्माकं, रहस्यं रक्षितुं गोप्तुं, कथं प्रभवितास्मि प्रभविष्यामि न शक्ष्यामीत्यर्थः। ब्रूत। ब्रुवो लोट् ॥ १०८ ॥

अन्वय—यः अहम् अस्याः विरहात् मुहुः उद्भ्रमामि मुहूर्तं च मोहम् एमि ईदृगवस्थः सः ब्रूत, कथं वः रहस्यं रक्षितुं प्रभविता अस्मि ?

हिन्दी—जो मैं (नल) इस (दमयन्ती) के विरह के कारण बारबार

उन्मत्त हो जाता हूँ और क्षण-क्षण मूर्च्छित हो जाता हूँ, ऐसी दशा में पड़ा वह (मैं) बोलो, कैसे आपके रहस्य को छिपाने में समर्थ हो सकेगा।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरह में नल की स्वयं बुरी अवस्था है। तो जिस दमयन्ती की उसे इतनी व्याकुल आकांक्षा है, वह देवों का गुप्त दूत कार्य भला कैसे कर सकता है? कोई उन्मत्त और बेसुध रहने वाला व्यक्ति किसी के गुप्त भेद को छिपा ही नहीं सकता। नल भी ऐसी अवस्था में है। देवों के कार्य संपादनार्थ वह सर्वथा अयोग्य है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०८ ॥

या मनोरथमयी हृदि कृत्वा यः श्वसिम्यथ कथं स तदग्रे।
भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ॥ १०९ ॥

जीवातु—यामिति। योऽहं मनोरथमयी सङ्कल्परूपा, या भैमी, हृदि कृत्वा श्वसिमि प्राणिमि। अथ सोऽहं तदग्रे तस्या भैम्याः पुरः, भावगुप्तिं कामविकारगोपनमवलम्बितुं, कथमीशे शक्नोमि। तथा हि, विदुषा विवेकिनापि विषयाः शब्दादयो दुर्जया इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ १०९ ॥

अन्वयः—अथ यः मनोरथमयीं यां हृदि कृत्वा श्वसिमि, सः तदग्रे कथं भावगुप्तिम् अवलम्बितुम् ईशे? हि विषयाः विदुषा अपि दुर्जयाः।

हिन्दी—उसके अतिरिक्त जो (नल) संकल्परूपा जिस (दमयन्ती) को हृदय में बसा कर श्वास लेता है (जी रहा हूँ), वह (मैं नल) उसके आगे किस प्रकार (अपने) भावों को सँभालने में समर्थ हो सकेगा, कारण कि विषयों को विद्वान् भी कठिनता से जीत पाते हैं।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की श्वास श्वास में, रोम रोम में, मन के प्रत्येक कोने में बसी थी, वही उसका जीवन प्राण थी। तो जो मन में इस प्रकार रमी थी, उससे नल रोमांच, स्वेद आदि काम विकार कैसे छिपा सकेगा! बड़े-बड़े समर्थ विद्वज्जन भी विषय विकारों को कठिनता से जीत पाते हैं इस प्रकार नल उक्त कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। 'अहम्' का पूर्वश्लोक से अन्वय किया गया है। अर्थान्तरन्यास ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमृद्य च मादृक् तां निरीक्षितुमपि क्षमते कः।
रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी ॥ ११० ॥

जीवातु—यामिकानिति । किञ्चेति चार्थः । मादृङ् मद्विधः, मन्दिर-मिन्दर्यं । के यामान् रक्षन्तीति यामिकाः प्रहररक्षकाः 'रक्षती'ति ठक् । ताननुमृद्य अहत्वा । ता भैमीं, निरीक्षितुमपि क्षमते । किं पुनरासादयितुमिति भावः । तथैव क्रियतां तत्राह—रक्षीति । रक्षिणां लक्षाणि तेषां वधेन मदनेन बद्धचरित्रे क्रूरकर्मणि, पुंसि कुमारी कन्या, कुत्र विश्वसितिः, न कुत्रापी-त्यर्थः । क्वोद्वाहप्रसङ्गः । क्व चान्तःपुरदर्शनमिति भाव ॥ ११० ॥

अन्वय—मादृक् कः च यामिकान् अननुमृद्य ताम् निरीक्षितुम् अपि क्षमते रक्षिलक्षवधपातकचरित्रे पुंसि कुमारी कुत्र विश्वसिति ?

हिन्दी—और मेरे सदृश कौन व्यक्ति पहरेदारों को बिना मर्दित किये (बिना मारे) उसे (दमयन्ती को) देख भी सकता है ? और लाखों रखवालों के वध का क्रूर कर्म करनेवाले पुरुष का कुमारी कहाँ विश्वास करती है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के अन्तःपुर की लाखों पहरेदार रखवाली करते हैं । कोई व्यक्ति बिना रखवालों को मारे उसे देख भी नहीं सकता । और जो मनुष्य ऐसा करके क्रूर प्रमाणित होगा, उसका विश्वास कौन कुमारी कन्या कर सकेगी ? वह घायिका हो उससे दूर भाग जायेगी या बेसुध हो जायेगी । विवाह की बात तो दूर, सामान्य शिष्टाचार भी न निबाह सकेगी । सम्भव है कि ऐसा क्रूर कर्म देखकर दमयन्ती का पुरुषमात्र से विश्वास हट जाय । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ११० ॥

आददीचि किल दातृतयार्घं प्राणमात्रपणनीयं यशो यत् ।
आददे क्वयमहं प्रियया तत् प्राणतः शतगुणेन पणेन ॥ १११ ॥

जीवातु—आददीचीति । प्राणमात्रं जीवितमेव, पणनीयं मूल्यावधिर्य-स्मिन् कर्मणि तदस्य तथा । 'पणो मूल्ये ग्लहे माने' इति वैजयन्ती । आददीचि दधीचिनारभ्य ऋषिविशादव्ययीभावः । किलेति प्रसिद्धौ । दातृभिर्वदान्य-तार्थं निरचितं मूल्यम् । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः । तत्तद् यशः प्राणतो जीवाच्छतगुणेन अधिकेन, पणेन मूल्येन, अहं कथमाददे स्वीकरिष्यामि । हीनकस्य क्रयादसम्भवादिति भावः । अत्र परिवृत्तिरलङ्कारः । 'समन्यू-नाधिकानामन्यैर्यदा विनिमयो भवेत् । सा च न्यूनाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता ॥' इति लक्षणात् । तत्र प्राग्दधीचेर्न्यूनपरिवृत्तिः, हीनमूल्यत्वात् । प्रियया तत्तोऽधिकपरिवृत्तिरधिकमूल्यत्वादिति भाव ॥ १११ ॥

जीवातु—कुण्डिनेति । कुण्डिनेन्द्रसुतया दमयन्त्या । 'न लोक-' इत्यादिना निष्ठायोगे षष्ठीप्रतिषेधात् कर्तरि तृतीया । पूर्वमेव मा वरीतुमुररीकृतमङ्गीकृतमास्ते । तया मद्वरणमङ्गीकृत किलेत्यर्थः । किलेति वार्तायाम् । कर्मणि क्त । वङ्गीकारस्य कथञ्चिदिच्छावत्त्वमङ्गीकृत्य, 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इति तुमुन्प्रत्यय । ततो मयि दृष्टे पर व्रीडमेष्यति । एव च सा युष्मान्न स्वीकरिष्यति खलु ॥ ११४ ॥

अन्वय —कुण्डिनेन्द्रसुतया पूर्वं किल मा वरीतुम् उररीकृतम् आस्ते, सा मयि दृष्टे पर व्रीडम् एष्यति युष्मान् खलु न स्वीकरिष्यति ।

हिन्दी—कुण्डिनपुरी के राजा की पुत्री (दमयन्ती) ने पहिले ही मुझे वरना स्वीकार रखा है, वह मुझे देखकर अत्यन्त लज्जा को प्राप्त होगी, तुम्हें निश्चयपूर्वक न स्वीकारेगी ।

टिप्पणी—नल ने अपने प्रभावित दूत कर्म की व्यर्थता का भी सकेत कर दिया । जब वह दमयन्ती पहिले से ही नल को वरना निश्चित कर चुकी है तो फिर अन्य को वरने का प्रश्न ही नहीं है, अत वहाँ दूत बनकर जाना व्यर्थ है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलकार । सामान्यत 'व्रीड' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, लज्जार्थक 'व्रीडा' का प्रयोग दीखता है । वामनाचार्य के अनुसार घञ् प्रत्ययात पुंलिङ्ग 'व्रीड' भी निष्पन्न होता है । कालिदास ने 'व्रीडमावहति' (रघुवश) तथा माघ ने भी 'व्रीडा दिवाभ्यागतै ' (शिशुपालवध) मे ऐसा प्रयोग किया है ॥ ११४ ॥

तत्प्रसीदत विधत्त न खेद दूत्यमत्यसदृश हि ममेदम् ।
हास्यतैव सुलभा न तु साध्य तद्विधिर्लुभिरनौपयिकेन ॥ ११५ ॥

जीवातु—तदिति । तत्तस्मात्, प्रसीदत प्रसन्ना भव, खेद क्लेश, न विधत्त न कुरुत । ममेद दूत्यमत्यसदृशमत्यन्तायोग्य हि । कुत ? अनौपयिकेन, अनुपायेन, उपाय विनेत्यर्थ । 'उपायाद्धस्वत्वञ्च' इति स्वार्थे ठक् ह्रस्वत्व च । तद् दूत्य विधिर्सुभिर्विनौपयिर्भिर्हास्यतैव सुलभा, साध्य प्रयोजनन्तु न सुलभम् । अनुचितकर्मारम्भोऽनर्थाय भवेन्न फलायेत्यर्थ ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तत् प्रसीदत, खेद न विधत्त । मम इद दूत्यम् अत्यसदृशम्, हि अनौपयिकेन तत् विधित्सुभि हास्यता एव सुलभा, साध्य तु न ।

हिन्दी—अत (हे देवगण) आप प्रसन्न हों, खिन्न न हों। मेरा यह दूतकर्म अत्यन्त अनुचित है, क्योंकि जो उपाय नहीं है, उस (अनुचित साधन) से उन (दूतकर्म) को करने के इच्छुकों को उपहास ही सरलता से प्राप्य है, साध्य (उद्देश्य) तो सुलभ नहीं है।

टिप्पणी—उद्देश्य प्राप्ति के लिए ठीक उपाय ही करना चाहिए, तभी सिद्धि मिलती है। यदि साधन उपयुक्त न हो तो लक्ष्य प्राप्त न होगा, प्रत्युत हँसी ही होगी, अत नल को दूत बनाने से उद्देश्य सिद्ध न होगा। अनुचित कर्म का आरम्भ अनर्थजनक ही होता है, सुफल नहीं होता। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ११५ ॥

ईदृशानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नलस्य बलारि ।
शंसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोल ॥ ११६ ॥

जीवातु—ईदृशानीति। स बलारि इन्द्र, तदानीं नलस्येदृशानि गदितानि वाक्यानि, आकलय्य आकर्ण्य। स्मयमानो मन्द हसन्। स्वानुगानां यमादीनाम्, आननविलोकने लोलो लोलुपस्सन्। स्ववाक्यानुमोदनार्थमिति भाव। किमपि किञ्चिद्वाक्य शंसति स्म शशंस ॥ ११६ ॥

अन्वय—स बलारि तदानीं नलस्य ईदृशानि गदितानि आकलय्य स्मयमान स्वानुगाननविलोकनलोल किम् अपि शंसति स्म।

हिन्दी—वह बल का शत्रु (इन्द्र) उस समय नल के ऐसे वचन सुनकर मन्द मन्द हँसता हुआ अपने अनुगामियों (यमादि) के मुखों को चंचलता से निहारता हुआ कुछ वाक्य कहने लगा।

टिप्पणी—नल ने कहा था कि वह प्राणाधिक वस्तु देकर भी देवयाचकों की अर्चना करेगा (श्लोक सं० ९७), अब उपर्युक्त नल-कथन उसके विरुद्ध जा रहा है। वचन पालन में आनाकानी करने के कारण इन्द्र उसका उपहास करने के लिए अनुमोदनार्थ यमादि की ओर देखता हुआ आगे दिये गये वचन कहने लगा। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार अनुप्रास ॥ ११६ ॥

नाभ्यधायि नृपते ! भवतेदं रोहिणीरमणवंशभवेन ।
लज्जते न रसना तव वाक्यादर्थिषु स्वयमुरीकृतकाम्या ॥ ११७ ॥

जीवातु—नेति। हे नृपते ? भवता इदम्। सेयमुच्चतरेत्यादि प्रतिषेध-वाक्यम्। रोहिणीरमणवशभवेन सोमवश्येनेव नाभ्यधायि। किं त्वसोमवश्ये-नेवाभिहितमित्यर्थ। प्रतिश्रुतपरित्यागादिति भाव। कुत, अपितु विषये स्वयमुरीकृतकाम्या अङ्गीकृतमनोरथपूरणा तव रसना, वाक्यात् प्रातिकूल्यान्न लज्जते। ततो न सोमवश्य इव प्रतिभासीत्यर्थ॥ ११७॥

अन्वय—नृपते, रोहिणीरमणवशभवेन भवता इद न अभ्यधायि? अपितु स्वयम् उररीकृतकाम्या तव रसना वाक्यात् न लज्जते?

हिन्दी—हे नरेन्द्र (नल), रोहिणी मे रमनेवाले (चन्द्र) के वश मे उत्पन्न आपके द्वारा क्या यह (श्लोक स० १०४-११४) नही कहा गया? अपने आप याचको का अभिलषित देना स्वीकारने वाली तुम्हारी जीभ (अब) प्रतिकूल कहने से लज्जित नही होती?

टिप्पणी—इन्द्र ने नल के पूर्व वचनों (९७, १०४-११४) का उल्लेख करते हुए नल का उपहास किया और भर्त्सना की कि तब तो इतना बढ-चढ कर बोलते थे, अब वचन को क्रिया मे परिणत करने से क्यो पीछे हट रहे हो? तुम रोहिणी अर्थात् गौ के रमण अर्थात् बैल के वशज अर्थात् बैल- एक पशु हो। जैसा बैल मूर्ख पशु होता है, वैसे ही तुम हो। जैसे बैल खाये घास-तिनको को वमन कर देने मे कोई लज्जा प्राप्त नही करता, वैसे ही तुम भी 'वाक्य' (प्रतिकूल कथन अथवा वमन—'वमिरेव वाक्य तस्मात् वाक्यात्—') मे लज्जित नही होते। तुम सोमवशी नही, बलीवर्दवशज हो। विद्याधर के अनुसार उपमा और हेतु, अलकार॥११७॥

भङ्गुर च वितथ न कथ वा जीवलोकमवलोकयसीमम्।
येन धर्मयशसी परिहातु धीरहो चलति धीर! तवापि॥ ११८॥

जीवातु—भङ्गुरमिति। हे धीर विद्वन्! इम जीवलोक प्राणिजातम्। भङ्गुर विनश्वर, 'भञ्जभासमिदो घुरच्'। वितथ दु खमयत्वान्निष्फलञ्च। कथ च नावलोकयसि न पश्यसि, न जानासीत्यर्थ। येनाज्ञानेन तवापि धीर्धर्मयशसी। अभङ्गुरावितथे अपीति भाव। परिहातु चलति। अहो अस्थिर-विषयलोल्यात् स्थिरसुकृतपरित्यागो ज्यायसामनुचित इत्यर्थ॥ ११८॥

अन्वय—अहो, धीर, इम जीवलोक भङ्गुर वितथ च कथ वा न अवलोकयसि येन तव अपि धी धर्मयशसी परिहातु चलति?

हिन्दी—आश्चर्य है कि हे धीर (विद्वान् नल), इस प्राणिजाद को विनाशशील (नश्वर) और अलीक (झूठा) क्यों नहीं समझते, जिसके कारण तुम्हारी भी बुद्धि धर्म और यश को त्याग देने को चल रही है ?

टिप्पणी—इन्द्र ने समझाने की दृष्टि से नल को बताया कि यह जीवन क्षणभंगुर और झूठा है, धीर, समझदार व्यक्ति इस क्षुद्र जीवन की रक्षा अथवा सामान्य सुख के लिए धर्माचरण नहीं छोड़ते और यशकण्टित नहीं होने देते। आश्चर्य तो यही है कि सुविचारी होकर भी नल एक नारी के लिए धर्म-यश छोड़ने को तैयार है यह उचित नहीं है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु ॥ ११८ ॥

क: कुलेऽजनि जगन्मुकुटे व: प्रार्थकेप्सितमपूरि न येन।
इन्दुरादिरजनिष्ट कलङ्की कष्टमत्र म भवानपि मा भूत् ॥ ११९ ॥

जीवातु—क इति। जगन्मुकुटे जगच्छ्रेष्ठे व: कुले प्रार्थकेप्सितमर्थिमनोरथ येन नापूरि न पूरितम्। कोऽजनि जात, न कोऽपीत्यर्थ। 'दीपजन—' इत्यादिना कर्तरि लुङि चिण्। आदिर्मूलभूत इन्दु कलङ्की अजनिष्ट जात। कष्ट अत्र लोके भवानपि सकलङ्को मा भूत्। अकीर्तिमा भूदित्यर्थ ॥ ११९ ॥

अन्वय—जगन्मुकुटे व कुले क: अजनि येन प्रार्थकेप्सित न अपूरि ? कष्टम् आदि इन्दु कलङ्की अजनिष्ट अत्र भवान् अपि म मा भूत्।

हिन्दी—जगत् के मुकुट (ससार के सिरमौर) तुम्हारे कुल में कौन ऐसा उत्पन्न हुआ, जिसने माँगने वाले का अभीष्ट पूर्ण नहीं किया ? (अर्थात् कोई नहीं)। खेद की बात है कि (तुम्हारा) आदि (पुरुष) चन्द्र कलङ्की बना, इस लोक में तुम भी ऐसे न हो जाओ।

टिप्पणी—नल के यशस्वी वंश और पूर्वपुरुषों का स्मरण कराते हुए इन्द्र ने नल को भी उन्हीं के समान प्रार्थियों का अभिलषित देने वाला बने रहने की सलाह दी। उनके पूर्वपुरुष ऐसे ही थे। उपहास करते हुए इन्द्र ने चन्द्रवंश के मूल चन्द्र के कलङ्कित्व का स्मरण कराया और व्यग किया कि नल वैसा न बने। वही कारण गुण तो कार्य में नहीं आ रहा है ? नल ऐसा व्यवहार न करे, जिससे कुल कलङ्कित हो ॥ ११९ ॥

यापदृष्टिरपि या मुखमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टिः ।
त्वादृशस्य सकलः स कलङ्कः शीतभासि शशकः परमङ्कः ॥ १२० ॥

जीवातु—अथ विचार्यमाणे त्वमेव कलङ्की न शशाङ्क इत्याह—येति । त्वादृशस्य याचमानमनु अर्थिनं प्रति, याप्यपदृष्टिर्विकृतदर्शनं, या च मुखमुद्रा मौनं, या न तुष्टिरसन्तोषश्च, स सकलो विकारः कलङ्कः । शीतभासि चन्द्रे, शशकः परं केवलमङ्कः श्रीवत्सादिवत् चिह्नं, न तु कलङ्क इत्यर्थः ॥ १२० ॥

अन्वय—याचमानम् अनु या अपदृष्टिः या च मुखमुद्रा, या च न तुष्टिः सः सकलः त्वादृशस्य कलङ्कः, शीतभासि शशकः परम् अङ्कः ।

हिन्दी—याचक को लक्षकरके जो अनादर की दृष्टि और जो मुख की मुद्रा (मुँह-बिगाडना अथवा मौन) और जो असतोष है—वह सब तुम्हारे जैसे (धीर) व्यक्ति के लिए कलक है, शीतप्रभ (चन्द्र) में तो खरहा केवल एक चिह्न है।

टिप्पणी—और समझाता इन्द्र कहने लगा कि नल के आदि पुरुष चन्द्र का कलक वस्तुत निंदास्पद कलक नहीं है, वह तो शश का एक चिह्न ही है, परन्तु याचकों के प्रति अनादर, मौन मुखमुद्रा, असतोष प्रदर्शन—यह नल जैसे व्यक्तियों के एकाधिक कलक हैं। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास व्यतिरेक समुच्चय का सकर ॥ १२० ॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृतः किमथ वा पठितोऽपि ।
इत्यमर्थिजनसंशयदोलाखेलनं खलु चकार नकारः ॥ १२१ ॥

जीवातु—किञ्चेदमर्थिषु ते नास्ति वाद इत्याह—नेति । अक्षराणि पठता शैशवे मातृकाक्षराण्यभ्यस्यता भवता, नकारो निषेधवाची नशब्दो नापाठि किम् । अथवा, पठितोऽपि प्रस्मृतो विस्मृतः इत्यमर्थिजनस्य संशय एव दोला तया खेलनं क्रीडाम् । नकारश्चकार । अत्रार्थिनामीदृक्संशया-सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । ■ चोक्तसक्षयोरप्यपि इति सङ्कर ॥ १२१ ॥

अन्वय—अक्षराणि पठता न अपाठि किम् अथवा पठितः अपि विस्मृतः किम्, इत्थम् नकारः अर्थिजनसंशयदोलाखेलनं चकार ?

हिन्दी—(हे नल, तुमने शैशव में) वर्णमाला सीखते हुए क्या 'न' अक्षर नहीं पढ़ा अथवा क्यों पढ़ कर भी भुला दिया कि निश्चयतः इस प्रकार 'नकार' ने याचकवृन्द के संदेह रूप झूले में खेल किया (झूला झूला)।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल ने अब तक किसी याचक को देने में 'न' नहीं कहा था, सो वे समझते थे कि बचपन में वर्णमाला सीखते नल ने या तो 'न' वर्ण सीखा ही नहीं या फिर सीखा तो भूल दिया। यहीं याचकों का संशय झूले की वे दो कोटियाँ-छोर थीं, जिनमें 'न' झूला करता था। याचक यह निश्चय ही न कर पाते थे कि इन दोनों स्थितियों में कौन-सी स्थिति वास्तविक है, नल ने 'न' नहीं सीखा या सीख कर भुला दिया? आशय यह कि जब नल ने अभी तक किसी की याचना को अस्वीकारा नहीं, तो अब वैसा क्यों करना चाहता है? मल्लिनाथ ने असबन्ध में सबन्ध-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, विद्याधर ने संदेह और रूपक अलङ्कार का ॥ १२१ ॥

अब्रवीत्तमनल क नरेन्द लब्धमुज्झसि यश शशिकल्पम्।
कल्पवृक्षपतिमर्थिनमेनं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्य ॥ १२२ ॥

जीवातु—अब्रवीदिति। अयानलोऽग्निस्त नलमब्रवीत्। हे नल! इद वक्ष्यमाण, लब्ध हस्तप्राप्त शशिकल्प चन्द्रप्रतिम, यश, कथोज्झसि कुत्र त्यजसि। कि तद्यशस्तदाह इह लोके, अन्यस्त्वद्व्यतिरिक्त, कोऽपि कल्पवृक्ष-पतिमनन्यार्थिनमित्यर्थ। एन शतमन्युमिन्द्र, अर्थिन नाप। तदेतदस्त्वगत-मिन्द्रवाञ्छत्वमद्य वृथा मा विनाशयेत्यर्थ ॥ १२२ ॥

अन्वय—अनल तम् अब्रवीत्—नल! इद लब्ध शशिकल्प यश कद उज्झसि, इह अन्य क अपि एन कल्पवृक्षपति शतमन्युम् अर्थिन न आप?

हिन्दी—अग्नि उस (नल) से बोला—नल, इस सप्राप्त चन्द्र सम (उज्ज्वल) यश को किस कारण त्याग रहे हो, इस लोक में अन्य किसी ने इस कल्पतरु के स्वामी शतक्रतु (इन्द्र) को याचक (रूप में) नहीं पाया?

टिप्पणी—अग्नि ने नल को सलाह दी कि उसे ऐसा अवसर मिल रहा है, जो अद्यावधि किसी को नहीं मिला। जिसने सौ यज्ञ करने का पुण्य

करके इन्द्रत्व पाया है, जो सब अभीष्ट फलों के दाता कल्पवृक्ष का स्वामी है–अर्थात् सबकी इच्छा पूर्ण कर सकता है, वह इन्द्र आज नल के सम्मुख याचक रूप में खड़ा है। ऐसे याचक को अभीष्ट देने से जो उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त होगी, उसे छोड़ना किसी प्रकार उचित नहीं है, अतः नल को इन्द्र का--देवों का दूत कार्य करना ही उचितयुक्त है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उपमा-काव्यलिंग अलंकार है ॥ १२२ ॥

न व्यहन्यत कदापि मुदं यः स्वः सदामुपनयन्नभिलाषः ।
तत्पदे त्वदभिषेककृता नः सोऽद्य त्यजत्वसमतामदमद्य ॥ १२३ ॥

जीवातु—नेति। स्वःसदः स्वर्वासिनः। 'सत्सूद्विष–' इत्यादिना क्विप्। तेषां नः सम्बन्धी योऽभिलाषो मनोरथो मुदमुपनयन् स्वसिद्धया सन्तोषमावहन्, कदापि न व्यहन्यत न विहतः। अद्य, तत्पदे तदव्यवसिते, तत्सम्पादकाधिकारे इत्यर्थः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। त्वदभिषेककृता त्वां स्थापयता, नः सम्बन्धी सोऽभिलाषः। असमता असाधारण्यं, स्वसिद्धावनन्यापेक्षत्वमिति यावत्। तन्मदं त्यजतु। अद्य प्रभृति स्वार्थसाधने स्वयमेव समर्था पुरा इत्यहङ्कारं मुञ्चाम इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

अन्वय—नः स्वःसदां यः अभिलाषः मुदम् उपनयन् कदापि न व्यहन्यत अद्य तत्पदे त्वदभिषेककृता सः असमतामदं त्यजतु।

हिन्दी—हम स्वर्ग के वासियों का जो अभिलाष (अभीष्ट) मोद को धारण करता कदापि 'हत' (अपूर्ण) नहीं हुआ, आज उस (अभिलाष) के स्थान में तुम्हारा अभिषेक करने (हम देवों का) वह (अभिलाष) अपने अनुपम होने का अभिमान त्याग दे।

टिप्पणी—देवों के अभिलाष को अहङ्कार था कि उसके समान कोई नहीं है, क्या कि वह अन्य किसी के द्वारा नहीं, स्वसामर्थ्य से ही पूर्ण हो जाता था। देवों का अभिलाष तो स्वयं ही पूर्ण होता है। आज उस अभिलाष को पूर्ण करने की याचना देव नल से कर रहे हैं। इस प्रकार नल के द्वारा पूर्णता का आकांक्षी अभिलाष आज अनुपम नहीं रह गया, उसका अहंकार समाप्त हो रहा है। भाव यह कि सर्वसामर्थ्यशील देवों की इच्छा पूर्ण करने में आज नल ही समर्थ है। उसे यह गौरव लेना ही

चाहिए। देवों का अभिमान समाप्त हो गया। विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक और काव्यलिङ्ग ॥ १२३ ॥

अब्रवादथ यमस्तमहृष्ट वीरसेनकुलदीप ! तमस्त्वाम्।
यत्किमप्यभिबुभूषति तत्किं चन्द्रवंशवसतेः सदृशं ते ॥ १२४ ॥

जीवातु—अब्रवीदिति। अथ यम अहृष्टमसन्तुष्टं, तं नलमब्रवीत्। हे वीरसेनकुलदीप ! किमपि यत्तमो मोहोऽन्धकारश्च त्वामभिबुभूषति अभिभवितुमिच्छति। तच्चन्द्रवंशे वसति स्थितिर्यस्य तस्य ते सदृशं किम्। न हि चान्द्रस्य तेजस्तमसाभिभवो युक्त इत्यर्थः ॥ १२४ ॥

अन्वय—अथ यमः अहृष्टं तम् अब्रवीत्—वीरसेनकुलदीप ! यत् किम् अपि तमः त्वाम् अभिबुभूषति तत् किं चन्द्रवंशवसतेः ते सदृशम् ?

हिन्दी—तदनन्तर (अग्नि वचन के पश्चात्) यम दुःखी नल से बोला—हे वीरसेन के कुलदीपक, जो कुछ भी तम (दमयन्ती का मोह रूप अंधकार) तुम्हें पराजित करने को इच्छुक है, वह क्या चन्द्रकुल से सम्बद्ध तुम्हारे अनुरूप है ?

टिप्पणी—दमयन्ती को प्राणों के तुल्य समझने वाला नल इस प्रसंग से दुःखी था, किन्तु यम तो दुःखियों को और दुःख देने में विख्यात ही है, उसने दुःखी नल को और दुःख देते हुए कहा कि नल को जो यह दमयन्ती का मोह सता रहा है, उसे आवृत कर रहा है, यह उचित नहीं है। वह है यशस्वी राजा वीरसेन के कुल का दीपक और चन्द्र से उसके कुल का संबंध है। दीपक भी अंधकार का नाशक है और चन्द्र भी। फिर क्या यह अनुचित नहीं है कि वह अंधकार (मोह) से ग्रस्त हो रहा है ? दीपक और चन्द्र जब तमोनिवर्ती हैं तब नल को भी तमोवर्ती रहना चाहिए। चारित्रवर्धन की तिलकव्याख्या और जिनराज की सुखावबोध टीका के अनुसार इस श्लोक में मोह में पड़े नल का यम द्वारा उपहास है। तम अर्थात् राहु जो नल के अभिभव का इच्छुक हो रहा है, वह क्या चन्द्रवंशवसति नल के अनुरूप है—'तमः राहुस्त्वा यदभिबुभूषति तच्चन्द्रवंशवसतेस्ते किं युक्तं सदृशम् ? किं प्रश्ने। राहुणा चन्द्रस्याभिभवनं सदृशमेवेत्युपहासः।' विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष है ॥ १२४ ॥

रोहण किमपि य कठिनाना कामधेनुरपि या पशुरेव ।
नैनयोरपि वृथा भवदर्थी हा विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥ १२५ ॥

जीवातु—रोहण इति । यो रोहणो मणीनामाकरोऽद्रि , सोऽपि कठिनाना मध्ये किमपि कठिन । या कामधेनु सापि पशुरेव । एनयो पशुपाषाणयोरपि सम्बन्धी । 'द्वितीयाटौस्वेन' इतीदशब्दस्य एतच्छब्दस्य वा अन्वादेशविषये इनादेश । *अर्थी वृथा विफलो नाभवत् । हे वत्स, किमेतद्विधित्सुर्विधातु-*मिच्छुरसि । हेति विषादे । हा कष्ट पशुपाषाणाभ्यामपि तुच्छवृत्तिरसीत्यर्थ ॥

अन्वय—य कठिनाना किमपि रोहण , या कामधेनु अपि पशु एव, एनयो अपि अर्थी वृथा न अभवत्, हा वत्स, एतत् किम् विधित्सु असि ?

हिन्दी—जो निष्ठुर कठोरो मे भी कठोर गिना जाता है, वह सुमेरु पर्वत है, जो कामधेनु है, वह भी पशु ही है, इनके याचक भी अकृतकाम नही रहे, हाय बेटे, (तुम) यह क्या करने जा रहे हो ?

टिप्पणी—ससार म जो कठोर-से भी-कठोर पवत सुमेरु है, वह भी याचको की इच्छा पूर्ण करता है, आ सुरगो कामधेनु है, वह एक पशु है, फिर भी याचको को अभीष्ट देती है। पत्थर और पशु होकर भी सुमेरु और कामधेनु तो याचको की इच्छा पूर्ण कर देते ह, मनुष्य होकर भी नल याचक देवो को निराश कर रहा है। यह परम दु ख की बात है। नल तो कठोर भी नही है, मृदुचित्त विख्यात है, वह पशु नही, बुद्धिमान् पुरुष है। उसका यह व्यवहार अत्यन्त खेद जनक और निन्दनीय गिना जायेगा। नल तो पत्थर और पशु से भी निम्न प्रमाणित हो रहा है। वह कदाचित् अभी समझ नही पा रहा है, बच्चा है न—'वत्स'। विद्याधर के अनुसार विरोध अलकार ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीर• प्राणने क्षणमपि प्रतिभू क• ।
शसति द्विनयनी द्रुतनिद्रा द्राङ्निमेषमिषघूर्णनपूर्णा ॥ १२६ ॥

जीवातु—*याचित इति ।* क्व नु कुत्र, धीर सुधीर्याचित सन् चिरयति विलम्बते । न कुत्रापि विलम्बत इत्यथ । कुत , क्षणमपि प्राणने जीवने, प्रतिभूर्लग्नक क , न कोऽपीत्यथ । द्राङ्निमेषमिषेण शीघ्रपक्ष्मपातव्याजेन, घूर्णनेन कनीनिकाभ्रमणेन पूर्णा द्विनयनी नयनद्वन्द्वमेव, द्रुतनिद्रा मरण शसति । नयनघूर्णनवत्क्षणिक जीवनमित्यर्थ ॥ १२६ ॥

अन्वय—याचित धीरः क्व नु विरयति ? क्षणम् अपि प्राणने प्रतिभूः ? द्राङ्निमेषमिषघूर्णपूर्णा द्विनयनी स्फुटनिद्रा शसति ।

हिन्दी—याचित धीर (विद्वान् पुरुष) कहाँ विलम्ब करता है ? क्षण भर भी साँस लेने में कौन मध्यस्थ (जामिन) होता है ? झटपट झपझपाने के मिस तन्द्रा से पूर्ण दोनों नेत्र मृत्यु का कथन करते हैं ।

टिप्पणी—जो समझदार व्यक्ति हैं, वे दान प्रार्थना होने पर देने में थोड़ी-सी भी देर नहीं लगाया करते, क्योंकि जीवन का उत्तरदायित्व लेने में कोई समर्थ नहीं होता । ये साँसें आती जाती कब रुक जायें, कौन कह सकता है, कौन इनके आने-जाने का उत्तरदायित्व ले सकता है ? कोई नहीं । ये जो निरन्तर पलक झपा करते हैं, उनके माध्यम से जैसे ये दोनों आँखें निरन्तर मृत्यु की सूचना देती रहती हैं । निमिष निमिष मृत्यु मुँह फाड़े चली आ रही है, शुभ कार्य में विलम्ब अच्छा नहीं । जीवन पल भर का है—क्षणभंगुर । विद्याधर के अनुसार हेतु और अपह्नुति अलङ्कार ॥१२६॥

अभ्रपुष्पमपि दित्सति शीतं मार्गिना विमुखता यदभाजि ।

स्तोककस्य खलु चञ्चुपुटेन ग्लानिरुल्लसति तद्घनसङ्घे ॥ २७ ॥

जीवातु—अभ्रपुष्पमिति । शीतं शीतलमभ्रपुष्पमुदकम् । 'मेघपुष्पं घनरसः' इत्यमरः । तद् घनपुष्पं, तद्दुर्लभं वस्त्विति च गम्यते । दित्सति दातुमिच्छत्यपि । न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थः , घनसङ्घे मेघवृन्दे, मार्गिना याचकेन, स्तोककस्य चातकस्य । 'अथ सारङ्ग स्तोकश्चातकः समौ' इत्यमरः चञ्चुपुटेन सा प्रसिद्धा विमुखता । पक्षिमुखत्वं पराङ्मुखत्वञ्च । अभाजीति यत् । तत्तस्माद्वैमुख्यभजनात् । ग्लानिर्जलमरमन्यरत्वं वैवर्ण्यं चोल्लसति स्फुरति । अर्थिन एव वैमुख्ये दातुरिव ग्लानि किमुत दातृवैमुख्ये । तस्मात्तारशस्य सर्वेदर्थिवैमुख्यमनुचितमिति भाव ॥ १२७ ॥

अन्वय—शीतम् अभ्रपुष्पम् दित्सति अपि घनसङ्घे मार्गिना स्तोककस्य चञ्चुपुटेन यत् सा विमुखता अभाजि तत् ग्लानिः उल्लसति खलु ।

हिन्दी—ठंडा जल देने की इच्छुक भी बादलों में याचक चातक के चञ्चुपुट ने जो पराङ्मुखता का आश्रय लिया, उसकी ही मलिनता प्रस्फुटित होता है ।

टिप्पणी—याचक ने मेघों से जल की याचना की, मेघ जल देना तो चाहते थे किंतु उसमें कुछ विलम्ब हुआ, उससे चातक कुछ पराङ्मुख हुआ। इसी कारण मेघवृन्द अयश का भागी हो गया। ऐसा लगता है कि वही अयश मेघवृन्द में श्यामलता के रूप में प्रकट है। ऐसी ही दशा उस दाता की होती है, जो आकाश पुष्प जैसी दुर्लभ वस्तु को देने की इच्छा तो करता है, किन्तु उसमें विलब कर देता है। जब 'स्तोकक' अर्थात् अतिनिकृष्ट याचक को विलब से दान में भी अकीर्ति और निन्दा प्राप्त होती है तो इन्द्रादि जैसे महान् याचकों को अभीष्ट देने में विलब करने से तो और भी अयश मिलेगा। पक्षी को भी विलब से देने के कारण बादलों को अयश और ग्लानि का भाजन होना पड़ता है तो इन्द्रादि को न देने से नल को कितनी ग्लानि का भाजन होना पड़ेगा, यह अकल्पनीय है, अतः दान अविलम्ब ही उचित है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और श्लेष॥ १२७॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेनं पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य।
कीर्तिरेव भवता प्रियदारा दाननीरझरमौक्तिकहारा॥ १२८॥

जीवातु—ऊचिवानिति। पाशपाणिर्वरुणोऽपि, पाणिमुदस्य, उद्यम्य, एनं नलम् उचितं युक्तम्, अक्षरं वाक्यम्, ऊचिवान् उक्तवान्। यदुक्तं तदाह—कीर्तिरिति। दाननीराणां झरः दानजलप्रवाहः, स एव मौक्तिकहारो यस्यास्तथोक्ता कीर्तिरेव भवता युष्माकं प्रियदाराः प्रियकलत्रम्। 'पुं भूम्नि दाराः' इत्यमरः। एतेन भार्याया अपि कीर्तिः प्रियतमेति भावः। अतो दमयन्तीलोभात् कीर्तिं जहीत्यर्थः। अत्र रूपकालङ्कारः॥ १२८॥

अन्वय—पाशपाणिः अपि पाणिम् उदस्य एनम् उचितम् अक्षरम् ऊचिवान्—दाननीरझरमौक्तिकहारा कीर्तिः एव भवता प्रियदारा।

हिन्दी—हाथ में पाशधारण करनेवाला (वरुण) भी (अपना) हाथ उठाकर इस (नल) से उपयुक्त शब्द बोला—दान के जल प्रवाहरूप मोतियों की माला धारण करने वाली कीर्ति ही आपकी अभीष्ट पत्नी है (दमयन्ती नहीं)।

टिप्पणी—अग्नि और यम के वचनों का समर्थन करते हुए याचकों की भाँति हाथ फैलाकर वरुणदेव ने भी नल को यही सम्मति दी कि कीर्ति और

दमयन्ती के बदले उसे कीर्ति का ही ध्यान अधिक रखना चाहिए, मुक्तामाल-धारिणी दमयन्ती वस्तुतः उसकी प्रिया नहीं है, उसकी अभीष्ट प्रिया तो कीर्ति ही है, जो दानजलरूपमुक्ताहारसुशोभिता है, जिसकी प्राप्ति दान से ही सम्भव है। कीर्ति राजकन्याओं के समूह से भी महत्त्वपूर्ण है, उसी के लिए यत्न उचित है। 'पाशपाणि' का पाशधारी हाथ उठाना नल को आतङ्कित करने का भी संकेत देता है, यों हाथ उठाना—इंगित करने की प्रकृति भी होती है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥ १२८ ॥

चर्म वर्म किल यस्य नभेद्यं यस्य वज्रमयमस्थि च तौ चेत् ।
स्थायिनाविह न कर्णदधीची तन्न धर्ममवधीरय धीर ! ॥ १२९ ॥

जीवातु—चर्मेति । यस्य कर्णस्य चर्म त्वक् नभेद्यमभेद्यम् । नञर्थस्य न-शब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः । वर्म कवचं किल । यस्य दधीचेरस्थि च वज्रमयं किल । किलेति प्रसिद्धौ । तौ महासत्त्वशालिनौ कर्णदधीची । इह जगति, स्थायिनौ न चेत् । तर्हि, हे धीर धीमन् ! धर्मं नावधीरय नावमन्यस्व । कर्णादीनामस्थिरत्वम् तद्धर्मस्य च स्थैर्यं दृष्ट्वा त्वमपि तथैवाचरेत्यर्थः ॥ १२९ ॥

अन्वय—यस्य चर्म न भेद्यं वर्म किल, यस्य अस्थि च वज्रमयम्, तौ कर्णदधीची इह स्थायिनौ न चेत् तत्, धीर, धर्मं न अवधीरय ।

हिन्दी—जिस (कर्ण) की त्वचा अभेद्य कवच सुनी जाती है और जिस दधीचि की हड्डी वज्रमय सुनी जाती है, वे कर्ण (कुन्ती-पुत्र राधेय) और दधीचि (ऋषि, जिनकी अस्थियों से वज्र बना था) यदि इस संसार में स्थायी नहीं रहे, तो हे धीर (नल), तू धर्म की अवमानना न कर।

टिप्पणी—इतने दृढ़ व्यक्ति (जन्म से ही कवचधारी कर्ण और वज्र-निर्माण करने वाली हड्डियों के देहवाले दधीचि) भी जब नाशवान् ही प्रमाणित हुए तो नल जैसे मनुष्य को स्थिरता की बात सोचना भी उचित नहीं है। नाशवान् जीवन के नश्वर सुख के लिए धर्मच्युत होना ठीक नहीं। समझदार नल को धर्म की अवमानना नहीं करनी चाहिए। धर्म ही स्थिर रहता है, जीवन तो अस्थायी है। कर्ण-दधीचि के देह तो नष्ट हो गये,

यश-शरीर ही आज जीवित है। विद्याधर के अनुसार विरोध और हेतु अलङ्कार ॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धौ न प्रभू विचलितुं बलिविन्ध्यौ ।
आश्रुतावितथतागुणपाशस्त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ॥ १३० ॥

जीवातु—अद्येति । येन सत्यसंधत्वपाशेन, निबद्धौ बलिर्वैरोचनिः स च विन्ध्यश्च तौ । अद्य यावदेतद्दिनपर्यन्तं, विचलितुमपि प्रभू समर्थौ न स्तः । आश्रुतस्य प्रतिज्ञातार्थस्य अवितथता सत्यता, सैव गुणः, उत्कृष्टधर्मः स एव पाशो बन्धः, त्वादृशेन विदुषा स दुरपासः दुरुच्छेदः । बलिविन्ध्यादिदृष्टान्तेन यावज्जीवनिर्वहणेनापि प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहः कार्य इत्यर्थः ॥ १३० ॥

अन्वयः—येन निबद्धौ बलिविन्ध्यौ अद्य यावत् विचलितुम् अपि प्रभू न, सः आश्रुतावितथतागुणपाशः त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ।

हिन्दी—जिस (सत्यप्रतिज्ञा रूप पाश) से बद्ध बलि (विरोचन-पुत्र पातालराज) और विन्ध्याचल आज तक विचल होने में समर्थ नहीं हुए उस प्रतिज्ञात निर्वाह-रूप पाश को तेरे सदृश विद्वान् द्वारा उच्छिन्न करना कठिन है ।

टिप्पणी—प्रतिज्ञा करके बलिराज ने अपना सर्वस्व और देह भी दे डाला, अगस्त्यमुनि को अपने झुके रहने का वचन देकर विन्ध्याचल आजतक झुका ही हुआ है । इनमें बलि उच्छृङ्खल दैत्य था और विन्ध्याचल जड़ है । ये दोनों भी आजतक वचन निर्वाह कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में विद्वान् और सत्यप्रतिज्ञ, पुण्यश्लोक नल को प्रतिज्ञा का पालन करना ही होगा । उसके लिए तो प्रतिज्ञा का अपरिपालन नितान्त अनुचित है । विद्याधर के अनुसार रूपक अलङ्कार ॥ १३० ॥

प्रेयसी जितसुधांशुमुखश्रीर्या न मुञ्चति दिगन्तगतापि ।
भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृगर्ये कः कदर्थयति तामपि कीर्तिम् ॥ १३१ ॥

जीवातु—प्रेयसीति । प्रेयसी प्रियतमा, जिता सुधांशुमुखानां चन्द्रादीनां श्रीर्यया सा । अन्यत्र, जितसुधांशुर्मुखश्रीर्यस्याः सा तथोक्ता । या कीर्तिर्दिगन्तगतापि देशान्तरगतापि, न मुञ्चति । तामपि कीर्तिं भङ्गिसङ्गमं भङ्गुरसङ्गतिर्यस्यास्तस्याः कुरङ्गदृशोऽर्थे तदर्थम् । तादर्थ्येऽव्ययीभावः । कुत्सितोऽर्थः कदर्थः । 'को कत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः, तं करोति कदर्थयति व्यर्थयतीत्यर्थः । को नामास्थिरार्थे स्थिरं जह्यादिति भावः ॥ १३१ ॥

अन्वय —चित्रसुधांशुमुखी या प्रेयसी दिगन्तगा अपि न मुञ्चति तां कीर्तिम् मलिनमुक्तमनोहरदृगर्थे अपि कः कदर्थयति ?

हिन्दी—जो चन्द्रमुख-शोभावर्धिनी प्रियतमा (उज्ज्वल कीर्ति) देशान्त में पहुँचने पर भी नहीं छोड़ती, उस (प्रियतम) कीर्ति को नश्वर हगनिभृत नयना के निमित्त (अथवा कुत्सित रचनाशील नेत्रों वाली के लिए) कौन पीड़ित करता है ? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—चन्द्रमुख को अपनी शोभा से जीतनेवाली प्रियतमा जब प्रवासिनी हो जाती है, तो स्वभावत पुरुष को छोड़ ही देती है, पर 'चित्र-सुधांशुमुखी' कीर्ति ऐसी प्रियतमा है जो दिगिदगन्त में व्याप्त हो जाने पर भी नहीं त्यागती। ऐसी विशिष्ट प्रियतमा को दिगन्तगता होने पर छोड़ देने वाली, नश्वरस्थगति, कुत्सित नयनों वाली प्रिया के लिए बुद्धिमान् का तो कहना ही क्या सामान्य नर भी नहीं छोड़ता न पीड़ा देता है। तो नल तो धीर विद्वान् हैं वह दमयन्ती—एक सामान्य नारी के लिए नश्वर-रूपा अनश्वरकीर्ति प्रियतमा को छोड़ने की मूर्खता करे, यह नितान्त अनुचित है। अतः नल को दमयन्ती का ध्यान छोड़ उज्ज्वल कीर्ति का वरण करना चाहिए। कीर्ति तो नित्य है, दमयन्ती अनित्य। नारायण पंडित ने 'कुरङ्गदृगर्थे' का 'कुत्सितो रङ्गो रचना यस्या एव विधा दृग् यस्या तदर्थे क कदर्थयति पीडयति' अर्थ किया है। विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक-समासोक्ति उपमा-विशेष का सङ्कर है॥ १३१ ॥

यान् वरं प्रति परेऽनुमितार-
स्तेऽपि च वयमहो न पुनस्त्वाम्।
नैव न स्वतु मनोरथमात्र
शूर ! पूरय दिशोऽपि यशोभि ॥ १३२ ॥

जीवातु—यानिति। परे अन्ये जना, वरं प्रति दृष्टार्थमनुदिश्य, यानस्मा-नर्थयितार । याच्ञीत्येव तृन। 'न लोक'-इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया। ते वयमपि च त्वामर्थयितार स्म। अहो, स एवं पुनर्नोऽस्माकं, मनोरथमात्र मनोरथमेव नैव पूरय। किन्तु, हे शूर ! यशोभिर्दिशोऽपि पूरय खलु। तस्मा-दस्मन्मनोरथपूरणेन ते दिगन्तविश्रान्ता कीर्तिर्भविष्यति। अन्यथा, अपकीर्तिरपि तादृशी भविष्यतीति भाव ॥ १३२ ॥

अन्वय —अहो, परे वर प्रति माम् अर्थयितार वे वयम् अपि पुन त्वाम्, धीर, स न मनोरथमात्र खलु न, यशोभि० दिश अपि पूरय।

हिन्दी—अरे, अन्य (जन) वर पाने के लिए जिन (हम देवों) की अर्थना (याचना) करते हैं, वे हम भी उलटे तुम्हारी याचना कर रहे हैं। हे धीर, वह तुम हमारी इच्छामात्र की पूर्ति न करो, अपितु प्रभूत यश से दिग् दिगन्त को पूर्ण कर दो।

टिप्पणी—सामान्यत मनुष्य वर प्राप्ति के निमित्त देवों से याचना करता है, क्योंकि देवों मे ऐसी क्षमता है, ऐसे समर्थ देव नल के समुख याचक हुए हैं ऐसा अलभ्य अवसर कहाँ प्राप्त होता है। नल को इस अवसर पर चूकना उचित न होगा। वह देवों को याचित देकर अनन्त यश का भागी होगा। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेकानुप्रास ॥ १३२ ॥

अर्थिता त्वयि गतेषु सुरेषु म्लानदानजनिजोरुयश श्री॰ ।

अद्य पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३ ॥

जीवातु—अर्थितामिति। अद्य सुरशाखी कल्पवृक्ष सुरेष्वस्मासु त्वयि विषये, अर्थिता गतेषु सत्सु म्लाना अर्थ्यभावक्षीणा, दानजा दानजन्या, निजा उरुमहती यश श्री कीर्तिसम्पद्यस्य स, तथा सन्, केवलेन कुसुमेन गगन पाण्डु शुभ्र, विधत्ताम्। नतु वितरणेन यशसा। त्वायितामन्यार्थित्वेन तन्निदान-दानक्षयास्तन्मियादिति भाव ॥ १३३ ॥

अन्वय — अद्य सुरेषु त्वयि अर्थिता गतेषु म्लानदानजनिजोरुयश श्री सुरशाखी केवलेन कुसुमेन गगन पाण्डु विधत्ताम्।

हिन्दी—आज देवों के तुम्हारे (नल के) प्रति याचक बन जाने पर जिनकी दान करने से प्राप्त स्वीया महती यश शोभा मलिन हो गयी है, ऐसा देववृक्ष (कल्पतरु) केवल (कीर्ति रहित) पुष्प से आकाश को श्वेत बनाये।

टिप्पणी—देवों को अभीष्ट देने के कारण नल जिस अद्वितीय यश श्री का अधिकारी हो जायेगा, उसके समुख देवतरु कल्पवृक्ष की यशोलक्ष्मी मलिन हो जायेगी। जो कल्पवृक्ष अपने शुभ्र यश और निर्मल कुसुमों से आकाश मे शुभ्रता का प्रसार करता रहा है, यश मलिन हो जाने से अब केवल पुष्पों से

हो आकाश को शुभ्र बना सकेगा। भाव यह कि देवों को दान करके नल को जो यश मिलेगा, कल्पवृक्ष का यश भी उसके आगे मंद पड़ जायेगा, अतः नल को यही समुचित है कि देव-मनोरथ पूर्ण करें ॥ १३३ ॥

प्रवसने भरतार्जुनवैन्यवत्
स्मृतिभुवोऽपि नल ! त्वमभीष्टद ।
स्वगमनाफलता यदि शङ्कसे
तदफलं निखिलं खलु मङ्गलम् ॥ १३४ ॥

जीवातु—अत्र याचार्वैफल्यशङ्कया ते सङ्कोचस्तावदनाशङ्कनीय एवेत्याह—प्रवसन इति। हे नल ! प्रवसने प्रयाणं कुर्वते भरतः शाकुन्तलेयः, अर्जुनो हैहयः, वैन्यः पृथुः, तैस्तुल्यं तद्वत्। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'। स्मृत्या धृतः स्मृतिभुवः, स्मर्यमाणोऽप्यभीष्टद इष्टार्थप्रदस्त्वं स्वगमनस्य स्वयात्रायाः अफलतां वैफल्यं शङ्कसे यदि, तर्हि, लोके निखिलं सर्वमपि मङ्गलं यात्राकालिकं त्वत्स्मरणलक्षणं मङ्गलाचरणमफलं खलु। यथा च—'वैन्यं पृथुं हैहयमर्जुनञ्च शाकुन्तलेयं भरतं नलं च। एतान् नृपान् यः स्मरति प्रयाणे तस्यार्थसिद्धिः पुनरागमश्च ॥' इति शास्त्रप्रमाणं स्यादित्यर्थः। तथा च त्वत्स्मरणादन्येषामर्थसिद्धिस्तस्य तवार्थसिद्धौ कः सन्देह इति भावः ॥ १३४ ॥

अन्वयः—नल, भरतार्जुनवैन्यवत् प्रवसने अभीष्टदः स्मृतिभुवः अपि त्वं यदि स्वगमनाफलता शङ्कसे तत् निखिलं मङ्गलम् अफलं खलु।

हिन्दी—हे नलराज, (शकुन्तला-दुष्यन्तपुत्र) भरत, (कार्तवीर्य) सहस्रार्जुन और वेणपुत्र (पृथुराज) के तुल्य प्रवास जाने को तत्पर व्यक्ति को इच्छित प्रदान करनेवाले के रूप में स्मरणगोचर भी तुम यदि अपनी यात्रा के निष्फल होने की शंका करते हो तो सम्पूर्ण मंगल ही निश्चयतः निष्फल हो जायेगा।

टिप्पणी—नल ने कहा था—'स्त्रीकरिष्यति न सा मनु पुमान्' (श्लो० ११४), और 'हास्यतैव सुलभा न तु साध्यम्'—अर्थात् नल का दूतकार्य निष्फल होगा। इस पर नल की चाटुकारिता करते हुए वरुण ने बताया कि नल का स्मरण तो प्रवास जाने समय अभीष्टसिद्धि के निमित्त लोग किया करते हैं, कहा जाता है कि राजा पृथु, हैहय सहस्रार्जुन, शकुन्तलापुत्र भरत और राजा नल का प्रयाण काल में स्मरण करने से अभीष्टसिद्धि होती है

और यात्री सकुशल वापस घर आता है। ऐसी स्थिति में अभीष्टदाताओं में स्मृत होने वाला नल ही जब यात्रा के निष्फल रहने की बात सोचेगा तो संसार में सब मंगलकृत्य ही निष्फल हो जायँगे, अतः चर्चा न करके नल को देवों का दूतकार्य अविलम्ब करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख अलंकार छेकानुप्रास। द्रुतविलम्बित वृत्त ॥ १३४ ॥

> इष्ट नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्या स्वराह्लादिनी
> धर्मार्था सृज तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम्।
> स्वत्कीर्तिं पुनतो पुनस्त्रिभुवन शुभ्राद्वयादेशनाद्
> द्रव्याणां सितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु ॥१३५॥

जीवातु—इष्टमिति। अद्य नोऽस्माकम्, इष्टमिच्छा, यागश्च प्रति। 'इष्टिर्यागेच्छयोः' इत्यमरपक्षे यजेरिषेश्च क्तिप्रत्ययः क्तिन्। 'वचि स्वपि—' इत्यादिना यजेः सम्प्रसारणम्। 'व्रश्च—' इत्यादिना षत्वम्। इषे क्तिन्प्रत्ययापवादः इति काशिकायाम्। तथा प्रयोगप्राबल्यात् साधुत्वं द्रष्टव्यम्। स्वः स्वर्गम्, अन्यत्र स्वरैरुदात्तादिभिराह्लादिनी धर्मोऽर्थः प्रयोजनमभिधेयं च यस्याः सा धर्मार्था या प्रतिश्रुतिः। 'जीवितावधि किमप्यधिकं वे'ति श्लोकोक्तास्मन्मनोरथपूरणप्रतिज्ञा अभूत्, तां प्रतिश्रुतिं श्रुतिप्रतिभटीकृत्य वेदप्रतिनिधीकृत्य, सत्यापयित्वेत्यर्थः। अन्विताख्यापदां सृज। सत्यत्वेन श्रुतिप्रतिनिधीकृत्य प्रतिश्रुतिरित्यन्वर्थनामाक्षरां कुरु। सत्यप्रतिज्ञो भवेत्यर्थः। अस्य फलमाशीर्मुखेनाह—स्वत्कीर्तिरिति। त्वत्कीर्तिः पुनस्त्वदशस्तु, त्रिभुवनं भुवनत्रयं, समाहारे द्विगुरेकवचनम्, पात्रादित्वात्प्रपुंसत्वम्। पुनती पावयन्ती। पुनातेः शतरि ङीप्। द्रव्याणां नीलपीतादिद्रव्याणां, शुभ्रं शुक्लगुणः। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः। तेनाद्वयादेशनादभेदादाच्छितिपीतादिनामभिर्वाचकपदैरन्वयं वाच्यस्वलक्षणं सम्बन्धं, लुम्पतु निवर्तयतु। अर्थिमनोरथपूर्त्या कीर्तिं सम्पादयेत्यर्थः। अत्र नीलादीनां वस्तूनां स्वगुणत्यागेन कीर्तिगुणग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्योत्कृष्टगुणाहृतिः' इति लक्षणात् ॥ १३५ ॥

अन्वय—अद्य नः इष्टं प्रति स्वराह्लादिनी या ते धर्मार्था प्रतिश्रुतिः अभूत् तां श्रुतिप्रतिभटीकृत्य अन्विताख्यापदां सृज पुनः त्वत्कीर्तिः शुभ्राद्वयादेशनात् त्रिभुवनं पुनती द्रव्याणां सितिपीतलोहितहरिन्नामान्वयं लुम्पतु।

हिन्दी–(हे राजा), आज हमारे इष्टरूप इष्टि (मनोरथ रूप यज्ञ) के प्रति स्वर्ग अर्थात् स्वर्लोकवासी देवों को आह्लादित करनेवाली-सहृदय उदात्त, अनुदात्त स्वरित स्वरों से आह्लादित जो तुम्हारी धर्मप्रयोजनवती प्रतिज्ञा हुई है, उस (प्रतिश्रुति) को श्रुति अर्थात् वेद की प्रतिकृति (तुल्य) करके (तुल्य करके) सार्थकनामपदवती (सत्य, सार्थक) करो। और फिर तुम्हारी कीर्ति शुभ्र वर्ण की अद्वैतता का निवेदन करके (शुभ्रता का प्रसार कर) तीनों भुवनों को शुभ्र-पवित्र बनाती पदार्थों के काले, पीले, लाल, हरे नाम के अन्वय (वाचकत्व) का लोप कर दे।

टिप्पणी—यात्रा सफल होने की शुभाशंसा। नल ने प्रारम्भ में जो दान करने की प्रतिज्ञा की थी, उसे धर्म साधन (देवमनोरथ) के निमित्त त्रिस्वर में पठित, यज्ञ की ऋचाओं के सदृश माना गया है और नल से कहा गया है वह इष्ट-साधन रूप इष्टि (यज्ञ) को त्रिस्वर ऋचाओं से परिपूर्ण कर देवों को आनन्दित करे। देवों को यज्ञ से आनन्द मिलता ही है। इससे नल को ऐसा यश प्राप्त होगा कि उसके यश की शुभ्रता त्रिभुवन को आच्छादित कर देगी और पदार्थों के जो काले पीले आदि भिन्न भिन्न वर्ण हैं, वे आच्छादित हो जायेंगे और केवल यश की शुभ्रता दृष्टिगोचर होगी। अतः नल को अविलम्ब देव मनोरथ-पूरण में सन्नद्ध हो जाना उचित है।

प्रकाशकार (नारायण) ने 'स्वस्कीर्त्ति' का भाव 'ब्रह्मप्रतिपादिका श्रुति' अथवा 'वेदान्तश्रुति' बताया है। यह श्रुति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुण से उत्पन्न (त्रिभ्यो गुणेभ्यस्तिर्यस्त्वेति त्रिगु तस्य यद् वन चानुमहन् सत्तात्मकम्) संसार को शुभ्र अर्थात् निर्मल अद्वय ब्रह्म के आदेशन—उपदेश द्वारा श्रवण-मननादि से पवित्र करती हुई, एक मात्र श्वेतता—अद्वैतमयता का प्रसार करती हुई, जगद् की द्वैतता का लोप करती हुई 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' का उद्घोष करे।

भाव यही है कि नल ने जो देवों को प्रतिश्रुति दी है, उसे अत्यन्त पुनीत कार्य मानकर क्रिया में परिवर्तित करे। नीलादि पदार्थों के स्वगुण त्याग कर कीर्तिगुण ग्रहण करने के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ तद्गुण अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेषातिशयोक्ति है ॥ १३५ ॥

यः प्रासूत सहस्रपादुदभवत्पादेन खञ्जः कथं
स च्छायातनयः सुतः किल पितुः सादृश्यमन्विष्यति।
एतस्योत्तरमद्य नः समजनि त्वत्तेजसा लङ्घने
साहस्रैरपि पङ्गुरङ्घ्रिभिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥ १३६ ॥

जीवातु—यमिति। यः शनैश्चरः, सहस्रं पादाः रश्मयोऽङ्घ्रयश्च यस्य सः, सहस्रपात् सूर्यः। 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। 'सङ्ख्यासुपूर्वस्य' इति समासान्तलोपः। प्रासूत प्रसूतवान्, स छायातनयः शनैश्चरः। 'मन्दश्छायासुतः शनिः' इत्यमरशेषः। कथं पादेन खञ्जो विकलः सन्। 'येनाङ्गविकारः' इति तृतीया। उदभवदुत्पन्नः सुतः पितुः सादृश्यमन्विष्यति किल प्राप्नोति खलु एतस्य प्रश्नस्याद्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैः सहस्रसङ्ख्यैरपि। 'अण् च' इति मत्वर्थीयोऽण्प्रत्ययः। अङ्घ्रिभिः पङ्गुः खञ्जः, पूर्ववत्तृतीया। अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् सूर्यः नोऽस्माकमुत्तरं समजनि सञ्जातः। जनेः कर्तरि लुङ्। 'दीपजन—' इत्यादिना जनेश्चिण्। चिणो लुक्। अत्रार्कस्यापङ्गोः पङ्गुत्वोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। तद्धेतुत्वञ्च शनैश्चरपङ्गुत्वस्येत्युत्प्रेक्षा इति तयोः सङ्करः ॥ १३६ ॥

अन्वयः—सहस्रपात् यं प्रासूत सः छायातनयः कथं पादेन खञ्जः उदभवत्, सुतः किल पितुः सादृश्यम् अन्विष्यति? अद्य नः एतस्य त्वत्तेजसां लङ्घने साहस्रैः अपि अङ्घ्रिभिः पङ्गुः अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् उत्तरं समजनि।

हिन्दी—सहस्रचरणों वाले (सहस्ररश्मि सूर्य) ने जिसे जन्म दिया, वह छाया (सूर्यपत्नी) का पुत्र (शनैश्चर) किस प्रकार चरण-विकल (लँगड़ा) जन्मा, पुत्र तो पिता पर जाता है? आज हमारे इस प्रश्न का तुम्हारी (नल की) तेजोराशि का लंघन सहस्र चरणों से भी करने में लँगड़ा (असमर्थ) प्रकट होता हुआ सूर्य उत्तर हो गया।

टिप्पणी—नल को देवकार्य सम्पादन में इतना यश मिलेगा कि उसके तेज के समुख सूर्य का तेज भी फीका पड़ जायगा। शनैश्चर लगड़ा है, ऐसी मान्यता है। सामान्यतः पिता के गुण पुत्र में आते हैं, पर सूर्यपुत्र शनैश्चर के प्रसंग में ऐसा क्यों नहीं हुआ? सहस्रचरणों वाले सूर्य का बेटा लगड़ा? यह एक अनुत्तरित प्रश्न था। देवों पर भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं था।

पर आज उत्तर मिल गया। तेजस्वी नल की तेजोराशि का अतिक्रमण करने में सूर्य भी पङ्गु है, भले ही वह 'सहस्रपाद' हो। तो लँगड़ा बाप सूर्य, उसका बेटा शनैश्चर भी लँगड़ा। १३५ वें तथा इस श्लोक का छन्द शार्दूलविक्रीडित। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का संकर है, अपङ्गु सूर्य की पङ्गुता का कथन अतिशयोक्ति है और शनैश्चर के पङ्गुत्व में उसके कारण होने की उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ १३६ ॥

इत्याकर्ण्य क्षितीशस्त्रिदशपरिषदस्ता गिरश्चाटुगर्भा
वैदर्भीकामुकोऽपि प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार।
अङ्गीकारं गतेऽस्मिन्नमरपरिवृढः संभृतानन्दमूचे
भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितभवच्चित्तता यत्र तत्र ॥१३७॥

जीवातु—इत्येति। क्षितीशो नलः, त्रिदशपरिषदः सुरसङ्घस्य इत्येवंरूपाः चाटुगर्भाः प्रियप्रायास्ता गिर आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः सन्नपि 'रूपवत्—' इत्यादिना कर्मत्वमनुपपन्नम्। अत एव 'न लोक—' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात् मधुपिपासुवद् द्वितीयासमासः। प्रसभविनिहितं बलादारोपितं दूत्यमेव भारं बभार। अस्मिन्नले, अङ्गीकारं गते सत्यमरपरिवृढो देवेन्द्रः। हे नरेन्द्र! यत्र कुत्रापि, अन्तर्धिसिद्धेः अन्तर्धानशक्तेरनुविहितभवच्चित्ततया, अनुसृतत्वन्मनस्कतया, भूयात् भवच्चित्तानुसारेण सर्वत्र तवान्तर्धानशक्तिरस्तु इति सम्भृतानन्दं सहर्षमूचे। तिरस्करिणीविद्या प्रादायीत्यर्थः ॥ १३७ ॥

अन्वयः—त्रिदशपरिषदः इति चाटुगर्भाः ताः गिरः आकर्ण्य वैदर्भीकामुकः अपि क्षितीशः प्रसभविनिहितं दूत्यभारं बभार, अस्मिन् अङ्गीकारं गते अमरपरिवृढः इति सम्भृतानन्दम् ऊचे—यत्र तत्र अन्तर्धिसिद्धेः अनुविहितभवच्चित्तता भूयात्।

हिन्दी—सुरसमूह की ऐसी चाटुकारिता-पूर्ण उन वाक्यावलियों को सुनकर विदर्भपुत्री (दमयन्ती) की कामना करनेवाले भी पृथ्वीपति (नल) ने बलादारोपित (लादे गये) दूतत्व के भार को धारण कर लिया। उसकी स्वीकृति हो जाने पर देवराज (इन्द्र) ने यह सहर्ष कहा—'सर्वत्र अन्तर्धान होने की शक्ति तुम्हारी इच्छा की अनुगामिनी हो।'

टिप्पणी--राजा नल क्षिति का ईश था—सबका स्वामी। अन्ततोगत्वा उसने बलपूर्वक आरोपित देवों का दूत बनना स्वीकार कर लिया और दमयन्ती की इच्छा का दमन कर लिया। इस पर प्रसन्न हुए इन्द्र ने नल को वर दिया कि वह इच्छानुसार जब चाहे अदृश्य हो सकता है और जब चाहे प्रकट हो सकता है। अदृश्य होने की शक्ति उसकी इच्छा के अधीन रहेगी। इस प्रकार देवेन्द्र के वर से नल को तिरस्कारिणी विद्या प्राप्त हो गयी। स्रग्धरा छन्द ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चमः ॥१३८॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। सुगमम्। श्रीमत्या विजयप्रशस्ते ग्रन्थविशेषस्य रचनातातस्य निर्माणकर्तुरित्यर्थः ॥ १३८ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने पञ्चमः सर्गः समाप्तः ॥५॥

—०—

अन्वयः—पूर्वार्द्धपदस्य पूर्ववदन्वयः। तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते पञ्चमः सर्गः अगमत्।

हिन्दी—पहिले दो पदों का अर्थ पूर्ववत्। उस 'श्रीविजयप्रशस्ति' के रचनाकार (श्रीहर्ष) के भव्य (प्रशंसनीय) महाकाव्य, चारु 'नैषधीयचरित' में पञ्चम सर्ग समाप्ति को प्राप्त हुआ।

टिप्पणी—सर्गान्त में यह संकेत कि श्रीहर्ष ने 'श्रीविजयप्रशस्ति' ग्रन्थ की रचना भी की थी। स्रग्धरा वृत्त ॥ १३८ ॥

नैषधीयचरित पञ्चम सर्ग

—०—

नैषधीयचरितम्

कथासार

(पञ्चम सर्ग)

ज्ञात्वा नारदतः स्वयम्वरविधिं भैम्याः स्पृहालुर्हरि-
सार्धं दिक्पतिभिः प्रयाण पृथिवीं रम्भ्यां सुधां वीक्षितः ।
अन्यद्दौत्यमुपेत्य याहि नृप भो भैमीमदृष्टो भटै-
स्तामस्मास्वनुकूलयादिवति नलं सोऽनुष्ठित दौत्ये छली ॥

—श्रीकृष्णरामकविः

विदर्भराज ने बेटी दमयन्ती के स्वयंवर का आयोजन किया और नारद मुनि ने उसकी सूचना इन्द्रलोक पहुँचायी। दमयन्ती के रूप की चर्चा से इन्द्र भी उसकी स्पृहा करने लगा और शची तथा रम्भा–उर्वशी आदि स्वर्गसुन्दरियों के असंतोष पर भी कुछ ध्यान न दे उसने विदर्भ की ओर प्रस्थान कर दिया। उसके पीछे अग्नि, यम और वरुण भी चले। इन सबने एक–दूसरे से छिपा कर अपनी–अपनी दूतियों को दमयन्ती के पास भेजा, जो अनेक बहुमूल्य उपहार लेकर विदर्भराज की सेवा में पहुँचीं। मार्ग में देवों की भेंट नल से हुई, जो स्वयं भी स्वयंवर में सम्मिलित होने जा रहा था। नल को देखकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने दमयन्ती को पाने की आशा छोड़ दी और खिन्न हो गये। परन्तु इन्द्र तो कपट करने में प्रवीण है, उन्होंने नल को वचनबद्ध कर इस पर सन्नद्ध कर लिया कि वह दमयन्ती के पास देवदूत बन कर जाय और ऐसा प्रयत्न करे कि दमयन्ती देवों में किसी का वरण कर ले। प्रतिज्ञाबद्ध नल ने उनका दौत्य कर्म स्वीकारा और इन्द्र ने नल को क्षमता दी कि वह इच्छानुसार अन्तर्धान हो सके।

पद्यानुक्रमणिका

(पञ्चम सर्ग)

नैषधीयचरितम्

षष्ठः सर्गः

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषां निषेद्धा निषधप्रधानः ।
स भीमभूमीपतिराजधानीं लक्षीचकाराथ रथस्यदस्य ॥ १ ॥

जीवातु—दूत्यायेति । अथ दूत्याङ्गीकारानन्तरं, द्विषां निषेद्धा निवारयिता, निषधानां जनपदानां, प्रधानं मुख्याधिपतिरित्यर्थः । स नलः दैत्यारिपतेः देवेन्द्रस्य, दूतकर्मणे । 'दूतस्य भावकर्मणी' इति यत्प्रत्ययः । प्रवृत्तः उद्युक्तः सन्, स रथस्यदस्य रथवेगस्य भीमभूमीपतिराजधानीं कुण्डिननगरीं, लक्षीचकार लक्ष्यमकरोत् । गमनं चकारेत्यर्थः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ दैत्यारिपतेः दूत्याय प्रवृत्तः द्विषां निषेद्धा सः निषधप्रधानः (निषधप्रधानम्) भीमभूमीपतिराजधानीं रथस्यदस्य लक्षीचकार ।

हिन्दी—तदनन्तर दैत्यों के शत्रु देवों के स्वामी (इन्द्र) के दूतकर्म में प्रवृत्त शत्रुओं के निवारक उस निषधदेश के अधिपति (नल) ने भीमराज की राजधानी (कुण्डिनपुरी) को रथ के वेग का लक्ष्य बनाया ।

टिप्पणी—जैसा कि देवों का आकांक्षित था, निषधराज नल इन्द्रादि के दूतकर्मसम्पादनार्थ तीव्रगति से कुण्डिनपुरी की ओर चल पड़ा । प्रकाशकार ने द्वितीयचरणान्त में 'निषधप्रधान' के स्थान में 'निषधप्रधानम्' पाठान्तर को समीचीन माना है, क्योंकि 'प्रधान' शब्द नपुंसकलिङ्ग में परिगणित है—'प्रधानशब्दः क्लीबे ।' कुछ अन्य टीकाकार भी इसी से सहमत हैं । यद्यपि कुण्डिननगरी भीम अर्थात् भयंकर 'भूमिपति' अथवा भीम अर्थात् दुर्गम भूमि के स्वामी की नगरी थी, तथापि नल को इससे न तो कोई भय लगा और न किसी अवरोध-प्रतिरोध की ही उसे चिन्ता व्यापी, क्योंकि वह निषधराज्य का प्रथम पुरुष था और साथ ही 'द्विषां निषेद्धा'—शत्रुओं का निवारक

था। भयङ्कर राजा की दुर्गम भूमि में उसका गमन अप्रतिषिद्ध था विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास अलङ्कार उल्लेख्य है। इस सर्ग में (श्लोक १-१११) इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से सरचित उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

भैम्या समं नाजगणद्वियोगं स दूतधर्मे स्थिरधीरधीशः ।
पयोधिपाने मुनिरन्तरायं दुर्वारमप्यौर्वमिवौर्वशेयः ॥ २ ॥

जीवातु—भैम्येति। अधीशो मनोनियमनसमर्थः। अत एव, दूतधर्मे दूतकृत्ये, स्थिरधीरचलबुद्धिः, स नलः, भैम्या समं सह।—'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः। वियोगम्, औवंशेयः उर्वशीपुत्रो मुनिरगस्त्यः 'और्वशेयः कुम्भयोनिरगस्त्यो विन्ध्यकूटनः' इति हलायुधः। पयोधिपाने दुर्वारम्, उर्व्या अपत्यमौर्वो वरुणभयान्मातृगुप्त इति स्वामी। तमौर्वं वडवानलमिव अन्तराय नाजगणदन्तरायत्वेन नामन्यत। भैमीवियोगमपि विसह्य प्रतिज्ञामकृमयाद् दूत्यमेव स्वतरमवलम्बितवानित्यर्थः। अन्तरायविशेषणमुभयत्रापि योजनीयम् ॥ २ ॥

अन्वय—अधीशः दूतधर्मे स्थिरधीः सः भैम्या समं वियोगं पयोधिपाने दुर्वारम् अपि और्वम् अन्तरायम् और्वशेयः मुनिः इव न अजगणद्।

हिन्दी—मनोनिग्रह में समर्थ दूत के धर्म में दृढमतिशाली उस (नल) ने भीमसुता (दमयन्ती) के वियोग को जल-राशि (समुद्र) को पीते समय कठिनता से निवारित किए जाने वाले वडवाग्नि के विघ्न को उर्वशी की सतान (अगस्त्य) मुनि के समान नहीं गिना।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के पक्ष में दमयन्ती का वियोग उतना ही दुर्निवार था, जैसे कि समुद्र की आग वडवाग्नि उन मुनि अगस्त्य के लिए दुर्निवार थी, जो समुद्र पीते समय उनके कार्य में विघ्न स्वरूप उपस्थित थी। किंतु जिस प्रकार अगस्त्य ने दुर्निवार वडवाग्नि-रूप विघ्न की गणना नहीं की, विना उसकी चिंता किये वे समुद्र को अगाध जलराशि पी गये, उसी प्रकार नल भी दुःसह, दुर्निवार दमयन्ती-वियोग रूप विघ्न की गणना न करता हुआ देव-दूत-कार्य सपादन में प्रवृत्त रहा। विकार का कारण रहते हुए भी धीर नायक नल की उदात्तता में कोई अन्तर न आया, क्योंकि धीर जन तो ऐसे

होते ही हैं—'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।' 'औवं' (वडवाग्नि) का 'दुर्वार' (कठिनता से निवारण-योग्य) विशेषण है, इसका 'दुष्टं वा वारि येन दुर्वारः तम्' यह विग्रह करके 'जल को दूषित करनेवाला' वडवाग्नि जो अर्थ 'प्रकाश'-कार ने किया है। वास्तव उर्वीसुत तो वे हीं—'प्रकाश'-कार ने 'उरु बहु अश्नाति उर्वी, तत्पुत्र और्वश्चेव'—विग्रह करके अधिक खाने वालों का बेटा अर्थ कर उनके 'पयोधिपान' के सामर्थ्य का द्योतन किया है। विद्याधर के अनुसार श्लोक में छेकानुप्रास-रचना-हेतु अलंकारों का संकर है ॥ २ ॥

नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवस्ते ।
तदध्ववीक्षार्थमिवानिमेषा देशस्य तस्याभरणीबभूवुः ॥ ३ ॥

जीवातु—नलेति । ते इन्द्रादयो देवाः, नल एव प्रणाली जलनिर्गममार्गः, तया मिलत् प्रवहत्, अम्बुजाक्षीसंवादपीयूषं दमयन्तीसंवादामृतं, पिपासवः पातुमिच्छवः सन्तः । सनुपिबामुवत् द्वितीयाललाम । तदध्ववीक्षार्थं नलमार्गप्रतीक्षार्थमिव अनिमेषाः सन्त इत्युत्प्रेक्षा । तस्य देशस्य नलनिर्गमनप्रदेशस्याभरणीबभूवुः । तदागमनपर्यन्तं तत्रैव तस्थुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अन्वयः—तदध्ववीक्षार्थम् इव अनिमेषाः ते नलप्रणालीमिलदम्बुजाक्षीसंवादपीयूषपिपासवः तस्य देशस्य आभरणीबभूवुः ॥

हिन्दी—मानो उस (नल) के मार्ग के अवलोकनार्थ अपलक वे (देव) नलरूप नालिका (नाली) से बहकर आते कमलनयना (दमयन्ती) के संवाद रूप अमृत-जल के प्यासे बने उस (पूर्व सर्ग में कथित) स्थान के आभूषण बन (प्रतीक्षा करते) रहे ।

टिप्पणी—भाव यह कि देवगण, जहाँ नल के साथ उनका वार्तालाप हुआ था उस स्थान पर दमयन्ती का उत्तर लेकर नल के लौटने की प्रतीक्षा करते डटे रहे। नल उस नल-प्रणाली (पाइप लाइन) के समान है, जिसके माध्यम से प्रवाहित होता संवाद रूप जल आयेगा। अपलक-प्रतीक्षा करना देवों की उत्सुकता का द्योतन करता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा का संकर ॥ ३ ॥

ता कुण्डिनाख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावती स ।
मनोरथ सिद्धमिव क्षणेन रथस्तदीय- पुरमाससाद ॥ ४ ॥

जीवातु—तामिति । तस्याय तदीय, नलीय, स रथ, ता कुण्डिनमिति यदाख्यापद नामपद, तन्मात्रेण गुप्ता छन्नाम्, अमरावतीमिन्द्रिराजधानीम्, तत्कल्पामित्यर्थ । भूमेरिन्द्रस्य भीमभूपते, पुर, मनोरथ सिद्धमिव क्षणेन आससाद प्राप ॥ ४ ॥

अन्वय—तदीय स रथ मनोरथम सिद्धिम् इव ता कुण्डिनाख्यपदमात्रगुप्ताम् भूमे इन्द्रस्य अमरावती पुर क्षणेन आससाद ।

हिन्दी—उस (नल) का वह रथ, जैसे अभिलाष सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, वैसे ही उस कुण्डिन नामक शब्द मात्र से गुप्त धरती के इन्द्र (भीम नरेश) की अमरावती पुरी (कुंडिनपुरी) मे क्षण मे पहुँच गया ।

टिप्पणी—नल जैसे तप पूत जनों की इच्छा तुरत पूर्ण हो जाती है, वैसे ही 'मनोरथ'-सम वेगवान् रथ से क्षणमात्र मे (अतिशीघ्र) भीमराज की राजधानी कुण्डिनपुरी पहुँच गया । कुण्डिनपुरी बस नामत ही इन्द्र की राजधानी अमरावती स भिन्न थी, वस्तुत वह किसी दृष्टि से स्वर्ग की राजधानी स न्यून वैभववती नही थी, उसका अधिपति तो धरती का इन्द्र ही था । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक-रूपक अलकार ॥ ४ ॥

भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सेय पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम् ।
नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्या भृश निशश्वास सुरै क्षताश ॥ ५ ॥

जीवातु—भैमीति । नृपो नल, इय भैमीपदस्पर्शेन कृतार्थरथ्या सफलमार्गा, सा श्रूयमाणा पुरी कुण्डिनपुरीत्युत्कलिकया उत्कण्ठया, आकुल क्षुभित सन् । क्षणमीक्षणाभ्या, ता पुरी, निपीय सतृष्ण दृष्ट्वा, सुरै क्षताश भिन्नाश सन् भृश निशश्वास ॥ ५ ॥

अन्वय—इय भैमीपदस्पर्शकृतार्थरथ्या सा पुरी—इति उत्कलिकाकुल नृप क्षणम् ईक्षणाभ्या ता पुरी निपीय सुरै क्षताश भृश निशश्वास ।

हिन्दी—'यह भीमपुत्री (दमयन्ती) के चरण स्पर्श से कृतार्थ गलियों वाली वह (विख्यात) नगरी है'—इस उत्कण्ठा से व्याकुल वह राजा (नल) क्षण भर उस पुरी को नेत्रों से पीकर (भली भाँति देखकर) देवों द्वारा मनाश किय जान के कारण लम्बी साँसे भरने लगा ।

टिप्पणी—जिस नगरी में दमयन्ती ने जन्म लिया, क्रीडा विनोद किये, बड़ी हुई, वह नगरी कैसी होगी ? कैसी होंगी वे गलियाँ—वे रास्ते, जिन पर नल की प्रिया के चरण पड़े होंगे ? एक भावुक सच्चे प्रेमी के सदृश दमयन्ती-कामी नल उस कुण्डिननगरी के अवलोकनार्थ बड़ा उत्सुक था। वह विचारता था कि दमयन्ती को पाकर इस महिमामयी नगरी के वैभव को भोगने का सौभाग्य उसे कभी प्राप्त होगा। पर हाय रे दुर्भाग्य, उसे देवगण मिल गये। उन्हें छल से ऐसे कार्य में प्रवृत्त कर दिया कि सब स्वप्न भग्न हो गये। आशा निराशा में बदल गयी। कष्ट और दुःख से लम्बी साँसें लेने के अतिरिक्त वह करता ही क्या ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-काव्यलिङ्ग भावशबलता अलङ्कारों का सङ्कर ॥ ५ ॥

स्विद्यत्प्रमोदाश्रुलवेन वामं रोमाञ्चभृत्तस्य निरस्य चक्षुः ।
अन्यत्पुनः कम्प्रमपि स्फुरन्त तस्याः पुरं प्राप नवोपभोगम् ॥ ६ ॥

जीवातु—अथैव विद्यमानस्य तस्येष्टसिद्धिसूचकं दक्षिणाक्षिस्पन्दनं जात-मित्याह—स्विद्यदिति। अस्य नलस्य, वामं चक्षुः, प्रमोदाश्रुलवेन आनन्द-बाष्पकणेन, स्विद्यत् स्विन्नं सत्, पक्ष्मभिः उन्मिषद्भिरिति शेषः। रोमाञ्च-भृत् रोमाञ्चितं सत्, तस्याः पुरः नगर्याः, स्फुरन्तं प्रकाशमानं, नवोपभोगं अपूर्वदर्शनमात्रसम्भोगं प्राप। अन्यत् पुनर्दक्षिणं तु कम्प्रमपि कम्प्रं च सत् प्राप। वामाक्ष्णः स्वेदरोमाञ्चावेव। दक्षिणस्य तु वेपथुरप्यधिकः सात्त्विक-प्रवृत्त इत्यर्थः। प्रथमसङ्गमे कम्पस्वेदरोमाञ्चादयो जायन्ते। पुरुषस्य दक्षिणा-क्षिस्पन्दनं शुभाय भवतीति निमित्तवेदिनः। अत्रानन्दाश्रुपक्ष्मोत्क्षेपाक्षिस्पन्देषु स्वेदादिसात्त्विकत्वकल्पनारूपकम्। तदुत्थापितनवोपभोगव्यवहारसमारोपात् पुरीचक्षुषोः स्त्रीपुंस्त्वप्रतीतेः रूपकसङ्कीर्णा समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ६ ॥

अन्वय—अस्य प्रमोदाश्रुलवेन स्विद्यत् पक्ष्माभिः रोमाञ्चभृत् वामं चक्षुः तस्याः पुरः स्फुरन्तं नवोपभोगं प्राप कम्प्रं तु अन्यत् प्राप।

हिन्दी—उस (नल) के हर्षजनित अश्रुकण से स्वेदयुक्त और बरौनियों से रोमाञ्चित बायें नयन ने उस (नगरी) के सम्मुख प्रकाशमान नये उपभोग (प्रथम दर्शन) को प्राप्त किया और कम्पनशील होते वामातिरिक्त (दक्षिण नयन) ने प्राप्त किया।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के नेत्रों की एक ऐसे नायक के रूप में उद्भावना की गयी है, जो नायिका के प्रथम सम्पर्क में आया है। कुण्डिनपुरी को दोनों नेत्रों से निहार कर नल को प्रसन्नता हुई और आनन्दाश्रु से उसका वामनेत्र पूर्ण हो गया और बरौनियाँ जैसे अंचित हो गयीं तथा दाहिना नेत्र (शुभ शकुन स्वरूप) फड़कने लगा। नल के नेत्रों की नायिका के रूप में कुण्डिनपुरी की उद्भावना है, जिसके 'नवोपभोग' अर्थात् प्रथमदर्शन अथवा नूतनकामकेलि का सुख प्राप्त करते दोनों नयनों में जात अश्रु आदि नायक के भाव हैं। आनन्दाश्रु 'स्वेद' है और 'रोमाञ्च' तथा कम्प (कंपन) 'कर' नामक सात्त्विक भाव हैं। नयनों की वह स्थिति यद्यपि प्रकृतिसिद्ध है तथापि वह यहाँ प्रिया-प्राप्ति की सूचना भी देती है। नवोपभोग के समय कामिजन की भी ऐसी स्थिति हो जाया करती है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक-संकीर्णा समासोक्ति है, क्योंकि आनन्दाश्रु आदि में स्वेदादि सात्त्विकों का रूपण है और नवोपभोग व्यवहार के समारोप के आधार पर नयन और कुण्डिनपुरी में नायक-नायिका की प्रतीति होती है। विद्याधर ने केवल समासोक्ति का निर्देश किया है ॥ ६ ॥

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याशु पुरं विवेश।
निर्गत्य बिम्बादिव भानवीयात्सौधाकरं मण्डलमंशुसङ्घः ॥ ७ ॥

जीवातु—रथादिति। असौ राजा नलः सारथिना सनाथात् सहितात् रथादवतीर्य अंशुसङ्घः अंशुसमूहः, भानवीयात् बिम्बान्निर्गत्य सौधाकारं चान्द्रं मण्डलमिव आशु पुरं कुण्डिनं विवेश। 'सल्लिमये शशिनि रवेर्दीधितयो मूर्च्छितास्तमो नैशम्। क्षपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यान्तः ॥' इति शास्त्रादियमुपमा ॥ ७ ॥

अन्वय—असौ राजा सारथिना सनाथात् रथात् अवतीर्य भानवीयात् बिम्बात् निर्गत्य सौधाकरं मण्डलम् अंशुसंघ इव आशु पुरं विवेश।

हिन्दी—सारथि-युक्त रथ से उतरकर यह राजा (नल) जैसे सूर्य के बिम्ब से निकल चन्द्र के मंडल में किरणसमूह प्रविष्ट होता है, वैसे ही शीघ्रतापूर्वक नगर में प्रविष्ट हो गया।

टिप्पणी—इस श्लोक में उपमालङ्कार है। इसका आधार है ज्योतिःशास्त्र। सलिलमय चन्द्र में सूर्य किरणें प्रविष्ट होकर रात्रि के अन्धकार का विनाश उसी प्रकार करती हैं जिस प्रकार कि दर्पण में विद्यमान प्रकाश-किरणें मन्दिर के अन्धकार का। भाव यह कि रथ में सारथि को छोड़कर नगर में एकाकी प्रवेश करता नल चन्द्र के समान सुशोभित हुआ ॥ ७ ॥

चित्रं तदा कुण्डिनवेशिनोऽस्य नलस्य मूर्तिर्ववृते नदृश्या।
बभूव तच्चित्रतरं तथापि विश्वैकदृश्यैव यदस्य मूर्तिः ॥ ८ ॥

जीवातु—चित्रमिति। तदा तस्मिन् समये, कुण्डिनवेशिनः कुण्डिन-प्रविष्टस्य नलस्य सा तथा दर्शनीया मूर्तिर्नदृश्या अदर्शनीया। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपा' इति समासः। ववृते जाता, चित्रं विरोधादिति भावः। इन्द्रवरादृश्यत्वं घटतेऽत्यविरोधः। तथाप्यदृश्यापि अस्य मूर्तिर्विश्वैकदृश्यैवेति यत्तच्चित्रतरं बभूव, दृश्यत्वादृश्यत्वयोर्विरोधादिति भावः। विश्वस्यैकस्यैव दृश्या दृष्टिप्रियैवेत्यविरोधः। अत्र विरोधाभासयोः संसृष्टिः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तदा कुण्डिनवेशिनः नलस्य मूर्तिः नदृश्या ववृते, चित्रम्, तथापि यत् अस्य मूर्तिः विश्वैकदृश्या तत् चित्रतरं बभूव।

हिन्दी—उस काल कुण्डिननगरी में प्रविष्ट होते नल की मूर्ति अदर्शनीय थी, यह आश्चर्य है, तथापि जो उसकी मूर्ति 'विश्वैकदृश्या' अर्थात् सकल-जगत् के देखे जाने योग्य (परिहारार्थ में सबको सुन्दर लगती) रही, वह और अधिक आश्चर्य हो गया।

टिप्पणी—देववर के कारण नल अदृश्य था और वह दर्शनीय तो था ही। 'न दृश्या' का एक अर्थ अदृश्य है, दूसरा अर्थ है जैसी सामान्यतः देखी न जाती हो, अर्थात् अनुपम (परिहारार्थ)। ऐसे ही 'विश्वैकदृश्या' के दो अर्थ (विश्वमात्र का दृश्य और सबको सुन्दर लगने वाला) करके विरोध और परिहार दिखाकर चमत्कार लाया गया है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दृश्यत्व और अदृश्यत्व में तथा 'विश्वैकदृश्य' की दृष्टिप्रियता में विरोध है, अतः विरोधाभासों की संसृष्टि है, विद्याधर भी विरोधाभास मानते हैं ॥ ८ ॥

जनैर्विदग्धैर्नववर्णश्च मुग्धे पदे पदे विस्मयकल्पवल्लीम्।
विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाददे राजकुलातिथित्वम् ॥ ९ ॥

जीवातु—जनैरिति । अथास्य नलस्य, दृष्टिविदग्धैरभिज्ञैः जनैः मुग्धैः सुन्दरैः भवनैश्च पदे पदे विस्मयकल्पवल्ली आश्चर्यमहालतिरवर्थः । पुर विगाहमाना विभावयन्ती । राजकुलातिथित्वमादर्दे । क्रमादसौ राजभवन ददर्शेत्यर्थः ।

अन्वय—अथ अस्य दृष्टिः विदग्धैः जनैः मुग्धैः भवनैः च पदे पदे विस्मयकल्पवल्ली पुर विगाहमाना राजकुलातिथित्वम् आददे ।

हिन्दी—तदनन्तर उस (नल) की दृष्टि चतुर पुरुषों और मनोहर भवनों द्वारा पग-पग पर आश्चर्य की कल्पलता पुरी का विगाहन (भली भाँति अवलोकन) करती राजभवन के अतिथिभाव को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—कुण्डिनपुरी में प्रविष्ट होने पर नल को स्थान-स्थान पर अनेक चतुर व्यक्ति मिले और अनेक भव्य भवन दीखे, जिससे उसे आश्चर्य हुआ । इसी प्रकार नगरी का भली भाँति अवलोकन करता नल धीरे-धीरे राजभवन तक आ पहुँचा । विदग्धैः मुग्धैः च जनैः भवनैः च' अन्वय करने पर विदग्ध (विद्वान्) और मुग्ध (मूर्ख) जनों मे विरोध हुआ और विदग्ध (जले) और मुग्ध (सुन्दर) भवनों मे असगति हुई, अत विरोध हुआ । यही आश्चर्य है । इसका परिहार होगा— विदग्ध अर्थात् विद्वान् होकर मुग्ध अर्थात् सुन्दरजन । इसी प्रकार भवन-पक्ष में विदग्ध का अर्थ लक्षणा शक्ति के आधार पर होगा 'विदग्ध जनों से पूर्ण' अथवा 'चतुर जनों द्वारा निर्मित' (स्थापत्य की दृष्टि से पूर्ण) और 'मुग्ध' अर्थात् भव्य । विद्याधर के अनुसार उल्लेख अलङ्कार रूपक ।। ९ ।।

लीनस्थितामीति हृदा ललज्जे हेला दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे ।
द्रक्ष्यामि भैमीमिति सतुतोष दृत्य विचिन्त्य स्वमसौ सुशोच ॥ १० ॥

जीवातु—लीन इति । असौ नल , अस्त्रैः सज्जे सन्नद्धे । 'सन्नद्धो वर्मितः सज्जे' इत्यमर । रक्षिजने राजकुलरक्षकवीरवर्गे, हेलामवज्ञा दधाविति गर्वोक्ति । लीन (कष्ट शूरोऽपि) गूढचरामीति हेतोर्हृदा ललज्जे । भैमीं द्रक्ष्यामीति सतुतोष । स्व स्वकीय, दूत्य विचिन्त्य शुशोचेति निर्वेदोक्ति । अत्र गर्वलज्जाहर्षनिर्वेदाना बहूना भावाना परस्परोपमर्देन समावेशाद्भावश-बलतोक्ता ।। १० ।।

अन्वय.—असौ लीन: यामि—इति हृदा लज्जे, अस्वमज्जे रक्षिजने हेला दधौ भैमीं द्रक्ष्यामि—इति मनुतोष, स्व दूत्य विचिन्त्य शुशोच।

हिन्दी—वह (नल) '(वीर होकर भी) अदृष्ट हुआ विचरण कर रहा हूँ'—यह विचार कर मन ही मन लज्जित हुआ। उसने शस्त्रधारी रखवालों के प्रति अवना—अनादर का भाव धारण किया भीमपुत्री को देखूंगा—इससे वह प्रसन्न हुआ अपने दूतभाव का विचार कर दुःखी हुआ।

टिप्पणी—पुरी में भ्रमण करते नल की भावशबलता का यहाँ चित्रण है। लज्जा, हेला (अनादर), तोष और शोक क्रमश: नल के हृदय में उत्पन्न हुए। वीर छिपकर प्रविष्ट हो, यह उसके लिए लज्जास्पद है। अस्त्र सज्जित पहरेदार वीर के लिए नगण्य, उपेक्षायोग्य होते ही हैं, सो हेला। दमयन्ती को देख सकने की स्थिति पर सतोष हुआ, जो तुरन्त इस सोच से दब गया कि नल इस समय उसके प्रिय रूप में नहीं, पराये दूत के रूप में उपस्थित होने जा रहा है। विद्याधर के अनुसार भावशबलता अलङ्कार॥ १०॥

अथोपकार्यामिनरेन्द्रकार्यात्कक्ष्यासु रक्षाधिकृतैरदृष्ट:।
भैमीं दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्दिशन्नसौ तामविशद्विशङ्क:॥ ११॥

जीवातु—अथेति अथानन्तर, असौ नल:, कक्ष्यासु गृहप्रकोष्ठेषु। 'कक्ष्या प्रकोष्ठे हर्म्यादे' इत्यमर:। रक्षायामधिकृतै:, रक्षिजनै:, अदृष्टस्सन् भैमीं, दिदृक्षुः द्रष्टुमिच्छु:। अतएव दिक्षु चक्षुर्बहु भूयिष्ठं, दिशन् वितरन्नुत, तां पूर्वनिर्दिष्टां, उपकार्यां राजसदनम्। 'उपकार्या राजसद्मनि' इति विश्व:। अमरेन्द्राणां कार्यात् प्रयोजनात् हेतोरविशत्॥ ११॥

अन्वय—अथ कक्ष्यासु रक्षाधिकृतै: अदृष्ट: भैमीं दिदृक्षु: दिक्षु चक्षु: बहु दिशन् विशङ्क: असौ अमरेन्द्रकार्यात् ताम् उपकार्याम् अविशत्।

हिन्दी—तदनन्तर भवन के प्रकोष्ठों में रक्षा-अधिकारियों (प्रहरियों) को न दीखता, भीमसुता (दमयन्ती) को देखने के निमित्त चारों ओर बार-बार दृष्टि डालता शंकाहीन वह (नल) देवराज (इन्द्र) के कार्य से उस राजगृह में प्रविष्ट हुआ।

टिप्पणी—देवराज से मिले वर के कारण नल प्रहरियों को न दीख पड़ता था, अतएव वह निःशंक होकर दमयन्ती को ढूंढ रहा था। चोरी से

किसी के घर में जा घुसना किसी शूर-वीर, सज्जन व्यक्ति का काम नहीं होता, किन्तु नल देवेन्द्र की कार्यसिद्धि के लिए दूतोचित कार्य कर रहा था। रामकथा के हनुमान् भी ऐसे ही लघुरूप धारण करके लंका में प्रविष्ट हुए थे। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ११ ॥

अयं क इत्यन्यनिवारकाणां गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम् ।
दृशं दधौ विस्मयनिस्तरङ्गां विलङ्घितायामपि राजसिंहः ॥ १२ ॥

जीवातु—अयमिति। विभुः समर्थः, राजा सिंह इव राजसिंहः राजश्रेष्ठः, उपमितसमासः। स नलः, अयं कः इत्यन्यस्य स्वव्यतिरिक्तजनस्य, निवारकाणां, रक्षिणां गिरा वाक्येन (हेतुना) कण्ठं विभुज्य किं दृष्टोऽस्मीति शङ्कया ग्रीवां विवल्य वक्रीकृत्येत्यर्थः। विलङ्घितायामतिक्रान्तायामपि द्वारि। विस्मयेन कथमेते मामद्राक्षुरित्याश्चर्येण। निस्तरङ्गां निर्निमेषां, दृशं दधौ। सिंहस्य ग्रीवाभङ्गेन लङ्घिताध्वदर्शनं युक्तमिति भावः ॥ १२ ॥

अन्वय—विभुः राजसिंहः—अयं कः—इति अन्यनिवारकाणां गिरा कण्ठं विभुज्य विलङ्घितायाम् अपि द्वारि विस्मयनिस्तरङ्गां दृशं दधौ।

हिन्दी—सामर्थ्यशील वह राजसिंह (राजश्रेष्ठ) 'यह कौन है'—ऐसे किसी और का निवारण करते पहरेदारों के वचनों के कारण गरदन पीछे मोड़कर द्वार को लाँघजाने पर भी आश्चर्य से निश्चल दृष्टि से देखने लगा।

टिप्पणी—अदृश्य रहकर राजमंदिर में घूमते सिंह सम पराक्रमी नल ने पहरेदारों की वाणी सुनी—'यह कौन है'? नल को इस पर आश्चर्य हुआ कि अदृश्य रहते भी उसे पहरेदारों ने कैसे देख लिया? वस्तुतः प्रहरियों ने किसी अन्य प्रविष्ट होते व्यक्ति को टोका था, जिसे नल ने अपने प्रति समझ लिया। फिर भी राजसिंह नल डरा नहीं, 'सिंहावलोकन' करते उसने द्वार पार करते हुए पीछे देखा, फिर आश्वस्त हो आगे बढ़ा। विद्याधर के अनुसार जाति और श्लेष का सङ्कर ॥ १२ ॥

अन्तःपुरान्तःस्म विलोक्य बाला काञ्चित्समालब्धुमसंवृतोरुम् ।
निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या सङ्घट्टमासाद्य चमच्चकार ॥१३॥

जीवातु—अन्तरिति। स नलः, अन्तःपुरस्यान्तरभ्यन्तरे, अव्ययमेतत्।

समालम्भनमुद्वर्तनादिकम् । सद्वर्तोद्वर्तनमाच्छादितोरोदेशा, काचिद्बाला स्त्रियं विलोक्य, निमीलिताक्षः सन् परस्त्रीदर्शनपापभीत्येति भावः । भ्रमन्त्या तत्र सञ्चरन्त्या परया स्त्र्यन्तरेण सङ्घट्टमभिघातं आसाद्य, द्वयोरपि दृष्टिप्रतिबन्धादिति भावः । चमत्कारं चमत्कृतः स्म । चमत्कृतमनुभूतवानित्यर्थः ॥

अन्वयः—अन्तःपुरान्तः समालम्भम् सद्वृत्तोरुः काञ्चिद् बालां विलोक्य निमीलिताक्षः सः भ्रमन्त्या परया सङ्घट्टम् आसाद्य चमत्चकार ।

हिन्दी—रनिवास के मध्य उद्वर्तन (उबटन, मालिश) के निमित्त जाँघ खोले किसी बाला को देखकर आँखें बन्द किये वह (नल) घूमती अन्य स्त्री से टकरा खाकर चकित हो गया ।

टिप्पणी—नल के अदृश्य रहने के कारण रनिवास की कोई स्त्री वहाँ पुरुष का होना सोच ही नहीं सकती थी, अतः वे स्वच्छन्दता पूर्वक अपने-अपने कार्य कर रही थीं । एक स्त्री जाँघ पर मालिश करा रही थी उसकी खुली जाँघ को देखना उचित न समझते हुए नल ने आँखें मीचलीं, फल यह हुआ कि उधर आती एक अन्य स्त्री से टकरा गये, क्योंकि वह स्त्री भी उन्हें देख न पायी थी। पर नल को अचरज लगा कि क्यों यह स्त्री मुझसे टकरायी ? विद्याधर के अनुसार जाति अलङ्कार ॥ १३ ॥

अनादिसर्गस्रजि वानुभूता चित्रेषु वा भीमसुता नलेन ।
जातेव यद्वा जितशम्बरस्य सा शाम्बरीशिल्पमलक्षि दिक्षु ॥ १४ ॥

जीवातु—अनादीति । अनादौ सर्गस्रजि सृष्टिपरम्परायां वा, क्वचिज्जन्मान्तर इत्यर्थः । चित्रेषु आलेख्येषु, अनुभूता । अत्यन्तानुभूतेत्यर्थं भ्रमासम्भवादिति भावः । यद्वा, मास्त्वनुभव इति शेषः । किन्तु, जितशम्बरस्य मायिनोऽपि मायिनः, कामस्य शाम्बरीशिल्पं मायासृष्टिः । 'स्यान्माया शाम्बरी' इत्यमरः । जातेव, सा भीमसुता नलेन दिक्षु अलक्षि प्रतिदिशमदृश्यत । लक्षेः कर्मणि लुङ् । अत्रालीकभैमीसाक्षात्कारो जन्मान्तरानुभवाद्वा केवलमदनमायाबलाद्वेति हेतूत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

अन्वयः—अनादिसर्गस्रजि वा चित्रेषु अनुभूता यद्वा जितशम्बरस्य शाम्बरीशिल्पं जाता एव सा भीमसुता नलेन दिक्षु अलक्षि ।

हिन्दी—जैसे आदि-हीन सृष्टि की परम्परा मे देखी हो, अथवा चित्रो मे उसका अनुभव हो, अथवा शबरजयी (काम) की शबर शिल्प (माया) ही हो, ऐसी भीमसुता (दमयती) को नल ने प्रत्येक दिशा मे देखा।

टिप्पणी—राजभवन मे चारो ओर दमयती ही दीख रही थी, यद्यपि वह वहाँ थी नहीं। अविद्यमान् दमयती को देखी प्रत्यक्ष करने की तीन सम्भावनाएँ हैं—(१) कभी अनादि सृष्टि परम्पराओ मे—जन्मांतर मे उसे देखा हो, परन्तु इसका कोई प्रमाण नही है, और पूर्व जन्म का स्मरण भी प्राय नही रहता। (२) चित्रगत होने से प्रत्यक्ष हो, पर चित्र के जड होने के कारण वह क्रियाहीन होगी। ऐसी दमयन्ती की कल्पना भी उचित नही है। (३) मायावी शबरासुरजयी काम की माया का ही वह चमत्कार हो। कदाचित् यह तीसरी स्थिति ही उपयुक्त है। दमयती काम का माया शिल्प ही थी, इसी कारण इतनी मनोहर थी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ हेतूत्प्रेक्षा है, कारण कि अतथ्य दमयती के साक्षात्कार के तीन हेतु सभावित हैं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपक-विशेष अलकारों का सकर है ॥१४॥

अलीकभैमीमहदर्शनान्न तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय।

भैमीभ्रमस्यैव तत प्रमादाद्भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्भि ॥ १५ ॥

जीवातु—अलीकेति। अन्या कन्या अप्सरस इव। उपमितसमास। अप्सर कल्पा अपि कन्या तरुण्य स्त्रिय, अलीकभैम्या सह दर्शनाद्धेतो तस्य नलस्य रसाय रागाय, नाभवन। ततोऽपि तासामपकृष्टत्वादिति भाव। तर्हि, किं सारूप्यात्तास्वपि भैमीभ्रमो नाभूदत आह—भैमीति। तत इति सार्वविभक्तिकस्तसिः। तत तस्य भैमीभ्रमस्यैव प्रसादात्तेन नलेन तास्वन्त पुरस्त्रीषु भैमीभ्रमो नालम्भि न प्राप्त। अत्यसाक्षात्दर्शनादिति भाव ॥ १५ ॥

अन्वय—अलीकभैमीसहदर्शनात् अन्यकन्याप्सरस तस्य रसाय न, तेन तत भैमीभ्रमस्य एव प्रमादात् तासु भैमीभ्रम न अलम्भि।

हिन्दी—अतथ्य भीमसुता के साथ देखने से दूसरी कुमारी रूप अप्सरियाँ उस (नल) के राग आनद का कारण न बनीं, उस (नल) को उस भीमपुत्री के भ्रम के प्रमाद के कारण ही उनमें भीमपुत्री (दमयन्ती) का भ्रम न हो पाया।

टिप्पणी–राजभवन में कन्याओं की रमणीय अन्य अनेक कुमारियाँ थीं, परन्तु नल को उनमें अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ। यद्यपि दमयन्ती वहाँ वस्तुतः नहीं थी, तथापि अलीक दमयन्ती तो थी, दमयन्ती न सही, दमयन्ती की भ्रांति तो थी। इसी अलीक दमयन्ती के साथ भी तुलना करने से अन्य सुन्दरियाँ नल को मनोरम नहीं प्रतीत होती थीं और उसका रञ्जन न हो पाता था। विद्याधर के अनुसार रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १५ ॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहस्तः ।
स तामलीकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन्व्यषदद्विबुद्धः ॥ १६ ॥

जीवातु—भैमीति। भैम्या निराशे मुक्ताशे, हृदि, मन्मथेन दत्तस्वहस्तादृत्तावलम्बात्संजनितादित्यर्थः। विरहाद्विहस्तो विह्वलः, स नलः अलीका तां भैमीमवलोक्य, क्षणात् विबुद्धः निवृत्तभ्रमः, तत्र तामपश्यन् व्यषदत् विषण्णोऽभूत्। षदेर्लुङ्। लृदित्वाच्च्लेरङादेशः। 'सदिरप्रतेः' इत्यडव्यवायेऽपि षत्वम्। भैमीशून्यविरोधात्तद्वान् भ्रम एव तस्याश्वासोऽभवदिति भावः ॥१६॥

अन्वय—भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्तात् विरहात् विहस्तः अलीकां ताम् अवलोक्य क्षणात् विबुद्धः सः तत्र अपश्यन् व्यषदत्।

हिन्दी—भीमपुत्री (दमयन्ती) से निराश हृदय में काम द्वारा सहारा पाये वियोग से बेहाथ (विकल), असत्य उस (दमयन्ती) को देखकर क्षण भीतते सजग हुआ वह (नल) वहाँ (उस दमयन्ती) को न देखकर व्यथा पाने लगा।

टिप्पणी—देवों का दूत होकर नल दमयन्ती के प्रति निराश हो गया था, किंतु काम ने अपने हाथों सहारा दे वियोग को उसके हृदय में फिर जगा दिया, इससे नल की व्याकुलता बढ़ गयी। जब उसने अलीक दमयन्ती को देखा तो कुछ चैन मिला, पर जब वह भ्रम हटा तो वह पुन द्विगुणित कष्ट पाने लगा। काम से 'हाथ पाये' विरह से नल का 'बेहाथ' हो जाना असंगत लगता है, यह आश्चर्य है कि 'हाथ पाया' बेहाथ हो, हाथ दान करने पर तो काम को 'विहस्त' होना चाहिए। इसका परिहार हो जाता है 'हस्त' का 'सहारा—अवलम्ब' और 'विहस्त' का 'व्याकुल' अर्थ करने पर। इस प्रकार विरोधाभास अलंकार। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ १६ ॥

प्रिया विकल्पोपहृता स यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम् ।
अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम ॥ १७ ॥

जीवातु—प्रियामिति । स नल, विकल्पोपहृता विभ्रमोपनीता, प्रिया दमयन्ती, यावदिदगीशसन्देशं इन्द्रादिवाचिकं, अल्पमजल्पदकथयत् । तावददृश्यया अलक्ष्यकर्तृकया, वाचा हेतुकर्त्र्या, भीषिता त्रासिता । 'भियो हेतुभये षुक्' । ताश्च ता भूरयोऽनेका भीरवो भयशीला स्त्रिय ताभ्यो भवतीति तद्भवो रव कलकल, त नलमचेतयदबोधयत् । चेततेर्मौवादिकात् णिच् ॥ १७ ॥

अन्वय —स विकल्पोपहृता प्रियां यावत् दिगीशसन्देशम् अल्पम् अजल्पत् तावत् अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभव रव तम् अचेतयत् ।

हिन्दी—वह (अदृश्य रहता नल) भ्रम के कारण कल्पित प्रिया (दमयन्ती) से जब दिग्पालों का सदेश थोड़ा सा बोला तब ही न दीखती वाणी से डरी अनेक डरपोक स्त्रियों द्वारा मचाये कोलाहल ने उसे सावधान कर दिया ।

टिप्पणी—देव-वर से अपनी काया अदृश्य किये भ्रमकल्पित अलीक दमयन्ती से नल ने दिक्पालों के सदेश के कुछ शब्द कहे ही थे कि नारी मण्डली मे भीषण कोलाहल मच गया । अदृश्य व्यक्ति के वचन सुनकर वे भीरु नारियाँ समझी कि कोई भूत-प्रेत-बाधा आ पडी है, जो शून्य मे से स्वर सुन पड रहा है और वे डर कर चिल्ला पड़ी । इससे नल ने अपनी भूल समझी कि वह यह क्या कर रहा है कि अदृश्य रह कर बोल रहा है ? तब नल सावधान हुआ और चुप हो गया । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और भ्रान्ति मावोदय अलकारो का सकर ॥ १७ ॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुताऽपि तन्व्या स्तनौ परिस्प्रष्टुमिवास्तवस्त्रौ ।
अशान्तपक्षान्तमृगाङ्कमास्य दधार तिर्यग्वलित विलक्ष ॥१८॥

जीवातु–पश्यन्निति । स नल तस्मिन्नन्त पुरे मरुताऽपि अचेतनेनापीति भाव । परिस्प्रष्टु सस्प्रष्टुमिव । अस्तवस्त्रौ अपनीतांशुकौ तन्व्या स्तनौ पश्यन् विलक्षो विलज्जितस्सन्, अशान्तपक्षा तमृगाङ्क, अशा त असोढ पक्षा त पौर्णमास्या मृगाङ्क चन्द्रो येन तदास्य, तिर्यग्वलित साचीकृतम् । दधार धृतवान् । यत्राचेतनस्य वायोरपि चपलता तत्राय निर्विकार एवेत्यहो जितेन्द्रियत्वमस्येति भाव ॥ १८ ॥

अन्वयः—तस्मिन् मरुता अपि परिस्नस्तदुकूल इव तन्व्याः अनावृतौ स्तनौ पश्यन् विरक्तः स अकाण्डशशाङ्कलज्जाकरम् आस्यं निर्यक् वलितं चकार ।

हिन्दी—वहाँ (अन्तःपुर में) वायु (देव) द्वारा भी परिस्पर्श के निमित्त जैसे कोमलाङ्गी (सुन्दरी) के वस्त्र उड़ा दिये जाने से उघड़ गये स्तनों को देख दुःखित (खिन्न) उस (नल) ने पखवारे (पूर्णिमा) के चन्द्र को लज्जित करते मुख को तिरछा कर लिया।

टिप्पणी—अन्तःपुर में किसी स्त्री का आँचल वायु से उड़ गया और उसके स्तन उघड़ गये। इस पर कवि-कल्पना है कि अचेतन पवन नहीं, मरुद् देव सुन्दरी पर आकृष्ट हो उसका कुचमर्दन करना चाहते थे। नल सज्जन था—उत्तम नायक। वह भला किसी नग्न स्त्री को कैसे देखता, फलस्वरूप उसने अपने पूर्णिमा के चन्द्र को लज्जित करने वाला अपना मुख मोड़ लिया। प्रकाशकार के अनुसार प्रच्छन्न कामुक-समागम-काल में यह 'तिरोधान' उचित है, यह ध्वनित होता है। नल का चन्द्रमुख इसी कारण 'तिर्यग्वलित' हुआ। मल्लिनाथ ने इससे नल की जितेन्द्रियता का संकेत किया है। जिस सुन्दरी-कुचमण्डल ने अचेतन वायु को भी आकृष्ट कर लिया (अथवा मरुद्देव को भी चलचित्त कर दिया), उस पर भी नल के मन में आकर्षण नहीं उत्पन्न हुआ। अद्भुत जितेन्द्रिय था नल! विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा-उपमा-आक्षेप अलङ्कारों का सङ्कर है ॥ १८ ॥

अन्तःपुरे निभृतवागुरितोऽपि वामावलीनां वलितैरपाङ्गैः ।
न कान्तिसारं हरिणं तदक्षिद्वन्द्वं प्रभुर्दन्तुमभून्मनोभूः ॥ १९ ॥

जीवातुः—अन्तरिति। अन्तःपुरे वामावलीनां स्त्रीसमूहानां, वक्रयोरभेदाद्वो-मदनमोहानां च, वलितैः पुनः पुनः प्रवृत्तैः आवर्तितैश्च [illegible] कटाक्षविक्षेपादीनां मृगाणां चौर्यं विस्तृतवागुरः प्रसारितमृगबन्धनोऽपि। 'वागुरा मृगबन्धनी' इत्यमरः। मनोभूः स एव मृगयुरिति शेषः। तस्य नलस्याक्षिद्वन्द्वमेव कान्तारम्, दुर्गमारण्यम्, अक्षिद्वन्द्वं कालेन कनीनिकाकाष्र्ण्येन सार [illegible], हरिणश्च बन्धुनाऽस्तु मदनश्च प्रभुः शक्तो नाभूत्। जितेन्द्रियत्वादस्येति भावः। अत्राक्ष्यादिषु हरिणत्वादिरूपणान्मनोभुवो मृगयुत्वं गम्यत इत्येकदेशविवर्तिरूपकम् ॥ १९ ॥

अन्वय—अन्तःपुरे बालावलीनां (बालावलीनां) वर्तितैः गुणौघैः विस्तृतवागुरः अपि मनोभूः तदक्षिद्वन्द्वं कालसारं हरिणं बन्धुं प्रभुः न अभूत्।

हिन्दी—अन्तःपुर में बालाओं के बारम्बार किये जाते सविलास गुण-समूहों (नृत्य, गीत, अंगड़ाई आदि के सौन्दर्य) रूप 'बाल' समूहों की बटी (गुण समूह) रस्सियों का जाल बिछाय कामदेव (आखेटक) उस (नल) के सुन्दर पुतलियों से युक्त नयनयुगलरूप कृष्णसार हिरन को फाँसने में समर्थ न हो पाया।

टिप्पणी—यहाँ काम को आखेटक, नल के नेत्रयुगल को आखेट हरिण और 'बवयोरभेद' के आधार पर बालावली के गुणसमूह (सौन्दर्यादि) को बालों से बटी रस्सी बताया गया है, जिसकी 'वागुरा' (जाल) में कामरूपी आखेटक नल नयनयुग हरिण को फाँसना चाहता है, पर वह हो न सका। कारण कि नल जितेन्द्रिय था, एक दमयन्ती का अनुरागी था। उसके नेत्र अन्य रमणी-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो ही नहीं सकते थे। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ एक-देशविवर्ति रूपक है, क्योंकि अक्षि आदि में हरिणत्व आदि के रूपण द्वारा काम का आखेटकत्व गम्य बना है। विद्याधर के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति-रूपक की संसृष्टि है ॥ १९ ॥

दोर्मूलमालोक्य कचं रुरुत्सोस्तत्तः कुचौ तावनुलेपयन्त्याः।
नाभीमथैष श्लथवाससोऽनुमिमील दिक्षु भ्रमकृष्टचक्षुः ॥ २० ॥

जीवातु—दोरिति। एष नलः, कचं केशपाशं, रुरुत्सोः रोद्धुं बन्धुमिच्छोः, कस्याश्चिद्दोर्मूलं बाहुमूलमालोक्य। ततोऽनन्तरं, कुचावनुलेपयन्त्याः तौ कुचावा-लोक्य, अथ श्लथवाससः स्रस्तांशुकायाः, नाभीमालोक्य, अनन्तरं, दिक्षु पुरः पार्श्वभागेषु भ्रमेण कृष्टचक्षुः प्रत्याहृतदृष्टिः सन्, मिमील निमीलिताक्षोऽ-भूत्। तत्र तथा यथेष्टचेष्टे स्त्रीमण्डले तस्य पापभीरोर्नेत्रनिमीलनमेव प्राप्त-मित्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वय—कचं रुरुत्सोः दोर्मूलम्, ततः कुचौ अनुलेपयन्त्याः तौ, अथ श्लथवाससः नाभीम् आलोक्य दिक्षु भ्रमकृष्टचक्षुः एषः अनुमिमील।

हिन्दी—केश बाँधने की इच्छुक (किसी सुन्दरी) के भुजमूल, तदनन्तर स्तनों पर लेप करती के (स्तन), तत्पश्चात् ढीले वस्त्र किये (सुन्दरी)

को मानि देखकर चारों ओर क्रमशः दृष्टिपात करते उस (नल) ने तदनन्तर नेत्र मीच लिये ।

टिप्पणी—अदृश्य नल को अन्तःपुर में विभिन्न सुन्दरियाँ भाँति-भाँति के ऐसे व्यवहार करती दिखायी दीं, जिन्हें वे न करतीं, यदि वे जानतीं कि किसी पुरुष की आँखें उन्हें देख रही हैं। जितेन्द्रिय और उत्तम नायक नल को विवशतः ऐसे दृश्य गोचर हो रहे थे, फलस्वरूप उन्होंने वे दृश्य न देखने के लिए अपने नेत्र बन्द कर लिये। नल को लगा कि यह पाप है और अतएव अनुचित है। विद्याधर के अनुसार दीपक और भावोदय अलंकार का सङ्कर ॥ २० ॥

मीलन् द्वैधैरभिमुखागताभ्यां धर्तुं निपीड्य स्तनशान्तराभ्याम् ।
स्वाङ्गान्यपेतो विजगौ स पश्चात्तदङ्गसङ्गोत्पुलके पुनस्ते ॥२१॥

जीवातु—मीलन्निति । मीलन्निमीलिताक्षः, स नलः, अभिमुखमन्योन्याभिमुखमागताभ्यां तथापि स्तनाभ्यां निमित्तेन सान्तराभ्यां सावकाशाभ्यां कान्ताभिर् स्त्रीभ्यां निपीड्य मध्ये निरुध्य धर्तुं ग्रहीतुं, न शेके शक्यो नाभूत्। स नलः, पश्चादेतेऽस्पृष्ट स्वाङ्गानि विजगौ, परस्त्रीसंस्पर्शदोषाद्विगर्हे, निनिन्द। ते स्त्रियौ पुनः, पुंसोऽङ्गस्पर्शेन तदुत्पुलके उद्गतरोमाञ्चे जाते ।२१।

अन्वय—मीलन् स अभिमुखागताभ्यां स्तनसान्तराभ्यां निपीड्य धर्तुं न शेके, पश्चात् अपेतः स्वाङ्गानि विजगौ, पुनः ते पुनस्तदङ्गोत्पुलके ।

हिन्दी—आँखें-बन्द किये वह (नल) सम्मुख आतीं, (उच्च) स्तनों के कारण व्यवधान रखतीं, दो (सुन्दरियों) के द्वारा (अपने मध्य में) न दबाया जा सका, उनके मध्य से निकल कर अपने अङ्गों की विशेषतया निंदा करने लगा, (किंतु) वे (दोनों सुन्दरियाँ) के अङ्ग पुरुषाङ्गों से टकरा जाने के कारण पुलकित हो गये ।

टिप्पणी—आँखें-मूँदे चलते नल को कुछ दीखता नहीं था, अतएव नल को सुन्दरियाँ भी न देख पाती थीं। परिणाम हुआ कि दो विरुद्ध दिशाओं से आती सुन्दरियों के बीच फँस कर वह उनके अङ्गों से टकरा गया। परन्तु दो के बीच फँसा भी नल दबकर पीड़ित नहीं हुआ, क्योंकि उन दोनों के स्तन इतने उन्नत थे कि नल उनके स्तनों की नोकों के बीच ही आ पाया और

निकल गया, क्योंकि सुन्दरियों के वक्षस्थल परस्पर न मिल पाये थे। पर नल की आर्यमर्यादा के यह प्रतिकूल था कि वह पर स्त्रियों का (अनजाने ही सही) कुचस्पर्श करे, फलतः उसने अपने उन अंगों को गर्हणास्पद माना, जो परस्त्री कुच-संस्पर्श के दोषी हो गये थे। उन दोनों के स्तन चूंकि पुरुष के अंगों से छू गये थे, अतः वे रोमांचित हो उठीं। विद्याधर के अनुसार हेतु और भावोदय अलंकार है ॥ २१ ॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थितास्ताः कलयन् कटाक्षैः ।
स रागदर्शीव भृशं ललज्जे स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी ॥ २२ ॥

जीवातु—निमीलनेति । निमीलनं च स्पष्टविलोकनञ्च ताभ्यां कदर्थिताः निषिद्धस्पर्शनदोषोद्वेजिताः । स नलः, ताः स्त्रियः, कटाक्षैः कलयन् निर्विकल्पेन गृह्णन् । रागेण पश्यतीति रागदर्शी, स इव भृशं ललज्जे । कष्टं कामुकदृष्ट्या पश्यामीति भृशं परितप्तोऽभूदित्यर्थः । नन्वप्रकाशेऽर्थे का लज्जा तत्राह—सतां सत्पुरुषाणां परतोऽपि स्वतः एव ह्रीर्गुर्वी, अकामादप्यकार्यकरणे परस्मादपि स्वस्मादेव लज्जते सज्जनः इत्यर्थान्तरन्यासः ॥ २२ ॥

अन्वयः—निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्यां कदर्थिताः ताः कटाक्षैः कलयन् सः रागदर्शी इव भृशं ललज्जे, सतां परतः अपि स्वतः ह्रीः गुर्वी ।

हिन्दी—आँखें मूदना और खोलकर देखना—दोनों से पीड़ित उन (सुन्दरियों) को कटाक्ष (अर्द्ध निमीलित नेत्रों) से देखता वह (नल) अनुराग सहित देखते पुरुष की भाँति अत्यधिक लज्जित हुआ। सज्जनों को अन्यजनों की अपेक्षा अपने से ही लज्जा अधिक होती है।

टिप्पणी—लज्जाहीन व्यापार करती सुन्दरियों के दृष्टिगोचर हो जाने से नल को अनुचित लगता तो वे आँख-मूदकर चलने लगते। इससे उनके शरीर से आती जाती सुन्दरियाँ टकरा जातीं। यह और भी अनुचित लगता। दोनों स्थितियों में अपराध बोध से पीड़ित नल ने यह उचित समझा कि कुछ आँखें खोलकर अथवा एक क्षण बन्दकर दूसरे क्षण आँख खोलकर चला जाय। इस पर नल को प्रतीत हुआ कि यह अर्द्धनिमीलित नेत्रों से देखना तो अनुराग-व्यापार-बोधक कटाक्ष है, यह तो और भी लज्जास्पद है। फलस्वरूप वे अत्यधिक लजाये। प्रश्न हो सकता है कि उनकी ऐसी स्थिति को जब कोई

देख ही नहीं रहा था, तो उनको लज्जा क्यों व्यापी ? इसी के उत्तर में यह सिद्धांत वचन कहा गया—'स्वतः सतां ह्रीः परतोऽपि गुर्वी,'—सज्जनों को स्वतः ही अनौचित्य पर लज्जा लगती है, अन्य की अपेक्षा उन्हें नहीं होती। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने काव्यलिङ्ग-उपमा-अर्थान्तरन्यास के सङ्कर का निर्देश किया है ॥ २२ ॥

रोमाञ्चिताङ्गीमनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन कान्तेन रतेर्निसृष्टः।
मोघं शरौघः कुसुमानि नाभूत्तद्धैर्यपूजां प्रति पर्यवस्यन् ॥ २३ ॥

जीवातु— रोमाञ्चितेति। रोमाञ्चिताङ्गीमनु पुमङ्गसङ्गात् पुलकितगात्रीमुद्दिश्य, तस्य नलस्य, कटाक्षैः कटाक्षवीक्षणैः, भ्रान्तेन अयमस्यामनुरक्त इति भ्रान्तेन, रतेः कान्तेन कामेन, निसृष्टः प्रयुक्तः कुसुमान्येव शरौघः तस्य नलस्य, धैर्यस्य निर्विकारचित्तत्वस्य पूजां प्रति पूजायां पर्यवस्यन् पूजात्वेन परिणमन् । मोघो व्यर्थो नाभूत्। शत्रोरपि गुणः पूज्यो भवेदिति भावः । अत्र नलधैर्यभङ्गार्थं प्रयुक्तस्य कुसुमजालस्य, न केवलं तदनर्थकत्वं प्रत्युत तत्पूजकत्वमापन्नमिति यनर्थोत्पत्तिलक्षणो विषमालङ्कारः ॥ २३ ॥

अन्वय —रोमाञ्चिताङ्गीम् अनु तत्कटाक्षैः भ्रान्तेन रतेः कान्तेन निसृष्टः कुसुमानि शरौघः तद्धैर्यपूजां प्रति पर्यवस्यन् मोघः न अभूत्।

हिन्दी—('पुमङ्गसङ्गान्मृगदृशा'—पुरुष अंगों के स्पर्श से) रोमाञ्चित सुन्दरी की ओर उसके अर्द्ध-निमीलित दृष्टि डालने (कटाक्ष) के कारण भ्रम में पड़े रति-प्रिय (काम) द्वारा प्रयुक्त पुष्प रूप बाण-समूह उस (नल) के धैर्य की पूजा में परिणत होता व्यर्थ न हुआ।

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट है कि नल 'निमीलनस्पष्टविलोकन'—दोनों में 'कदर्थित' हो अर्द्ध निमीलित नेत्र करके सञ्चरण करने लगे। जैसा नल ने स्वयं विचारा था, काम को भी भ्रम हो गया कि नल उस 'रोमाञ्चिताङ्गी' के प्रति अनुरक्त हो गया है (रति (अनुरक्ति) का पति जो ठहरा काम !), अतः उसने नल पर अपने पुष्प-बाण छोड़ दिये। जितेन्द्रिय, कामजयी नल पर वे व्यर्थ हो जाते, पर हुए नहीं। अपना वाञ्छित कार्य तो वे कर न सके, नल के अनुपम धैर्य की पूजा निमित्त अर्पित पुष्पों के रूप में उन्होंने अपनी सार्थकता पा ली। पराजित काम ने अपने अस्त्रों

को जयी नल को समर्पित कर उसकी श्रेष्ठता स्वीकार ली। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में विषम अलंकार माना है, क्योंकि नल के धैर्य भंग में हेतु प्रयुक्त 'शरौघ' न केवल धैर्य के भंजक प्रमाणित हुए, उलटे उसकी पूजा के उपयुक्त सिद्ध हो गये, यह अनर्थ (अनचाहा, उलटा) हुआ। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार। 'चन्द्रकला'-कार ने मल्लिनाथ के अनुसार विषमालंकार का निर्देश करते हुए 'कुसुमानि शरौघ' में व्यस्त रूपक माना है और विषम रूपक के अंगांगिभाव संकर का निर्देश किया है॥ २३॥

हित्वैव वर्त्मैकमिह भ्रमन्त्या स्पर्शः स्त्रिया सुत्यज इत्यवेत्य।
चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोकाय सतां स दीपः॥२४॥

जीवातु—हित्वेति। सतां स दीपः सुजनश्रेष्ठः, सतां भावानां प्रकाशक प्रदीपश्च स नलः। इह अन्तःपुरे भ्रमन्त्याः सञ्चरन्त्याः स्त्रियाः स्पर्शः एकमभिन्नं वर्त्म हित्वैव सुत्यजः इत्यवेत्य निश्चित्य लोकावलोकाय सञ्चारिजनदर्शनाय। अन्यत्र, लोकानां जनानां व्यवहाराय। चतुर्णां पथां समाहारः चतुष्पथं, 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समाहारे द्विगुः 'ऋक्पूरब्धूः—' इत्यादिना समासान्तः। 'पथः सङ्ख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम्। तस्य आभरणं बभूव। अत्र स्थित इत्यर्थः। विलष्टैकमार्गे स्त्रीसंबाधादविलष्टे चतुष्पथे स्थित्वा समन्तादवलोकितवानित्यर्थः। चतुष्पथस्थो दीपो लोकावलोकाय कल्पत इति ध्वनिः॥ २४॥

अन्वयः—इह भ्रमन्त्या स्त्रियाः स्पर्शः एकं वर्त्म हित्वा एव सुत्यजः—इति अवेत्य सतां दीपः स लोकावलोकाय चतुष्पथस्य आभरणं बभूव।

हिन्दी—यहाँ (अन्तःपुर में) विचरण करती स्त्री का स्पर्श 'एकपदी' (गली का संकीर्ण मार्ग) छोड़कर ही बचाया जा सकता है—यह समझ कर सज्जनों का दीपक (श्रेष्ठ) वह (नल) लोकजनों के देखने के निमित्त चौराहे का आभूषण बन गया।

टिप्पणी—नल ने परस्त्री-स्पर्श दोष बचाने के लिए अन्तःपुर का संकीर्ण मार्ग छोड़कर बड़ा चौराहे का मार्ग अपनाना ठीक समझा और वे संकीर्ण मार्ग छोड़ चौराहे पर आ गये। कवि ने नल को यहाँ 'सतां दीप' विशेषण देकर केवल सज्जन-श्रेष्ठ ही कहा, प्रत्युत उन्हें लोकमार्ग-दर्शक (कर्तव्याकर्तव्य-निर्देशक) भी बताया। जैसे चौराहे पर रखा दीपक सबको मार्ग दिखाता है, वैसे ही नल ने भी लोक के सम्मुख आचरण का आदर्श उपस्थित किया। वे

'चतुष्पद' के 'आभरण' बने, चौराहे अर्थात् चारों दिशाओं को अलङ्कृत बनाने वाले—सब के कर्तव्य प्रेरक बने। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ यह ध्वनि है कि चौराहे पर दीपक लोकावलोकन के लिए रखा जाता है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ २४ ॥

उद्वर्तयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृतद् द्रुतैव।
वियोगिवैरात् कुचयोर्नखाङ्कुरैरर्धेन्दुलीलैर्गलहस्तितेव ॥ २५ ॥

जीवातु—उद्वर्तयन्त्या इति। नृपस्य दृष्टिरुद्वर्तयन्त्या गात्रमुन्मार्जयन्त्याः, हृदये वक्षसि, निपत्य अर्धेन्दुलीलैरर्धचन्द्राभिख्यैः, कुचयोर्नखाङ्कैः कर्तृभिः, वियोगिषु वैरादिन्दुस्वरूपत्वविरोधात्। गले हस्तो गलहस्तः तद्वती कृता गलहस्तिता हस्तेन गले गृहीत्वा पुनर्बहिर्निःसारितेत्यर्थः। तत्करोतीति णिचि णाविष्ठवद्भावे टिलोपे। ततः कर्मणि क्तः। 'अर्धेन्दुरर्धचन्द्रश्च गलहस्तनखाङ्कयोः' इति विश्वः। द्रुतं त्वरितैव न्यवृतत् न्यवर्तिष्ट। पापभयादिति भावः ॥ २५ ॥

अन्वय—नृपस्य दृष्टिः उद्वर्तयन्त्याः हृदये निपत्य अर्धेन्दुलीलैः कुचयोः नखाङ्कैः वियोगिवैरात् गलहस्तिता इव द्रुता एव न्यवृतत्।

हिन्दी—राजा (नल) की दृष्टि गात्रोन्मार्जन (उबटन) करती (सुन्दरी) के वक्ष पर पड़कर अर्धचन्द्र (आधा चन्द्रमा—गरदनिया देना) की लीला (समानता) करते (अर्द्धचन्द्राकार) नख-चिह्नों द्वारा मानो विरहिजनों से वैर के कारण गरदनिया (गला पकड़कर निकाल देना) दी गयी सदृश झटिति ही वापस हो गयी।

टिप्पणी—कोई स्त्री नग्न हो अपने शरीर पर उबटन कर रही थी, नल की दृष्टि उसके वक्षःस्थल पर जा पड़ी, जहाँ कुचकुम्भ पर प्रणयी के नख-चिह्न बने हुए थे। नल ने उस अदर्शनीय दृश्य से झट अपनी दृष्टि हटा ली। नख-चिह्न अर्द्धचन्द्राकार थे, जिन पर पड़ी दृष्टि झट हटा ली गयी थी। 'अर्द्धचन्द्र' गरदन पकड़ कर बाहर कर देने की क्रिया 'गरदनिया' को भी कहते हैं। इस पर कवि ने कल्पना की कि प्रतिबद्ध स्थान पर पहुँची दृष्टि को मानो गरदनिया देकर तुरन्त बाहर कर दिया गया। यहाँ कारण बताया गया है 'वियोगि-वैर'। स्तनों पर मुक्त-नख चिह्न विरहोद्दीपक होने से

विरही के वैरी हुए, सो विरहिणी नल-दृष्टि को तुरन्त मरदन पकड बाहर कर दिया गया उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ २५ ॥

तन्वीमुख द्रागधिगत्य चन्द्र वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम् ।
द्वय दृढीय कृतमीक्षणाभ्या तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥२६॥

जीवातु—त वीति । तन्वीमुखमेव चन्द्र व्यस्तरूपकम् । द्रागधिगत्य हठाद् दृष्ट्वा निमीलिताभ्यामिति भाव । वियोगिनस्तस्येक्षणाभ्या तस्य त वीमुख स्ये दुता च स्वयो सरोजता चेति द्वय द्रढीयो दृढतर कृतमित्युत्प्रेक्षा । अ यथा कथ तत्सन्निधौ तयोर्निमीलनमिति भाव ॥ २६ ॥

अन्वय—तन्वीमुख चन्द्रं द्राक् अधिकृत्य वियोगिन तस्य निमीलिता भ्याम् ईक्षणाभ्या तदिन्दुता स्वसरोजता च—द्वय द्रढीय कृतम् ।

हिन्दी—कृशागी (सुन्दरी) के मुख रूप चद्र को सहसा देखकर वियोगी उस (नल) के मुंदे नेत्रो ने उस (तन्वगी) के मुख का चद्र होना और अपना (नैत्रो का) सरोज (कमल) होना—दोनो को दृढतर कर दिया ।

टिप्पणी—किसी सुन्दरी का चद्रमुख देख कर नल ने झट नेत्र बद कर लिये, उसी प्रकार कि जैसे, चद्र को देखकर कमल मुद जाते हैं । इस क्रिया से उत्प्रेक्षित हो गया कि यह कथन सत्य है कि चद्र दर्शन से कमल मुंद जाते हैं, केवल तथा कथित 'कविसमय' ही नही है, अ यथा कृशाङ्गी चद्र मुखा-वलोकन से नल के 'सरोजेक्षण' क्यो निमीलित हो जाते ? मल्लिनाथ के अनुसार 'तन्वीमुखम् चन्द्रम्' मे व्यस्तरूपक है और 'इन्दुता' तथा 'सरोजता' का 'दृढ करना' मे उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक हतु अनुमान-अतिशयोक्ति का सकर है ॥ २६ ॥

चतुष्पथे त विनिमीलिताक्ष चतुर्दिगेता सुखमग्रहीष्यन् ।
सघस्य तस्मिन् मृगभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेददास्यन् ॥ २७॥

जीवातु—नन्वङ्गसघट्टानान्तर तास्त किमिति न गृह्णन्तीत्यत आह—चतुष्पथ इति । चतुष्पथे, विनिमीलिताक्ष त नरम् । चतसृभ्यो दिग्भ्य । एता आगता । आङ्पूर्वादिण कर्तरि क्त, उत्तरपदसमास । तास्सुतमक्लेशेन अग्रहीष्यन् गृह्णीयु तस्मिन्न्ते सघट्य अभिहत्य । आधारत्वविवक्षाया सप्तमी ।

मृगया गाटया भिया निवृत्तास्ता एव तस्य नलस्य वर्त्म नादास्यन् न दद्युश्चेत् । किंतु, स्वयमेव अस्य मृतयद्भया मार्गं दत्त्वा भयात् पलायिताना तासा, धृतस्तद्ग्रहणधाष्ट्र्यमित्यर्थः । क्रियातिपत्तौ लृङ् ॥ २७ ॥

अन्वय —चतुष्पथे विनिमीलिताक्ष त चतुर्दिशा ता तस्मिन् सघट्य भूयसीनिवृत्ता एव तद्वर्त्म न अदास्यन् चेत् सुलभम् अग्रहीष्यन् ।

हिन्दी—चौराहे पर नेत्र बद कर खड़े उस (नल) को चारों ओर से आती वे (सुन्दरियाँ) उससे टकराकर अत्यन्त भय मे ही अलग हो जाती यदि उस (नल) को मार्ग न देती तो उसे सरलता से पकड लेती।

टिप्पणी—अदृश्य नल चौराहे पर आखें मूद खड़े थे। इधर-उधर आती-जाती स्त्रियाँ उनसे टकराती और डरकर भाग जाती। यदि वे ऐसा न करती तो नल का सरलता से ही पकड लेती। पर वे डर गयी और भाग चलीं, नल को न पकड सकी। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और भावोदय अलङ्कार का सकर है ॥ २७ ॥

सघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।
दिशा नितम्ब परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापमन्तापमवाप भूप ॥ २८ ॥

जीवातु—सघट्टयन्त्या इति । तरसा सघट्टयन्त्या अभिघ्नन्त्यास्तन्व्या, आत्मनो भूषाहीराणा भूषणवज्राणा, अङ्कुरेषु कोटिषु प्रोत सक्त दुकूल हरतीति तद्धारी भूप, नितम्ब तस्या कटिं दिशा परिधाप्य सवस्त्र दिगम्बर कृत्वा । तत्पापेन वस्त्रापहरणपापेन सन्तापमवाप ॥ २८ ॥

अन्वय —तरसा सघट्टयन्त्या तन्व्याः आत्मभूषाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी भूपः नितम्ब दिशा परिधाप्य तत्पापसन्तापम् अवाप ।

हिन्दी—वेग से टकरा जाने वाली कृशागी (सुन्दरी) के दुपट्टे का अपने (नल के) आभूषण मे जड़े हीरे की नोक म अपहरण करते हुए (सुन्दरी के) नितम्ब को दिशामात्र से ढककर (उघाड कर) राजा ने उस पाप के सताप को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—राजा नल अदृष्ट तो थे, पर हीरक जटित आभूषण पहिने थे। कोई सुन्दरी वेग से उनसे टकरायी, उसका दुकूल उनके आभूषण में जड़े हीरे की नोक में उलझ कर रह गया और उसका नितंब दिगंबर (नग्न)

हो गया। राजा को लगा कि यह पाप हुआ और वह दुःखी होकर विचारने लगा कि अच्छा होता कि मैं आभूषण न पहिने होता ऐसा पाप तो न होता। चीरहरण हो गया उससे। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-काव्यलिंग-भावोदय का संकर॥ २८॥

हृतः कयाचित्पथि कन्दुकेन सघट्टभिन्नः करजैः कयापि।
कयापिनाक्तः कुचकुङ्कुमेन सभुक्तकल्पः स बभूव ताभिः॥ २९॥

जीवातु—हृत इति। स नलः, पथि कयाचित्कन्दुकेन हृतः। कयापि संघट्टय अभिहृत्य करजैर्नखैर्भिन्नः। कयाचन, कुचकुङ्कुमेन अक्तो लिप्तः। एवं ताभिः सम्भुक्तप्रायो बभूव॥ २९॥

अन्वयः—कयाचित् पथि कन्दुकेन हृतः कया अपि संघट्य करजैः भिन्नः कयाचन कुचकुङ्कुमेन अक्तः सः ताभिः संयुक्तकल्पः बभूव।

हिन्दी—किसी ने मार्ग में गेंद से मार दिया, किसी ने टकराकर नखों से विदीर्ण किया और किसी ने कुच कुंकुम से लिप्त कर दिया। (इस प्रकार) वह (नल) उन (सुन्दरियों) द्वारा भोगा गया जैसा हो गया।

टिप्पणी—जो कुछ किया सुन्दरियों ने किया, नल ने नहीं। उसका अपराधी वह नहीं, क्योंकि वह तो अकर्ता है। कर्तृत्व सुन्दरियों में है। विद्याधर के अनुसार उपमा॥ २९॥

छायामयः प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाणः।
तच्चित्तयान्तर्निरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदयं प्रविष्टः॥ ३०॥

जीवातु—छायामय इति। कयापि स्त्रिया निजे हारे छायामयः प्रतिबिम्बरूपः, स नलः, प्रैक्षि प्रेक्षितः। ईक्षतेः कर्मणि लुङ्। अथ गच्छन् अपसरन्, अत एव नेक्ष्यमाणः अनिरीक्ष्यमाणः सन्। स चित्ते यस्यास्तया तद्गर्भितचित्तया तन्व्या, स्वस्यैव हृदयं प्रविष्टः इति अन्तरन्तःकरणे चारु साधु निरचायि निश्चितः। स छायानलः, तद्देशातिक्रमात्तस्या हारादेवान्तो न चित्तादिति सौन्दर्यातिशयोक्तिः॥ ३०॥

अन्वयः—स कया अपि निजे हारे छायामयः प्रैक्षि अथ गच्छन् न ईक्ष्यमाणः तच्चित्तया तन्व्या स्वस्य एव हृदयं प्रविष्टः इति चारु अन्तः निरचायि।

हिन्दी—उस (नल) को किसी (स्त्री) ने अपने हार में प्रतिच्छायित

(प्रतिबिम्बित) देखा, तदनन्तर अन्यत्र चले जाने से न दीखने पर तद्गत-चित्ता युवतियों द्वारा 'अपने ही हृदय में प्रविष्ट हो गया'—ऐसा मन में सुन्दर निर्णय किया।

टिप्पणी—हार में नल का प्रतिबिम्ब देखकर ही कोई तरुणी उन पर मुग्ध हो गयी और वह उनके हृदय में बस गया और तरुणी विरह-पीड़िता हो गयी। मल्लिनाथ के अनुसार सौन्दर्यातिशयोक्ति और विद्याधर के अनुसार भावोदय अलङ्कार॥ ३०॥

तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः प्रत्येकमालिङ्गदमूः रतीशः।
रतिप्रतिद्वन्द्वितमासु नूनं नामूषु निर्णीतरतिः कथञ्चित्॥ ३१॥

जीवातु—तच्छायेति। रतीशः कामः तस्य नलस्य छाया तच्छायम्, मणि-कुट्टिमादिगत तत्प्रतिबिम्बम्। 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' नपुंसकत्वम्। तस्य सौन्दर्येण निपीतधैर्याः अमूः स्त्रीः प्रत्येकमेकैकामेवालिङ्गत्। सर्वास्वप्येतासु रतेः देव्याः प्रतिद्वन्द्वितमासु रतितुल्यास्वमूषु मध्ये स रतीशः, कथञ्चिदपि निर्णीतरतिर्निश्चितनिजपत्नीको नाभूत्। नूनम् अन्यथा कथं प्रत्येकमालिङ्गनम्। सर्वास्वपि मन्मथविकारः प्रादुर्भूत इत्यर्थः॥ ३१॥

अन्वयः—रतीशः तच्छायसौन्दर्यनिपीतधैर्याः अमूः प्रत्येकम् आलिङ्गत्, रतिप्रतिद्वन्द्वितमासु अमूषु नूनं कथञ्चित् निर्णीतरतिः न अभूत्।

हिन्दी—रतिपति (काम) ने उस (नल) के प्रतिबिम्बित सौन्दर्य से धैर्य नष्ट उन सुन्दरियों का एक-एक करके आलिंगन किया, कारण कि उन रति की प्रतिद्वन्द्विता करनेवाली सुन्दरियों के मध्य निश्चयपूर्वक रति का निर्णय न कर पाया।

टिप्पणी—चमकीली दीवारों में नल का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था, उसे ही देख अन्तःपुर की सुन्दरियाँ परममुग्ध हो उस छाया-नल का अधैर्यपूर्वक आलिंगन करने लगीं। इस पर यहाँ सन्देह है कि उन रति के समान सुन्दरियों के समूह में काम एक-एक करके उन सबका इस कारण आलिंगन कर रहा था कि उसे पता ही नहीं चल रहा था कि इनमें उसकी प्रिया रति कौन-सी है? भाव यह है कि रति के समान मनोहारिणी रमणियाँ काम-सम नल के प्रतिबिम्ब पर मुग्ध हो उसका ही उतावली होकर आलिंगन कर रही थीं।

मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा माना है—'अत्रोत्प्रेक्ष्यते ।' विद्याधर के अनुसार भाव शान्ति और उत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

तस्माददृश्यादपि नातिबिभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोला ।
मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञा प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि ॥ ३२ ॥

जीवातु—तस्मादिति । सुदृश स्त्रिय तच्छायारूपेण तत्प्रतिबिम्बसौन्दर्येणाहित उत्पादित मोह चित्तभ्रमो याभ्रा ता अत एव लोला आसक्ता सत्य । अदृश्यादपीति भयहेतूक्ति । तस्मान्नलान्नातिबिभ्यु । शृङ्गारेण भयानकतिरस्कृत इत्यर्थ । तथाहि आदृतमन्मथाज्ञा मन्मथपरतन्त्रा सत्य , स्वान् स्वकीयान्, प्राणानपि तृणानि मन्यन्त एव । मन्यकर्मण्यनादरे चतुर्थी वैभाषिकत्वाद् द्वितीया । प्राणानपि तृणीकृत्य तदा तत्सङ्गमलालसाना तासा तस्माद्भय कुत इति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वय —तच्छायरूपाहितमोहलोला सुदृश अदृश्यात् अपि तस्मात् न अतिबिभ्यु , आदृतमन्मथाज्ञा स्वान् प्राणान् अपि तृणानि एव मन्यन्त ।

हिन्दी—प्रतिबिम्बित उस (नल) के रूप जात मोह (भ्रम, ममता) से चचल वे सुनयनाएँ अदृश्य भी उस (नल) से अधिक नही डरी, कारण कि काम का आदेश मान्य करती वे अपने प्राणों को भी तृण समान मान रही थी ।

टिप्पणी—नल की छाया तो पड रही थी, पर दीखता नहीं था। सामान्य विश्वास यह है कि भूत जब प्रत्यक्ष होता है, तब भी उसकी छाया नही पडती । सो इस प्रकार नल उस भूत से भिन्न हुआ, क्योंकि वह अदृश्य था और उसकी छाया पड रही थी । इस विचित्र भूत से सहज्रमीरु सुन्दरियो को बहुत डर लगना स्वाभाविक था, पर वे तो बिलकुल नही डरी । वस्तुत-नल के कामजयी रूप पर वे इतनी आसक्त हो गयी थी कि कामाध होने से कामाधीना इन सुन्दरियों को प्राण जाने का भी भय नही रह गया था । जब वे प्राणों को ही नगण्य मान बैठी थी, फिर डर किसका ? ॥ ३२ ॥

जागर्ति तच्छायदृशा पुरा य स्पृष्टे च तस्मिन्विससर्प कम्प ।
द्रुत गते तत्पदशब्दभीत्या स्वहस्तितश्चारुदृशा पर स ॥ ३३ ॥

जीवातु —जागर्तीति । पुरा पूर्वं, तच्छायदृशा तत्प्रतिबिम्बदर्शिनीना

चास्पृशा, किन्तु । स कम्पो जागर्ति स्फुरति । तत्स्तस्मिन् स्पृष्टे च सति विकल्पं प्रससार । स कम्पः द्रुतं शीघ्रं गते अपयाते सति तस्य पदकन्दात्पादमूलात् भीत्या करं परं स्वहस्तम्वाप्य कृतं दत्तम्वहस्त, प्रवलीकृत इत्यर्थः, स्वहस्तयस्ता-म्मदद्दात् 'तत्करोति' इति णिचि पाणिग्रहणावे णिलोपः । ततः कर्मणि क्तः ॥ २३ ॥

अन्वय—पुरा तच्छायदृशा यासां यः कम्पः जागर्ति, तस्मिन् स्पृष्टे विससर्प, परं द्रुतं गते तत्पदकन्दभीत्या स स्वहस्तितः ।

हिन्दी—पहिले उस (नल) की प्रतिच्छाया का अवलोकन करतीं उन सुन्दरियों में जो कंप जागा, उस (नल) का स्पर्श करने पर (उसका) और प्रसार हो गया (बढ़ गया), किन्तु (उसके) शीघ्रतापूर्वक हट जाने पर उस (नल) के पैरों से उत्पन्न आहट से डर कर वह (कंप) उनके अपने हाथ का आश्रय पा गया ।

टिप्पणी—नल-मुग्धा उन सुन्दरियों में 'कंप' की मात्रा बढ़ती ही चली गयी । छाया देखने मात्र से सामान्य 'कंप' हुआ, अदृश्य नल के स्पर्श से वह बढ़ा और अदर्शन की स्थिति आने पर जैसे सहारा पाकर और भी बढ़ गया । भाव यह कि दर्शन-स्पर्शजन्य 'शृंगार' का अनुभाव बाद में (अदर्शन) 'भयानक' का अनुभाव होता बढ़ता चला गया । पहिले शृंगार में रचीं सुन्दरियाँ बाद में भय से काँपने लगीं ॥ २३ ॥

उल्लास्यतां स्पृष्टनलाङ्गमङ्गं तासां नलच्छायपिबापि दृष्टिः ।
अश्मैव रम्भास्तदनर्ति यथा छेदेऽप्यबोधं यदहर्षि लोम ॥२४॥

जीवातु—उल्लास्येति । तासां यस्याः कामिन स्पृष्टं नलाङ्गं येन तत्ता-सामङ्गमुल्लास्यतामुल्लास प्राप्यताम् । उल्लासयतेः कर्मणि लोट् । नलच्छायस्य नलप्रतिबिम्बस्य पिबा, तद्दर्शिनीत्यर्थः । 'पाघ्रा' इत्यादिना शप्रत्यय, पिबादेशश्च । तासां दृष्टिरपि उल्लास्यताम्, तयोश्चेतनत्वादिति भावः । खेदे कर्तनेऽप्यबोधं बोधरहितम्, अचेतनं लोम, यदहर्षि हर्षितमिति यत् । हृषेर्यन्ता-त्कर्मणि लुङ् । तदश्मैव पाषाण एव अनर्ति अनर्तनमभाव रोमहर्षणं कुर्वाणस्य कामस्य विस्माप्यमिति भावः । अत्र रोमहर्षणाश्मनर्तनवाक्यार्थयोर्वस्तुच्छदा-

वगतसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या सादृश्याक्षेपाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालङ्कार । लक्षण तूक्तम् ॥ ३४ ॥

अन्वय —रत्या पत्या तासा स्पृष्टनलाङ्गम् अङ्गम् नलच्छायपिबा दृष्टि अपि उल्लासयताम्, छेदे अपि यत् अबोध लोम अहृषि अस्मा एव तत् अनर्ति ।

हिन्दी—रति के पति (काम) द्वारा उन (सुन्दरियो) का नल के अगो से छुआ अग और उस (नल) के प्रतिबिम्ब का पान करती दृष्टि भी उल्लसित कर दी गयी, (किन्तु) काटे जाते (समय) भी जो अचेतन रहता है, वह रोम जो हर्ष को प्राप्त हो गया, वह तो जैसे पत्थर ही नचा दिया ।

टिप्पणी—नल का स्पर्श पाकर कामाधीना सुन्दरियो के अङ्ग हृष्ट हुए, प्रतिबिम्ब को भरपूर निहार कर नेत्र भी हर्षोत्फुल्ल हुए,—इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है, क्योकि अग और दृष्टि तो चेतन हैं, और चेतन प्रभावित होते ही हैं । आश्चर्य तो यह है कि वे रोम, जो इतने जड हैं कि काटे जाने पर भी कुछ अनुभव नही कर पाते, वे जड रोम भी हृष्ट हो गये । यह तो उतना ही आश्चर्य-जनक हुआ, जितना कि पत्थर का नाचना । यह रोम हर्ष तो अत्याश्चर्य है । सात्त्विक रोम हर्ष का वर्णन । इस श्लोक मे मल्लिनाथ ने रोमहर्ष और अश्मनर्तन वाक्यार्थों के 'यत् तत्' शब्दो द्वारा अवगत समानाधिकरण्य की अनुपपत्ति के कारण सादृश्य के आक्षेप से वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालकार माना है, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग, क्रियाविरोध और भावोदय अलकार हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि त देशमगान्मृगाक्षी ।
निपत्य तत्रास्य धरारजस्ये पादे प्रसीदेति शनैरवादीत् ॥ ३५ ॥

जीवातु—यस्मिन्निति । मृगाक्षी यस्मिन् देशे नलस्य स्पृष्टकं आलिङ्गनविशेषम् । 'यत्रोपितस्सम्मुखमागताया अन्यापदेशात् व्रजतो नरस्य । गात्रेण गात्र घटते तदेतदालिङ्गन स्पृष्टकमाहुरार्या ॥' इति रतिरहस्येऽभिधानात् । एत्य प्राप्य, हृष्टा = देश भूयोऽप्यगात् । पुन स्पर्शलोभादिति भाव । किन्तु तत्र दृष्टे धरारजस्ये भूपरागनिष्ठे अस्य नलस्य पादे पादप्रतिकृतौ निपत्य, प्रसीद मा पुन स्पर्शनानुगृहाणेति शनैरवादीत् । न तु स्पर्शं लेभे । तस्यापगमादिति भाव ॥ ३५ ॥

अन्वय—मृगाक्षी यस्मिन् नलस्पृष्टकम् एत्य हृष्टा तं देशं पुनः अपि अगात्, तत्र अस्य धरारजःस्थे पादे निपत्य—'प्रसीद'–इति शनैः अवादीत्।

हिन्दी—मृगनयना जिस स्थान पर नल का 'स्पृष्टक' (विशेष प्रकार का आलिंगन) पाकर हर्ष को प्राप्त हुई थी, उस स्थान पर पुनः गयी। वहाँ इस (नल) के धरती की धूल पर उभरे चरण (के चिह्न) पर गिर कर 'दया करो'—ऐसा धीरे-से बोली।

टिप्पणी—सुन्दरी नल का आलिंगन-विशेष पाकर ऐसी हर्ष विभोर हुई कि भूल बने नल चरण-चिह्न पर प्रणिपात करके धीरे धीरे मनावन और प्रार्थना करने लगी। धीरे-से इसलिए कि उसके भाव प्रकट न हो जायें। 'रतिरहस्य' के अनुसार स्पृष्टक उस आलिंगन को कहते हैं, जिसमें अन्यापदेश से जाते पुरुष के शरीर को सम्मुख आती स्त्री से टक्कर हो जाय। विद्याधर के अनुसार हर्षभावोदय अलंकार॥ ३५॥

भ्रमन्नमुष्यामुपकारिकायामायास्य भैमीविरहात्क्रशीयान्।
असौ मुहुः सौधपरम्पराणां व्यधत्त विश्रान्तिमुपत्यकासु॥ ३६॥

जीवातु—भ्रमन्निति। भैमीविरहात् क्रशीयान् अतिकृशोऽसौ नलः अमुष्यामुपकारिकायां राजसदनीत्यर्थः। भ्रमन् सञ्चरन्, आयास्य परिश्रम्य मुहुः सौधपरम्पराणाम्, उपत्यकास्वासन्नभूमिषु। अत्र सौधानां पर्वतसाधर्म्याद् गौणोऽयं प्रयोगः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययस्य पर्वतासन्नभूमिगतत्वेन विधानात्। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमि' रित्यभिधानात्तथैव प्रयोगाच्च। अन्यत्वादेव कान्पूर्वम्लेकायनाच। विश्रान्तिं व्यधत्त विश्रान्तोऽभूदित्यर्थः॥ ३६॥

अन्वय—भैमीविरहात् क्रशीयान् असौ अमुष्याम् उपकारिकायां भ्रमन् आयास्य मुहुः सौधपरम्पराणाम् उपत्यकासु विश्रान्तिं व्यधत्त।

हिन्दी—भीमसुता (दमयन्ती) के विरह से अत्यन्त दुर्बल यह (नल) उस 'उपकारिका' (राजभवन) में विचरता हुआ थककर बारबार सटसटे महलों की उपत्यकाओं (सन्निकट भूमि, तलहटी) में विश्राम कर लेता था।

टिप्पणी—राजभवन के विस्तृत होने का संकेत, जिसके कारण नल को क्षण-क्षण विश्राम करना पड़ता था। 'उपत्यका' सामान्यतः पर्वत की तलहटी

के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यहाँ सौधपरम्पराओं की पर्वत-सदृश उच्चता के द्योतनार्थ 'सौधपरम्पराणाम् उपत्यकासु' कहा गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'उपत्यकासु' के स्थान में 'अधित्यकासु' पाठांतर दिया है, यद्यपि उन्होंने 'उपत्यकासु' पाठ ही उचित माना है, क्योंकि उपत्यका विश्राम-योग्य होती है—'उपत्यकासु' इति पाठ साधीयान्। उपत्यकाना विश्रान्तियोग्यत्वात्।' *अधित्यका का अर्थ है, ऊपरी भूमि—ऊर्ध्वभूमि। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ३६ ॥*

उल्लिख्य हंसेन दले नलिन्यास्तस्मै यथादर्शि तथैव भैमी ।
तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ॥ ३७ ॥

जीवातु–किं चात्र विश्रान्तो विनोदाय भैमीप्रतिकृतिमालिख्याद्राक्षी दित्याह श्लोकद्वयेन–उल्लिख्येति। नन्वदृष्टपूर्वां सा कथमलिखदिति शङ्का निरस्यन्नाह—पूर्वं हंसेन नलिन्या दले भैमी यथा येन प्रकारेण उल्लिख्य तस्मै नलायादर्शि दर्शिता। तथैव तेन नलेन अभिलिख्य उपहृतस्वहारा कण्ठार्पित निजमुक्ताहारा तदा विलिखितेत्यर्थः। दृष्टा सती कस्या विस्मयाय नाजनि न जाता, सर्वस्या अपि जातेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अन्वय—हंसेन नलिन्या दले यथा उल्लिख्य भैमी तस्मै अदर्शि तेन तथा एव अभिलिख्य उपहृतस्वहारा दृष्टा कस्या विस्मयाय न अजनि ?

हिन्दी—स्वर्ण हंस ने कमलिनी के पत्र पर जैसी आँककर भीमसुता उसे (नल को) दिखायी थी, उस (नल) के द्वारा वैसी ही चित्रित कर अपना (नल का) कण्ठहार पहिना दी गयी दीखती किस (अन्तःपुर की सुन्दरी) के आश्चर्य की कारण न हुई ?

टिप्पणी—नल ने कभी दमयन्ती को प्रत्यक्ष तो किया नहीं था, केवल स्वर्णहंस ने कमलपत्र पर उसका एक चित्र बनाकर दिखा दिया था, किन्तु कुशल चितेरे नल ने मनोविनोदार्थ उसी के आधार पर एक वैसा ही दमयन्ती का चित्र बना दिया और उपहारस्वरूप अपना कण्ठहार उसे पहिना दिया। नल तो अदृश्य था, फलस्वरूप राजभवन में सहसा कण्ठहार धारिणी दमयन्ती का चित्र देख वहाँ आती जाती स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि किसने यह अभिलेख यहाँ उपस्थित कर दिया ? तात्पर्य यह है कि नल ने विश्राम के क्षणों

में जो दमयन्ती का चित्र बनाया, उसे देखकर उसके मन में उठा कि नयन-गोचर प्रिया को प्रथम भेंट में कुछ देना चाहिए, सो कण्ठहार पहिना दिया। कण्ठहार पहिने दमयन्ती के चित्र को जो स्त्री इस प्रकार देखती आश्चर्य में पड़ जाती ॥ ३७ ॥

कौमारगन्धीनि निवारयन्ती वृत्तानि रोमावलिवेत्रचिह्ना।
सालिख्य तेनैक्ष्यत यौवनीयद्वा:स्थामवस्था परिचेतुकामा ॥ ३८ ॥

जीवातु—कौमारेति। तेन नलेन यौवनस्यैव यौवनीया। वृद्धाच्छ। तस्या द्वारि द्वारे, प्रमुखे च तिष्ठतीति यौवनीयद्वाःस्था। 'खरवसानयोर्विसर्जनीय' इति रेफस्य विसर्जनीये सत्त्व वा सत्वम्। तामवस्थां दौवारिकदशां यौवनप्रवेशदशां च, परिचेतुकामा अभ्यसितुकामा। अत एव रोमावलिरेव वेत्र दण्ड तच्चिह्नं यस्या सा। कौमारगन्ध एषामस्तीति कौमारगन्धीनि शैशवसम्बन्धीनि, वृत्तानि चापलानि, निवारयन्ती सा दमयन्ती आलिख्य ऐक्ष्यत। ईक्षतेः कर्मणि लङ्। वयःसन्धौ वर्तमानां तामालिख्य अद्राक्षीदित्यर्थः। रूपकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

अन्वय – तेन यौवनीयद्वाःस्थाम् अवस्था परिचेतुकामा रोमावलिवेत्रचिह्ना कौमारगन्धीनि वृत्तानि निवारयन्ती सा आलिख्य ऐक्ष्यत।

हिन्दी—उस (नल) ने यौवन के द्वार पर स्थित अवस्था से परिचय प्राप्त करने की कामना से रोमावली रूप वेत्रदण्ड-चिह्नों से युक्त बचपने की गंध देने वाले चपलतादि व्यापारों का निवारण करती उस (दमयन्ती) का आलेख बनाकर निहारा।

टिप्पणी—इस के आलेख में जो दमयन्ती नल ने देखी थी, वह 'वयःसन्धि' की अवस्था में थी, जिसमें बचपन जा रहा था और तरुणाई आने लगी थी। रोमावली उग आयी थी और बालोचित चपलता जा जा रही थी। ऐसी ही दमयन्ती को आलेख में बनाकर नल देखता रहा। बच्चों को शिक्षा देने के लिए बेंत की छड़ी का उपयोग किया जाता है। दमयन्ती यौवनावस्था का अभ्यास कर रही है, रोमावली बेंत की छड़ी है, जिसका उपयोग शिक्षा प्राप्त करते समय बचपन के खेल-कूद, चपलता आदि के निवारण के लिए किया जाता रहा है और किया जा रहा है। अथवा रोमावली बेंत की

छड़ी के वे चिह्न (निशान) हैं, 'कौमारगन्धि वृत्तों' के निवारणार्थ जिसका उपयोग किया गया है। निवारणार्थ—प्रवेश-निषेध के लिए द्वार पर वेत्रधारिणी को नियुक्त किया ही जाता है। रूपक ॥ ३८ ॥

पश्या पुरन्ध्रीः प्रति सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे।
चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—पश्या इति। सान्द्राणि चन्द्ररजांसि कर्पूरपांसव। 'अथ कर्पूर-मस्त्रियाम् घनसारश्चन्द्रसंज्ञ' इत्यमरः। तैः कृतक्रीड कुमारचक्र, बालसङ्घो यस्मिन् तस्मिन् अध्वनि चक्रवर्तिचिह्नं सार्वभौमलक्षण, तस्य नलस्य, अङ्घ्रि-प्रतिमासु पादन्यासेषु। चक्र चक्ररेखा पश्यन्तीति पश्या पश्यन्ती, 'पाघ्रा' इत्यादिना शप्रत्यय पश्यादेशश्च। पुरन्ध्री प्रति स्त्रिय उद्दिश्य चित्राणि चक्रे। तासामाश्चर्याणि जनयामासेत्यर्थ ॥ ३९ ॥

अन्वय.—सान्द्रचन्द्ररजःकृतक्रीडकुमारचक्रे अध्वनि तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रवर्तिचिह्नं चक्रं पश्याः पुरन्ध्रीः प्रति चित्राणि चक्रे।

हिन्दी—जिसमें घनी कर्पूर धूलि उछाल-उछाल कर बालकों ने खेल किया है, ऐसे मार्ग में उस (नल) के पैरों की छापों में बना चक्रवर्ती का चिह्न चक्र देखनेवाली नागरिकाओं को आश्चर्यों में डालने लगा।

टिप्पणी—मार्ग में चन्दन धूल उड़ा उड़ाकर राजभवन के बालकों ने क्रीडा की थी, वह चन्दन-चूरा वहाँ जमा था। जाते नल के चरण चिह्न उसमें उभर गये। उधर से आती जाती स्त्रियों ने उन चिह्नों में 'चक्र' का चिह्न बना देखा, जो चक्रवर्ती के चरणों में होता है। उन्हें घोर आश्चर्य हुआ कि कौन चक्रवर्ती इधर से गया है ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ३९ ॥

तारुण्यपुण्यामवलोकयन्त्योरन्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम्।
मध्ये मुहूर्तं स बभूव गच्छन्नाकस्मिकाच्छादनविस्मयाय ॥ ४० ॥

जीवातु—तारुण्येति। तारुण्यपुण्या यौवनमनोज्ञाम्। 'पुण्य मनोज्ञ' इति विश्वः। अन्योन्यमभिख्या शोभामवलोकयन्त्योरेणेक्षणयो मृगाक्ष्योर्मध्ये गच्छन् मुहूर्तम्, ईषत्कालम्, आकस्मिकाच्छादनेन निर्हेतुकव्यवधानेन विस्मयाय

बभूव। अत्र व्यवधानकारणं विना व्यवधानोक्तेरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥ ४० ॥

अन्वय—तारुण्यपुष्पाम् अन्योन्यम् अनिमिषाम् अवलोकयन्त्यो एणेक्षणयो मध्य गच्छन् स मुहूर्तम् आकस्मिकाच्छादनविस्मयाय बभूव।

हिन्दी—तरुणाई के पुष्प से पूर्ण (यौवन से शोभित) परस्पर शोभा को निरखती दो मृगाक्षियों के मध्य में जाता वह (नल) क्षण भर को अकस्मात् ढक लेने के कारण विस्मय का निमित्त हो गया।

टिप्पणी—दो तरुणियाँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, नल जब उनके मध्य से (अदृश्य रूप में) निकला तो क्षणभर को उसके द्वारा उपस्थित अन्तराय के कारण वे परस्पर आच्छादित हो गयीं। इस पर उन्हें आश्चर्य हुआ कि यह हुआ क्या? विद्याधर के अनुसार यहाँ उल्लेख्य अलंकार केवल छेकानुप्रास है, जब कि मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ व्यवधान-कारण के बिना व्यवधान के कथन से अकारण में कार्योत्पत्ति रूप विभावना अलंकार है। कदाचित् मल्लिनाथ का यह विचार है कि अदृश्य नल का शरीर आच्छादन नहीं कर सकता अथवा सुन्दरियों को आच्छादन का कारण न प्रतीत होना किन्तु, आच्छादन-कार्य हो जाना अकारण में कार्य प्रतीति है। नारायण पण्डित के अनुसार अदृश्य शरीर का स्पर्श, उसमें आच्छादन—दोनों संगत कारण हैं ॥ ४० ॥

पुरः स्थितस्य क्वचिदस्य भूषारत्नेषु नार्यः प्रतिबिम्बितानि।
व्योमन्यदृश्येषु निजान्यपश्यन् विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः ॥ ४१ ॥

जीवातु—पुर इति। क्वचिद्देशे नार्यः पुरःस्थितस्य नलस्य अदृश्येषु भूषारत्नेषु निजानि प्रतिबिम्बितानि प्रतिबिम्बानि, व्योमनि शून्ये विस्मित्य विस्मित्य पुनः पुनः विस्मिता भूत्वा। सहस्रकृत्वः सहस्रवारमपश्यन्। अत्रापि निरालम्बनप्रतिबिम्बदर्शनोक्तेरकारणे कार्योत्पत्तिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥

अन्वय—क्वचित् नार्यः पुरःस्थितस्य अस्य अदृश्येषु भूषारत्नेषु निजानि प्रतिबिम्बितानि व्योमनि विस्मित्य विस्मित्य सहस्रकृत्वः अपश्यन्।

हिन्दी—कहीं स्त्रियों ने सम्मुख खड़े इस (नल) के अदृश्य आभूषणों के

रत्नों में अपने प्रतिबिम्ब शून्य में बार-बार बिम्बित हो सहस्रवार (अनेकदा) देखे।

टिप्पणी—नल और उसके आभूषण तो दिखते थे नहीं, पर आभूषण के रत्नों में आती-जाती स्त्रियों के प्रतिबिम्ब पड़ जाते थे। सूने में—रिक्त आकाश में पड़ती अपनी छायाएँ देख स्त्रियों को बड़ा आश्चर्य हो रहा था और वे बार-बार देखने लगती थीं। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में भी विभावना है, क्योंकि निरालम्बन प्रतिबिम्ब-दर्शन कारण बिना कार्य की उत्पत्ति है। विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ४१ ॥

तस्मिन् वियज्यार्धपथान्निवृत्तं तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य।
विस्मेरतामापुरनुस्मरन्त्यः क्षिप्तं मिथः कन्दुकमिन्दुमुख्यः ॥ ४२ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति। इन्दुमुख्यः स्त्रियः, मिथः क्षिप्तम्, अन्योन्यं प्रति प्रेरितं कन्दुं। तस्मिन्नले वियज्य जम्भित्वा अर्धं पन्था अर्धपथः विशेषण-समासे समासान्तः। 'अर्धं नपुंसकम्' इत्येकदेशसमास इति केचित्। तत्र समासनिषेधः। तस्मान्निवृत्तं प्रत्यागच्छन्तं, तस्य नलस्याङ्गरागेण च्छुरितं रूषितं, कन्दुकं निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्यः पुनः एतदिति पुनः पुनरनुसन्दधाना विस्मेरता विस्मितत्वमापुः। 'नमिकम्पिस्मि' इत्यादिना रप्रत्ययः ॥ ४२ ॥

अन्वय—इन्दुमुख्यः मिथः क्षिप्तं तस्मिन् वियज्य अर्धपथात् निवृत्तं तदङ्गरागच्छुरितं कन्दुकं निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्यः विस्मेरताम् आपुः।

हिन्दी—चन्द्रमुखियाँ एक-दूसरे की ओर फेंके, उस (नल) से टकराकर आधे मार्ग से वापस आते, उस (नल) के अंगराग से संयुक्त कन्दुक को देख बार-बार विचार करती विस्मय को प्राप्त हुईं।

टिप्पणी—कन्दुक-क्रीडा का वर्णन। सुन्दरियाँ कन्दुक-क्रीडा में एक दूसरे की ओर गेंद उछाल रही थीं, उधर निकलते नल के शरीर से गेंद की टक्कर हुई और वह आधे मार्ग में ही गिर पड़ा। उस पर नल के शरीर पर लगे चन्दनादि अंगराग के चिह्न भी बन गये। वे चन्द्रमुखी नारियाँ बार-बार सोचने लगीं कि यह सब कैसे हो गया? कारण समझ में न आने से उन्हें आश्चर्य हुआ। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ४२ ॥

पुंसि स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते भूत्वाप्यवीक्षानियमव्रतिन्यः ।
छायासु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोर्नानशिरे महिष्यः ॥ ४३ ॥

जीवातु—पुंसीति । महिष्यो राजदारा, स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते पुंसि परपुरुषे विषये अवीक्षानियमेन अनिरीक्षासङ्कल्पेन, व्रतिन्यः व्रतवत्यो भूत्वा तस्य नलस्य भुवि कुट्टिमभूमौ छायासु प्रतिबिम्बेषु रूपसौन्दर्यं वीक्ष्य दृशोः फलमानशिरे प्रापुः । 'अत आदेः' इत्यभ्यासदीर्घः । 'अश्नोतेश्च' इति नुडागमः ॥

अन्वयः—स्वभर्तृव्यतिरिक्ते पुंसि अवीक्षानियमव्रतिन्यः भूत्वा अपि महिष्यः भुवि छायासु तस्य रूपं वीक्ष्य दृशोः फलम् आनशिरे ।

हिन्दी—अपने स्वामी से भिन्न पुरुष के दर्शन न करने का नियम मानने वाली होकर भी रानियाँ धरती पर पड़ी छायाओं में उन (नल) का रूप देखकर नेत्रों की सफलता पा रही थीं ।

टिप्पणी—असूर्यम्पश्या राजदाराओं को अपने पति से भिन्न परपुरुष-दर्शन का निषेध था । या तो अन्य राजा उतने सुन्दर नहीं थे, या फिर राजदाराएँ प्रतिदिन देखते रहने के कारण अपने पति-राजाओं के रूप के प्रति आकर्षणहीन हो गयी थीं, जिससे उन्हें वे सुन्दर नहीं लगते थे सो उन्होंने चमकदार फर्श पर उभरती नल की छवियाँ देखीं, तो अभिनव सौंदर्य निहार कर उनके नेत्र निहाल हो गये। नल के अनुपम सौंदर्य का संकेत कि पतिव्रताएँ भी उन पर आकृष्ट हो गयीं । विद्याधर के अनुसार क्रिया विरोधातिशयोक्ति क्योंकि परपुरुषदर्शन से भी पतिव्रताओं का पातिव्रत-भंग नहीं हुआ ॥ ४३ ॥

विलोक्य तच्छायमतर्कितानि पतिं प्रति स्वं वसुधापि धत्ते ।
दया वय किं मदनं नयेन त्रिनेत्रनेत्रानलकीलनीलम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—विलोक्येति । तानि राजमहिषीणि, तस्य नलस्य, छाया अनातपरेखा तच्छायम् । नीलमिति शेषः । विलोक्य यथा वय स्वं स्वकीयं, पतिं भीमं, प्रत्युद्बुद्धम्, मदनं दग्धम् । तथा वसुधापि स्वं पतिं भीमनेव प्रत्युद्-बुद्धम् । किन्तु, त्रिनयनस्य ईश्वरस्य, नेत्रानलकीलैर्नेत्राग्निज्वालैः , नीलं कृष्ण-वर्णम्, एनं मदनं धत्ते किंन्निन्दन्ति उत्प्रेक्षितम् । तच्छाये वसुधायां तस्मि-

विरही) राजा पर पुर (शरीर) मे प्रवेश करते योगी (सिद्ध, सयोगी) के समान सुशोभित हो रहा था,—आश्चर्य !

टिप्पणी—वियोगी (विरही) राजा योगी (सयोगी) जैसा लगा, यह आश्चय है विरोध भी, ऐसे हो योगी (योग साधक तपस्वी) का वियोगी (योगच्युत) होना भी विरोध है। परिहार होता है वियोगी का अर्थ विरही और योगी का सिद्ध तापस लेने से । नल अदृश्य था, उसके शरीर की अनेक छाया पड रही थी, वह परपुर में भी प्रवेश करता था । इसके आधार पर उनकी समता योगी से की गयी, जो स्वेच्छया अदृश्य रह सकता है, अनेक शरीरों का विस्तार कर सकता है और पर पुर प्रवेश (परकाया प्रवेश) कर सकता है । विषयो से निवृत्त हो जाने के कारण वह 'वियोगी' भी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ विरोधाभास और उपमा है ॥ ४६ ॥

पुमानिवास्पर्शि मया भ्रमन्त्या छाया मया पुंस इव व्यलोकि ।
ब्रुवन्निवातर्कि मयापि कश्चिदिति स्म स स्त्रैणगिरः शृणोति ॥ ४७ ॥

जीवातु—पुमानिति । भ्रमन्त्या मया पुमानिवास्पर्शि स्पृष्ट । मया पुंसः छायेव व्यलोकि विलोकिता । मयापि कश्चित् ब्रुवन् लपन्निव, अतर्कि तर्कित । सर्वत्र कर्मणि लुङ् । इत्येवरूपा स्त्रैणस्य स्त्रीसमूहस्य गिर । यद्वा, स्त्रीषु भवा॰ स्त्रैणा गिर । 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति भवार्थे नञ्प्रत्यय । स नल, शृणोति स्म । 'लट् स्मे' इति भूते लट् ॥ ४७ ॥

अन्वय—भ्रमन्त्या मया पुमान् इव अस्पर्शि, मया पुंस छाया इव व्यलोकि, मया अपि कश्चित् ब्रुवन् इव अतर्कि—इति स स्त्रैणगिर शृणोति स्म ।

हिन्दी—भ्रमण करती मैंने पुरुष-जैसा छुआ, मैंने पुरुष की छाया जैसी देखी, मुझे भी कोई बोलता-जैसा प्रतीत हुआ—इस प्रकार के वह (नल) स्त्रियो के वचन सुन रहा था ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार उपमा । अदृश्य नल के कारण उत्पन्न अंत पुर की स्त्रियो की दशा का स्वाभाविक चित्रण ॥ ४७ ॥

अन्या पणम्योपनता ननाङ्गी नलेन भैमी पथि योगमाप ।
स भ्रान्तभैमीषु न या विवेद सा तं च नादृश्यतया ददर्श ॥ ४८ ॥

जीवातु—अम्बामिति। नताङ्गी व्यानतगात्री भैमी। अम्बा मातरम्। 'अम्बा सवित्री जननी माता च' इति हलायुधः। प्रणम्योपनता सती, नलेन पथि योगमाप। किन्तु स नलो भ्रान्तभैमीषु अनेकभैमीषु मध्ये तां न विवेद विविच्य नाजानात्, सा च तं नलम् अदृश्यतया न ददर्श। अत्र रूपसाम्याद्-भ्रान्तभैम्या भ्रान्तभैमीभिः सहाभेदाभिधानात् सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्॥ ४८॥

अन्वय—अम्बां प्रणम्य उपनता नताङ्गी भैमी पथि नलेन योगम् आप, सः भ्रान्तभैमीषु तां न विवेद, सा च तम् अदृश्यतया न ददर्श।

हिन्दी—माँ को प्रणाम करके जाती विनत अंगोवाली भीम-सुता मार्ग में नल को मिली, किंतु भ्रम से दीखती भीमसुताओं के मध्य वह उसे न पहिचान सका, और वह (दमयंती) उसको अदृश्य होने के कारण न देख पायी।

टिप्पणी—गुरुजनों के प्रति आदर भावना श्रेयस्करी होती है, परिणामतः भैमी नल का योग तो हुआ, पर भ्रान्ति के कारण प्रत्यक्षता न हो सकी। भ्रम से विवेक का नाश होता ही है। 'नताङ्गी' से तात्पर्य है यौवनवती—यौवनभार से झुके अंग वाली। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्यालंकार, क्योंकि यहाँ रूपसाम्य के कारण भ्रांत भैमियों के मध्य अभ्रांत (वास्तविक) भैमी के साथ अविधान है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग॥ ४८॥

प्रसूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला नलस्य भ्रमवीक्षितस्य।
क्षिप्तापि कण्ठाय तयोपकण्ठे स्थितं तमालम्बत सत्यमेव॥ ४९॥

जीवातु—प्रस्विति। प्रसूप्रसादाधिगता मातृप्रसादलब्धा। 'जनयित्री प्रसूर्माता जननी' इत्यमरः। प्रसूनमाला पुष्पमालिका। तया भैम्या भ्रमवीक्षितस्य भ्रान्तिदृष्टस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ताप्युपकण्ठे समीपे स्थितं सत्यमेव तथ्यमेव तं नलमालम्बत प्राप मणिप्रभायां मणिबुद्धिन्यायादिति भावः॥४९॥

अन्वयः—प्रसूप्रसादाधिगता प्रसूनमाला तया भ्रमवीक्षितस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ता अपि उपकण्ठे स्थितं तं सत्यम् एव आलम्बत।

हिन्दी—माता के परितोष से प्राप्त फूलों की माला उस (दमयंती) के द्वारा भ्रम से दृष्ट नल के कंठ के निमित्त फेंकी गयी भी निकट स्थित उस (नल) के पास चली गयी।

टिप्पणी—नलानुरागिणी दमयती को सर्वत्र नल का आभास होता रहता था। इस समय तो (अदृश्य रूप में ही सही) नल उसके पास था, सो उसे भ्रम-सा हुआ कि उसे नल दीख रहा है। उसने 'भ्रातिदृष्ट' नल के गले में माँ से मिली माला डाल दी, और नल तो पास था ही, माला उसके गले में पड़ गयी। भावी-कथन-संकेत रूप नाटकीय स्थिति पताकास्थानक। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अनुप्रासालङ्कार ॥ ४९ ॥

स्रग्वासनादृष्टजनप्रसाद　सत्येयमित्यद्भुतमाप　भूपः।
क्षिप्तामदृश्यत्वमिता च मालामालोक्य तां विस्मयते स्म बाला ॥५०॥

जीवातु–स्रगिति। भूपो नल वासनया निरन्तरभावनया, दृष्टस्य जनस्य, अलीकभैम्या प्रसादोऽनुग्रहभूता इय स्रक् सत्या सत्यभूतेति हेतोरद्भुतमाप। बाला भैमी च, क्षिप्तामात्मना न्यस्ताम्। अथ अदृश्यत्वमिता प्राप्ता माला मालोक्य आलोच्य विस्मयते स्म विस्मिताभूत् ॥ ५० ॥

अन्वय'—वासनादृष्टजनप्रसाद इय स्रक् सत्या–इति भूप, अद्भुतम् आप, बाला च अदृश्यत्वम् इता ता मालाम् आलोक्य विस्मयते स्म।

हिन्दी– भावना के कारण दृष्ट व्यक्ति (दमयती) का प्रसाद रूप यह माला (तो) सच्ची है—इससे राजा (नल) को आश्चर्य हुआ, और वह बाला (दमयती) अदृश्यता को प्राप्त उस माला को देख कर विस्मय में पड़ गयी।

टिप्पणी—नल और दमयती दोनों विस्मित हो गये। नल को अचरज हुआ कि भ्रम से देखी अलीक दमयती द्वारा प्रसाद रूप में दी गयी माला तो सत्य है। यह कैसे हुआ, जब भ्रांति से दृष्ट जन द्वारा दी वस्तु भी भ्रम होती है, सत्य नहीं। दमयती को आश्चर्य हुआ कि माला गयी कहाँ ? यहाँ तो कोई दीखता नहीं। माला तो नल की इच्छा से उसके गले पड़कर अदृश्य हो गयी थी ॥ ५० ॥

अन्योन्यमन्यत्रवदीक्षमाणौ परस्परेणाध्युषितेऽपि देशे।
आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तथ्यं मिथस्तौ परिषस्वजाते ॥ ५१ ॥

जीवातु–अन्योन्यमिति। तौ भैमीनलौ परस्परेणाध्युषिते देशेऽपि अन्यान्य-

मिति कर्मनिर्देशः । नलो भैमीं सा च नलमित्यर्थः । अयत्रवद्देशान्तर इवेक्षमाणौ, अन्यत्र स्थायिनाविव पश्यन्तावित्यर्थः । आलिङ्गितमालिङ्गनम्, अलीकं यस्य तदालिङ्गितालीकम्, एतदालिङ्गनं मिथ्येत्यभिमान, परस्परस्यान्तरन्तःकरणं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा । अव्ययोत्तरपदो बहुव्रीहिः । अव्ययं नेपथ्यं क्रियाविशेषणम् । मिथ्योऽन्योन्यं तथ्यं यथार्थमेव । परिषस्वजाते लिट्यात 'दयमर्गान्बुनोति' इत्यादिना षत्वम् । पूर्ववासनया परस्परचेष्टा मिथ्येति मन्यमानावेव तथ्यमचेष्टतामित्यर्थः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—परस्परेण अध्युषिते देशे अपि अन्यत्रवत् ईक्षमाणौ तौ आलिङ्गितालीकपरस्परान्तः मिथः तथ्यं परिषस्वजाते ।

हिन्दी—दोनों (दमयन्ती-नल) के द्वारा अधिष्ठित स्थान में भी एक दूसरे को दूसरे स्थान पर स्थित जैसे देखते हुए उन दोनों (दमयन्ती-नल) ने मन में परस्परालिंगन को मिथ्या समझकर भी एक-दूसरे का सचमुच आलिंगन किया ।

टिप्पणी—नल अदृश्य था और दमयन्ती को वह पहिचानता था नहीं, फिर भी निरंतर भावना के वशीभूत वे दोनों आलिंगित हो गये । दोनों तो यह समझते थे उनका प्रेमास्पद यहाँ है नहीं, अतः उन्हें वह आलिंगन केवल कल्पनामात्र लग रहा था, पर वह घटित सत्यतः हो रहा था । मिथ्या समझते हुए भी वे वस्तुतः आलिंगित हुए । पूर्व-वासना के कारण अपनी चेष्टा को मिथ्या सत्य मानते हुए दमयन्ती-नल वास्तविक आचरण ही कर रहे थे । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ ५१ ॥

स्पर्शं तमस्याविगतापि भैमी मेने पुनर्भ्रान्तिमदर्शनेन ।
नृपस्तु पश्यन्नपि तामुदीतस्तम्भो न धर्तुं सहसा शशाक ॥ ५२ ॥

जीवातु—स्पर्शमिति । भैमी तु तस्य स्पर्शम् अधिगता प्राप्तापि । पुनरस्य नलस्य अदर्शनेनादृश्यत्वेन, भ्रान्तिं मेने । अतो नलं धर्तुं न शशाकेति शेषः । नृपस्तु पश्यन्नप्युदीतस्तम्भो निष्क्रियाङ्गत्वलक्षणः सात्त्विको यस्य, स सन् । तां भैमीं सहसा धर्तुं ग्रहीतुं न शशाक । अन्यथा धरेदिति भावः । उदीतेति ईङ् गताविति दीर्घेण 'ई' धातुना निष्पन्नम् । अत्र स्तम्भपदार्थस्य विशेषणगत्या धारणाशक्तिहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५२ ॥

अन्वय—स्पर्शम् अधिगता अपि भैमी पुनः अस्य अदर्शनेन तं भ्रान्ति मेने, पश्यन् अपि उदितस्तम्भः नृपः तु तां सहसा धर्तुं न शशाक।

हिन्दी—(नल के) स्पर्श को प्राप्त करके भी भीमसुता ने फिर इस (नल) के न दीखने के कारण उस (स्पर्श) को भ्रम ही माना। (दमयती को) देखते हुए भी स्तंभ (जड़ता सात्त्विक भाव) का उदय हो जाने के कारण राजा (नल) भी उस (दमयती) को सहसा पकड़ने में समर्थ न हो पाया।

टिप्पणी—स्तंभ पदार्थ के विशेषण रूप में धारण में अशक्ति का हेतु होने से इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार काव्यलिंग है, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और भावोदय ॥ ५२ ॥

स्पर्शातिहर्षार्द्रितसत्यमत्या प्रवृत्य मिथ्या प्रतिलब्धबोधौ।
पुनर्मिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तौ न श्रद्दधाते पथि तौ विमुग्धौ ॥ ५३ ॥

जीवातु—स्पर्शेति। विमुग्धौ रागान्धौ, तौ दमयन्तीनलौ, प्रतिस्पर्श-जातिहर्षोऽतिमात्रानन्दः, तस्माद्धेतोस्तदन्यथानुपपत्त्या, आदृतया दृढीकृतया सत्यमत्या सत्योऽयं स्पर्श इति बुद्ध्या प्रवृत्त्य पुनर्व्यापृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ प्रवृत्तेऽपि स्पर्शोऽलाभान्मिथ्येति निश्चितबोधौ, मिथ्येति बुद्ध्वन्ताविमर्षं। पुनरित्थमुभयदर्शनानन्तरं, मिथ्योऽन्योन्यं तथ्यं यथार्थमपि स्पृशन्तावपि, न श्रद्दधाते न विश्वसतु। दधातेर्लिटि तङ्। श्रच्छब्दस्य 'श्रदन्तरोरुपसङ्ख्या-नमि' स्युपसर्गत्वाद्धातोः प्राक् प्रयोगः ॥ ५३ ॥

अन्वय—स्पर्शातिहर्षार्द्रितसत्यमत्या पुनः प्रवृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधौ विमुग्धौ तौ पथि मिथः तथ्यं स्पृशन्तौ अपि न श्रद्दधाते।

हिन्दी—स्पर्श के कारण से उत्पन्न अत्यन्त हर्ष के कारण 'यह आलिंगन सत्य था'— इस बुद्धि से पुनः (आलिंगन में) प्रवृत्त हो मिथ्यात्व का बोध पाकर भ्रम में पड़े वे दोनों (नल-दमयन्ती) मार्ग में परस्पर सत्यतः स्पर्श करते हुए भी (उस पर) विश्वास नहीं कर रहे थे।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ५१ में वर्णित नल-दमयन्ती का परस्परालिंगन उन्हें भ्रम प्रतीत हुआ, किंतु आलिंगन से जो अतीव हर्ष हुआ, उससे उन्होंने माना कि आलिंगन मिथ्या नहीं था, वास्तविक था, अतः वे पुनः आलिंगन में प्रवृत्त हुए, पर इस बार स्पर्श न होने से उन्होंने मान लिया कि आलिंगन

वास्तविक नहीं था। मार्ग में जब उन्होंने तीसरी बार परस्पर वस्तुत एक-दूसरे का स्पर्श पाया, तब भी वे उसकी वास्तविकता पर विश्वास न कर सके। द्वितीय आलिंगन वास्तविक था, जिस पर वे पहिले विश्वास न कर सके। पर उत्पन्न हर्ष के कारण उन्हें लगा कि वह असत्य नहीं था और वे पुन आलिंगन करने को बढे। इस बार स्पर्श नहीं हुआ, अत उन्होंने मान लिया कि सब अवास्तविक ही था—कल्पनामात्र, अत तृतीय बार घटित स्पर्श पर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ। इस श्लोक में सत्य स्पर्श में श्रद्धा के कारण होने पर भी अलीकभाव से निमित्त-प्रतिपादन है, अत विद्याधर न उक्तनिमित्त-विशेषोक्ति अलकार का निर्देश किया है॥ ५३॥

सर्वत्र सवाद्यमबाधमानौ रूपश्रियातिथ्यकरं परं तौ।
न शेकतु केलिरसाद्विरन्तुमलीकमालोक्य परस्परं तु॥ ५४॥

जीवातु—सर्वत्रेति। तौ नैमीनलौ, रूपश्रिया सौन्दर्यसम्पदा, सर्वत्र सर्वविषयेषु सवाद्य मियससवादाई, परस्परानुरूपमित्यर्थ। अत एव परम अत्यातिथ्यकर मिथः सत्कारकारि। अलीकमसत्य परस्परन्तु कर्म आलोक्य। अबाधमानौ मिथ्येत्यमन्यमानौ, केलिरसात् क्रीडारागाद्विरन्तु निवर्तितु न शेकतु, किन्त्वलीकेनापि परस्परेण क्रीडितुमाचकाक्षतुरित्यर्थ॥ ५४॥

अन्वय—रूपश्रिया सर्वत्र सवाद्य परम् आतिथ्यकरम् अलीक परस्पर कर्म आलोक्य अबाधमानौ तौ केलिरसाद् विरन्तु न शेकतु।

हिन्दी—रूप-सम्पदा के कारण सब स्थानों (सब अगों) में सवादी (एक समान कमनीय), परमप्रीतिकर मिथ्याभूत परस्पर (स्पर्शादि) क्रिया को देखकर मिथ्या न मानते हुए वे दोनो (नल-दमयन्ती) क्रीडा-रस से विरत न हो पाये।

टिप्पणी—नल-दमयन्ती—दोनों ही समान रूप-शोभा से परिपूर्ण थे, अत उनकी रसकेलि सर्वथा रमणीय और समान आनन्द देने वाली थी। इस कारण वे दोनों मिथ्या को भी मिथ्या न मानते हुए रसकेलि से विरत न हुए। कभी उनका क्रम अलीक रह जाता था, कभी वास्तविक भी। अत अनेक स्थलों में वास्तविक रस-केलि के आनन्द का अनुभव करते हुए नल-दमयन्ती केलिरत रहे। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलकार॥५४॥

परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भः ।
स्नेहातिदानादिव दीपिकार्चिर्निमिष्य किञ्चिद्द्विगुणं दिदीपे ॥ ५५ ॥

जीवातु—परस्परेति । तयोर्भैमीनलयोः चेतसि विप्रलम्भो विरहः, परस्परस्पर्शरसस्य अन्योन्यस्पर्शसुखस्य, ऊर्मिभिः सेकात् क्षणं स्नेहस्य तैलादेः अतिदानाद्दीपिकार्चिर्दीपज्वालेव किञ्चिदीषन्निमिष्य निवार्य, द्वौ गुणावृत्ती यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा द्विगुणम्, अधिकं दिदीपे प्रजज्वाल सोऽप्युद्दीपक एवाभूदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय—विप्रलम्भः तयोः चेतसि परस्परस्पर्शरसोर्मिसेकात् स्नेहातिदानात् दीपिकार्चिः इव क्षणं किञ्चित् निमिष्य द्विगुणं दिदीपे ।

हिन्दी—वियोग उन दोनों (नल दमयन्ती) के हृदयों में अन्योन्य के स्पर्श रस की तरंगों के सिंचन से स्नेह का अत्यन्त दान होने स्वरूप स्नेह (तैल) के प्रचुरमात्रा में डाल देने से दीपक की लौके समान कुछ देर तक कुछ मंद होकर द्विगुण होकर दीप्त हो गया ।

टिप्पणी—नल दमयन्ती ने उपर्युक्त वर्णन के अनुसार रसकेलि का आनन्द पाया । इस मिलन सुख में जो परस्पर स्नेह का आदान प्रदान मिला उससे प्रणयीयुगल की विरहाग्नि कुछ मंद पड़ी परन्तु वे पुनः वियुक्त हो गये । तब जैसे तेल डाल देने से मंद पड़ी दिए की लौ भभक कर और तेज हो जाती है, वैसे ही प्रेम को पाकर वियुक्त प्रेमी द्विगुणित रूप से वियोग संतप्त हो गये । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५५ ॥

वेश्माप सा धैर्यवियोगयोगाद् बोधञ्च मोहञ्च मुहुर्दधाना ।
पुनः पुनस्तत्र पुरः स पश्यन् बभ्राम तां सुभ्रुवमुद्भ्रमेण ॥ ५६ ॥

जीवातु—वेश्मेति । सा भैमी, धैर्यवियोगयोर्योगाद्यथासंख्यं मुहुर्बोधञ्च मोहञ्च दधानेति यथासंख्यालङ्कारः । वेश्म निजावासमाप । नलस्तत्र तां सुभ्रुवं भैमीम् उद्भ्रमेण भ्रान्त्या पुनः पुरोऽग्रे पश्यन् बभ्राम । प्राप्यायेति भावः । एतेन चापलाख्य सञ्चारिभाव उक्तः । 'चापलं त्वनवस्थानम्' इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

अन्वय—धैर्यवियोगयोगात् मुहुः बोधं मोहं दधाना सा वेश्म आप, तत्र तां सुभ्रुवम् उद्भ्रमेण पुनः पुनः पुरः पश्यन् सः बभ्राम ।

हिन्दी—धीरज और विरह—दोनों के रहने से कभी ज्ञान और कभी मोह को धारण करती वह (दमयन्ती) घर गयी, और वहाँ उस सुन्दर भ्रुकुटि वाली (दमयन्ती) को उत्पन्न भ्रम के कारण बार-बार अपने सम्मुख देखता वह (नल) भटकने लगा।

टिप्पणी—दमयन्ती धैर्यशालिनी थी, अतः वह चित्त को सम्हाल लेती थी, किन्तु वियोग के कारण पुनः मोह को प्राप्त हो जाती थी। इन दोनों स्थितियों में पड़ती वह अन्ततः घर चली गयी और विरही नल 'त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे' के अनुसार सर्वत्र दमयन्ती को ही सम्मुख देखते इधर-उधर भ्रमण करने लगे। यहाँ चपलता सञ्चारीभाव का वर्णन है, चपलता अर्थात् मात्सर्य, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्थिति—'मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः' (सा० ३।१७८)। विद्याधर के अनुसार यथासंख्य और भावशबलता अलंकार॥ ५६॥

पद्भ्यां नृपः सञ्चरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित्।
विदर्भराजप्रभवानिवासं प्रासादमभ्रङ्कषमाससाद॥ ५७॥

जीवातु—पद्भ्यामिति। एष नृपः पद्भ्यां सञ्चरमाणो गच्छन्। 'समस्तृतीयायुक्तात्' इति तृतीया। चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चित् पादचारक्लेशादतिकृच्छ्रेण विदर्भराजः प्रभवः कारकं यस्यास्तस्या वैदर्भ्या निवासम्। अभ्रं कषतीत्यभ्रङ्कषमत्युन्नतम्। 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कषः' इति खच्प्रत्यये मुमागमः। प्रासादं सौधमाससाद॥ ५७॥

अन्वय—पद्भ्यां सञ्चरमाणः एषः नृपः चिरं परिभ्रम्य कथं कथंचित् विदर्भराजप्रभवानिवासम् अभ्रङ्कषं प्रासादम् आससाद।

हिन्दी—पैदल चलता-चलता यह राजा (नल) बहुत समय तक घूम-फिर कर किसी प्रकार विदर्भ नरेश की पुत्री (दमयन्ती) के गगनस्पर्शी (अत्युच्च) प्रासाद में पहुँचा।

टिप्पणी—ऊँचे प्रासाद के दुर्गम और दुष्प्रवेश्य होने का संकेत॥ ५७॥

सखीशतानां सरलैर्विलासैः स्मरावरोधप्रमदावहन्तीम्।
विलोकयामास सभां स भैम्याः स्नान्यप्रतोलीमणिवेदिकायाम्॥ ५८॥

जीवातु–सखीति। नलस्तस्य प्रासादस्य प्रतोल्या प्राङ्गणे या मणिवेदिका तस्यां सखीशताना सरसैः सानुरागैर्विलासैर्लीलाभिः स्मरावरोधभ्रममावहन्तीं मायान्तःपुरभ्रान्तिकरीं भैम्याः सभामास्थानीं विलोकयामास ॥ ५८॥

अन्वय–स तस्य प्रतोलीमणिवेदिकायां सखीशतानां सरसैः विलासैः स्मरावरोध भ्रमम् आवहन्तीं भैम्याः सभां विलोकयामास।

हिन्दी–उस नल ने उस (प्रासाद) के आँगन में मणि जटित वेदी (चबूतरा) पर सैकड़ों (अनेक) सखियों के सरस शृंगार विलास से काम के अन्तःपुर की भ्रांति उत्पन्न करती भीमपुत्री की सभा को देखा।

टिप्पणी–दमयन्ती की सखियाँ रति के समान सुन्दरी थीं और उनकी शृंगार चेष्टाएँ भी वैसी ही मोहक थी, अतः दमयन्ती की वह सभा काम की सभा जैसी प्रतीत हो रही थी। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५८॥

कण्ठः किमस्याः पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सूचयति त्रिरेखः।
इत्यन्तरस्तूयत कापि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥ ५९॥

जीवातु–अथ कण्ठ इत्यादिभिः चतुर्दशभिस्तां सभां वर्णयति–कण्ठ इति। यत्र सभायां कलं मधुरमालपन्ती कापि बाला। नलेन तिस्रो रेखा अस्य सन्तीति त्रिरेखः अस्याः कण्ठः पिकवेणुवीणास्तिस्रः जिताः सन्तीति सूचयति किमिति अन्तरन्तःकरणे अस्तूयत स्तुता। अत्र कण्ठरेखात्रयस्य विशेषणगत्या निजपिकादिविषयविजयसूचकत्वोत्प्रेक्षाहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गसङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा ॥५९॥

अन्वय–यत्र कलम् आलपन्ती बाला अस्याः त्रिरेखः कण्ठः पिकवेणु-वीणाः तिस्रः जिताः–सूचयति किम्, इति नलेन अन्तः अस्तूयत।

हिन्दी–जहाँ (सभा में) मधुर आलाप करती बाला क्या यह सूचित कर रही है कि उस (बाला) के तीन रेखा पड़े कण्ठ द्वारा कोकिल, वेणु और वीणा–तीनों जीत ली गयी हैं ?–इस प्रकार नल ने मन ही मन प्रशंसा की।

टिप्पणी–कोई बाला सभा में राग आलाप रही थी। इतना मनोहर उसका स्वर था कि उसके सम्मुख कोकिल, वंशी और वीणा के स्वर नगण्य प्रतीत हो रहे थे। वह सुन्दरी 'कम्बुग्रीवा' (शंख सी ग्रीवा वाली) थी,

जिस पर तीन पर रेखाएँ अंकित थीं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार त्रिरेख-ग्रीवा 'कम्बुग्रीवा' कहाती है 'रेखात्रयाङ्किता ग्रीवा कम्बुग्रीवेति कथ्यते।' ये तीन रेखाएँ मानो निषादेषु-वीणा के जयार्थ कण्ठ ने धारण की थीं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यलिंग-सङ्कीर्णा उपमा है, क्योंकि कण्ठ के रेखात्रय को विशेषण गति से षिकादि तीन का विजयसूचक होने से उत्प्रेक्षा का हेतु कहा गया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा है ॥ ५९ ॥

एतं नलं दमयन्ति! पश्य त्यजार्तिमित्यालिकुलप्रबोधान्।
श्रुत्वा स नारीकरवर्तिशारीमुखात् स्वमाशङ्कत तत्र दृष्टम् ॥ ६० ॥

जीवातु—एतमिति। स नलो तत्र सभायां, नारीकरवर्तिशारीमुखात् कान्ताकरगतशारिकामुखात्, हे दमयन्ति! एतमेतं नलं पश्य। आर्ति पीडां त्यज। इत्येवंरूपान् आलिकुलप्रबोधान् आलिकुलस्य सखीजनस्य, प्रबोध्यते एभिरिति प्रबोधान् आश्वासनोक्तीः करणे घञ्प्रत्ययः। श्रुत्वा स्वकीयात्मानं दृष्टमाशङ्कत। एतं नलं पश्येति निर्देशाद्देशान्तरं दृष्टोऽस्मीति शङ्कितवानित्यर्थः। शारीवाक्ये नारीवाक्यभ्रमादिति भावः। अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः ॥ ६० ॥

अन्वयः—यत्र नारीकरवर्ति शारीमुखात्—दमयन्ति, तम् एतं नलं पश्य, आर्ति त्यज—इति आलिकुलप्रबोधान् श्रुत्वा स स्वं दृष्टम् अशङ्कत।

हिन्दी—जिस (सभा) में नारियों के हाथ पर वर्तमान सारिका (मैना) के मुख से—दमयन्ती, उस (प्रसिद्ध) इस नल को देख, दुःख छोड़—इस प्रकार सखियों द्वारा दिये आश्वासनों को सुनकर वह (नल) अपने को देख लिये जाने की आशंका करने लगा।

टिप्पणी—विरहिणी दमयन्ती को नल के चित्रादि दिखाकर उसकी सखियाँ जब तब आश्वासन दिया करती थीं, जिससे उसकी व्यथा कम हो। सुन-सुन कर मैना भी ऐसा ही प्रायः बोलने लगी। जब अदृश्य नल सभा में था, तब भी मैना ने ऐसा ही कहा। इससे नल डरने लगा कि कहीं उसकी अदृश्य रहने की शक्ति समाप्त तो नहीं हो गयी और वह अब देख लिया जा रहा है। सारिका के वचनों में उसे नारी के वचनों का भ्रम हो गया।

मान और क्या फिर उसकी अद्वितीयता। यहाँ तो चन्द्र ही चन्द्र है। अनन्वय स्थिति तो हो ही जाती। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक उपमा उत्प्रेक्षा का संकर ॥ ६२ ॥

दलोदरे काञ्चनकेतकस्य क्षणान्मपीभावुकवर्णरेखम्।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेख लिलेख भैमी नखलेखिनीभि ॥ ६३ ॥

जीवातु—दलेति। यत्र सभायां, भैमी, काञ्चनकेतकस्य स्वर्णकेतकीकुसुमस्य, दलोदरे पत्रमध्ये, क्षणात् झटिति मषीभावुका श्यामीभवन्त्य वर्णरेखा अक्षरविन्यासा यस्मिन् तम्। तस्य नलस्यैव कृते स्व स्वकीयम्, अनङ्गलेख कामसन्देश, नखैरेव लेखिनीभि लेखनिकाभि लिलेख ॥ ६३ ॥

अन्वय—यत्र भैमी काञ्चनकेतकस्य दलोदरे क्षणात् मषीभावुकवर्णरेख तस्य एव स्वम् अनङ्गलेख नखलेखनीभि लिलेख।

हिन्दी—जहाँ (सभा मे) भीमपुत्री ने सुवर्ण केतकी के पत्र के मध्य झट से मसी (स्याही) बन जाते वर्ण विन्यासवाली, जैसे वह उसका (नल निमित्त) ही हो, ऐसे, अनगलेख (काम पत्र) को नखो की कलम से लिखा।

टिप्पणी—दमयन्ती ने परम्परानुसार काम सदेश स्वर्णकेतक के पत्र पर नखो से लिखा। मान्यता यह है कि स्वर्णकेतकी पर नखो के आलेख तुरत काले रग के हो जाते हैं। इसी पर कल्पना है कि दमयन्ती के द्वारा केतकी दल पर बनाये गये, काले पडे नख चिह्न, उस काम सदेश-पत्र मे स्याही से लिखे अक्षरो के तुल्य प्रतीत होने लगे, जो उसने नल को ही लिखा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक का सकर ॥ ६३ ॥

विलेखितु भीमभुवो लिपीपु सख्यार्ऽतिवख्यातिभृतापि यत्र।
अशाकि लीलाकमल न पाणिमपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥६४॥

जीवातु—विलेखितुमिति। यत्र सभाया लिपीषु चित्रकर्मसु। शृङ्गिकादादिनो वा डीप्वक्तव्य। अतिविख्यातिभृता अतिचतुरयापीत्यर्थ। सख्या भीमभुवो भैम्या लीलाकमल विलेखितुम् अशाकि। भावे लुङ्। शकेत्यादिना तुमुन्प्रत्यय। पाणि तु नाशाकि। तदपक्षयोरुकृष्टत्वात्। तथा कर्णोत्पल

विलेखितुमपारि पर्याप्त, पूर्ववल्लुङ् । 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेष्वि'ति तुमुन् प्रत्यय । अक्षि तु नापार्यव सर्वोपमानातीतत्वात्तल्लावण्यस्येति भाव ॥६४॥

अन्वय —यत्र लिपीषु अतिविदग्धविसृता अपि सख्या भीमभुव लीला-कमल विलेखितुम् अशाकि, पाणि न, कर्णोत्पलम् अपारि, अक्षि न एव ।

हिन्दी—जहां (सभा में) चित्र बनाने में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त भी सखी द्वारा भीमसुता का लीलाकमल ही अंकित किया जा सका, हाथ नहीं, कान में (आभूषण रूप) पहिना कमल (कर्णफूल) ही बन सका नेत्र नही।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का हाथ और नेत्र कमल की अपेक्षा कहीं सुन्दर थे, इतने कि कुशल से-कुशल चित्रकर्त्री उनके सौंदर्य को चित्रित नहीं कर सकती थी। तो उसकी कला की इयत्ता लीलाकमल और कर्णोत्पल को चित्रित करने में ही चुक गयी, अनुपम कर-नेत्र चित्रित करने की क्षमता रही ही नहीं। रमणीयता तो नित्य नव-नव रूपधारिणी होती है—क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयतायाः, जो क्षण क्षण नया रूप ले ले, उसे कौन चित्रित कर सकता है? विद्याधर के अनुसार प्रतीप अलकार ॥ ६४ ॥

भैमीमुपावीणयदैत्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्ग ।
गन्धर्ववध्व स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीण ॥ ६५ ॥

जीवातु—भैमीति । यत्र सभाया, गन्धर्ववध्वो गन्धर्वाङ्गना एव । कलि-प्रियस्य प्रियकलहस्य नारदस्य । 'वा प्रियस्य' इति बहुव्रीहौ प्रियशब्दस्य परनिपात । प्रियशिष्यवर्ग । स्वर एव मधु क्षौद्र तेनारीणमारक्त पूर्णं मति यावत् । 'ल्वादिभ्य' इति निष्ठानत्वम् । तेन तस्या भैम्या कण्ठनालेन सह एकधुर वहन्तीत्येकधुरीणा समा इत्यय । 'एकधुराल्लुक् च' इति खप्रत्यय । ता वीणा यस्य स सन्नेत्यागत्य भैमीमुपावीणयत् वीणया उपगायति स्म । 'सत्यापपाशे'त्यादिना णिचि लङ् । गानविद्याया गन्धर्वीणामप्युपास्या भैमीत्यर्थ ॥ ६५ ॥

अन्वय—यत्र स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकधुरीणवीण कलिप्रियस्य प्रिय-शिष्यवर्ग गन्धर्ववध्व एत्य भैमीम् उपावीणयत् ।

हिन्दी—जिस (सभा) में स्वर मधु से पूर्ण उस (दमयन्ती) की कंठ नली की एक धुरीण (सदृश) वीणाधारिणी, कलहप्रिय (नारद) की

प्रिय शिष्या गन्धर्व वधुएँ आकर भीमसुता के सम्मुख वीणा पर वाद करती थीं।

टिप्पणी—दमयन्ती के कमल मुख का कण्ठनाल इतने माधुर्य से पूर्ण था कि उससे प्रवहणशील स्वर के सम्मुख गन्धर्वरमणियों के कण्ठस्वर और उनके बजायी वीणा के स्वर फीके थे, यद्यपि सहज गानप्रिय गन्धर्ववधुओं में नारद से वीणा-वादन सीखा था, जो इस विद्या—गानविद्या के भी अद्वितीय आचार्य माने जाते हैं। ऐसी गन्धर्ववधुएँ भी गान और वादन में दमयन्ती से कुछ सीखा ही करती थीं। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६५ ॥

नावा स्मर किं हरभीतिगुप्ते पयोधरे खेलति कुम्भ एव।
इत्यर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीभिरूचे ॥ ६६ ॥

जीवातु—नावेति। यत्र सभायां अर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बी अर्धचन्द्राकार-नखक्षतभाक्कुचो यस्याः सा सखी। स्मर हरभीत्या गुप्ते, गुप्त्यर्थमित्यर्थः। अन्यत्र सामान्ये षष्ठी। पयसां क्षीराणां नीराणाञ्च धरे पयोधरे कुचे। 'पयः स्यात् क्षीरनीरयोः' इति विश्वः। तस्मिन्नेव कुम्भ इति व्यस्तरूपकम्। नावा नखाङ्केनैवेति शेषः। खेलति दाहशान्त्यर्थं विहरति किमिति रूपकसङ्कीर्णोत्प्रेक्षा इति सखीभिरूचे उक्ता ॥ ६६ ॥

अन्वय—यत्र अर्धचन्द्राभनखाङ्कचुम्बिकुचा सखी सखीभिः इति ऊचे किम् स्मर हरभीतिगुप्ते पयोधरे एव कुम्भे नावा खेलति?

हिन्दी—जहाँ (सभा में) आधे चन्द्रमा के तुल्य नख चिह्न से चुम्बित (युक्त) कुचोंवाली सखी से अन्य सखियों ने कहा—'क्या काम शिव के डर से छिपने के लिए, पयोधर (कुच) रूप पयोधरकुम्भ (जलभरे घड़े) पर नौका विहार कर रहा है?

टिप्पणी—नखाङ्कित चिह्न से युक्त कुच-दर्शन कर अन्य सखियों द्वारा एक सखी की गुप्त कामक्रीडा का उपहास। काम हर-नेत्र-ज्वाला से जल गया था, अतः उसे शीतल स्थान अपेक्षित था, सो वह सखी के 'पयोधर' (जलपूर्ण होने से शीतल) पर शीतलतादायी नौकाविहार कर रहा था। दाहशान्ति के अतिरिक्त स्वरक्षा की चिन्ता भी काम को ही सकती थी, सो

वह ऐसे स्थल पर जा पहुँचा जहाँ शिवजी की पहुँच न हो। शिव परस्त्री का स्पर्श नहीं करेंगे। एक तो योगिराज हैं, दूसरे पार्वती का डर भी होगा—'हरेण भीत्या कुचे पयोधरे' (हर से हर के द्वारा कुच-स्पर्शित पयोधर में)। प्रकाशकार ने 'हरभीतिभुग्ने' को विशेषणवाचक सम्बोधन भी माना है— शिवजी के द्वारा पार्वती के डर से न छुई जा सकने वाली हे सखी, तेरे पयोधर पर निर्भय हो काम नौका विहार कर रहा है। नारायण ने इस प्रकार भी पदच्छेद किया है—'हरभीतिभुक् स्मर ते पयोधरे एव कुम्भे नौकेलिं।' हर का भय भय इति (पदच्छेद) उसके कारण छिपा (हरभीतिभाजा इति तस्माद् भाव गोपायति) काम। यह कल्पना भी है कि काम ने सोचा कि इस सखी का स्तनाद्भुत स्तन देख कर शिव भी मुग्ध हो जायेंगे और उनका क्रोध शान्त हो जायेगा, सो निश्चिन्त काम पयोधर-कुम्भ पर बैठा नौका-विहार कर रहा है। मल्लिनाथ ने पयोधर-कुच में कलश रूपक और दाह-परिहार के निमित्त सेवन को उत्प्रेक्षा मान कर, यहाँ रूपकोत्थापित उत्प्रेक्षा मानी है, विद्याधर के अनुसार श्लेष-उत्था रूपक उत्प्रेक्षा है ॥ ६६ ॥

स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रुवो यदशोषि स्फुटं प्रसूनैः।
तत्र सूत्रन्या तदशोधि तेषु यदेकया सूचिशिखां निखाय ॥ ६७ ॥

जीवातु-स्मरेति। प्रसूनैः कुसुमैः स्मराशुगीभूय कामबाणीभूत्वा विदर्भसुभ्रुवो वैदर्भ्याः यदशो हृदयमशोषि शोषितं व्यथितमिति यत्। तत् शोषणवैरं यत्र सभायां, तेषु प्रसूनेषु सूचिशिखां सूच्यग्रं, निखाय निखन्य, सूत्र मार्गेण सूत्रन्या एकया कयाचित्स्त्रिया, अशोधि निर्यातितम्। हृदयच्छेदिनां हृदयच्छेद एव प्रतीकार इति भावः ॥ ६७ ॥

अन्वय—यत्र प्रसूनैः स्मराशुगीभूय विदर्भसुभ्रुवः यद् मनोऽपि मर्द, स्फुटं तेषु सूचिशिखां निखाय तत् सूत्रन्या एकया अशोधि।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) फूलों ने कामबाण होकर सुंदर भृकुटि वाली वैदर्भी (दमयन्ती) के हृदय को जो पीड़ित किया था, निश्चय रूप से उन (फूलों) में सुई की नोक डाल कर माला गूंथती एक (सखी) ने उसका प्रतीकार किया।

टिप्पणी—फूलों ने बाणरूप में विरहिणी दमयन्ती को व्यथा दी, उन्हें मालाकारिणी ने उन फूलों के हृदय में सुई चुभाकर उसका उचित बदला ले लिया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा का सकर ॥ ६७ ॥

यत्रावदत्तामतिभीय भैमी त्यज त्यजेदं सखि साहसिक्यम् ।
त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान् प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥ ६८ ॥

जीवातु—यत्रेति। यत्र सभायां, तां सुवसृष्ट्री सखी, भैमी अतिभीय भयात् भीत्वा। भीधातो क्त्वो ल्यबादेश। अवदत्। किमिति, हे सखि ! इदम् सहसा वर्तत इति साहसिक अविमृश्यकारी 'ओजस्सहोऽम्भसा वर्तते' इति ठक्। तस्य कर्म साहसिक्य ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्यय। त्यज त्यज। कुतः त्वमेव प्रसूनान्येव बाणान् गुणेन तन्तुना ज्यया च। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्ये न्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। सज्जान् सवतान् कृत्वा, मदनाय दत्से ददासि। सदैवोत्सृष्ट एव दहतो वह्नेर्वायुना सन्धुक्षणमिति भाव ॥ ६८ ॥

अन्वय—भैमी अतिभीय साम् इति अवदत्—सखि, त्यज इद साहसिक्य त्यज, त्वम् एव मदनाय प्रसूनानि बाणान् गुणेन सज्जान् कृत्वा दत्से।

हिन्दी—जिस (सभा) में भीमनन्दिनी अत्यन्त डर कर उस (मालाकारिणी) से यह बोली—सखी, छोड़ इस अकस्मात् कृत (बिना विचारे किये) को छोड़, तू ही काम को फूलों के रूप में बाणों को प्रत्यंचा से सज्जित करके दे रही है।

टिप्पणी—मालाकारिणी को उस सभा में फूलों को गूथते देख दमयन्ती बहुत डर गयी उसे लगा कि अब तक तो य पुष्पबाण प्रत्यंचा पर चढ़े नहीं थे, काम इन्हें गुण पर रखता था प्रहार करता था। यह मालिन तो फूलों को गुण-डोरी में सजाकर काम का कार्य सरल बना रही है, पुष्पबाणों को सगुण-प्रत्यंचा युक्त कर रही है। अब तो काम और शीघ्र आघात कर सकेगा। दमयन्ती ने मालिन से इसीलिए माला गुथन का निषेध किया। 'त्यज-त्यज' की द्विरुक्ति भय की अधिकता के द्योतनार्थ है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ६८ ॥

आलिख्य सख्याः कुचपत्रभङ्गीमध्ये सुमध्या मकरी करेण ।
यत्रावदत्तामियमालि यानं मन्ये त्वदेकान्तलिनाकनद्या ॥ ६९ ॥

जीवातु-आलिख्येति। यत्र सभायां, सुमध्या कापि कान्ता सख्याः कुचयोः पत्रभङ्गीनां पत्ररचनानां मध्ये मकरीं करेणालिख्य तां सखीमवदत्। किमिति, हे आलि सखि, इयं मकरी त्वदेकावल्लेरेव हारयष्टेरेवेयं। 'एकावल्येकयष्टिका' इत्यमरः। नाकनद्या मन्दाकिन्या इति रूपकम्। यानं वाहनं, 'मकरीवाहना गङ्गा' इति प्रसिद्धिः। मन्ये इत्युत्प्रेक्षा। तस्याश्चोक्तरूपकेण सङ्करः ॥६९॥

अन्वय—यत्र सुमध्या कान्ता कुचपत्रभङ्गीमध्ये मकरीं करेण आलिख्य अवदत्—आलि, इयं त्वदेकावलिनाकनद्याः यानं मन्ये।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) सुन्दर मध्यभाग (कटि) वाली (सखी) दूसरी सखी के कुचों पर पत्रवल्ली के मध्य मकरी को हाथ से चित्रित कर कह रही थी—सखी, इसे तेरी मोती की एकलड़ीमाला रूप देवनदी (मन्दाकिनी) का वाहन समझती हूँ।

टिप्पणी—शुभ्र पत्रावली की तुलना मोती की एकलड़ी तुल्य शुभ्र मन्दाकिनी से की गयी। माना जाता है कि मन्दाकिनी गंगा का वाहन मकरी है। पत्रावली पर देवनदी का आरोप किया गया है, अतः यह रूपक है और 'मन्ये' उत्प्रेक्षासूचक है। इस आधार पर यहाँ मल्लिनाथ ने रूपक-उत्प्रेक्षा के संकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास-रूपक का संकर है ॥ ६९ ॥

तामेव सा यत्र जगाद भूयः पयोधिदारः कुचकुम्भयोस्ते।
सैव स्थिता तावकहृच्छयाङ्कप्रिया तु विस्तारयशःप्रशस्तिः ॥ ७० ॥

जीवातु—तामिति। यत्र सा पूर्वोक्ता प्रसाधिका तामेव सखीं भूयो जगाद। किमिति। पयोधेर्दारो जलग्राह समुद्रसम्भव इत्यर्थः। किञ्च, तावकस्य हृच्छयस्य मकरध्वजस्याङ्कश्री मकरस्य प्रिया दयिता। हे तव, कुचकुम्भयोः स्थिता, सैव मकरी विस्तारयशःकुम्भयोरेव परीणाहकीर्त्तेः प्रशस्तिः स्तुतिवर्णावलिरस्तु ॥ ७० ॥

अन्वय—यत्र सा ताम् एव भूयः जगाद—तावकहृच्छयाङ्कप्रिया पयोधिदारः सा ते कुचकुम्भयोः स्थिता सती इयं विस्तारयशःप्रशस्तिः अस्तु।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) वह (पूर्वोक्त सखी) उसी (पूर्वोक्त पत्रावली शोभित सखी) से फिर बोली—तेरे हृदय में स्थित (काम) के चिह्न (मकर) की प्रिया समुद्र का जन्तु यह (मकरी) तेरे कुचरूप घड़ों पर बैठी निश्चयपूर्वक (कुचों की) विशालता की कीर्ति की प्रशंसा करे।

टिप्पणी—जहाँ प्रिय, वहीं उसकी प्रिया। सुन्दरी के मन में अपने वाहनसहित काम स्थित है, सो वहीं उसकी प्रिया मकरी भी होनी उचित है। कुचों की विशालता और गहनता मकरी के प्राकृतिक आवास समुद्र से भी उत्कृष्ट है, अतः वह जलजन्तु मकरी सागर का परित्याग कर सुन्दरी के कुचकुम्भों पर आ बैठी। इस प्रकार उसने कुचों का यशोगान किया कि ये पीवरता गहनता में समुद्र से भी उत्कृष्ट हैं। विद्याधर के अनुसार रूपक ।७०।

शारी चरन्ती सखि मारयैनामित्यक्षदाये कथिते कयापि।

यत्र स्ववधातभ्रमभीरुशारीकाकूत्यसाकूतहसः स जज्ञे ॥ ७१ ॥

जीवातु—शारीमिति। यत्र स नलः, कयापि। कितवया इति शेषः। हे सखि, एना चरन्ती भ्रमन्ती, शारीमक्षोपकरणं दारुविकारं, शारिकाख्यां शकुन्तिकामित्यर्थान्तरेण शकुन्तिकाया मयोत्पत्तिः। 'शारी स्यक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तरे' इति विश्वः। मारय प्रहर। इति अक्षदाये अक्षाः पाशकाः। 'अक्षास्तु देवनाः पाशकाश्च ते' इत्यमरः। तेषां सम्बन्धी दायो दानम्। 'दायो दाने यौतकादिधने विसे च पैतृके' इति वैजयन्ती। तस्मिन् कथिते स्ववधाते आत्ममारणे, भ्रमेण भ्रान्त्या, भीरोर्भीतायाः शार्याः शारिकायाः काक्वा विकृतस्वरेण उत्थ उत्थितः, साकूतः भावगर्भो हसो हासो यस्य सः, 'स्वनहसोर्वा' इति विकल्पादप्प्रत्ययः। जज्ञे जातः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यत्र—सखि, एनां चरन्तीं शारीं मारय—इति कया अपि अक्षदाये कथिते सः स्ववधातभ्रमभीरुशारीकाकूत्यसाकूतहसः जज्ञे।

हिन्दी—जहाँ (सभा में)—हे सखि, इस (एक घर से दूसरे घर) विचरती (जाती) शारी (शतरंज की गोट) को मार—इस प्रकार किसी (सखी) द्वारा गोटियों के खेल (चौपड़ आदि) में कह जाने पर वह (नल) अपने मारे जाने के भ्रम से आतङ्कित शारी (मैना) के काकु (भय से विकृत स्वर) से उत्पन्न भावगर्भ हास से युक्त हो गया।

टिप्पणी—गोटियों के खेल में एक गोटी को दूसरी गोटी से पीटा जाता है, जिसे 'गोटी मारना' कहा जाता है। अनेकार्थ 'शारी' (गोटी और मैना) के प्रयोग से यहाँ चमत्कार चारुता लायी गयी है। एक सखी ने गोटी खेलती दूसरी से कहा कि अमुक गोटी को मारने से जीत हो सकती है, अतः उस 'शारी' को मार। शारी (मैना) समझी कि उसे मारने को कहा जा रहा है और वह डर कर नय सूचक बोली बोलने लगी। इस पर नल को हँसी आ गयी। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलङ्कार ॥ ७१ ॥

भैमीसमीपे स निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीम्।
कृतप्रियादूत्यमहोपकारमराजमोहद्रढिमानमूहे ॥ ७२ ॥

जीवातु—भैमीति। यत्र सभायां, नलो भैमीसमीपे ताम्बूलस्य जाम्बूनदहंसो हिरण्मयहंसाकार करक तस्य लक्ष्मीं निरीक्ष्य, कृतं प्रियायाः भैम्या दूत्यमेव महोपकारो येन तस्मिन् मराले हंसे, मोहस्य भ्रमस्य द्रढिमानं दार्ढ्यम् 'र ऋतो हलादेर्लघोः' रित्यृकारस्य रभाव । ऊहे ऊढवान् । वहे कर्मणि लिट् । 'वचिस्वपि' इत्यादिना सम्प्रसारणम् ॥ ७२ ॥

अन्वय—यत्र स भैमीसमीपे ताम्बूलजाम्बूनदहंसलक्ष्मीं निरीक्ष्य कृत-प्रियादूत्यमहोपकारमराजमोहद्रढिमानम् ऊहे।

हिन्दी—जिस (सभा) में उस (नल) को भीमपुत्री के निकट ताम्बूल (पान) रखने के लिए बने सोने के हंस (स्वर्ण हंस) की शोभा को देखकर प्रिया (दमयन्ती) के प्रति दूत बनकर जिसने महान् उपकार किया था, उस स्वर्ण हंस का दृढ भ्रम हो गया।

टिप्पणी—पान रखने के लिए ऐसा उत्कृष्ट स्वर्णहंस के आकार का बना पात्र दमयन्ती के पास रखा था कि उसे नल ने सचमुच का स्वर्णहंस समझ लिया, नल को भ्रम हो गया कि यह वही उपकारी स्वर्णहंस है, जिसने दमयन्ती को उसका प्रणय-सन्देश दिया था। विद्याधर के अनुसार भ्रान्तिमान् अलङ्कार ॥ ७२ ॥

तस्मिन्निव सेति सखीसमाजे नलस्य सन्देहमथ व्युदस्यन्।
अपृष्ट एव स्फुटमाचचक्षे स कोऽपि रूपातिशयः स्वयं ताम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । अथ सभालोकनानन्तरं तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देहं का वात्र भैमीति संशयं व्युदस्यन्, स प्रसिद्धः कोऽपि रूपातिशयः सौन्दर्यविशेषः । स्वयमपृष्ट एव तां भैमीं, सा भैमी इयमिति स्फुटमाचचक्षे। आचख्यौ । विश्वातिशायिसौन्दर्यसाक्षात्कारादियं दमयन्तीति निश्चिकायेत्यर्थः।

अन्वय—अथ तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देहं व्युदस्यन् सः कः अपि रूपातिशयः स्वयम् अपृष्टः एव तां स्फुटम् आचचक्षे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (सभा का अवलोकन करने के अनन्तर) उन सखियों के समाज (समूह) में नल का सन्देह मिटाते उस लोकोत्तर सौन्दर्य सागर ने स्वयं बिना पूछे गये ही उस (दमयन्ती) को स्पष्ट बता दिया ।

टिप्पणी—अब तक नल दमयन्ती को पहिचानता नहीं था, किसी सुन्दरी को देखकर वह दमयन्ती के भ्रम में पड़ जाता था । अब सखियों के मध्य बैठी अनुपम सौन्दर्यशालिनी दमयन्ती अपने आप स्पष्ट हो गयी । उसके अद्वितीय सर्वजयी सौन्दर्य ने अब सखियों के मध्य दमयन्ती को स्पष्ट कर दिया और बिना पूछे ही नल का दमयन्ती विषयक भ्रम मिट गया । अथवा ताम्बूल पात्र रूप में बैठे अति सुन्दर हंस के निकट बैठे होने से नल समझ गया कि दमयन्ती यही है, जिसके निकट प्रणय दूत हंस बैठा है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ७३ ॥

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्तदाकृतीनां भुवि कल्पितानाम् ।
नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीतं यस्यानुबिम्बं मणिवेदिकायाम् ॥ ७४ ॥

जीवातु—भैमीति । भैम्या विनोदार्थमुत्कापनोदाय मुदा कौतुकेन, सखीभिर्भुवि भूतले, कल्पितानां तस्य नलस्याकृतीनां प्रतिकृतीनां मध्ये मणिवेदिकायां स्फुटमुदीतमपि तस्य नलस्य अनुबिम्बं नातर्कि न तर्कितम् । तत्रापि स्वकल्पिताकृतिसाम्यादिति भावः । अतएव सामान्यालङ्कारः तेन च भ्रान्तिमान् व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ७४ ॥

अन्वय—भैमीविनोदाय मुदा सखीभिः भुवि कल्पितानां तदाकृतीनां मध्ये मणिवेदिकायां स्फुटम् उदीतम् अपि तस्य अनुबिम्बं न अतर्कि ।

हिन्दी—भीमसुता के मनोविनोद के निमित्त प्रसन्नता पूर्वक सखियां

द्वारा धरती (फर्श) पर बनी उस (नल) की आकृतियों के मध्य मणिवेदी पर स्पष्ट प्रकट होते भी उस (नल) के प्रतिबिम्ब की किसी को सम्भावना न हुई।

टिप्पणी—अदृश्य नल का प्रतिबिम्ब यद्यपि मणिवेदी में स्पष्ट हो रहा था, फिर भी उससे नल के वहाँ उपस्थित होने की सम्भावना किसी ने नहीं की, क्योंकि वहाँ भैमी का मन बहलाने के लिए पहिले से ही फर्श पर अनेक नल की आकृतियाँ बनी हुई थीं : वे इतनी अनुरूप थीं कि साक्षात् नल की प्रतिच्छाया भी उनसे भिन्न प्रतीत न हुई। अनेक आकृतियों के बीच नल की विशिष्ट आकृति के सामान्य ही प्रतीत होने से 'सामान्य' अलंकार हुआ, उससे भ्रम उत्पन्न हुआ और इस प्रकार 'सामान्य' से भ्रान्तिमान् की व्यंजना हुई, अतः मल्लिनाथ ने अलंकार ध्वनि का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार मीलित अलंकार है ॥ ७४ ॥

हुताशकीनाशजलेशदूतीर्निराकरिष्णोः कृतकाकुयाच्ञाः।
भैम्या वचोभिः स निजां तदाशां न्यवर्तयद्दूरमपि प्रयाताम् ॥ ७५ ॥

जीवातु - हुताशेति। कृता काक्वा याच्ञा प्रार्थना याभिस्ता वित्ता-श्रान्तचतुरोक्तेरित्यर्थः। हुताशकीनाशजलेशा वह्नियमवरुणाः। 'प्रेतपतिः पितृपतिश्च कीनाश' इति हलायुधः। तेषां दूतीः निराकरिष्णोः परिहरन्त्याः। 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः। 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया। भैम्या वचोभिः स नलो दूरं प्रयाताम् इन्द्रादिकर्तृकेन लुप्यमानामपि निजां स्वकीयां तदाशां भैमीतृष्णां न्यवर्तयत् निवर्तितवान्। पुनस्तत्प्रत्याशाम-प्राप्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ७५ ॥

अन्वय—कृतकाकुयाच्ञाः हुताशकीनाशजलेशदूतीः निराकरिष्णोः भैम्या वचोभिः स दूरं प्रयाताम् अपि निजां तदाशां न्यवर्तयत्।

हिन्दी—दीन स्वर में प्रार्थना करती अग्नि, यम और वरुण की दूतियों का निराकरण करनेवाली भैमी (दमयन्ती) के वचनों के कारण उस (नल) ने दूर चली गयी भी अपनी उस (दमयन्ती से सम्बद्ध) की आशा का प्रत्यावर्तन कर लिया (लौटा लिया)।

अन्वयः—वासव त्वा सलीलम् आलिङ्गनया उपपीडम् अनामयं पृच्छति शेष त्वदाश्लेषकथाविनिद्रैः तद्रोमभिः भवत्यै सन्दिदिशे।

हिन्दी—इन्द्र तुम्हारा सविलास गाढ आलिंगन कर स्वास्थ्य समाचार पूछते हैं, तुम्हारे आलिंगन की कथा से विकसित उनके रोमों द्वारा आपको शेष संदेश भेजा गया है।

टिप्पणी—शिष्टाचार मर्यादा का पालन करते इन्द्र ने पहिले दमयंती का 'अनामय' (स्वास्थ्य समाचार) पूछा। मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण का कुशल पूछा जाता है और क्षत्रिय का अनामय, वैश्य का क्षेम तथा शूद्र का आरोग्य—'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रं पृच्छेदनामयम्। वैश्यं क्षेमं समागम्य शूद्रमारोग्यमेव च।' आलिङ्गन की कल्पना मात्र से रोमांचित हो संदेश भेजना इन्द्र के अनुराग की अभिव्यक्ति है। आलिङ्गन के शिष्टाचार के रूपमें कथनमात्र से इन्द्र का रोम रोम पुलकित हो गया॥ ७८॥

य प्रेर्यमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्थनाया ह्रियमापदागः।
स्वयंवरस्थानजुषस्तमस्य बधान कण्ठं वरणस्रजैव॥ ७९॥

जीवातु—य इति। हे भैमि, मघोन इन्द्रस्य य कण्ठस्त्वदर्थनाया विषये हृदा प्रेर्यमाणोऽपि ह्रियमेवागोऽपराधमापत्। हीनस्याधिकं प्रति याच्ञासङ्कोचैः स्वपराध एवेति भाव। स्वयंवरस्थानजुषः स्वयंवरमागतस्य अस्य इन्द्रस्य तमपराधिनं कण्ठं वरणस्रजा भर्तृवरणमालिकया एव बधान। ईदृशापराधिनामीदृशबन्ध एव दण्ड इति भाव। तथा लज्जा प्रविहाय प्रार्थना कुर्वतो महेन्द्रस्य मनोरथपूरणं कार्यमिति तात्पर्यार्थ॥ ७९॥

अन्वय—मघोन य त्वदर्थनाया हृदा प्रेर्यमाण अपि ह्रियम् आगः आपत्, स्वयंवरस्थानजुषः अस्य तं कण्ठं वरणस्रजा एव बधान।

हिन्दी—इन्द्र का जो (कंठ) तुम्हारी याचना में हृदय से प्रेरित होता हुआ लज्जा-रूपी अपराध को प्राप्त हो गया, स्वयंवर के स्थान में बैठे उस (इन्द्र) के उस कंठ को तो वरण माला से ही बाँध लो।

टिप्पणी—इन्द्र का प्रणय लज्जाके कारण गद्‌गद् कंठ से बाहर हो नहीं आता, यह लज्जारूप अपराध उससे हुआ। इस अपराध का दण्ड यही है कि दमयन्ती उस अपराधी कंठ में बंधन डाल दे, किन्तु जंजीरों के बंधन

से नहीं, वरन्-मात्र के वरण से । जैसा अपराध, वैसा ही दंड । भाव यही है कि इन्द्र दमयन्ती के प्रति अतीव अनुरागी है, दमयन्ती को उसे ही वरना उचित होगा । प्रणयापराधी को प्रणय-बंधन से बाँध कर दंड दो । विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ७९ ॥

नैनं त्यज क्षीरधिमन्थनाद्यैरस्यानुजायोद्गमितामरैः श्रीः ।
अस्मै विमथ्येक्षुरसोदमन्यां क्लाम्यन्तु नोत्पादयितुं श्रियं ते ॥ ८० ॥

जीवातु:—नैनमिति । हे भैमि, एनमिन्द्रं न त्यज । तथा हि, यैरमरैः अस्येन्द्रस्य अनुजाय उपेन्द्राय । तादर्थ्ये चतुर्थी । क्षीराणि धीयन्तेऽस्मिन्निति क्षीरधिः क्षीरोदधिः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययः । तस्य मन्थनात् मथनादुपायात्, मन्थतेर्भौवादिकत्वेदित्वान्नुमागमः । श्री रमा उद्गमिता उत्थापिता । ते अमरा अस्मै इन्द्राय । पूर्ववच्चतुर्थी । इक्षुरस एवोदकं यस्य तमिक्षुरसोदं नामाब्धिम् 'उदकस्योदः संज्ञायाम्' इत्युदादेशः विमथ्य मथित्वा अन्यां श्रियम् उत्पादयितुं न क्लाम्यन्तु न प्रयस्यन्तु । द्वितीयस्याः श्रियः स्वय्येव उपेन्द्रवदिन्द्रस्यापि लक्ष्मीपतित्वे तयोरवैषम्याय देवतानां लक्ष्म्यन्तरसम्पादनप्रयासो न स्यादिति भावः । अत्रामराणां लक्ष्म्यन्तरोत्पादनप्रयत्नासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ८० ॥

अन्वयः—एनं न त्यज, यैः अमरैः अस्य अनुजाय क्षीरधिमन्थनात् श्रीः उद्गमिता, ते अस्मै इक्षुरसोदं विमथ्य अन्यां श्रियम् उत्पादयितुं न क्लाम्यन्तु ।

हिन्दी—इस इन्द्र को न छोड़ो, जिन देवों ने इसके अनुज (विष्णु-उपेन्द्र) के लिए क्षीरसमुद्र के मथन से श्री (लक्ष्मी) का निर्गमन किया, वे इस (इन्द्र) के निमित्त ईख का रस-समुद्र मथकर एक और लक्ष्मी के निर्गमन के निमित्त श्रम न करें ।

टिप्पणी—छोटे भाई उपेन्द्र विष्णु को लक्ष्मी जैसी पत्नी देने के लिए देवों ने क्षीरसमुद्र-मथन जैसा कठिन परिश्रम-साध्य कार्य किया, तब इन्द्र को उस लक्ष्मी से अधिक मनोज्ञ पत्नी मिलना आवश्यक है, क्योंकि वह ज्येष्ठ है—अग्रज । अग्रज को अनुज की अपेक्षा श्रेष्ठ वस्तु मिलनी ही चाहिए । दमयन्ती लक्ष्मी से श्रेष्ठ है । यदि इन्द्र को वह वर ले, तो बेचारे

देवों को पुन परिश्रम नहीं करना पडेगा, अन्यथा लक्ष्मी से अधिक मनोज्ञ पत्नी इन्द्र को उपलब्ध कराने के लिए देवों को फिर से इक्षु-रस समुद्र के मथन में खटना पडेगा। दमयन्ती को उचित है कि वह देवों से पुन व्यर्थ परिश्रम न कराये। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असबध मे सबध कथन रूपा अतिशयोक्ति है, क्योंकि देवों का अन्यलक्ष्मी-उत्पादन प्रयत्न असबध मे सबध का कथन है ॥ ८० ॥

लोकस्रजि द्यौर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्र।
किंकर्तुमर्थो यदि सोऽपि रागाज्जागर्ति कक्ष्या किमतः परापि ॥ ८१ ॥

जीवातु—लोकेति। लोकस्रजि स्वर्गादिलोकपक्तौ द्यौ स्वर्गो महती। दिवि च अदित्या अपत्यानि पुमास आदितेया देवा महान्त। कृदिकाराद्‌ङीषन्ताद् स्त्रीभ्यो ढक्। आदितेयेष्वपि महेन्द्रो महाम्। स महेन्द्रोऽपि रागात् किंकर्तु सेवितुमर्थी इच्छुर्यदि। किंशब्दस्यास्य सर्वादिपठितस्य निपातितत्वाद्धातो प्राक् प्रयोग। अर्थमतेरिच्छार्थत्वात् समानकर्तृकेषु तुमुन्। अतोऽस्माद्विग्रहसेव्यत्वाद् परा कक्ष्यापि उत्कृष्टावस्था च जागर्ति स्फुरति किम्? न जागर्तीत्यर्थ। अत्र लोकादिषु पूर्वपूर्वापक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षोक्ते सारालङ्कार। उत्तरोत्तरमुत्कर्ष सार इति लक्षणात्॥ ८१ ॥

अन्वय—लोकस्रजि द्यौ, दिवि च आदितेया, आदितेयेषु अपि इन्द्र महान्, स अपि रागात् यदि किङ्कतु म् अर्थी, अत परा अपि कक्ष्या जागर्ति किम्?

हिन्दी—लोक मालामे (सब लोको मे) स्वर्ग बडा है, और स्वर्ग मे अदिति की सतान देव बडे हैं देवो मे भी इन्द्र बडा है। वह (इन्द्र) भी अनुराग से यदि तेरा किकर बनना चाहता है तो इससे भी अधिक उत्कृष्ट अवस्था की कामना जाग रही है क्या?

टिप्पणी—आशय है कि लोको मे श्रेष्ठ स्वर्ग के श्रेष्ठ वासियो मे श्रेष्ठ इन्द्र दमयन्ती का किकर बनना चाहता है। यह तो सबसे बडा सौभाग्य है। दमयती को इससे अधिक क्या मिलेगा? सो इन्द्र-वरण ही उचित है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरोत्तर उत्कर्ष-कथन रूप सार अलकार है ॥ ८१ ॥

पदं शतेनाप मखैर्यदिन्द्रस्तस्मै स ते याचनचाटुकारः ।
कुरु प्रसादं तदलं कुरुष्व स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण ॥ ८२ ॥

जीवातु—पदमिति । इन्द्रः शतेन मखैः क्रतुभिः यत्पदमिन्द्रत्वलक्षणं स्थानमाप प्राप स इन्द्रस्तस्मै पदाय तत्पदस्वीकारार्थमित्यर्थः । ते तव याचनेन प्रार्थनया चाटुकारः प्रियवदः । अत इति शेषः । न शब्दश्लोकेत्यादिना टप्र-तिषेधात् कर्मण्यण् । प्रसादमनुग्रहं कुरु । तदैन्द्रं पदं स्वीकारकृता अङ्गीकार-सूचकेन भ्रूनटनक्रमेण भ्रूविक्षेपव्यापारेण, अलं कुरुष्व ॥ ८२ ॥

अन्वय—इन्द्रः शतेन मखैः यत् पदम् आप, सः तस्मै ते याचनचाटु-कारः, प्रसादं कुरु, तत् स्वीकारकृद्भ्रूनटनक्रमेण अलं कुरुष्व ।

हिन्दी—इन्द्र ने सौ यज्ञ करके जिस पद (इन्द्रपद) को प्राप्त किया था वह (इन्द्र) उस (इन्द्रपद) के निमित्त तुम्हारी याचना और चाटुकारी कर रहा है, तुम प्रसन्न हो जाओ और उस (इन्द्रपद) को स्वीकृति-सूचक भ्रूचाल मात्र करके सुशोभित करो ।

टिप्पणी—दूती का तर्क है कि इन्द्र ने दुष्प्राप्य इन्द्रपद की प्राप्ति के लिए सौ यज्ञ करने की दुष्कर साधना की थी, तब वह पद उसे मिल पाया। इस समय इन्द्र उसी पद पर दमयन्ती को आसीन कराने के लिए उसकी चाटुकारी कर रहा है। दमयन्ती को यही उचित है कि इन्द्र को स्ववचन से अनुगृहीत करे और इस दुर्लभ पद को पाने का अवसर न छोड़े। इसके लिए उसे कुछ करना न पड़ेगा, केवल भ्रू-संचालनमात्र से, भौंह का संकेत भर करके स्वामिनी की भाँति चाटुकारी करते इन्द्र को वह अपनी स्वीकृति मात्र जता दे, मुख से बोलने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ८२ ॥

मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे देवे भवेद्देवरि माधवे च ।
श्रेयःश्रिया यातरि यत्र सख्या तत्रेतरा भाविनि भावय त्वम् ॥ ८३ ॥

जीवातु—मन्दाकिनीति । भावयतीति भाविनि विचारचतुरे हे भाविनि मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे क्रीडायां माधवे देवे उपेन्द्रे देवरि देवरे भर्तृभ्रातरि सति । 'स्याता स्नुनोवर. पन्ना, स्वामिनो देवृदेवरौ' इत्यमरः । 'दिवेर्ऋः' इति ऋ प्रत्ययः । श्रिया श्रीदेव्याम् । यतत इति यातरि । देवृभार्यायाम् ।

भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातार स्यु परस्परम्' इत्यमर । 'यतेर्वृद्धिश्च' इति ऋन् प्रत्यय । सख्या सत्याश्च यच्छ्रेयो महोत्कर्षं भवेद् । तत्त्व चेतसा विभावय विचारय । अयाचितोपनम महच्छ्रेयो न परिहर्तव्यमित्यर्थ । अत्र नन्दनविहारक्रियाया माधवदेवृत्वश्रीयातृत्वगुणयोश्च सामस्त्येन यौगपद्यात् समुच्चयालङ्कारभेद । 'गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चय उदाहृत ' इति लक्षणात् ॥ ८३ ॥

अन्वय —मन्दाकिनीनन्दनयो॰ विहार देवे, माधवे च देवरि, श्रियां यातरि सख्या च यत् श्रेय भवेत् भाविनि, तत् त्व चेतसा भावय ।

हिन्दी—स्वर्गङ्गा मदाकिनी और स्वर्गोपवन नदन मे विहार करते समय, (पतिरूप मे) देव (इन्द्र), माधव (उपेन्द्र विष्णु) देवर और लक्ष्मी देवरानी के सखी होने पर जो कल्याण-मगल होगा, हे विचारशीले (दमयती), तुम उसको स्वचित्त मे विचार लो ।

टिप्पणी—आनद-क्रीडा, जल उपवन-विहार आदि मे वास्तविक आनद तभी आता है, जब स्थल उपयुक्त हो और साथी भी अच्छे हो । इन्द्र का वरण करने पर यह सब दमयती को मिल सकेगा । पति देवराज इन्द्र और उपेंद्र विष्णु देवर और देवरानी सखी लक्ष्मी के सान्निध्य मे मदाकिनी मे जल विहार और स्वर्गोपवन मे क्रीडा मे जो आनद मगल होगा, वह विचार करने के योग्य है । दमयती चतुर है, उसे यह विचार लेना उचित है । अग्नि, वरुण, यम के साथ विवाह करने पर यह सब न मिल सकेगा, और मनुष्य को करने का प्रश्न तो विचारणीय भी नही है । दमयती को तो इन्द्र ही उपयुक्त रहगा । यहा नदनविहार-क्रिया, माधव देवर, लक्ष्मी देवरानी, गुणो का समस्तता के साथ योगपद्य है, अत मल्लिनाथ के अनुसार समुच्चय अलकार है । विद्याधर ने छेकानुप्रास और रूपक अलकार का निर्देश किया है ॥ ८३ ॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद्याच्ञाप्रतिष्ठा लभसे त्वमेव ।
लघूकृतस्वं बलियाचनेन तत्प्राप्तये वामनमामनन्ति ॥ ८४ ॥

जीवातु—रज्यस्वेति । हे भैमि, जगतां राज्ये, त्रैलोक्याधिपत्ये, रज्यस्व अनुरक्ता भव । प्रार्थनायां लोट् । रञ्जे स्वरितेत्वादात्मनेपदम् । इत्येवरूपां

याच्ञा प्रार्थनामेव प्रतिष्ठा गौरवमिन्द्रात्त्वमेव लभसे । तथाहि तस्य त्रैलोक्य-राज्यस्य प्राप्तये लाभाय बलेर्वैरोचनस्य याचनेन लघूकृतमल्पीकृतम्, स्वात्मा येन स विष्णुर्वामन इति गेय । त वामनं ह्रस्वं लघु चामनन्ति । सर्वं विष्णोरपि याच्ञालाघवं प्राप्तम् । प्रार्थना विना तदेव तुभ्यं दीयते देवेन्द्रेणेत्यहो ते माहात्म्यमित्यर्थः । व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कार ॥ ८४ ॥

अन्वय—त्रयता राज्ये राजस्व—इति इन्द्रात् याच्ञाप्रतिष्ठा त्वम् एव लभसे, तत्प्राप्तये बलियाचनेन वामनं लघूकृतस्त्वम् आमनन्ति ।

हिन्दी—त्रिलोकी के राज्य पर राजो—इस प्रकार का इन्द्र से प्रार्थना का गौरव तुम्हें ही मिल रहा है, उस (त्रिलोकी के राज्य) की प्राप्ति के निमित्त (दानवराज) बलि से याचना करने के कारण वामन को अपने को छोटा कर लिया गया माना जाता है।

टिप्पणी—दमयन्ती सम्मुख इन्द्र आज प्रार्थना कर रहा है कि वह त्रिलोकी की रानी बन जाय। ऐसी प्रतिष्ठा दमयन्ती के अतिरिक्त किसी को नहीं मिल सकती। विष्णु ने भी पातालराज बलि से ऐसी याचना की थी, उसके लिए उन्होंने अपने को वामन बनाया, उन्हें भी 'वामन' अर्थात् छोटा कहा जाने लगा। दमयन्ती से तो उसके विपरीत त्रिलोक-राज्य पर सुशोभित होने की प्रार्थना की जा रही है। मल्लिनाथ ने व्यतिरेक के द्वारा दृष्टान्त अलङ्कार का यहाँ निर्देश किया है, विद्याधर ने काव्यलिङ्ग समासोक्ति का ॥८४॥

यानेव देवान्नमसि त्रिकालं न तत्कृतघ्नीकुरुते विरोचिनी ते ।

प्रसीद तानप्यनृणान्विधातुं पतिस्त्वतस्त्वद्वयोस्त्रिसन्ध्यम् ॥ ८५ ॥

जीवातु—यानीति । हे भैमि, यानेव देवानिन्द्रादीन् । त्रय काला यस्मिन् कर्मणि तत् त्रिकालं, यथा तथा । नमसि विनम्य नमस्करोषीत्यर्थः । तेषा देवाना कृतघ्नीकृतिस्तदीयप्रत्युपकारपरिहारेण कृतघ्नकरणं, ते तव, औचिती, औचित्य न । त्वया वा अकृतज्ञा न क्रियन्तामिति भाव । त्रिसृणा सन्ध्याना समाहारस्त्रिसन्ध्यं, सन्ध्यात्रयेऽपीत्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । 'वा टाबन्त' इति नपुंसकत्वम् । त्वत्पत्यो पतिस्तव नमस्करिष्यत तान् देवानप्यनृणान् विधातुं प्रतिप्रणामस्वीकारेण अनृणान् कर्तुं प्रसीद । तान् कृपोऽप्यस्वेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अन्वय —यान् एव देवान् त्रिकाल नमसि तदृतघ्नीकृति ते औचिती न, त्रिसन्ध्य त्वत्पदयो पतिष्यत तान् अपि अनृणान् विधातु प्रसीद ।

हिन्दी—जिन देवो की तुम तीन काल उपासना करती हो, उन्हें कृतघ्न कर देना तुम्हारे लिए उचित नही है, तीनो काल तुम्हारे चरणो पर गिरते उनको भी ऋणमुक्त होने का प्रसाद (प्रसन्नता) दो ।

टिप्पणी—प्रात, मध्याह्न और सन्ध्या का दमयन्ती पूजा करते समय देवो के चरणो मे झुकती है, अत वे उसके ऋणी बनते जा रहे हैं, दमयन्ती-विनमन का यह ऋण वे तभी चुका सकेंगे, जब वे देव भी दमयन्ती के चरणो मे तीन समय प्रणीपात करें। दमयन्ती जिनकी उपासिका है, उन्हें ऋण चुकाने का अवसर न देना तो उसके लिए उचित नही है। दमयन्ती को इस दृष्टि से भी देवो को स्वीकारना चाहिए। इन्द्र वरण करके दमयन्ती देवो को अपने चरणो मे विनम्रता के साथ गिरता देखेगी। वह प्रणम्यो की भी प्रणम्या बन जायेगी, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्या निहितादरेण भैमीगृहीता मघवत्प्रसाद ।
स्रक्पारिजातस्य ऋते नलाशा वासैरशेषामपुपूरदाशाम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—इतीति। इतीत्यमुक्तवत्या शक्रदूत्या। आदरेण निहिता समर्पिता। भैम्या गृहीता स्वीकृता मघवत प्रसादोऽनुग्रहभूता। स्वतस्त्वेन अभिमतेति भाव। पारिजातस्य स्रक्मालिका नलस्याशा तृष्णा दिश च ऋते विना। तस्यास्तस्य (नलस्य) विपरीतशङ्काकरत्वादिति भाव। 'आशा तृष्णादिशो' इति विश्व। यद्यपि, 'अन्यारादितरर्ते' इति ऋतेशब्दयोगाद पञ्चम्येव विहिता, तथापि मतान्तरे द्वितीयाप्यस्तीत्याहु। तथा, 'फलितपुरुषाराधनमृत' इति प्रयोगश्च। अशेषामाशा दिशम्। सर्वा अपीत्यर्थे जात्येकवचनम्। वासैर्निजवासनाभिरपुपूरत् पूरितवती 'पूरी पूरणे' इति चौरादिकस्य धातोरङ्लोपित्वात् 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' इत्युपधाह्रस्वनिषेध। अभ्यासह्रस्व। द्वयोरप्याशयोरभेदाध्यवसायाद्विनोक्तिनिर्वाह ॥ ८६ ॥

अन्वय—इति उक्तवत्या आदरेण निहिता भैमीगृहीता मघवत्प्रसाद पारिजातस्य स्रक् नलाशाम् ऋते अशेषाम् आशा वासै अपुपूरत्।

हिन्दी—ऐसा कहती (इन्द्रदूती) द्वारा आदरपूर्वक दी गयी, भीमपुत्री

द्वारा स्वीकृत, इन्द्र के प्रसाद पारिजात की माला ने नल की आशा को छोड़कर समस्त दिशाओं को सुगन्ध से पूर्ण कर दिया।

टिप्पणी—अपना निवेदन समाप्त करके इन्द्र की दूती ने इन्द्र द्वारा भेजी गयी सुगन्धित पारिजात की माला दमयन्ती को दी, शालीनतावश दमयन्ती ने माला ग्रहण की। इससे दूती और अन्य सखियों को यह प्रतीति हुई कि इन्द्र का प्रस्ताव दमयन्ती को स्वीकार है। नल को इससे निराशा हुई। इस प्रकार उस पारिजात माला ने सर्वत्र अपनी सुगन्ध का प्रसार किया पर नल को वह रुचिकर नहीं लगी। दोनों आशाओं के अपेक्षाध्यवसाय से यहाँ विनोक्ति का निर्वाह है, यह मल्लिनाथ की मान्यता है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षाश्लेष अलङ्कार है ॥८६॥

आर्ये! विचार्यालमिहेति काऽपि योग्यं सखि स्यादिति काचनापि।
ओंकार एवोत्तरमस्तु वस्तु मङ्गल्यमत्रेति च काप्यवोचत् ॥८७॥

जीवातु—आर्य इति। आर्ये भैमि, इहेन्द्रवरणे विचार्यं अलम्। विचारो न कर्तव्य इति कापि सखी अवोचत्। सखि भैमि योग्यमिदं युक्तं स्यादिति काचनाप्यवोचत् अत्र ओंकारोऽङ्गीकार एव मङ्गल्यमुत्तरमुत्तररूपं वस्त्वस्त्विति काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

अन्वय—आर्ये, इह विचार्य अलम्—इति का अपि अवोचत् सखि, योग्य स्यात्—इति काचन अपि, अत्र ओङ्कार एव मङ्गल्यम् उत्तरं वस्तु अस्तु—इति का अपि (अवोचत्)।

हिन्दी—एक सखी ने (दमयन्ती से) कहा आर्ये इस विषय में और विचारना व्यर्थ है, किसी और ने कहा—हे सखी, यही उचित होगा, एक और (सखी) बोली—इस विषय में 'ओङ्कार' (स्वीकृति) ही मङ्गलप्रद उत्तर रूप वस्तु होगा।

टिप्पणी—इन्द्र की दूती के प्रस्ताव को दमयन्ती की सब सखियों ने अत्यन्त उचित और कल्याणकर माना। तीन सखियों द्वारा प्रस्तुत अनुमोदन सर्वसम्मतता सूचित करता है। विद्याधर के अनुसार यहाँ दीपक अलङ्कार है।

अनाश्रवा वः किमहं कदापि वक्तुं विशेषः परमस्ति शेषः।
इतीरिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीश्च मुदामियत्ता ॥ ८८ ॥

जीवातु–अनाथवेति । हे सख्य , अहं कदापि वो युष्माकं, अनाथवा अव चनकारिणी किं, परं किन्तु वक्तुं विशेषः शेषोऽस्ति । किंतु, वक्तव्यशेषः रूपि दस्तीत्यर्थः । इति भीमजया भैम्या, ईरिते उक्ते सति दूतीभिः द्रम्मत्दीयाली· भैमीसखीश्च मुदामियत्ता मितिर्नालिङ्गन्न प्राप्त । स्वोक्तमङ्गीकृत्य तत्र विधि द्वरदानमपेक्षत इति भ्रान्त्या महान्तमानन्दमविन्दतेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

अन्वय —अहं कदापि वः अनाथवा किम् पर वक्तुं विशेष अस्ति—इति भीमजया ईरिते दूतीम् आली च मुदाम इयत्ता न आलिङ्गत् ।

हिन्दी—(दमयन्ती बोली) मैंने कभी तुम्हारे वचनों का पालन नहीं किया क्या, परन्तु कुछ विशेष कहना है (अथवा मैंने कभी क्या, इसम विशेष कहना ही क्या है ?)—ऐसा भीमसुता के कहने पर दूती और सखियो का प्रसन्नता की परिमितता ने आलिंगन नहीं किया—अर्थात् अपरिमित प्रसन्नता ने आलिंगन किया ।

टिप्पणी– दमयन्ती ने सखियों का साधारण शिष्टाचारपूर्ण उत्तर दिया था, किंतु उसके वचन का अनुमोदन समझ कर इन्द्र की दूती और दमयन्ती की सखिया को अपार प्रसन्नता हुई ॥ ८८ ॥

भैमा च दूत्य च न किञ्चिदापमिति स्वयं भावयतो नलस्य ।
आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्नं हृदयारविन्दम् ॥ ८९ ॥

जीवातु–भैमीमिति । भैमीञ्च दूत्यञ्च किञ्चित्किञ्चन नयोरेकश्च । नाप न प्रापम् । आप्नोतेरङि मिप् । स्त्रीरत्नलाभो मा भूत्, परोपकारोऽपि न सिद्ध इत्यर्थः । इति स्वयमात्मनि भावयतो भैमीवित्तवञ्चनभ्रान्त्या चिन्तयतो नलस्य हृदयमेवारविन्दं, तन्मुखेन्दो भैमीमुखचन्द्रस्यालोकमात्रात् दर्शनमात्रात् प्रकाश· मात्राच्च । 'आलोको दर्शनोद्योतौ' इत्यमरः । भिन्नं विदीर्णं विकसितञ्च नाभूद्यदि नाभूत् किम् । तन्मुखदर्शनादनया विश्वास्य हृतोऽस्मीति विदीर्णहृदयोऽ- भूदेवेत्यर्थः । इन्दुप्रकाशात् कथमरविन्दविकास इति विरोधश्च ध्वन्यते ॥८९॥

अन्वय —भैमी दूत्य च किञ्चित् न आपम्–इति स्वयं भावयतो नलस्य हृदयारविन्द यदि भिन्नं न अभूत्, तन्मुखेन्दो आलोकमात्रात् ।

हिन्दी—भीमपुत्री और दूतकर्म–कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ—इस प्रकार स्वयं विचारते नल का हृदय कमल यदि विदीर्ण न हुआ, तो वह उस (दमयन्ती) के मुख चन्द्र के दर्शन होते रहने के कारण ही ।

टिप्पणी—उपर्युक्त वृत्तान्त को देखने सुनने समझने नल को इतना दुःख हुआ कि उसका हृदय कमल के समान विदीर्ण हो जाना उचित था, क्योंकि उसे लगा कि न तो दमयन्ती ही उसे मिली और न देवदूत-कार्य का ही सफल सम्पादन हो सका, परन्तु ऐसा इसलिए न हुआ क्योंकि उसके सम्मुख दमयन्ती का मुखचन्द्र था। चन्द्र के सम्मुख रहने से कमल भिन्न अर्थात् विकसित नहीं होता। यों सामान्यतः दमयन्ती का मुख देखने से नल का हृदय हर्ष से खिल जाना चाहिए था, परन्तु उपर्युक्त निराशाजनक स्थिति से वैसा भी नहीं हुआ। भाव यह है कि नल को उक्त प्रसंग के कारण दुःख तो बहुत हुआ, पर हृदय फट ही नहीं गया। यह कदाचित् इसलिए नहीं हुआ कि प्रिया मुख सम्मुख था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोध ध्वनित होता है कि इन्दु-प्रकाश से कहाँ अरविन्द विकास होता है? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षात्मक अलंकार।" ८९ ॥

ईषत्स्मितक्षालितसृक्किभागा दृक्संज्ञया वारिततदालिः ।
स्रजा नमस्कृत्य तयैव शक्रं तां भीमभूरुत्तरयाञ्चकार ॥ ९० ॥

जीवातु—ईषदिति । भीमभूः भैमी, ईषत्स्मितेन मन्दहासेन क्षालितौ धौतौ सृक्किणी ओष्ठप्रान्तावेव भागौ यया सा सती । 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी' इत्यमरः । दृक्संज्ञयैव वारिता निषिद्धा आली पूर्वोक्तविरुद्धप्रलापिन्य आलयः तस्य यया सा च सती । तयैवेन्द्रदूतीदत्तया स्रजा सहैव । 'वृद्धो यूना' इति सूत्रकाप्ययोगादेव ज्ञापकात् सहशब्दाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया । शक्रं नमस्कृत्य, स्रजं शक्रं च नमस्कृत्येत्यर्थः । न तु तामवजानीकृत्य । तस्य नमस्य धीत्वान्निति भावः । तामिन्द्रदूतीमुत्तरयाञ्चकार उत्तरमाचष्ट । 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच् ॥ ९० ॥

अन्वय—ईषत्स्मितक्षालितसृक्किभागा दृक्संज्ञया वारिततदालिः भीमभूः तया स्रजा एव शक्रं नमस्कृत्य ताम् उत्तरयाञ्चकार ।

हिन्दी—मन्द मुसकान से सृक्किणी (ओष्ठप्रदेश) को प्रक्षालित करती और दृष्टि के संकेत से उन-उन अपनी (इन्द्र-वरण का अनुमोदन करने वाली) सखियों का निवारण करती भीमसुता (दमयन्ती) ने उसी माला से इन्द्र को नमस्कार करके उसे (इन्द्रदूती को) उत्तर दिया ।

टिप्पणी—प्रसन्नता से उछलती सखियों को दमयन्ती ने नेत्र संकेत से रोका और मंद-मंद मुसकाते हुए शक्र द्वारा उपहार में भेजी माला को भक्ति भाव से इन्द्र प्रणाम का साधन बना इन्द्रदूती को उत्तर दिया। भक्तिभाव प्रदर्शित करके एक प्रकार से दमयन्ती ने दूती को निषेधात्मक संकेत कर दिया। यदि इन्द्र का वरण उसे स्वीकार होता तो माला के प्रति प्रणय व्यवहार दिखा उसे हृदय से लगाती, पर उसने ऐसा नहीं किया। प्रणाम करके इन्द्र के प्रति भक्ति प्रकट की ॥ ९० ॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्य वक्तु कियत्तद्यदि वेद वेद ।
वृथोत्तरं साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्तुताविति । हे दूति मघोन इन्द्रस्य स्तुतौ विषये साहसिक्यं साहसमविमृश्यकारित्वं त्यज, न स्तुहीत्यर्थः । कुत अशक्यत्वादित्याह—तत् शक्र कियदल्प वक्तु वेदयतीति वेद, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नान्य । अत स्तुतेर्विरमेति भाव । तर्हि किमस्योत्तरं तत्राह—नृणा हृत्सु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षाद् द्रष्टरि सज्ञायाम्' इति इनिप्रत्यय । तस्मिन्मघोनि अज्ञातृनज्ञान् विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम् । मम सम्बन्ध्युत्तरमपि वृथा । अज्ञस्योत्तरा पाक्षा न सर्वज्ञस्येति भाव ॥ ९१ ॥

अन्वय—मघोन स्तुतौ साहसिक्य त्यज, तत् कियत् वक्तु वेद वेद, नृणा हृत्सु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तरं वृथा ।

हिन्दी—(दमयन्ती ने दूती से कहा)—इन्द्र की स्तुति करने का साहस न करो, उसके विषय में कुछ कहना वेद ही जानता है (अन्य कोई नहीं)। मनुष्यों के हृदय में साक्षीभूत उस (इन्द्र) के प्रति न जाननेवालों को सूचित करने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ है।

टिप्पणी—अत्यन्त चतुरता के साथ दमयन्ती ने इन्द्र की दूती को उत्तर दिया। उसने प्रकट कर दिया कि इन्द्र का महिमान गान दूती व्यर्थ ही कर रही है, क्योंकि वह तो अवर्णनीय है, अपरिमित। सर्व वर्णन क्षम वेद ही यदि कर सके तो कर सकता है। इसके अतिरिक्त दमयन्ती इन्द्र-सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित है। दमयन्ती ने कहा कि इन्द्र तो सब के हृदय का भाव

जानते हैं। बताया तो उसे जाता है, जो हृद्गत न समझता हो। इन्द्र तो सब के हृदय में विराजमान हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है, उन्हें क्या बताना? भाव यह है कि दमयन्ती का अनुराग किस पर है, यह इन्द्र को विदित है। उन्हें कुछ बताना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥९१॥

आज्ञां तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुदेतु जिह्वा ।
मुग्धा तु तां मूर्ध्नि निधाय मालां बालापराध्यामि विशेषवाग्भिः ॥९२॥

जीवातु—तथाप्यविनयपरिहाराय किञ्चिद्विज्ञापयन्ती न्त्याह—आज्ञामिति । तदीयामैन्द्रीमाज्ञामनु तामुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो नञुच्चारणमेव पारुष्यमुदेतु प्राप्नुयात् । न कोऽपि तदाज्ञोल्लङ्घनसाहसिनोऽस्तीत्यर्थः । किन्तु बाला शिशुरहं मुग्धा नम्रा सती तामाज्ञामेव मालां मूर्ध्नि निधाय, विशेषवाग्भिरतिवाग्भिरपराध्यामि अपराधं करोमि । स च बालचापल्यात् क्षन्तव्य इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अन्वय—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नकारपारुष्यम् उदेतु, बाला मुग्धा तु तां मालां मूर्ध्नि निधाय विशेषवाग्भिः अपराध्यामि ।

हिन्दी—उस (इन्द्र) के आदेश के प्रति किसकी जिह्वा अस्वीकृति की कठोरता प्राप्त कर सकती है ? (किसी की नहीं)। मैं (अज्ञान) बाला विनम्रतापूर्वक उस (आज्ञा-रूपिणी) माला को शिरोधार्य कर अधिक वचन कह कर अपराध कर रही हूँ।

टिप्पणी—महामहिमशाली इन्द्र का आदेश अनुल्लङ्घनीय है। दमयन्ती जो कुछ विनम्रतापूर्वक उनकी आज्ञा के विषय में कहने की धृष्टता कर रही है, अबोध बालिका समझ कर वह क्षम्य माना जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते ।
भवत्युपाये प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्यसर्जि ॥ ९३ ॥

जीवातु—तप इति । तपःफलत्वेन इन्द्रोपासनरूपस्य तपसः फलत्वेनोपलम्भिता फलभूतेत्यर्थः । इयं मत्सारिजिघृक्षाख्या कृपा हरेरिन्द्रस्य । इमं जनं मां तपस्येव पुनरपीन्द्रोपासनायामेव नियुङ्क्ते प्रेरयति । 'स्वराद्यन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम्' इत्यात्मनेपदम् । ननु महदेतत्फलं प्राप्तं किं तपसेत्याशङ्क्य, तत्राह,

टिप्पणी—प्रसन्नता से उछलती सखियो को दमयन्ती ने नेत्र संकेत से रोका और मद-मद मुसकाते हुए शक्र द्वारा उपहार मे भेजी माला को भक्ति-भाव से इन्द्र प्रणाम का साधन बना इन्द्रदूती को उत्तर दिया। भक्तिभाव प्रदर्शित करके एक प्रकार से दमयती ने दूती को निषेधात्मक सकेत कर दिया। यदि इन्द्र का वरण उसे स्वीकार होता तो माला के प्रति प्रणय-व्यवहार दिखा उसे हृदय से लगाती, पर उसने ऐसा नही किया। प्रणाम करके इन्द्र के प्रति भक्ति प्रकट की ॥ ९० ॥

स्तुतौ मघोनस्त्यज साहसिक्य वक्तु कियत्त यदि वेद वेद ।
वृथोत्तर साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्तुताविति। हे दूति, मघोन इन्द्रस्य स्तुतौ विषये साहसिक्य साहसमविमृश्यकारित्व त्यज, न स्तुहीत्यर्थ । कुत अशक्यत्वादित्याह—त शक्र कियदल्प वक्तु वेदयतीति वेद, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नान्य । अत स्तुतेर्विरमेति भाव । तर्हि किमस्योत्तर तत्राह—नृणा हृत्सु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षाद् द्रष्टरि सज्ञायाम्' इति इनिप्रत्यय । तस्मिन्मघोनि अज्ञातृनज्ञान् विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम्। मम सम्बन्ध्युत्तरमपि वृथा। अज्ञस्योत्तरा-काक्षा न सर्वज्ञस्येति भाव ॥ ९१ ॥

अन्वय—मघोन स्तुतौ साहसिक्य त्यज, त कियत् वक्तु वेद वेद, नृणा हृत्सु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तर वृथा।

हिन्दी—(दमयन्ती ने दूती से कहा)—इन्द्र की स्तुति करने का साहस न करो, उसके विषय मे कुछ कहना वेद ही जानता है (अन्य कोई नही)। मनुष्यो के हृदय मे साक्षीभूत उस (इन्द्र) के प्रति न जाननेवालो को सूचित करने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ है।

टिप्पणी—अत्यन्त चतुरता के साथ दमयन्ती ने इन्द्र की दूती को उत्तर दिया। उसने प्रकट कर दिया कि इन्द्र का महिमान गान दूती व्यर्थ ही कर रही है, क्योकि वह तो अवर्णनीय है, अपरिमित। सर्व वर्णन क्षम वेद ही यदि कर सके तो कर सकता है। इसके अतिरिक्त दमयती इन्द्र-सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित है। दमयन्ती ने कहा कि इन्द्र तो सब के हृदय का भाव

जानते हैं। बताया तो उसे जाता है, जो तद्गत न समझता हो। इन्द्र तो सब के हृदय में विराजमान हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है, उन्हें क्या बताना? भाव यह है कि दमयन्ती का अनुराग किस पर है, यह इन्द्र को विदित है। उन्हें कुछ बताना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥९१॥

आज्ञा तदीयामनु कस्य नाम नकारपारुष्यमुपैतु जिह्वा।
प्रह्वा तु ना मूर्ध्नि निधाय माला वाला पराध्यामि विशेषवाग्भिः ॥९२॥

जीवातु—तथाप्यविनयपरिहाराय किञ्चिद्विज्ञापयामीत्याह—आज्ञामिति। तदीयामाज्ञामाज्ञामनु तामुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो निषेधवारणमेव पारुष्यमुपैतु प्रतिपेदनरीत्य भजेत्। न कोऽपि तदाज्ञोल्लङ्घनसाहसिनोऽस्तीत्यर्थः। किन्तु बाला शिशुरहं प्रह्वा नम्रा सती तामाज्ञामेव माला मूर्ध्नि निधाय, विशेषवाग्भिरतिवाग्भिरपराध्यामि अपराधं करोमि। स च बालचापलात् सोढव्य इत्यर्थः ॥ ९२ ॥

अन्वय—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नकारपारुष्यम् उपैतु, बाला प्रह्वा तु माला मूर्ध्नि निधाय विशेषवाग्भिः अपराध्यामि।

हिन्दी—उस (इन्द्र) के आदेश के प्रति किसकी जिह्वा अस्वीकृति की कठोरता प्राप्त कर सकती है? (किसी की नहीं)। मैं (अज्ञान) बाला विनम्रतापूर्वक उस (आज्ञा-रूपिणी) माला को शिरोधार्य कर अधिक वचन कह कर अपराध कर रही हूँ।

टिप्पणी—महामहिमशाली इन्द्र का आदेश अनुल्लङ्घनीय है। दमयन्ती जो कुछ विनम्रतापूर्वक उनकी आज्ञा के विषय में कहने की धृष्टता कर रही है, अतः उसे बालिका समझ कर वह क्षम्य माना जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरेः कृपेयमिमं तपस्येव जनं नियुङ्क्ते।
भवत्युपायं प्रति हि प्रवृत्तावुपेयमाधुर्यमधैर्यमज्ञि ॥ ९३ ॥

जीवातु—तप इति। तपःफलत्वेन इन्द्रोपासनरूपस्य तपसः फलत्वेनोपलक्षिता फलभूतेत्यर्थः। इयं मत्परिजिघृक्षारूपा कृपा हरेरिन्द्रस्य। इमं जनं मां तपस्येव पुनरपीन्द्रोपासनायामेव नियुङ्क्ते प्रेरयति। 'स्वराधन्तोपसृष्टादिति वक्तव्यम्' इत्यात्मनेपदम्। ननु महदेतत्फलं प्राप्तं किं तपसेत्याशङ्क्य, स्वयम्,

तदेव स्वादु करतुमित्याह–भवतीति । हि यस्मादुपाय प्रति प्रवृत्तौ साधनगोचर-प्रवृत्तौ विषये उपेयस्य साध्यस्य माधुर्यं स्वादुत्वमेव, अधैर्यमस्थैर्यं सज्जयति कारयतीत्यधैर्यसज्जि भवति । पुन साधनप्रवृत्तिचापल कारयतीत्यर्थं । सिद्धान्तस्योपस्कार=(उपदेश) प्रवृत्तिफलमेव प्रवृत्तिरिति भाव ॥ ९३ ॥

अन्वय –हरे इयं कृपा तप फलत्वेन इम जन तपसि एव नियुङ्क्ते, हि उपाय प्रति प्रवृत्तो उपेयमाधुर्यम अधैर्यसज्जि भवति ।

हिन्दी–इन्द्र की यह कृपा तप का फल होने के कारण इस जन (दमयन्ती) को तप में ही नियुक्त कर रही है, कारण कि उपाय के प्रति प्रवृत्ति होने मे उपेय (फल) का माधुर्य (स्वाद) अधैर्यकारिणी होती है ।

टिप्पणी–दमयन्ती के कथन का भाव है कि इन्द्र जो कृपापूर्वक उससे विवाह करना चाहते है, ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसके अब तक किये तप का फल है । अब वह तुरन्त पुन तपस्यारत होना चाहती है, क्योंकि उससे उसे और भी बड़ा फल प्राप्त हो सकेगा अर्थात् नल की उपलब्धि हो सकेगी । नल की प्राप्ति रूप फल इतना मधुर है कि उसके लिए साधनारत होने मे दमयन्ती को अब विलम्ब असह्य है ॥ ९३ ॥

शुश्रूषिताहे तदहं तमेव पतिं मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि ।
विशेषलेशोऽयमदेवदेहमद्यागतं तु क्षितिभृत्तयेह ॥ ९४ ॥

जीवातु–फलितमाह–शुश्रूषिताह इति । तत्तस्मादयियादह तमिन्द्रमेव पति शुश्रूषिताह सेविष्ये । 'शुश्रूषा श्रोतुमिच्छायां परिचर्याविधानयो ' इति विश्व । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशा सन ' इति श्रृणोते सन्नन्तात्तङि लुट् । तास सकारस्य हकार । किंतु मुदेऽपि सन्तोषाय च व्रतसम्पदेऽपि पातिव्रत्यसम्पत्त्यर्थेञ्च क्षितिभृत्तया राजत्वेन इह कल्मिषिवन्तरे अधेन मायया आगतमवतीर्णम् । 'अष्टाभिश्च सुरेन्द्राणा मात्राभिर्निर्मितो नृप ' इति स्मरणात् । अत एव, अदेवदेह देवदेहर-हित मानुषविग्रह सन्तम् । न तु साक्षादिति शेष (त शुश्रूषिताह इति पूर्वे-णान्वय) । अय विशेषलेशोऽणीयान् भेद । स च सोढव्य अन्यथा मे व्रतलोप स्यादिति भाव ॥ ९४ ॥

अन्वय –तत् अह मुदे अपि व्रतसम्पदे अपि क्षितिभृत्तया इह अद्यागतम् अदेवदेह तम् एव पतिं शुश्रूषिताहे–अयं विशेषलेश ।

हिन्दी—(दमयन्ती ने आगे कहा) सो मैं प्रसन्नता और पातिव्रत-सम्पदा दोनों ही के निमित्त राजा के रूप में यहाँ (पृथ्वी पर) अंश रूप में आये मनुष्य देहधारी उस (इन्द्र) की ही पति रूप में सेवा करना चाहती हूँ – यही बात की विशिष्टता है।

टिप्पणी – दमयन्ती ने कहा कि वह इन्द्र को ही वरना चाहती है, इसमें ही उसे हर्ष होगा और एकपति की ही सेवा करने का व्रत-परिपालन भी सिद्ध होगा, किन्तु थोड़ी-सी विशेषता यह होगी कि वह देव इन्द्र को नहीं, नर रूप में इस धरती पर आये इन्द्रांश राजा नल को वरेगी। राजा लोक-पालों का अंश होता है, अतः राजा नल भी इन्द्र रूप ही है। मानुषी दमयन्ती मानुष इन्द्र को वरेगी—यही उचित होगा। इन्द्र की आज्ञा का पालन तो होगा, पर थोड़े-से, अतएव क्षम्य, परिवर्तन के साथ। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार॥ ९४॥

अश्रौषमिन्द्रादरिणी गिरस्ते सतीव्रतातिप्रतिलोमनीव्राः ।
स्वं प्रागहं प्रादिषि नामराय किं नाम तस्मै मनसा नराय ॥ ९५ ॥

जीवातु—अथ व्रतलोपस्तदाह—अश्रौषमिति। हे इन्द्रदूति ! सतीव्रतस्य पतिव्रताधर्मस्य अतिप्रतिलोमा अत्यन्तप्रतिकूला। अत एव तीव्रा दुःश्रवाश्च। ते गिरः इन्द्रे आदरिणी आदरवती अश्रौषम्, इन्द्रो महती देवतेति भयगौरवा-च्छ्रुतवत्यस्मि न तु, रागादिति भावः। कथं तर्हि तमेव पतिं भजिष्यामीत्युक्त-त्वात्तत्राह—प्राक् पूर्वमहं स्वमात्मानं, अमराय देवात्मने तस्मै इन्द्राय न प्रादिषि न प्रादा नाम। किन्तु नराय नररूपिणे तयोरभेदाश्च—नराय च तस्मै मनसा प्रादिषि। ददातेर्लुङि। 'स्थाघ्वोरिच्च' इतीकारः। अतः कायादिन्द्रवरणे मम व्रतलोपः स्यादेवेत्यर्थः॥ ९५॥

अन्वय—इन्द्रादरिणी सतीव्रतातिप्रतिलोमतीव्राः ते गिरः अश्रौषम्, प्राक् अहं अमराय तस्मै न प्रादिषि, किं नाम मनसा नराय।

हिन्दी—इन्द्र के प्रति आदर रखने वाली मैं सतीव्रत के अत्यन्त विरुद्ध (अतएव) दुःसह तेरी वाणी सुनती रही। पहिले मैंने उस देव (इंद्र) को (स्वयम्) को नहीं दिया था, किन्तु मन से नर को दिया।

टिप्पणी—कोई पतिव्रता ऐसे वचन नहीं सुन सकती, जो उसके प्रतिकूल

हो। दमयन्ती ने कहा कि इन्द्रदूती के वचन जो वह सुनती रही, वह केवल इन्द्र के प्रति सम्मान रखने के कारण। वास्तविकता यह है कि दमयन्ती पहिले ही इन्द्ररूप नर (र-ल मे अभेद से नल) को मन मे वर चुकी है। अब वह अन्य को प्रतिरूप मे वरने की बात सुन भी नही सकती। उसका पति मानवरूप मे उपस्थित इन्द्र नल है, अमर देवेन्द्र नही ॥ ९५ ॥

तस्मिन्विमृश्यैव वृते हृदैषा नैन्द्री दया मामनुतापिकाभूत् ।
निर्वाणकाम भवसम्भवाना धीर सुखानामवधीरणेव ॥ ९६ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति। तस्मिन् नरे हृदा हृदयेन, विमृश्यैव वृते सति इदमेव साध्विति सम्यङ्निश्चित्यैव प्रवृत्तेरित्यर्थः। एषा ऐन्द्री, दया परिजिघृक्षालक्षणा कृपा। निर्वाणकाम मोक्षकामम, इदमेव साध्विति निश्चित्य मोक्षे प्रवृत्तमित्यर्थ। 'मुक्ति कैवल्यनिर्वाण' इत्यमर। धीरं निर्विकारचित्तं विद्वांसम्। भवसम्भवाना सुखानाम्, अवधीरणा सांसारिकसुखसन्यास एव ममानुतापिका हा कष्टममापहृतामपि मम पश्चात्तापकारिणी माभूत्। 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययो' इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मिन् हृदा विमृश्य एव वृते एषा ऐन्द्री दया निर्वाणकाम धीर भवसम्भवाना सुखानाम् अवधीरणा इव माम् अनुतापिका न अभूत्।

हिन्दी—उस (नल) को मन से ठीक से विचार कर वर लेने पर यह इन्द्र की दया निर्वाण (मोक्ष) की कामना करते निर्विकारचित (विद्वान्) को ससार मे उत्पन्न सुखो की अवज्ञा सदृश मुझ (दमयती) को सन्ताप कारिणी न हुई।

टिप्पणी—दमयती ने कहा कि अब जो इन्द्र महाराज का विवाह प्रस्ताव आया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्वीकार्य है और किसी विवाहार्थिनी तरुणी को इस पर मोह हो सकता है, किंतु मैंने तो विचारपूर्वक नल को हृदय से वर लिया है। मुझे अपने इस कृत्य पर कोई पश्चात्ताप नही है। मेरी स्थिति तो वैसी ही है, जैसी मोक्ष कामना करने वाले व्यक्ति की सांसारिक मोहक पदार्थों के प्रति होती है। जैसे मोक्षार्थी को ससार के सुखो का त्याग करने में कोई अनुताप नही होता, वैसे ही मुझ दमयती को भी नल के समुख ऐश्वर्य का मोह नहीं है—न इन्द्र राज्य का, न नन्दन कानन का, न लक्ष्मी के

साहचर्य है। मैंने विवेकी व्यक्ति के समान बहुत सोच विचार कर नल का वरण स्वीकारा है ॥ ९६ ॥

> वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ।
> तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः ॥ ९७ ॥

जीवातु—विमृश्य वृतमित्युक्तमर्थमेव विमर्शप्रकारमेव श्लोकचतुष्टयेनाह—वर्षेष्वित्यादि। आर्यधुर्याः श्रेष्ठा आश्रमेषु ब्रह्मचर्यादिषु चतुर्षु गार्हस्थ्यं गृहस्थाश्रममिव। वर्षेष्विलावृतादिषु नवसु यद्भारतवर्षं स्तुवन्ति प्रशंसन्ति। तत्र भारतवर्षे अहं पत्युर्वरिवस्यया शुश्रूषया। 'वरिवस्या तु शुश्रूषा' इत्यमरः। वरिवस्यते क्यजन्तात् 'अ प्रत्ययात्' इति अकारप्रत्यये टाप्। शर्मोर्मिभिः सुखपरम्पराभिः, किर्मीरितं चित्रितं तत्सहचरधर्मं लिप्सुर्लब्धुमिच्छुरस्मि। 'धर्मः शातसुखानि च'। 'चित्रं किर्मीरकल्माषशबलैताश्च कर्बुरे' इति चामरः ॥९७॥

अन्वय—आर्यधुर्याः आश्रमेषु गार्हस्थ्यम् इव वर्षेषु यत् भारतं स्तुवन्ति, तत्र अहं पत्युः वरिवस्यया शर्मोर्मिकिर्मीरितधर्मलिप्सुः अस्मि।

हिन्दी—आर्यों में श्रेष्ठ (विचारक) आश्रमों में गृहस्थाश्रम के समान वर्षों के मध्य जिस भारत की स्तुति करते हैं, उस (भारतवर्ष) में मैं पति (नल) की शुश्रूषा द्वारा सुख की तरंगों (परम्पराओं) से मिश्रित धर्म का अभिलाष करती हूँ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्पष्ट कर दिया कि वह इलावृतादि खंडों के मध्य श्रेष्ठ जम्बूद्वीप के नवमांश भारत खंड में ही रहना चाहती है, जिसे मनु आदि विचारकों ने सब वर्षों के मध्य उसी प्रकार उत्तम बताया है, जिस प्रकार कि चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) आश्रमों के मध्य गृहस्थाश्रम को। दमयन्ती की कामना है कि वह सब देशों में श्रेष्ठ भारत में ही रहकर श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम का परिपालन करती हुई सुख और धर्म का भोग करे। विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकार।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता के विषय में मनु का कथन है—'यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥ यस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥'

—मनुस्मृति (३।७७–७८)

हेमचन्द्राचार्य ने भारत को प्रथम वर्ष बताया है—

'भारतं प्रथमं वर्षं ततः किम्पुरुषं स्मृतम्। हरिवर्षं तथैवान्यन्मेरोर्दक्षिणतो द्विज ॥ रम्यकं चोत्तरं वर्षं तस्यैवानु हिरण्मयम्। उत्तराः कुरवश्चैव यथा वै भारतं तथा ॥ भद्राश्वं पूर्वतो मेरोः केतुमालं तु पश्चिमे। नवसाहस्रमेकैकमेतेषां द्विजसत्तम' ॥ (अभि० चिन्ता० ४।१३) ॥ ९७ ॥

स्वर्गे सतां शर्म परं न धर्मा भवन्ति भूमाविह तच्च ते च।
इष्टयापि तुष्टिः सुकरा सुराणां कथं विहाय त्रयमेकमीहे ॥ ९८ ॥

जीवातु—ननु स्वर्गेऽपि सुधर्मा स्यात् इत्यत्र आह—स्वर्ग इति। स्वर्गे सतां स्वर्गवासिनामित्यर्थः। शर्म परं सुखमेव (अस्ति)। धर्माः सुकृतानि न भवन्ति। इहास्यां भूमौ तच्छर्म च ते धर्माश्च भवन्ति सम्भवन्ति। किञ्चेह इष्टया यागेन सुराणां तुष्टिरपि सुकरा सुसम्पाद्या। एवं सति कथं त्रयं शर्मधर्मतुष्टिरूपं विहायैकं सुखमीहे। न चैतत् प्रेक्षावत्कृत्यमिति भावः। तस्मात् स्वर्गादपि भूलोक एव श्लाघ्य इत्यर्थः ॥ ९८ ॥

अन्वय—स्वर्गे सतां परं शर्म धर्मा न, इह भूमौ तत् च ते च भवन्ति, इष्टया सुराणां तुष्टिः अपि सुकरा, कथम् त्रयं विहाय एकम् ईहे ?

हिन्दी—स्वर्गवासियों को केवल सुख मिलता है, धर्म नहीं। इस धरती (मृत्युलोक-भारतवर्ष) में वह (सुख) और वे (धर्म) भी होते हैं। यज्ञ द्वारा देवों को सन्तुष्ट करना भी सरल है। (ऐसी स्थिति में) क्यों मैं तीन (सुख, धर्म, यज्ञ द्वारा देव तुष्टि) को छोड़ एक (सुख) की कामना करूँ ?

टिप्पणी—श्रीमद् भागवत में इसी कारण भारत की श्रेष्ठता का गान किया गया है कि यह सुख-भूमि होने के साथ साथ कर्मभूमि भी है, जो स्वर्ग नहीं है। स्वर्ग तो केवल पुण्य-सुख भोगने का स्थान है, धर्माचरण करके पुण्यार्जन का स्थान तो यह भारत भूमि ही है। यज्ञ करके यहीं देवों को प्रसन्न भी किया जाता है। दमयन्ती इसी तर्क का आश्रय लेकर इन्द्र को छोड़ नल को वरने का औचित्य स्थापित करती है। इन्द्र को वरने से केवल सुख मिल सकेगा, नल को वरने से तीनों—सुख, धर्म, देवतुष्टि। विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ९८ ॥

साधोरपि स्वः खलु गामिताधोगामी स तु स्वर्गमितः प्रयाणे ।
इत्यायतिं चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोरुदर्कः किमु शर्करे न ॥ ९९ ॥

जीवातु—स्वर्लोकाद् भूलोक एव श्रेयानित्याह—साधोरिति । किञ्च, साधोः सुकृतिनोऽपि स्वः स्वर्लोकोऽधोगामिता गमिष्यता खलु । (साधुरपि कदाचिदध एवेत्यर्थः ।) स साधुर्लोकोऽस्माद् भूलोकात् प्रयाणे तु स्वर्गगामी गमिष्यति । 'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' इति गीतावाक्यात् । 'भविष्यति गम्यादयः' इति गमिनृन्तस्य भविष्यदर्थता । 'अकेनो' इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया । इतीयन्तमायतिमुत्तरकालम् । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । हृदि चिन्तयतो विवेकिनो द्वयोः स्वर्भूलोकयोः उदर्कमुत्तरफलम् । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः । द्वे शर्करे न किमु, शर्करे एवेत्यर्थः । एका शर्करा (दृषत्कणमयी) चिन्ताकरत्वाया, मृष्टापरा अपरापीक्षुविकारः । तत्र कष्टाह्लादप्रदत्वात् द्वे शर्करे, तत्कल्पावित्यर्थः । अत एव निदर्शनालङ्कारभेदः । 'शर्करा खण्डविकृतावुपले कर्कराशयो' इति विश्वः ॥ ९९ ॥

अन्वय—साधो अपि स्वः अधोगामिता खलु, स तत्र प्रयाणे तु स्वर्गगामी इति आयतिं चिन्तयतः हृदि द्वयोः उदर्कः द्वे शर्करे न किमु ?

हिन्दी—साधु—धार्मिक का भी स्वर्ग से नीचे आना निश्चित है और वह (पुण्यात्मा) यहाँ (धरती) जाने पर स्वर्ग जाता है। इस प्रकार अंतिम परिणाम विचारनेवाले के हृदय में दोनों (स्वर्ग और मृत्युलोक) के उत्तरवर्ती परिणाम क्या दो शर्कराएँ (कंकड़ और शक्कर) नहीं हैं ?

टिप्पणी—स्वर्ग में निवास की अपेक्षा पृथ्वी पर रहना अच्छा और उपयुक्त है—इस तथ्य की अन्य ढंग से पुष्टि की गयी। पुण्यात्मा सज्जन स्वर्ग में रहकर पुण्य क्षीण होने पर पुनः निम्न लोक में निश्चयतः आता है। श्रीमद् भगवद् गीता (९।२१) में बताया गया है कि पुण्यात्मा जन विशाल स्वर्गलोक भोग कर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आते हैं। इसके विपरीत मृत्युलोक से जाने पर पुण्यशाली स्वर्ग जाता है। स्वर्ग वास का उत्तरफल है अधःपात—कंकड़ के समान कठोर और कष्टदायी, और पृथ्वी-वास का फल है, स्वर्ग-प्राप्ति, ऊपर उठना। शक्कर के समान कोमल और मीठा। इस प्रकार

सिद्ध हुआ कि पृथ्वी वास का परिणाम अच्छा होता है। सो पृथ्वी वास ही उचित है। इस श्लोक में क्रम से दो उदर्कों (उत्तरफलों) को दो शर्करा—द्विशर्कराकल्प कहा गया है, अत: मल्लिनाथ के अनुसार निदर्शना अलंकार है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार का संकर है ॥ ९९ ॥

प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान्न तिष्ठत्युपतिष्ठते य ।
बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्पं धीरस्तमापातसुखोन्मुखं क ॥ १०० ॥

जीवातु—प्रक्षीण इति। किंच यो नाक कर्मकृष्टे कर्मार्जिते आयुषि प्रक्षीणे सत्येव नरान् मनुष्यानुपतिष्ठते सङ्गच्छते। तिष्ठति सति नोपतिष्ठते 'उपाद्देवपूजा' इत्यादिना सङ्गतिकरणे तङ्। आपाते प्रारम्भे, सुखोन्मुख सुखप्रवण, न तु परिणाम इत्यर्थ। अत एव अपथ्यकल्प अपथ्यान्नसदृश, त नाक, स्वर्ग धीरो धीमान्, क बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति। अपथ्यान्नभोजनवदासन्नमरणाधिकार नाकभोग कस्मै नाम रोचत इत्यर्थ ॥ १०० ॥

अन्वयः—य कर्मकृष्टे आयुषि प्रक्षीणे एव नरान् उपतिष्ठते तिष्ठति न, क धीर आपातसुखोन्मुखम् अपथ्यकल्प त नाक बुभुक्षते ?

हिन्दी—जो (स्वर्ग) कर्मों से प्राप्त आयु के क्षीण होने पर ही मनुष्यों को मिलता है, (आयु) वर्तमान होने पर नहीं, (अथवा 'य कर्मकृष्टे आयुषि तिष्ठति एव नरान् उपतिष्ठते, प्रक्षीणे न' अन्वय करने पर—जो पुण्यकर्मार्जित आयु के विद्यमान रहने पर ही प्राप्त रहता है, पुण्य क्षीण होने पर नहीं), कौन विवेकी (व्यक्ति) अविचारित सुखकारी, अपथ्य भोज्य के समान उस स्वर्ग को भोगना चाहेगा ? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—स्वर्ग प्राप्त, आयु के क्षीण होने पर—मरने पर ही मिलता है, पीछे भी नहीं, अत एव वह अविचारित सुख है—कल्पनामात्र है, जब कि धरती पर रहने का सुख समग्र भूपा अर्थात् वास्तविक है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-वास स्थिर भी नहीं है, पुण्य समाप्त हुए कि वहाँ से हटना ही होगा। दोनों दृष्टियों से पृथ्वी वास ही उपयुक्त है। यहाँ का सुख भी वास्तविक है और पुण्यक्षीणता का भी भय नहीं। अतः देवेन्द्र के वरण की अपेक्षा पृथ्वीइन्द्र का वरण ही अच्छा है। स्वर्गवास तो अपथ्य-भोजन के तुल्य है, जिसकी परिणति कष्टप्रद होती है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ १०० ॥

इतीन्द्रदूत्या प्रतिवाचमर्धे प्रत्युह्य सैषामिदधे वयस्याः।
किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजितार्पनिद्रद्दलपङ्कजास्या ॥ १०१ ॥

जीवातु—इतीति। सैषा भैमी, इतीत्थमिन्द्रदूत्या विषये, प्रतिवाचं प्रत्युत्तरम्। अर्धे प्रत्युह्य मध्ये मध्ये निरुध्य, असमाप्यैवेत्यर्थः। 'उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः' इति ह्रस्वः। किञ्चिद्विवक्षया यत्किञ्चिद्वक्तुमिच्छया, उल्लसत स्फुरत, ओष्ठस्य लक्ष्म्या शोभया जितमनिद्रद्दलं विकसत्पत्रं यस्य तत्। अपनिपूर्वाद् द्राते शतृप्रत्ययः। तच्च तत्पङ्कजञ्च तदिव आस्यं यासां ता वयस्याः सखीः अभिदधे उवाच। दधातेः कर्तरि लिटि तङ् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—इति इन्द्रदूत्या प्रतिवाचम् अर्धे प्रत्युह्य सा एषा किञ्चिद्विवक्षोल्लसदोष्ठलक्ष्मीजितार्पनिद्रद्दलपङ्कजास्या वयस्या अभिदधे।

हिन्दी—इन्द्र की दूती को दिये जाते प्रत्युत्तर को आधे में रोककर वह यह (दमयती) कुछ कहने की इच्छा से स्फुरित होते ओष्ठों की शोभा से विकसित पत्ता वाले कमलों के जयी मुखों वाली सखियों से बोली।

टिप्पणी—दमयती इन्द्रदूती के प्रस्ताव को अमान्य करने के कारण बता रही थी कि उसकी कमलमुखी सखियों ने इन्द्र के पक्ष में कुछ कहने की इच्छा की। दमयती ने यह समझा और सखियाँ कुछ कहने को ओठ हिलायें कि वह उनसे उनका मनोभाव समझ कर कहने लगी। विद्याधर के अनुसार उपमा॥

अनादिधाविस्वपरम्पराया हेतुस्त्रजस्त्रोतसि वेश्वरे वा।
आयत्तधीरेष जनस्तदार्याः! किमीदृशः पर्यनुयुज्य कार्यः ॥ १०२ ॥

जीवातु—अनादीति। हे आर्याः, एष जनः अनादि यथा तथा, धाविन्या प्रवहन्त्या स्वपरम्परया स्वदेहपरम्परया इत्यर्थः। तत्सम्बन्धिन्या हेतुभूत हेतुभूतकर्मपरम्परायाः स्रोतसि प्रवाहे वा। 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'ति वचनात्, ईश्वरे वा। 'एष एव कारयिते'ति श्रुतेः। आयत्तधीः। न तु स्वाधीनबुद्धिरित्यर्थः। निरीश्वरसेश्वरमतभेदात् पक्षद्वयोक्तिः, तत्तस्मात्, ईदृक् परतन्त्र एष जनः, पर्यनुयुज्योपालभ्य। किं कार्यं कारयितुं शक्यः। कारयतेरचो यत्। अत स्वयमपि दैवपरतन्त्रा न पर्यनुयोज्येति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—आर्याः, एष जनः अनादिधाविस्वपरम्परायाः हेतुस्रजस्त्रोतसि ईश्वरे वा आयत्तधीः तद् ईदृशः पर्यनुयुज्य किं कार्यः?

हिन्दी—हे श्रेष्ठ सखियो, यह व्यक्ति (दमयन्ती) अनादि रूप से पुनः पुनः आवर्तमान जीव-परम्परा के कारणों की माला के प्रवाह के अथवा ईश्वर के प्रति अधीनबुद्धि है, सो ऐसी (मुझ) को उपालम्भ दे कर क्या कार्य होगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी सखियों को बताया कि वह तो कर्माधीन अथवा ईश्वराधीन हो सब कुछ कर रही है। देवों को छोड़ जो नर को वरण करने की उसकी इच्छा है, वह भी कर्माधीन या ईश्वराधीन है, दमयन्ती की स्वतन्त्र इच्छा नहीं है। ऐसी स्थिति में समझदार 'आर्या' सखी निरर्थक उसे कुछ समझाने का प्रयत्न करना चाहती है। इसका कुछ फल न होगा। निरीश्वरवादी के अनुसार जीव कर्म-परम्पराधीन है, ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वराधीन। जो होता है, वह स्वेच्छा से नहीं, कर्मफल अथवा ईश्वरेच्छा के अनुसार। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०२ ॥

नित्यं नियत्या परवत्यशेषे कः संविदानोऽप्यनुयोगयोग्यः ।
अचेतना सा च न वाचमर्हेद्वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते ॥ १०३ ॥

जीवातु—ननु दैवपारतन्त्र्येऽपि मा मूढ पर्यनुयोज्य। विद्वांस्तु पर्यनुयोज्य एवेत्याशङ्क्य आह—नित्यमिति। अशेषे जने नित्यं सर्वदा नियत्या दैवेन परवति परतन्त्रे सति संविदानो विद्वानपि। 'समो गम्यृच्छि' इत्यादिना विदेरात्मनेपदम्। कः अनुयोगयोग्यः उपालम्भार्हः। विदुषापि नियतेरलङ्घ्यत्वादिति भावः। तर्हि नियतिरेव पर्यनुयुज्यताम् तत्राह—अचेतना सा नियतिश्च वाचं पर्यनुयोगं नार्हेत्। अचेतनोपालम्भस्याश्रवणादितिवत्स्यरत्वादिति भावः। तथाप्युपालम्भे दोषमाह—वक्ता अचेतनोपालम्भप्रयोक्ता तु वक्त्रस्य श्रमः श्रान्तिरेव क्रियत इति कर्म वाग्व्यापारफलं तद् भुङ्क्ते। वागिवलापनादन्यत्फलं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वय—अशेषे नित्यं नियत्या परवति संविदानः अपि कः अनुयोगयोग्यः, अचेतना सा च वाचम् न अर्हेत्, वक्ता तु वक्त्रश्रमकर्म भुङ्क्ते।

हिन्दी—समस्तजनों के नित्य रूप से (सदा) नियति (भाग्य) के अधीन होने पर विद्वान् भी किस उपालम्भ के योग्य है ? (नहीं है)। और अचेतन (जड़) वह (नियति) भी वागनुयोग (उपालम्भ-कहने-सुनने) के

योग्य नहीं है, कहनेवाला (उपालम्भकर्ता व्यक्ति) ही मुख को श्रम देने का कर्म भोगता है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने सखियों को कुछ न कहने, उपालम्भ देने, समझाने-बुझाने का श्रम करने की निरर्थकता पूर्व श्लोक में सतर्क बताई। इस श्लोक में उसी क्रम से यह बताया कि सब कुछ भाग्याधीन ही है, अतः इस विषय में किसी समझदार का भी समझाना-बुझाना व्यर्थ है। और यदि यह कहा जाय कि तब सब कुछ करनेवाली नियति को ही समझाना-बुझाना उचित होगा तो यह भी ठीक न होगा, क्योंकि नियति तो कुछ बोलती-कहती नहीं, जड़ है। नियति को उपालम्भ देने वाले व्यक्ति का कथन केवल उसका मुख दुखायेगा, और कुछ नहीं। भाव यह कि वरण के विषय में सखियों द्वारा दमयन्ती का समझाना निष्फल प्रयत्न है, अतः ऐसा परिश्रम करना उचित नहीं। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ १०३ ॥

क्रमेलकं निन्दति कोमलेच्छुः क्रमेलकः कण्टकलम्पटस्तम्।
प्रीतौ तयोरिष्टभुजोः समायां मध्यस्थता नैकतरोपहासः ॥ १०४ ॥

जीवातु—ननु सुरेन्द्रं विहाय नलस्वीकारे आत्मसुखमात्मना स्यादित्याह—क्रमेलकमिति। कोमलमिच्छुः कोमलेच्छुः मृद्वाहारी गर्दभादिः। 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीसमासनिषेधात् द्वितीयासमासः। क्रमेलकमुष्ट्रं निन्दति। 'उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः' इत्यमरः। कण्टकेषु लम्पटो लोलुपः क्रमेलकः। 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसो विदुः' इति हलायुधः। तं कोमलेच्छुं निन्दति। इष्टभुजोस्तयोर्द्वयोः प्रीतौ तुष्टौ समायां तत्र एकतरस्योपहासो मध्यस्थता। माध्यस्थ्यं न। यस्य यदिष्टं तुष्टिकरं च तस्य तत्र प्रवृत्तौ सर्वस्यापि दृष्टान्तेन सर्वोऽप्यन्यमुपहसन् स्वयमेवोपहास्या भवन्तीति भावः ॥

अन्वय—कोमलेच्छुः क्रमेलकं निन्दति, कण्टकलम्पटः क्रमेलकः तम्, इष्टभुजोः तयोः प्रीतौ समायाम् एकतरोपहासः मध्यस्थता न।

हिन्दी—कोमल (मुलायम) खाद्य का अभिलाषी (जन्तु) ऊँट की निंदा करता है और काँटे (खाने) का लोलुप ऊँट उस (कोमलखादी) की। इच्छानुसार खानेवाले उन दोनों (कोमलपदार्थभक्षी और काँटे खानेवाला

ऊँट) की सतुष्टि एक समान होने पर किसी एक का उपहास मध्यस्थता नही है।

टिप्पणी—'भिन्नरुचिर्हि लोक' के अनुसार प्राणियो की विभिन्न रुचियाँ होती हैं, और वे परस्पर-विरुद्ध भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य और अनेक पशु भी मुलायम, कोमल वस्तुएँ खाते हैं और ऊँट कठोर काँटो का प्रेमी है। दोनों एक दूसरे का उपहास करते है। मध्यस्थ समझदार व्यक्ति दोनो पक्षो को अपनी रुचि के अनुसार भोजन कर समान रूप से सतुष्ट पाने के कारण किसी की हँसी नही उडाता। यदि वह किसी एक का उपहास करे और एक की प्रशसा, तो यह उचित न होगा। वह मध्यस्थ नही, पक्षपाती समझा जायेगा। ऐसी स्थिति मे देव-वरण की अपेक्षा नर वरण के कारण दमयन्ती का उपहास करनेवाला ससार मध्यस्थ नहीं, पक्षपाती समझा जायेगा। और पक्षपाती स्वयम् उपहास का पात्र होता है। यह समझ कर दमयन्ती की सखियो द्वारा दमयन्ती की इच्छा का उपहास अथवा उपालम्भ उचित न होगा। विद्याधर के अनुसार हेतु अलकार ॥ १०४ ॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नरं मे न रोचमानं परिहारयन्ति ।
न लोकमालोकयथापवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम् ॥ १०५ ॥

जीवातु—ननु नलादपि गुणाधिके हरौ कथमरुचिरत आह—गुणा इति। सत्य हरन्तोऽपि मनोहरन्तोऽपि हरेरिन्द्रस्य गुणा मे मह्य, 'रुच्यर्थाना प्रीयमाण' इति चतुर्थी। रोचमान मनोहर नर नर न परिहारयन्ति न त्याजयन्ति। कुत, अपवर्गा मोक्षादर्वाञ्चमपकृष्ट, त्रिवर्ग धर्मार्थकामानमुञ्चमानमत्यजन्त, लोक नालोकयथ? न पश्यथेति काकु। न गुणमपेक्षते रागवृत्तिरिति भाव। दृष्टान्तालकार ॥ १०५ ॥

अन्वय—हरन्त अपि हरे गुणा मे रोचमान नर न परिहारयन्ति, अपवर्गात् अर्वाञ्च त्रिवर्गम् अमुञ्चमान लोक न आलोकयथ ?

हिन्दी—मन हरनेवाले भी इन्द्र के गुण मुझे रुचते नर का त्याग (मुझसे) नहीं करवापाते। मोक्ष से अपकृष्ट त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को न छोडते ससार को नही देखतीं ?

टिप्पणी—'तुष्यद्दुर्जनन्याय' से दमयन्ती एक बार यह मानकर भी कि इन्द्र में अनेक आकर्षक गुण हैं और वह नर की अपेक्षा वरण-योग्य है, अपने द्वारा मनुष्य-वरण के विषय में तर्क देती है कि जिस पर रुचि होती है, उसी को ऊँचे-नीचे का विचार छोड़ अपनाया जाता है। संसार में सभी ऐसा करते हैं। यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष शेष तीन धर्मार्थकाम की अपेक्षा उच्च और वरेण्य है, फिर भी लोग मोक्ष को छोड़ त्रिवर्ग-साधना में ही लगे रहते हैं। इस दृष्टि से दमयन्ती का चुनाव भी लोक-परम्परा के अनुसार ही है। वह भी देवों को छोड़ नल को वर कुछ विचित्र नहीं कर रही है। अनुराग गुणावगुण का विवेचन नहीं करता। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलङ्कार, विद्याधर के अनुसार विभावना और उभयन्यास ॥ १०५ ॥

आकीटमाकैटभवैरि तुल्यः स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः।
भिन्नस्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम् ॥ १०६ ॥

जीवातु—ननु महेन्द्रं प्राप्य कृतकृत्या भव, किं नरप्रार्थनया, इत्याशङ्क्याह—आकीटमिति। आकीटं कीटादारभ्य, आकैटभवैरि तत्पर्यन्तम्। उभयत्राप्यभिविधावव्ययीभावः। स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः, कृतार्थत्वाभिमानस्तुल्यः साधारणः ममाप्यभीष्टलाभात् कृतकृत्यता नेन्द्रलाभादित्यर्थः। तर्हीन्द्र एवेष्यतामित्यत आह—भिन्नस्पृहाणां भिन्नरुचीनां जनानामर्थमर्थं प्रत्यर्थं। द्विष्टत्वमिष्टत्वञ्च द्वयमप्येतदव्यवस्था घटत्वपटत्वादिवत् प्रतिनियमो यस्य तदपव्यवस्थमव्यवस्थमनवस्थितम्। अपि त्वापेक्षिकम्। तस्मादिन्द्रोऽपि मया नेष्यते को दोष इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अन्वयः—आकीटम् आकैटभवैरि स्वाभीष्टलाभात् कृतकृत्यभावः तुल्यः, भिन्नस्पृहाणाम् अर्थम् अर्थं प्रति द्विष्टत्वम् इष्टत्वं च अपव्यवस्थम्।

हिन्दी—कीड़े से लेकर कैटभ के शत्रु (विष्णु) तक अपना अभीष्ट प्राप्त करके कृतार्थता समान होती है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की इच्छा करने वालों के विषय विषय के प्रति द्वेष और इच्छा के विषय में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी रुचि के अनुकूल आचरण के विषय में तर्क दिया कि क्या अच्छा है और क्या बुरा—यह निश्चित नियम से निर्णीत नहीं

होता । सब स्वरुचि के अनुकूल, अभीष्ट पाकर स्वयम् को कृतार्थ मानते हैं, चाहे छोटा हो, चाहे बडा । क्षुद्र कीट से लेकर जगत् के परिपालक विष्णु तक सभी स्वेच्छया किसी पदार्थ को अच्छा बुरा मानते हैं। तुष्ट और कृतकाम अभीष्ट से ही होते हैं। अतः दमयन्ती को देव नहीं, मर नल अभीष्ट है तो इसमे भूल क्या है ? विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलकार ॥ १०६ ॥

अग्राध्वजाग्रन्निभृतापदन्धु बन्धुर्यदि स्यात् प्रतिबन्धुमर्हः ।
जोष जन कार्यविदस्तु वस्तु प्रच्छ्या निजेच्छा पदवी मुदस्तु ॥१०७॥

जीवातु—अग्राध्वेति । अग्रश्चासावध्वा चेति समानाधिकरणसमास । अत एव 'अग्रहस्ताग्रग्रहादयो गुणगुणिनोर्भेदाभावादि'ति वामन । तस्मिन्नग्राध्वनि पुरोमार्गे, जाग्रद् स्फुरत् आसन्न इति यावत् । स चासौ निभृता नियता आप-देवान्धु कूप । 'पुस्येवान्धु प्रहि कूप' इत्यमर । त प्रतिबन्धुमर्हो निवारितु शक्तो बन्धु स्याद्यदि, स जनो बन्धुजन कार्यवित् कार्यज्ञोऽपि । प्रश्नपर्यं त जोषमस्तु तूष्णीमास्ताम् । न तु मा निवारयेदित्यर्थ । कुतस्तर्हि ते कार्यविज्ञान तदाह—मुद श्रेयस । पदवीं तु, निजेच्छैव प्रच्छया प्रष्टव्या । मम मे प्रयतिका नान्य कथञ्चिदस्तीत्यर्थं । वस्तु सत्यमयमेव परमार्थ इत्यर्थ । प्रच्छेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि 'ऋहलोर्ण्यत्' ॥ १०७ ॥

अन्वय.—अग्राध्वजाग्रन्निभृतापदन्धु प्रतिरद्धुम् अर्हः य धु यदि स्यात्, जन कार्यवित् जोषम् अस्तु, मुद पदवीं तु निजेच्छा एव प्रच्छया अस्तु ।

हिन्दी—समुखमार्ग मे वतमान, ढके आपत्तिरूप कूप म गिरजाने से रोक सकने की क्षमतावाला यदि बधु (मित्र) हो तो भी जन (बधु) को कार्य का ज्ञाता होने पर भी चुप रहना उचित है (अथवा—बन्धु अग्राध्वजाग्रन्नि-भृतापदन्धु यदि स्यात् प्रतिबन्धुम् अर्ह, कार्यवित् जन जोषम् अस्तु । यदि मित्र समुख मार्ग मे विद्यमान आपत्तिरूप कूप मे गिरता हो तो उसे रोकना उचित है, अन्यथा कार्यवेत्ता बधु चुप रहे) । इस के मार्ग पर तो अपनी इच्छा ही पूछने की वस्तु है ।

टिप्पणी—अच्छे मित्रों को—यदि उनका मित्र विपत्ति की ओर जा रहा हो और निषेध करनेवाले मित्रों मे प्रतिरोध की क्षमता हो तो—अपकूप की

ओर जाते मित्र को रोकना उचित है। यदि मित्र विपद् के अधकूप में नहीं गिर रहा है अथवा रोकने की स्वयं में क्षमता नहीं है तो उस स्थिति में चुप ही रहना उचित है। दमयन्ती न तो विपत्ति के कूप की ओर जा रही है और न उसे रोकने की क्षमता ही सखियों में है, सो उन्हें कुछ न बोलना ही उचित है। स्वयंवर में मनचाहे का वरण प्रसन्नता की वस्तु है स्वयंवरा को जो रुचे, उसमें उसकी इच्छानुसार आचरण ही कल्याणकर होता है। इस दृष्टि से दमयन्ती की सखियों को भी दमयन्ती की प्रसन्नता के अनुकूल आचरण उचित है। जो उसकी इच्छा समझने वाली सखियाँ हैं, वे तदनुकूल आचरण करें, शेष चुप रहें। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास, रूपक, काव्यलिंग अलङ्कारों का सङ्कर ॥ १०७ ॥

इत्य प्रतीपोक्तिमतिं सखीनां विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला।
अपि श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिं दूतीं वभाषेऽद्भुतलोलमौलिम् ॥१०८॥

जीवातु—इत्यमिति। बाला भैमी, इत्य सखीनां प्रतीपोक्तिमतिं प्रति-कूलोक्तिबुद्धिमित्य पाण्डित्यबलेन प्रागल्भ्यावष्टम्भेन विलुप्य निषिध्य श्रुता स्वर्पतिमन्त्रिणः शक्रसचिवस्य बृहस्पतेः सूक्तयो वाचो यया तामपि 'अहरा-दीनां पत्यादिषु' इति रेफादेशः। अद्भुतेन अहो बृहस्पतेरपि प्रगल्भेत्याश्चर्येण लोलमौलिं कम्पशिरसं शिरः कम्पयन्तीमित्यर्थः। दूतीं बभाषे ॥ १०८ ॥

अन्वय—बाला इत्थं सखीनां प्रतीपोक्तिमतिं पाण्डित्यबलेन विलुप्य श्रुतस्वर्पतिमन्त्रिसूक्तिम् अपि अद्भुतलोलमौलिं दूतीं बभाषे।

हिन्दी – बाला (दमयन्ती) इस प्रकार (सखियों की प्रतिकूल वचन विषयक बुद्धि का पाण्डित्य के बल से विलुप्त करके स्वर्गराज (इन्द्र) के मन्त्री (बृहस्पति) की सूक्तियों की सुननेवाली होकर भी आश्चर्य से सिर हिलाती दूती से बोली।

टिप्पणी—इन्द्रवरण के विषय में दमयन्ती ने उन्हें तर्क देकर समझा दिया (श्लोक सं० १०१–१०७) कि वह जो कुछ करने जा रही है, वह उचित है। इन्द्र की दूती को दमयन्ती की तर्कक्षमता पर बड़ा आश्चर्य हुआ, यद्यपि वह इन्द्र-मन्त्री गुरु बृहस्पति की पाण्डित्यपूर्ण वाणी अनेक बार सुन चुकी थी। दूती को लगा कि दमयन्ती की विचारशक्ति और स्वपक्ष प्रति-

पादन-सामर्थ्य अद्भुत है। जैसा कि श्लोक संख्या १०१ में कहा गया, दमयन्ती इन्द्र-दूती से कहते कहते बीच मे अपना कथन अधूरा छोड़कर सखियों की ओर उन्मुख हो गयी थी। अब वह पुनः उस अर्धोक्ति को पूरा करने को उद्यत हुई। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ १०८ ॥

परेतभर्तुर्मनसैव दूती नभस्वतेवानिलसख्यभाजः।
त्रिस्रोतसेवाम्बुपतेस्तदाशु स्थिरास्यमायातवती निरास्थम् ॥१०९॥

जीवातु—परेतेति। मनसैव आत्मवेगेनेति शेषः। आगमनसाधनेनेत्यर्थः। एवं वायुगङ्गयोरपि द्रष्टव्यम्। परेतभर्तुः यमस्य दूती, नभस्वता वायुनैव अनिलसख्यभाजोऽग्नेर्दूती त्रिस्रोतसा गङ्गयैव अम्बुपतेर्वरुणस्य दूती स्थिरास्थं दृढाभिनिवेशं यथा तथा आशु शीघ्रमायातवती, सती, तदा आगमनक्षण एव निरास्थं पर्यहापम्। 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' इत्यस्यतेलु ङि च्लेरङा-देशः। 'अस्यतेस्थुक्' इति थुक्। यमादिदूत्यो दूरादेव निरस्ता इन्द्रगौरवात्त्वया एतावन्तं कालं सम्भाषितेत्यर्थः। अत्र मनोवायुगङ्गानां क्रमाद्यमादि-विधेयत्वेन तत्प्रियार्थं ताभिरेवातिवेगवतीभिरत्र आनीता (यमादीनां दूत्य) इत्युत्प्रेक्षार्थं ॥ १०९ ॥

अन्वय—स्थिरास्थम् आशु आयातवती परेतभर्तुः दूती मनसा एव, अनिलसख्यभाजः नभस्वता एव, अम्बुपतेः त्रिस्रोतसा एव तदा निरास्थम्।

हिन्दी—(इन्द्रदूती से दमयन्ती बोली) मैंने विश्वस्तता के साथ शीघ्रतया आयी गतप्राणों के स्वामी (यमराज) की दूती को मन से ही, वायु के मित्र (अग्नि) की दूती को वायु से ही, जल के स्वामी (वरुण) की दूती को गंगा से ही तभी निराकृत कर दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती का भाव यह है कि शीघ्रता से दमयन्ती के निकट पहुँचने के निमित्त प्राणों के स्वामी यम ने अपनी दूती को मन के वाहन पर, अग्नि ने वायु के वाहन पर और वरुण ने गंगा वाहन पर भेजा था। उन दूतियों के प्रस्ताव को दमयन्ती ने तुरन्त अस्वीकार कर शीघ्र ही वापस भेज दिया। वे अपने अपने वाहनों से बिना उतरे ही वापस चली गयी। इस प्रकार से उनका प्रस्ताव ठीक से सुना ही नहीं गया। इन्द्र के प्रति दमयन्ती

को विशेष आस्था है, अत उसका कथन सुना और निवेदन किया यदि ऐसी आस्था न होती तो उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार हो सकता था, जैसा कि यमादि की दूतियो के साथ हुआ। प्राणों के स्वामी यम के अधीन मन के होने से, वायु के अग्नि का मित्र होने से और गगा के वरुणाधीन होने से इनका यमादि-विशेषत्व क्रम से है और यमादि की दूतियों का उनके वाहन मन-वायु गगा से वेगपूर्वक आना भी, मल्लिनाथ के अनुसार यह उत्प्रेक्षार्थ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ हेतु, अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलकार हैं।

'स्थिरास्थम' को दमयन्ती के साथ जोडकर यह अर्थ भी किया जाता है कि उसकी नल के प्रति आस्था दृढ थी, अत 'आशु' आयी यमादि की दूतियो को उसने 'आशु' विदा कर दिया ॥ १०९ ॥

भूयोऽप्यमुं यदि मा त्वमात्थ तदा पदावालभसे मघोनः।
सतीव्रतैस्तीव्रमिमं तु मन्तुमन्तः परं वज्रिणि मार्जितास्मि ॥ ११० ॥

जीवातु—भूय इति। हे शक्रदूति! त्वं भूयः पुनरेनमर्थमिन्द्रं वृणीष्वेत्यमुमर्थं मामात्थ ब्रूषे यदि। 'ब्रुव पञ्चानाम्' इत्यादिना सिपस्थादेशो ब्रुव आहश्च। 'आहस्थ' इति हकारस्य थकारादेश तदा मघोन पदावङ्घ्री। 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमर। आलभसे हिनस्सि स्पृशसि वा। वज्रिणि इन्द्रे विषये अन्तरन्तरङ्गे परं श्रेष्ठ, गुणत्वेन गृह्यमाणमित्यर्थ। इमं तीव्रं दुस्सहं मन्तुं निजाज्ञोल्लङ्घनापराधम्। 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमर। सतीव्रतैः पतिव्रतानियमैः मार्जितास्मि मार्जिष्यामि। मृजेर्लुटि सिप्। पतिव्रताधर्मज्ञ सर्वज्ञो भगवान् मघवा मामस्मादपराधान्नाशयतीत्यर्थ ॥ ११० ॥

अन्वय—यदि त्वं भूय एनम् अर्थं माम् आत्थ तदा मघोन पदौ आलभसे, वज्रिणि अन्त परम् इमं तीव्रं मन्तुं सतीव्रतैः मार्जिता अस्मि।

हिन्दी—(हे दूति,) यदि तू पुन इस विषय को मुझसे कहे तो तुझे मघवा (इन्द्र) के चरणो की सौगंध। वज्रधारी (इन्द्र) के प्रति अन्त स्थित इस परम तीव्र अपराध का मार्जन मैं पातिव्रतनियमो द्वारा करूँगी।

टिप्पणी—दमयन्ती को बार बार यह वरण विषयक वार्ता भली नहीं लग रही थी, अत उसने इन्द्र की दूती को इन्द्र के चरणों की ही सौगंध देकर पुन कुछ कहने से निवारित किया। इन्द्र वज्रधारी है, दण्ड देने वाला। वह

अपनी अवज्ञा करने वालों पर क्रुद्ध हो उन्हें वज्र से प्रताडित कर सकता है 'वज्रिणि' शब्द का प्रयोग यही द्योतन करता है। किन्तु इस परम दुःसह अपराध को करती दमयन्ती निर्भय है। उसे विश्वास है कि वह अपने पातिव्रत के बल पर इन्द्र को दण्ड देने से विरत कर सकेगी।

नारायण ने चतुर्थ चरण का पाठान्तर 'अन्तर्वरं वज्रिणि मार्जितास्मि' दिया है। उनको 'प्रकाश'—व्याख्या है—'अन्तर्वरं वरस्य नलस्य अन्तर्मध्ये वज्रिणि राज्ञो लोकपालांशत्वेन नले स्थित इन्द्र इति।' अर्थात् दमयन्ती के वर नल के मध्य उस राजा के लोकपालांश होने के कारण स्थित इन्द्र को वह सतीत्व से मना लेगी। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ११० ॥

इत्थं　पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रदूत्यामवयातवत्याम्।
विवेश लोलं हृदयं नलस्य जीवः पुनः क्षीबमिव प्रबोधः ॥ १११ ॥

जीवातु—इत्थमिति। इत्थमुक्तप्रकारेण पुनर्वागवकाशनाशात् भूयोवचनावकाशनिवृत्तेः। इन्द्रदूत्यामवयातवत्या गतायां नलस्य जीवोऽन्तरात्मा लोलं चलाचलं हृदयं क्षीबं मत्तम्। 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः। 'क्षीबृ मदे' इति धातोः कर्तरि क्तः। 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निपातनात् साधु। प्रबोधो विवेक इव पुनर्विवेश पुनर्जात इवाभूत्। तदा विशश्वास उच्छश्वास चेत्यर्थः ॥१११॥

अन्वय—इत्थं पुनः वागवकाशनाशात् इन्द्रदूत्याम् अवयातवत्यां नलस्य जीवः लोलं हृदयं क्षीबं प्रबोधः इव पुनः विवेश।

हिन्दी—इस प्रकार पुनः कुछ कहने का अवसर समाप्त हो जाने से इन्द्र की दूती के चले जाने पर नल का प्राण उसके चंचल चित्त में पुनः प्रविष्ट हुआ जैसे कि मतवाले पुरुष में विवेक लौट आता है।

टिप्पणी—देव दूतियों के प्रस्ताव और उन पर विवेचन नल के हृदय को मत्त पुरुष के चित्त के सदृश चंचल कर रहे थे। जब निराश हो सब दूतियाँ चली गयीं—विशेषतः इन्द्रदूती, तब नल की वह चंचलता दूर हुई। उसे लगा कि उसके प्राण पुनः लौट आये। उसकी विनष्टप्राय विचारणाशक्ति पुनः लौटी। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ १११ ॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं दिगधिपकृपयात्तादीदृशः सन्निधानात्।
अलभत मधुशालारागवागुत्थमित्यं निषधजनपदेन्द्रः पातुमानन्दसान्द्रः ॥

जीवातु—श्रवणेति । निषधानां जनपदानाम्, इन्द्रो नलो दिगधिनाथानाम्, इन्द्रादीनां कृपया तिरोधानशक्त्यनुग्रहरूपया आत्तात् प्राप्तादीदृशे सन्निधानाद्-प्रकाशनान्निमित्तात् स्वेन स्वकीयेन श्रवणपुटयुगेन साधु यथा तथा नीतमर्पितमित्यर्थः । ईदृशेन वामया वाच्या रागवाच्या अनुरागवचनेभ्यः उत्था यस्य तत्तदृश मधु क्षौद्रं, रसामृतमित्यर्थः । आनन्दसान्द्र सुखमयं यथा तथा पानुमलभत तस्यास्य नल-वाणितयं । 'शकधृष' इत्यादिना तुमुन् प्रत्ययः ॥ ११२ ॥

अन्वयः—निषधजनपदेन्द्र दिगधिपकृपया आत्तात् ईदृशात् सन्निधानात् स्वेन श्रवणपुटयुगेन साधु उपनीतम् इत्थं वामावाग्भवम् मधु आनन्दसान्द्रं पातुम् अलभत ।

हिन्दी—निषध नामक जनपद के इन्द्र (राजा नल) ने दिक्पालों की कृपा से प्राप्त इस प्रकार के (अदृष्ट रहने के कारण प्राप्त) सान्निध्य के कारण अपने कर्ण-पात्र-युगल-द्वारा भली भाँति लाया गया । इस प्रकार के (अपूर्व) वामा (दमयन्ती) के प्रणयवचनों से उत्पन्न मधु आनन्द से परिपूर्ण होकर पीने को मिला ।

टिप्पणी—कष्ट की स्थिति भी कभी हर्ष का कारण बन जाती है । नल को अपनी प्रिया के प्रति अन्य का प्रणय-सन्देश-हर बनने का निकृष्ट, अपमानास्पद और कष्टकर कार्य मिला था, किन्तु उसी के निमित्त उसे स्वेच्छया अदृश्य होने की क्षमता मिली थी, जिससे अदृश्य रहते हुए उसने सब-कुछ देखा-सुना । सुना, वामा कामिनी के अनुराग-वचन—प्रणयमयी उक्ति उसी के मुख से कोई प्रेमी सुन सके, वह प्रेमी के लिए किस मधु से न्यून है ? नल ने अपने कर्णपात्रों से ढाल कर लाया ऐसा मधु आनन्द से छककर पीने का अवसर पाया । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-रूपक का सङ्कर । मालिनी छन्द ॥११२॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ।
षष्ठः खण्डनखण्डतोऽपि सहजात् क्षोदक्षमे तन्महा-
काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमद् भास्वरः ॥ ११३ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षमित्यादि सुगमम् । सहजात् सोदरात्, समानकर्तृकत्वादित्यर्थः । खण्डनखण्डत खण्डनखण्डखाद्याख्यात् ग्रन्थात् । यद्वा खण्डन

नाम ग्रन्थ । तदेव खण्ड इक्षुविकार । 'स्यात् खण्डश्शकले चेक्षुविकारमणिदोषयो.' इति विश्व । ततस्तस्मादपि क्षोदक्षमे सघर्षणसहे [illegible] सर्ग अगमत् समाप्त इत्यर्थ ॥ ११३ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने षष्ठ सर्ग समाप्त ॥६॥

अन्वय —श्रीहर्ष • च यम् (पूर्ववत्) । सहजात् खण्डन-खण्डत अपि क्षोदक्षमे तन्महाकाव्ये चारुणि नैषधीयचरिते भास्वर षष्ठ सर्ग अगमत् ।

हिन्दी—पूर्वार्द्ध का अर्थ पहिले के समान । सहजात (सोदर, एक ही द्वारा रचित, समानकर्तृक) 'खण्डन खण्ड' (ग्रन्थ) से भी उसी प्रकार सरस और विचारयोग्य (जैसी कि इक्षु विकार चिनी शर्करा सरस होती है) उस (श्रीहर्ष) के महाकाव्य, मनोरम 'नैषधीयचरित' मे उज्ज्वल छठा सर्ग समाप्त।

टिप्पणी—श्रीहर्ष ने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ रचा था, इसका संकेत । नारायण पंडित के अनुसार इस सर्ग मे धर्मशास्त्रानुसारी दूतगुण कहे गये हैं ॥ ११३ ॥

'नैषधीयचरित' का षष्ठ सर्ग समाप्त ।

नैषधीयचरितम्

सप्तमः सर्गः

अथ प्रियासादनशीलनादौ मनोरथः पल्लवितश्चिरं यः।
विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः पत्या भुवः पूर्णवदभ्यमानि ॥ १ ॥

जीवातु—अथेति। अथ दूतकर्मानन्तरम्। भुवः पत्या नलेन, 'पतिः समास एव' इति नियमादसमासे घिसंज्ञाऽभावात् घिकार्याऽभावः, प्रियाया दमयन्त्या, आसादनं प्राप्तिः, शीलनं परिचितिः, तदादौ विषये आदिशब्दादालापादिसङ्ग्रहः। यो मनोरथः चिरं चिरात्प्रभृति पल्लवितः सञ्जातपल्लवः, स मनोरथो राजपुत्र्या विलोकनेनैव पूर्णवत् फलितवदभ्यमानि अभिमेने। तथा ममन्देत्यर्थः। मन्यतेः कर्मणि लुङ् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ प्रियासादनशीलनादौ यः मनोरथः चिरं पल्लवितः भुवः पत्या सः राजपुत्र्याः विलोकनेन एव पूर्णवत् अभ्यमानि।

हिन्दी—इसके (दूतियों के निराकरण के) अनन्तर प्रिया (दमयन्ती) की प्राप्ति और परिचय आदि के विषय में जो आकांक्षा चिरकाल से पल्लवित हुई थी (मन में उठ रही थी), धरती के स्वामी (नल) द्वारा वह राजपुत्री (दमयन्ती) को देख लेने से ही पूर्ण-जैसी मान ली गयी।

टिप्पणी—राजा नल ने बहुत दिनों से सोचा-विचारा था कि दमयन्ती कैसी होगी, कैसे वह प्राप्त हो सकेगी, उसका मिलन कितना आनन्द-दायक होगा—आदि-आदि ? अब जब उसने प्रत्यक्षतः दमयन्ती को निहारा, तो उसे लगा कि जैसे उसका चिर पल्लवित अभीष्ट आनन्द पूर्ण हो गया। भाव यह कि दमयन्ती को प्रत्यक्ष कर लेने मात्र से नल को प्राप्ति जैसा आनन्द मिल गया। नल दर्शनमात्र से हर्ष से पूर्ण हो गया, इसमें मनोरथ (कार्य) के महत्त्व तथा दमयन्ती-अवलोकन (कारण) के अन्तर में विरोध का हर्षा-धिक्य के कारण समाधान हो गया—अतः विद्याधर ने इस श्लोक में विष-

मोपमालकार का निर्देश किया है। विद्याधर ने यह भी बताया है कि इस सर्ग में कुछ श्लोकों में उपेन्द्रवज्रा और कुछ में इन्द्रवज्रा छंद है। इस श्लोक में उपजाति छंद है ॥ १ ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दसुधासमुद्रे ।
ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुस्तस्य दृशौ नृपस्य ॥ २ ॥

जीवातु—प्रतीति । तस्य नृपस्य दृशौ नेत्रे प्रथमं प्रियायां भैम्यां, तत्रापि प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवं ममज्जतुः तामवयवशो ददर्शेत्यर्थः । अथ तदनन्तरं अन्तः अन्तरारमनि य आनन्दसुधासमुद्रः तस्मिन् ममज्जतुः दर्शनफलमानन्दं अनुबभूव तुरित्यर्थः । करणे कर्तृत्वोपचारः । ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायामानन्दबाष्पप्रवाहे ममज्जतुः । अत्र दृग्रूपस्यैकस्याधेयस्य क्रमात्प्रियावयवाद्यनेकाधारवृत्तित्वकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नथवानेकं पर्यायालङ्कृतिर्द्विधा' । इति लक्षणात् ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य दृशौ प्रथमं प्रियायां प्रतिप्रतीकम्, अथ आन्तरानन्दसुधासमुद्रे (अन्तः आनन्दसुधासमुद्रे वा), ततः प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुः ।

हिन्दी—उस राजा (नल) के नेत्र पहिले प्रिया के प्रत्यंग, तदनन्तर अन्तस् में उत्पन्न आनन्दामृत के समुद्र में और तत्पश्चात् हर्ष के आँसुओं में मग्न हो गये ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयंती के सर्वांगसुन्दर रूप को देख कर नल को असीम आनंद प्राप्त हुआ । पहिले नल के नेत्र अंग अंग के सौंदर्य में निमग्न हुए, उससे उत्पन्न आनन्द के सुधा सागर में मग्न हुए और उससे हर्षाश्रुओं में पूर्ण हो गये । क्रमिक विवरण । इस श्लोक में आधेय एक है—नेत्र और उनकी प्रियावयवादि अनेक आधारों में स्थिति वर्णित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर्याय अलंकार का एक भेद है । पर्याय दो प्रकार का होता है=(१) कहीं एक आधेय की अनेक आधारों में स्थिति, (२) कहीं अनेक आधेयों की एक आधार में स्थिति । यहाँ उपेन्द्रवज्रा छंद है= एक जगण (ISI), एक तगण (SSI), एक जगण (ISI), दो गुरु (SS) ॥ २ ॥

ब्रह्माद्वयस्यात्मभवत्प्रमोदं रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽस्याः ।
यथोचितीत्यं तदशेषदृष्टावयं स्मराद्वैतमुदं तथाऽसौ ॥ ३ ॥

जीवातु—ब्रह्मेति । असौ नलः, अस्याः भैम्याः, रोमाग्र एव रोमाग्रमात्रे अग्रे प्रथमं निरीक्षिते दृष्टे सति यथा ब्रह्माद्वयमद्वितीयं वस्तु तस्य प्रमोदं स्वानन्दमन्वभवदित्यर्थः । आनन्दस्य ब्रह्माभेदेऽप्युपचाराद्भेदव्यपदेशः । अथाऽनन्तरं तस्य रोम्णः अशेषदृष्टौ कृत्स्नदर्शने सति, द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम् । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययः । तद्रहितमद्वैतं स्मर एवाद्वैतमद्वितीयं वस्तु तस्य मुदमन्वभवत् । अत्र ब्रह्मानन्दात् स्मरानन्दाधिक इति विवक्षितम् । तथा रोमापि रोमाग्रादधिकं, तत्र यथाल्पदर्शनादल्पानन्दः, अधिकदर्शनादधिकानन्द इति यथा तथा-शब्दार्थः, इत्यनौचितीति कारणानुरूपं कार्यजन्मौचित्यमेवेत्यर्थः । अत्र ब्रह्मानन्दस्मरानन्दयोरेकस्मिन्नेव क्रमेण वृत्तिकथनात् 'एकस्मिन्नथवानेकम्' इत्युक्तलक्षणो द्वितीयः पर्यायालङ्कारभेदः ॥ ३ ॥

अन्वय—असौ अस्याः रोमाग्रे एव अग्रनिरीक्षिते ब्रह्माद्वयस्य प्रमोदम् अन्वभवत्, अथ इयं तदशेषदृष्टौ यथा औचिती तथा स्मराद्वैतमुदम् ।

हिन्दी—इस (नल) ने इस (दमयन्ती) के रोमाग्र को ही प्रथम देखने पर ब्रह्म-एकता के आनन्द का अनुभव किया, तत्पश्चात् उसी क्रम से इस (दमयन्ती) को सम्पूर्ण देखने पर यथोचित प्रकार से मदन ऐक्य का अनुभव किया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती को थोड़ा सा भी देखते ही, रोमाग्र-मात्र निहारते नल को ऐसे आनन्द का अनुभव हुआ, जैसा कि योगिजन ब्रह्म से अद्वैतभाव होने पर—ब्रह्म से अभिन्नता स्थापित होने पर अनुभव करते हैं । तदनन्तर जब नल ने अशेष-पूर्ण दमयन्ती को देखा तब मदनानन्द का अनुभव पाया । दमयन्ती को सम्पूर्ण भाव से देखने पर नल मदनानन्द में निमज्जित हो गया । थोड़ा-सा भाग देखने पर ब्रह्मानन्द मिला, पूरा देखने पर मदनानन्द । इससे द्योतित होता है कि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा मदनानन्द उत्कृष्ट है । मल्लिनाथ ने तृतीय-चतुर्थ चरण का अन्वयान्तर करके अर्थ किया है कि रोमाग्र देखने पर ब्रह्मानन्द का अनुभव किया अशेष (दमयन्ती) को देख कर स्मरानन्द का । इस प्रकार उचित हुआ—कारण के अनुरूप कार्य का जन्म । यहाँ

ब्रह्मानन्द और स्वादानन्द—दोनों की एक ने ही रूप से विद्यमानता कही गयी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार द्वितीय प्रकार का पर्यायालङ्कार है। विद्याधर के अनुसार विषम और उपमालङ्कार। उपजाति छन्द ॥ ३ ॥

वेलामतिक्रम्य चिरं मुखेन्दोरालोकपीयूषरसेन तस्याः।
नलस्य रागाम्बुनिधौ विवृद्धे तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म दृष्टिः ॥ ४ ॥

जीवातु—वेलामिति। नलस्य दृष्टिः तस्या मुखेन्दोरालोको दर्शनं प्रकाशश्च। 'आलोको दर्शनद्योतौ' इत्यमरः। स एव पीयूषममृतं तस्य रसेन स्वादेन, रागाम्बुनिधौ अनुरागसमुद्रे पृथु महतीं वेलां कालं मर्यादां च। 'वेला कालमर्यादयोरपि' इति विश्वः। अतिक्रम्य विवृद्धे प्रवृद्धे सति तुङ्गौ कुचावाश्रयति स्म। मुखानन्तरं दृष्टिः रागसमुद्रवृद्धौ कुचावाश्रितवती इत्यर्थः। अत्र दृष्टिदिनेशयोरूपमानोपमेयभावो चन्द्रोदये समुद्रवृद्धौ उन्नतस्थानाश्रयणमिव प्रतीयमानत्वात् समासोक्तिरलङ्कारः। तेन चाति-मज्जनभयादिव तुङ्गं स्थानं स्वयमेव इत्युत्प्रेक्षाव्यञ्जनाद्ध्वनिः ॥ ४ ॥

अन्वयः—नलस्य दृष्टिः तस्याः मुखेन्दोः आलोकपीयूषरसेन रागाम्बुनिधौ चिरं वेलाम् अतिक्रम्य विवृद्धे तुङ्गौ कुचौ आश्रयति स्म।

हिन्दी—नल की दृष्टि ने उस (दमयन्ती) के मुखचन्द्र के दर्शनामृत रस के कारण बढ़ी मर्यादा का अतिक्रमण कर अनुराग-सागर के प्रवृद्ध हो जाने पर उन्नत कुचों का आश्रय लिया।

टिप्पणी—दमयन्ती के अङ्गों का निरीक्षण करती नल की दृष्टि स्वाभाविक रूप में उसके उन्नत कुचयुगलों पर ठहर गयी और नल दिल के अनुराग में और भी मग्न होने लगा। इसी बात पर कवि ने कल्पना की है उस व्यक्ति की, जो सागर में स्नान कर रहा है कि पूर्ण चन्द्र दर्शन के कारण समुद्र में ज्वार आ जाता है और समुद्र का जल उसकी निर्धारित तटों की मर्यादा का उल्लङ्घन कर बढ़ने लगता है। मनुष्य की दृष्टि में वह शरण हेतु ऊँचे स्थान का आश्रय ले लेता है। यहाँ दमयन्ती का मुख चन्द्र है, जिसके दर्शन से नल के अनुराग रूप सागर में ज्वार आ गया और वह इतना प्रवृद्ध हुआ कि नल इस प्रकार का भी विस्मरण कर गया कि वह दमयन्ती के पास एक अनुरागी के रूप में नहीं, देवदूत के रूप में है। दमयन्ती का रूप निहारते उसके नेत्र—

जैसे डूबने से बचने के लिए ऊँचे स्थान ऊँचे कुचों को आश्रय लेने लग गये। मल्लिनाथ ने निर्देश किया है कि इस श्लोक में दृष्टि के विशेषण की सम्पन के कारण चन्द्रोदय से समुद्र में वृद्धि हो जाने पर डूब जाने से बचने के लिए (कुच रूप) ऊँचे स्थान की प्रतीति होती है अत: समासोक्ति अलकार है। उसमें इस उत्प्रेक्षा की व्यंजना होती है कि दृष्टि समुद्र में डूबने के डर से भाग कर ऊँचे स्थान पर पहुँच गयी है। इस प्रकार अलंकार ध्वनि है। विद्याधर के अनुसार श्लेषप्रधानकातिशयोक्ति अलंकार है ॥ ४ ॥

मग्ना सुधायां किमु तन्मुखेन्दोर्लग्ना स्थिता तत्कुचयोः किमन्तः।
चिरेण तन्मध्यममुञ्चदस्य दृष्टिः क्रशीयः स्खलनाद्भिया नु ॥ ५ ॥

जीवातु—मग्नेति। अस्य नलस्य दृष्टिस्तस्या भैम्या मुखेन्दोस्सुधायां मग्ना किम्, तत्कुचयोरन्तरभ्यन्तरे च लग्ना स्थिता किम्। उभयत्राप्यन्यथा कथं तावान् विलम्ब इति भावः। किंच क्रशीयः कृशतरं तन्मध्यं कर्म स्खलनाद्भिया नु भयेन किम्। चिरेणामुञ्चत। रज्जुसञ्चारिवदिति भावः। उत्प्रेक्षात्रयस्य सजातीयस्य संसृष्टिः ॥ ५ ॥

अन्वय—अस्य दृष्टिः तन्मुखेन्दोः सुधायां मग्ना, तत्कुचयोः अन्तः लग्ना किमु, (यद्) क्रशीयः तन्मध्यं स्खलनाद् भिया नु चिरेण अमुञ्चत।

हिन्दी—इस (नल) की दृष्टि उस (दमयन्ती) के मुखचन्द्र के अमृत में मग्न हो गयी थी क्या? (अथवा उसके मुख-चन्द्र की सुधा में भीग कर) उस (दमयन्ती) के कुच युगल में चिपक गयी थी क्या कि उस (दमयन्ती) के पतले मध्य भाग को मानो गिरने के डर से विलम्ब से छोड़ा?

टिप्पणी—नल दमयन्ती के मुख, कुच युगल और मध्यभाग (कटि) के सौन्दर्य से अभिभूत हो देर तक देखते रहे। इस पर ये कल्पनाएँ हैं कि नल की दृष्टि मुखचन्द्रसुधा में मग्न हो गयी, कुचों पर ठहर गयी, और कटि पर देर तक टिकी रही कि कहीं पतली, सँकरी डगर से फिसल कर गिर न जाय? मल्लिनाथ के अनुसार तीन सजातीय उत्प्रेक्षाओं की संसृष्टि है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

प्रियाङ्गपान्था कुचयोर्निवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती।
चमीनमा त मृगनाभिलेपनमसमासादितदिग्भ्रमेव ॥ ६ ॥

टिप्पणी—वक्षस्थल, नितम्ब और ऊरु युगल को देखकर क्रमशः नल की दृष्टि दमयन्ती के चरणों को देखने लगी। 'नेत्र' शब्द अनेकार्थ है। यहाँ उसके दो अर्थ अभिप्रेत हैं—(१) वस्त्र, (२) नयन। इसी आधार पर चमत्कार लाया गया है। नल की वक्ष, नितंब, ऊरु और तदनन्तर चरणों पर पड़ती दृष्टि जैसे दमयन्ती के चरणों पर गिर कर प्रार्थना कर रही है कि 'वास' (वस्त्र) को ही 'नेत्र' नहीं कहा जाता, 'दृष्टि' को भी 'नेत्र' कहा जाता है। ऐसा भी क्या पक्षपात कि एक नेत्र' (वस्त्र) पर तो ऐसी दया कि उसे वक्ष, नितंब और ऊरुयुगल पर आलिंगित कर दिया गया है (दमयन्ती स्वभावतः अपने अंगों को दुकूल आदि वस्त्रों से ढके थी) और दूसरे 'नेत्र' (दृष्टि) का ऐसा तिरस्कार कि उसे दूर किये हो? जब एक 'नेत्र' को इन अंगविशेषों का आलिंगन दिये हुए हो, तो दूसरे को मत तरसाओ, कृपया उसे भी आलिंगन दे कृतार्थ करो। उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ ८ ॥

दृशौ यथाकाममथोपहृत्य स प्रेयसीमालिकुलं च तस्याः।
इदं प्रमोदाद्भुतसम्भृतेन महीमहेन्द्रो मनसा जगाद ॥ ९ ॥

जीवातु—दृशाविति। अथ महीमहेन्द्रस्य नलो दृशौ स्वाक्ष्णी प्रेयसीं भैमीं, तस्या आलिकुलं सखीवर्गं च यथाकाममुपहृत्योपहारीकृत्य यथेच्छं दृष्ट्वेत्यर्थः। प्रमोदाद्भुताभ्यामानन्दविस्मयाभ्यां सम्भृतेन पूर्णेन मनसा इदं वक्ष्यमाणं जगाद स्वगतमुवाचेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अन्वय—अथ स महीमहेन्द्रः प्रेयसीं तस्याः आलिकुलं च दृशौ यथाकामम् उपहृत्य प्रमोदाद्भुतसम्भृतेन मनसा इदं जगाद।

हिन्दी—इसके पश्चात् वह पृथ्वी का इन्द्र (नल) प्रिया (दमयन्ती) और उसके सखी समूह को जी भर कर नेत्रों का उपहार बना आनन्द और विस्मय से पूर्ण हो मन ही मन यह कहने लगा।

टिप्पणी—भाव यह कि नल ने यथेच्छ रूप से दमयन्ती और उसकी सखियों को जी भर कर देखा। उस अद्भुत सौन्दर्य-सागर को निहार कर न केवल नल को प्रचुर हर्ष हुआ, प्रत्युत आश्चर्य भी हुआ। ऐसा जगद्-विस्मयकारी सौन्दर्य एकत्र! वह मन में तरह तरह से विचार करने लगा ॥९॥

पदे विधातुर्यदि मन्मथो वा ममाभिषिच्येत मनोरथो वा ।
तदा घटेतापि न वा तदेतत्प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पम् ॥ १० ॥

जीवातु–पद इति । विधातुः पदे ब्रह्मणः स्थाने, मन्मथो वा मम मनोरथो वा अभिषिच्येत यदि तदा तत्रापीदम् एतत् पुरोवर्ति प्रतिप्रतीकं प्रत्यवयवम् अद्भुतं रूपशिल्पम् आकारनिर्माणं घटेतापि न वा घटेत, तन्मन्मथादि निर्माणु-समर्थम् किमुत ब्रह्मणेत्यर्थः । अत्र भैम्याः रूपशिल्पस्य प्रसिद्धब्रह्मसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धो-क्तेस्तथा मन्मथादिसम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेश्च अतिशयोक्तिभेदौ ॥ १० ॥

अन्वय—यदि विधातुः पदे मन्मथः मम मनोरथः वा अभिषिच्येत, तदा अपि तत् एतत् प्रतिप्रतीकाद्भुतरूपशिल्पं घटेत न वा ।

हिन्दी– यदि सृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) के पद पर काम अथवा मेरे मनोरथ का अभिषेक हो जाय तो भी वह (अद्भुत) यह (समुपस्थित) प्रत्येक अंग के विस्मयकारी रूप-लावण्य से युक्त शिल्प रचा जा सके अथवा न भी रचा जा सके ?

टिप्पणी—अद्भुत और सर्वातिशायी रूपराशि को देखकर हर्षविवश से पूर्ण नल विचारने लगा कि ऐसा रूप क्या ब्रह्मा रच सकता है, जिसने समूची सृष्टि बनायी है ? संभव है कि सृष्टिकर्ता स्वयं काम बन जाय अथवा मेरा मनोरथ ही ऐसा स्थान पा सके तो ऐसी सर्वांगसुन्दर रचना हो सके, कदाचित् तब भी न हो सके ? ऐसा सौन्दर्य तो कभी देखा नहीं गया । ऐसे शिल्प की रचना न तो ब्रह्मा से ही संभव है, न तो ब्रह्मा से ही संभव है, न मनोभव से, न मनोरथ से । इस श्लोक में भैमी रूप शिल्प के प्रसिद्ध ब्रह्मा से सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध कहा गया और मन्मथ आदि से असम्बन्ध होने पर भी सम्भावना के द्वारा सम्बन्ध बताया गया, अतः मल्लिनाथ के अतिशयोक्ति के दो भेद हैं । छन्द उपेन्द्रवज्रा है ॥ १० ॥

तरङ्गिणी भूमिभृतः प्रभूता जानामि शृङ्गाररसस्य सेयम् ।
लावण्यपूरोऽजनि यौवनेन यस्यास्तथोच्चैस्तनतावनेन ॥ ११ ॥

जीवातु—तरङ्गिणीति । सेयं दमयन्ती भूमिभृतो भीमभूपतेरेव भूधरा-दिति श्लिष्टरूपकम् । भुवः प्रभवः इत्यपादानत्वात्पञ्चमी । प्रभूता सम्भूता ।

जीवातु—पुरेति। विधातुः स्रष्टुः, पुराकृति पूर्वसृष्टिः तत्र स्त्रैणं स्त्री समूहः पूर्वा स्त्रीसृष्टिरित्यर्थः। इमा भैमी विधातुः स्रष्टुः हस्तलेखः अभूत् सनु। लेखनाभ्यासिभिर्हस्तकौशलार्थमेव यल्लिख्यते स हस्तलेख, तादर्थ्यमिति निर्दे नानुप्राणिता पूर्वसृष्टिर्भैमीनिर्माणार्थाभ्यासरूपत्वोत्प्रेक्षा। किं च येय भावि नीना पुरन्ध्रीणा सृष्टिः सा जस्य भैम्यै तासां पुरन्ध्रीणां जयेन जात तज्जययशो प्रदातुमिति फलोत्प्रेक्षा ॥ १५ ॥

अन्वयः—पुराकृति स्त्रैणम् इमां विधातुं विधातुः हस्तलेखः अभूत् खलु, या इय भवद्भाविपुरन्ध्रिसृष्टिः सा अस्यै तज्जयजं यशः प्रदातुम्।

हिन्दी—पहिले रचा हुआ स्त्री समूह इस (दमयन्ती) की रचना के निमित्त विधाता का निश्चयतः प्रथम अभ्यास था, और जो यह विद्यमान और भविष्य में रची जाती नारियों की रचना है, वह इस (दमयन्ती) को उन (सुन्दरियों) को जीतने से उत्पन्न कीर्ति देने के निमित्त है।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के समान न तो पहिले ही कहीं कोई सुन्दरी रची गयी और न दमयन्ती के समय में है और न भविष्यत् में होगी। पहिले जो उर्वशी, रम्भा आदि को विधाता ने अपनी कला को निखारने के प्रथम प्रयास के लिए रचा था और यह जो वर्तमान-भविष्यत् की नागरिकाओं की रचना है वह इसलिए है कि यह प्रचारित हो सके कि दमयन्ती का सौन्दर्य अप्रतिम है, त्रिकाल न थी, और विधाता की यह सदा-सर्वदा की उत्कृष्ट कृति है। मल्लिनाथ ने फलोत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है और विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का ॥

भव्यानि हानीरगुरेतदङ्गात् यथा यथानर्ति तथा तथा तैः।
कस्याधिकम्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एव ॥ १६ ॥

जीवातु—भव्यानीति। भव्यानि रम्याणि चन्द्राद्युपमानवस्तूनि, एतस्या भैम्या, अङ्गात् मुखादेर्यथा यथा हानीरपकर्षान् 'ओहाक् त्यागे' इति उहातेः स्त्रियां निप्रत्ययः वितनाऽपवादः। अगुरगमन्, 'इणो गा लुङि' इति गादेशो 'गाति स्था' इत्यादिना सिचो लुक्। 'आत' इति झेर्जुसादेशः। तथा तथा तैश्च द्राद्युपमानैरनर्ति हर्षान्नृत्य कृतमित्यर्थः। ननु अपकर्षे कथं हर्ष ? तत्राह—उपमाता कविः 'मातेर्माङ्ङ वा तृन्'। अधिकम्योत्कृष्टस्यास्य भैम्यङ्ग-स्योपमया उपमानीकरणेन। अथ वा गरवतरामावात् तैरव तुलनया तथाभेनोप-

मानीकरोतेत्यर्थः । तेभ्यश्चन्द्रादिभ्य एव प्रतिष्ठां दाता दास्यति । दत्तवेत्यर्थः ; तथा च यथा कयाचित् प्रतिष्ठाहङ्कारे उपमेयत्वेन वा, उपमायामुपमानत्वेन वा कविप्रसादाच्चन्द्रादीनां पुनः प्रतिष्ठा भविष्यति इत्यनर्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वय —एतदङ्गात् नवानि यथा यथा हानी अगु तथा तथा तं अनर्तिषु, अधिकस्य अस्य उपमया उपमाता तेभ्य एव प्रतिष्ठा दाता खलु ।

हिन्दी —इस (दमयन्ती) के अग (मुखादि) से रमणीय (चन्द्रादि उपमान) जैसे-जैसे हानि (अपकर्ष) पाते गये वैसे वैसे वे नाचने लगे (प्रसन्न हुए), क्योंकि विशिष्ट इस (दमयन्ती-अग) की उपमा से उपमा देने वाला (रचयिता) उन्हें (उपमानों को) ही प्रतिष्ठा निश्चयपूर्वक देगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अग की उपमा देने में यद्यपि कविसमयसिद्ध उपमान हीन होने से उचित प्रमाणित नहीं हुए, तथापि अन्य उपमान कहाँ से लाये जायें ? और स्पष्टीकरण के लिए उपमा तो देनी होगी ही । इस दृष्टि से भले ही हीन प्रमाणित हों, भले ही अकीर्ति, अपमान और अवहेलना प्राप्त हो, उपमान तो वे प्रसिद्ध चन्द्रादि ही रहेंगे । सो इन चन्द्रादि उपमानों को दमयन्ती-अगों से उपमित होते हुए अयश ही मिला, फिर भी वे अत्यन्त प्रसन्न हुए । उन्हें लगा कि वे धन्य हुए कि कम से कम उन्हें अपने से अच्छा प्रतियोगी तो मिला । किसी न किसी रूप में अपने से अच्छे का उपमान बनने का सौभाग्य तो मिला अब तक तो हीन का ही उपमान बनने का दुर्भाग्य आता था । विद्याधर के अनुसार यहाँ हानि-गमन-नर्तन-क्रिया-विरोध अलकार है । चन्द्रकलाकार ने असबन्ध में सबन्ध का वर्णन होने के आधार पर अति-शयोक्ति का उल्लेख किया है ॥ १६ ॥

नास्पर्शि दृष्टापि विमोहिकेयं दोषैरलेपे स्वभियेति मन्ये ।
अन्येषु नैराकुलितस्तदस्या वस यदानल्पमुदी गुणौघ ॥ १७ ॥

जीवातु—नेति । इयमिति विमोहिका दर्शनमात्रेणापि व्यामोहिकेयं दमयन्ती अपरैर्दोषैः स्वभिया उन्मादाति मोहयिष्यतीत्याशङ्कयेनैव नास्पर्शि न स्पृष्टेति मन्ये । उत्प्रेक्षा । भीरवो हि भयहेतून् स्पष्टमेव बिभ्यतीति भावः । ततस्मात् दोषस्पर्शाभावात् । अन्येषु स्थानान्तरेषु तैर्दोषैराकुलित पीडितो गुणौघोऽस्या

भैम्याममापत्येन अकष्टकत्वेन सुखी सन् वसति 'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानामि'त्यपवादोऽस्यामेव स्पष्ट इति भाव ॥ १७ ॥

अन्वय —दृष्ट्वा अपि इय विमोहिका अदोषं दोषं. स्वभिया न अस्पृश्य इति मन्ये, तत् अन्येषु तं आकुलितः गुणौघः अस्याम् असापत्न्यसुखम् वसति ।

हिन्दी—देखने मात्र से इस विमोहित (आकृष्ट, बेसुध) करनेवाली (दमयन्ती) को समस्त दोषो ने अपने (बेसुध हो जाने के) ही डर से नही छुआ—(मैं नल) ऐसा मानता हूँ,—सो अन्य (सुन्दरियो) मे उन (दोषों) से व्याकुल गुणसमूह इस (दमयन्ती) मे अवैरिभाव का सुखानुभव करता बसता है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के स्वरूप मे, शरीर सौष्ठव मे एक भी दोष नही है और समस्त गुण हैं। दोषों को डर है कि दमयन्ती के पास पहुँचते ही वे बेसुध हो जायेंगे, क्योंकि उसको तो देखते ही लोग विमोहित हो जाते हैं, छूने की तो बात क्या ? दोषाभाव ही गुण है—एवा एव विपर्यस्ततया गुणा । सो जब दोष पास तक नही फटकते, तो गुण दमयन्ती देह मे निष्कटक भाव से प्रसन्नता-पूर्वक टिक गये । अन्यत्र तो दोष जब-तब उनकी सीमा में प्रविष्ट हो कष्ट देते रहते थे—कलंकित करते रहते थे । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ १७ ॥

ओज्झि प्रियाङ्गैर्घृणयेव रूक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य ।
न कण्टकैरावरणाच्च कान्तिर्धूलीमृता काञ्चनकेतकस्य ॥ १८ ॥

जीवातु—ओज्झीति । प्रियाङ्गैर्भैमीगात्रै वराटकस्य बीजकोशस्य कमलकर्णिकाया इत्यर्थ । 'बीजकोशो वराटक' इत्यमरः । रूक्षा परुषा कान्ति घृणयैव रौक्ष्यजुगुप्सयैव ओज्झि विसृष्टा । उज्झ विसर्गे कर्मणि लुङ् । वारिदुर्गाद्वारिदुर्गस्थत्वात्तु न । किं च काञ्चनकेतकस्य धूलीभिर्भृता पूर्णा कान्तिरोज्झि रज कीर्णत्वादेवोज्झिता कण्टकैरावरणात्तु न । रौक्ष्यादिदोषदूषितत्वान्न भैमीकायकान्तिसाम्यमर्हति । महती तत्कायकान्तिरित्यर्थ ॥ १८ ॥

अन्वय —प्रियाङ्गैः वराटकस्य रूक्षा कान्ति घृणया एव ओज्झि वारिदुर्गात् तु न, काञ्चनकेतकस्य च धूलीभृता कान्ति (ओज्झि) कण्टकै आवरणात् न ।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) के अंगों ने कमलकर्णिका की रूखी कांति घृणा से ही छोड़ी, इसलिए नहीं कि वह जल के दुर्ग में रहती है, और सुवर्ण केतकी की कांति धूलिधूसरा होने से छोड़ी, कुछ काँटों के घेरे में घिरी रहने के कारण नहीं।

टिप्पणी—कमलकर्णिका और केतकी का सुनहरा रंग शरीर-वर्ण के लिए अच्छा माना जाता है, किंतु दमयन्ती का शरीर-वर्ण कमलकर्णिका और केतक के रंग जैसा नहीं है। तब प्रश्न होता है कि क्यों दमयन्ती के शरीर ने ऐसा किया? क्या इसलिए कि वह कमल की कर्णिका जल-दुर्ग में रहने से गृहीत नहीं हो सकती, और क्या केतकी पुष्प काँटों की बाड़ में रक्षित है, इससे नहीं पाया जा सकता? ऐसा नहीं है। कमलकर्णिका को जान-बूझ कर, प्राप्ति होने पर भी इसलिए छोड़ दिया गया कि वह रूखी और कठोर है और केतकपुष्प की कांति पर धूल जम जाती है। ये दोनों इन दोषों से अग्राह्य रहे। भाव यह है कि दमयन्ती की देहकांति के सम्मुख कमल-कर्णिका और केतकपुष्प—दोनों फीके, हीन अतएव अग्राह्य हैं। दमयंती की देहकांति इन दोनों से अधिक आकर्षक वर्ण की और स्निग्ध चिकनी थी। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-दीपक अलंकार ॥ १८ ॥

प्रत्यङ्गमस्यामभिकेन रक्षां कर्तुं मघोनेव निजास्त्रमस्ति।
वज्रं स्वभूषामणिमूर्तिधारि नियोजितं तद्द्युतिकार्मुकं च ॥ १९ ॥

जीवातु—प्रत्यङ्गमिति। अस्यां भैम्याम्। अभिकामयत इत्यभिकेन कामुकेन 'कमन कामनोऽभिक' इत्यमरः। 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' इति निपातनात्साधु। मघोना इन्द्रेण प्रत्यङ्गं रक्षां कर्तुं नियोजितं नियमितं भूषामणीनां वज्रमणीनां मूर्तिमाकारं धारयतीति तद्धारि निजास्त्रं वज्रं च तेषां मणीनां द्युतय एव कार्मुकमपि धनुरस्तीव इन्द्रनियोगात् भूषामणितत्प्रभा-व्याजेन अवरोधरक्षार्थं वज्रायुधं धनुश्च प्रत्यङ्गमावृत्य तिष्ठतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥१९॥

अन्वयः—अभिकेन मघोना प्रत्यङ्गं रक्षां कर्तुं भूषामणिमूर्तिधारि निजास्त्रं वज्रं तद्द्युतिकार्मुकं च अस्यां नियोजितम् इव अस्ति।

हिन्दी—कामुक इन्द्र ने (दमयन्ती) के अंग-अंग की रक्षा करने के निमित्त आभूषणों में जड़ी मणियों (वज्र-हीरा) का रूप धारण किये अपने

अस्त्र वज्र और उस (वज्रमणि) की दमक रूप धनुष् (वर्षा से सबंध रखने वाले इन्द्र धनुष्) को इस (दमयन्ती) के प्रति नियुक्त सा किया है।

टिप्पणी—दमयन्ती हीरा (वज्र) आदि मणियों से जड़े आभूषण पहिने है, जिनमें दमक और चमक है। कवि-कल्पना है (नल ने विचारा कि) देवराज इन्द्र दमयन्ती का अभिलाषी है, अतएव कहीं कुछ ऐसा न हो कि दमयन्ती का कोई अंग दूषित हो जाय, इससे उसने मणियों के रूप में वज्र और उन मणियों से निकलती कांति के रूप में सुरचाप को प्रहरी बना दिया है। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षा, नारायण ने वज्र शब्दच्छल के द्वारा सहेतुकोत्प्रेक्षा और विद्याधर ने सापह्नुत्युत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ १९ ॥

अस्याः सपक्षैकविधोः कचौघः स्थाने मुखस्योपरि वासमाप।
पक्षस्पृतावद्वहुचन्द्रकोऽपि कलापिनां येन जितः कलापः ॥ २० ॥

जीवातु—अथास्याः समासेनेदंमयन्त्यादिषु दाराविदानामन्तर्गतमारभते— अस्या इत्यादि। अस्या भैम्याः कचौघः केशपाशः सपक्षः सदृशः सुहृद्भूतश्चैक एव विधुश्चन्द्रो यस्य तस्य सपक्षैकविधोः 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' इति वैकल्पिकः पुंवद्भावः। मुखस्योपरि वासं स्थितिमाप, स्थाने युक्तम्। कुतः येन कचौघेन पक्षस्पृता गरुत्मिश्रः स्ववर्गीयश्च यावन्तो बहवश्चन्द्रका मेचका चन्द्राश्च यस्य सोऽपि। 'समौ चन्द्रकमेचकौ' इत्यमरः। चन्द्रपक्षे 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। कलापिनां बर्हिणां कलापो बर्हं जितः अनेकचन्द्रसहायविजयिनः एकचन्द्रविजयस्तदुपर्यवस्थानं च किं चित्रमित्यर्थः ॥ २० ॥

अन्वय—अस्याः सपक्षैकविधोः मुखस्य उपरि कचौघः स्थाने वासम् आप, येन पक्षस्पृतावद्बहुचन्द्रकः कलापिनां कलापः अपि जितः।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के—जिसका बराबर एकमात्र चन्द्रमा ही है (चन्द्रसदृश), ऐसे मुख के ऊपर केशों के समूह ने उचित ही स्थिति प्राप्त की, जिसने पक्षों में लगे उतने बहुत से चन्द्रका से युक्त मयूरों के पिच्छभार को जीत लिया है।

टिप्पणी—दमयन्ती के मुख की तुलना यदि की जा सकती है, तो चन्द्र से ही। उसका अनेक आभूषणों से मंडित केश जाल अनेक चन्द्रका से युक्त प्रतीत होता है, जिससे समूल मयूरों के अनेकचन्द्रक युक्त पिच्छभार भी

नहीं ठहरते। केश घने हैं, उतने कि जितने मयूरपिच्छ भी नहीं हैं और चन्द्रकद्युति अनेक आभूषण उनमें गुँथे हैं, अतः वे मयूरपिच्छों से अधिक आकर्षक हैं। इस प्रकार जब अनेक चन्द्रकों को दमयन्ती-केशभार ने पराजित कर रखा है, तो एक बेचारे चन्द्र (अनुप्रासोजनार्थ चन्द्रक) की क्या गिनती? इसी कारण मुखरूप में पराजित चन्द्र के ऊपर, उच्चस्थान शीर्ष पर विजयी केशभारों को स्थान देकर विधाता ने युक्तियुक्त कार्य ही किया है। इस श्लोक से आरम्भ कर अन्तिम १०९ वें श्लोक तक दमयन्ती के केश से लेकर चरणनखों तक का वर्णन किया गया है—'इति स चिकुरादारभ्यैना नखावधि वर्णयन्—।' २०, २१, २२ वें श्लोकों में केशों का वर्णन है॥ २०॥

अस्या यदास्येन पुरस्तिरश्च तिरस्कृतं शीतरुचान्धकारम्।
स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमस्ति बद्धम्॥ २१॥

जीवातु—अस्या इति। अस्या भैम्या आस्येनैव शीतरुचा मुखचन्द्रेण यदन्धकारं तमः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तम्' इत्यमरः। पुरो अग्रे तिरश्च पार्श्वयोश्च तिरस्कृतं तदन्धकारमेवेदं स्फुटं स्फुरत् भङ्गं कौटिल्यं परामवश्च येषां तेषां कचानां छलेन पश्चाद्बद्धमस्तीत्युत्प्रेक्षा। तिरस्कृतो हि मनोत्साहः क्वचित्पृष्ठभागे बद्धस्तिष्ठतीति भावः॥ २१॥

अन्वयः—अस्या आस्येन शीतरुचा यद् अन्धकारं पुरः तिरः च तिरस्कृतम् तद् एव स्फुटस्फुरद्भङ्गकचच्छलेन इव पश्चात् बद्धम्। -

हिन्दी—इस (दमयन्ती) मुख रूप शीत किरण (चन्द्र) ने जो अन्धकार आगे और इधर-उधर पार्श्वों में अपसारित किया, वही प्रकट विलसित भंगिमा-युक्त केशों के ब्याज से यह पीछे बाँध दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती का केशपाश अत्यन्त श्याम और भंगिमायुक्त (घुँघराले) है जिसे पीछे जूड़े के रूप में समेट कर बाँध दिया गया है और उसका मुख शीतकिरण चन्द्र के समान सुन्दर और शान्ति-सुखदायी है। कवि-कल्पना है कि मुख के रूप में चन्द्रमा ने सम्मुखभाग और पार्श्वभागों से अन्धकार को हटाकर अपमानित और पराजित किया केश-पाश रूप में उसी पराजित अन्धकार को पीछे बाँध लिया गया है। तिरस्कृत और हतोत्साह

बेचारा अन्धकार केशपाशरूप मे पीछे-बँधा पड़ा हुआ है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार रूपकापह्नुति। चन्द्रकलाकार ने रूपक कैतवापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के अंगांगिभाव संकर का निर्देश किया है॥ २१॥

अस्याः कचानां शिखिनाञ्च किन्नु विधिं कलापौ विमतेरगाताम्।
तेनायमेभिः किमपूजि पुष्पैरभर्त्सि दत्त्वा स किमर्धचन्द्रम्॥२२॥

जीवातु—अस्या इति। अस्या भैम्याः कचानां केशानां शिखिनां बर्हिणश्च कलापौ केशपाशबर्हभारौ। 'कलापो भूषणे बर्हे तूणीरे संहतौ कचे' इत्यमरः। विमतेर्मिथो विवादाद्विधिमगाता स्वतारतम्य प्रष्टुमगमतां किं नु। 'इणो गा लुङि' इति गादेशः। तेन विधिना अयं केशपाश एभिः पुष्पैरिति हस्तेन पुरोवर्तिनिर्देशः अपूजि किम्। महत्त्वपूज्यत्वादिति भावः। स शिखिकलापः अर्धचन्द्रं चन्द्रकं गलहस्तं च दत्त्वा अभर्त्सि भर्त्सितः किं महाजनद्वेषिणो नीचस्य शास्यत्वादिति भावः। अर्धचन्द्रस्तु चन्द्रके गलहस्ते बाणभेदः इति विश्वः। शिखिकलापस्य चन्द्रकवत्त्वं केशपाशस्य तत्कुसुमं ब्रह्मदत्तं शाश्वतमिति भावः। अत्रोत्तरोत्प्रेक्षयोः प्रथमोत्प्रेक्षासापेक्षत्वात् सजातीयसङ्करः॥ २२॥

अन्वय—अस्याः कचानां शिखिनां च कलापौ विमतेः विधिम् अगाताम् किंनु, तेन अयम् एभिः पुष्पैः अपूजि किम्, सः अर्द्धचन्द्रं दत्त्वा अभर्त्सि किम्?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के केश और मयूरों के पिच्छभार परस्पर विवाद होने से क्या (निर्णय कराने को) विधाता के निकट गये थे? क्या उन (ब्रह्मा) ने इस (केशपाश) को इन (केशों में गुँथे) फूलों से पूजा है? उस (मयूरपिच्छ) को क्या गरदनिया देकर भर्त्सना की है?

टिप्पणी—दमयन्ती के केशपाश और मयूरपिच्छ में विवाद उठ खड़ा हुआ कि दोनों में कौन अच्छा—बड़ा है? निर्णय के लिए वे विधाता की सेवा में पहुँचे। जैसा कि स्वाभाविक था, विधाता ने दमयन्ती-केशपाश को उत्तम बताया और फूलों से—फूल चढ़ाकर उसकी आराधना की और मयूरपिच्छ को गरदनिया देकर डाँट फटकार कर बाहर कर दिया। भाव यह कि फूल गुँथे केशपाश चन्द्रक युक्त मयूरपिच्छ से कहीं मनोरम हैं। नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा प्रतीप और मल्लिनाथ के

अनुसार उत्तरवर्त्तिनी दो उत्प्रेक्षाओं के प्रथमोत्प्रेक्षासापेक्ष होने के कारण सजातीय सङ्कर है ॥ २२ ॥

केशान्धकारादथ दृश्यफालस्थलार्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम् ।
एतां यदासाद्य जगज्जयाय मनोभुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥ २३ ॥

जीवातु—केशेति । केशाः केशपाश एवान्धकारस्तस्मात् अथानन्तरं दृश्यो दर्शनार्हः फालस्थलं ललाटभाग एवार्धचन्द्रो यस्यास्सा इयं दमयन्ती अष्टमी । तथाप्यन्धकारानन्तरदृश्यार्धचन्द्रत्वात्कृष्णाष्टमी शुक्लपक्षे विपर्ययात्स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् । कुतः ? यद्यस्मान्मनोभुवा जगज्जयाय एतामासाद्य साधु सिद्धिः जगज्जयसिद्धिः असाधि साधिता । कृष्णाष्टम्यां जैत्रयात्रायां जयसिद्धिरिति ज्योतिर्विदः । यथाह पितामहः—'जयदा विजिगीषूणां यात्रायामसिताष्टमी । श्रवणेनाथ रोहिण्या जययोगो युता यदि ॥' इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—केशान्धकारात् अथ दृश्यफालस्थलार्धचन्द्रा इयं स्फुटम् अष्टमी, यद् मनोभुवा जगज्जयाय एताम् आसाद्य साधु सिद्धिः असाधि ।

हिन्दी—केशों के अँधियारे के पश्चात् (नीचे) दर्शनीय ललाटपट्ट रूप आधा चन्द्रमा धारण करती यह (दमयन्ती) स्पष्ट अष्टमी है, कि मनोजन्मा (काम) ने जगत् विजय के निमित्त इसे प्राप्त कर ठीक ही सिद्धि साधी है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में आधे चन्द्रमा के समान ललाट अथवा अर्धचन्द्राकार तिलक लगे ललाट का वर्णन है । इसी आधार पर दमयन्ती को अर्धचन्द्रधारती कृष्णपक्ष की अष्टमी माना गया है, जिस रात को जगत् को वश में करने के लिए गुटिकादि सिद्धि साधी जाती है । ज्योतिशास्त्र के अनुसार कृष्णाष्टमी को आरम्भ जययात्रा सफल होती है, यदि वह श्रवण और रोहिणी नक्षत्र से युक्त है । काम ने इसी अष्टमीरूपी दमयन्ती को प्राप्त कर स्वयंवर में जगत् विजय के लिए यात्रा करने का उचित ही निर्णय किया है । उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ २३ ॥

पुष्पं धनुः किं मदनस्य दाहे श्यामीभवत्केसरशेषमासीत् ।
व्यधाद्द्विधेशस्तदपि क्रुधा किं भैमीभ्रुवौ येन विधिर्व्यधत्त ॥ २४ ॥

जीवातु—पुष्पमिति । मदनस्य दाहे दाहकाले, पुष्पमेव धनुः श्यामीभवन्तः केसराः किञ्जल्का एव शेषो यस्य तदासीत् किम् । किञ्च ईशो हरः तदपि

क्रुधा क्रोधेन द्विधा व्यधात् द्वेधा व्यभजत् किम्। येन द्विधा विभक्तेन पुष्पेण विधिर्वेधा भैम्या भ्रुवौ व्यधत्त असृजदित्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अन्वय —मदनस्य दाहे पुष्पं धनुः श्यामीभवत्केसरशेषम् आसीत् किम्, ईशः तत् अपि क्रुधा द्विधा व्यधात् किम्, येन विधिः भैम्या भ्रुवौ व्यधत्त ?

हिन्दी—काम के (शिव द्वारा) दग्ध किये जाने पर (इसका) कुसुम-चाप श्याम केसरमात्रावशेष रह गया था क्या, और शिव ने उस (धनुष्) को भी क्रोध से दो खण्डकर डाला था क्या, जिससे विधाता ने भीमपुत्री का भ्रूयुगल बनाया ?

टिप्पणी—दमयन्ती का भ्रूयुगल अत्यन्त श्याम, धनुष् के दो खण्डों के आकार का अतएव इतना मनोहर है कि कामधनुष् की भाँति वह जगत् को मोहने में समर्थ है। ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने उसी काम-चाप से दमयन्ती की दोनों भौंहें बनायी हैं, जो शिवद्वारा मदनदाह होते जलकर काला पड़ गया था और क्रोध में भरे शिव ने उस धनुष् अस्त्र के दो खण्ड कर डाले थे। उससे ही विधि ने ये दो काली भौंहें बनायी हैं, तभी तो ये श्याम और विश्वजय सामर्थ्य से पूर्ण हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षातिशयोक्ति ॥ २४ ॥

भ्रूस्था प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे घनसारभावः।
निजां यदप्लोषदशामपेक्ष्य सम्प्रत्यनेनाधिकवीर्यताजि ॥ २५ ॥

जीवातु—भ्रूस्थामिति। किञ्च प्रियाया भैम्या भ्रूस्था भवता भ्रूयुगलत्वेन परिणमता मनोभुवश्चापेन घनसारभावो दृढस्थिरात्वं कर्पूरत्वं च। 'सारो बले स्थिरांशे च। अथ कर्पूरमस्त्रियाम्। घनसार' इति चामरः। आपे प्राप्तः। आप्नोतेः कर्मणि लिट्। यद्यस्मात्, निजामप्लोषदशामपेक्ष्य अदाहावस्थात इत्यर्थः। सम्प्रत्यनेन मनोभूचापेन अधिकवीर्यता अधिकपराक्रमोऽपि अजि प्रापि। कर्मणि लुङ्। 'वीर्यं पराक्रमे रेतसि' इति वैजयन्ती। दग्धस्यापि स्मरचापस्य तद्भ्रूभूतस्य पूर्वाभ्यधिकपराक्रमदर्शनान्नूनं घनसारभावः प्राप्त इत्युत्प्रेक्षा ॥

अन्वय —प्रियायाः भ्रूस्था भवता मनोभूचापेन घनसारभावः च आपे, यत् निजाम् अप्लोषदशाम् अपेक्ष्य सम्प्रति अनेन अधिकवीर्यता आजि।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) का भ्रूयुगल बनते काम धनुष् ने घनसार-

भाव (अतिशय बल और कर्पूरभाव) प्राप्त कर लिया, जो कि अपनी जलने से पूर्व की दशा की अपेक्षा इस समय (जल जाने पर) अतिशय पराक्रम का अर्जन कर लिया।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक और इस श्लोक तथा अगले (२६ वें) में दमयन्ती के भ्रूयुगल का वर्णन है। इस प्रकार तीन श्लोकों में भ्रूवर्णन हुआ। इस श्लोक में प्रथम श्लोक के भाव के प्रसंग में कवि-कल्पना है कि जलकर और टूटकर तो वस्तु प्रायः निःसार हो जाया करती है, परन्तु काम-चाप के सदर्भ में इसके विपरीत हुआ। शिवद्वारा जलाया और दो टूक किया काम धनुष् दमयन्ती का भ्रूयुग्म बनकर और भी बलशाली और पराक्रमी बन गया। पहिले तो फूल का था-निःसार, अब तो सारवान् बन गया। दमयन्ती-भ्रूयुग्म रूप में उसकी जगद्वशीकरण क्षमता कहीं अधिक हो गयी है—घनसारभाव' उसे प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, जल कर काला पड़ा काम-चाप अब और हो गया कर्पूर के समान, जो जलकर ही अधिक ताप देता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति–अनुमान ॥ २५ ॥

स्मारं धनुर्यद्विधुनोज्झितास्या यास्येन भुग्नेन च लक्ष्मरेखा।
एतद् भ्रुवौ जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचितबाल्यभावम् ॥ २६ ॥

जीवातु—स्मारमिति। यत्स्मरस्येदं स्मारं धनु। अस्या भैम्या आस्येन भुग्नेन आस्यभावं गतेन विधुना चन्द्रेणोज्झिता, या लक्ष्मरेखा कलङ्करेखा च तदुभयं कर्तृ। लीलाचलत्वोचितबाल्यभावं ... यस्मिन् जन्मनि तत्तथोक्तम्। एतस्या भैम्या भ्रुवौ ... । एतस्या मुखचन्द्रकलङ्कश्च भ्रुवौ च स्मरधनुश्चन्द्र-लक्ष्मणोरपरावतार इत्युत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

अन्वयः—यत् स्मारं धनुः अस्याः आस्येन भुग्नेन विधुना उज्झिता या लक्ष्मरेखा च तद् युग्मं लीलाचलत्वोचितबाल्यभावम् जन्म एतद् भ्रुवौ आप।

हिन्दी—काम के धनुष् और इस (दमयन्ती) का मुख हुए चन्द्रमा द्वारा छोड़ दी गयी कलङ्क-रेखा—इस युगल ने चपल चेष्टाओं से पूर्ण बचपन से युक्त, विलास लीलाओं में पूर्ण भेदों से सम्पन्न जन्म इस (दमयन्ती) के भ्रूयुग्म के रूप में पाया है।

अस्सी भाग तक का निर्देश किया गया है—'अशीतिभागो वृद्धिः स्यात्।' (हिन्दी-व्याख्याकार के विचार में यह 'अशीतिभाग' १।८० का द्योतक है। व्यवहार में कदाचित् एक मुद्रा ब्याज सहित १ + १।८० तक ली जाती होगी, जैसे कि आधुनिक युग में एक रुपये के एक सौ अस्सी पैसे तक मूल-ब्याज सहित वसूल किये जायें।) *विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा-समासोक्ति* अलंकार ॥ ३३ ॥

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मिथो मिलेताम् ।
न चेत्कृतं स्यादनयोः प्रयाणे विघ्नं श्रवःकूपनिपातभीत्या ॥ ३४ ॥

जीवातु—दृशाविति। चपलस्वभावे चञ्चलशीले, अस्या भैम्याः दृशौ दूरमाक्रम्य अत्युपर्यन्तं गत्वेत्यर्थः। मिथो न मिलेतां न सङ्गच्छेयाताम्, काकुः। मिलतेर्लिङि ततस्तामादेशः। किं त्वनयोर्दृशोः प्रयाणे दूरगमने श्रवसी श्रोत्रे एव कूपाविति रूपकम्। तयोर्निपाताद्भीत्या कर्त्र्या विघ्नं कृतो न स्याच्चेत्। अत्र दृशोः कर्णान्तविश्रान्तयोः कूपपातभयहेतुकत्वोत्प्रेक्षारूपकोऽङ्गीवितेति सङ्करः ॥ ३४ ॥

अन्वय—अस्याः चपलस्वभावे दृशौ दूरम् आक्रम्य किं मिथो न मिलेताम् चेद् अनयोः प्रयाणे श्रवःकूपनिपातभीत्या विघ्नं न कृतं स्यात्।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के चपल प्रकृति के नेत्र दूर तक दौड़ते जाकर क्या परस्पर मिल न जाते यदि इनके दूर जाने के मार्ग में कर्णकूप रूप कूप में गिर जाने के डर से विघ्न न पड़ जाता ?

टिप्पणी—दमयन्ती के दोनों नेत्र उन चपल और, आकर्षक बालकों के समान हैं, जो इधर-उधर भागते फिरते हैं किन्तु रास्ते में कूप, गढ़ा आदि में गिरने के भय से रुक जाते हैं, अर्थात् नेत्र अत्यन्त चपल और बड़े बड़े हैं—कानों तक फैले। मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोज्जीवित उत्प्रेक्षा होने से सङ्कर अलंकार है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-समासोक्ति ॥ ३४ ॥

केदारभाजा शिशिरप्रवेशात्पुण्याय मन्ये मृगमुत्पलिन्या ।
जाता यतस्तत्कुसुमेक्षणेयं यतश्च तत्कोरकदृक् चकोरः ॥ ३५ ॥

जीवातु—केदारेति। केदारं क्षेत्रविशेषं पर्वतविशेषश्च। तं भजतीति तद्भाक्। 'केदारः पर्वते शम्भौ क्षेत्रभेदालवालयोः' इति विश्वः। तयोरुत्पलिन्या

शिशिरप्रवेशात् शिशिरर्तुप्रवेशाद्धेतोः पुण्याय धर्माय मृत मन्ये । भावे क्तः । मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । यतो यस्मात् केदारमरणादिव नैमी तस्या उत्पलिन्याः कुसुमे पुष्पे एव ईक्षणे यस्याः सा जाता । यतश्चकोरश्च तत्कोरकावेव दृशौ यस्य स जातः । केदारक्षेत्रमरणादुत्तमजन्मलाभ इत्यागमः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—केदारभाजा उत्पलिन्या शिशिरप्रवेशात् पुण्याय मृतं मन्ये, यतः इयं तत्कुसुमेक्षणा जाता, यत चकोरः च तत्कोरदृक् ।

हिन्दी—आलवाल (थाला) रूपी केदारनाथ शिव के समीप स्थित कमलिनी ने शिशिर ऋतु रूप शीत जल मे प्रवेश करके पुण्य के निमित्त मृत्यु स्वीकारी, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि यह (दमयंती) उस (कमलिनी के) नैत्रोंवाली हुई और चकोर उसकी कली के नेत्र वाला ।

टिप्पणी—द्योतित यह करना है कि दमयंती के नेत्र कमलतुल्य हैं और चकोर के उसकी कली-जैसे । कलिका की अपेक्षा कुसुम श्रेष्ठ होता है—इस क्रम से दमयंती के कमलकुसुम नयन चकोर के कलिका नयनों की अपेक्षा सुन्दर हैं । पर कमलिनी को ऐसा सौभाग्य मिला कैसे कि वह दमयन्ती और चकोर-नेत्र रूप मे पुनर्जन्म पा सकी ? उसने पुण्य में जीवनोत्सर्ग किया था केदारेश्वर में शीतल जल मे स्नान करके । केदार का अर्थ केदारनाथ शिव भी है और थाला भी, शिशिर प्रवेश का अर्थ शिशिर, ऋतु का आना भी है और शीतल्जल में प्रवेश भी । शिशिर के पाले म कमलिनी नष्ट हो जाती है । 'विश्व'कोष के अनुसार-'शिशिर , स्याद्धर्तोर्भेदे तुषारे ।' मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

नासादसीया तिलपुष्पतूणं, जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेया दधद्द्विबाणी कुसुमायुधस्य ॥ ३६ ॥

जीवातु—नासेति । अमुष्या इयमदसीया, नासा नासिका, जगत्त्रये न्यस्त प्रयुक्त शरत्रयं यस्य तस्य कुसुमायुधस्य सम्बन्धिनी निश्वासानिलस्य निश्वास-मारुतस्य आमोदभरेण सौरभातिशयेन अनुमेया द्विबाणी शिष्ट बाणद्वयम् । समाहारे द्विगोर्ङीप् । दधत् तिलपुष्पमेव तूणमिषुधिरित्युत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

अन्वय —अदसीया नासा जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य कुसुमायुधस्य श्वासा-निलामोदभरानुमेया द्विबाणीं दधत् तिलपुष्पतूणम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) की नासिका त्रिजगत् (जय) के निमित्त तीन बाणों का प्रयोग कर देने वाले कुसुमायुध (काम) के निश्वास वायु की सुगन्ध सार से अनुमित, (शेष) दो बाणों को धारती तिल के फूलों से बना तूणीर है।

टिप्पणी—अंग वर्णन क्रम में नासिका का वर्णन, जिसे दो बाणों को धारते काम का तूणीर बताया गया। नासिका के दो छेदों में काम के तीन लोकों के जय से बचे दो पुष्पबाण हैं, इसका अनुमान नासा रन्ध्रों से निकलती सुगन्ध से होता है। यदि पुष्प न होते तो सुगन्ध न होती। और सुगन्ध है, अतः फूल हैं, क्योंकि जहाँ सुगन्ध है, वहाँ फूल होते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिंग ॥ ३६॥

बन्धूकबन्धूभवदेतदस्या मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहानम्।

रागश्रिया शैशवयौवनीयां स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ ३७ ॥

जीवातु—बन्धूकेति। अस्या भैम्या अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सहोज्जिहानमुद्यद् । बन्धूकबन्धूभवत् । बन्धुजीवकुसुमसमीभवत् एतत्पुरोवर्ति स्वमात्मानम् । 'आत्मनि स्वम्' इत्यमरः । रागश्रिया आरुण्यसम्पदा, शैशवयौवनयोरेतत्सन्धिमनी सन्ध्यामाह। अहोरात्रसन्धाविव वय सन्धौ भवा सन्ध्या स्वयमेवेति स्वरागसमृद्ध्या कथयति इवेत्युत्प्रेक्षाव्यञ्जनाप्रयोगाद्गम्या ॥३७॥

अन्वय—अस्याः अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सह उज्जिहानं बन्धूकबन्धू भवत् एतत् स्वं रागश्रिया शैशवयौवनीयां सन्ध्याम् आह।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के निचले ओठ की लेखा (अधर) इस (दमयन्ती के) मुख चन्द्र के साथ उत्पन्न होते, बन्धूक (दुपहरिया के फूल) के बंधु (सदृश) बनते इस अपने को अरुण शोभा के कारण बाल्यावस्था और यौवन की सन्ध्या (संधि) कह रही थी।

टिप्पणी—इस ३७ वें से ४२ वें (छ श्लोकों में) श्लोक तक दमयन्ती के अधरोष्ठ का वर्णन है। इस श्लोक में दमयन्ती की वय संधि का चमत्कारपूर्ण चित्रण हुआ है। दुपहरिया के फूल के समान लाल अधर की लाली के कारण वयःसंधि का द्योतक बताया गया है, जो चन्द्र के समान गुलाबी मुख के साथ इस अरुणरागमयी श्री को प्राप्त हुआ है। कल्पना की गयी है कि लाल अधर-

लेखा जाने को ही शैशव-यौवन की सन्धि घोषित कर रही है। दिन-रात का सन्धिकाल—सन्ध्याकाल लाल होता है और उदित होता चन्द्र भी गुलाबी। शैशव-यौवन दिन-रात हैं, अधरों की लाली उनकी सन्ध्या की लाली है। सन्ध्या उदित होते लाल चन्द्रमा की भाँति लाल होती है। इस श्लोक में दिन-रात की सन्ध्या के तुल्य वयःसन्धि में होने वाली सन्ध्या ने उसकी रागसमृद्धि के कारण जैसे बनने को ही सन्ध्या कहा, अतएव मल्लिनाथ के अनुसार इव-शब्द का प्रयोग न होने से गम्योत्प्रेक्षा है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-रूपक अलङ्कार है ॥ २७ ॥

अस्या मुखेन्दोरधरः सुधाभूर्बिम्बस्य युक्तः प्रतिबिम्ब एषः।
तस्याय सा श्रीद्रुमभाजि देश समाप्यमानान्य तु विद्रुमे सा ॥ २८ ॥

जीवातु—अस्या इति। अस्या भैम्या एषोऽधर अधरोष्ठः मुखेन्दो सुधा-भावमृतं तस्यादाविर्भवतीति सुधाभूः बिम्बस्य बिम्बफलस्य प्रतिबिम्ब सदृशो युक्त। न तु च बिम्बफलात्कश्चिद्विशेषोऽस्तीत्यर्थः। तस्य बिम्बफलस्य या श्री शोभा द्रुमभाजि द्रुमवति देशे समाप्यमाना। अस्याधरस्य स्वश्री श्री विद्रुमे प्रवाले विगतद्रुमे च समाप्यत इत्यर्थः। 'विद्रुम पुंसि प्रवाले पुनपुंसकम्' इत्यमरः। विद्रुमसमर्थौरित्यर्थः ॥ २८ ॥

अन्वयः—अस्याः मुखेन्दोः सुधाभूः एषः अधरः बिम्बस्य प्रतिबिम्बः युक्तः, अथ तस्य श्रीः द्रुमभाजि देशे समाप्यमाना, अस्य तु सा विद्रुमे।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) का मुखचन्द्र के अमृत से उत्पन्न यह अधर बिम्बफल के सदृश है, परन्तु (विशेषता यह है) उस (बिम्बफल) की शोभा वृक्षों वाले स्थान (वन-उपवन) में समाप्त है, इस (अधर) की वह (शोभा) तो प्रवाल में अथवा 'विद्रुम' (द्रुमरहित, वृक्षरहित) प्रदेश (नगर) में समाविष्ट है।

टिप्पणी—दमयन्ती के चन्द्रामृतजात, रागारुण अधर की शोभा बिम्बफल से विशिष्ट घोषित करना कवि का उद्देश्य है, इसी कारण 'विद्रुमरहित' प्रदेश में उसकी सम्भावना की गयी है, अर्थात् 'बिम्बफल' तो जंगली पदार्थ है, अधर तो नागरिकों से सम्पन्न है। अथवा 'काकु' के आधार पर यह अर्थ भी किया जाता है कि क्या इस 'मुखेन्दुसुधाभू' अधर का प्रतिबिम्ब बिम्बफल है? अर्थात् नहीं है, क्योंकि बिम्बफल जंगली है—द्रुमवाले देश में उत्पन्न, अधर

की संभावना तो द्रुमरहित प्रदेश मे की जाती है। इसके अतिरिक्त अधर चन्द्र-सुधा से उत्पन्न है, जब कि बिम्बफल मे यह वैशिष्ट्य नही होता। रससिक्त होने से और अरुण होने के कारण एक बार बिम्बफल को 'सुधाभू' अधर का प्रतिबिम्ब कहा भी जा सकता है, परन्तु अधर की 'विद्रुमदेश' मे संभावना तो सर्वथा ही बिम्बफल मे नही है, अतः अधर की तुलना बिम्बफल से करना ठीक नहीं। एक प्रकार से विद्रुम (जो अधर के साथ अरुण होने के आधार पर साम्य प्राप्त कर सकता है) भी अधर की तुलना मे नही ठहरता, क्योंकि वह सरस 'सुधाभू' नही है। इस प्रकार दमयन्ती का अधर बिम्बफल और विद्रुम (मूँगा)–दानो से श्रेष्ठ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक अतिशयोक्ति व्यतिरेक-आक्षेप अलकारो का सकर है। चन्द्रकलाकार ने रूपक-उपमा श्लेष की ससृष्टि का निर्देश किया है। इन्द्रवज्रा छद है॥ ३८॥

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्बं बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम्।
द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणां नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम्॥ ३९॥

जीवातु—जान इति। अतिरागादतिलौहित्याद्धेतो इद पुरोवर्त्येव बिम्बं बिम्बनामार्ह बिम्बस्य च इतोऽस्मादधरत्वमपकृष्टत्वमोष्ठत्व च व्यक्त तदेवाधरनामार्ह प्रतीयत इत्यर्थ। एव स्थिते द्वयोरनयोरधरबिम्बयोर्नाम्नो विषये विशेषावगमे इदमस्य नामेति निर्धारणे अक्षमाणामसमर्थाना जनाना भ्रमोऽभूत्। जाने जानामीत्युत्प्रेक्षा॥ ३९॥

अन्वय—अतिरागात् इदम् एव बिम्बं बिम्बस्य च इत अधरत्वं व्यक्तम् जाने अनयो द्वयो विशेषावगमाक्षमाणा नाम्नि भ्रमः अभूत्।

हिन्दी—प्रचुर लालिमा होने के कारण यह (अधर) ही बिम्ब है, बिम्बफल की तो इस (अधर) से अधरता (निम्नता) प्रकट है। प्रतीत होता है कि इन दोनो (दमयन्ती अधर और बिम्बफल) के तारतम्य (उच्चत्व-निम्नत्व) को न समझ सकने वालो को नाम मे भ्रम हो गया।

टिप्पणी—इस श्लोक में अन्य भगिमा से दमयन्ती-अधर की बिम्बफल से श्रेष्ठता प्रतिपादित है। कल्पना है कि अधर ही वास्तविक बिम्ब है, क्योंकि उसमें प्रचुर लाली है। जहाँ तक बिम्बफल का प्रश्न है, वह तो अधर से निम्न माना ही जाता है, क्योंकि उसे बिम्बनाम इसी कारण मिला है कि

वह दमयन्ती के अधर के तुल्य है। अधर उपमान है, बिम्बफल उपमेय। उपमान की अपेक्षा उपमेय निम्न होना ही है। लोगों में तारतम्य का विवेक नहीं था, सो उलटा-पल्टा नामकरण हो गया। दमयन्ती के निचले ओष्ठ को अधर-संज्ञा दे दी और फल को बिम्ब-संज्ञा। होना चाहिए था दमयन्ती-ओष्ठ का नाम बिम्ब (जो वास्तविकता है) और फल का अधर। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा विद्याधर ने सन्देह रूपक-काव्यलिंग अलंकार माने हैं ॥३९॥

मध्योपकण्ठावधरोष्ठभागौ भातः किमप्युच्छ्वसितौ यदस्याः ।
तत्स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन किं वा न मयापराद्धम् ॥ ४० ॥

जीवातु—मध्येति। यद्यस्मात्, अस्याः सम्बन्धिनौ मध्यस्याधरमध्यप्रदेशस्य उपकण्ठौ सन्निहितौ अधरोष्ठस्य भागौ तदुभयपार्श्वे इत्यर्थः। किमप्युच्छ्वसितौ किंचिदुच्छूनौ भातः स्फुरतः। तत्तस्मात् स्वप्नसम्भोगे वितीर्णो दत्तो दन्तदंशो दन्तक्षतं येन तेन मया नापराद्धं किं वा। स्वप्ने स्वकृतदन्तक्षतमेतावित्युत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

अन्वय—यत् अस्याः मध्योपकण्ठौ अधरोष्ठभागौ किमपि उच्छ्वसितौ भातः तत् किं वा मया स्वप्नसम्भोगवितीर्णदन्तदंशेन न अपराद्धम् ?

हिन्दी—कि इस (दमयन्ती) के मध्यस्थल के निकट अधर और ओष्ठ कुछ सूजे-से सुशोभित हो रहे हैं, सो कहीं मैंने स्वप्नकृतसम्भोग में दंत-क्षत करने का अपराध तो नहीं कर दिया है ?

टिप्पणी—ओष्ठ अधरों का कुछ फुलावन (उच्छूनता) सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से गुण है। दमयन्ती के ओष्ठाधर वैसे हैं। इसके आधार पर यह भी द्योतित कर दिया गया है कि गाढ़ानुरागी नल प्रत्येक रात्रि को इससे स्वप्न में मिलता है। स्वप्न सम्भोगकृत दंतक्षत के कारण उच्छूनता की सम्भावना यही निर्देश करती है। विवेकी नल यह अपना अपराध मानता है कि एक कुमारी के साथ उसके द्वारा यह अनुचित हो गया। उत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

विधा विदर्भेन्द्रसुताधरोष्ठे नृत्यन्ति कन्यान्तरभेदभाजः ।
इतीव रेखाभिरपश्रमस्ता मस्यातवान् कौतुकवान्विधाता ॥ ४१ ॥

जीवातु—विधा इति। कौतुकवान् विनोदी विधाता विदर्भेन्द्रसुताया अधरोष्ठे याति विधा अन्तरस्यान्तरे अभेदभाजः भेदरहिता सत्यो नृत्यन्ति

टिप्पणी—दमयन्ती की मुसकान का हजारवाँ भाग भी यदि चाँदनी मे पड़ जाये तो जैसे गंगाजल की एक बूँद प्रचुर जल में गिर कर उसका महत्त्व स्थापित कर देती है, वैसे ही चाँदनी मे महत्त्व आ जाय और इस प्रकार वह कृतार्थ हो अपनी सत्ता सफल कर ले। भाव यह कि दमयन्ती की मुसकान का यत्किंचित् अंश भी अनेक चाँदनियों से रमणीय और आनन्ददायक है। नारायण ने 'निमिश्य' के स्थान मे 'निमिच्छय' पाठभेद मानकर अर्थ किया है कि चन्द्र कौमुदी समूह द्वारा पूजा करके—आरती करके उनका जन्म सफल करले। इस श्लोक मे कौमुदी समूह का संभावना-मात्र द्वारा स्मिताश से संबंध नहीं है, तथापि उसका संबंध कथन है, अतः मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ४३ ॥

चन्द्राधिकैतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायत तत्किरणाद्घनानाम् ।
पुरः परिस्रस्तपृषद्द्वितीयं [illegible]रदावलिद्वन्द्वति बिन्दुवृन्दम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—चन्द्रेति। [illegible] चन्द्रकान्ते, घनानां सान्द्राणां तन्मुखस्य [illegible]धिकत्वाच्चन्द्रिकाणामपि ततोऽधिकमिति भाव। अत एवाह—चन्द्राधिक[illegible]तन्मुखस्य चन्द्रिकाणां [illegible] दरायतमीषद्दीर्घं पुरः परिस्रस्तानि प्रथमसृता[illegible] [illegible]यस्य तद्द्वितीय बिन्दुवृन्द रदावलिद्वन्द्वति तदिव आचरति 'स[illegible]दिकेभ्यः—क्विप्' [illegible]रक्विबन्ताल्लट्। प्रथमनिस्सृता बिन्दुपङ्क्तिर[illegible] उत्तरा[illegible]त्युत्प्रेक्षा ॥ ४४ ॥

अन्वय—[illegible]किरणात् घनानाम् [illegible]मुखचन्द्रिकाणां दरायतं पुरः परिस्रस्तपृषद्द्वितीयं बिन्दु[illegible] रदावलिद्वन्द्वति।

हिन्दी—उस (चन्द्र[illegible]) की [illegible] से घनी, इस (दमयन्ती) के मुख (मुख चंद्र) की चाँदनियों [illegible] बड़ी, पहिले और दूसरी बार गिरी बूँदों का समूह (दमयन्ती) की रदपंक्तियों के युग्म का आचरण कर रहा है।

टिप्पणी—तीन (४४–४६) श्लोकों मे दमयंती की दंतपंक्ति का वर्णन है। यह सिद्ध ही हो चुका है कि दमयंती का मुखचंद्र और उसकी स्मित कौमुदी सामान्य चंद्र-चंद्रिका से श्रेष्ठ हैं। यहाँ कल्पना है कि सामान्य चंद्र की चाँदनी की अपेक्षा घनी और बड़ी बूँद मुखचंद्र की चाँदनी की है। वे धीरे धीरे जब टपकी तो उनकी पहिले गिरी राशि नीचे की ओर दूसरी बार

गिरी राशि ऊपर की दतपंक्ति बन गयी। भाव यह कि दमयन्ती की दंतावलि कुछ घन और सूक्ष्म है। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यह गुण है कि नीचे के दाँत सूक्ष्म हों और ऊपर के कुछ आयत और घने। दमयन्ती की दंतावलि ऐसी ही है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-उपमा रूपक अलङ्कार हैं॥ ४४॥

सेयं ममैतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य विभाति सन्ध्या।
महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री द्विजैरमीभिः समुपास्यमाना॥ ४५॥

जीवातु—सेति। महेन्द्रस्य काष्ठामुत्कर्षं गतोऽनुरागः अन्यत्र पूर्वदिग्गतो रागो लौहित्यम्। 'काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि' इत्यमरः। 'रागोऽनुरागे लौहित्ये' इति विश्वः। तस्य कर्त्री जनयित्री अमीभिर्द्विजैर्दन्तैः विप्रैश्च। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। समुपास्यमाना सेव्यमाना सेयं दमयन्ती मम एतस्या भैम्या विरहार्त्या वियोगपीडया या मूर्च्छा सैव तमी रजनी। 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः। तस्या विभातस्य सम्बन्धिनी सन्ध्या प्रातःसन्ध्या विभाति। सन्ध्या-धर्मसम्बन्धात्सन्ध्या त्वमुत्प्रेक्ष्यते॥ ४५॥

अन्वय—महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री अमीभिः द्विजैः समुपास्यमाना सा इयं मम एतद्विरहार्तिमूर्च्छातमीविभातस्य सन्ध्या विभाति।

हिन्दी—महेंद्र (स्वर्गराज) में परमोत्कर्षयुक्त अनुरक्ति उत्पन्न करने वाली, महेंद्र की काष्ठा (पूर्व दिशा) में राग (लाली) उत्पन्न करनेवाली (के तुल्य) इन द्विज (ब्राह्मण रूप) दाँतों से सेवित वह यह (दमयंती) मेरे इसके वियोग की पीडाजनित मूर्च्छा रूप रात्रि के प्रभात की सन्ध्या-सम भासमान हो रही है।

टिप्पणी—रमणीय दंतावलि से शोभित दमयंती को इस श्लोक में नल की विरहजन्य-पीडा-जात-मूर्च्छा को दूर करनेवाली बताया गया है। उसकी तुलना रात्रि के पश्चात् आनेवाली प्रभात-सन्ध्या से की गयी है, जिसकी स्थिति में इन्द्र की दिशा (प्राची) में लालिमा छा जाती है और ब्राह्मण सन्ध्योपासना किया करते हैं। दमयंती ने इन्द्र में परमकोटि की अनुरक्ति उपजायी है, इस प्रकार वह महेंद्रदिक् में लालिमा उत्पन्न करानेवाली प्रभात सन्ध्या है, विरह-जन्य मूर्च्छा रूपी रात्रि को वह समाप्त करनेवाली है और द्विज (दंतावलि)

उनकी सेवा कर रहे हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ [illegible] के मध्य में [illegible] की उत्प्रेक्षा की गयी है। विद्याधर के अनुसार [illegible] अलङ्कार है। चन्द्रकलाकार ने [illegible] के [illegible] संकर का निर्देश किया है ॥ ५८ ॥

गजौ द्विरालानित् [illegible] यस्य [illegible] ।
[illegible] मन्ये [illegible] मुक्ताः ॥ ५९ ॥

[illegible]—[illegible] । [illegible] द्विराला [illegible] । [illegible] तस्याः [illegible] । [illegible] यस्य [illegible] । [illegible] । 'यदस्त्वादि [illegible]' इति [illegible] । [illegible] । [illegible] इति [illegible] । [illegible] ॥ ५९ ॥

अन्वयः—यद् द्विराला यस्याः [illegible] इव मुक्ता [illegible] ।

हिन्दी—[illegible] के [illegible] के [illegible] ([illegible] के [illegible]) के [illegible] ([illegible]) की [illegible] में [illegible] का [illegible] है, [illegible] है कि [illegible] ([illegible]) है।

टिप्पणी—[illegible] के [illegible] होने पर [illegible] के कारण [illegible] है। [illegible] के [illegible] है। यहाँ [illegible] को [illegible] के [illegible] दोनों को [illegible] की [illegible] में [illegible] है। [illegible] के

अवदात हो जाते हैं, उसी प्रकार वैमनस्य राग-द्वेषादि-रहित ब्राह्मण भी कालुष्यहीन हो जाते हैं। जैसे स्वच्छ दाँत मोती की उपमा पाते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ ब्राह्मण जीवन्मुक्त कहाते हैं। भाव यह कि दमयन्ती के दाँत बड़े ही आकर्षक हैं और उनके बीच ये चार राजदन्त तो और भी आकर्षक। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने छेकानुप्रास-समासोक्ति के संकर का निर्देश किया है ॥ ४६ ॥

शिरीषकोशादपि कोमलाया वेधा विधायाङ्गमशेषमस्याः ।
प्राप्तप्रकर्षं सुकुमारसर्गे समापयद्वाचि मृदुत्वमुद्राम् ॥ ४७ ॥

जीवातु—शिरीषेति। वेधा विधाता शिरीषस्य कोशात्कुड्मलादपि कोमलाया अस्या भैम्याः, अशेषमङ्गं विधाय सुकुमारसर्गे कोमलसृष्टौ प्राप्तप्रकर्षो लोके लब्धोत्कर्षः सन् मृदुत्वमुद्रां मार्दवमर्यादां वाचि भैमीवाण्यां समापयत् समापितवान्। सर्वातिशाय्यस्या वाङ्माधुर्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय—शिरीषकोशात् अपि कोमलायाः अस्याः अशेषम् अङ्गं विधाय सुकुमारसर्गे प्राप्तप्रकर्षः वेधाः मृदुत्वमुद्रां वाचि समापयत्।

हिन्दी—सिरस के फूल से भी कोमल इस (दमयन्ती) के सपूर्ण अंगों को बनाकर सुकुमार रचना में उत्कर्ष को पाये विधाता ने मृदुता (सुकुमारता) की मर्यादा को (दमयन्ती की) वाणी (की रचना) में समाप्त कर दिया।

टिप्पणी—चार (४७–५०) में दमयन्ती की वाणी का वर्णन है। यहाँ भाव यह है कि दमयन्ती की वाणी अत्यन्त मृदु है। कदाचित् विधाता ऐसी मीठी, कोमल वाणी की रचना बड़े अभ्यास के पश्चात् ही कर पाया होगा, क्योंकि दमयन्ती की वाणी में तो मृदुता की पराकाष्ठा है। लगता है वह अभ्यास विधाता ने दमयन्ती के सुकुमार अंगों की रचना से ही प्राप्त किया है, तभी तो ऐसी मृदु, सुकुमार वाणी बना सका। दमयन्ती की वाणी सर्वातिशायिनी है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-परिकर का संकर ॥४७॥

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा कापि द्विजेनोपनिषत्पिकेन ।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयते मेखलभुजा तरुस्य ॥ ४८ ॥

जीवातु—नन्विनाऽपि मधुरा कोकिलवाणी, नेत्याह—प्रसूनेति। प्रसूनबाणमेवाद्वयमद्वितीय वस्तु वदतीति तत्प्रतिपादिका कापि उपनिषत् पिकाः-

[illegible] । पिकानामङ्कुरे भैक्ष्यम् । भैक्ष्य भिक्षा [illegible]
[illegible] । 'भिक्षाविवर्तौ' । [illegible] ब्रह्मचारिणो [illegible]
[illegible] । पिकेन पिकाकेन द्विजेन पठित [illegible] च तस्या [illegible]
[illegible] द्विजराजतो [illegible] । [illegible] वा किम् ?
[illegible] । [illegible] । उत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

अन्वय—तस्य कैरवगुण पिकेन द्विजेन [illegible] सा या अपि [illegible] तस्या आस्यद्विजराजत न वा [illegible] किम् ?

हिन्दी—वृक्षों से भीख लेकर खाने वाला कोकिलरूप ब्राह्मण पुष्पबाण (काम) का अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली वह (दमयन्ती क्या) अपूर्व उप- निषद् इस (दमयन्ती) के मुख-चन्द्र-रूप ब्राह्मण श्रेष्ठ से क्या नहीं पढ़ता है ? (पढ़ता ही है) ।

टिप्पणी—प्राचीन काल में गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी विद्यार्थी श्रेष्ठ गुरु से वेदादि का अध्ययन करता था और भिक्षावृत्ति से जीवन यापन करता था। इस श्लोक में पिक को ऐसा ही ब्रह्मविद्याध्येता विद्यार्थी बताया गया है, जो रसालादि वृक्षों से मञ्जरी आदि की भिक्षा पाकर जीवन यापन करता है और दमयन्ती के चन्द्रमुख रूप द्विजराज से 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' के समान 'एक एवाद्वितीय कामः'—इस कामाद्वैतवाद का पाठ पढ़ता है। कषाय वस्तु और आम्रमञ्जरी आदि के भक्षण से कोकिल का स्वर मधुर होता है, वह पञ्चम स्वर में बोलता है। कहा गया है—'पुष्पसाधारणे काले कोकिलः पञ्चमं वदेत्'। (भरत, बृहद्देशी, त्रिवेन्द्रम् संस्क० पृ० १२–१३), ऐसा कोकिल भी भीमपुत्री के मधुरतम स्वर का अभ्यास कर रहा है। इससे द्योतित होता है कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-वाणी से श्रेष्ठ है। कोकिल स्वर से श्रेष्ठ दमयन्ती स्वर के श्रवणमात्र से यह प्रतीति होने लगती है कि जगत् में पुष्पधन्वा ही सत्य है, शेष मिथ्या है। उसमें प्रसूनबाण ही अद्वय है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा विद्याधर ने समासोक्ति-रूपक-व्यतिरेक अलङ्कारों के सङ्कर का निर्देश किया है ॥ ४८ ॥

पद्माङ्कसद्मानमवेक्ष्य लक्ष्मीमेकान्य विष्णोः श्रमणासपत्नीम् ।
आस्येन्दुमस्या भजते जिताब्जं सरस्वती तद्विजिगीषया किम् ॥४९॥

जीवातु—पद्माङ्केति । सरस्वती वाग्देवता एतस्य विष्णोः पत्युरिति शेष । श्रयणादाश्रयणाद्धेतोः । समान एक पतिरस्या सा सपत्नी । नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च, एतस्मादेव निर्देशात्समानशब्दस्य सभाव । ता लक्ष्मी पद्माङ्कसद्मान पद्मो वङ्कनिकेतनामवेक्ष्य तया लक्ष्म्या विजिगीषया जिताब्ज पद्मविजयिनमस्या आस्यन्दुमानेन्दुमानेन्दु किं भजत इत्युत्प्रेक्षा । दुर्बलाऽपि वैरनिर्यातनार्थी प्रबलमाश्रयत इति भाव । सरस्वत्या विष्णुपत्नीत्व पुराणप्रसिद्धम् । तयार्चास्वपि दृश्यते यथा पुरुषोत्तमस्य जगन्नाथस्य पार्श्वे लक्ष्मीसरस्वत्यौ तयो सुरतवादोपचारश्च ॥ ४९ ॥

अन्वय—सरस्वती एतस्य विष्णो श्रयणात् सपत्नीं लक्ष्मी पद्माङ्कसद्मानम् अवस्य तद्विजिगीषया किम् जिताब्जम् अस्याः आस्यन्दु भजत ?

हिन्दी—सरस्वती एव विष्णु के आश्रय के कारण सौत लक्ष्मी का कमलासन आवास देखकर उस जीतने की आकांक्षा से क्या कमलजयी इस (दमयन्ती) के मुखचन्द्र का आश्रय लिये हुए है ?

टिप्पणी—इकतालीसवें श्लोक में कहा गया है— विद्या विदर्भेन्द्रसुतावरौष्ठे नृत्यन्ति'—इस प्रकार दमयन्ती का मुखचन्द्र सरस्वती का निवास है। इस पर कल्पना है कि सरस्वती ने अपनी सौत लक्ष्मी की अपेक्षा श्रेष्ठ आवास पाने की स्वाभाविक आकांक्षा से दमयन्ती के मुखचन्द्र को अपना आवास बनाया है। सरस्वती और लक्ष्मी—दोनों विष्णु पत्नी हैं। लक्ष्मी ने तो कमल-क्रोड को अपना आवास बना लिया (इसीलिए लक्ष्मी को पद्मासना कहा जाता है ।) अब सौतियाडाह के कारण सरस्वती की आकांक्षा कमलावास से उत्तम आवास पाने की हुई। उन्होंने देखा कि कमल चन्द्र को देखकर संकुचित हो जाता है, अत• चन्द्र कमलजयी है। चन्द्र दमयन्ती के मुख से हार चुका है, अत• दमयन्ती का मुख चन्द्रजयी होने के कारण कमल से तो कहीं उत्तम ठहरा। यह विचार कर सरस्वती ने कमलविजयी चन्द्र के जैसा दमयन्ती-मुख को अपना आवास बना लिया। अथवा कमल-जयी दमयन्ती-मुखचन्द्र को अपना आवास बना लिया। 'प्रकाश'-कार के अनुसार वक्रोक्ति-चातुर्य इस (दमयन्ती) में ही है—यह भाव है। सरस्वती-लक्ष्मी का सपत्नीत्व पुराण प्रसिद्ध है। पुरुषोत्तम जगन्नाथ के पार्श्व में लक्ष्मी सरस्वती—दोनों हैं। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने रूपक-समासोक्ति-उत्प्रेक्षा अलंकारों का संकर माना है ॥ ४९ ॥

अन्वय —पद्मचन्द्रौ तातात् जलात् मित्रात् मुकुरात् च अस्या मुखश्री-प्रतिबिम्बम् एव याचितक विभूषण कदाचित् अभ्यर्थ्य धत्त खलु ।

हिन्दी—कमल और चद्रमा (क्रम से) पिता जल और मित्र दर्पण से इस (दमयती) के मुख की शोभा की परछाँही ही माँगे का आभूषण कभी माँग कर निश्चयत धारण कर लेते हैं ।

टिप्पणी—एक अन्य भगिमा से मुख की अपेक्षा चन्द्र कमल की न्यूनता, जो हिन्दी व्याख्याकार के पूर्वकथन के पक्ष मे जाती है। बेचारे चन्द्र और कमल पर तो अपने आभूषण भी नहीं है। कमल अपने जनक जल से और चन्द्र अपने मित्र दर्पण से माँगकर जब तब अपना साज सिंगार पटाते हैं। कभी आभूषण मिलता है, कभी नहीं। इसी कारण उनका आभूषण-धारण 'कादाचित्क' है जब कि अपना ही होने से दमयन्ती मुख का 'अकादाचित्क'। जल मे उत्पन्न होने से पद्म का पिता जल है और 'समानशील व्यसनेषु सख्यम्' के अनुसार वृत्ताकारिता, उज्ज्वलतादि युक्त होने से चन्द्र-दर्पण मे मित्रता है। 'माँग' के विषय मे प्रकाशकार का स्पष्टीकरण है कि जल मे जब भैमीमुख प्रतिबिम्बत होता है, तब तात जल से वह प्रतिबिम्ब पद्म माँग लेता है और मुकुर मे जब प्रतिबिम्बित होता है तो मित्र मुकुर से चन्द्र माँग लेता है। इस प्रकार तात और मित्र भी सदा माँग पूरी करने मे समर्थ नहीं रहते। भाव यह कि चन्द्र और पद्म तो दमयन्ती की परछाँही के समान भी नहीं हैं, मुख की तो बात क्या ? मल्लिनाथ के अनुसार माँगे के आभूषण' उत्प्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति यथासख्य समासोक्ति-उत्प्रेक्षा अलकार हैं ॥ ५६ ॥

अर्काय पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गैर्मितामक्षिभिरम्बुकेलौ ।
भमी मुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ता ॥ ५७ ॥

जीवातु—अर्कायेति। पत्ये भर्त्रे, अर्काय तिष्ठमाना स्वाभिलाष प्रकाशयन्त्य कामुक्य। सत्य इत्यर्थ । 'श्लाघह्नुङ्' इत्यादिना चतुर्थी 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । अम्बुजिन्य पद्मिन्य अम्बुकेलौ जलक्रीडाकाले भृङ्गैरेवाक्षिभि-र्मितामुपलब्धा मुखस्य श्रिय मुखशोभा विस्तारिता प्रसारिता पद्मा एव हस्ता यासा ता, सत्यो भैमीं याचन्त खलु स्वरितेत्त्वाद्याचेरुभयपदित्वम्। दुहादित्वाद्

द्विकर्तृकत्वम् । अत्र पद्मिनीनां मैत्रीमुखश्रीयाच्ञोत्प्रेक्षया मुखस्य पद्मातिरिक्त-व्यतिरेकः प्रतीयते ॥ ५७ ॥

अन्वय—पत्ये अर्काय स्थिताः अम्बुजिन्यः अम्बुजेभ्यो भृङ्गैः अक्षिभिः भ्रान्ता मुखस्य श्रियं दिक्प्रसारितच्छदहस्ता मैत्रीं बहु याचन्ति ।

हिन्दी-पति सूर्य के लिए खड़ी (प्रतीक्षा करती) कमलिनियाँ कमलों में भौंरे रूप आँखों द्वारा भ्रान्त मुख की शोभा को पत्ते रूपी हाथ फैला कर निश्चय मैत्री से माँगती हैं ।

टिप्पणी—कमलिनियाँ रूप नायिकाएँ नायक प्रिय सूर्य के साथ जलकेलि की प्रतीक्षा में खड़ी हैं । वे चाहती हैं कि जब उनका प्रिय सूर्य आये उस समय वे और उनका मुख शृङ्गारयुक्त हो, सुन्दर हो । एतदर्थ वे भ्रमर-नेत्रों के संकेत से पत्ररूप हाथ फैलाकर दमयन्ती से शोभा की याचना कर रही हैं । भाव यह कि कमलिनी और दमयन्ती मुख में साम्य नहीं है । पहिली याचक, दूसरी दाता । याचक-दाता में क्या समता ? मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में मैत्रीमुख-श्री-याच्ञा उत्प्रेक्षा द्वारा मुख का पद्मातिरिक्त व्यतिरेक प्रतीत होता है । इस पर चन्द्रकलाकार के अनुसार उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक का यहाँ अङ्गा-ङ्गिभाव सङ्कर है । विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा समासोक्ति अलङ्कार हैं । इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ५७ ॥

अस्या मुखेनैव विजित्य नित्यस्पर्धी मिलत्कुङ्कुमरोपलक्ष्मा ।
प्रसह्य चन्द्रः खलु नह्यमानः स्यादेव तिष्ठन् परिवेषपाशः ॥ ५८ ॥

जीवातु—अस्या इति । नित्यं स्पर्धत इति नित्यस्पर्धी चन्द्रः मिलन्ती व्याप्नुवती कुङ्कुमेनेव रोपिता कोपलक्ष्मा यस्य तेन । अस्या मुखेनैव विजित्य प्रसह्य बलात्कृत्य नह्यमानो बध्यमानः तिष्ठन् परिवेष एव पाशो बन्धनरज्जुर्यस्य स स्यादित्युत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

अन्वय—मिलत्कुङ्कुमरोपलक्ष्मा अस्या मुखेन एव नित्यस्पर्धी चन्द्रः नु विजित्य प्रसह्य नह्यमानः एव तिष्ठन् परिवेषपाशः स्यात् ।

हिन्दी—लगी हुई कुङ्कुम रूप क्रोध की लालिमा से युक्त इस (दमयन्ती) के मुख से ही सदा स्पर्धा करनेवाला चन्द्रमा निश्चय ही जाकर हठपूर्वक

बाँधा हुआ रहता ही परिवेष (चतुर्दिक् आवृत्त गोलाकार घेरा) रूप पाश में बद्ध रहता है।

टिप्पणी—दमयंती के मुख पर कुंकुम लगा है, जिससे वह लाल है। चन्द्रमा ऐसे भैमीमुख की समानता नहीं कर सकता। कल्पना है कि चन्द्रमा दमयंती के मुख से स्पर्द्धा करने की धृष्टता प्राय किया करता है (प्राय चन्द्रमुख कहा ही जाता है) यह अपराध है। इस पर क्रुद्ध हो मुख अपराधी चन्द्र को दंड देता है और उसे रस्सी में बाँध कर डाल देता है। मुख पर लगे कुंकुम की लाली रोष का प्रतीक है और चन्द्रमा के चारों ओर जो घेरा सा बन जाया करता है, वही जैसे पाश है, जिसमें बाँधकर अनुचित स्पर्द्धा करने का दंड मुखने चन्द्रमा को दिया है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा समासोक्ति ॥ ५८ ॥

विधोर्विधिर्विम्बशतानि लोपं लोपं कुहूरात्रिपु मासि मासि।
अभङ्गुरश्रीकममुं किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेकशेषम् ॥ ५९ ॥

जीवातु—विधोरिति। विधिर्विधाता विधोश्चन्द्रस्य बिम्बशतानि मासि मासि मासे मासे 'पद्दन्' इत्यादिना मासशब्दस्य मासित्यामादेश। कुहूरात्रिपु नष्टचन्द्ररात्रिपु लोपंलोपं लुप्त्वा लुप्त्वा आभीक्ष्ण्ये 'णमुल् च' इति णमुल्प्रत्यय आभीक्ष्ण्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम्। 'आभीक्ष्ण्य पौन पुन्यम्' इति काशिका। अभङ्गुरश्रीकमनश्वरशोभ, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्। अमुमस्या मुखेन्दुम्। एकशेषमेकमेव शिष्यमाणमस्थापयत् स्थापितवान्। किमित्युत्प्रेक्षा। व्याकरणे सरूपाणामेकशेषवदिति भाव ॥ ५९ ॥

अन्वय—विधि मासि मासि कुहूरात्रिपु विधो बिम्बशतानि लोपं लोपम् किम् अभङ्गुरश्रीकम् अमुम् अस्या एकशेषम् मुखेन्दुम् अस्थापयत् ?

हिन्दी—विधाता ने प्रतिमास अमावस्या की रातों में चन्द्रमा के बहुत से मण्डलों का बराबर लोप कर के क्या अनश्वर शोभाशील इस (दमयन्ती) के एक मात्र शेष मुखचन्द्र की स्थापना की है ?

टिप्पणी—विधाता ने चन्द्र की रचना की, किंतु वह अपनी इस रचना से संतुष्ट न हुआ। असंतुष्ट शिल्पी विधाता प्रतिमास चन्द्र को गढ़ता, पर संतोष न होने पर (प्रति अमावस्या को) मिटा देता। ऐसे ही उसने अनेक

चन्द्र बनाये, फिर रचे, फिर नष्ट किये। अंत में उसने दमयंती के मुख रूप चन्द्र की रचना की। इससे विधि शिल्पी को संतोष हुआ कि अब मनचाही रचना उसने की। उसने दमयंती मुख-चंद्र को अनश्वर शोभा शाली बनाकर फिर नहीं मिटाया। भाव यह कि सैकड़ों क्षयी चन्द्रों में अक्षय शोभा शाली दमयन्ती-मुखचन्द्र की समानता करने की क्षमता नहीं है। विधाता की यह अनुपम चन्द्रकृति न जाने कितने अभ्यास के पश्चात् बन सकी है। व्याकरण का नियम है कि समान रूप वाले शब्दों में एक ही शेष रहता है। यही एक शेष है—सरूपाणामेकशेष एक विभक्तौ। (अष्टाध्यायी, १।२।६४)। मल्लिनाथ ने 'किम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा मानी है, नारायण ने अमावस्या को सर्वथा चंद्रदर्शन न होने के आधार पर—अमावस्या सर्वथा चन्द्रादर्शनादियमुत्प्रेक्षा। विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति-व्यतिरेक उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। चंद्रकलाकार ने भङ्गुरश्लोक चंद्रबिंबों का लोप करके अभङ्गुरश्लोक भैमी मुखचंद्र की स्थापना को उत्प्रेक्षा कहा है और चंद्र को क्षयी और दमयंती-मुख को अक्षयशील कहे जाने के आधार पर व्यतिरेक अलंकार की व्यंजना मानी है ॥ ५९ ॥

कपोलपत्रान्मकरात्सकेतुर्भ्रूभ्यां जिगीषुर्धनुषा जगन्ति।
इहावलम्ब्यास्ति रतिं मनोभूः रज्यद्वयस्यो मधुनाधरेण ॥ ६० ॥

जीवातु—कपोलेति। मनोभूः कपोलपत्रात् पत्रभङ्गादेव मकराद्धेतोः सकेतुः केतुमान् मकरध्वज इत्यर्थः। भ्रूभ्यामेव धनुषा जगन्ति जिगीषुः जेतुमिच्छुः अधरेणैव मधुना क्षौद्रेण वसन्तेन च रज्यद्वयस्योऽनुरक्तसख इहास्यां रतिं प्रीतिं स्वदेवीं चावलम्ब्यास्ति। जगज्जिगीषोः कामस्य सर्वापि साधन-सम्पत्तिरस्यामेवास्तीत्यर्थः। अत्र पत्रभङ्गादावारोप्यमाणस्य केत्वादेस्ता-दात्म्येन प्रकृतजगज्जयोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् ॥ ६० ॥

अन्वय—कपोलपत्रात् मकरात् सकेतुः भ्रूभ्यां धनुषा जगन्ति जिगीषुः अधरेण मधुना रज्यद्वयस्यः मनोभूः रतिम् अवलम्ब्य इह अस्ति।

हिन्दी—कपोलों पर लिखी पत्रावली रूप मकर का झंडा लिये भौंहा के धनुष से त्रिजगत् को जीतने का आकांक्षी, मधु अधर के रूप में अनुरागी

मित्र मधु (वसंत) के साथ मनोजन्मा (काम) रति (प्रीति) सहित (अपनी पत्नी रति के सहित) यहाँ (भैमीमुख में) बसता है।

टिप्पणी—कपोलों की पत्रावली मकर-ध्वज, भ्रूयुग्म धनुष, मधु अधर मित्र वसंत—ये सब कामचिह्न प्रकट करते हैं कि काम अपनी पत्नी रति सहित दमयन्ती के मुख को अपना आवास बनाये है। भाव यह है कि ये सब चिह्न यह अनुमान कराते हैं कि काम सपरिवार भैमी मुख का वासी है, अर्थात् दमयन्ती का मुख देखकर सब में कामोत्पत्ति हो जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ परिणामालंकार है, क्योंकि कपोलपत्रादि में आरोप्यमाण केतु आदि के तादात्म्य से प्रस्तुत जगज्जयोपयोगिता बतायी गयी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और रूपक अलंकार हैं ॥६०॥

वियोगबाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपय प्रसूनौ ।
कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्यां निवेद्यपूपौ विधिशिल्पमीदृक् ॥ ६१ ॥

जीवातु—वियोगेति। इदमपूर्वं विधिशिल्पं ब्रह्मनिर्माणमस्या कर्णौ वियोगेन हेतुना बाष्पाञ्चितयोरश्रुयुक्तयो नेत्रपद्मयो। छद्मेत्यपह्नवभेद। तेन छद्मनान्विते मिलिते उत्सर्गपय प्रसूने दानोदकमिश्रकुसुमे ययोस्तौ रतितत्पतिभ्यां सम्प्रदाने चतुर्थी। निवेद्यावर्पणीयौ पूपावपूपौ किम्। 'पूपोऽपूप पिष्टक स्यात्' इत्यमर। नैवेद्यसमर्पणेन पुष्पाञ्जलिमुत्सृजन्ती साधुनेत्र योगात्सकर्णयोस्तादृक्पुष्पयुक्तरतिस्मरनैवेद्यापूपत्वोत्प्रेक्षया सापह्नवया कर्णान्त विश्रान्त लोचनत्व वस्तु व्यज्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वियोगबाष्पाञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपय प्रसूनौ रति-तत्पतिभ्या निवेद्यपूपौ अस्या कर्णौ-ईदृक् किं विधिशिल्पम् ?

हिन्दी—विरह जनित आँसुओं से पूजित नेत्र कमलों के व्याज से दान के निमित्त जल और फूलों से युक्त, और उसके पति (काम) के निमित्त उपहार के अपूप (पुए) जैसे इस (दमयन्ती) के दोनों कान इस प्रकार की क्या विधाता की कारीगरी है!

टिप्पणी—पाँच (६१-६५) में कानों का वर्णन है। नल वियोगिनी दमयन्ती के दोनों नेत्रों में आँसू भरे हैं। ऐसा लगता है कि कामिनी दमयन्ती ने रति और काम को प्रसन्न करने के लिए निवेदनार्थ ये जल और फूल

सजाये हैं और उसके कान (जिन तक विशाल नेत्र फैले हैं) अर्पित करने के लिए अपूप (मिष्टपक्वान्न) हैं। इस प्रकार दमयन्ती जल, फूल और मिष्टान्न अर्पित कर रति काम की आराधना कर रही है। इन आकर्ण नेत्रों को देखकर कामोत्पत्ति हो जाती है और ऐसे उत्तम शिल्प के रचनाकार विधाता की प्रशंसा में मुंह से निकल पड़ता है—'वाह रे विधाता, क्या तेरी कारीगरी है।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सापह्नवा उत्प्रेक्षा द्वारा कर्ण पर्यंत फैले लोचन होना-वस्तु ध्वनित है, क्योंकि सपाप्प नेत्रों को जल-फूल और उनसे युक्त कर्णों को अपूप कहा गया है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-रूपक-अपह्नुति उत्प्रेक्षा अलकार हैं ॥ ६१ ॥

इहाविशद् येन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः।
सोऽस्याः श्रवःपत्रयुगे प्रणाली रेखेव धावत्यभिकर्णकूपम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—इहेति। अतिवक्रः शास्त्राण्यामोघः समूहस्तस्य निष्यन्दः सारः स एव सुधाप्रवाहो येन पथा वर्त्मना यया प्रणाल्या इहास्यां भैम्यामविशत् प्रविष्टः, अस्याः श्रवसी पत्रे दले इव श्रवःपत्रे तयोर्युगे युग्मे या रेखा सैव प्रणाली सुधाप्रवाहपदवीव। 'द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्' इत्यमरः। अभिकर्णकूपं धावति कर्णरन्ध्रमभिगच्छति। यथा कुतश्चिन्निर्भूतं जलं वक्रगत्या कयाचित्प्रणाल्या कश्चिन्निम्नदेशं गच्छति तद्वदिति भावः। अत्र कर्णस्य रेखायां सुधाप्रणालीत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

अन्वय—अतिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः येन पथा इह अविशत्, स अस्याः श्रवःपत्रयुगे रेखा प्रणाली इव अभिकर्णकूपं धावति।

हिन्दी—अत्यन्त टेढ़ा (जटिल) शास्त्र समूह का सारभूत अमृत-प्रवाह जिस मार्ग से यहाँ (दमयन्ती के कंठ में) प्रविष्ट हुआ, वह इस (दमयन्ती) के कर्णताटङ्क-युगल में रेखा प्रणालिका (जल-प्रवाह की नाली की भाँति कर्णरन्ध्र की ओर जाती है।

टिप्पणी—दमयन्ती शास्त्रपण्डिता है, उसमें शास्त्रामृत-प्रवाह विद्यमान है। शास्त्र-सार बड़ा जटिल है, गूढार्थ, दुर्बोध। वह कैसे दमयन्ती तक पहुँचा? प्रवाह किसी मार्ग—प्रणालिका में होकर ही बहता है। वह शास्त्रामृत प्रवाह वक्र कर्ण रेखारूपप्रणाली में बहकर कानों में प्रविष्ट हुआ। प्रणाली वक्र है,

अत प्रवाह भी वक्र है। भाव यह है कि कान सुन्दर है और दमयन्ती सुधासम वक्रोक्ति, शास्त्रादि के मर्म को जाननेवाली सकलकला प्रवीणा है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ कान की रेखा में सुधा प्रणालीत्व की उत्प्रेक्षा की गयी है, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति-उपमा ॥ ६२ ॥

अस्या यदष्टादश संविभज्य विद्या श्रुती दध्रतुरर्धमर्धम् ।
कर्णान्तरुत्कीर्णगभीररेखः किं तस्य सङ्ख्यैव नवाङ्कः ॥ ६३ ॥

जीवातु—अस्या इति । अस्याः श्रुती कर्णौ अष्टादश विद्याः वेदवेदाङ्गादिकानि वेदस्थानानि संविभज्य विभज्य यदर्धमर्धं दध्रतुः बिभ्रतुः । कर्णस्यान्तर्मध्ये उत्कीर्णः उत्पादितः गभीरो दूरगतो रेखोऽवयवविन्यास तस्यार्धस्य सङ्ख्यैव मूर्ता नवसङ्ख्यैव न किम् । यद्वा नवानामङ्को नवाङ्को बालसङ्ख्याचिह्नं वा न भवति किम् । भवत्येवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

अन्वय—अस्याः श्रुती अष्टादश विद्याः संविभज्य यत् अर्धम् अर्ध दध्रतु, किं तस्य कर्णान्तरुत्कीर्णगभीररेखः नवाङ्कः एव सङ्ख्या न वा ?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के दोनों कान अठारह विद्याओं को बराबर-बराबर बाँटकर जो आधा-आधा धारते हैं, क्या उसका कानों के भीतर उद्धृत (उकेरा) गहरा लेख नया अमिट अंकित नौ अंक ही संख्या ही है? (है ही)।

टिप्पणी—विष्णुपुराण के अनुसार अष्टादश विद्या इस प्रकार हैं—अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रयः । अर्थशास्त्रं चतुर्थं तु विद्या ह्यष्टादशैव ह ॥ ऋक्, यजु, साम और अथर्व—४ वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द—६ वेदाङ्ग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण—४, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व—३, और अर्थशास्त्र—१=१८। दमयन्ती के दोनों कानों के मध्य नौ के सदृश चिह्न हैं, सामुद्रिक विद्या के अनुसार शुभचिह्न। कल्पना है कि परमविदुषी दमयन्ती के पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार) एक-एक कान में ये ही अठारह विद्या आधी-आधी, नौ नौ करके प्रविष्ट हुई हैं। नौ की संख्या का द्योतक अंक विधाता ने यही गणना करने के निमित्त दमयन्ती के दोनों कानों में अंकित कर दिया है। भाव यह कि

दमयन्ती के कानों की रेखा नौ चक्र के सदृश है और सुम लक्षण है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

मन्येऽमुना कर्णलतामयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेण।
एकाकिपाशो वरुणं विजिग्येऽनङ्गीकृतायासमनङ्गः स्मरोऽपि ॥ ६४ ॥

जीवातु—मन्य इति। रतीशो रतिपतिः अमुना कर्णलतामयेन कर्णपाशरूपेण च्छिदुरादितरेण च्छिदुरेतरेणानश्वरेण। 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' इति कर्मकर्तरि कुरच्। पाशद्वयेन पाशयुगलयुग्मेन। 'पाशो बन्धनशस्त्रयोः' इत्यमरः। एकाकी अद्वितीयः पाशो यस्य तमेकाकिपाशम्। वरुणमनङ्गीकृता परिहृता, आयासततिः प्रयासपरम्परा येन सोऽनायासं सन् विजिग्ये जिगाय। मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम्। 'विपराभ्यां जेः' इत्यात्मनेपदम्। अधिकनात्रेनेनाल्पसाधनः सुजय इति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वय—मन्ये अनङ्गीकृतायासमतः रतीशः, अमुना कर्णलतामयेन छिदुरेतरेण पाशद्वयेन एकाकिपाशं वरुणं विजिग्ये।

हिन्दी—प्रतीत होता है कि बिना अधिक परिश्रम किये रतिपति (काम) ने इस (दमयन्ती के) कर्णजाल रूप दृढ़तर पाशयुग्म से एक पाशवाले वरुण को जीत लिया।

टिप्पणी—काम को दो पाश मिल गये दमयन्ती के कर्णों के रूप में। इस प्रकार सरलता से ही उसने एक पाशधारी वरुण को जीत लिया। एक अस्त्रधारी को दो अस्त्रधारी सहज में जीत ही सकता है। भाव यह कि वरुणादि देव भी दमयन्ती-कर्ण देख कामवश हो जाते हैं। 'मन्ये' को उत्प्रेक्षाद्योतक मानकर मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अपह्नुति-उत्प्रेक्षा। आगमन वरुण के दमयन्ती-स्वयंवर में सम्मिलित होने का नाटकीय पूर्वाभास ॥ ६४ ॥

आत्मेव तातस्य चतुर्मुखस्य जातश्चतुर्योनिचिरः स्मरोऽपि।
तच्चापयोः कर्णलते भ्रुवोऽर्ज्ये वशंवदाभ्यां चिपिटे किमस्याः ॥ ६५ ॥

जीवातु—आत्मेति। चतुर्मुखस्य चतुर्मुखः तातस्य स्वजनकस्य विष्णोरात्मा स्वरूपभेद जातः। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' इति श्रुतेः स्मरोऽपि चतुर्योनिः

चतुर्बाहुरपि रुचिरं तस्य चतुर्बाहो स्मरस्य चापयोरस्या भ्रुवौ अस्या एव कर्णौ लतेव वशस्य त्वक्सारस्य त्वग्यौ त्वग्भागमयौ चिपिटे अनते ऋजू इत्यमरः । 'इनच्पिटच्चिकचिच' इति नेः पिटच्प्रत्ययो नेश्चिरादेशः । नासान्तवाचिना तत्त्वमात्र लक्ष्यते । ज्ये मौर्व्यौ किम् । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । अत्र स्मरस्य चतुर्भुजत्वं ततो भैमीभ्रुवोस्तच्चापयुगलत्व तत्कर्णयोरेव ज्यात्वं च उत्प्रेक्ष्यते ॥ ६५ ॥

अन्वय —चतुर्भुजस्य तातस्य आत्मा एव जातः स्मरः अपि चतुर्दोरुचिरः, किं तच्चापयोः अस्याः भ्रुवोः कर्णलते वशत्वग्यौ चिपिटे ज्ये ?

हिन्दी—चारभुजा वाले (कृष्णरूप विष्णु) पिता के आत्मा रूप में उत्पन्न काम भी चतुर्बाहु सुन्दर है । क्या उसके दो धनुष् रूप इस (दमयन्ती) के भ्रू युगल की कर्णलता रूप बांस के ऊपरी भाग से निर्मित, ऋजु (अनत, विस्तृत) दो प्रत्यचा हैं ? (हैं ही) ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के भ्रूयुगल को काम के दो चाप (क्योंकि चतुर्भुज का बेटा—आत्मज (आत्मा वै जायते पुत्रः) भी चतुर्भुज है, चतुर्भुज होने से काम दो धनुष् धारण करता है) और उसकी कर्णलताओं को उन चापों की प्रत्यचा बनाया गया है—'वशत्वग्यौ' से रचित, अतएव कमनीय । वे सीधी रखी हैं, क्योंकि काम धनुषों को चढ़ाकर प्रहार नहीं कर रहा है । प्रहार की आवश्यकता ही नहीं है, दमयन्ती की भौंह कान (धनुष्-प्रत्यचा) देखकर ही सब कामाधीन हो जाते हैं । इस श्लोक में काम का चतुर्भुज होना और उससे ही भीमपुत्री के भ्रूयुग्म का दो धनुष् होना तथा कानों का उनकी दो प्रत्यचा होना उत्प्रेक्षित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा ॥ ६५ ॥

ग्रीवाद्भुतैवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना सख्यतामागविलोध्वंकाया ॥ ६६ ॥

जीवातु—ग्रीवेति । या ग्रीवा वटुना माणवकेन शोभिता अलङ्कृता न भवतीत्यवटुशोभिता । तथापि माणवकेन वटुना प्रसाधितेति विरोधः । 'अपिर्विरोधे' । अवटुशोभिता कृकाटिकालङ्कृता । 'अवटुर्घाटा कृकाटिका' इत्यमरः । 'माणवकेन विंशतिसरेण मुक्ताहारेण प्रसाधितेति विरोधः ।

विंशतिसरा माणवकोऽल्पत्वात्' इति क्षीरस्वामी । 'भवेन्माणवको हारभेदे बाले कुपूरुषे' इत्यभिधेय । किञ्च, आलिङ्ग्यतामालिङ्गनीयत्वमलम्बमाना-प्याश्रयत्यपि सरूपताभाक् साहाय्ययोगी अखिलोऽप्यून ऊर्ध्वं आलिङ्ग्यत्वम् इति भावप्रधानो निर्देशः । यस्या सा । 'अङ्क्यालिङ्ग्योर्ध्वकास्त्रय ' इत्यमर । 'हरीतक्याकृतिस्त्वङ्क्यो यवमध्यस्तथोर्ध्वकः । आलिङ्ग्यश्चैव गोपुच्छा मध्यदक्षिणवामगा ॥' इति च। आलिङ्ग्योऽप्यूर्ध्वक इति विरोध । आलिङ्ग्यता-मालिङ्गनीयत्वमूर्ध्वं ऊर्ध्वभाग इत्यविरोध । शेष ग्रीवाद्भुतत्वोक्तविरोधा-द्भुतलक्षणयोरित्याख्येति भाव । अत्र विरोधाभासयो संसर्गात् सजातीय-संसृष्टि ॥ ६६ ॥

अन्वय—सा इयं ग्रीवा अद्भुता एव, या अवटुशोभिता अपि माणवकेन प्रसाधिता, आलिङ्ग्यताम् अवलम्बमाना अपि सरूपताभागखिलोर्ध्वकाया ।

हिन्दी—वह यह (दमयन्ती की) ग्रीवा भी विचित्र ही है, जो कि 'अवटुशोभिता' (बालक से अशोभित होकर) भी 'माणवक' (बालक) से अलङ्कृत है (विरोध), अवटुशोभित (गरदन के पुरोभाग 'घण्टिका' से शोभित होकर) भी माणवक (बीसलड़ी मोती माला, 'प्रकाश'कार के अनुसार छोटी माला-अर्धहार से अलङ्कृत है (परिहार)। जो 'आलिङ्ग्यता' (गोद में रखकर बजाये जाने वाला गोपुच्छाकार मृदङ्ग भाव) धारण करती भी 'सरूपताभागखिलोर्ध्वकाया' (सर्वथा समरूप वाले ऊर्ध्वक—ऊपर रखकर बजाये जाने वाले मृदङ्ग के तुल्य यवाकार) है, अथवा आलिंगन-योग्य होने पर भी 'असरूपताभागखिलोर्ध्वकाया' (असुन्दर ऊपरी देहांशवती अथवा 'सरूपताभाक्'—अर्थात् सपाट ऊपरी देहांशवाली अतः आलिंगन के अयोग्य) है (विरोध), आलिंगन योग्य होने पर भी समान अर्थात् उपयुक्त ऊपरी भागवती—जहाँ जैसी ऊँचाई नीचाई, घुमाव फिराव उचित हो, वैसी ऊर्ध्व देहांश धारिणी है (परिहार)।

टिप्पणी—ग्रीवा-वर्णन । भाव यह कि दमयन्ती की ग्रीवा में मुक्ताहार है और वह सम (उचित) आकार की है । अनेकार्थ 'अवटु', 'माणवक' आदि शब्दों के आधार पर पूर्वार्द्ध और परार्द्ध में दो विरोधाभासों को मल्लिनाथ के अनुसार सजातीय संसृष्टि, विद्याधर के अनुसार विरोधाभास ॥ ६६ ॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता न्यधिताभिकण्ठे।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽस्य विबभाज सीमा॥ ६७॥

जीवातु—कवित्वेति। विधाता अस्या अधिकण्ठं कण्ठे। विभक्तयर्थेऽव्ययीभावः। कवित्वं च गानं च प्रियवादश्च सत्यं च तानि चत्वारि न्यधित निहितवान्। सोऽयं विधाता अमीषां कवित्वादीनां चतुर्णां वासाय कण्ठे अयङ्कीर्णस्थितये रेखात्रयन्यासमिषात् कम्बुग्रीवा त्रिरेखा सती लक्षणसम्पत्तिरिति भावः। सीमा मर्यादा विबभाज मध्यरेखात्रयविन्यासेन चतुर्धा विभक्तवान्, अविवादेति भावः। अत्र ग्रीवागतभाग्यरेखात्रये सीमाविभागचिह्नत्वमुत्प्रेक्ष्यते॥६७॥

अन्वयः—विधाता अस्या अभिकण्ठे कवित्वगानप्रियवादसत्यानि न्यधित, स अयम् अमीषां वासाय रेखात्रयन्यासमिषात् सीमा विबभाज।

हिन्दी—विधि ने इस (दमयन्ती) के कंठ में कवित्व, गान, प्रियवचन और सत्य रख दिये, उस विधाता ने ही इन (चारों) के वासार्थ तीन कंठ रेखाओं व्याज से (चार) सीमाएँ विभक्त कर दीं।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती काव्यरसिका, संगीतप्रिया, प्रिय और सत्य बोलने वाली है (सामान्यतः प्रिय और सत्य बोलना कठिन है)। ये चार हैं, अतः इनके वासार्थ चार कक्ष अपेक्षित हैं। प्रतीत होता है कि विधाता ने यही ध्यान में रखकर दमयन्ती कंठरूप विशालकक्ष में तीन कंठरेखाओं को खींच कर तीन विभाजक दीवारें (पार्टीशन वाल) बना दीं और एक बड़े कक्ष को चार निवासयोग्य कक्षों में बदल दिया। एक 'हाल' के चार 'बेडरूम' बना दिये तीन 'विभाजक' डालकर। तीन 'विभाजकों' से चार स्थान हो ही जायेंगे। दमयन्ती कवित्व आदि कलाओं में प्रवीण और 'कम्बुग्रीवा' है। कम्बुग्रीवा तीन रेखाओं से अंकित ग्रीवा होती है—रेखात्रयाङ्किता कम्बुग्रीवेति कथ्यते। ऐसी ग्रीवा श्रेष्ठ मानी जाती है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, क्योंकि ग्रीवा के रेखात्रय में सीमाविभागचिह्न की संभावना की गयी है। वैद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अपह्नुति॥ ६७॥

बाहू प्रियाया जयता मृणालं द्वन्द्वे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन्।
उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्यथनं यदन्तः॥ ६८॥

जीवातु—बाहू इति। प्रियाया बाहू मृणालं जयतो नाम। जयतेर्लोटि

तयस्तामादेश । अस्मिन् द्वन्द्वे युग्मे कलहे च । 'द्वन्द्व कलहयुग्मयो ' इत्यमर । जयो नाम विस्मयोऽद्भुतो न, किंतु भग्नस्य जितस्यामुष्य मृणालस्य अन्तर्गर्भे अन्त करणे च व्यथनस्याभावो निर्व्यथनमव्यय छिद्र च 'छिद्र निर्व्यथन रोकम्' इत्यमर । अर्थाभावे अव्ययीभाव । यद्विलोक्यते तदुच्चैर्महच्चित्र भग्नोऽप्यव्यथ इति विरोधात् । छिद्र विलोक्यत इत्यविरोध । मृणालस्यान्तश्छिद्रत्वात् । विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ६८ ॥

अन्वय —प्रियाया बाहू मृणाल जयताम्, अस्मिन् द्वन्द्वे जय नाम न विस्मय, उच्चै तु चित्र तद् यत् भग्नस्य अमुष्य अन्त निर्व्यथनम् आलोक्यते।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) की भुजाएँ कमलनाल को जीत लें, इस द्वन्द्व में (भुजाओं की जीत आश्चर्य नहीं है, अत्यधिक विचित्र तो यह है कि भग्न (पराजित, टूटे) इस (कमलनाल) का अन्त करण निर्व्यथन (पीडा रहित, सच्छिद्र) दीखता है ।

टिप्पणी—दो (६८, ६९) श्लोकों में बाहुयुग्म का वर्णन । दमयन्ती का बाहुयुगल मृणालों की अपेक्षा गोरा और कोमल है । इस तथ्य की भगिमा विशेष प्रतिपादित किया गया है । दो प्रतिद्वन्द्वी हैं, बाहुयुगल और मृणाल । बाहुयुगल की विशिष्टता स्वत सिद्ध है, वे जीतते हैं । इसमें किसी को विचित्र नहीं लगता, बाहुयुगल को जीतना ही था । विचित्र यह है कि हारने पर भी मृणालों का अन्तस् 'निर्व्यथन' अर्थात् व्यथारहित है । यह विरोध है, क्योंकि पराजित व्यथारहित नहीं होता । परिहार है कि मृणालों का अन्त करण (मध्य) 'निर्व्यथन' अर्थात् छिद्र युक्त है । 'निर्व्यथन' के समान ही 'भग्न' के भी दो अर्थ हैं –(१) पराजित, (२) टूटा । मृणाल स्वत् । मृणालों में छेद होते ही हैं, टूटने पर वे स्पष्ट दीख गये । मल्लिनाथ के मत से विरोधाभास है और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और श्लेष ॥ ६८ ॥

अजीयतावर्तशुभयुनाभ्या दोर्भ्यां मृणाल किमु कोमलाभ्याम् ।
निस्सूत्रमास्ते घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु नाकीर्तिषु तन्निमग्नम् ॥ ६९ ॥

जीवातु—अजीयतेति । आवर्तोऽम्भसा भ्रम स इव शुभयु शुभवती नाभिर्यस्या सा । तया भैम्या । 'शुभयुस्तु शुभान्वित ' इत्यमर । 'अहशुभ-योर्युस्' इति शुभमिति मकारान्ताव्ययान्मत्वर्थीयो युस्प्रत्यय । कोमलाभ्या

मृदुभ्या दोर्भ्यां भुजाभ्या मृणालमजीयत किमु मार्दवगुणेन जित किमित्युत्प्रेक्षा। कुत, घनासु सान्द्रासु पङ्करूपासु मृत्स्वेव मूर्तासु मूर्तिमतीष्वकीर्तिषु तन्मृणाल निमग्न निस्सूत्र निर्व्यवस्थ निर्मर्याद नास्ते किं काकु अपराजितत्वे कथमकीर्ति पङ्कपात इति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय —आवर्तशुभयुनाभ्या कोमलाभ्या दोर्भ्यां मृणालम् अजीयत नि सूत्र तद् किमु घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु अकीर्तिषु निमग्न न आस्ते ?

हिन्दी—दक्षिणावर्त शख के समान भौर युक्त शुभ नाभि वाली इस (दमयन्ती) के कोमल बाहुओं ने मृणाल को जीत लिया (इसी से) नि सूत्र (निरुपाय, ततुहीन) वह (मृणाल) क्या घनी कीचड मिट्टी (रूप) में देहधारिणी अकीर्तियो के बीच निमग्न नही है ?

टिप्पणी—भाव यही है कि दमयन्ती के बाहु मृणाल की अपेक्षा आकर्षक हैं, कोमल मृणाल भी उनकी समता नही कर सकता, जो स्वभावत। 'नि सूत्र' (ततुरहित) होता है। इसी अनेकार्थ 'नि सूत्र' का 'निरुपाय' अर्थ लेकर मृणाल की विवशता प्रतीत करायी गयी है। मृणाल काली कीचड में होता ही है। यहाँ कल्पना है कि पराजित और निरुपाय मृणाल अवश की काली कीच मे फँसा पडा है। अकीर्ति की कविसमयसिद्ध श्यामता के आधार पर कीचड मिट्टी के रूप में उसे मूर्त कहा गया है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और काकुवक्रोक्ति। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास समासोक्ति रूपक श्लेष अलकार हैं ॥ ६९ ॥

रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैङ्गुलपद्मतूणे।
हैमैकपु[illegible]शुद्धपर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥ ७० ॥

जी[illegible] दमयन्ती का [illegible]न रेखाओ से [illegible] रज्यन्त स्वभावरक्ता नखा यस्य तस्य। 'कुपिरजो प्राचा श्यन्[illegible]। अङ्गुलिपचकस्य मिषात् असौ पुरोवर्तिनी हैमा सौवर्णा एके केवला असाधारणा पुङ्खा कर्तर्यास्या मूलप्रदेशा यस्या सा। 'कर्तरी पुङ्ख' इति यादव। विशुद्धपर्वा निर्व्रणग्रन्थि सरलग्रन्थिरित्यर्थ। स्मरस्य पचशरी शरपचकम्। समाहारे द्विगोर्ङीप्। प्रियाकरे भैमीपाणावेव हिङ्गुलेन रक्त हैङ्गुल तस्मिन्नेव पद्मतूणे अस्ति वर्तत इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७० ॥

अन्वय —रज्यन्नखस्य अङ्गुलिपञ्चकस्य मिषात् हैमैकपुङ्खा विशुद्धपर्वा असौ स्मरस्य पञ्चशरी हैङ्गुलपद्मतूणे प्रियाकरे अस्ति।

हिन्दी—प्रकृति से लाल नखोंवाली पाँच अंगुलियों के व्याज से श्रेष्ठ सुवर्ण पुंख (फलाग्र) वाली, ऋजु ग्रन्थि (जोड) से युक्त यह (प्रत्यक्ष समुख) काम की पञ्चशरी (पाँच कुसुमबाण) हिंगुल से रंगे पद्म तूणीर-से प्रिया (दमयन्ती) के हाथ में है।

टिप्पणी—तीन (७०-७२) में हाथ का वर्णन है। इस श्लोक में स्वभावतः लाल नाखूनोंवाली अंगुलियों को स्वर्णपुंखमय काम के पाँच कुसुम-बाण बताया गया है, नख उन अंगुलिबाणों के पंख हैं तथा अंगुलियों के पोर उनकी सरल गाँठें हैं। हिंगुल से रंजित दमयन्ती का हाथ उन अंगुलि कुसुमशरों का तूणीर है। काम के पुष्पबाण हैं, अतः उनका तूणीर भी पुष्पमय होना चाहिए। इसी दृष्टि से रक्तपद्म से साम्य रखनेवाले दमयन्ती-कर को 'पद्मतूण' कहा गया। पञ्चशरी अंगुलियाँ हैं, जो 'हैमैकपुंखा' है, क्योंकि नख लाल है। उत्तम सुवर्ण रक्त होता है। विशुद्ध पर्व (पोर और गाँठ) दोनों में हैं। भाव यह है कि भीमसुता का हाथ और अंगुलियों के देखनेमात्र से कामप्रादुर्भाव हो जाता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अपह्नुति ॥ ७० ॥

> अस्याः करस्पर्धनगर्वरूढिर्बालत्वलाघवम् खलु पल्लवो यः ।
> भूयोऽपि नामाधरसाम्यगर्वं कुर्वन् कदाऽस्तु स न प्रवालः ॥ ७१ ॥

जीवातु—अस्या इति । यः पल्लवः किसलयः अस्याः करेण स्पर्धनं युध्यतीति तद्गर्भिणी रूढिः ख्यातिर्यस्य स कृतस्पर्धः सन्नित्यर्थः । 'ख्यातक' इति प्रकृतिभावः । बालत्वं शिशुत्वं प्रथमतः मूर्खत्वं चापद् खलु । 'मूर्खेऽर्भकेऽपि बालः स्यात्' इत्यमरः । अस्योऽभिकस्पर्धी मूर्खो भवतीति भावः । भूयोऽपि नाम पुनरपि किल मूर्खत्वं प्राप्स्यतीत्यर्थः । अधरसाम्येन गर्वं कुर्वन् अधरसाम्याभि-मानं कुर्वन् सपल्लवः प्रवालः प्रवालशब्दवाच्यः बवयोरभेदात् प्रकर्षेण बालश्च कथं वा नाम्नु न स्यात् ? स्यादेवेत्यर्थः । जन्मोबिकरतरस्पर्धी त्वतिमूर्ख इति भावः । अतिक्रान्तश्च करादधररतिमर्वस्वत्वात् । तथा चाधरसाम्यं तावदा-स्ताम् । पल्लवस्य करसाम्यमपि दूरापास्तमित्यर्थः । ततश्च प्रवालशब्दस्य पल्लव-प्रवृत्तिनिमित्तमप्येतदेवेति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वय —यः पल्लवः अस्याः करस्पर्शनगर्धिऋद्धि बालत्वं खलु आपद, भूयः अपि नाम अधरसाम्यगर्वं कुर्वन् सः प्रवालः कथं वा न अस्तु ?

हिन्दी— जो पल्लव (नया पत्ता) इस (दमयन्ती) के हाथ को छूने की अत्यधिक आकांक्षा रखता हुआ 'बालता' (बचपन, नवीनता, मूर्खता) को प्राप्त हो गया था, फिर भी (दमयन्ती) के अधर की समानता करता हुआ वह 'प्रवाह' (मूंगा, 'व' 'ब' के अभेद से मूर्ख) क्यों न हो जाय ? (होना ही उचित है) ।

टिप्पणी—दमयन्ती-कर पल्लव की अपेक्षा अधिक मनोरम है वैसे ही, जैसे कि मूंगा (प्रवाल) से उसका अधर। दमयन्ती के कर नव पल्लव से भी अधिक लाल हैं। अधर का प्रसंगत उल्लेख हो गया है। 'बाल' और 'प्रवाल' के प्रयोग से यहाँ चमत्कार वास्तव आयी है। पत्ते ने एक बालता' अर्थात् मूर्खता की–बचपना दिखाया, अभी 'नया' ही जो था, अनुभवहीन कि दमयन्ती के कर से स्पर्द्धा करने चला, फलतः उसे 'बाल' (मूर्ख, बच्चा, अनुभवहीन) कहा गया। पुनः उसने मूर्खता की कि 'प्रवाल' (मूंगा) बन कर अधर-साम्य करने चला। इस प्रतिस्पर्धा में वह और भी मूर्ख (प्रबाल) सिद्ध हुआ, और अधिक अनुभवहीन बच्चा। पल्लव कर तक तो हो नहीं पाया, अधर से होड़ करने पर उसे अत्यधिक मूर्ख 'प्रवाल' तो बनना ही पड़ता। 'अधर' को 'रतिसर्वस्व' माना जाता है, अतः कर की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। प्रथम चरण में पाठांतर है—'करस्पर्शनगर्धनर्द्धि' करस्पर्शनस्य गर्धनेन ऋद्धिः यस्य। मल्लिनाथ को 'करस्पर्शनगर्धिऋद्धि' पाठ समत है। उन्होंने 'ऋत्यकः' से (अष्टा० ६।१।१२८) द्वारा गर्धि+ऋद्धि में प्रकृतिभाव का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और समासोक्ति ॥ ७१ ॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—अस्येति। अस्य भवत्करस्य भवत्या पाणेः सर्गायैव सरोजसृष्टिः मम हस्तलेखो रेखाभ्यास इति विधाता अस्यां हरिणेक्षणायां भैम्यां हस्तलेखीकृतया अभ्यासीकृतया हस्तकृतपद्मरेखीकृतया च तया सरोजसृष्ट्या करणेनाह किम् ? भैम्यं वर्णयति किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ७२ ॥

अन्वय——धाता अस्या हरिणेक्षणाया हस्तलेखीकृतया तया किम् इति आह—अस्य मदङ्करस्य सार्थाय एव सरोजसृष्टिः मम हस्तलेखः ?

हिन्दी—विधाता ने उस (दमयन्ती) हरिणनयना के हाथ में लिखी उस (कमलरेखा) से क्या यह कहा—'इस आप (दमयन्ती) के हाथ की रचना के निमित्त ही कमल-सर्जना मेरा हाथ का अभ्यास है ?

टिप्पणी—दमयन्ती करों में शुभलक्षण कमलरेखा है और वे कमलों की अपेक्षा अधिक रमणीय हैं। इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि जैसे 'सरजनहार' विधाता दमयन्ती के कर से यह निवेदन कर रहे हैं कि उस रमणीयतर रचना के निमित्त हाथ में सफाई लाने के लिए अनेक 'सरोजसृष्टि' करके उन्होंने असीम अभ्यास किया है, तब जाकर ये हाथ बन पाये। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ॥७२॥

किं नर्मदाया मम सेयमस्या दृश्याऽभितो बाहुलता मृणाली।
कुचौ किमुत्तस्थतुरन्तरीपे स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारि ॥ ७३ ॥

जीवातु—किमिति। स्मरोष्मणा स्मरसन्तापेन शुष्यत्तरमतिशुष्यत्। बाल्यमेव वा वारि यस्यास्तस्या नर्म्या एव नर्मदाया क्रीडाप्रदाया रेवायाश्च सम्बन्धिनी। 'रेवा तु नर्मदा' इत्यमरः। अभित उभयतो दृश्या सेयं बाहुलता मृणाली बिसलता किम् ? अत्र नर्मदाया विशेष्यप्राधान्यात् मृणाल्या साक्षात् सम्बन्धात् 'अभितः परितः' इत्यादिना द्वितीया नास्ति। कुचावेवान्तरीपे अपामन्तस्तटे 'द्वीपोऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्' इत्यमरः। 'सुप्सुपा' इति समासः। 'ऋक्-पू' इत्यादिना समासान्तोऽकारः। 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' उत्तस्थतुरुत्थितौ किम् ? कर्मकर्तृत्वात् परस्मैपदं रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

अन्वय——स्मरोष्मशुष्यत्तरबाल्यवारि मम नर्मदाया अस्याः अभितः दृश्या सा इयं किं बाहुलता मृणाली, कुचौ किम् अन्तरीपे उत्तस्थतुः ?

हिन्दी—काम ताप रूप ऊष्मा (धूप) से जिसका बालापन-रूप जल खूब सूख गया है, ऐसी मुझे नर्म अर्थात् क्रीडानन्द-दायिनी इस (भैमीरूप) नर्मदा (रेवा नदी) के दोनों तटों पर देखने योग्य वह यह भुजलता रूप क्या कमलनाल है, क्या (ये) स्तनयुगल दो द्वीप (टापू) उठ आये हैं ?

टिप्पणी—आठ (७३–८०) श्लोकों में कुचों का वर्णन किया गया है। बाल्यावस्था व्यतीत होकर तारुण्य आ जाने से दमयन्ती की दोनों बाहु मृणालवल्लरी जैसी रमणीय और दर्शनीय हो गयी हैं और उसका कुचयुग्म उन्नत होकर आकर्षक हो गया है। नल को वह नर्म (आनंद) देती है, नर्मदा नदी के समान। कल्पना है कि दमयन्ती उस नर्मदा नदी के तुल्य है, जिसके दोनों तट सूख गये हैं, बाल्यावस्थारूप जल गर्मी से पूर्णतया शुष्क हो गया है। तटरूप बाहुयुगल मृणालों के समान है और स्तनयुग्म जल सूखने से उठ आये दो टापुओं जैसे प्रतीत हो रहे हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा है, जिसका चन्द्रकलाकार ने रूपक उत्प्रेक्षा के अगांगिभाव सकर के रूप में निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा अलकार है ॥ ७३ ॥

ताल प्रभु स्यादनुकर्तुमेतावुत्थानसुस्थौ पतित न तावत् ।
पर च नाश्रित्य तरु महान्त कुचौ कृशाङ्ग्या स्वत एव तुङ्गौ ॥७४॥

जीवातु—तालमिति। तावत् पतित च्युत तालफल कर्तृ उत्थानेन ऊर्ध्वावस्थानेन सुस्थौ सुप्रतिष्ठौ अपतिताविति यावत्। एतौ कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु समर्थ न स्यात्, पतितापतितयो कुत साम्यमिति भाव। पर पतित च महान्त अतितुङ्गतरमाश्रित्य, सदिति शेष। स्वत एव तुङ्गौ कृशाङ्ग्या कुचौ अनुकर्तुं न प्रभु। कुत स्वाभाविकौ यदित्यर्थ। अस्वाभाविकौन्नत्ययो कथ साम्यमिति भाव ॥ ७४ ॥

अन्वय —पतित तावत् तालम् एतौ उत्थानसुस्थौ अनुकर्तुं प्रभु न स्यात्, पर च महान्त तरुम् आश्रित्य स्वत एव तुङ्गौ कृशाङ्ग्या कुचौ न।

हिन्दी—(धरती पर) गिरा ताड फल इन उभार के कारण सुव्यवस्थित (उन्नत, अपने स्थान पर प्रतिष्ठित कुचा) के अनुकरण में समर्थ न होगा और दूसरा (पेड पर लगा फल) ऊँचे बडे पेड का आश्रय लेकर अपने आप ही ऊँचे तन्वगी (दमयन्ती) के कुचों का अनुकरण नहीं कर सकता।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती के कुच ताडफल की अपेक्षा अधिक सुडौल, गोल और उन्नत हैं। ताडफल की दो स्थितियाँ सभव हैं—(१) वह पेड से धरती पर गिर गया हो, (२) पेड पर ही ऊँचे लगा हो। पहिला

इस लिए कृशाङ्गी नैमी कुचों के समान नहीं है, क्योंकि कुच उन्नत हैं, अपने स्थान पर हैं, जब कि फल नीचे गिरा पड़ा है और स्थान च्युत है। दूसरी स्थिति में तालफल इस कारण समानता नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयम् स्वसामर्थ्य के कारण उन्नत नहीं, वृक्ष के अवलम्बन से उसे उच्चता प्राप्त हुई है, जब कि कुच स्वसामर्थ्य से स्वभावतः उन्नत हैं। पहिली स्थिति में पतित होने से फल असम है, दूसरी स्थिति में वह पराश्रितता के कारण समान नहीं है। विद्याधर के अनुसार यहाँ काव्यलिङ्ग-विरोधाभास-समासोक्ति अलङ्कार हैं ॥ ७४ ॥

एतत्कुचस्पर्धितया घटस्य ख्यातस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् ।
तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः ॥ ७५ ॥

जीवातु—एतदिति। एतत्कुचस्पर्धितया ख्यातस्य लोके प्रसिद्धस्य घटस्य कुम्भस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वं तत्र तत्र दृष्टान्तत्वमजनि। किंच मणिकादिकारी अलिञ्जरादिमहाभाण्डनिर्माता कुलालः 'अलिञ्जरः स्यान्मणिकः' इत्यमरः। तस्मादेव शिल्पात् घटनिर्माणात् कुम्भकार इत्येव प्रसिद्धनामाजनि। महत्स्पर्धां इव तत्सद्भूपोऽपि ख्यातिकर इति भावः ॥ ७५ ॥

अन्वय—एतत्कुचस्पर्धितया ख्यातस्य घटस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् अजनि, मणिकादिकारी तस्मात् शिल्पात् कुम्भकारः प्रसिद्धनामा।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के स्तन की स्पर्धा के कारण प्रसिद्ध घट का शास्त्रों में दृष्टान्त बनाया, मटका आदि (बड़े भाण्डों) का निर्माता उसी शिल्प से कुम्भकार नाम से प्रसिद्ध हो गया।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच घड़े-जैसे हैं। कल्पना है कि नैमी-स्तनों की स्पर्धा के कारण ही न्यायशास्त्रादि में घट का दृष्टान्त बना है—'यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः, यन्नित्यं न तत्कृतकमपि न यथा घटः' (जो बनावटी है, वह अनित्य है जैसे घड़ा, जो नित्य है, वह अकृत्रिम भी नहीं है जैसे घड़ा)। इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से घट-दृष्टान्त दिया गया है। यह दृष्टान्त घट को नैमीकुच-स्पर्धा से ही मिला और उसी शिल्प—कुचस्पर्धा से बड़े-बड़े मटके आदि बनाने से निर्माता कुम्भकार नाम से विख्यात हो गया। बड़ा के साथ

विरोध को प्रकट होता है—इस विरोध के रूप महत्स्वरूप (सादृ-

किरातार्जुनीय)। विद्याधर के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में भी सम्बन्ध कथन है, इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति-काव्यलिंग अपह्नुति अलंकार हैं ॥७५॥

गुच्छालयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के ।
माणिक्यहारस्य विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति रोहितश्रीः ॥ ७६ ॥

गुच्छेति[1] । माणिक्यमयस्य हारस्य रोहितश्री लोहिता कान्ति । विदर्भसुभ्रूपयोधरे भैमीकुचे रोहति प्रादुर्भवति । किम्भूते गुच्छो हारविशेष आलयस्य आश्रयो येषा तानि स्वच्छतमानि निर्मलतरा (मा) णि उदविन्दुवृन्दवज्जलबिन्दुसमूहवदाभा येषा तानि मुक्ताफलानि तैं फेनिल फेनयुक्त उज्ज्वलतरोऽङ्को मध्यो यस्य । मुक्ताहारमाणिक्यहाराभ्या भैमीकुचौ शोभेते इति भाव । अथ च पयोधरे मेघे रोहितश्री ऋजुशक्रधनु शोभा प्रादुर्भवतीत्युक्ति । 'हारभेदा यष्टिभेदाद् गुच्छगुच्छार्द्धगोस्तना' इन्द्रायुध शक्रधनुस्तदेव ऋजुरोहितम्' 'रोहिते लोहितो रक्त' इत्यमर । फेनिल, मत्वर्थे 'फेनादिलच्च' इतीलच् ॥ ७६ ॥

अन्वय —माणिक्यहारस्य रोहितश्री गुच्छालयस्वच्छतमोदबिन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्के विदर्भसुभ्रूपयोधरे रोहति ।

हिन्दी—मानिक के हार की लाल कान्ति 'गुच्छ' नामक हार में लगे अत्यन्त उज्ज्वल जल बिन्दुओं की आभावाले मोतियों से फेनिल (मेघपक्ष में—जलबिन्दुरूप मोतियों से फेनिल) मध्य भागवाले विदर्भ की सुभ्रू (दमयन्ती) के पयोधर-(कुच) रूप पयोधर (बादल) पर सुशोभित हो रही है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के वक्ष पर 'गुच्छ' (बत्तीसलड़ा या सत्तरलड़ा) नामक हार सुशोभित है, जो माणिक्य और मोतियों से जड़ा है । लाल कान्ति माणिक्य की है और शुभ्र मोतियों की । 'रोहित' का एक अर्थ ऋजु (सरल) इन्द्रधनुष् भी होता है । माणिक्य की लाल कान्ति मोतियों पर पड़ती, स्तन रूप फेनिल घन पर सुशोभित लम्छोहे इन्द्रधनुष-सी प्रतीत हो रही है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा-श्लेष अलंकार । चन्द्रकलाकार के अनुसार श्लेष-उपमा की संसृष्टि ॥ ७६ ॥

---

१ इस श्लोक की मल्लिनाथकृत 'जीवातु'-व्याख्या अनुपलब्ध है, अतः नारायणी प्रकाश (संस्कृत) टीका दी गयी है ।

निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजोऽयमस्यामुदीतो मुखमिन्दुबिम्बः ।
चित्रं तथापि स्तनकोकयुग्मं न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—निःशङ्केति । निःशङ्कं यथा तथा सङ्कोचितानि मुकुलितानि पङ्कजानि येन सोऽयं मुखमेवेन्दुबिम्बोऽस्यां भैम्यामुदीत उदितस्तथापीन्दूदयेऽपि स्तनावेव कोकौ चक्रवाकौ । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाक' इत्यमरः । तयोर्युग्मं स्तोकमल्पमपि विप्रयोगं नाञ्चति न गच्छति चित्रं मुखेन्दूदयेऽपि कुचकोकयोरवियोग इति रूपकोत्थापितो विरोधाभास इति सङ्करः ॥ ७७ ॥

अन्वय—मुखम् अस्याम् उदीतः अयं निःशङ्कसङ्कोचितपङ्कजः इन्दुबिम्बः, तथापि स्तनकोकयुग्मं स्तोकम् अपि विप्रयोगं न अञ्चति—इति चित्रम् ।

हिन्दी—(दमयन्ती का) मुख इस (दमयन्ती) में उदित यह शङ्काहीन हो कमलों को सङ्कुचित करनेवाला (कमलजयी) चन्द्रबिम्ब है, तथापि स्तनरूप चक्रवाक युग कुछ देर को भी वियोग नहीं प्राप्त करता—यह आश्चर्य है ।

टिप्पणी—चन्द्र-बिम्ब-दर्शन से कमल मुँद जाते हैं और चक्रवाकदम्पती वियुक्त हो जाते हैं, पर यहाँ (दमयन्ती में) विचित्र यह है कि मुख-रूप में कमलों का लजानेवाला (मूँदनेवाला) चन्द्र भी है, तथापि चक्रवाकदम्पती रूप स्तन सहचारी ही हैं । भाव यह है कि चन्द्र मुख कमलजयी है और स्तन इतने संश्लिष्ट हैं कि संयोगस्थिति में दृश्यमान चक्रवाकयुगल से लगते हैं, विशाल और सघनकुच । एक कल्पना यह भी है (जिसका आधार 'निःशङ्क'—प्रयोग है) कि चन्द्र पूर्णतया शङ्का रहित हो कमलों का सङ्कोच कर रहा है, रात में नहीं, दिन में भी । यह सामान्यचन्द्र नहीं है, जो सूर्य से शङ्कित हो, दिन में निस्तेज हो जाय । यह दमयन्ती का विशिष्ट मुख चन्द्र है, जो न रात में म्लान होता है, न दिन में, अतः हर समय रात-दिन इसके सम्मुख पङ्कज सङ्कुचित रहते हैं । इस प्रकार हर समय सङ्कुचित कमल रहने से चक्रवाकयुग्म (स्तनयुगल) को दिन-रात का भान ही नहीं होता । वे दमयन्ती-मुख को ऐसा चन्द्र मानते हैं, जो सूर्य से भी निःशङ्क हैं । चन्द्र तो सूर्य के सम्मुख ही निस्तेज रहता है, यह मुखचन्द्र तो सूर्य को भी निस्तेज रखता है, इसी से तो निःशङ्क हो, सदा कमलों को सङ्कुचित रखता है । इसके सम्मुख कमलविकासी

'मित्र' सूर्य भी आकर कोई सहायता नही कर पाता। चन्दा बेचारा क्या समझ पड़ेगा ? सो चन्दा नही तो रात नही, फलस्वरूप चक्रवाकयुग्म (स्तन-युग्म) मे पल भर को भी वियोग नही होता, क्योंकि मुखेन्दु के उदय पर कुचकोकयुग्म में वियोग नही होता, इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ रूपकोत्थापित विरोधाभास मानकर सकर का निर्देश किया है, अर्थात् रूपक विरोधाभास का अगागिभाव सकर। विद्याधर ने विशेषोक्ति और रूपक अलकार माने हैं ॥ ७७ ॥

आभ्या कुचाभ्यामिभकुम्भयो श्रीरादीयतेऽस्मावनयो' क्व ताभ्याम्।
भयेन गोपायितमौक्तिकौ तौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमौ यत् ॥ ७८ ॥

जीवातु—आभ्यामिति। आभ्या कुचाभ्यामिभकुम्भयो श्री शोभा-सम्पच्च, आदीयते गृह्यते ताभ्यामिभकुम्भाभ्यामनयो कुचयो' असौ श्री क्वादीयते ? न क्वापि इत्यर्थ । यत् यस्मात् तौ इभकुम्भौ भयेन कुचभीत्या गोपायितमौक्तिकौ अन्तर्गुप्तमुक्ताफलौ। गोपायते कर्मणि क्त । इमौ कुचकुम्भौ प्रव्यक्त प्रकाशित मुक्ताभरण याभ्या तौ। यथा राजा हृतधनो भयाद्धनशेष गोपायति राजा तु प्रकाशयति तद्वदित्यर्थ । इभकुम्भयोरिव आदानादखण्डितस्व-श्रीकत्वाच्च ताभ्यामभ्यधिकौ कुचकुम्भाविति भाव ॥ ७८ ॥

अन्वय—आभ्या कुचाभ्याम् इभकुम्भयो श्री क्व आदीयते, ताभ्याम् अनयो असौ न, यत् तौ भयेन गोपायित मौक्तिकौ, इमौ प्रव्यक्तमुक्ताभरणौ।

हिन्दी—इन (दमयन्ती के) दोनो कुचो ने गज के मस्तकों शोभा-सपदा को छीन लिया है, उन (इभकुभो) ने इन (कुचो) की यह (शोभा-सपदा) नही छीनी है, क्योकि उन दोनो (गजमस्तको) ने मोती छिपा रखे हैं, इन दोनो ने मोतियो के आभूषण प्रकट कर रखे हैं।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच गजकुभो से अधिक रमणीय हैं। स्पष्ट है कि वे इन से हार गये हैं, और अपनी श्री-सपदा खो बैठे हैं। कारण कि अपनी शेष सपत्ति मोती छिपाये रखे हुए हैं, डरे हारे, कुचयुगल तो प्रत्यक्षतः मुक्ताभूषण धारण किये हैं। हारा डरा सपत्ति छिपाता है विजयी प्रत्यक्ष रखता है। विद्याधर के अनुसार वाक्यलिङ्ग अलकार। चन्द्रकलाकार ने व्यतिरेक माना है ॥ ७८ ॥

करात्रजाग्रच्छतकोटिरर्थी ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत् ।
सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जातं वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥ ७९ ॥

जीवातु—करात्रेति । कराग्रे हस्तस्याग्रे जाग्रत् प्रकाशमान शतकोटि वज्रं तत्सङ्ख्य धनं च यस्य स महेन्द्रो ययो कुचयो वर्मणोरर्थी ताविमौ महेन्द्रार्थितौ कुचौ कर्मं वटीं क्षुद्रकपर्दिकामपि 'वट कपर्दे न्यग्रोध' इति विश्व । अपचयविवक्षाया स्त्री लिङ्गप्रयोग । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिविवक्षापचये यदि' इत्यमराभिधानात् । लब्धु न जातं न शक्तं निःस्वमित्यर्थः । सर्वं श्रीफलं बिल्वफलं कर्तृं । 'बिल्वे शाण्डिल्यशैलूषौ मालूरश्रीफलावपि' इत्यमर । तुल्येदारमनोरचितुपाच्चेत् तदा उन्मदिष्णु उन्मादि स्यादित्यर्थ । 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच् । उपमातीते वस्तुनि उपमात्वाभिमान । तथा धनिकं कन्ये वस्तुनि निःस्वस्य लिप्सा चोन्माद एवेत्यर्थः ॥ ७९ ॥

अन्वय—कराग्रजाग्रच्छतकोटि ययो अर्थी उन्मदिष्णु सर्वं श्रीफल तौ इमौ कुचौ तुलयेत् चेत् तदा अधुना वटीम् अपि लब्धु न जातम् ।

हिन्दी—(१) जिसके हाथ में वज्र विद्यमान है, ऐसा इन्द्र भी जिन (दोनों) का याचक है, उन्मद होता (पका) सम्पूर्ण बिल्वफल उन इन स्तनों की यदि समता करेगा तब इस काल उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी। (२) जिसके हाथों में सौ करोड़ धनराशि भी आती-जाती है, ऐसा धनपति जिसका अर्थी है, वह पगला यदि सम्पूर्ण लक्ष्मी के फल को इन दोनों कुचों से समता करेगा तो उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी। अन्वयान्तर करके मल्लिनाथ ने अर्थ किया है कि उक्त कार्य करने वाला बेलफल कौड़ी बराबर (क्षुद्र) है और वह दमयन्ती कुचों की समता करेगा तो उन्मादी होगा।

टिप्पणी—भाव यह है कि रम्भादि अप्सरियों के सौंदर्य का भोगी इन्द्र भी जिनका अभिलाषी है, उनकी तुलना बिल्वफल से करना उन्मत्तता—पागलपन है। बड़े-से बड़ा धनपति भी सम्पूर्ण सम्पदा यदि इन कुचों का मूल्य लगायेगा तो उसके हाथ कानी कौड़ी भी न लगेगी और वह पागल समझा जायेगा। न रम्भादि त्रैलोक्यसुन्दरियों के यौवन की दमयन्ती कुचों से तुलना उचित है, न संसार की सम्पूर्ण सम्पत्ति-शोभा ही इनके बराबर है। जो ऐसा विचारते हैं, वे उन्मत्त हैं, कुछ भी न पाने योग्य, कौड़ी-बराबर, क्षुद्र।

ये तो उपमातीत हैं। विद्याधर के अनुसार श्लेष-समासोक्ति, चन्द्रकलाकार केवल श्लेष माना है ॥ ७९ ॥

स्तनातटे चन्दनपङ्किलेऽस्या जातस्य यावद्युवमानसानाम् ।
हारावलीरत्नमयूखधाराकारा स्फुरन्ति स्खलनस्य रेखा ॥ ८० ॥

जीवातु—स्तनेति । चन्दनेन पङ्किले पङ्कवति । 'पिच्छादित्वादिलच्' अस्या स्तनयोः अतटे प्रपाते 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः । जातस्य यावन्ति युवमानसानि तेषां सर्वेषां सम्बन्धिन स्खलनस्य यावच्छब्दस्य विशेषण-समासः । स्खलनस्य रेखा गमनमार्गाः हारावलीरत्नानां मयूखधाराः रश्मि-पङ्क्तय एवाकाराः यासां ताः सत्यः स्फुरन्ति रत्नमयूखधारासु युवमानसस्खलन-रेखात्वमुत्प्रेक्षते ॥ ८० ॥

अन्वय—अस्याः चन्दनपङ्किले स्तनातटे जातस्य यावद्युवमानसानां स्खलनस्य रेखा हारावलीरत्नमयूखधाराकाराः स्फुरन्ति ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के चन्दन की पङ्क से युक्त स्तनातट (स्तन-अतट अर्थात् स्तन-प्रपात-भाग) में ('स्तनावट' पाठांतर में स्तनों के मध्यवर्ती गड्ढे में) पड़ गयीं जितनी तरुण मनों के फिसलने की रेखाएँ (फिसलने के चिह्न) हैं, वे हारों में जड़े रत्नों की किरणधाराएँ-जैसी प्रतिभासित हो रही हैं।

टिप्पणी—चन्दन लगे दमयन्ती की कुचतटी पर रत्नजटित हार हैं, जिनकी चमक उन पर पड़ रही है। कल्पना है कि ये रत्न मयूख-धाराएँ नहीं हैं, तरुणमानसों की फिसलन के चिह्न हैं, जो इस स्तनतट पर उतरे और (चन्दन की) कीचड़ में फिसल गये। 'स्तनातट' अथवा 'स्तनावट' को देखकर सभी मोहित हो जाते हैं, यहाँ रत्नमयूखधाराओं में युवमान-सस्खलनरेखाओं की सम्भावना की गयी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और अपह्नुति अलङ्कार हैं ॥ ८० ॥

क्षीणेन मध्येऽपि सतोदरेण यत् प्राप्यते नाक्रमणं वलिभ्यः ।
नवाङ्गमुद्यौ तदनङ्गराज्ये विजृम्भितं भीमभुवीह चित्रम् ॥ ८१ ॥

जीवातु—क्षीणेनेति । इहास्यां भीमभुवि भैम्यां मयङ्करस्थाने च क्षीणेन कृशेन दुर्बलेन च मध्ये अवलग्ने प्रबलजनमध्ये च सता वर्तमानेनापि उदरेण त्रिव-

स्मीनाधेन अत एव बलिष्ठ त्रिवलिभिः। बक्षोरमेशात् बलिभ्यो बल-
वद्भ्यश्च सकाशात् आक्रमणमभिभवतिरस्कारं च न प्राप्यते इति यत् तदना-
श्चर्यं चित्र, बलिभ्योऽपि दुर्बलस्यानाक्रमणं चित्रमित्यर्थः। किञ्च सर्वेषामन्तेना
करवरकाशेना स्वामिना यादीना च युक्तो मध्यमस्तस्य अङ्गहीनस्य कामस्य
च राज्ये विजृम्भित तदिदमत्यद्भुतमित्यर्थः। अत्र वाच्यप्रतीयमानयोरभेदा-
ध्यवसायाद्विरोधाभासः ॥ ८१ ॥

अन्वयः—अस्ये मध्ये सदा अपि क्षीणेन उदरेण बलिभिः यद् आक्रमणं न प्राप्यते तद् सर्वाङ्गयुक्तो इह मीनभुवि चित्रम् अनङ्गराज्यं विजृम्भितम्।

हिन्दी—(१) मध्य में रहते हुए भी कृश उदर द्वारा त्रिवलियों से जो अभिभूति नहीं पायी जाती, संपूर्ण सुन्दर-पूर्ण अंगोंवाले इस मीनराज की पुत्री (दमयन्ती) में आश्चर्यजनक अङ्गहीन (काम) का विलास है। (२) दो के मध्य पड़े दुर्बल (उदर) द्वारा बलवान् व्यक्तियों से जो पराजय नहीं पाया जाता, वह स्ता (छ अर्थ—राजा, अमात्यादि पड़ों) अंगों से पूर्ण शत्रुओं द्वारा इस दुर्गम भूमि में बढ़ते अंगहीन दुर्बल का विचित्र कार्य है।

टिप्पणी—दमयन्ती के उदर, त्रिवलि, कटि आदि सभी अंग सुरचित और सानुपात हैं। इस प्रकार भीम सुता अनंग राज्य की एक अद्वितीय कारीगरी-सी, प्रतीत हो देखनेवाले का मन हर लेती है। विशेषतः उसका कृश उदर तो बड़ा ही आनुपातिक है, अपने निकटस्थ अंगों के सौंदर्य के सम्मुख वह फीका नहीं पड़ता। इस वैचित्र्य को इस रूप में देखा गया है कि एक दुर्बल, राज्य के पड़ंगों से रहित राजा सब राज्यांगों से पूर्ण प्रबल शत्रुओं के पड़ोस में भयानक भूमि में रहते हुए भी पराजय नहीं पाता, यह उस दुर्बल अङ्गहीन का आश्चर्यजनक कार्य है। प्रकाशकार ने कुछ और भाव भी व्यक्त किये हैं—(१) भीम राजा की भू-धरती पर, मर्यादायुक्त धरती पर अनंग राजा का राज्य आश्चर्य की वस्तु तो है, क्योंकि धरती किसी की और राज्य किसी का—यह आश्चर्य ही है। (२) भीम महादेव की धरती पर अनङ्ग-काम का राज्य आश्चर्य ही है। (३) भीम अर्थात् शत्रुओं द्वारा अधिकार न पा सके जाने के योग्य धरती पर अतिविषम भूमि पर जो अङ्गहीन-दुर्बल को पराजय नहीं

मिलता इसमें क्या कोई आश्चर्य है ? नहीं ही है। यहाँ वाच्य और प्रतीयमान मे अभेदाध्यवसाय है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और विरोधाभास ॥ ८१ ॥

मध्यं तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमंशम् ।
केन स्तनौ संप्रति यौवनेऽस्या सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्ते ॥ ८२ ॥

जीवातु—मध्यमिति । वेधा इदमीयमेतदीय मध्यमवलम्ब्य तनूकृत्य निर्माणकाले ह्रासयित्वा कमनीयमंशमुद्धृत्य भाग न दध्यात् यदि क्वचिन्न स्थापयेद्यदि संप्रति यौवने अनन्यप्रतिमाऽनन्योपमाङ्गदीप्तिर्यस्यास्तस्या भैम्या स्तनौ केन सृजेत ? नूनमुदरोद्धृतसारेण अस्या स्तनौ निर्मितावित्युत्प्रेक्षा ॥ ८२ ॥

अन्वयः—वेधा यदि इदमीय मध्य तनूकृत्य कमनीयम् अंश न दध्यात् सम्प्रति यौवने अनन्यप्रतिमाङ्गदीप्ते अस्या स्तनौ केन सृजेत् ?

हिन्दी—विधाता यदि इस (दमयन्ती) के मध्य (कटि) को पतला करके रमणीय भाग बचा न रखते तो अब यौवन मे अप्रतिम अंग-कान्तिवाली इस (दमयन्ती) के स्तन किस (सामग्री) से बनाते ?

टिप्पणी—दमयन्ती की कटि कृश है और स्तन पीन । इसी पर कल्पना है कि विधाता दूरदर्शी थे, जो उन्होंने आरम्भ मे ही ध्यान रख कर दमयन्ती की कटि मे थोडी सामग्री का प्रयोग किया और पतली बनाया, अन्यथा तारुण्य आनेपर कुच किस सामग्री से बनाते ? अन्य सामग्री से तो शेष अंगों के अनुरूप रमणीय बन न पाते । दमयन्ती के अतिसुन्दर कटिभाग-निर्माण मे से बचाकर उसीके शेषांश से कुचों की रचना की । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ८२ ॥

गौरीव पत्या सुभगा कदाचित् कर्त्रीयमप्यर्धतनूसमस्याम् ।
इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥ ८३ ॥

जीवातु—गौरीति । सुभगा भर्तृवल्लभा इय दमयन्ती कदाचित् गौरीव पत्या भर्त्रा सह अर्धतनूसमस्याम्, अर्धाङ्गसङ्घट्टना कर्त्री करिष्यतीति मत्वेति शेषः । विधाता अस्या मध्ये अर्वाङ्गमध्ये रोमावलीमेव मेचकसूत्रसीमानिर्णयार्थं नीलसूत्र निदधे इव निहितवान् किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

अन्वयः—इयं सुभगा कदाचित् गौरी इव पत्या अर्द्धतनूसमस्या कर्त्री—इति विधाता अस्या मध्ये रोमावलीमेचकसूत्र निदधे इव ।

हिन्दी—यह सौभाग्य शालिनी (दमयन्ती) कभी पार्वती के समान पति के साथ शरीरार्द्धयोग करेगी—यह विचार कर विधाता ने इसके मध्य में रोमावलीरूप नीला सूत्र चिह्न बना दिया।

टिप्पणी—दमयन्ती नीलकान्ति, मध्यस्थिता रोमावलि को सीमारेखा-रूप में कल्पना की गयी है, जिसे विधाता ने इस लिए रचा कि कभी दमयन्ती भी गौरी के समान अपने पति का अर्धांग बनेगी तब यह रेखा पहिचान का कार्य करेगी। भावी पति प्रियता का संकेत। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक-छेकानुप्रास अलंकार हैं ॥ ८३ ॥

रोमावलीरज्जुमुरोजकुम्भौ गम्भीरतामाप्य च नाभिकूपम् ।
मद्दृष्टितृष्णा विरमेद्यदि स्यान्नैषां यदेषां सिचयेन गुप्तिः ॥ ८४ ॥

जीवातु—रोमावलीति । मद्दृष्टेस्तृष्णा पिपासाऽपि रोमावलीमेव रज्जुमुरोजावेव कुम्भौ तथा गम्भीरं नाभिमेव कूपञ्चासाद्य लब्ध्वा तदा विरमेद् शाम्येद् । अभीष्टिरूपार्थं लावण्यामृतमुद्धृत्य तुष्टा पीत्वेत्यर्थः । एषां साधनानामेषां सिचयेन वस्त्रेण 'वस्त्रं सिचय पट' इति हलायुधः । गुप्तिराच्छादनं न स्याद्यदि । तदेति शेषः । रूपकालङ्कारः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—मद्दृष्टि तृष्णा रोमावलीरज्जुम् उरोजकुम्भौ गम्भीरं नाभि-कूपम् आसाद्य विरमेत् यदि तत् एषाम् एषा सिचयेन गुप्तिः न स्यात् ।

हिन्दी—मेरी दर्शन की प्यास रोमावली रूप रस्सी, स्तन रूप घड़े और गहरे नाभि-रूप कूप को पाकर शान्त हो जाती, खेद कि यदि इनकी यह वस्त्र से गुप्ति (ढकन, छिपाव) न होती।

टिप्पणी—'नारायण की कल्पना है कि राजकन्या दमयन्ती के उपर्युक्त अंग उपर्युक्त रज्जु, कुम्भ और कूप के समान हैं। राजकीय सम्पत्ति हैं, इसलिये 'सिचय' (खड्गधारिजनों) से गुप्त अर्थात् रक्षित हैं, इस लिए दर्शन-प्राप्ति नहीं प्राप्त होता, प्यास नहीं मिटती। यों इस तथ्य का भी संकेत है कि आवृत अंग ही उत्कट और अनुराग में वृद्धि करते हैं, अनावृत दर्शन से तो विराग उपजता है। गो० तुलसीदास के अनुसार—'वसनहीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी॥' (रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड २३।४)। नाभि आदि अत्यन्त सुन्दर हैं, बार-बार देखकर भी देखने की तृष्णा नह

अस्याः खलुग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् ।
स्मरप्रशस्तीरजताक्षरेयं पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अस्या इति । अस्या भैम्याः पृष्ठस्थली कायपश्चाद्भागः । 'पृष्ठं तु चरमं तनोः' इत्यमरः । सैव हाटकपट्टिका 'हेमफलकं तस्यां ग्रन्थिना बन्धेन निबद्धेषु संयतेषु केशेषु मल्लीकदम्बं मल्लीकुसुमनिकुरम्बं तत्प्रतिबिम्बस्य वेशात् प्रवेशाद्धेतो- इयं रजताक्षरा रजतमयवर्णा स्मरप्रशस्तिः स्मरवर्णना खलु नैर्मल्यात् पृष्ठफलप्रतिबिम्बितानि धम्मिल्लमल्लिकाकुसुमानि हेमफलकविन्यस्ता राजती मदनप्रशस्तवर्णावलीव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥

अन्वय—अस्याः ग्रन्थिनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् इयं खलु रजताक्षरा स्मरप्रशस्तिः ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के गुँथे केशों में गूँथे हुए मल्लिका फूलों की प्रतिच्छाया के ब्याज से पीठ रूपी सुवर्ण की पट्टिका पर यह (प्रत्यक्ष होती) निश्चय ही चाँदी के अक्षरों में लिखी काम की प्रशस्ति (प्रशंसा) है ।

टिप्पणी—दमयन्ती की चोटी में गुँथे मल्लिका कुसुमों की परछाहीं उसकी स्वर्णगौर पीठ पर पड़ रही है । इसी पर संभावना की गयी है कि यह फूलों की रजत छाया रजताक्षर हैं, जिनमें काम का प्रशंसागान पीठ की स्वर्णपट्टिका पर लिखा गया है । कामरूप महापुरुष पधारे हैं, सो उनके स्वागत में इस प्रकार प्रशस्ति उपस्थित की गयी है । निर्मलता के कारण पृष्ठफलक पर प्रतिबिम्बित धम्मिलमल्लिकाकुसुम स्वर्णफलक पर लिखी काम-प्रशस्ति जैसी है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-अपह्नुति-रूपक अलंकार हैं ॥ ८७ ॥

चक्रेण विश्वं यदि मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्यमुना नितम्बद्वयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥ ८८ ॥

जीवातु—चक्रेणेति । मत्स्यकेतुः कामः सुदर्शनेन सुदर्शनाख्येन सुलभदर्शनेन च पितुः विष्णोः चक्रेण विश्वं जितं वीक्ष्य यदि वीक्ष्य किल अमुना दुर्लभ-दर्शनेन नितम्बद्वयेन कटीफलकद्वयेनैव चक्रेण जगज्जिगीषति जेतुमिच्छति किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८८ ॥

अन्वयः—मत्स्यकेतुः पितुः सुदर्शनेन चक्रेण विश्वं जितं वीक्ष्य यदि किम् अमुना दुर्लभदर्शनेन नितम्बद्वयेन जगत् जिगीषति ?

हिन्दी—मीनकेतन (काम) पिता (श्रीकृष्ण) के सुदर्शन (सुदर्शन नामक भलीभांति प्रत्यक्ष और नितम्बपक्ष में सुन्दर) चक्र द्वारा संसार को विजित देखकर क्या उस जिसका दर्शन दुर्लभ है (वस्त्राच्छादित), ऐसे (अति-सुन्दर वस्तु) नितम्बचक्र से संसार को जीतना चाहता है ?

टिप्पणी—दो (८८-८९) श्लोकों में नितम्ब-वर्णन। दमयन्ती के चक्राकार—गोल नितम्ब अत्यन्त आकर्षक हैं। वस्त्रों के झीने आवरण में ढके वे और भी आकर्षक हो जगत् में काम-प्रादुर्भाव कर देते हैं और जगत् अधीन और विजित हो जाता है। पिता श्रीकृष्ण ने सुदर्शन चक्र से संसार जीता, बेटा काम (प्रद्युम्नावतार) दमयन्ती के नितम्बचक्र से संसार जीतने को उत्सुक है। बेटे में पिता से वैशिष्ट्य यह है कि पिता का अस्त्र सुदर्शन अर्थात् प्रत्यक्ष था, पुत्र का अस्त्र ऐसा है कि उसके दर्शन ही दुर्लभ हैं। पुत्र अप्रत्यक्ष अस्त्र से ही जगत् जीतना चाहता है, जब कि पिता ने सुप्रत्यक्ष अस्त्र द्वारा आक्रमण किया था। 'दुर्लभ' शब्द का विकसित—विकृत रूप 'दूल्हा' है; दूल्हा अर्थात् पति। इस प्रकार नितम्ब 'दुर्लभदर्शन' अर्थात् पति द्वारा दृष्ट है। सब कोई उसे देख ले, सुदर्शन—'सुखेन दर्शनं यस्य' नहीं है, प्रत्युत 'दुर्लभेन वरेण दर्शनं यस्य' है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-व्यतिरेक ॥ ८८ ॥

रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणं च लावण्यजलं च बाला।
तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्बिभर्ति शङ्के सहकारिचक्रम् ॥ ८९ ॥

जीवातु—रोमावलीति। बाला दमयन्ती तारुण्यमेव मूर्तिः स्वरूपं यस्य तस्य यौवनाख्यस्येत्यर्थः। कुचावेव कुम्भौ तयोः कर्तुः निर्मातुः कुम्भकारस्य रोमावल्येव दण्डः स च नितम्ब एव चक्रञ्च ते गुणः सौन्दर्यादि तदेव गुणः सूत्रञ्चेति त्रिगुण्यात्मकम्। लावण्यमेव जलञ्च सहकारिकारणचक्रं सहकारिकारणकलापं बिभर्ति शङ्के। रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—शङ्के बाला तारुण्यमूर्तेः कुचकुम्भकर्तुः रोमावलीदण्डनितम्बचक्रे गुणं लावण्यजलं सहकारिचक्रं च बिभर्ति।

हिन्दी—शङ्का है कि बाला (दमयन्ती) यौवन स्वरूप कुचों रूपी कुम्भों के कर्ता (कुम्भकार-कुम्हार) के रोमावली रूप (चाक घुमाने का)

ग्मयन्ती देख लिया और अधिक तृप्ति पा ली। यहाँ एक दमयन्ती की अनेकता रमता के कारण विरोध का आभास होता है, और वह श्लेषमूलक है अतः मल्लिनाथ के अनुसार श्लेषमूलक विरोधाभास का संकर है। विद्याधर के अनुसार रूपक, श्लेष, अतिशयोक्ति हैं ॥ ९१ ॥

रम्भापि किं चिह्नयति प्रकाण्डं न चात्मनः स्वेन न चैतदूरू ।
स्वस्यैव येनोपरि सा दधाना पत्राणि जागर्त्यनयोर्भ्रमेण ॥ ९२ ॥

जीवातु—रम्भेति। रम्भा कदल्यपि आत्मनः प्रकाण्डं स्कन्धं स्वेन स्वात्मना स्वमित्यर्थः। प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात् तृतीया। न चिह्नयति चिह्नितस्या ऊरू च न चिह्नयति किं मिथो व्यत्ययासपरिहाराय द्वयोरन्यतरस्यापि चिह्नं न चकार किमित्युत्प्रेक्षा। कुतः येन कारणेन सा रम्भा अनयोः ऊर्वोर्भ्रमेणोरूभ्रान्त्येत्यर्थः। स्वस्यैव स्वकीयस्कन्धस्यैव उपरि पत्राणि दलानि प्रतिपक्षोपरिक्षेयानि साक्षरपत्राणि च दधाना जागर्ति। अत्र सौन्दर्ये स्पर्धिनी रम्भापि स्वस्मिन्नेव ऊरुभ्रान्त्या पत्रावलम्बनकरणात् भ्रान्तिमदलङ्कारः। तन्मूला चोक्तोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९२ ॥

अन्वय—किम् रम्भा अपि न आत्मनः प्रकाण्डं स्वेन, एतदूरू च न चिह्नयति येन सा अनयोः भ्रमेण स्वस्य एव उपरि पत्राणि दधाति जागर्ति ?

हिन्दी - क्या कदली भी न अपने तने को अपने आप चीह्नती है और न इस (दमयन्ती) की जंघा को, जिससे वह इन दोनों (तना और जंघा) में भ्रम के कारण अपने ही ऊपर पत्ता को ढकती हुई रखे है ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में प्रसंगतः ऊरु-वर्णन करके चार (९२-९६) श्लोकों में पुनः ऊरुवर्णन है। दमयन्ती के ऊरुयुग्म पूर्णतया कदलीस्तम्भ (केले का तना) के समान हैं। इस भाव को प्रतिपादित करने के लिए एक भ्रान्तिमान् का प्रयोग किया गया है। कदली के स्तम्भ और दमयन्ती के ऊरु में सौंदर्य-स्पर्धा है, सो कदली अपने प्रतिद्वंद्वी के विरुद्ध अभियोग-पत्र (सम्मन) देना चाहती है, पर वह समझ ही न पा रही है कि कौन-सा उसका तना है, कौन दमयन्ती ऊरु ? इस भ्रम में पड़ी कदली पत्तों के रूप में पत्र (अभियोग) अपने पर ही रखती है। भ्रम के कारण ऐसा हो ही जाता है। कदली ही नहीं, इस भ्रम में सारा संसार पड़ जाता है कि कदली स्तम्भ कौन-सा है

और दमयन्ती-ऊरु कौन-सा है ? ऐसा साम्य है दोनों में । मल्लिनाथ के अनुसार भ्रान्तिमान् और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गिभाव संकर है, क्योंकि सौन्दर्यप्रतिद्वन्द्विता में समर्थ-सी रम्भा-ऊरुभ्रान्ति के कारण उसके पर ही पत्रावलम्बन कर लेती है, तन्मूला उत्प्रेक्षा है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-भ्रान्तिमद्-उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ९२ ॥

विधाय मूर्धानमधश्चरं चेन्मुञ्चेत्तपोभिः स्वमसारभावम् ।
जाड्यञ्च नान्वेत् कदली बलीयस्तदा यदि स्यादिदमूरुचारु ॥९३॥

जीवातु—विधायेति । कदली रम्भा तपोभिः तपश्चर्याभिः मूर्धानमधश्चरम् अधोवर्तिनं विधाय शिरोवृत्त्योर्ध्वाधस्तलवैपरीत्यञ्च कृत्वेत्यर्थः । स्वं स्वकीयमसारभावं निःसारत्वञ्च मुञ्चेच्चेत् बलीयो जाड्यमत्यन्तशैत्यञ्च नान्वेत् न गच्छेत् । तदानीम्, इदमूरुचारु अस्या ऊरू इव चारु शोभना स्याद्यदि स्यादेवेत्यर्थः । अत्र कदल्या अधःशिरस्त्वादिकमसम्बन्धेऽपि सम्बन्ध-सम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद इति सर्वस्वकार ॥ ९३ ॥

अन्वय—कदली तदा इदमूरुचारु स्यात् यदि चेत् तपोभिः मूर्धानम् अधश्चरं विधाय स्वम् असारभावम् मुञ्चेत्, बलीयः जाड्यं च न अन्वेत् ।

हिन्दी—कदली तब इस (दमयन्ती) के ऊरु के समान सुन्दर होगी, यदि तप द्वारा सिर को नीचे की ओर करके अपनी निःसारता को छोड़ दे और सार्वकालिक जड़ता (शीतलता) को न प्राप्त करे ।

टिप्पणी—वस्तुतः अभी तक दमयन्ती-ऊरु अनुपम हैं । कदली दमयन्ती-ऊरु के समान है नहीं, क्योंकि ऊरु ऊपर स्थूल और नीचे की ओर सूक्ष्म और सुन्दर है, जब कि कदली इसके विपरीत है—नीचे मोटी, ऊपर पतली । कदली ऐसा सौन्दर्य तभी प्राप्त कर सकती है, जब उलटी हो जाय । इसे ही सिर नीचे करके तपस्या के रूप में कहा गया है । तप करके ही कोई सिद्धि मिलती है । ऐसे तप से ही कदली को ऊरु के समान सौन्दर्य प्राप्त हो सकेगा । अभी तो वह सुन्दर नहीं है । इसके अतिरिक्त सार्वकालिक शीतलता (ठंडा-पन) भी इसमें है । कोई व्यक्ति सिर नीचा कर तप द्वारा अपनी जड़ता (मूर्खता और अज्ञता) को त्याग कर उत्तम के तुल्य हो जाता है । जाड्य का अर्थ मूर्खता और शीतलता—दोनों होता है—'मूर्खे शिशिरो जडः' ।

दमयन्ती ऊरुयुगल का समालिंगन किये हुए हैं। भृगु, नारद और व्यास सदृश धुरिप्रतिष्ठित महामुनि भी जब दमयन्ती की ओर आकृष्ट हैं, तो अन्य की तो बिसात क्या? मल्लिनाथ के अनुसार यहां श्लेष मूला मुनिमोहोत्प्रेक्षा द्वारा यह वस्तु व्यजना है कि मुनिजन दमयन्ती पर मोहित हैं, औरों की तो गणना क्या? विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा श्लेष का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

क्रमाद्गता पीवरताधिजङ्घं वृक्षाधिरूढिं विदुषी किमस्याः।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—क्रमेति। अस्या भैम्या अधिजङ्घं जङ्घयो विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। क्रमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्वं वृक्षाधिरूढमाश्लेषविशेषं विदुषी किं जानाति किम्? 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। किञ्च भ्रमीभङ्गिभिर्वेष्टनविशेषैः आवृताङ्गमाच्छादितगात्रं वासो वस्त्रमपि लतावेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीणं किम्? उभयत्राप्यन्यथा कथमित्थमाश्लिष्येदिति भावः। अनयोर्लक्षणमुक्तं रतिरहस्ये—'रमणचरणमेकेनाङ्घ्रिणाक्रम्य भिन्नं श्वसितपरपादेनाश्रयन्ती तदूरुम्। निजमथ भुजमेकं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती पुनरपरभुजेन प्राप्नुवन्ती तदङ्गम्। तरुमिव कामितारं चुम्बनार्थाधिरूढा पदमिलषतरागाद् तच्च वृक्षाधिरूढम्। प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयन्ती, द्रुममिव सरलाङ्गी मन्दसीत्का तदीयम्॥ वदनमुचितखेदा कम्पमाचुम्बनार्थं नमयति विनदन्ती तल्लतावेष्टितं स्यात्।' इति ॥ ९६ ॥

अन्वय—अस्या अधिजङ्घं क्रमोद्गता पीवरता किं वृक्षाधिरूढं विदुषी, भ्रमीभङ्गिभिः आवृताङ्गं वासः अपि लतावेष्टितकप्रवीणम्?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के जघायुगल में क्रम से ऊपर उठती स्थूलता (मोटाई) क्या वृक्ष पर चढ़ने की रीति (अथवा वृक्षाधिरूढ प्रकार का आलिंगन) जानती है और लपेटन—आवृत करने की भंगिमाओं से शरीर ढकनेवाला वस्त्र लता के समान लपेटने में (अथवा लतावेष्टितक आलिंगन में) प्रवीण है?

टिप्पणी—दमयन्ती का जघायुग्म क्रमश नीचे से ऊपर की ओर मोटा होता चला है, जैसे कि वृक्ष ऊपर को बढ़ता जा रहा हो। शरीर पर सुन्दर वस्त्र (दुपट्टा आदि) पड़ा है, जो देह का और आकर्षक बना रहा है। शब्दविन्यास चातुर्य से दो आलिंगन-विशेषों में प्रवीणता भी संकेतित है—

(१) वृक्षाधिरूढ जिसमें कामिनी दोनों बाहुओं से कण्ठ का आलिंगन करती है, ऐसा करती वह पहले प्रिय की गोद में चढ़ जाती है—'बाहुभ्यां कण्ठमालिङ्ग्य कामिनी कान्तमुत्थिते। अङ्कमारोहते तस्य वृक्षारूढं स उच्यते ॥' (२) लतावेष्टितक, जिसमें कामिनी लता की भाँति प्रिय के अंगों से लिपट जाती है,—'सव्यापसव्ययोगेन लतावत्परिवेष्टनं। यत्र प्रत्यङ्गमाश्लिष्ट लतावेष्टितकं तु तत् ॥' अथवा बैठे प्रियका लेटी कामिनी जब आलिङ्गन करती है, तब भी लतावेष्टितक कहा जाता है-'उपविष्टं प्रियं कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि। तल्लतावेष्टितं ज्ञेयं कामानुभववेदिभिः ॥' विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा श्लेष अलङ्कार हैं ॥ ९६ ॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् ।
धनुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयासा यददृश्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

जीवातु—अरुन्धतीति । इयं दमयन्ती अरुन्धती वसिष्ठपत्नी च कामपुरन्ध्री रतिश्च लक्ष्मी पद्मा च जम्भद्विषद्दारा शची च नवाम्बिका ब्राह्मीप्रभृतयो नवमातरश्च यासामदृश्यत्वसिद्धिरस्तीति प्रसिद्धिरिति भावः। तासां त्रयोदशाना धनुर्दशी इयमपि तदन्तःपातिनीत्युत्प्रेक्षा। तत् तस्मात् तदन्तःपातित्वात् इहास्या दमयन्त्या गुल्फौ पादग्रन्थी। 'तद्ग्रन्थिघुटिके गुल्फौ' इत्यमरः। तयोर्द्वयेनाप्ता प्राप्ता या च सा अदृश्यसिद्धिश्च यददृश्यसिद्धि येयं गुल्फयोरदृश्यत्वसिद्धिरित्यर्थः। सतीति शेषः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्सा उचितैव तद् सम्बन्धिनोऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थः। गूढगुल्फत्व स्त्रीलक्षण तदस्यामस्तीति भावः ॥

अन्वय —अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् इयम् धनुर्दशी इह गुल्फद्वयाप्ता यत् अदृश्यसिद्धि तत् उचिता एव।

हिन्दी—अरुन्धती (वसिष्ठपत्नी), कामपत्नी (रति), लक्ष्मी, जम्भ शत्रु (इन्द्र) की पत्नी (इन्द्राणी शची) और नौ लोकमाताओं की यह धनुर्दशी (दमयन्ती) है। इस (दमयन्ती) में गुल्फद्वय (दोनों टखनों) को जो अदृश्यसिद्धि प्राप्त हुई, वह उचित ही है।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के गुल्फयुगल (दोनों टखनों) का वर्णन है। दमयन्ती के गुल्फों में हड्डियाँ नहीं दीखती, यही उनकी अदृश्यता है। सामुद्रिक के अनुसार ऐसे गुल्फ शुभ माने जाते हैं। भाव यह है कि

दमयन्ती ऊरुयुगल का समालिंगन किये हुए हैं। भृगु, नारद और व्यास सदृश धुरिप्रतिष्ठित महामुनि भी जब दमयन्ती की ओर आकृष्ट हैं, तो अन्य की तो बिसात क्या ? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष मूला मुनिमोहोत्प्रेक्षा द्वारा यह वस्तु व्यंजना है कि मुनिजन दमयन्ती पर मोहित हैं, औरों की तो गणना क्या ? विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा श्लेष का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

क्रमादुद्गता पीवरताधिजङ्घं वृक्षाधिरूढिं विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्गं वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—क्रमेति। अस्या भैम्या अधिजङ्घं जङ्घयो विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । क्रमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्वं वृक्षाधिरूढमाश्लेषविशेष विदुषी किं ज्ञात्री किम् ? 'न लोक' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेध । किञ्च भ्रमीभङ्गिभिर्वेष्टनविशेषै आवृताङ्गमाच्छादितगात्रं वासो वस्त्रमपि लतावेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीणं किम् ? उभयत्राप्यन्यथा कथमित्थमाश्लिष्येदिति भाव । अनयोर्लक्षणमुक्तं रतिरहस्ये—'रमणचरणमेकेनाङ्घ्रिणाक्रम्य भिन्नं श्वसितपरपादेनाश्रयन्ती तदूरुम्। निजमथ भुजमेकं पृष्ठतोऽस्यार्पयन्ती पुनरपरभुजेन प्राप्नुवन्ती तदङ्गम्। तरुमिव कामितारं चुम्बनार्थाधिरूढा यदभिलषतरागात् तच्च वृक्षाधिरूढम्। प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयन्ती, द्रुममिव सरलाङ्गी मन्दसीत्का तदीयम्॥ वदनमुचितखेदा कम्पमाचुम्बनार्थं नमयति विनदन्ती तल्लतावेष्टितं स्यात् ॥' इति ॥ ९६ ॥

अन्वय—अस्याः अधिजङ्घं क्रमोद्गता पीवरता किं वृक्षाधिरूढं विदुषी, भ्रमीभङ्गिभिः आवृताङ्गं वासः अपि लतावेष्टितकप्रवीणम् ?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के जंघायुगल में क्रम से ऊपर उठती स्थूलता (मोटाई) क्या वृक्ष पर चढ़ने की रीति (अथवा वृक्षाधिरूढ प्रकार का आलिंगन) जानती है और लपेटन—आवृत करने की भंगिमाओं से शरीर ढकनेवाला वस्त्र लता के समान लपेटन में (अथवा लतावेष्टितक आलिंगन में) प्रवीण है ?

टिप्पणी—दमयन्ती का जंघायुग्म क्रमश नीचे से ऊपर की ओर मोटा होता चला है, जैसे कि वृक्ष ऊपर को बढ़ता जा रहा हो। शरीर पर सुन्दर वस्त्र (दुपट्टा आदि) पड़ा है, जो देह को और आकर्षक बना रहा है। शब्दविन्यास चातुर्य से दो आलिंगन-विशेषों में प्रवीणता भी संकेतित है—

(१) बाहूपश्लिष्ट जिसमें कामिनी दोनों बाहुओं से कण्ठ का आलिङ्गन करती है, ऐसा करती वह उसके प्रिय की गोद में चढ़ जाती है—बाह्वा कण्ठमालिङ्गय कामिनी कान्तं तिष्ठते। अङ्कमारोहते यस्य बाहूपश्लिष्ट उच्यते॥ (२) लतावेष्टितक, जिसमें कामिनी लता की भाँति प्रिय के अंगों से लिपट जाती है,—'सव्यासव्यप्रयोगेन लतावल्लरिवेष्टनं। यत्र स्यादङ्गनाश्लिष्टं लतावेष्टितकं तु तद्॥' अथवा बैठे प्रियका लेटी कामिनी जब आलिङ्गन करती है, तब भी लतावेष्टितक कहा जाता है—'उपविष्टं प्रियं कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि। तल्लतावेष्टितं ज्ञेयं कामानुभववेदिभिः॥' विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा स्वेप अलङ्कार है॥ ९६॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम्।
चतुर्दशीयं तदिहोचितैव गुल्फद्वयाप्ता यददृश्यसिद्धिः॥ ९७॥

जीवातु—अरुन्धतीति। इयं दमयन्ती अरुन्धती वसिष्ठपत्नी च कामपुरन्ध्री रतिश्च लक्ष्मी पद्मा च जम्भद्विषद्दारा शची च नवाम्बिका ब्राह्मीप्रभृतयो नवमातरश्च तासामदृश्यत्वसिद्धिरस्तीति प्रसिद्धिरिति भावः। तासां नवोदयानां चतुर्दशी इयमपि तदन्तःपातिनीत्युत्प्रेक्षा। तत् तस्मात् तदन्तःपातित्वात् इहास्यां दमयन्त्यां गुल्फौ पादग्रन्थी। 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः। तयोर्द्वयेनाप्ता प्राप्ता या च सा अदृश्यसिद्धिश्च यददृश्यसिद्धिः सेयं गुल्फयोरदृश्यत्वसिद्धिरित्यर्थः। उचितेति शेषः। तत्तदीयनित्यसम्बन्धात्सा उचितैव तद् सन्धविरोधेऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थः। गूढगुल्फत्वं सौलक्षण्य तदस्यामस्तीति भावः॥

अन्वय—अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिलक्ष्मीजम्भद्विषद्दारनवाम्बिकानाम् इयम् चतुर्दशी इह गुल्फद्वयाप्ता यत् अदृश्यसिद्धिः तत् उचिता एव।

हिन्दी—अरुन्धती (वसिष्ठपत्नी), कामपत्नी (रति), लक्ष्मी, जम्भशत्रु (इन्द्र) की पत्नी (इन्द्राणी शची) और नौ लोकमाताओं की यह चतुर्दशी (दमयन्ती) है। इस (दमयन्ती) में गुल्फद्वय (दोनों टखनों) को जो अदृश्यसिद्धि प्राप्त हुई, वह उचित ही है।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के गुल्फयुगल (दोनों टखनों) का वर्णन है। दमयन्ती के गुल्फों में हड्डियाँ नहीं दीखतीं, यही उनकी अदृश्यता है। सामुद्रिक के अनुसार ऐसे गुल्फ शुभ माने जाते हैं। भाव यह है कि

दमयन्ती उन तेरहों देवियों से विशिष्ट है, जिन्हें अदृश्यसिद्धि प्राप्त है। यह चौदहवीं उनकी विषम संख्या को सम बनाकर पूर्ण करती है, अतः यह उनकी पूरणी है, यों विशिष्ट है। वे तेरह हैं, यह उनसे अगली चौदहवीं—विशिष्ट है। देवियों को जो अदृश्यसिद्धि प्राप्त है, वह इसके चरणाग्र-गुल्फ में है, जो उन्हें प्राप्त है, वह दमयन्ती के चरणाग्र को ही सिद्ध है। यह भी वैशिष्ट्य। इसके अतिरिक्त दमयन्ती में यह सिद्धि 'आप्त'—अव्यभिचरित, नित्य है। कभी दूर नहीं होती। इस प्रकार दमयन्ती उन तेरह देवियों के समान ही नहीं, विशिष्ट भी है। अरुन्धती, रति, लक्ष्मी और शची (चार) और नौ मातृकाएँ—(१) शैलपुत्री, (२) ब्रह्मचारिणी, (३) चित्रघण्टा, (४) कूष्माण्डा, (५) स्कन्दमाता, (६) कात्यायनी, (७) कालरात्रि, (८) महागौरी और (९) सिद्धिदात्री—योग तेरह, चौदहवीं दमयन्ती। दुर्गा-सप्तशती (कवच—३, ४, ५) के अनुसार —प्रथमं शैलपुत्री च द्वितीयं ब्रह्मचारिणी। तृतीयं चित्रघण्टेति कूष्माण्डेति चतुर्थकम् ॥ पञ्चमं स्कन्दमातेति षष्ठं कात्यायनी च। सप्तमं कालरात्रीति महागौरीति चाष्टमम् ॥ नवमं सिद्धिदात्री च नवदुर्गाः प्रकीर्तिताः ॥ आगम के अनुसार—ब्रह्माणी चैव माहेशी कौमारी वैष्णवी तथा। वाराही नारसिंही च माहेन्द्री चण्डिका तथा ॥ महालक्ष्मीरिति प्रोक्ता क्रमेणैता मवाम्बिका ॥ जिस प्रकार साधकों को चतुर्दशी को अदृश्यी-करण विद्या की सिद्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार दमयन्तीरूप चतुर्दशी में गुल्फद्वय को जो यह अदृश्यसिद्धि हुई, वह उचित ही है। विद्याधर के अनुसार रूपकालंकार ॥ ९७ ॥

अस्याः पदौ चारुतया महान्तावपेक्ष्य सौक्ष्म्याल्लवभावभाजः।

जाताः प्रवालस्य महीरुहाणां जानीमहे पल्लवशब्दलब्धिः ॥ ९८ ॥

जीवातु—अस्या इति। चारुतया सौन्दर्यगुणेन महान्तौ अस्याः पदौ पादौ अवेक्ष्य। 'पादः पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सौक्ष्म्यात् तदपेक्षयाऽल्पत्वादिति भावः। लवभावभाजोऽल्पत्वभाजो महीरुहाणां प्रवालस्य किसलयस्य पल्लवशब्दलब्धिः पदयोः लवोऽल्प इति व्युत्पत्त्या पल्लवसंज्ञा प्राप्तिर्जाता जानीमहे इत्युत्प्रेक्षामहे इत्यर्थः। 'अस्मदो द्वयोश्च' इति विकल्पादेकस्मिन्नेव बहु-वचनम् ॥ ९८ ॥

अन्वय—जानीमहे (यत्) अस्याः चारुतया महान्तौ पदौ अवेक्ष्य सौक्ष्म्यात् लवमात्रमात्र महीरुहाणां प्रवालम्य पल्लवशब्दलब्धिः जाता।

हिन्दी—लगता है कि इस (दमयन्ती) के सौंदर्य के कारण उत्तम चरण देखकर अल्पता से (पैरों की शोभा की) अतिन्यूनता (अल्पांश) प्राप्त करते वृक्षों के बाल किसलय को 'पल्लव' (पद्+लव=पैर से अल्प) नाम प्राप्त हुआ है।

टिप्पणी—चार (श्लोक सं० ९८–१०१) में दमयन्ती के चरणों का वर्णन है। इस श्लोक में दमयन्ती-चरण को नवपल्लव से बढ़कर सिद्ध किया गया है। संभावना की गयी है कि पल्लव को पल्लव नाम इसीलिए मिला है कि वह 'पदस्या लव' (पैरों से छोटा) अथवा 'पदो लव सौन्दर्यसम्बन्धी लवो लेशो यस्य' (सौन्दर्य के पद का न्यूनांशग्राही) अथवा 'पदो लवरूपः' (पैर लव-अल्प रूप) है। सब प्रकार से कहना यही है कि दमयन्ती के चरण 'प्रवाल' (नवपल्लव) से अधिक रमणीय हैं। 'जानीमहे' के आधार पर यहाँ मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति॥ ९८॥

जगद्वधूमूर्धसु रूपदर्पाद् यदेतयाऽधायि पदारविन्दम्।
तत्सान्द्रसिन्दूरपरागरागैर्ध्रुवं प्रवालप्रबलारुणं तत्॥ ९९॥

जीवातु—जगदिति। यत् यस्मात्, एतया भैम्या रूपदर्पात् सौन्दर्यगर्वात्, इयमुभय पदारविन्द द्वे अपि पदारविन्दे इत्यर्थः। जगद्वधूमूर्धसु अधायि निहितं, धाञ् कर्मणि लुङ्। 'आतो युक्चिण्कृतोः' इति युगागमः। तत् तस्मात्, तेषु मूर्धसु ये सान्द्राः सिन्दूरपरागरागाः तैः प्रवालाद्विद्रुमादपि प्रबलारुणमधिकारुणं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा॥ ९९॥

अन्वय—एतया यत् रूपदर्पात् पदारविन्दं जगद्वधूमूर्धसु अधायि; ध्रुवं तत् तत्सान्द्रसिन्दूरपरागैः प्रवालप्रबलारुणम्।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने जो सौन्दर्य के गर्व से चरण-कमल त्रिलोक की सुन्दरियों के मूर्धाओं पर धरा, निश्चयपूर्वक वह (दमयन्ती का चरण) उन (जगत् वधुओं) के (मस्तकों पर लगे) गाढे सिन्दूर की लाली से प्रवाल (मूँगे या नवपल्लव) से अधिक गुलाबी हो गया है।

टिप्पणी—मणिमातर से पूर्वोक्त का समर्थन। दमयन्ती के चरण मूगा और नवकिसलय से भी अधिक लाल हैं। दमयन्ती की उत्तमता के कारण जगत् की सुन्दरियाँ उसके चरणों में अपना सिन्दूरपूर्ण मस्तक रखती हैं, उसी सिन्दूर की लालिमा से वह चरण प्रवालाधिक अरुण है। उत्तम के चरणों में निम्न सिर रखते ही है। 'ध्रुवम्' के आधार पर यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और असम्बन्ध में सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति। चन्द्रकलाकार ने उपमा, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का अंगागिभाव संकर माना है॥ ९९॥

रुषारुणा सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्या पदं श्रीः स्म विधेर्वृणीते।
ध्रुवं स तामच्छलयद्यतः सा भृशारुणैतत्पदभाग्विभाति॥ १००॥

जीवातु—रुषेति। श्रीः लक्ष्मी रुषा पराजयक्रोधेन अरुणा सती सर्वगुणैर्जयन्त्या आत्मानमतिक्रामन्त्या भैम्याः पदं स्थानं विधेः सकाशात् वृणीते स्म वव्रे। स विधिस्तां श्रियमच्छलयत् प्रतारितवान् ध्रुवं स्थानार्थविवक्षया पदप्रार्थनायामङ्घ्रिदानादिति भावः। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। अत सा श्रीरेतत्पदभागेतस्या भैम्या तदङ्घ्रिभाक् सती शोभारूपेणेति भावः। भृशारुणा विभाति आरुण्यप्रत्यभिज्ञानात् तदङ्घ्रिरेवैतत्स्थानमिति जानीम इत्यर्थः॥ १००॥

अन्वयः—रुषा अरुणा श्रीः सर्वगुणैः जयन्त्या भैम्याः पदं विधेः वृणीते स्म स ताम् ध्रुवम् अच्छलयत्, यतः भृशारुणा सा एतत्पदभाक् विभाति।

हिन्दी—क्रोध से लाल लक्ष्मी ने सब गुणों के कारण जयिनी भीमसुता के पद (पैर को अथवा स्थान) को विधाता से माँगा था, उस (विधाता) ने उसे (लक्ष्मी को) निश्चयतः धोखा दिया, क्योंकि और भी अधिक (क्रोध और अपमान से) लाल वह (लक्ष्मी) इस (दमयन्ती के) पद (चरण) को प्राप्त कर शोभित हो रही है।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती की चरण-शोभा लोकोत्तर है और लक्ष्मी भी दमयन्ती के समकक्ष नहीं है। दमयन्ती के सभी गुणों से पराजित लक्ष्मी क्रोध और ईर्ष्या से लाल हो गयी और विधाता से माँगने लगी कि वे लक्ष्मी को दमयन्ती का पद (स्थान) दें, अर्थात् दमयन्ती की अपेक्षा लक्ष्मी

को उच्चरण किए सके। विधाता ने 'पद' तो दिया, पर 'पद' शब्द की अनेकार्थता के आधार पर 'पद'—'स्थान' नहीं दिया, 'पद'—'चरण' दिया कि लो दमयन्ती का पद, और करती रहो पद-सेवा। इस प्रकार 'पद' शब्द से विधाता ने लक्ष्मी की प्रतारणा की। वह बेचारी अपमान और क्रोध से और भी लाल होती दमयन्ती का चरण लिये बैठी सेवा कर रही है। नारायण ने 'भूषार्थोऽत्पदलाद्' का एक शब्द मानकर यह अर्थ भी सङ्केतित किया कि 'अत्यन्त अरुण दमयन्ती का पैर पानेवाली' लक्ष्मी (और भी अरुण होती) सुशोभित होती है। विधाता ने लक्ष्मी का चरण ही दिया, स्वरूपादि नहीं। इस प्रकार प्रतारित किया कि दमयन्ती का पद (चरण) ही लक्ष्मी का 'पद' (उचित स्थान) है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ १०० ॥

यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पदाब्जराजौ परिशुद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुश्रूषयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥ १०१ ॥

जीवातु—यानेनेति। यानेन गत्या दण्डयात्रया च जितो दन्तिनाथो गजश्रेष्ठो गजपतिश्च याभ्यां तौ परिशुद्धे निर्दोषे वर्णाङ्कितरूप पार्ष्णी पश्चाद्भाग पार्ष्णि-ग्राहश्च ययोस्तौ तन्व्याः पदाब्जे एव राजानौ पदाब्जराजौ कतरस्य राज्ञः प्रभुः परिपन्थिनश्च नतेन मानशान्तये रौद्रशान्तये च नम्रेण मूर्ध्ना स्वमात्मानं सेव्यं शुश्रूषयितुं सेवयितुमिच्छू अभिलाषुकौ न जाने। अत्र पदाब्जराजादिति रूपकस्य श्लेषमाहात्म्यभावेन सङ्करः ॥ १०१ ॥

अन्वयः—यानेन जितदन्तिनाथौ परिशुद्धपार्ष्णी तन्व्याः पदाब्जराजौ न जाने कतरस्य राज्ञः नतेन मूर्ध्ना स्वं शुश्रूषयितुम् इच्छू ?

हिन्दी—गति अथवा विजय यात्रा में गजराज अथवा गजसेना के स्वामी राजा के जयी, रमणीय (चरण का) पृष्ठ भागवाले अथवा जिनका पार्ष्णिग्राह (पीछे से आक्रमण करने वाला सैन्यदल) परिशुद्ध अर्थात् निर्दोष है, ऐसे (दमयन्ती के) चरण-कमल रूप राजा न जाने किस राजा के विनत मस्तक से अपनी सेवा कराने के इच्छुक हैं ?

टिप्पणी—नल के इस विचार में एक तो यह उत्कण्ठा है कि न जाने कौन राजा ऐसा भाग्यशाली होगा, जो इस दमयन्ती के गजविनिर्जितगति और रमणीय टखनों वाले चरणकमलों के छाया-सन्देह में प्रवेश करने के लिए अपना

मस्तक रखेगा ? दूसरे यहाँ चरण-कमलों को ऐसे राजाओं के रूप में चित्रित किया गया है, जो विजययात्रा मे गजसेनाधीश राजा (नारायण के अनुसार गौडाधिप) को पराजित करते हैं और जिनका पृष्ठसैन्यदल—पार्ष्णिग्राह—अत्यन्त समर्थ है। इसी राजार्थ के कारण 'न जाने' और सार्थक है। गूढमन्त्र राजा किससे सेवा लेगा, यह नहीं जाना जाता। मल्लिनाथ के अनुसार 'पदाब्जराजौ' मे रूपक का श्लेष से अंगांगिभाव सङ्कर है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और श्लेष मानते हुए यह टिप्पणी भी की है कि यहाँ अर्थान्तर की प्रतीति रूपक द्वारा ही होती है, इससे समासोक्ति नहीं हो सकती ॥ १०१ ॥

कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः स्वाखिलतुल्यजेतु ।
उद्वेगभागद्वयताभिमानादिहैव वेधा व्यधित द्वितीयम् ॥ १०२ ॥

जीवातु—कर्णेति। स्वस्या यान्यखिलानि तुल्यानि शष्कुलीकमलाद्युपमानवस्तूनि तेषां जेतुः भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः। कर्णश्चाक्षि च दन्तच्छदश्च बाहुश्च पाणिश्च पदश्च कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः, तदादिर्यस्य तत् आदिशब्दात् कुचादिसंग्रहः। तदादिनोऽवयवजातस्य अद्वयताभिमानात् अद्वितीयत्वगर्वात् उद्वेगभाक् रोषभाक् वेधा इहास्यामेव भैम्यां द्वितीयं कर्णादिकं व्यधित विहितवान्। तदवयवानामप्रतिमतया परस्परमेवौपम्यमासीत्। यथा कर्णस्येतरकर्णेन करस्येतरकरेणेत्यर्थः ॥ १०२ ॥

अन्वय—स्वाखिलतुल्यजेतुः कर्णाक्षिदन्तच्छदबाहुपाणिपदादिनः अद्वयताभिमानात् उद्वेगभाक् विधाता इह एव द्वितीयं व्यधित।

हिन्दी—अपने समान समग्र (वस्तुओं) के जेता कान, आँख, ओठ, बाहु, हाथ, पैर आदि की अद्वयता (अनुपमता) के अभिमान से उद्‌विग्न हुए विधाता ने इस (दमयन्ती) मे ही दूसरा (जोडे का) बना दिया।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के कान आदि समस्त अंग अनुपम, अद्वितीय हैं। कर्ण आदि के जो प्रसिद्ध उपमान हैं—पाश, कमल, बिम्ब, लता, कमल (कर-चरण)—वे सब दमयन्ती के अंगों के समान अप्रमाणित हुए। इस प्रकार से अंग अपनी अद्वितीयता के अत्यभिमानी हो गये। विधाता ने उद्वेग और क्रोध मे भरकर दमयन्ती के अंग के समान उसका जोडा बना डाला। पहिले कान के जोड मे दूसरा कान, पहिले नेत्र के जोड मे दूसरा नेत्र—

इसी प्रकार दूसरा बाहु, दूसरा हाथ और दूसरा पैर। अब कोई अंग अकेला—अद्वय नहीं रहा, उनकी अद्वितीयता समाप्त हो गयी। होता भी यही है, क्रुद्ध रचनाकार अभिमान मिटाने के लिए प्रतिद्वन्द्वी को रच ही देता है। कर्णादि की गणना करते-करते कवि ने जो अंत में 'आदि' शब्द जोड़ा है—'पदादिक', मल्लिनाथ की उचित मान्यता है कि इस 'आदि' से अभिप्राय समझना चाहिए अन्य 'कुचादि' अंग। नारायण का स्पष्टीकरण है कि आदि शब्द से अङ्गुलि आदि अवयव मानना चाहिए। इन अंगों को अभिमान हो गया था कि मेरे सदृश सुन्दर कोई अन्य नहीं है, मैं ही अकेला सुन्दर हूँ। इसी गर्व पर उद्विग्न, क्रोधयुक्त विधाता ने उसके ही जोड़ के दूसरे अंग की रचना वैसी न ही कर दी—'आदिशब्दादङ्गुल्यादेरवयवस्य प्रत्येकमद्वयताभिमानात् मत्सदृशं सुन्दरमन्यन्नास्तीति अहमेवैकं सुन्दरमित्यद्वैतगर्वादुद्वेगेनाक्रोधयुक्तं वेधा इहैवास्या नैम्यामेव द्वितीयं द्वयोः पूरणं कर्णादि कृतवान्।' विद्याधर के अनुसार यहाँ अनन्वयोपमालंकार है। चन्द्रकलाकार के अनुसार 'इस पद्य में अनन्वय अलंकार से दमयन्ती के श्रोत्र आदि इन्द्रिय लोकोत्तर थे, ऐसी वस्तुध्वनि है' ॥ १०२ ॥

तुषारनिर्वापितमब्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधातुः।
पद्मस्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभिख्याभिक्षाऽधुना माधुकरीसदृक्षा ॥१०३॥

जीवातु—तुषारेति। तुषारेण निर्वापितं नाशितमब्जसर्गं पद्मसृष्टिं पुनर्विधातुकामस्य स्रष्टुकामस्य विधातुरधुना इहास्या भैम्याः पद्मसु आस्ये चाङ्घ्री च करौ च तेषु अधिकरणेषु तावत्स्वे वेत्येकवद्भावप्रतिषेध इहाधिकरणं समाना-धारत्वाद्वृत्तिपदार्थः। तस्मिंस्तावत्त्व पञ्चत्वमभिख्याभिक्षा शोभायाच्ञा। 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः। माधुकरी नाम पञ्चभिक्षा तया सदृक्षा सदृशी 'दृशे क्सश्च वक्तव्यः' इति क्सप्रत्ययः। वर्तत इति शेषः। एतदास्यादिपञ्चकं मादन्यान्य तावत् पद्मेषु नास्तीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वय—तुषारनिर्वापितम् अब्जसर्गं पुनः विधातुकामस्य विधातुः अधुना इह पद्मसु आस्याङ्घ्रिकरेषु अभिख्याभिक्षा माधुकरी सदृक्षा।

हिन्दी—पाले से पूर्ण विनष्ट कमलों की पुनारचना की कामना करते

विधाता की इस काल इस (दमयन्ती) के पाँच मुख, चरण और करों से शोभा की याचना सन्यासी की भिक्षा (मधुकरी) जैसी है।

टिप्पणी—एक मुख, दो हाथ, दो पैर का योग हुआ पाँच (१ + २ + २ = ५)। दमयन्ती के इन पाँच अंगों से पाले के कारण सफल नष्ट हुए कमला की पुनः सृष्टि के निमित्त सृष्टिकर्त्ता जो थोड़ी-थोड़ी सुन्दरता की याचना करता है, वह उस भीख के समान है, जो घर-घर यति—सन्यासी माँग माँग कर एकत्र करता है, एक मधुकर (भ्रमर) के तुल्य फूल फूल से मधु माँगकर पेट भरना—'मधुकरी' पाँच जगह से माँगी भीख। दमयन्ती के मुख, कर, चरण से थोड़ी-थोड़ी चारुता मिल जाय 'बाबा' को तो भिखारी बाबा का काम चल जाय और पेट पल जाय। सिरजनहार भी भिखमंगा हो गया जिनसे सौन्दर्ययाचना करता। भाव यह है कि मुखादि के उपमान रूपमें प्रसिद्ध कमल दमयन्ती के मुखादि की अपेक्षा नगण्य हैं—अस्तु।१०३।

एष्यन्ति यावद्गणनादिगन्तान् नृपाः स्मरार्ताः शरणे प्रवेष्टुम्।
इमे पदाब्जे विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवाङ्गुलयोऽत्र रेखाः ॥१०४॥

जीवातु—एष्यन्तीति। स्मरार्ता नृपा इमे पदाब्जे शरणे प्रवेष्टुं यावन्ती गणना यस्य तस्मात् यावद्गणनात् यावत्संख्याकात् दिगन्तात् यावत् सङ्ख्याकेभ्य दिगन्तेभ्य इत्यर्थः। जातावेकवचनम्, एष्यन्ति, अत्रानयो पदाब्जयो तावत्य एव तत्सङ्ख्या एवाङ्गुल्य एव रेखा सृष्टा, स्वयवरार्थमागामिना राज्ञामपादानदिक्सङ्ख्यासूचकरेखा इव दशाङ्गुल्य सृष्टा इत्युत्प्रेक्षा ॥१०४॥

अन्वय—स्मरार्त्ता नृपा इमे पदाब्जे शरणे प्रवेष्टु यावद्गणनात् दिगन्तात् एष्यन्ति, विधिना तावत्य एव अङ्गुल्य रेखा सृष्टा।

हिन्दी—काम पीड़ित राजा (दमयती के) इन चरण कमलों में शरण-प्राप्त्यर्थ जितनी संख्या के दिगन्तो (दस, अर्थात् सपूर्ण दिशाओं) से आयेंगे, विधाता ने उतनी ही (दस) अंगुलियाँ रूप रेखाएँ इस (दमयन्ती) मे बना दी।

टिप्पणी—भाव यह है कि दशों दिशाओं के राजा दमयन्ती के अभिलाषी हैं। वे इसके चरणों मे प्रणय याचना करने शरण लेने आयेंगे। विधि ने

दहिने से ही उनकी धारणा हो सकने के लिए, दोनों पैरों में दस अँगुलियाँ बना दीं, जिससे सुविधा हो, उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥ १०४ ॥

प्रियासखीभूतवतो मृदेव व्यधाद्विधिः साधु दशत्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्यं कथमन्यथा स्यात् ॥ १०५ ॥

जीवातु—प्रियेति । विधिर्विधाता प्रियायाः भैम्याः सखीभूतवतः सुहृद्भूतस्य तत्सुहृत्त्वार्थं किं, मुदैव हर्षेण साधु यथा तथा । इन्दोरपि साधुदशत्वं सम्यक् दशावस्थां दशसंख्यां च, व्यधात् विहितवानित्यर्थः । अन्यथास्येन्दोः एतस्याः पदस्य छद्मनः व्याजेन तस्य तदा पद्मस्य सौभाग्यं सौन्दर्यं भाग्यं कथम् ? एतच्चरणयोः कलांशसंभवस्य नखनिभत्वमित्यर्थः ॥ १०५ ॥

अन्वय—विधिः मुदा प्रियासखीभूतवतः इन्दोः इव साधुदशत्वं (अथवा 'दशत्व साधु') व्यधात्, अन्यथा एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्यभाग्यं कथं स्यात् ?

हिन्दी—विधाता ने प्रसन्नतापूर्वक प्रिया (दमयन्ती) के सखा हो गये चन्द्र का (चरणनखरूपमें) यह सुन्दर दशत्वभाव ठीक ही बनाया, अन्यथा इस (दमयन्ती) चरण-व्याज से अरुणकमल की सुभगता (सौन्दर्य) पाने का (चन्द्र का) भाग्य कैसे होता ?

टिप्पणी—दमयन्ती के पैरों के दसों गुलाबी नख अरुण चन्द्र और पद्म की शोभा वाले हैं। चन्द्र तो एक है, उसे दस नखों की समता देने के लिए उसके दस रूप उचित हैं—'साधुदशत्व' अर्थात् भली अवस्था और उचित दशसंख्यात्व। इससे चन्द्र को यह लाभ हुआ कि दमयन्ती चरण-व्याज से उसे 'अरुणपद्म'-सौभाग्य लाभ हो गया। चन्द्रपद्म-विरोध माना जाता है। इस संभव की सम्भावना दमयन्ती-चरण-सेवा से ही चन्द्र को हुई। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास श्लेष-अनुमान-अपह्नुति अलङ्कार हैं ॥१०५॥

यदा पदाङ्गुष्ठनखौ मुखञ्च बिभर्ति पूर्णेन्दुचतुष्टयं या ।
कला चतुःषष्टिरुपैतु वासं तस्याः कथं सुभ्रु विना न नाम ॥ १०६ ॥

जीवातु—यदेति । या सुभ्रूर्यदा कीर्ति- पदाङ्गुष्ठनखौ मुखञ्चेति पूर्णेन्दुचतुष्टयं बिभर्ति । तस्यास्तस्याः सुभ्रु वि सुन्दर्याः कलानां षोडशानामानां विद्यानां च चतुरुत्तरा षष्टिः चतुःषष्टिः वासं निवासं कथं नाम नोपैतु उपैत्वे-

वेत्यर्थः । चन्द्रचतुष्टये प्रतिचन्द्रं षोडशकलत्वाच्चतुःषष्टिकलासम्पत्तिरित्यर्थः । द्वयीनामपि कलानामभेदाध्यवसायेन अयं निर्देशः ॥ १०६ ॥

अन्वय—या यदा पदाङ्गुष्ठनखौ मुखं च पूर्णेन्दुचतुष्टयं बिभर्ति, तस्याम् अस्यां सुभ्रुवि कलाचतुःषष्टिः कथं नाम वासं न उपैतु ?

हिन्दी—जो (दमयन्ती) पद, पैर के अगूठों के दो नख और मुख (१ + २ + १ = ४)—इस प्रकार चार पूर्ण चन्द्र धारण करती है, उस इस सुन्दर भौंहवाली में चौसठ कलाएँ क्यों न निवास प्राप्त करें ? (करना ही उचित है ।)

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती गीत-वाद्यादि चौसठ कलाओं में प्रवीणा है और उसके पद (१) पैरों के अँगूठे, (२) और मुख (१)—ये चार-चार पूर्ण चन्द्रों के तुल्य हैं। इस प्रकार दमयन्ती में चार चन्द्रों का वास है। एक चन्द्र में सोलह कलाएँ होती है, १६ × ४ = ६४। इस प्रकार *दमयन्ती में चौसठ कलाओं की स्थिति ठीक-ठीक हो गयी।* विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति श्लेष अलंकार। कामशास्त्र के अनुसार चौसठ कलाएँ हैं—१–गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ नाट्य, ५ चित्रकारी, ६ तिलकरचना, ७ चावल फूलों से चौक बनाना, ८ फूलों की सेज बिछाना, ९ दाँत, वस्त्र और *अंगों का रंगना,* १० *गृहसज्जा,* ११ *शयनरचना,* १२ *जलतरंग* बजाना, १३ गुलाबजल आदि छिड़कना १४ चित्रयोग (तरुण को वृद्ध, वृद्ध को तरुण बनाना), १५ माला गूँथना, १६ सिर पर फूल सजाना, १७ नेपथ्ययोग (वस्त्राभूषणादिसज्जा), १८ कर्णफूलादिरचना, १९ इत्र-फुलेल बनाना, २० भूषण योजना, २१ इंद्रजाल, २२ प्रसाधन-सामग्री बनाना—कौचुमार योग, २३ हस्तलाघव, २४ शाक-पकवान आदि बनाना, २५ शरबत आसवादि पेय निर्माण, २६ सिलाई, २७ बेलबूटे काढ़ना, २८ पहेली-बुझाना, २९ अन्त्याक्षरी, ३० कठिन पदों का अर्थ करना, ३१-पुस्तकवाचन, ३२ नाटकदेखना दिखाना, ३३ समस्यापूर्ति, ३४ खाट बुनना, ३५ तर्कुकर्म (कातना), ३६ तक्षण, ३७ वास्तुविद्या, ३८ रत्नपरीक्षा, ३९ धातुवाद (कीमियागरी), ४० मणिराग ज्ञान, ४१ खाना की विद्या, ४२ वृक्षायुर्वेदयोग, ४३ मेष कुक्कुट लावक-युद्ध-विधि, ४४ शुकसारिका-

प्रसाधन ज्ञान, ४५ उत्सादन (उबटन) लगाना, ४६ केशमार्जनकौशल, ४७ अंगुलि संकेत से कथन, ४८ विदेशी भाषा-ज्ञान, ४९ देशभाषाज्ञान, ५० दैवीलक्षणों के आधार पर भविष्यत्कथन, ५१ यन्त्रमातृका (निर्माण), ५२ स्मरणमातृका, ५३ संपाठ्य, ५४ मानसी काव्यक्रिया, ५५ क्रिया-विकल्प, ५६. छलितक योग (ऐयारी), ५७ अभिधान कोषच्छन्दो ज्ञान, ५८ वस्त्रगोपन, ५९ द्यूतविशेष, ६०. पाँसा-खेलना ६१ बच्चे खिलाना, ६२ वैनायकी विद्या (शिष्टाचार), ६३ वैजयिकी विद्याज्ञान, और ६४ वैतालिकी विद्या ॥ १०६ ॥

सृष्टातिविश्वा विधिनैव तावत्तस्यापि नीतोपरि यौवनेन ।
वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवेयमवापिता वाक्पथपारमेव ॥ १०७ ॥

जीवातु—सृष्टेति । इयं तावत् विधिनैव अतिविश्वा विश्वमतिक्रान्ता विश्वातिशायिनीत्यर्थः । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयये'ति समासः । सृष्टा निर्मिता अथ यौवनेन तस्य विधिकृतातिशयस्याप्युपरि नीता ततोऽप्यतिशयं प्रापितेत्यर्थः । अथ मनोभुवा वैदग्ध्यं प्रागल्भ्यमध्याप्य वाक्पथस्य वाङ्मार्गस्य पारम्परतीरमवाङ्मनसगोचरत्वमेवावापिता अत्र क्रमेणैकस्यानेकधर्मसम्बन्धकथनात् एकस्मिन्नथवानेकमित्युक्तलक्षणपर्यायभेदः ॥ १०७ ॥

अन्वयः—विधिना एव इयं तावत् अतिविश्वा सृष्टा, यौवनेन तस्य अपि उपरि नीता, मनोभुवा वैदग्ध्यम् अध्याप्य वाक्पथपारम् एव अवापिता ।

हिन्दी—विधाता ने ही इसे (दमयन्ती को) पहिले विश्वातिशायिनी (जगज्जयिनी) रचा, तरुणाई द्वारा उसके भी ऊपर ले जायी गयी और मनोज (काम) ने तो विदग्धता सिखाकर वागगोचरत्व (वर्णनाशक्यता) को ही पहुँचा दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती जन्मकाल से ही त्रिलोकसुन्दरियों की अपेक्षा सुन्दर थी, तारुण्य आने पर वह अत्यधिक सुन्दर हो गयी और जब हृदय में कामनाएँ जगने लगीं तो समस्त व्यापार-चातुर्य सीखकर तरुणी कामिनी दमयन्ती का सौन्दर्य वर्णनातीत स्थिति को प्राप्त हो गया। भाव है कि दमयन्ती के त्रिलोकजयी सौन्दर्य का वर्णन संभव नहीं है। मल्लिनाथ के

अनुसार क्रम से एक का अनेक धर्मों में सबंध-कथन होने के कारण पर्याय अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०७ ॥

इति स चिकुरादारभ्यैतां नखावधि वर्णयन्
हरिणरमणीनेत्रां चित्राम्बुधौ तदनन्तरं ।
हृदयभरणोद्वेलानन्दः सखीवृतभीमजा-
नयनविषयीभावे भावं दधार धराधिपः ॥ १०८ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थं स धराधिपो नलो हरिणरमणीनेत्रामेतां भैमीं चिकुरात् केशपाशादारभ्य नखावधि पादाङ्गुष्ठनखान्तं वर्णयंश्चित्राम्बुधौ आश्चर्यसागरे तदनन्तरं प्लवमानान्तरङ्गस्तथा हृदये भरणात् पूरणात् उद्वेलो निःसीम आनन्दो यस्य स सन् सखीवृताया भीमजाया भैम्या नयनविषयीभावे दृग्गोचरत्वे भावमभिप्रायं दधार, तस्याः प्रत्यक्षीभवितुमैच्छदित्यर्थः ॥१०८॥

अन्वय—इति स धराधिपः हरिणरमणीनेत्राम् एतां चिकुरात् आरभ्य नखावधि वर्णयन् चित्राम्बुधौ तदनन्तरं हृदयभरणोद्वेलानन्दः सखीवृतभीमजानयनविषयीभावे भावं दधार ।

हिन्दी—इस प्रकार उस धरती के स्वामी (राजा नल) ने हरिण की रमणी (हिरनी) के समान नयनवाली इस (दमयन्ती) का केशपाश से आरम्भ करके नखपर्यन्त वर्णन करते हुए आश्चर्य सागर में तिरते अतस् वाला हो, हृदय के परिपूर्ण हो जाने से तट को अतिक्रांत करते आनन्द से युक्त होकर सखियों से घिरी भीमसुता (दमयन्ती) के नेत्रों का विषय होने (प्रकट हो जाने) की इच्छा धारण की ।

टिप्पणी—उपर्युक्त प्रकार से दमयन्ती के नख-शिख का विस्तृत वर्णन करते हुए सम्मुख दमयन्ती के त्रिलोकातीत सौन्दर्य को निहार कर राजा नल का हृदय आश्चर्यमय आनन्द से इतना परिपूर्ण हो गया कि वह अब उसके सम्मुख प्रकट होने को विवश हो गया । जैसे ज्वार आने पर सागर तट का अतिक्रमण करके बहने लगता है, आश्चर्य-आनन्द से परिव्याप्त नल का अन्तःकरण भी उसी स्थिति में हो गया । अत्यन्त हर्ष हुआ उसे । और वह दमयन्ती के सम्मुख प्रकट हो गया । विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा, अतिशयोक्ति, छेकानुप्रास अलंकार हैं, चन्द्रकलाकार ने रूपक उपमा की

स्तुति को मान्यता दी है। यह हरिणी छन्द है—नसमरसला ग षड्वेदैर्हयै-र्हरिणी मता। अर्थात् जिसके चारों चरणों में सत्रह-सत्रह वर्ण इस क्रम से होते हैं—१ नगण (III), १ सगण (IIS), १ मगण (SSS), १ रगण (SIS), १ सगण (IIS), एक लघु (I), १ गुरु (S)=१७। हरिणी छन्द के प्रत्येक चरण में ६, ४, ७, पर यति होती है ॥ १०८ ॥

> श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं
> श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
> गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिभ्रातर्यसौ तन्महा-
> काव्ये चारुणि नैषधीयचरिते सर्गोऽगमत्सप्तमः ॥१०९॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि। गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणितिर्नामास्य कृतः प्रबन्धः तद्भ्रातरि तत्समानकर्तृके इत्यर्थः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने
सप्तमः सर्गः समाप्तः ॥ ७ ॥

— ० —

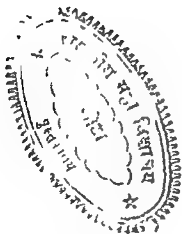
अन्वय—श्री हर्षं ... च यम्, गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति भ्रातरि चारुणि तन्महाकाव्ये नैषधीयचरिते सप्तमः सर्गः अगमत्।

हिन्दी—दो चरणों का पूर्ववत् अर्थ। 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति' के सहोदर भाई, चारु उस महाकाव्य नैषधीयचरित में सप्तम सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—इस श्लोक में यह सङ्केत दिया गया कि नैषधकार श्रीहर्ष ने 'गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिभणिति' नामक प्रशस्तिकाव्य भी रचा था। नैषधीय चरित का भ्राता, एक कवि की ही कृति। तृतीयचरण में 'नैषधीयचरिते' का पाठान्तर 'वीरसेनचरिते' भी है ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षरचित 'नैषधीयचरित' का सप्तम सर्ग समाप्त।

— ० —



नैषधीयचरितम्

अष्टमः सर्गः

अथाद्भुतेनास्तनिमेषमुद्रमुन्निद्ररोमाणममुं युवानम् ।
दृशा पपुस्ताः सुदृशः समस्ताः सुता च भीमस्य महीमघोनः ॥ १ ॥

जीवातु—अथेति । अथ नलप्रादुर्भावानन्तरमद्भुतेन तदन्तर्धानाश्चर्यकारणविस्मयरसेन अस्ता निमेषमुद्रा निमीलनव्यापारो यस्य तं निर्निमेषमित्यर्थः । उन्निद्ररोमाणं हृष्टरोमाणमिति च विस्मयानुभावोक्तिः । युवानममुं नलमद्भुतेन मन्मथाश्चर्यविस्मयेन अस्तनिमेषमुद्रा उन्निद्ररोमाणो युवत्य इति परिणामः कार्यः । ताः सर्वाः समस्ताः सुदृशः स्त्रियः दृशा पपुः सतृष्णं ददृशुरित्यर्थः । तथा महीमघोनो भूदेवेन्द्रस्य भीमस्य सुता भैमी च पूर्वोक्तविस्मयानुभाववती युवतिरेवेति भावः । ता दृशा पपावित्यर्थः । भैम्याः पृथगुपादानं तास्वुत्कर्षस्वरूपविशेषद्योतनार्थं ॥ १ ॥

अन्वय—अथ अद्भुतेन अस्तनिमेषमुद्रम् उन्निद्ररोमाणम् युवानम् अमुं ताः समस्ताः सुदृशः महीमघोनः भीमस्य सुता च दृशा पपुः ।

हिन्दी—तदनन्तर (नल के प्रत्यक्ष हो जाने के पश्चात्) अद्भुत (दमयन्ती-रूप दर्शन) से पलक झपाना त्यागे, रोमाञ्चित तरुण इस (नल) को वे सब सुनयनाएँ (सखियाँ) और धरती के इन्द्र भीम की पुत्री (दमयन्ती) दृष्टि से (जैसे) पीने लगीं।

टिप्पणी—अद्भुत दमयन्ती और उसके अद्भुत समाज को देख कर नल तो अनिमेष और रोमाञ्चित हो ही रहे थे, उन सौन्दर्यशाली तरुण आश्चर्यमय नल को देख कर दमयन्ती और सखी समूह भी अनिमेष हो उठा और नल को अपलक निहारने लगा। 'उन्निद्ररोमत्व' सात्त्विक भाव का द्योतक है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और भावोदय अलङ्कार हैं। इस सम्पूर्ण सर्ग में प्रायः उपजाति वृत्त का प्रयोग किया गया है ॥ १ ॥

कियच्चिरं दैवतभापितानि निह्नोतुमेनं प्रभवन्तु नाम ।
पलालजालैः पिहितः स्वयं हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भः ॥ २ ॥

जीवातु—नन्वयमिन्द्रादिवाक्यानिर्भेण कथमासौ प्रादुरासीदित्यत्रोत्तर-माह—कियदिति । दैवतभापितानि आदृत्य एव दूत्यमाचरत्वेवमपाणीन्द्र-वाक्यादि कियच्चिरं कियन्तं बहुकालमित्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया अव्यय विशेषणत्वात् क्लिमिति नपुंसकलिङ्गनिर्देशः । क्रियाव्ययानां भेदकान्येकत्वेऽपि इति नपुंसकलिङ्गदोषेत्यमरः । एवं नलं निह्नोतुमाच्छादयितुं प्रभवन्तु शक्नुवन्तु नामानि शक्नुवन्तु खल्वित्यर्थः । सम्भावनायां लोट् । तथाहि—पलालजालैः व्रीह्यादितृणपुञ्जैः पिहितः सरक्षणार्थमाच्छादितः इक्षुडिम्भः इक्षुप्ररोहः स्वयं स्वत एव प्रकाशं प्रादुर्भावमासादयति इक्ष्वङ्कुरस्येव कामिनोऽप्यतिप्रौढरागस्य दुर्वारो विकार इति भावः । अत्र नलेक्षुडिम्भयोर्बिम्बप्रतिबिम्बभावेन समान-धर्मनिर्देशात् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २ ॥

अन्वयः—दैवतभापितानि कियच्चिरम् एनं निह्नोतुं प्रभवन्तु नाम, हि पलालजालैः पिहितः इक्षुडिम्भः स्वयं प्रकाशम् आसादयति ।

हिन्दी—देवताओं के कथन कितने समय तक इस (नल) को छिपा रहने देने में समर्थ होते, कारण कि तिनकों से ढका ईख का अंकुर अपने आप ही प्रादुर्भूत हो जाता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के प्रति दुर्वार अनुराग से पूर्ण नल कब तक अपने को छिपाये रखता ? देवों ने जो उसे अर्तांध सिद्धि दी थी, कब तक वह उससे छिपा रह जाता ? अनुराग वेग ने नल को स्वयं प्रत्यक्ष कर दिया । वह ईख के पौधे के समान सब आवरणों को उतार कर प्रत्यक्ष हो ही गया । सूखे तिनकों का जाल कब तक इक्षुडिम्भ को अच्छादित रख सकता है ? प्रणय छिपाये नहीं छिपता । उसकी दुर्वारता अप्रतिहत होती है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ दृष्टांत अलंकार है, क्योंकि नल और इक्षुडिम्भ में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से समान धर्म का निर्देश है । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर न्यास है ॥ २ ॥

अपाङ्गमप्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भैमीमभिलष्य यावत् ।
स्मराशुगः सुभ्रुवि तावदस्याः प्रत्यङ्गमापुङ्खशिखं ममज्ज ॥ ३ ॥

जीवातु—अपाङ्गमिति। अस्य नलस्य दृशो रश्मिः भैमीमभिलष्य काम-यित्वा यावदपाङ्गमन्तस्या अपाङ्गदेशमपि नाप भैमीं तु नार्पयति किमु वक्तव्य तावदेव स्मराशुगोऽस्याः सुभ्रुवि भैम्याः प्रत्यङ्गमापुङ्खमिव समूलाग्रमित्यर्थः। अतिक्षिप्रावस्यपीनाव। ममज्जेत्यर्थो नरानोक्तिः। अत्र दृष्टिपातस्मरपातयो कारणयोः पौर्वापर्यभङ्गोक्तिरित्यतिशयोक्तिभेद ॥ ३ ॥

अन्वय—अस्य दृशो रश्मि भैमीम् अभिलष्य यावत् अपाङ्गम् अपि न आप तावत् एव स्मराशुग अस्या सुभ्रु वि प्रत्यङ्गम् आपुङ्खमिव ममज्ज।

हिन्दी—इस (नल) के नयनों की किरण भीमसुता की कामना करके अपाङ्ग तक भी न पहुँच पायी थी (नेत्रों की प्रतिनिकट कोट तक भी न पहुँची थी) कि तब तक ही काम का शीघ्रगामी बाण इस सुन्दर भ्रुकुटिवती (दमयती) के अंग-अंग में पुङ्ख से शिखा तक (कोट से पूछ तक, सपूर्ण) पूरी तरह घुस गया।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के साभिलाष देखते ही, अनुरागमयी दृष्टि पड़ते ही दमयती उसके प्रति पूर्णतया आकृष्ट हो कामाधीना हो गयी। नयन किरण की अपेक्षा काम-बाण अधिक तीव्रगामी प्रमाणित हुआ। मल्लि-नाथ के अनुसार यहाँ दृष्टिपात और स्मरपात कारणों की पौर्वापर्यभङ्गोक्तिरूप अतिशयोक्तिभेद है, विद्याधर ने भी अतिशयोक्ति का उल्लेख किया है ॥३॥

यदक्रमं विक्रमशक्तिसाम्यादुपाचरद् द्वावपि पञ्चबाणः।
चक्रे न वैमत्यममुष्य कस्माद् बाणैरनर्द्धार्द्धविभागभाग्भिः ॥ ४ ॥

जीवातु—पुनरप्यनयोरन्योन्यानुरागमेवाह—यदिति। पञ्चबाणो विषमेषु द्वावपि भैमीनलौ अक्रममविद्यमानक्रमं युगपदित्यर्थः विक्रमेण या शक्तिस्तस्याः साम्यात् साम्यमाश्रित्य ल्यब्लोपे पञ्चमी। उपाचरत् उपाचचार विषमैर्बाणैः युगपत् उभावप्यवैषम्येण प्रहृतवानिति। अमुष्य समोपचरणस्य अर्द्धार्द्धशो विभागभाजो न भवन्तीति तथोक्तैः विषमसङ्ख्यैः अखण्डसमविभागैरित्यर्थः। बाणैः शरैः कर्तृभिः पञ्चभिरिति भाव। वैमत्यमसाम्यमिति कस्मात् कथं न चक्रे कृतं महच्चित्रमिति भाव। अत्र विषमैर्युगपदुभयत्र समप्रहारविरोधस्य स्मर-महिम्ना समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ४ ॥

अन्वय—पञ्चबाण द्वौ अपि अक्रम विक्रमशक्तिसाम्यात् यत् उपाचरत् तत् अमुष्य अनर्द्धार्द्धविभागभाग्भि बाणै वैमत्य कस्मात् न चक्रे ?

हिन्दी—पाँच बाणो वाले (काम) ने दोनो (नल-दमयती) को ही जो बिना क्रमके—एक साथ विक्रम (उत्साह) और शक्ति (बल) की तुल्यता से जो (वश मे) कर लिया, उसमे इस (काम) के आधे-आधे भागा (दो दो) मे न बँट जाते बाणो ने असमति क्या नही (प्रकट) की ?

टिप्पणी—काम के बाण पाँच हैं। उचित तो यह होता कि नल दमयती दोनो को एक साथ वश मे करने के लिए दोनो पर एक समय एक समान सख्या के अस्त्रो से प्रहार होता। परन्तु यह सभव नही था, क्योकि काम-बाणो की सख्या विषम है, सम नही। पाँच को पूर्णतया दो भागो मे नही बाँटा जा सकता, उसमे एक बाण को दो भाग मे करना पडेगा। इस प्रकार काम ने रीति विरुद्ध दोनो को एक साथ वश में करके अद्भुत कार्य किया। ऐसा परिपाटीरहित कार्य काम इसलिए कर सका कि उसके मन मे विक्रम (उत्साह) था और तन मे शक्ति (बल)। ऐसा भी सभव था कि काम पहिले पाँचो बाण छोडकर नल को वश मे करता, तदनन्तर उसी प्रकार दमयती को। पर ऐसा करने पर समानुरागी नल दमयती का एक साथ अनुराग दर्शन न हो पाता। पौर्वापर्य हो जाता। ढाई-ढाई बाणो का उपयोग भी उचित नही था, क्योकि उसमे एक बाण तोडना पडता। एक पर दो, दूसरे पर तीन का प्रहार भी तुल्यानुराग मे बाधा देता। इसके अतिरिक्त बाणो मे 'वैमत्य' अर्थात् असम्मति भी उत्पन्न हो जाती। जिसे तोडा जाता, वही असहमति प्रकट करता। अत काम ने अपने विक्रम और शक्ति की तुल्यता—मन के उत्साह और तन की शक्ति का समानता से उपयोग कर नल-दमयती को वश मे किया। कोई अधिकारी व्यक्ति भी अपने कार्य-कर्ताओ मे वैमत्य की आशका करके इसी प्रकार उपायान्तर से कार्य सिद्ध करता है, अत काम ने बाणो मे 'वैमत्य' न आने दिया। भाव यह है कि नल-दमयती का समानुराग था, एक साथ सघटित। न किसी का अनुराग कम था, न अधिक। सम, एक समय मे उत्पन्न। 'विक्रमशक्तिसाम्यात्' के अन्य अर्थ भी किये गये हैं—'वि' पक्षिण क्रम आक्रमण ग्रहण तत्र या शक्ति

सामर्थ्यं तेन साम्यात्तुल्यत्वात् । 'वलेऽप्यौतन्यादेन' इति यावत् । (प्रकाश-टीका) । पक्षियों के एक साथ अनाज चुगने की शक्ति के समान काम ने भी स्वशक्ति दिखायी । जैसे कबूतर खलिहान में पड़े अन्नकणों को एक साथ चोंच से पकड़ता है वैसे ही पञ्चबाण-काम ने दोनों को एक साथ स्ववश कर लिया । इसी कारण बाणों के असम होने पर भी विरोध नहीं हुआ । अथवा पक्षियों के एक साथ मिल कर दाना-चुगने के समान पाँचों बाणों ने मिलकर एक साथ नल दमयन्ती को वश में कर लिया । अथवा नल है विक्रम-तुल्य और दमयन्ती है शक्तिसमा । पाँच पुष्पों (बाणों) से काम ने एक साथ विक्रम-शक्ति की पूजा की । आशय यही है कि प्रत्येक दृष्टि से—काल, परिमाणादि को ध्यान में रखते हुए नल-दमयन्ती का परस्परानुराग तुल्य था । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधाभास अलंकार है, क्योंकि विषमसंख्यक बाणों द्वारा एक साथ दो स्थानों पर एकसा प्रहार करने में विरोध है, जिसका समाधान काम के अघटित घटित करने की क्षमता के आधार पर किया गया है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार है ।

तस्मिन्नसौ भाविनि साऽन्वरज्यत् क्षणं क्षणं क्वेह स इत्युदास्त ।
पुरः स्म तस्या वलतेऽस्य चित्तं द्रुत्यादनेनाथ पुनर्न्यवर्ति ॥ ५ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । सा भैमी तस्मिन् पुंसि असौ नल इति हृद्यादि-मुखसुलक्षणदर्शनात् इति मत्वा क्षणं क्षणमत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अन्वरज्यदनुरक्ताऽभवत् । एतेन हर्षं सूचितं । पुनः स नलः क्वेहेत्यसम्भावित-मिति मत्वेत्यर्थः । इतिनिश्चयेनार्थवाचकयोः । क्षणमुदास्त उदासीना स्थिता । आसेः कर्तरि लङ् । एतेन विषादः सूचितः, तथा चास्या भावनिश्चयासी-दित्यर्थः । अथ नलस्य तस्यां भावमाह—अस्य नलस्य चेतः पुरः प्रथमं तस्यां दमयन्त्यां वलते स्म चचालेति हर्षोक्तिः पुनः द्रुत्यादनेन कर्त्रा नलेन न्यवर्ति नीचकुचे स्थितस्य इदमनुचितमिति बलात्कारेण निवर्तितमिति विषादोक्तिः, समप्रकृष्टः एवानयोरिति भावः ॥ ५ ॥

अन्वय—सा तस्मिन् असौ नलः इति क्षणम् अन्वरज्यत्, पुनः स इह क्व इति क्षणम् उदास्त, अथ अस्य चित्तं पुरः तस्यां वलते स्म, अनेन पुनः द्रुत्यात् न्यवर्ति ।

हिन्दी—वह (दमयन्ती) उसमे 'यह नल है'—ऐसी धारणा करके क्षण भर अनुरक्त हुई, फिर यह विचार कर क्षण भर उदासीन हुई कि वह (नल) यहाँ (कुंडिनपुरी) मे कहाँ से आ सकता है ? और इस (नल) का मन दमयंती के प्रति विचलित हुआ, परन्तु उसने दूत होने के कारण उसे लौटा दिया।

टिप्पणी—नल दमयंती के समानुराग की एकप्रकारता का संकेत। दमयंती का मन पहिले नल की ओर चला, फिर उदासीन हुआ। इसी प्रकार नल का मन भी पहिले दमयंती की ओर चचल हुआ, पुन लौट आया। दोनो के हर्ष-विषाद का सूचन यहाँ हुआ है, अत मल्लिनाथ के अनुसार भावसंधि ॥ ५ ॥

कयाचिदालोक्य नल ललज्जे कयापि तद्भासि हृदा ममज्जे।
त कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या ॥ ६ ॥

जीवातु—अथ तत्सखीनामपि तदा शृङ्गारभावा बभूवुरित्याह—कयेति। कयाचित्कन्यया नलमालोक्य ललज्जे लज्जित, भावे लिट्। कयापि तद्भासित लावण्ये हृदा ममज्जे हृदि तन्मयत्व भावितमित्यर्थ । एतेन तत्प्राप्तिसङ्कल्पो गम्यते, भावे लिट्। कापि कन्या त नल स्मरमेव मेने, इति विस्मयोक्ति अन्या कन्या मनोभुवो वशभूय वशत्व 'भुवो भावे' इति क्यप्। भेजे। एतेन औत्सुक्य गम्यते ॥ ६ ॥

अन्वय —नलम् आलोक्य कयाचित् ललज्जे, कया अपि तद्भासि हृदा ममज्जे, का अपि कन्या त स्मरम् एव मेने, अन्या मनोभूवशभूय भेजे।

हिन्दी—नल को देखकर कोई (सखी) लज्जित हो गयी, कोई उस (नल) की सौन्दय प्रभा मे हृदय से मग्न हो गयी, कोई कन्या उसे काम ही मानने लगी और कोई अन्य मनोभव (काम) के वश ही हो गयी।

टिप्पणी—नल के प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन। सम्पूर्ण सखी समाज नल से प्रभावित हो गया। विद्याधर के अनुसार भावोदयजाति अलकार।

वरत्व युनो वेनि न जातु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिभाति भारात्।
उत्तस्थुरभ्युत्थितिनिवाञ्छयेव निजासनान्नैकरसा मृगाक्ष्य ॥ ७ ॥

जीवातु—अन्वेति। हृताङ्गत्व ह्रिय एकरसा आनन्दपरवशा सत्य समर्थं । तत एवाप्रतिभाया अप्रतिभेर्बहुत्वादनिहृत्वादिति कर्तव्यता मोहानिस्यादिस्यर्थः । न नल कस्त्वं कुतो वा आगत इति प्रष्टुमपि जातु कदापि न शेकुः । किञ्च अभ्युत्थितिवाञ्छया प्रत्युत्थानेच्छयैवोत्तस्थुः निजा-सनात् नोत्तस्थुः, तस्य वेगो विशेषाद्वातालनमेवोत्तस्थुः । न तु वस्तुतः उत्-पातवत्वादिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयः—हृताङ्गत्व एकरसाः अप्रतिभाजिनायाद् त कः त्वं कुत इति प्रष्टुम् अपि जातु न शेकुः, अभ्युत्थितिवाञ्छया इव निजासनात् न उत्तस्थुः ।

हिन्दी—उनकी सखियाँ एक रस (लज्जा, भय, अनुराग, आनन्द आदि से परवश) हो अप्रतिभता की बहुलता के कारण उससे यह पूछने में भी समर्थ न हो सकीं कि तुम (नल) कौन हो अथवा कहाँ से आये हो ? और (स्वागतार्थ) मानो उठने की इच्छा से अपने आसन से न उठ पायीं ।

टिप्पणी—दमयन्ती की सखियाँ नल को देखकर अनेक भावों से इतनी अभिभूत हो गयीं कि वे सामान्य शिष्टाचार के अनुसार यह भी न पूछ सकीं कि वह कौन है, कहाँ से आया है, किस कारण से आया है-आदि ? स्वागतार्थ उठ भी न पायीं, यद्यपि इच्छा थी । दो दो बोझे उनपर थे, जिससे वे कुछ भी न कर पायीं—(१) अप्रतिभता का अतिभार (सखियाँ बालाएँ थीं, वाक्चतुरा प्रगल्भा नहीं), (२) उठने की इच्छा का भार (स्वागतार्थ उठने की इच्छा तो बहुत थी, पर वह भी बोझ बन गयी)। भारवाही कैसे कुछ कर सकता है ? 'नैकरसा अभ्युत्थितिवाञ्छया इव तस्थुः' भी भारवाचक है। अर्थ होगा—अनेकरसों (भावचञ्चलता) से अभिभूत हो, कुछ बोल तो न पायीं, पर आसन पर खड़ी हो गयीं। विद्याधर के अनुसार श्लेषालङ्कार ॥ ७ ॥

स्वाच्छन्द्यमानन्दपरम्पराणां भैमी तमालोक्य विगाह्य बाला ।
महाय्य निर्झारीव वारामासाद्य धाराधरकेलिकालम् ॥ ८ ॥

जीवातु—स्वाच्छन्द्यमिति । भैमी त नलमालोक्य विगाह्य निर्बाध्यमानन्द-परम्पराणां स्वाच्छन्द्यमुच्छृङ्खलत्वम् । 'स्वच्छन्दो निरवग्रह' इत्यमरः ।

निम्नरिणी गिरनदी धाराधरकेलिकाल मेघविहारकाल वर्षाकालमासाद्य वारा वारीणाम् । 'आप स्त्रीभूम्नि वार्वारि' इत्यमर । महारयमिवाप ॥८॥

अन्वय —तम् आलोक्य भैमी किम् अपि आनन्दपरम्पराणां स्वाच्छन्द्य निम्नरिणी धाराधरकेलिकालम् आसाद्य वारा महारयम् इव अवाप ।

हिन्दी—उस (नल) को देख कर भीमसुता कुछ ऐसी अनिर्वचनीय आनन्द की परपराओ की स्वच्छदता को प्राप्त हो गयी, जैसा कि निम्नरिणी (पहाडी नदी) मेघो के क्रीडा काल (वर्षाकाल) को प्राप्त कर जल के महान् वेग को प्राप्त कर लेती है ।

टिप्पणी—नल को देख कर दमयती लोकोत्तर आनन्द और हर्ष को प्राप्त हो गयी । कवि ने उसकी तुलना उस पर्वतीय नदी से की, जो वर्षाकाल मे जलवेग से उमड उठती है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा ॥८॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृगस्याङ्गमयास्यदन्यत् ।
नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारा विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेष ॥ ९ ॥

*जीवातु—तत्रेति । अस्या भैम्या दृक् दृष्टिरस्य नलस्य यत् अङ्गमग्रे प्रथम-*मपश्यत् तत्रैव मग्ना सती अन्यदस्याङ्ग नायास्यत् नागमिष्यत्, यदिनिमेष पक्ष्मपात चिराद्विच्छिद्य विच्छिद्य विरमय्य विरमय्य बुद्धिधारां ज्ञानपरम्पराम् अस्यै दृशे नादास्यत् न दद्यात् । क्रियातिपत्तौ लृङ् । निमेषकृतबुद्धिविच्छेदा-दङ्गान्तरप्राप्ति, न तु तृष्णयेति भाव ॥ ९ ॥

अन्वय—अस्या दृक् अस्य यत् अङ्गम् अग्रे अपश्यत् तत्र एव मग्ना अन्यत् न अयास्यत् यदि निमेष चिरात् विच्छिद्य विच्छिद्य बुद्धिधाराम् अस्यै न अदास्यत् ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की दृष्टि ने उस (नल) के जिस अग को पहिले देखा, उसी पर मग्न हुई वह दूसरे (अग) पर न जाती यदि नेत्र-सकोच (पलक झपना) बार बार (दृष्टि का पूर्व दृष्ट अग से) विच्छेद करके इसे बुद्धि की धारा (ज्ञान परपरा, दर्शनेच्छा प्रवाह) न दे देती ।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अंग इतना आकर्षक था कि दमयन्ती की दृष्टि को उसी मे निमग्न हो जाना चाहिए था, परन्तु जैसे डूबते को धारा प्रवाह बहाकर अन्यत्र ले जाता है, ऐसे ही नेत्र निमीलन के कारण पूर्वदृष्ट अग से हटकर दमयन्ती की दृष्टि अन्य अंग को देखने लगती थी ।

यदि पलक न झपकते तो दमयन्ती के नयन जिस अंग को पहिले देख लेते, उसे ही निहारते रहते। दूसरे अंग से विरक्ति नहीं थी, वह तो पलक झपक जाने से विच्छेद हो जाता था और टूटी दृष्टि दूसरे पर चली जाती थी। इस श्लोक में विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है ॥९॥

दृशापि सालिङ्गितमङ्गमस्य जग्राह नाग्रावगताङ्गहर्षम् ।
अङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य सस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥ १० ॥

जीवातु—दृशेति। सा भैमी दृशा आलिङ्गितं ग्रासमस्य नलस्याङ्गमङ्गान्तर अग्रावगताङ्गहर्षं पूर्वगृहीताङ्गजनितानन्दं तदग्रावस्थेनेत्यर्थः। न जग्राह नाग्रामीत्। अथ कथञ्चिदनन्तर अङ्गान्तरे ईक्षिते गृहीते तु निवृत्य पूर्वदृष्टमङ्गं न सस्मार। तस्य तस्य लोकोत्तरत्वादिति भाव ॥ १० ॥

अन्वय—सा दृशा आलिङ्गितम् अस्य अङ्गम् अग्रावगताङ्गहर्षं न जग्राह, अनन्तरम् अङ्गान्तरे ईक्षिते तु निवृत्य पूर्वदृष्टम् अङ्ग न सस्मार।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने दृष्टि द्वारा आलिंगित इस (नल) के अंग को पूर्वदृष्ट अंगों से ज्ञात हर्ष परम्परा के कारण नहीं ग्रहण किया (देखा), तत्पश्चात् अंगान्तर (अन्य अंग) देखने पर पुनः परावृत्त हो पूर्वदृष्ट अंग का स्मरण नहीं किया।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अंग आकर्षक था। दमयन्ती जिस अंग को देखती, हर्ष विभोर हो जाती और पहिले अंग को भूल जाती। कवि का कथन है कि इसमें यह कारण नहीं है कि पूर्वदृष्ट अंग सुन्दर नहीं था, ऐसा भी नहीं था कि अन्य अंग से उत्पन्न हर्ष के कारण वह अन्य अंग को देखती हो। वस्तुतः नल का प्रत्येक अंग ऐसा रमणीय था कि दमयन्ती जिसे देखती, उसका आनन्द द्विगुणित हो जाता और आनन्दातिरेक में अन्य पूर्वदृष्ट अंग का स्मरण ही न हो पाता। इस श्लोक में अंग के दृष्टि द्वारा आलिंगित होने कारण होने पर भी उसका ग्रहण कार्य नहीं कहा गया और उसमें हेतु कहा गया पूर्वदृष्ट अंग इस कारण विद्याधर के अनुसार उक्तिनिमित्त विशेषोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकार हैं ॥ १० ॥

ह्रियैकमस्यापघनं विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरमुक्तिसीमाम् ।
चिरं चकारोभयलाभलोभात् स्वभावलोला गतमागतञ्च ॥ ११ ॥

जीवातु—हि वेति । स्वभावलोला अभिमतविषयलाभे किमु वक्तव्यमिति भाव । तद्दृष्टिर्भैमीदृष्टिरस्य नलस्य एकमपघनमवयवम् । 'अपघनोऽङ्ग'-मित्यदन्तो निपात । हित्वा अङ्गान्तरभुक्तिसीमामवयवान्तरदेश विशन्ती चिरमुभयो लाभे लोभादनर्घनात् । 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र पृथक्सूत्र करणादेव नित्यमजादेशे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणमुभयशब्दस्य वृत्तावप्ययजर्थमिति कैयट । गतमागतञ्च चकार । उभयोरपि तथा रमणीयत्वादि भाव ॥११॥

अन्वय—स्वभावलोला तद्दृष्टि अस्य एकम् अपघन हित्वा अङ्गान्तर-भुक्तिसीमां विशन्ती उभयलाभलोलात् चिर गतम् आगत च चकार ।

हिन्दी—स्वभावत चचल उस (दमयन्ती) की दृष्टि इस (नल) के एक अग को छोड कर अन्य अग को देखने की सीमा में प्रविष्ट होती हुई दोनों (पूर्वदृष्ट और पश्चाद्दृष्ट) अवयवों (को देखने) के लोभ के कारण चिर काल तक गमनागमन करती रही ।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अङ्ग सुन्दर था । जब एक अङ्ग से हट कर दमयन्ती की दृष्टि नल के अन्य अङ्ग पर पडती तो पहिले से कठिनता से हट पाती । सब ही तो अङ्ग भले लगते थे । किससे नयन हटें, किस पर स्थिर रहें ? एक तो नयन प्रकृत्या चचल, उस पर यह स्थिति । एक व्यापारी भी तो देशान्तर जाते हुए अपनी वस्तु बेचने और नयी वस्तु खरीदने मे ऐसे ही गमनागमन किया करता है ! क्या बेचे, क्या खरीदे ? ॥ ११ ॥

निरीक्षितञ्चाङ्गमवीक्षितञ्च दृशा पिबन्ती रभसेन तस्य ।
समानमानन्दमिय दधाना विवेद भेद न विदर्भसुभ्रूः ॥ १२ ॥

जीवातु—निरीक्षितमिति । इय विदर्भसुभ्रूर्वैदर्भी तस्य नलस्य सदन्यि निरीक्षित च अवीक्षित चाङ्ग दृशा रभसेन पिबन्ती तृष्णया पश्यन्ती समान-मानन्द दधाना भेदमिद दृष्टपूर्वमिदमदृष्टपूर्वमिति विवेक न विवेद । उभे अप्य-नवद्यया अपूर्ववदेव पीते इत्यर्थ ॥ १२ ॥

अन्वय—इय विदर्भसुभ्रू तस्य निरीक्षितम् अवीक्षित च अङ्ग दृशा रभसेन पिबन्ती समानम् आनन्द दधाना भेद न विवेद ।

हिन्दी—यह विदर्भ की सुन्दर भ्रुकुटिवाली (दमयन्ती) उस (नल)

के सादर देखे और विशेष कारण से अदेखे अङ्ग को दृष्टि से औत्सुक्य, हर्ष-तृष्णापूर्वक पीती हुई एक सी प्रसन्नता प्राप्त करती (दोनों—देखे-अदेखे) अङ्गों में भेद (तारतम्य) न जान पायी।

टिप्पणी—सभी अङ्ग सुन्दर थे। सो दमयन्ती को देखे और अदेखे अङ्गों के बीच कुछ भेद, किसी प्रकार का भेद ही न ज्ञात होता था। उसका हृदय उत्सुकता, प्रसन्नता और अङ्गों को देखने की तृष्णा से ऐसा पूर्ण हो रहा था कि वह जैसे प्रत्येक अङ्ग को दृष्टि से पी जाना चाह रही थी। उसे देखे अदेखे अङ्ग में यह ज्ञात ही न हो पा रहा था कि अधिक सुन्दर कौन है? यह भी पता नहीं चल रहा था कि क्या देखा, क्या न देखा? किस अङ्ग को पूर्णतया देखा, किसे अधूरा देखा? किसको सादर देख लिया, किसको कारण विशेष से न देख पाया? भावविवशता और आनन्दातिरेक में दमयन्ती की दशा उस योगिनी के समान हो रही थी, जो सर्वत्र ब्रह्म ही को देखती है। देखे घट आदि और अदृष्ट, वागगोचर, श्रुतिगम्य ब्रह्म-स्वरूप में क्या निःसार है, क्या सारवान्, यह सादर विचार करती आनन्द स्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार में परमानन्द का अनुभव करती है। लोक जीवन में देखे के प्रति अवज्ञा और अदेखे के प्रति जो उत्साह होता है, वह दमयन्ती में नहीं था। सभी तो रमणीय था। उसे समान आनन्द हो रहा था। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्याम्।
तस्यानुबन्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनखञ्जनाभ्याम् ॥ १३ ॥

जीवातु—सूक्ष्म इति। सूक्ष्मे तनीयसि घने सान्द्रे दृढे च नैषधस्य नलस्य केशपाशे केशकलापे केशापबन्धने च। 'घन सान्द्रे दृढे हार्षे पाश पक्ष्यादि-बन्धने' इति विश्वः। निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यामेकत्र विस्मयादन्यत्र पलाय-नाच्च निश्चलीभवद्भ्यां तस्या भैम्या लोचने एव खञ्जनौ नेत्रोपमान-पक्षिणौ। 'खञ्जरीटस्तु खञ्जनः' इत्यमरः। ताभ्यां तस्य केशपाशस्य सम्बन्धिन-मनुबन्धं तत्र सक्तिं बन्धनञ्च विमोच्य मोचयित्वा गन्तुं नापारि न शेके। पारयतेर्भावे लुङ्। श्लिष्टविशेषणं रूपकम् ॥ १३ ॥

अन्वय—सूक्ष्मे घने नैषधकेशपाशे निपत्य निष्पन्दतरीभवद्भ्यां तल्लोचनखञ्जनाभ्यां तस्य अनुबन्धं विमोच्य गन्तुं न अपारि।

हिन्दी—महीन और घने निषधराज के केश जाल मे पडकर पल्व-झपकना छोड निष्पद हुए उस (दमयन्ती) के नयन रूप खजन उस (केश-पाश का अनुबन्ध (बन्धन, केशावलोकन-मोह) तोडकर जाने में समर्थ न हो पाये।

टिप्पणी—दमयन्ती के खजन-पक्षी जैसे नयन निषधाधिपके केशो पर ऐसे मुग्ध हो गये कि बस देखते ही रह गये, हट ही न पाये। केशो के जाल मे फँसे पक्षी खजन-नयन बन्धन तोडकर कैसे उड जाते? कठिन बन्धन काट पक्षी उड ही नही सकते। भला आदमी अनुबन्ध (मुहायदा, कान्ट्रैक्ट) तोड ही कैसे सकता है? भाव यही है कि दमयन्ती के लोचन नल के सूक्ष्म घन केशजाल मे उलझ कर रह गये। सामुद्रिक के अनुसार हाथ, दांत, अंगुलि-पोरें और केश सूक्ष्म और घन ही शुभ होते हैं—'सूक्ष्मास्तु पाणिदशनाङ्गुलिपर्वकेशाः'। मल्लिनाथ के अनुसार श्लिष्टविशेषण रूपक है, विद्याधर ने श्लेष और रूपक अलंकारों का निर्देश किया है ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुर्मुखपाणिपादपद्मैः परीरम्भमवाप्य तस्य ।
दमस्वसुर्दृष्टिसरोजराजिश्चिरं न तत्याज सबन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥

जीवातु—भूलोकेति। दमस्वसुर्दृष्टय एव सरोजानि क्रियाभेदाद्बहुत्वं तेषां राजि भूलोकभर्तुस्तस्य नलस्य मुखं च पाणी च पादौ च मुखपाणिपादम् प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः तदेव पद्मानि तैः सह परीरम्भमाश्लेषमवाप्य समाना बन्धवः सबन्धवः। 'जातिजनपद'—इत्यादिना समानशब्दस्य 'स' भावः। तेषु बन्धमासक्तिं चिरं न तत्याज। स्निग्धा हि बन्धवः चिरमनाश्लिष्य न मुञ्चन्तीति भावः। पद्मत्वसजातित्वात् सबन्धुत्वम् ॥१४॥

अन्वय—दमस्वसुः दृष्टिसरोजराजिः तस्य भूलोकभर्तुः मुखपाणिपाद-पद्मैः परिरम्भम् अवाप्य सबन्धुबन्धं चिरं न तत्याज।

हिन्दी—दम की बहिन (दमयन्ती) की दृष्टिरूपा कमलावलि उस पृथ्वीलोक के भर्त्ता (नल) के मुख, कर, चरण-रूप कमलों का आलिंगन प्राप्त कर (भलीभाँति देखकर) अपने सम्बन्धी (सगोत्री) का बन्धन (दर्शनलोभ) चिरकाल तक न छोड पायी।

टिप्पणी—बहुत समय तक दमयन्ती नल के मुह, हाथ, पैरों को

अनुराग पूर्वक, टकटकी बाँधे निहारती रही । नयनों का उपमान भी कमल है, और मुख, कर, चरण का भी । सो दमयन्ती के कमल-नयन और नल के मुख, कर, चरण-कमल क्या मिले, दो बन्धु, दो सगोत्री मिले । वे सगोत्री चिरकाल तक भेंटते रहे । ऐसा होता ही है । विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास रूपक-समासोक्ति अलंकार है ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा ।
सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त सृष्टम् ॥ १५ ॥

जीवातु—तत्कालमिति । तस्मिन् काले तत्कालम् अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आनन्दमयी भवन्ती आनन्दात्मिका सती द्विस्वादुभवन् भीरु । तथा च भवन्-तीतिविशेषेण भवन् अनिर्वचनीयो निर्वक्तुमशक्यो मोहः अप्रतिपत्तिर्यस्याः सा आनन्दमग्नेत्यर्थः । सा भैमी विमुक्तसंसारिणोर्दशे अवस्थे तयोर्यौ रसौ स्वादौ ताभ्यां द्वौ स्वादौ यस्य तद्द्विस्वादम् तादृक् स्वादमित्यर्थः । सृष्टं सुखमुल्ला-समुल्लासमनुभुङ्क्ते भुक्तवती । 'भुजोऽनवने' इति भुङ् तङ् । आनन्दपारव-श्यान्नैव किञ्चिद्विवेदेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वय—तत्कालम् आनन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा सा मुक्तसंसारिदशारसाभ्यां द्विस्वादं सृष्टम् उल्लासम् अभुङ्क्त ।

हिन्दी—उस समय आनन्दस्वरूपा होती अत्यन्त लोकोत्तर (अवर्णनीय) मोह में पड़ी उस (दमयन्ती) ने मुक्त और संसारी—दो प्रकार की दशाओं के दो प्रकार के रस से दो-स्वाद वाले स्वादिष्ट उल्लास का भोग किया ।

टिप्पणी—उस समय दो प्रकार का अद्भुत, लोकोत्तर आनन्द मिला दमयन्ती को । संसारमुक्त योगियों के परमानन्द-जैसा और लोक-जीवन के आनन्द जैसा । दो स्वाद, दो रस, दो गुना हर्षोल्लास । यह नल है, यह जान कर दमयन्ती आनन्दमयी हुई । यह आनन्दमयता हुई मुक्तदशा । इस सुरक्षित अन्तःपुर में नल कैसे हो सकते हैं ? यह हुआ मोह अथवा भ्रम, मूर्च्छा । यह अनिर्वचनीय मोहता हुई संसारिदशा । इस प्रकार एक ही समय दमयन्ती ने मुक्त और संसारी—दोनों दशाओं का अनुभव किया । विद्याधर के अनुसार भावोदय और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १५ ॥

दूते नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीयं जनितेति नूनम् ।
न स व्यधान्नैषधकायमायं विधिः स्वयं दूतमिमां प्रतीन्द्रम् ॥१६॥

जीवातु—अथ भैमीदूतसम्भाषणं विवक्षुर्नलैकबद्धप्राणायाः तस्यास्तदमनौचित्यं द्वाभ्यां परिहरति—दूत इत्यादि । नलस्य श्रियमिव श्रियं बिभर्तीति नलश्रीभृत् तत्सदृश इत्यर्थः । निदर्शनालङ्कारः । तस्मिन् दूते भाविभावा भविष्यदनुरागा इयं भैमी कलङ्किनी मलवती जनिता भविष्यतीति मत्वा जनिधातोर्लृट् । विधिर्विधाता इमां भैमीं प्रति नैषधस्य काय एव माया कपटं यस्य तं नलरूपधारिणं स्वयं साक्षादिन्द्रमेव दूतं न व्यधात् न कल्पितवान् उक्तदोषपरिहारायैवेन्द्रस्य तादृशीं बुद्धिं नाजीजनदित्यर्थः । नूनमिति वितर्के वस्तुविचारत्वान्नायमुत्प्रेक्षालङ्कारः । दूतभावतिरोहितस्यापि तस्य वस्तुनो नलत्वाभावे कलंक इति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—नलश्रीभृति दूते भाविभावा इयं कलङ्किनी जनिता—इति नूनं विधिः इमां प्रति नैषधकायमायं स्वयम् इन्द्रं दूतं न व्यधात् ।

हिन्दी—नल की कान्ति धारण करने वाले दूत में अनुरागिणी हो यह (दमयन्ती) कलंकिनी हो जायेगी, लगता है—यही (विचारकर) विधाता ने इस (दमयन्ती) के प्रति निषधराज का शरीर धारण करने वाले (कपटनलरूपधारी) स्वयम् इन्द्र को दूत नहीं कल्पित किया ।

टिप्पणी—इन्द्र का कपट प्रसिद्ध ही है । इन्द्र के मन में यह भी आ सकता था कि वह नल का कपटवेष बना ले और नल रूप में स्वयं दूत बन कर दमयन्ती के निकट याचना करने जा पहुँचे । ऐसी स्थिति में नल के रूप में इन्द्र को देखकर, उसे नल मानकर दमयन्ती उसकी अनुरागिणी हो जाती । भले ही अनजाने में सही, नल-बुद्धि से, नल के भ्रम से ही सही, दमयन्ती का यह इन्द्रानुराग हो जाता और उसका पातिव्रत कलंकित हो जाता । कवि-कल्पना है कि विधाता ने इन्द्र को नलरूप बना स्वयं दूत बनने की इसी आशंका से बुद्धि ही नहीं दी । वह स्वयं नहीं गया, उसने नल को ही दूत बनाकर भेजा । परिणामतः दमयन्ती पर कलंक लाने का अवसर नहीं आया । अनौचित्य नहीं हुआ । द्वितीय चरण में 'जनितेति' के स्थान में 'जनि मेति' पाठान्तर भी है । अर्थ हुआ—'यह कहीं कलंकिनी न हो

जाय" ।' विद्याधर ने यहाँ उत्प्रेक्षालङ्कार माना है, परन्तु इसके विपरीत मल्लिनाथ यहाँ उत्प्रेक्षा का निषेध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार यहाँ 'नूनम्' का प्रयोग वस्तुविचारत्व के कारण वितर्क में हुआ है। दूतभाव-निरोहित भी उस 'वस्तु' के नष्ट होने से यह कलक नहीं है, यह आशय है। मल्लिनाथ ने यहाँ निदर्शनालङ्कार का विधान किया है। चन्द्रकलाकार 'नूनम्' को उत्प्रेक्षा द्योतक ही मानते हैं ॥ १६ ॥

पुण्ये मनः कस्य मुनेरपि स्यात्प्रमाणमास्ते यदघेऽपि यावत्।
तच्चिन्ति चित्तं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणद्धि ॥१७॥

जीवातु—ननु द्रेऽनि समागते तदभिलाषेणोक्तदोषावकाशः कुत इत्याशङ्क्य चित्तवृत्तीनां क्षणिकत्वात् तथा श्रद्धेयमित्याह—पुण्य इति। मुनेर्यतेरपि किमुतान्यस्येति भावः। कस्य मनः पुण्ये स्यात् पुण्य एव प्रमाणं न कस्यापीत्यर्थः। कुतः, यस्मादघे पापेऽपि यावदुच्छृङ्खलं प्रवर्तमानं तन्मन एव प्रमाणं निश्चायकमास्ते। किन्तु हृष्यत्करुणः उद्यत्कृपः परमेश्वर एव तच्चिन्ति पापचिन्तकं भक्तस्य चित्तं रुणद्धि निवारयति। तस्मात् विधिविलसितमेवैतदिन्द्रचेष्टितमिति भावः ॥ १७ ॥

अन्वय—कस्य मुनेः अपि मनः पुण्ये स्यात्, यत् अघे अपि यावत् प्रमाणम् आस्ते ? तु हृष्यत्करुणः परमेश्वरः तच्चिन्ति भक्तस्य चित्तं रुणद्धि।

हिन्दी—किस मुनि का भी मन पुण्य में (लीन) रहेगा (किसी का नहीं), क्योंकि पाप के प्रति दौड़ना (मन ही) प्रमाण होता है। (ऐसा भी अन्वय किया जाता है—कस्य अपि मुनेः मनः पुण्ये प्रमाणं स्यात् (अपि तु न स्यात्), यत् अघे अपि यावत् आस्ते अर्थात् किस मुनि का भी मन पुण्य के विषय में प्रमाण (निश्चित) होगा—किसी का नहीं, क्योंकि (वह मन तो) पाप के प्रति दौड़ता रहता रहता है।) किन्तु करुणापरायण परमेश्वर पाप का चिन्तन करते भक्त के (अथवा परमेश्वर का चिन्तन करने वाले भक्त के) चित्त को (पापोन्मुख होने से) रोकते हैं।

टिप्पणी—मन चचल है, प्रकृत्या पापोन्मुख। बड़े से बड़ा मुनि भी मन की इस चंचलता के कारण कलङ्की हो सकता है, बेचारी दमयन्ती तो एक कुमारिणी बाला ही थी। वह नलरूपधारी इन्द्र के प्रति अनुरागिणी हो

सक्ती थी। भक्त पर करुणापरायण भगवान् दया करते हैं, वे सदा भक्त को पाप में पड़ने से बचाया करते हैं। करुणापर परमेश्वर ने दमयन्ती की भी रक्षा की। उन्होंने इन्द्र को नलकपटरूप धारण करने की बुद्धि नहीं दी। जिन पर भगवान् की कृपा होती है, वे पाप में प्रवृत्त कभी नहीं होते। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ १७ ॥

सालीकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुर्ययाप शालीनतया न मौनम्।
तथैव तथ्येऽपि नले न लेभे मुग्धेषु कः सत्यमृषाविवेकः ॥ १८ ॥

जीवातु—सम्प्रति धार्ष्ट्यदोष परिहरति—सेति। मदनोन्मदिष्णु उन्मदशीला 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच्। सा भैमी यथा अलीकदृष्टे मिथ्यादृष्टे शालीनतया अधृष्टतया। 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' इति निपातः। मौन नाप तदैव तथ्येऽपि नले न लेभे। एतत्सत्येऽनुचितमित्याशङ्क्य अर्थान्तरन्यासेन परिहरति। मुग्धेषु मदनोन्मादेषु सत्यमृषा सत्यासत्ययोर्विवेको विवेचना नास्तीत्यर्थः। अत एव न धार्ष्ट्यदोषोऽपीति भाव ॥ १८ ॥

अन्वय—मदनोन्मदिष्णु सा यथा अलीकदृष्टे शालीनतया मौन न आप तथा एव तथ्ये अपि नले मौन न लेभे, मुग्धेषु सत्यमृषाविवेक क ?

हिन्दी—काम से उन्माद युक्त वह (दमयती) जैसे मिथ्यादृष्ट (नल) के प्रति (अपनी स्वाभाविक) शालीनतया के कारण (भी) चुप न रह सकी, वैसे यथार्थ भी नल के प्रति चुप न रही, मूढ हुए व्यक्तियों में सत्यासत्य का विवेक कहाँ ?

टिप्पणी—दमयती स्वभावत शालीन थी, धृष्टा-प्रगल्भा न थी। ऐसी नारियाँ प्रिय के वास्तविक रूप में सम्मुख होने पर लज्जा के कारण प्राय चुप रह जाया करती हैं—भले ही स्वप्न-चित्रादि में मिथ्यादृष्ट प्रिय से जो चाहे कह बोल लें। दमयती क्योंकि मदनोन्मादिनी होकर ही थी, अत वह प्रिय के वास्तविक रूप में सम्मुख होने पर भी चुप न रह पायी। वस्तुत. मुग्ध, मोहग्रस्त जनों में विवेक रह ही नहीं जाता। सत्य-असत्य, वक्तव्य-अवक्तव्य का विचार वे कर नहीं पाते। द्वितीय चरण में 'शालीनतया' का पाठांतर 'शालीनतमा' भी है। वहाँ 'शालीनतमा' को 'सा' का विशेषण मान कर अर्थ करना चाहिए—'अतिमलज्जा'। अर्थान्तरन्यास अलंकार ।१८।

व्यर्थीभवद्भावविधानयत्ना स्वरेण साथ स्फुटगद्गदेन ।
सखीजने साध्वसमन्नवाचि स्वयं तमूचे नमदाननेन्दुः ॥१९॥

जीवातु—व्यर्थीभवदिति । अथ द्विव्यादनानानन्तर व्यर्थीभवन् भावविधाने आकारलोपने यत्नो यस्या सा कोम्पुनरक्तेऽर्थे । सा भैमी सखीजने साध्वसेन भन्नवाचि कुण्ठितमुखे कुण्ठिते सति, अन्यथा मनोमुखेनैव ब्रूयादिति भावः । नमदाननेन्दुर्लज्जानम्रमुखी सती स्फुटगद्गदेन स्खलितेन स्वरेण तं नलं स्वयमूचे कर्तरि लिट् 'ब्रुवो वचि' ॥ १९ ॥

अन्वय—अथ व्यर्थीभवद्भावनिधानयत्ना सा साध्वसमन्नवाचि सखीजने नमदाननेन्दुः तं स्वयं स्फुटगद्गदेन स्वरेण ऊचे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् सात्त्विक भाव को छिपाने में जिसका प्रयास व्यर्थ हो गया है, ऐसी वह (दमयन्ती परपुरुष के अन्तःपुर में सहसा प्रविष्ट हो जाने से) भय के कारण सखियों के अवाक् रह जाने पर मुख-चन्द्र को नीचा किये हुए (नल) से स्वयं विरल—छिन्न स्वर में बोली ।

टिप्पणी—दमयन्ती के नल के प्रति मौन न रह पाने का एक और कारण । परपुरुष को अन्तःपुर में देख सखी-समूह आतङ्कित हो कुण्ठित और अवाक् रह गया, अतः दमयन्ती को स्वयम् अतिथि से बोलना पड़ा । स्फुट-गद्गद स्वर और नितत-आनन स्वाभाविक लज्जा का द्योतक । विद्याधर के अनुसार भावोदय और रूपक अलङ्कार ॥ १९ ॥

नत्वा शिरोरत्नरुचापि पाद्यं सम्पादयन्त्याचारविदातिथिभ्यः ।
विलासमन्दीभिरनादरतापि वैरं विनेया भवदुक्तंनुक्तिः ॥ २० ॥

जीवातु—अथान्यातिथ्य विकीर्णुक्तिनिस्तत्कर्तव्यतामाह—नत्वेत्यादि । आचारविदा गृहस्थेन अतिथिभ्यो नत्वा पदयोर्निपत्य शिरोरत्नस्य रुचा कान्त्यापि पाद्यं पदार्थजलं 'पादार्थाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । सम्पाद्य, किञ्च विलासगत्या विलासमन्दत्वकेन या रचयारा आनन्दलहरी तयापि वैरी विनिवारणमनुवर्त्य या तृतिः स विनेयाऽभ्यागता तुल्यानुरूपोऽभ्युत्थेव इति भावः ॥ २० ॥

अन्वय—आचारविदा नत्वा शिरोरत्नरुचा अपि अतिथिभ्यः पाद्यम् सम्पाद्य विलासगत्यीभिरनादरता अपि वैरी अनुवर्त्यनुक्ति विनेया ।

हिन्दी—आचार के ज्ञानी (गृहस्थ) को झुककर शिरोरत्न (चूडामणि) की दीप्ति से भी अतिथियों को पाद्य (चरण क्षालनार्थ जल) समर्पित करना चाहिए और प्रिय—मीठे वचनों की रसधारा से भी विधियुक्त मधुपर्क से (प्राप्त होनेवाली) तृप्ति देनी चाहिए।

टिप्पणी—उचित साधन सामग्री के अभाव मे भी अतिथि का समुचित सत्कार सद्गृहस्थ का कर्तव्य है। जल न हो तो शिर झुका कर विनय का पाद्य समर्पित कर दे और मधुपर्क (दधि, घृत और मधु मिश्रित खाद्य) न हो तो मधु जैसे मीठे वचन बोलकर ही अतिथि को तृप्त करे। भाव यह कि अतिथि सत्कार तो प्रत्येक दशा मे सद्गृहस्थ का कर्तव्य है। उत्तरार्द्ध का पाठांतर 'उक्त्यापि युक्ता मधुपर्कतृप्तिर्न तद्गिरस्त्वय्यतिथौ धृष्टता मे' भी पाठांतर है। सुखावबोध (जिनराज) और साहित्यविद्याधरी में व्याख्या है—'त्वय्यतिथि भवत्सदृशे प्राघुर्णके मे मम वाचो धृष्टता धाष्ट्र्यं दूषणं न भवति'—आप जैसे अतिथि के प्रति मेरे बोलने की धृष्टता दोष नहीं है, (क्योंकि मधुपर्क तृप्ति वाणी से तो देनी ही चाहिए।) प्राघूर्णक अर्थात् अतिथि (घुमक्कड, रमते राम)। इस प्रकार दमयंती ने स्वयम् नल से वार्तालाप करने की धृष्टता का एक और उचित कारण उपस्थित कर दिया। छेकानुप्रास और काव्य-लिंग अलंकार साहित्य विद्याधरी समत॥ २०॥

स्वात्मापि शीलेन तृणं विधेयं देया विहायासनभूर्निजापि।
आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भः पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभिः॥ २१॥

जीवातु—स्वात्मापीति। किञ्च शीलेनाधारप्रमाणेन स्वदेहोऽपि। 'आत्मा जीवधृतौ देहे' इति वैजयन्ती। तृणं विधेयं तृणवदर्पणीयम् निजापि आसन-भूरुपवेशनस्थानं विहाय स्वयं ततः उत्थाय देया, आनन्दबाष्पैरप्यम्भः पादोदकं कल्प्यम्, मधुभिर्मधुप्रायैः वचोभिः पृच्छा कुशलप्रश्नः। 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। भिदादित्वादङ् प्रत्ययः। विधेया कर्तव्या। 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता। अप्रणद्योऽतिथिः सायमपि वाग्भूतृणोदकैः' इति स्मरणाद् तृणाद्यसम्भवे तत्स्थाने स्वशरीरादिकमपि देयम् अशक्तस्यानुकल्पेनापि शास्त्रार्थ-सिद्धेरिति भावः॥ २१॥

अन्वयः—शीलेन स्वात्मा अपि तृणं विधेयम् निजा अपि आसनभूः

विहाय देया आनन्दवाष्पै अपि अन्तः स्वल्पम् मधूनि वचांसि पृच्छा विधेया।

हिन्दी—शील (सदाचार) के ज्ञानी (गृहस्थ द्वारा) अपना शरीर भी (अतिथि निमित्त) तृण-तुल्य (अर्पित) कर देना चाहिए, अपने बैठने का भी स्थान छोड़कर देना चाहिए, आनन्दाश्रुजल से भी पाद्य कल्पित करना चाहिए और मीठे वचनों से भी कुशल प्रश्न पूछना चाहिए।

टिप्पणी—भाव यही है कि साधनाभाव अथवा सामग्री के अभाव में अतिथि की सेवा उचित और आवश्यक है। जो भी सम्भव हो, उसी से अतिथि-सत्कार सदाचारी गृहस्थ का कर्तव्य है। जिनके भी न हों तो अपना शरीर तो है और आसन नहीं तो अपने बैठने की धरती तो है। आनन्दाश्रुजल का पाद्य, मीठे वचनों का मधुपर्क तो सम्भव ही है। स्मृति-वचन यही है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक अलंकार ॥ २१ ॥

पदोपहारेऽनुपनम्रतापि सम्भाव्यतेऽसावपराध एव।
तत्कर्तुमर्होऽञ्जलिमञ्जनेन स्वसम्भृतिप्राञ्जलतापि तावत् ॥ २२ ॥

जीवातु—पदेति। पदोपहारे पादोदकोपस्थापने त्वरया वेगेन अनानुदकाना अनुपनम्रता असन्निहितत्वलक्षणा असौ अपराध सम्भाव्यते अपराधत्वेन गृह्यत इत्यर्थः। तत्, तस्मात् अञ्जलिरञ्जनेनाञ्जलिबन्धेन तत्पूर्वकत्वनिदर्शनं। स्व स्यात्मनः सम्भृता सम्भ्रमेण सन्निधानेन प्राञ्जलता आर्जवं विवेकमिति यावद् साऽपि तावत् कर्तुमर्हा आतिथ्यक्रियासामग्र्ये विनयाचरणेनापि तन्निस्तोषार्जनं कर्तव्यम्। अन्यथा प्रत्यवायादिति भाव ॥ २२ ॥

अन्वय—पदोपहारे त्वरया असाम् अनुपनम्रता अपि असौ अपराधः सम्भाव्यते तत् अञ्जलिमञ्जनेन स्वसम्भृतिप्राञ्जलता अपि तावत् कर्तुम् अर्हा।

हिन्दी—चरण धोने के लिए झट से जल न लाना भी अपराध माना जाता है, सो अञ्जलि जोड़ कर अपनी आतिथ्य तथा विनम्रता प्रकट करना उचित है।

टिप्पणी—यह सम्भव है कि अतिथि के चरणप्रक्षालनार्थ पाद्य उपस्थित करने में कुछ विलम्ब हो। लोकदृष्टि के अनुसार यह भी दोष है, अतएव उचित यह है कि अतिथि के सम्मुख हाथ जोड़ कर अपना विनय प्रकट करे

ही आतिथ्य सत्कार किया जाय। भाव यह है कि इस प्रकार विनम्रभाव प्रकट करके भी अतिथि सत्कार हो जाता है। विद्याधर के अनुसार काव्य लिंग अलकार ॥ २२ ॥

पुरा परित्यज्य मयात्यसर्जि स्वमासन तत्किमिति क्षणन्न ।
अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेत प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥ २३ ॥

जीवातु–पुरेति। मया स्वामासनीयमासन पुरा पूर्वं त्वद्दर्शनक्षण एव परित्यज्य तत उत्थायेत्यर्थः । अत्यसर्जि अदायि तदेतदासनमनर्हमत्यश्लाघ्यमपि यदि वा अन्यत कुत प्रयातुमीहा वा तथापि किमिति क्षण नालक्रियेत ! भवतजनानुकम्पया क्षणमात्रमत्रोपवेष्टव्यमिति भाव ॥ २३ ॥

अन्वय—मया स्वम् आसन पुरा परित्यज अत्यसर्जि, यदि वा एतद् अनर्हम् अन्यत प्रयातुम् अपि ईहा किम् इति क्षणं न अलङ्क्रियेत ।

हिन्दी—मैंने (दमयती ने) अपना आसन पहिले ही छोडकर अर्पित कर दिया है, और यदि यह (आसन । अवाछनीय मान अन्यत्र जाने की भी इच्छा है तो क्षण भर भी क्यों न इसे सुशोभित करें।

टिप्पणी—विनय प्रकट करती दमयन्ती ने स्वागतार्थ उठकर अपने द्वारा रिक्त आसन पर क्षण भर तो अवश्य बैठने की नल से प्रार्थना की। उसने यह आशका प्रकट की कि आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष को कदाचित् नारी के आसन पर बैठना उपयुक्त न लगे और उसकी अन्यत्र जाने की इच्छा हो। ऐसी स्थिति में भी कुछ क्षण को तो उसे इस आसन को अलङ्कृत करना उचित ही होगा। यह प्रार्थना मानना अनुचित न होगा। विद्याधर के अनुसार विभावना ॥ २३ ॥

निवेद्यता हन्त समापयन्तौ शिरीषकोषम्रदिमाभिमानम् ।
पादौ कियद्दूरमिमौ प्रयासे निधित्सते तुच्छदय मनस्ते ॥ २४ ॥

जीवातु–निवेद्यतामिति। शिरीषकोषस्य म्रदिमाभिमान मार्दवगर्वं समापयन्तौ निवर्तयन्तौ इमौ पादौ। 'पाद पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमर । तुच्छदय निष्कृप ते मन (कर्तृ) कियद्दूर कियच्चिरमित्यर्थः । प्रयासे निधित्सते निधातुमिच्छति। दधाते सन्नन्तात्लटि तङ्। 'सनिमीमा' इत्यादिना इसादेश । अत्र 'लोपोऽभ्यासस्य' इति अभ्यासलोप । निवेद्यतां श्राव्यतां वाक्याथ (कर्म)। इतीयमनुकम्पायाम् ॥ २४ ॥

अन्वय —हन्त, निवेचनाम्—शिरीषकोपत्रदिमाभिमान समापयन्तौ इमौ पदौ तुच्छदय ते मन कियद्दूर प्रयाणे निनिन्छने ?

हिन्दी—कृपया बतायें—शिरिष-फूलों की कोमलता के अभिमान को समाप्त करने इन चरणों को कृपाशून्य आपका मन कितनी दूर तक आयास (श्रम) में रखना चाहता है ?

टिप्पणी—शिष्ट-व्यवहारोचित वचनों की एक शैली। आपका गतव्य क्या है ? इन कोमल चरणों को चला-चला कर और कितना कष्ट देंगे ? अब तो दया कीजिए, इन शिरिषकुसुमों से भी कोमल चरणों को कुछ तो विश्राम दीजिए। उपेन्द्रवज्रा छन्द। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा उपमा अलंकार ॥ २४ ॥

अनायि देशः कतमन्त्वयाद्य वसन्तमुक्तस्य दशा वनस्य ।
त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था श्रव्यापि नानेन जनेन संज्ञा ॥ २५ ॥

जीवातु—अनायीति। अद्य त्वया कतमो देशो वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम-नायि नीतो रिक्तीकृत इत्यर्थः। नयतेर्द्विकर्मकत्वात् प्रधाने कर्मणि लुङ्। किञ्च त्वदाप्तसङ्केततया त्वयि लब्धसङ्कलितया कृतार्था सफला संज्ञा नामानेन जनेन आत्मना श्रव्यापि श्रोतुमर्हापि न किमिति काकुः कश्च अचोदयत्, कुत आगत, किञ्च ते नामधेय सन्निवेदनेनाप्यनुग्राह्योऽयं जन इति भाव ॥ २५ ॥

अन्वय—त्वया अद्य कतम देश वसन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम् अनायि ? अनेन जनेन त्वदाप्तसङ्केततया कृतार्था संज्ञा श्रव्या अपि न ?

हिन्दी—आपने आज किस देश को वसन्त ऋतु से परित्यक्त वन की स्थिति को पहुँचा दिया है ? यह जन (दमयन्ती) आपका संकेत करने से कृतार्थ संज्ञा (आपका नाम) क्या सुनने योग्य भी नहीं है ?

टिप्पणी—आप किस देश के वासी हैं और आपका शुभ नाम क्या है ? पूछने की शिष्ट शैली। आपके चले आने से कौन-सा देश उजड़ गया है, वसन्त के चले जाने से श्री-हीन वन के समान ? क्या मैं ऐसी अस्पृश्य हूँ कि आपके शुभ नामश्रवण से अवहृत हो कृतकाम जनता को भी नहीं जान सकती ? मल्लिनाथ के द्वारा काकुवक्रोक्ति का संकेत, विद्याधर के अनुसार निदर्शना और काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ २५ ॥

तीर्णं किमर्णोनिधिरेव नैष सुरक्षितेऽभूदिह यत्प्रवेशः ।
फलं किमेतस्य तु साहसस्य न तावदद्यापि विनिश्चिनोमि ॥ २६ ॥

जीवातु—तीर्णं इति । सुरक्षिते साधुगुप्ते अत्यन्तदुष्प्रवेश इत्यर्थः । इहान्तःपुरे प्रवेशोऽभूदिति यत् एष प्रवेशः अर्णोनिधिरर्णव एव तीर्णो न किम् ? अर्णवतरणतुल्य न किमित्यर्थः । किन्तु एतस्य साहसस्य फलं किमद्यापि चिरं विमृश्यापीत्यर्थः । तावन्न विनिश्चिनोमि निश्चेतुं न शक्नोमीत्यर्थः । अत्रान्तःपुरप्रवेशार्णवतरणलक्षणवाक्यार्थयोर्निर्दिष्टयासामानाधिकरण्यान्यथानुपपत्त्या तत्तुल्यमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिष्ठनिदर्शनाभेदः ॥ २६ ॥

अन्वय—इह सुरक्षिते यत् प्रवेशः अभूत् किम् एषः अर्णोनिधिः एव न तीर्णः ? एतस्य साहसस्य तु फलं किम्, अद्य अपि तावत् न विनिश्चिनोमि ?

हिन्दी—यहाँ सुरक्षित (रनिवास) में जो (आपका) प्रवेश हुआ, क्या यह सागर सतरण ही न हो गया ? इस साहस का तो फल क्या है—मैं आज भी निश्चय नहीं कर पा रही ?

टिप्पणी—अप्रवेश्य अथवा दुष्प्रवेश्य अतःपुर में नल का प्रविष्ट हो जाना एक दुष्कर कर्म करना हो गया, जैसे समुद्र को तैर कर पारना। प्रश्न यह है कि इस दुष्कर कर्म का उद्देश्य क्या है ? शिष्ट भाषा में आने के प्रकार और उद्देश्य की पृच्छा। इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार वाक्यार्थनिष्ठ निदर्शना-भेद है, क्योंकि अतःपुर-प्रवेश और अर्णवसतरण वाक्यार्थों में निर्दिष्ट सामान्याधिकरण की अन्यथानुपपत्ति होने के कारण सादृश्य के आक्षेप से असभव वस्तु सबध कहा गया है। विद्याधर के अनुसार निदर्शना और काव्यलिङ्ग ॥ २६ ॥

तव प्रवेशे सुकृतानि हेतुं मन्ये मदक्ष्णोरपि तावदत्र ।
नलक्षितो रक्षिभटैर्यदाभ्यां पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥ २७ ॥

जीवातु—एवेति । अथवा अत्रान्तःपुरे तव प्रवेशे मदक्ष्णो सुकृतान्यपि तावत् यावदन्योऽपि हेतुः श्रोतव्य इति भावः । हेतुं कारणं मन्ये ध्रुवं, यद्यस्मात् तन्वा मूर्त्या, जितपुष्पधन्वा जितकामः त्वं रक्षिभटैः रक्षकयोधैर्न लक्षितः अलक्षितः सन्। नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप् सुपा' इति समासः । आभ्यां मदक्षिभ्यां पीतोऽतितृष्णया दृष्टोऽसि । सुकृतविशेषं विना कथमीदृग्भूतरूपसाक्षात्कारलाभ इति भावः ॥ २७ ॥

अन्वय—तव अत्र प्रवेशे मदक्ष्णोः सुकृतानि अपि तावत् हेतुः मन्ये, यत् रक्षिभिः न रक्षित तन्वा जितपुष्पधन्वा त्वम् आभ्यां पीतः असि।

हिन्दी—तुम्हारे यहाँ प्रविष्ट होने में मेरे (दमयन्ती के) दोनों नयनों के सुचरित (पुण्य) भी कारण हैं—ऐसा मानती हूँ, क्योंकि रक्षवाले लोगोंद्वारा अलक्षित शरीर से पुष्पधन्वा (काम) के जेता को इन्होंने (नेत्रों ने) पी लिया है (भली भाँति देख लिया है)।

टिप्पणी—नल सुरक्षित अन्तःपुर में पहरुओं को दीखे बिना प्रविष्ट हो गये। वे दर्शनीय थे, कामाधिक रमणीय। पहरेदार देख भी न पाये पर दमयन्ती ने भली भाँति तृप्त हो निहारा। इस असम्भव की सम्भावना का कारण दमयन्ती नयनों का पुण्य ही हो सकता है, अन्यथा असाध्यसिद्धि कैसे होती? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-काव्यलिङ्ग-रूपकालङ्कार।२७।

यथाकृतिः काञ्चनते यथा वा दौवारिकाक्षद्वरणी च युक्तिः।

रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनोऽसि तथासि पीयूषभुजां समासि ॥ २८ ॥

जीवातु—यथेति। यथा यतस्ते तव आकृतिर्मूर्तिः काचन अमानुषीत्यर्थः। यथा वा यतश्च द्वारि नियुक्ता दौवारिकाः तत्र नियुक्त इति ठक्। 'द्वारादीनां च' इत्यैजागमः। तेषाम् अक्षीण्यपि अन्ते अनयेति अक्षद्वरणी दृष्टिप्रतिबन्धिका 'आतमनुनां' इत्यादिना हुन करणार्थे ल्युट्प्रत्ययः। 'अर्हद्विषत्' इत्यादिना मुमागमः, ल्युडन्तत्वात् ङीप्। युक्तिश्च काचनेत्यनुषज्यते। किञ्च जितकाञ्चनी-भीर्भिर्जितहरिद्राभिः। 'निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः। समासान्तविधेरनित्यत्वात्। 'नद्युतश्च' इति कबभावः। टावन्तपाठे जितकाञ्चना-भिरित्यर्थः। रुचीभिर्दीप्तिभिः, कृदिकारादक्तिनो वा वक्तव्यः, रोचत इति रुच्यो देदीप्यमानोऽसि 'राजसूयसूर्य' इत्यादिना कर्तरि क्यबन्तो निपातः। यथा ततो मुनिजनात्तेजोऽपि पीयूषभुजां देवानां समानां नाभिर्मूलं यस्य सनाभिर्बन्धुरसि कश्चिद्दिव्यपुरुष उत्प्रेक्ष इत्यर्थः। 'ज्योतिर्जनपद' इत्यादिना समान-शब्दस्य सभावः ॥ २८ ॥

अन्वय—यथा ते काचन आकृतिः यथा वा दौवारिकाक्षद्वरणी युक्तिः जितकाञ्चनीभिः रुचीभिः रुच्यः च असि तथा पीयूषभुजां सनाभिः असि।

हिन्दी—जैसी तुम्हारी कोई (लोकोत्तर) आकृति है और जैसी द्वार

भूयोऽपि बाला नलसुन्दरं तं मत्वाऽमरं रक्षिजनाक्षिबन्धात् ।
आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तस्या श्रियं प्रियस्यास्तुत वस्तुतः सा ॥३१॥

जीवातु–इत्थं नलमेव मत्वैतावदुक्त्वा पुनर्नलमस्यममत्य मत्वाऽयथा व्याहरतीत्याह–भूयोऽपीति । भूयः पुनरपि सा बाला भैमी तं पुरुषं रक्षिजनस्याक्षिबन्धादन्धीकरणादमानुषत्वाद्धेतोर्नलसुन्दरममरं कश्चिद्देवं मत्वा आतिथ्यान्यतिथ्यानि 'अतिथेर्ण्यः' । चाटूनि प्रियवाक्यानि अपदिश्य व्याजीकृत्य तस्मिन् पुरुषे तिष्ठतीति तस्याः तच्छिष्टा 'सुपि स्थः' इति कः । प्रियस्य नलस्य श्रियं शोभां वस्तुतः परमार्थतो दृष्ट्वैव अस्तुत स्तुतवती । स्तौतेर्लङि तङ् । अत्राप्यमस्यायस्सम्बन्धासम्भवेन प्रियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः । न चैवं परपुरुषगुणस्तुतिप्रसङ्गः, वस्तुतस्तथात्वेऽपि तस्यास्तथाभिमानाभावादिति ॥३१॥

अन्वयः–सा बाला भूयः अपि रक्षिजनाक्षिबन्धात् तं नलसुन्दरम् अमरं मत्वा आतिथ्यचाटूनि अपदिश्य तस्याः प्रियस्य श्रियं वस्तुतः अस्तुत ।

हिन्दी–उस बाला (दमयन्ती) ने पुनरपि प्रहरियों के नेत्र बाँध देने के कारण (अदृष्ट रहजाने से) उस (नल) को नल के समान सुन्दर देवता मान कर अतिथि सत्कार-योग्य प्रिय वचनों के व्याज से उसमें विद्यमान प्रिय (नल) के सौन्दर्य की तत्त्वतः स्तुति (वर्णना) की ।

टिप्पणी–नल प्रहरियों के नेत्रों से अदृष्ट रहकर अन्तःपुर में आ गया था । यह मानुषी काय नहीं है । नल ने भी देववर के बल पर ऐसा किया था । इस कारण दमयन्ती उसे मानव–नल न मान सकी । उसने समझा कि यह नल के सदृश रमणीय कोई देव है । उसने आतिथ्य में सत्कारयोग्य प्रिय वचनों में जो स्तुति की, वह वस्तुतः नल की ही हुई, क्योंकि वह नल ही था–भले ही दमयन्ती उसे 'अमर' समझ बैठी थी । इस प्रकार यह परपुरुषगुणस्तवन भी न हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अन्य धर्म का अन्य-सम्बन्ध असम्भव होने से प्रिय सादृश्याक्षेप के कारण निदर्शनाभेद है, विद्याधर के अनुसार श्लेष रूपक-उपमालंकार हैं ॥ ३१ ॥

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि तदस्तु वन्दिभ्रमभूमिनैव ॥ ३२ ॥

जीवातु–अथ स्वस्यापि स्तुतिकरणे कारणमाह–वागिति । गुणैरद्भुते

उचिते स्तुत्यर्हे इत्यर्थः । वस्तुनि विषये मौनिता तूष्णींभावश्चेत् असह्यशल्यस्य दुःसहशल्यप्राय वाग्जन्मनो वाक्प्रवृत्तेर्वैफल्यं स्यात् । अथैतत्परिहारमाह—अल्पीयसि जल्पिते अल्पवचनेऽपि । भावे क्तः । खलत्वं दौर्जन्यमसहिष्णुत्वं स्यादित्यर्थः । तस्माद्वन्दी स्तुतिपाठकोऽयमिति भ्रमस्य भूमिता विषयित्वमेवास्तु । 'वन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । तद्वन्दिषु वन्दिभ्रम श्रोतृदोषो न वाग्मिनस्य स्वस्य एव श्रोतृदोष । प्रत्युत गुणस्तुतिर्नाम गुण एवेति तदङ्गीकरणमिति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वयः—गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत् असह्यशल्य वाग्जन्मवैफल्यम्, अल्पीयसि जल्पिते अपि खलत्वम्, तत् वन्दिभ्रमभूमिता एव अस्तु ।

हिन्दी—गुणों के कारण आश्चर्यजनक वस्तु के सम्बन्ध में यदि मौनधारण हो, तो असहनीय कंटक के समान वाणी के जन्म की विफलता होगी, और यदि कम कहा जाय तो खलता (दुर्जनता), सो (यही अच्छा है) स्तुतिकर्त्ता (भाट चारण) होने के भ्रम का स्थान बनना ही हो ।

टिप्पणी—सज्जनता यही है कि जो वर्णनीय है, उसका वर्णन भली भाँति किया जाय । चुप रहा जाना अथवा थोड़ा सा कह देने का उपचार दुर्जनता मानी जाती है । भले ही संसार विशिष्ट स्तुति करने के कारण खुशामदी, स्तुतिकर्त्ता चारण भाट मान ले, परन्तु प्रशंसनीय की प्रशंसा मुक्तकण्ठ हो करनी ही चाहिए । नीतिवचन यही है—'परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्य निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्त ।' विधाता ने वाणी दी ही प्रशंसनीय की प्रशंसा के निमित्त है । इस श्लोक को दमयन्ती की उक्ति भी माना जा सकता है, कविवचन भी । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ३२ ॥

कन्दर्प एवेदमविन्दत त्वां पुण्येन मन्ये पुनरन्यजन्म ।
चण्डीशचण्डाक्षिहुताशकुण्डे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियाणाम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—अथ स्तौति—कन्दर्प इत्यादि । कन्दर्प एव पुण्येन सुकृतवशेन इदं त्वा त्वद्रूपमन्यजन्म जन्मान्तरं पुनरविन्दतेति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा कथमीदृग्रूपमिति भाव । किं तत्पुण्यं तदाह—चण्डीशस्य हरस्य चण्डं क्रूरमक्षि तृतीयनेत्रं तदेव हुताशस्तस्य कुण्डे अग्निकुण्डे यदिन्द्रियाणां मन्दिरमिन्द्रियाणामाश्रयं शरीरमिति यावत् । तज्जुहाव तेन पुण्येनेति पूर्वेण सम्बन्ध ॥३३॥

जीवातु—भवदिति । कुसुमायुधेन कामेन भवत् पदाङ्गुष्ठ श्रियां श्रीरपि न लब्धा न आप्ता ध्रुवम् ? भवच्छ्रिता श्रीस्तु दूरापास्तेति भावः। तथा हि—न काम जेतु स्मरहरस्य तृषन्नत्वात् 'न लोके' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। तज्जेतुरिति समासपाठे तृजन्तेन षष्ठीसमास साधुरप्ययमेव पाठः। तृन्नर्थस्य ताच्छील्यस्यानुपयोगात् रवौशजेतुरिति देशान्तरपाठस्त्वयुक्त एव। प्रकृतार्थस्य सर्वनामोपादेयस्य स्वशब्दोपादाने पौनरुक्त्यदोषापत्तेरिति। इत्थंनिश्चिन्तयाह—एतदर्धेन्दुरूप चिह्नमस्मिन्नङ्गुष्ठे नखवेषेनास्ते इत्युत्प्रेक्षा पहुयभेदः। अर्धेन्दुचिह्नधारणादयमपि कामजेता? यद्वा वच्चिह्नधारणाद् तस्यापि स्मरस्य जेतृत्वेनप्यापि कथमेतच्छ्रीलाभः कामदेवस्येति भावः ॥३६॥

अन्वय—कुसुमायुधेन भवत्पदाङ्गुष्ठ श्रियां श्री अपि ध्रुवं न लब्धा, खलु अस्मिन् त जेतु नखवेषधारि एतत् अर्धेन्दुचिह्नम् आस्ते।

हिन्दी—पुष्पधन्वा (काम) ने आपके पैर के अँगूठे की शोभा भी निश्चयतः नहीं पायी, क्योंकि इस (अँगूठे) में उस (काम) के जेता (शिव) का नख का वेष धारे यह आधे चन्द्रमा का चिह्न विद्यमान है।

टिप्पणी—नल काम की अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है, काम तो उनके पैर के अँगूठे के समान भी नहीं है। इस दृष्टि से सौन्दर्य-प्रतियोगिता में अँगूठे ने काम को जीत लिया है और वह कामजयी शिव के तुल्य बन उन्हीं के समान अर्द्धेन्दुचिह्न धारण करने लगा है, नख के रूप में। चन्द्राकार नख सुन्दर और शुभ माने गये हैं। लगता है, नल के पैर के अँगूठे के पास तक फटकने का साहस काम में नहीं है। वह चन्द्राकार नख के अँगूठे को शिव समझता है और डर जाता है। नारायण के अनुसार अनुमान से प्रमाणित तथ्य—'त्वदङ्गुष्ठ कामस्य जेता, अर्धचन्द्राङ्कितत्वात् यथा शिवः।' नल का अँगूठा काम का जेता है, अर्धचन्द्र चिह्न होने के कारण, जैसे शिव। तृतीय चरण का पाठान्तर 'रवौशजेतुः खलु चिह्नमस्मिन्' भी है—'कामजयी का चिह्न इस (अंगुष्ठ) में है।' मल्लिनाथ ने 'तृन्नर्थ' के ताच्छील्यानुपयोगी होने के कारण यह पाठान्तर अयुक्त माना है। इससे पौनरुक्त्य दोष होगा। सर्वनामोपादेय प्रकृतार्थ का स्वशब्द से कथन उचित नहीं होता। सुखावबोध और साहित्य विद्याधरी टीकाओं में 'नखवेषधारि' की अपना 'नखवेषवेन'

पाठान्तर को माना गया है। मल्लिनाथ इस 'कैतवेन' के आधार पर यहाँ अपह्नुति का निर्देश करते हैं। विद्याधर के अनुसार अपह्नुति और उत्प्रेक्षालङ्कार हैं ॥ ३६ ॥

राजा द्विजानामनुमासभिन्नः पूर्णां तनूकृत्य तनुं तपोभिः ।
कुहूषु दर्शेतरतां विमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥ ३७ ॥

जीवातु—राजेति। द्विजानां राजा चन्द्रो ब्राह्मणोत्तमश्च अनुमासं प्रतिमासं भिन्नोऽपि सन् अर्धेन्दुरूपमर्धेक्षस्य प्रतिकुहूषु मुखसायुज्याभावादिति भाव। पूर्णां राकास्थिति भाव। तनुं शरीरं तपोभिः प्रत्यहं देवनाश्य कलासमर्पणरूपैरिति भाव। तनूकृत्य कुहूषु अमावास्यासु दर्शेतरतामदृश्यतामेत्य भवन्मुखस्य सायुज्यमैक्यं प्राप्नोति किमित्युत्प्रेक्षा। यथा कश्चिद् ब्राह्मणः तीव्रेण तपसा ब्रह्मसायुज्यमाप्नोति तद्वदित्यर्थः अन्यथा क्व कुहूषु न दृश्यत इति भाव.॥३७॥

अन्वयः—द्विजानां राजा पूर्णां तनुं तपोभिः तनूकृत्य अनुमासभिन्नः कुहूषु दर्शेतरताम् एत्य किं भवन्मुखस्य सायुज्यम् आप्नोति ?

हिन्दी—द्विजराज (ब्राह्मण श्रेष्ठ) के सदृश द्विजराज (चन्द्र) पूर्ण शरीर को तपश्चर्या से क्षीण करके, प्रतिमास क्षीण दुर्बल हो, अमावस्याओं को अदृश्यत्व प्राप्त कर क्या आप (नल) के मुख में सायुज्य (ऐक्य) चाहता है ?

टिप्पणी—ब्राह्मण श्रेष्ठ तपश्चर्या द्वारा क्षीणातिक्षीण हो जैसे ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त कर लेता है कदाचित् चन्द्र भी प्रतिमास अपने पूर्ण शरीर को अमावस्याओं में क्षय करके नल मुख सायुज्य पाना चाहता है। चन्द्र नलमुख सदृश नहीं है (वह वैसा होना चाहता है) क्योंकि वह पूर्णिमा को तो पूर्ण रहता है पर धीरे-धीरे क्षीण होता अमा को अदृश्य हो जाता है। नलमुख तो सदा पूर्ण विकसित है। 'अनुमासभिन्न' का प्रतिमास और प्रकार का—नवीन भी अर्थ किया गया है। जैसे द्विजराज का अन्य जन्म हो। अनेक जन्म बीत गये चन्द्र को शरीर गलाते हुए पर अभी तक वह नलमुख सायुज्य न पा सका। मल्लिनाथ के अनुसार 'किम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और अपह्नुति अलङ्कार ॥ ३७ ॥

दृष्टा दृशो ते बहुशर्मचित्रे किं त्वम्‌समारस्य नगोमृगस्य ।
अदृष्टपूर्वद्विदरात्रिशीरेव मयच्छद्विविर्धचन्द्रम् ॥ ३८ ॥

मृगस्यैव तृतीयमेवेत्यर्थः । किञ्च एष तव कचपाशवेशः केशपाशसंनिवेशः तस्यैव मृगस्य पुच्छे वालधौ स्फुरच्चामरगुच्छ इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा नयनत्रयोरीदृशी शोभेति भावः ॥ ४० ॥

अन्वयः—त्वदास्ये विधौ दृश्यं नेत्रद्वितयं विधुत्वानुमितस्य मृगस्य, तस्य एव च पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छः एषः त्वत्कचपाशवेशः ।

हिन्दी—तुम्हारे मुख चन्द्र में दीखता नयनयुगल (मुख के) चन्द्र होने के कारण अनुमित मृग का (नयनयुग्म) है, उसी (मृग) की पूंछ में विलसित चमर का गुच्छा तुम्हारे केश समूह के वेष में है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का मुख चन्द्र के समान है, नयन चन्द्र में स्थित मृग के नेत्र सदृश हैं और नल के केश उसी मृग के चामरगुच्छ तुल्य हैं । अनुमान का आधार है मुख का चन्द्र होना । जहाँ-जहाँ विधुत्व होगा, वहीं-वहीं मृगत्व । नारायण के अनुसार—'त्वदास्ये विधौ मुखरूपे चन्द्रे 'विमनो मृगवान्, चन्द्रत्वात्, समतवत्' इति हेतुनानुमितस्यानुमानगम्यस्य मृगस्य नेत्रद्वयं दृश्यम् ।' मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, नारायण के अनुसार रूपक और अपह्नुति । चन्द्रकलाकार ने रूपक-उत्प्रेक्षा की निरपेक्षतया स्थिति होने से संसृष्टि मानी है ॥ ४० ॥

आस्तामनङ्गीकरणाद्भवेन दृश्यः स्मरो नेति पुराणवाणी ।
तवैव देहश्रितया श्रियेति नवस्तु वस्तु प्रतिभाति वादः ॥ ४१ ॥

जीवातु—आस्तामिति । स्मरो भवेनेश्वरेणानङ्गीकरणादशरीरीकरणाद्धेतोर्दृश्यो नेति पुराणवाणी पुरातनवादस्तावदास्ताम् । तवैव देह श्रितया 'द्वितीयाश्रितातीते'त्यादिना समासः श्रिया सौन्दर्येण न दृश्य इति नवो नूतनो वादस्तु परमार्थः प्रतिभाति । तदैतिह्यमात्रमिदं तु प्रत्यक्षमित्यर्थः । अत्र पराजयलज्जानिमित्तमस्यादृश्यत्वमित्युत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

अन्वयः—स्मरः भवेन अनङ्गीकरणात् दृश्यः न—इति पुराणवाणी आस्ताम्, तव एव देहश्रितया श्रिया—इति नवः वादः तु वस्तु प्रतिभाति ।

हिन्दी—काम महादेव द्वारा देहहीन कर दिये जाने के कारण नयनगोचर नहीं—यह पुराणों की (सड़ी गली पुरानी) वाणी (मान्यता कथन) रहे (ठीक

नहीं है), हाँ, तुम्हारी ही शरीर सदृशिनी शोभा के कारण (काम दर्शनीय नहीं रह गया) है—यह नवीन कथन (मान्यता) तो सारभूत लगता है।

टिप्पणी—कल्पना यह है कि यह जो शिव द्वारा काम दहन और उसके अनङ्ग हो जाने का कथन है, वह पुराण-कथनमात्र है—एक 'मिथक' एक प्रतीक-कथनमात्र। वास्तविकता यह है कि अपने से अधिक सुन्दर नल के सम्मुख लज्जित होने की आशंका से काम अस्पष्ट होकर रहता है। 'यदीनर मुनीना प्रमाणम्' के अनुसार नव वाद सारवान् है, पुराण-कथन तो पुराना पाकर अमान्य हो गया है। नल काम के तुल्य हैं। वाणी तो पुरानी (पुराणी), वो स्त्री है, वाद नव पुमान् है, अतः वही ग्राह्य है। नारायण ने 'अनङ्गीकरण' का अर्थ 'अस्वीकृति' भी किया है। नल की देहाश्रिता श्री ने काम को अस्वीकृति दी, मान्यता नहीं दी, इसी से वह अरूप है। यह भी संकेत हो सकता है कि—'पुराने लोग काम को यथार्थ योग्य न मानें, अव (प्रकार) उसे अनङ्गीकार (अस्वीकार) दें, नवीन जन तो देहाश्रित काम की मान्यता देते भले ही अरूप को न दें।' नवीन प्रत्यक्ष काम को मान्यता देते हैं, इसका प्रमाण 'नैषधीयचरित' का अष्टादशसर्ग है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, नारायण के अनुसार अति-शयोक्ति ॥ ४१ ॥

त्वया जगत्युज्ज्वलकान्तिसारे यदिन्दुनाऽऽश्रित्य शिवोऽत्तवृत्तिः।
आरोपि तन्मात्रकलोऽपि मौलौ न यज्ञराजोऽपि महेश्वरेण ॥ ४२ ॥

जीवातु—त्वयेति। त्वया जगति उज्ज्वलकान्तिसारे इहोदयावस्थायामन्वे सति इन्दुना शिवोऽन्तःकृत्य वृत्तिः जीविका 'वृत्ती धान्यसंग्रहान कथिता वर्तन जीवनम्' इति यादवः। अतोऽपि शीतांशुरिति यद् यतस्तस्मादेतो ननोऽत्र च पुमान् भाव 'तन्मात्रकलम्' इत्यनयने धन्यम्। 'जाने कुण्ठिते मूढे मनोरौ-ल्यादिक स्मृत। नकारन्त तु मूर्वं मन्येन प्रिद्धमिति माधवः ॥' तेन सोऽन्यो मानवः। बालोऽपि स इन्दुर्महेश्वरेण महादेवेन महाराजेन च मौलौ शिरसि तथा नजराजे द्विजराजत्वेऽप्यारोपि आरोपित इन्दुरेखा। प्रत्युत्पन्नं कर्म्म फलाय न भवतीति भावः, नैरन्तर्याह्लादकत्वोऽपि तन्मात्रकलत्वेन एवेति तात्पर्यम् ॥ ४२ ॥

अन्वय — यथा उच्चितकान्तिसारे जगति यद् इन्दुना शिलोञ्छवृत्तिः अशीलि तत् माणवकः अपि स महेश्वरेण मौलौ यज्वराज्ये अपि आरोपि।

हिन्दी—तुम्हारे द्वारा शोभा का सार भाग ले लिये जाने पर जगत् में जो चन्द्र ने शिलोञ्छवृत्ति (खेतों मे पड़े रह जाने वाले दानों के कण चुनकर जीवन-यापन करना—'कणाद'-वृत्ति) स्वीकारी, अतः बाल (छोटा द्वितीया सम्बन्धी) होने पर भी उसे महादेव ने मस्तक पर याज्ञिकों के राज्य पर (यज्ञकर्त्ता श्रेष्ठ रूप में) स्थापित कर दिया।

टिप्पणी—नल को संसार का समस्त सौंदर्य प्राप्त हो गया तो बेचारा चन्द्रमा क्या करता ? जैसे खेत से अनाज उठाये जाने पर कुछ दाने पड़े रह जाते हैं, वैसे ही कुछ सौन्दर्य कण पड़े रह गये। चन्द्र ने वेही कण लिये और अपने को सजा लिया। अर्थात् सौंदर्य का सहस्रांश भी वह न पा सका। चन्द्र नल के समक्ष अत्यंत तुच्छ है। परन्तु किसी कारण सही, चंद्र बना तो कणजीवी तपस्वी, फल स्वरूप उसे महादेव ने श्रेष्ठ याज्ञिक रूप में मान्यता दे अपने मस्तक पर स्थापित कर लिया। शिलोञ्छवृत्ति अर्थात् 'ऋत' के सेवी को उचित सत्कार मिला। ब्राह्मण के लिए यही वृत्ति उपयुक्त मानी गयी है। मनुस्मृति (४।४) के अनुसार—'ऋतामृताभ्यां जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा। सत्यानृताभ्यामपि वा न श्ववृत्त्या कदाचन।' ऋत अर्थात् शिलोञ्छवृत्ति, अमृत अर्थात् अयाचित, मृत (याचित), प्रमृत अर्थात् खेती, सत्यानृत अर्थात् वाणिज्य तथा सेवा—इन प्रकारों से जीवन यापन कर ले, कुत्ते की भाँति कभी नहीं। इन में उत्कृष्ट वृत्ति प्रथम अर्थात् ऋत (शिलोञ्छवृत्ति) है। इसी वृत्ति को स्वीकारने से शिव ने चन्द्र को मान्यता दी, वह द्विजराज (ब्राह्मणोत्तम) कहाया। ऋतजीवी बालेन्दुरूप ब्रह्मचारी 'माणवक' को 'महेश्वर' महाराजाधिराज ने शिरोधार्य किया। महाधनी ने माणवक अर्थात् बीस लड़ी माला को गले में न पहन मस्तक पर पहिना। अचरज की बात। कदाचित् धनी ने बड़ी कठिनता से माणवक हार संजोया होगा। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४२ ॥

आदेहदाहं कुसुमायुधस्य विधाय सौन्दर्यकथादरिद्रम्।
त्वदङ्गशिल्पात्पुनरीश्वरेण चिरेण जाने जगदन्वकम्पि ॥ ४३ ॥

जीवातु—आदेहेति। ईश्वरेण शम्भुना कुसुमायुधस्य कामस्य देहदाहादारभ्य आदेहदाहं मर्यादायामव्ययीभावः। जगल्लोकं सौन्दर्यकथादरिद्रं सौन्दर्यवार्ताशून्यं विधाय चिरेण त्वदङ्गस्य शिल्पान्निर्माणात् विश्वं पुनरन्वकम्पि अनुकम्पितं त्वया पुनः सौन्दर्यभरितं कृतमिति जाने इत्युत्प्रेक्षा। तत्र मूर्तिमतः कामात् को भेद इति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वयः—जाने कुसुमायुधस्य, आदेहदाहं जगत् सौन्दर्यकथादरिद्रं विधाय त्वदङ्गशिल्पात् ईश्वरेण पुनः चिरेण अन्वकम्पि।

हिन्दी—प्रतीत होता है कि पुष्पास्त्र (काम) के देह-दाह से प्रारम्भ कर संसार को सौंदर्य-कथा से दरिद्र करके तुम्हारे शरीराङ्गों की रचना द्वारा ईश्वर (शिव) ने फिर से बहुत काल पश्चात् कृपा की है।

टिप्पणी—भाव है कि नल कामादपि सुन्दर हैं। महादेव ने काम को जलाकर संसार से सौंदर्य वार्ता ही समाप्त कर दी थी। उनके मन में जगत् को दुखी देख दया उपजी, सो महादेव ने पुनः कामाधिक सुन्दर नल की रचना कर दी। उत्प्रेक्षालङ्कार ॥ ४३ ॥

मही कृतार्था यदि मानवोऽसि जितं दिवा यद्यमरेषु कोऽपि।
कुलं त्वयालंकृतमौरगं चेन्नाधोऽपि कस्योपरि नागलोकः ॥ ४४ ॥

जीवातु—महीति। मनोरमः मानवो मनुष्योऽसि यदि 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्ययः। मही कृतार्था। अमरेषु कोऽप्यसि यदि दिवा द्युलोकेन जितं सर्वोत्कर्षेण स्थितं नपुंसके भावे क्तः। त्वया औरगं कुलं नागकुलमलङ्कृतं चेत् नागोऽसि चेदित्यर्थः। अधः सर्वाधः स्थितोऽपि नागलोकः कस्य लोकस्योपरि न। सर्वस्याप्युपरि वर्तत इत्यर्थः। 'उपर्युपरिष्टात्' इति निपातः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—यदि मानवः असि मही कृतार्था, यदि अमरेषु कः अपि, दिवा जितम्, त्वया औरगं कुलम् अलङ्कृतं चेत्, अधः अपि नागलोकः कस्य उपरि न ?

हिन्दी—यदि (तुम नल) मनुष्य हो, तो यह धरती (भूतल) कृतार्थ है, यदि देवों में कोई हो, तो द्युलोक (स्वर्ग) ने अब को जीत लिया, और यदि नागवंश को सुशोभित करते हो, तो नीचे स्थित भी नागलोक (पाताल) किस (वल) के ऊपर नहीं है ? (अर्थात् सर्वोपरि है)।

टिप्पणी—भावना यह है कि दमयंती के अनुसार उपस्थित व्यक्ति (नल)

इतना गरिमामय है कि वह जिस लोक का वासी है, वही लोक श्रेष्ठ है। इस विप्रोक्ति से दमयती यह जानना चाहती है कि वह (नल) मानव है, देव है या नाग है ? किस लोक का वासी है वह ? दमयती स्वय मानवी है और वह उपस्थित व्यक्ति मे अभिलाष होने के कारण उसमे नल की सभावना कर रही है, अत पहिले मानव का उल्लेख किया। 'न गच्छन्तीत्यगा, न अगा नागास्तेषा लोक.—अप्रतिहतगति नागो का लोक सब के ऊपर होने योग्य है, यदि नल वहाँ का वासी है तो। इसी प्रकार 'मही' का विग्रहार्थ पूज्य—'मह्यते पूज्यते सा मही' भी सार्थक होगा और 'दीव्यति विजिगीषते इति द्यौ' (विजय शील) नाम भी नल के तद्वासी होने से ही सार्थक हो सकेगा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

सेयं न धत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्तवृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने।
ममौ स भद्रं चुलुके समुद्रस्त्वयात्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्रः ॥ ४५ ॥

जीवातु—सेयमिति। त्वयि चिन्त्यमाने स्वरूपतो गुणतश्च विभाव्यमाने सति सेयं विभावयन्ती मच्चित्तवृत्ति उच्चैर्महतीमनुपपत्ति न धत्ते समुद्रस्याग-स्त्यचुलुके अनुपपन्नताबुद्धि न करोतीत्यर्थ। तत्र हेतुमुत्प्रेक्षते स समुद्र त्वया आत्ता गृहीता गाम्भीर्यमहत्वे एव मुद्रा चिह्न यस्य स सन्। अत एव चुलुके मुनिमुष्टिगर्भे ममौ भद्र युक्तमित्यर्थ। अन्यथा कथ तथा महतो गम्भीरस्य तस्य मुनिचुलुकितेति भाव। अत्र मानहेतोरात्तेत्यादिविशेषणगत्या निर्देशात्पदार्थ-हेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार। तत्सङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा भद्रमिति व्यञ्जकप्रयोगा-द्वाच्या॥ ४५ ॥

अन्वय—सा इयं मच्चित्तवृत्ति त्वयि चिन्त्यमाने उच्चै अनुपपत्ति न धत्ते, भद्र त्वया आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्र स समुद्र चुलुके ममौ।

हिन्दी—वह (विश्वास न करने वाली) यह मेरे मन की वृत्ति तुम्हारा विचार करने पर (उस) बडी अविश्वसनीयता का (अब) धारण नही करती, यह ठीक ही लगता है कि तुम्हारे द्वारा गम्भीरता और महत्ता की मुद्रा (मर्यादा) ले ली जाने पर वह समुद्र (अगस्त्य द्वारा) चुल्लू मे पी लिया गया।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का आशय है कि नल सागर से भी अधिक गम्भीर और महान् हैं। सामान्यत इस पर अब तक विश्वास करना कठिन है

रहा था कि महामुनि अगस्त्य समुद्र को एक चुल्लू में पी गए होंगे, समझ में नहीं आता था कि यह कथन लाक्षणिक है, अगस्त्य ने समुद्र सम्बन्धी कोई ऐसा कार्य किया होगा, जिससे यह कहा जाने लगा एवं मुहावरे के रूप में कि अगस्त्य चुल्लू में सागर पी गये। अब नल देखने पर यह लगता है कि सचमुच ऐसा अघटित घटा होगा, क्यों कि समुद्र की गहराई और विशालता नल के समुख छोटी पड़ गयी है। छोटा पड़ा सागर मुनि के चुल्लू में समा गया होगा। इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार मानहेतु का निर्देश 'आत्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्र' इस विशेषण की गति से होने के कारण पदार्थ हेतुक काव्यलिंग अलङ्कार है और इससे सकीर्ण उत्प्रेक्षा की गयी है, जो 'ध्रुवम्' व्यञ्जक के प्रयोग के कारण वाच्य है, अर्थात् काव्यलिंग उत्प्रेक्षा का सकर। विद्याधर के अनुसार विरोधाविशयोक्ति ॥ ४५ ॥

> मत्सारसिन्धावनुबिम्बमत्र जागर्ति जाने तव वैरसेनि ।
> बिम्बानुबिम्बौ हि विहाय धातुर्न जातु दृष्टातिसरूपसृष्टिः ॥४६॥

जीवातु—ससारेति । किञ्चास्मिन् ससारसिन्धौ वैरसेनि नलस्तवानुबिम्ब जागर्ति स्फुरतीति जाने तर्कयामीत्यर्थ । कुत, हि तस्माद्बिम्बानुबिम्बौ विहाय वर्जयित्वा धातु अतिसरूपसृष्टि जातु कदाचिदपि न दृष्टा। अन्यथा कथमेतदत्यन्तसादृश्यमित्यर्थ । भवान् नल एवेति मे प्रतिभातीति भाव ॥४६॥

अन्वय—अत्र ससारसिन्धौ जाने वैरसेनि तव अनुबिम्ब जागर्ति, हि धातु अतिसरूपसृष्टि बिम्बानुबिम्बौ विहाय जातु न दृष्टा।

हिन्दी—इस ससार रूप सागर में प्रतीत होता है कि वीरसेन के पुत्र (नल) तुम्हारे प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान है, क्योंकि विधाता की अतीव समान रूप वाली सृष्टि बिम्ब प्रतिबिम्ब को छोड़कर कहीं नहीं देखी गयी।

टिप्पणी—विधाता की सृष्टि का यह नियम है कि बिम्ब के सदृश प्रतिबिम्ब ही होता है, इस से यह प्रतीति हो रही है कि उपस्थित व्यक्ति नल का प्रतिबिम्ब है। अत्यन्त सुन्दर नल का ही ऐसा प्रतिबिम्ब सभव है। भाव यह कि उपस्थित व्यक्ति पूर्णत नल ही लगता है। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास, उपमा और उत्प्रेक्षा अलकार हैं ॥४६॥

की जाय। मल्लिनाथ के अनुसार काकुवक्रोक्ति, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥४९॥

इत्थं मधूत्थं रसमुद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा।
कर्णात्प्रसूनाशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेणास्य मनो विवेश ॥ ५० ॥

जीवातु—इत्थमिति। इत्थं मधुन क्षौद्रादुत्थमुत्पन्नम्। 'आतश्चोपसर्गे' इति कप्रत्ययः। रसं तत्सदृशं रसमुद्गिरन्ती स्रवन्ती तस्या ओष्ठ एव बन्धूकं बन्धुजीवकुसुमम्। 'बन्धूको बन्धुजीव' इत्यमरः। तदेव धनुः तेन विसृष्टा मुक्ता प्रसूनाशुगस्य कुसुमेषोः पञ्चानां बाणानां समाहारः पञ्चबाणी। 'तद्धितार्थ' इत्यादिना समाहारे द्विगुः। अकारान्तोत्तरपदत्वात्स्त्रियां 'द्विगो' इति ङीप् वाणीमिषेण वाग्व्याजेनास्य कर्णात् कर्णं प्रविश्य ल्यब्लोपे पञ्चमी। अस्य नलस्य मनो विवेश कर्णद्वारा प्रविवेशेत्यर्थः ॥ ५० ॥

अन्वय—इत्थं मधूत्थं रसम् उद्गिरन्ती तदोष्ठबन्धूकधनुर्विसृष्टा प्रसूनाशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेण कर्णात् अस्य मनः विवेश।

हिन्दी—इस प्रकार अमृत मधु-रस झरती उस (दमयन्ती) के ओठ रूप बन्धूक पुष्प (दोपहरी का फूल गुलेदुपहरी) रूप धनुष से छोड़ी कुसुम बाण (काम) की पञ्चबाणी (पाँचों बाण) (दमयन्ती) के वचनों के ब्याज से कान के मार्ग से इस (नल) के मन में प्रविष्ट हो गयी।

टिप्पणी—दमयन्ती के कहे गये इतने श्लिष्ट और मधुर वचन—अमृतमधुमयी वाणी)—सुन कर नल पूर्ण मुग्ध हो गया और दमयन्ती को पाने को इतना उत्कण्ठित हो गया कि विलम्ब-व्यथा उसे ऐसी पीड़ित करने लगी, जैसे कि काम के एक साथ पाँचों बाण दमयन्ती की वाणी के ब्याज से उसके अन्तस् में घुस गये हों। आश्चर्य कि मधुमयी वाणी और व्यथा! भाव यह कि वचनमात्र सुनकर नल कामना से उद्दीप्त हो गया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपक और अपह्नुति अलंकार है ॥५०॥

अमज्जदाज्जमसौ सुधासु प्रियं प्रियाया वदनान्निपीय।
द्विषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखेत्यमेया ॥ ५१ ॥

जीवातु—अमज्जदिति। असौ नलः प्रियाया वदनात् प्रियं प्रियवाक्यं निपीय सुधासु आमज्जं मज्जनं यावन्मज्जनमभिव्याप्येत्यर्थः। अभिविधावव्ययीभावः।

'अनञ्च' इति समासान्तष्टच् । अमज्जदमृतास्वादनुभवमन्वभूदित्यर्थः । तथा हि—द्विषन्मुखेऽपि तत्सुखतश्चेदित्यर्थः । या स्तुतिः स्वदते स्वादूभवति इष्टमुखे प्रियजनमुखे तु तस्याः स्तुतेर्मिष्टता स्वादुता अमेया अपरिच्छेद्या न किमिति काकुः ? अपि तु परिच्छेत्तुमशक्यैवेत्यर्थः । अत्रेष्टमुखस्तुतेः द्विषन्मुखस्तुत्यपेक्षया कैमुत्येन स्वादुत्वोत्कर्षप्रतिपादनादर्थापत्त्यलङ्कारः । तस्य वाक्यभूतस्य आमज्ज सुधामज्जनहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५१ ॥

अन्वय —प्रियायाः वदनात् प्रियं निपीय असौ सुधासु आमज्जम् अमज्जत्, या स्तुतिः द्विषन्मुखे अपि स्वदते, इष्टमुखे तु तन्मिष्टता अमेया न ?

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) के मुख से (निःसृत) प्रिय (वचनामृत) का सादर पान कर वह (नल) अमृत प्रवाह में मज्जापर्यंत (भीतर तक, पूर्णतः) मग्न हो गया । जो प्रशंसावचन शत्रु के मुख में भी (शत्रु कथित होने पर भी) स्वाद देते हैं (अच्छे लगते हैं), प्रिय मुखोक्त होने पर तो उनकी मिठास क्या अपरिमेय—परिमाणातीत न होगी ? होगी ही ।

टिप्पणी—दमयन्ती द्वारा कहे गये प्रशंसा भरे मुग्धवचन सुन कर नल को परमानन्द प्राप्त होना एक स्वाभाविक स्थिति थी । प्रशंसा तो शत्रु भी करे तो भली लगती है और प्रियजन के प्रिय मुख से प्रशंसा सुनना तो अत्यधिक आनन्ददायी होता है । 'आमज्जम्' के स्थान में पाठांतर 'आकण्ठम्' भी है-अर्थात् 'गले तक अमृत प्रवाह में डूब गया ।' मल्लिनाथ ने काकु के साथ साथ अर्थापत्ति और वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग के संकर का निर्देश किया है, क्योंकि शत्रुमुख स्तुति की अपेक्षा प्रियमुखस्तुति में स्वादुत्वोत्कर्ष का उपपादन हुआ है और वह वाक्यभूत आमज्जसुधामज्जन के हेतु रूप में कथित है । विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास का उल्लेख किया है ॥ ५१ ॥

पौरस्त्यशैलं जननोपनीतां गृह्णन् यथाहर्पतिरर्घ्यपूजाम् ।
तयातिथेयीमथ नश्रतोच्छिन्नस्या वयस्यासनमाससाद ॥ ५२ ॥

जीवातु—पौरस्त्येति । अथ नलः अह्नः पतिः अहर्पतिः सूर्यः 'अहरादीनां पत्यादिषु वा रेफः' इति रेफादेशः । यथा जनानां समूहो जनता । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' । तया उपनीतां समर्पिताम् अर्घार्थं जलमर्घ्यं 'पादार्घाभ्यां च' इति यत्प्रत्ययः । तदेव पूजा तां गृह्णन् स्वीकुर्वन् पुरो भवः पौरस्त्यः

परिसङ्ख्या निगद्यते ॥' इति लक्षणात् तस्योत्तरार्धे सामान्येन समर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास इति सङ्करः ॥ ५४ ॥

अन्वय—अथ तद्वाग्विपञ्चीभिः अपि स धैर्यात् स्मराज्ञाम् अवधीय ऊचे, काम विवेकधाराशतधौत सताम् अन्तःकरणं न कलुषीकरोति ।

हिन्दी—तत्पश्चात् उस (दमयन्ती) की वाणी-वीणा द्वारा प्रशंसा प्राप्त करके भी वह (नल) धैर्य से काम के आदेश की अवज्ञा करके बोला । विवेक-जल की धाराओं से शतवार धोकर उजले किये सज्जनों के अन्तःकरण को काम काला (विकृत) नहीं करता ।

टिप्पणी—यद्यपि दमयन्ती की प्रशंसामयी वीणा के समान मधुर वाणी सुनकर नल कामनाओं के ज्वार में बहा जा रहा था, तथापि—जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा जा चुका है, उसके धैर्य ने उसकी उद्दीप्ति पर विजय पायी और वह संयत हो दमयन्ती को प्रत्युत्तर देने लगा । विवेकी और धैर्यधन साधु जनों के निर्मल अन्तःकरण काम से विकृत नहीं हुआ करते । धीर होते ही वे हैं, जिनके मानस विकार के कारण होने पर भी विकृत नहीं होते—'विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।' मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में परिसंख्या और अर्थान्तरन्यास का संकर है । पूर्वार्द्ध में काम और धैर्य—इन दो में द्वारा आक्रान्त चित्त का धैर्य से नियमन है और उत्तरार्द्ध में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्थन । विद्याधर ने विशेषोक्ति और अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ५४ ॥

हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि त्वदीयमेवातिथिमागतं माम् ।
वहन्तमन्तर्गुरुणादरेण प्राणानिव स्वःप्रभुवाचिकानि ॥ ५५ ॥

जीवातु—हरिदिति । मां गुरुणा आदरेण अतिप्रयत्नेन स्वःप्रभूणामिन्द्रादीनां व्याहृतार्था वाचो वाचिकानि सन्देशवाक्यानि 'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' इति ठक् । प्राणानिव त्वदीयानित्यर्थः । अन्तरन्तरात्मनि वहन्तं हरित्पतीनामिन्द्रादिदिक्पालानां सदसः आस्थानादागतं त्वदीयमेवातिथिं प्रतीहि त्वामयोद्दिश्यागतं विद्धीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय—मां गुरुणा आदरेण स्वःप्रभुवाचिकानि प्राणान् इव अन्तः वहन्तं हरित्पतीनां सदसः आगतं त्वदीयम् एव अतिथिं प्रतीहि ।

हिन्दी—(नल ने कहा)—मुझे (नल को) अत्यन्त आदर के साथ अपने स्वामियों के वाचिकों (संदेशवचनों) को प्राणों के तुल्य अन्तःकरण में धारण करता हुआ, दिक्पालों (इन्द्रादि) की सभा से आया अपना ही अतिथि समझो।

टिप्पणी—नल ने बड़े ही शिष्टवचनों से दमयन्ती को सूचित किया कि वह इन्द्रादि दिक्पालों का सन्देशवाहक बनकर दमयन्ती के समीप ही आया है। इस प्रकार उसने दो प्रश्नों का उत्तर दिया कि वह कहाँ से आया है और किसके निकट आया है? सन्देशवचनों को प्राणतुल्य धारण करता कहकर स्वामी के प्रति आदर प्रकट किया और दूतधर्म का पालन किया। विद्याधर के अनुसार [illegible] ॥ ५५ ॥

विरम्यतां भूतवती सपर्या निविश्यतामासनमुज्झितं किम्।
या दूतता नः फलिना विधेया सैवातिथेयी पृथुरुद्भविष्णुः ॥ ५६ ॥

जीवातु—विरम्यतामिति। सपर्या पूजा भूतवती भूतैव। भवतेः क्तवतु-प्रत्यये ङीप्। विरम्यतामकर्मकत्वाद् भावे लोट्। निविश्यतामुपविश्यतां किमिति आसनमुज्झितं त्यक्तम्? फलिना फलवती, 'फलबर्हाभ्यामिनच्' इति इनच्। विधेया कर्तव्या नोऽस्माकं या दूतता दूत्यं सैव पृथुर्महती आतिथेयी अतिथिपूजा उद्भविष्णुः भाविनी ॥ ५६ ॥

अन्वय—विरम्यताम्, सपर्या भूतवती, निविश्यताम्, आसनं किम् उज्झितम्? या नः दूतता फलिना विधेया, सा एव पृथुः आतिथेयी उद्भविष्णुः।

हिन्दी—बस कीजिए, पूजा हो गयी, बैठ जाइए, आसन क्यों छोड़ दिया? जो हमारा दूतकार्य सफल होगा, वही बड़ा अतिथि-सत्कार होगा।

टिप्पणी—दमयन्ती ने जो कुछ अतिथि के आदरार्थ किया—आसनादि से उठकर खड़ा हो जाना आदि—नल ने निवेदन किया कि अब ऐसा कष्ट न कीजिए। सत्कार—शिष्टाचार तो पर्याप्त हो चुका। दूतकार्य यदि सफल बनायेंगी तो वही अतिथिसत्कार होगा। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ ५६ ॥

कल्याणि! कल्याणि तवाङ्गकानि कच्चित्तमां चित्तमनाविलं ते।
अलं विलम्बेन गिरं मदीया[illegible] ॥५७॥

जीवातु—कल्याणीति । हे कल्याणि ! भद्रे ! तवाङ्गकानि कोमलाय-ङ्गानि कल्यानि पटूनि कच्चित्तमा? कच्चिदिति प्रश्नार्थमव्ययम् । 'कच्चित्काम-प्रवेदने' इत्यमरः । तस्मात् 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' इति तमप् । 'किमे-त्तिङव्ययघात्' इत्यामुप्रत्ययः । किञ्च ते चित्तमनाविलमकलुषं कच्चित्तमाम् । आकर्णतटात्कर्णतटपर्यन्तं मर्यादायामव्ययीभावः । ततः 'सुप्सुपा' इति समासे आकर्णतटायते अक्षिणी यस्याः सेति 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्,' 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीप् । 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' हे आकर्णतटायताक्षि ! विलम्बेनालं मदीया गिरमाकर्णय ॥ ५७ ॥

अन्वयः—कल्याणि, तव अङ्गकानि कल्यानि कच्चित्तमाम्, ते चित्तम् अनाविलम् ? आकर्णतटायताक्षि, विलम्बेन अलं, मदीयां गिरम् आकर्णय ।

हिन्दी—भद्रे, तेरे कोमल अंग नीरोग हैं ? तेरा चित्त निर्मल है ? (स्वस्थ है ?) हे कानों तक फैले नयनों वाली, विलंब न करो, मेरा कथन सुनो ।

टिप्पणी—सामान्य शिष्टाचार के अनुसार स्वस्थताविषयक प्रश्न और झटिति मूल बात पर आ जाने का प्रस्ताव, जिससे संदेश शीघ्र तुरंत कहा जा सके । विद्याधर के अनुसार उल्लेखनीय अलंकार छेकानुप्रास ॥ ५७ ॥

कौमारमारभ्य गणा गुणानां हरन्ति ते दिक्षु धृताधिपत्यम् ।
सुराधिराजं सलिलाधिपं च हुताशनं चार्यमनन्दनं च ॥ ५८ ॥

जीवातु—कौमारमिति । हे भैमि ! कौमारं नवं कुमारवयः आरभ्य 'प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्' । ते तव गुणानां गणाः दिक्षु धृताधि-पत्यम् दिशामधीशम् सुराधिराजमिन्द्रं सलिलाधिपं वरुणञ्च हुताशनमग्निञ्च अर्यमनन्दनं सूर्यतनयं यमञ्च हरन्ति आकर्षयन्ति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—कौमारम् आरभ्य ते गुणानां गणाः दिक्षु धृताधिपत्यं सुराधिराजं सलिलाधिपं च हुताशनम् च अर्यमनन्दनं च हरन्ति ।

हिन्दी—कौमार्य अवस्था से लेकर तुम्हारे गुणों का समूह दिशाओं का अधिपतित्व धारण करने वाले (दिक्पाल) देवराज (इन्द्र), जलों के स्वामी (वरुण), आहुत के भोजी (अग्नि) और अर्यमा (सूर्य) के नन्दन (यम) को आकृष्ट कर रहे हैं ।

टिप्पणी—नल ने इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—चारों के चिरकाल से

दमयन्ती पर अनुरक्त होने की बात बताती। गुण (सौन्दर्यादि) रूप गुण (रज्जु) ने चारों देवों को खींच रखा है। विशेषणावद्योतक विशेषणों से देवों के दोनों का भी आवेदित हो गया—इन्द्र गुणों के राजा 'गुणानाम् अधिपति' तो हैं ही 'गुणाधा अधिपत' नदियों के राजा भी हैं—और मरुती, वरुण मणिमानिय हैं—चारों ओर पानी ही पानी, एकदम जड़, अग्नि तो थी भी हुए ही, निकट ही उन्हें मा जाना है और यम तो बर्बना (दुर्ण, दण्ड करने वाले) का बेटा ही है विदर्भ के मतुष्य उत्प्रेक्षा अलंकार और अनुप्रास ॥ ५८ ॥

चरन्चिरं शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि देहदेशेऽपि।
नैषा स्मरघोरचरेण चित्तं पञ्चेषुणा लुण्ठितमैक्षि किं तत् ॥ ५९ ॥

जीवातु—चरन्निति। शैशवयौवनयोरिदं शैशवयौवनीयम्, 'वृद्धाच्छ' इत्यत्र तद् द्वैराज्य द्वयो राज्ञो (कर्म) भावादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः। तद्भाजि शैशवयौवनाख्यराजद्वयाक्रान्तमित्यर्थः। एतेनास्या वयःसन्धिरुक्तः, तस्यां त्वयि चिरं चरत्संचारं कुर्वाणेनात्मासंदीना चित्त (कर्तृ) रत्र कालेऽपि घोरेण विशिष्टेनोपहारिणा चेन। पञ्चेषुणा लुण्ठितमैक्षि किम् अनर्दुर्धर्षेण मद् द्वैराज्ये अराजके इत्यनि मदाना चोरबाधा जायते इति भाव। यतोऽद्वैराज्ये पञ्चेषुणा चोरेण तेषा चैतन्यं हृतमिति स्वरूपम्। तदेतत्सम्भावात् वेदत्व वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गमिति सङ्कर ॥ ५९ ॥

अन्वय—शैशवयौवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि चिरं चरन् तेषा स्मरघोरचरेण पञ्चेषुणा लुण्ठितवैभवेन किम् वेदत् एति।

हिन्दी—बाल्यावस्था और यौवन—इन दो राज्यों में स्थित तुम पर बहुत समय में आया हुआ (इन्द्रादि) का मन कि के महाचोर पञ्चबाण (काम) द्वारा निपुणता पूर्वक मन लूट लिया गया है ऐसा—चित्त खिन्नता को प्राप्त हो रहा है।

टिप्पणी—जो दो राज्यों के मध्य विचरण करता है, सीमा पर किसी राजा का स्वामित्व न होने के कारण, ऐसे मार्गी को कोई धनुर्धर चोर लूट सकता है। दमयन्ती इस समय दो राजाओं की सीमाभूमि है—शैशव की, यौवन की। पूर्ण अधिकार किसी का नहीं है। इन्द्रादि इस भूमि पर विचरण

अटनि, डोरी बांधने के लिए धनुष् के किनारे पर बना गड्ढा) पर पहुँच गयी है ।

टिप्पणी—साठवें श्लोक तक सामूहिक रूप से देवदूतत्व संपादन करके इकसठवें से सत्तरवें श्लोक तक इन्द्र का दूतत्व-प्रतिपादन है। भाव यह है कि जैसे-जैसे दमयन्ती का यौवन उत्कर्ष को प्राप्त हो पराकाष्ठा को पहुँचा, इन्द्र का उस पर अनुराग भी परा कोटि को पहुँच गया और पुष्पधन्वा काम ने भी जगत् को वशीभूत करने के लिए अपने धनुष् की प्रत्यंचा बाण छोड़ने के लिए खींच ली। इन्द्रादि को पराभव करने के लिए काम ने भी धनुष् पर डोरी चढ़ा दी। मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में तुल्ययोगिता और सहोक्ति का संकर है, क्योंकि यहाँ प्रकृत (प्रस्तुत) प्रेम और गुण में विशेषण समानता से औपम्यार्थ के उपगम के कारण केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता है और उन प्रेम गुण में 'परां कोटिम्'—इससे उपाधृत अभेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति मूलक 'यौवनेन सार्धम्' (यौवन के साथ)—यह सहार्थ सम्बन्ध-कथन होने से सहोक्ति है। विद्याधर के अनुसार सहोक्ति श्लेष-तुल्ययोगिता अलंकार है ॥६१॥

प्राची प्रयाते विरहं दधाना तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की ।
परापराधैर्निदधाति कोपाद् रुषारुणं लोचनवृन्दमिन्द्र ॥ ६२ ॥

जीवातु—प्राचीमिति। इन्द्र त्वं विरहं दधत् दधान सन् अत एव प्राची दिशं प्रयाते प्राप्ते भास्वति तापाच्चन्द्रस्यापि विरहितापकारकत्वा-दिति भावः । रूपाच्च उदयकाले उभयोरपि रक्तत्वादिति भावः । शशाङ्क-शङ्की चन्द्र इति भ्रान्त्या परापराधैश्चन्द्रदोषैस्तापादिभिः हेतुभिः रुषाऽरुणं लोचनवृन्दं निदधाति क्रोधाद्दहन्निव अक्षिसहस्रेणापीक्षत इत्यर्थः । क्रोधान्धस्य कृतः भावराधानपराधविवेकः इति भावः । अत्र कविसम्मतसादृश्येन भानौ शशाङ्कभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ६२ ॥

अन्वय—इन्द्र ते विरहं दधत् प्राची प्रयाते भानौ तापात् रूपात् च शशाङ्कशङ्की परापराधैः रुषा अरुणं लोचनवृन्दं निदधाति ।

हिन्दी—इन्द्र तेरे विरह को धारण करता, पूर्व में स्थित सूर्य पर ताप दायक होने और (साम्य) होने के कारण (सूर्य में) चन्द्रमा की भ्रान्ति करता दूसरे के अपराधों के कारण रोष से लाल लाल नेत्र कर देता है।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरह में पीड़ित इन्द्र को रात्रि में तो चन्द्रमा व्यथा देता ही है, प्रभात में जब तापदायक लाल सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है, तब रूप-साम्य और सन्तापदायक होने से सूर्य में चन्द्रमा के भ्रम से उस पर ही क्रुद्ध हो वह अपने लाल नेत्रों से क्रोध दिखाता है। इस प्रकार जैसे रात में वैसे ही दिन में भी इन्द्र दमयन्ती के विरह में कष्ट पाता रहता है। रात्रि-जागरण करते इन्द्र की आँखें लाल होनी ही उचित है और क्रोध में—कष्ट में विवेकशून्य होने से भ्रम में पड़ा इन्द्र चन्द्र के अपराध पर सूर्य से क्रुद्ध हो ही सकता है। अन्य का अपराध, अन्य पर रोष। इस पद्य में मल्लिनाथ के अनुसार कविसमयसादृश्य से सूर्य में चन्द्रमा का भ्रम होने से भ्रान्तिमद् अलङ्कार है॥ ६२॥

त्रिनेत्रमात्रेण रुषा कृतं यत्तदेव योऽद्यापि न संवृणोति।
न वेद रुष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे गन्ता स कामं खलु कामवस्थाम्॥ ६३॥

अन्वय—त्रिनेत्रेति। त्रिनेत्र एव त्रिनेत्रमात्रः। 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः। तेन त्रिनेत्रमात्रेण रुषा यत्कृतमनङ्गत्वमिति भावः। तदेव यः कामोऽद्यापि न संवृणोति नाच्छादयितुं शक्नोतीत्यर्थः। स कामोऽद्य सहस्रनेत्रे इन्द्रे रुष्टे क्रुद्धे सति कामवस्थां दशां गन्ता गमिष्यति। गमेर्लुट्। न वेद न जाने खलु। वाक्यार्थः कर्म। 'विदो लटो वा' इति मिपो णलादेशः। त्रिनेत्रमात्रस्य नष्टः कामः सहस्रनेत्रस्य कथं जीवेदित्यर्थः। कामस्त्वत्कृते निःशङ्कमिन्द्रं दुःखाकरोतीति तात्पर्यम्॥ ६३॥

अन्वय—त्रिनेत्रमात्रेण रुषा यत् कृतं तद् एव यः अद्य अपि न संवृणोति सः कामः अद्य सहस्रनेत्रे रुष्टे काम् अवस्थां खलु गन्ता—न वेद।

हिन्दी—तीन नेत्र मात्र धारण करने (शिव) ने क्रोध से जो किया, वह (देहदाह) ही जो आज भी सँभाल नहीं पा रहा, वह काम आज सहस्रनयन (इन्द्र) के रुष्ट हो जाने पर किस अवस्था को प्राप्त होने वाला है—मैं (नल) यह समझ नहीं पा रहा।

टिप्पणी—केवल तीन नेत्र वाले शिव ने तो काम दाह करके उसे अनङ्ग बना दिया। काम इस हानि की पूर्ति आज तक न कर पाया। अब सहस्र नयन धारी इन्द्र को पीड़ा देकर काम किस दशा को प्राप्त होगा—यह नल समझ

नही पाता। स्वाभाविक है कि तीन नेत्रधारी की अपेक्षा सहस्र नेत्र धारी का क्रोध अधिक भयानक होगा और अधिक कष्टकर, परन्तु शरीर भस्म होने से अधिक और बड़ा दड हो ही क्या सकता है? भाव यही है कि निःशङ्क काम इन्द्र को अत्यत कष्ट दे रहा है, काम को और बड़े दड से यदि दमयन्ती बचाना चाहती है तो इन्द्र का अनुराग उसे स्वीकार्य होना उचित है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६३॥

पिकस्य वाङ्मात्रकृताद्व्यलीकान्न स प्रभुर्नन्दति नन्दनेऽपि।
बालस्य चूडाशशिनोऽपराधान्नाराधनं शीलति शूलिनोऽपि ॥ ६४॥

जीवातु—पिकस्येति। स प्रभुरिन्द्र पिकस्य कोकिलस्य वाङ्मात्रकृताद् न तु कामवत् कायकृतादिति भाव। व्यलीकादप्रियाद्नन्दने नन्दनाख्ये आनन्दकरेऽपीति गम्यते। वने न नन्दति किमुतान्यत्रेति भाव। किञ्च बालस्य कृशस्य चूडाशशिनोऽपराधात् अपकारात् सन्तापरूपात् किमुत पूर्णेन्दोरिति भाव। शूलिन शिवस्याप्याराधन पूजां न शीलति नाचरति। 'शीलसमाधौ' इति भौवादिकाल्लट्। इन्द्रो विरहपारवश्यादावश्यकं किमपि कर्म न करोती-त्यर्थ। अत्रानन्दशिवाराधनसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिर्भेद ॥ ६४॥

अन्वय—प्रभु स पिकस्य वाङ्मात्रकृतात् व्यलीकात् नन्दने अपि न नन्दति, बालस्य चूडाशशिन अपराधात् शूलिन अपि आराधन न शीलति।

हिन्दी—सामर्थ्यवान् वह (इन्द्र) कोकिल के वचन (बोल) मात्र द्वारा कृत अप्रिय (कार्य) से नदन (आनन्दित करनेवाले) मे भी आनन्दित नही होता और बालक (एक कलावान्), चूडा मे स्थित चन्द्र के अपराध के कारण शूलधारी शिव की भी आराधना नही करता।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरह मे सर्वसामर्थ्यशाली स्वर्गराज इन्द्र आनन्द-दायक नन्दन कानन (नन्दयतीति नन्दन) मे भी कोकिल स्वर होने के कारण आनन्द नही पाता और यद्यपि शिव शूली हैं, तथापि वे कष्टकारक (बाल ही सही) चन्द्र को चूडा मे धारे हैं, अत इन्द्र उनकी पूजा भी नही करता। कोकिलरव और चन्द्र—दोनो ही विरहिजनो को पीडा देते हैं, अत इन्द्र इनकी छाया मात्र से कष्ट पाता है। न उसे नन्दन मे आनन्द है और न शूली के पूजनाभाव मे क्रुद्ध हो जाने का भय। इन्द्र दमयन्ती के वियोग मे

उद्यान भवन और पूजापाठ-गृह इत्यादि, जिन्हें कामदेव छोड़े बैठा है। न यह तुम्हें नन्दन (पुत्रमय नन्दित करनेवाले) का ध्यान है और न दिव रोग का भय। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ आनन्द और शिवाराधन से सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध कथन रूप से अतिशयोक्ति है, विद्याधर के अनुसार हेतु और समासोक्ति ॥ ५४ ॥

तमोमयीकृत्य दिशः परागैः स्मरेषवः शक्रदृशां दिशन्ति।
कुहूगिरः चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्यामपि सत्यवाचम् ॥ ६० ॥

जीवातु—तमोमयीति। स्मरेषवः कुसुमेषुबाणाः परागैः रजोभिः करणैः दिशः शक्रदृशः सम्बन्धे तमोमयीकृत्य तत्प्रकृतवचने मयट् तादृगूनत्वाज्ज्ञापित्। मत एव तिमिरमनोरथसम्बन्धे तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। कुहू कुहूशब्दो ध्वनिः कूजितं यस्य। अन्यत्र तु कुहूरमावास्येति गौर्वचन मस्य। 'कुहूः स्यात् कोकिलालापे नष्टेन्दुकलामावास्यायाम्' इति विश्वः। तस्य द्विजन्मानः कस्य कोकिलस्येत्यर्थः। अन्यत्र विप्रस्य 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। चञ्चुपुटं मुखं राकारजन्यां पूर्णिमायामपि सत्यवाचं दिशन्त्यादिशन्ति सत्यवादीत्यर्थः। राकायामपि कुहूरिति तमस्वी कुहूरित्यर्थः। अत्र तिमिरपात्रयोः कुहूर्विकोशाभेदाध्यवसायमुखेन कुहूत्वमसत्यवादित्वस्य विरुद्धस्यापि पूर्वोक्तातिशयोक्तिहेतुना निर्दोषत्वावर्णेतुः कार्यलिङ्गं च श्लेषातिशयोक्तिविरोधैरङ्गैः सङ्कीर्णे। तेन वाच्ये राकायां कुहूध्वान्ता श्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इत्युक्तम् ॥ ६५ ॥

अन्वय—स्मरेषवः परागैः दिशः शक्रदृशां तमोमयीकृत्य कुहूगिरः द्विजस्य चञ्चुपुटं राकारजन्याम् अपि सत्यवाचं दिशन्ति।

हिन्दी—काम के (पुष्प) बाण मकरन्दों से दिशाओं को इन्द्र की दृष्टि में अन्धकारपूर्ण करके 'कुहू' शब्द बोलने वाले द्विज (कोकिल, ब्राह्मण) के चञ्चुपुट (चोंच, मुख) को राका रजनी (पूर्णिमा निशा) में भी सत्यवक्तापुत्र बनाते हैं।

टिप्पणी—काम के पुष्प बाणों से उड़कर उड़े पराग ने इन्द्र की दृष्टि को अंधी बना दिया है। वह कोकिल के चञ्चुपुट से बोले जाने वाले 'कुहू कुहू' शब्द के कारण पूर्णिमा की रातों को भी अमावस्या की रातें मान लेता है,

जैसे कोई अपर ब्राह्मण (द्विज) के कथन मात्र पर यह विश्वास करले कि पूर्णिमा की रात नहीं, अमावस्या है। भाव यह है कि काम से अति पीडित इन्द्र को पूर्णिमा की आनन्ददायिनी रातें अमावस्या की काली रातों-सी भयानक लगती हैं। भ्रमाप हो जाता है इन्द्र राकारजनी में कोकिलरव सुनकर। इस श्लोक में श्लेष के आधार पर 'कुहू-कुहू' और द्विज में अभेद व्यवसाय कह कर विरुद्ध भी कुहूत्व सत्यवादित्ता के पूर्वोक्त अतिशयोक्ति हेतु द्वारा सिद्ध होने से वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिंग पूर्वक श्लेषातिशयोक्ति का विरोधाभों से सकर है, उससे इन्द्र को राका में कुहू की भांति हो जाने के कारण भ्रांतिमद् अलङ्कार व्यजित होता है। विद्याधर के अनुसार विरोध और अतिशयोक्ति अलंकार हैं ॥ ६५ ॥

शरैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य स्मर्तुं स किं नाशनिना करोति।
अभेद्यमस्याहह! वर्म न स्यादनङ्गता चेद्गिरिशप्रसादः ॥ ६६ ॥

जीवातु—शरैरिति। स इन्द्रः प्रसूनैरेव शरैस्तुदतः आत्मानं विध्यतः स्मरस्य स्मरमित्यर्थः। 'अधीगर्थ'—इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। अशनिना वज्रेण स्मर्तुं न करोति किं स्मृतिमात्रशेषं कुर्यादेव। किन्तु तस्य स्मरस्य गिरिशस्य प्रसादः प्रसादलब्धमित्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदोपचारः सोऽलुण्ठ्यत्वे तदनङ्गता अभेद्य वर्मेति रूपकम् न स्याच्चेत् अहहेत्यद्भुते खेदे वा साङ्गत्वे पुनर्वज्रलक्ष्यतामादेन हन्यादेवेत्यर्थः। तथा पीडयत्येनमनङ्गोऽपीति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वय—अहह, सः प्रसूनैः शरैः तुदतः स्मरस्य अशनिना स्मर्तुं न करोति किम् चेत् अस्य गिरिशप्रसादतः अनङ्गता अभेद्य वर्म न स्यात्।

हिन्दी—अरे, वह (इन्द्र) पुष्प शरों से पीडित करते काम को वज्र से क्या स्मृति शेष न कर देता यदि इस (काम) का कैलासपर्वतशायी (शिव) के प्रसाद से अनंग (शरीर रहित) हो जाना-रूप अच्छेद्य कवच न होता?

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा गया है कि काम पुष्पबाणों से इन्द्र को अत्यन्त व्यथित करता रहता है, ऐसी स्थिति में प्रश्न हो सकता है कि इन्द्र तो वज्रधारी है, वह पुष्पायुध काम को वज्र से मार क्यों नहीं डालता, जिससे वह व्यथित करने को रह ही न जाय? कल्पना है कि इन्द्र

क्रुद्ध होकर अपने पर प्रहार कर व्यथा देने वाले काम को दण्ड मार कर स्मृति-शेष अवश्य बना देता, पर इन्द्र प्रहार किस पर करे ? काम तो देहरहित है। भगवान् शिव ने उसे भस्म करके नष्ट नहीं किया, अपितु अनंग कर सब प्रकार के प्रहारों से रक्षित बना दिया। अनंगता उसका अभेद्य कवच बन गयी। शिव का क्रोध तो काम को प्रसाद बन गया। हानि से लाभ मिला। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक है, क्योंकि कार्य-कारण में अभेदोपचार है, इस प्रकार कारण अनंगता और कार्य अभेद्य वर्म (कवच) में अभेद है, आरोप है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति-काव्यलिंग अलंकार हैं ॥ ६६ ॥

धृताधृतेस्तस्य भवद्वियोगान्नानार्द्रशय्यारचनाय लूनैः ।
अप्यन्यदारिद्र्यहराः प्रवालैर्जाता दरिद्रास्तरवोऽमराणाम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—धृतेति। अन्येषां दारिद्र्यं हरन्तीत्यन्यदारिद्र्यहरा अपि। हरतेरनुद्यमनेऽच्। अमराणां तरवः कल्पद्रुमा भवत्या वियोगात्। सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावो वक्तव्यः। धृताऽधृतिररतिर्येन तस्येन्द्रस्य नानाविधाना-मार्द्रशय्यानां शिशिरशयनानां रचनाय लूनैः प्रवालैः दरिद्रा रिक्ता जाताः, तापस्तु तथापि नापैत् इति भावः। सुरद्रुमाणां प्रवालदारिद्र्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

अन्वय—अन्यदारिद्र्यहराः अपि अमराणां तरवः भवद्वियोगात् धृताधृतेः तस्य नानार्द्रशय्यारचनाय लूनैः प्रवालैः दरिद्राः जाताः।

हिन्दी—दूसरों की दरिद्रता दूर कर देने वाले भी देवों के (कल्प आदि) वृक्ष, आप (दमयन्ती) के वियोग में धैर्य त्यागे उस (इन्द्र) की अनेक गीली शय्याओं की रचना के निमित्त, तोड़ लिये गये नव पल्लवों के कारण दरिद्र हो गये हैं।

टिप्पणी—देवतरु कल्पवृक्ष आदि यद्यपि अन्यजनों की दरिद्रता मिटाने के लिए विख्यात हैं, परंतु आजकल वे वृक्ष स्वयं दरिद्र हो गये हैं, क्योंकि इन्द्र दमयन्ती के वियोग में इतना दग्ध हो रहा है कि उसका वियोग जन्य दाह दूर करने के लिए अनेक बार अनेक गीलें नव पल्लवों की अनेक शय्या रची जाती हैं। बार बार ऐसा होने से देववृक्षों के सब पत्ते तोड़ लिये गये और वे पत्रहीन हो दरिद्र हो गये। दूसरों की दरिद्रता मिटाने वाले स्वयं दरिद्र बन गये,—कैसा

अचरज है ! ऐसी भयन्र है इन्द्र की काम व्यथा ! कल्पवृक्षों के सब पत्ते समाप्त हो गये, पर व्यथा न गयी । देववृक्षों का प्रवाल दारिद्र्य असवद्ध है, तथापि उसका यहाँ सबध वर्णन है, अत मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और विरोध अलकार ॥ ६७ ॥

रवैर्गुणास्फालभवैः स्मरस्य स्वर्णायकर्णा वधिरावभूताम् ।
गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ॥६८॥

जीवातु—रवैरिति । स्वर्णायस्य स्वर्गनायस्येन्द्रस्य 'पूर्वपदात्संज्ञायामग ' इति णत्वम् । कर्णौ स्मरस्य गुणास्फालभवै ज्याघट्टनप्रभवै रवैं वधिरौव भूताम् । एव वाधिर्ये सति गुरोर्बृहस्पते सकाशात् स्मरमोह एव निद्रा तस्या प्रबोधे दक्षाण्यक्षराणि विवेकज्ञानोपदेशवाक्यानि शृणोतु शृणुयात् किम् ? न शृणोत्येवेत्यर्थ । त्वद्विरहमोहात्तमन बृहस्पतिरपि बोधयितु न प्रभवतीति भाव ॥ ६८ ॥

अन्वय —स्वर्णायकर्णौ स्मरस्य गुणस्फालभवै रवैं बधिरौ अभूताम्, गुरो स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि अक्षराणि किं शृणोतु ?

हिन्दी—स्वर्णाथ (स्वर्ग के स्वामी इन्द्र) के दोनों कान काम द्वारा प्रत्यचा खींचे जाने से उत्पन्न शब्दों से बहिरे हो गये हैं, गुरु (बृहस्पति) के काम की मोह निद्रा दूर करने में समर्थ अक्षरों (शब्दों) को (वह) कैसे सुने ?

टिप्पणी—शका हो सकती है कि इन्द्र के गुरु तो महाज्ञानी बृहस्पति महाराज हैं, उनके उपदेश सुन कर इन्द्र का कामजनित व्यामोह क्या नहीं मिटता ? कल्पना है कि इन्द्र के कान सुनने की शक्ति ही खो बैठे हैं । काम ने अपने धनुष् की डोरी इतनी बार प्रहारार्थ खींची कि उससे उत्पन्न शब्द से कान श्रवणसामर्थ्य खो बैठे और इन्द्र बहिरा हो गया । बहिरा कैसे कुछ सुने ? भाव यह है कि दमयती विरह में इन्द्र इतना काम मोहान्ध हो गया है कि उसे गुरु बृहस्पति भी उसे नहीं समझा सकते । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलकार ॥ ६८ ॥

अनङ्गतापप्रशमाय तस्य कदर्थ्यमाना मुहुरामृणालम् ।
मधौ मधौ नाकनदीनलिन्यो वरं वहन्ता शिशिरेऽनुरागम् ॥ ६९ ॥

जीवातु—अनङ्गेति नाकनद्या स्वर्णद्या नलिन्या मधौ मधौ वसन्त

वसन्ते तस्येन्द्रस्यानङ्गतापप्रशमनाय मुहुरामृणाल मृणालपर्यन्तम्, जनितविघाव-स्थीभाव । कस्याः कुलिशवस्तुनि, 'को वज्रतुल्येऽर्च्चि' इति को वदादेश । स्वर्या क्रियमाणा कदर्थ्यमाना उन्मीलमाना नष्ट इन्धर्य । तत्करोतीति तन्नाम्न्यर्णिल लट् शानजादेश । शिशिरेऽनुराग वरम् । वरमिति मनाक् प्रिये । वहन्ती शान्तिकामवारणा तस्या तत्र पूर्वोक्तोद्धरणादिति भाव । वहे स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—आकाशदीर्घिकाम्बु मधौ मधौ तस्य अनङ्गतापप्रशमनाय मुहुः आमृणाल कदर्थ्यमाना शिशिरे वरम् अनुराग वहन्ताम् ।

हिन्दी—स्वर्गङ्गा (मदाकिनी) की कमलिनियाँ प्रतिवसंत में उस (इन्द्र) के काम-ताप की शांति के निमित्त बारम्बार मृणाल तक उखाडी जाती पीडित हो शिशिर ऋतु में कुछ अनुराग रखने लगी है ।

टिप्पणी—जब जब वसन्त आता है, इन्द्र की मदन-व्यथा और बढ जाती है । इस काम दाह के उपशमार्थ मदाकिनी में उत्पन्न कमलिनियाँ पुष्पों से लेकर मृणालदड तक बारम्बार उखाड डाली जाती हैं, फल स्वरूप अब उन्हें वसन्त की अपेक्षा शिशिर ही भला लगने लगा है । शिशिर मे तो वे केवल पत्र पुष्पहीन होती हैं—तुषारहता होकर, किंतु वसत मे तो उनके मृणाल तक उखाड डाले जाते हैं । अत वसत से तो थोडी हानि पहुँचाने वाला शिशिर ही अच्छा । पत्र पुष्प तो फिर आ जाते हैं, मृणाल तो फिर नहीं उपजता । भाव यह कि वसत में इन्द्र की काम पीडा असह्य हो जाती है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिंग अलकार ॥ ६९ ॥

दमस्वसः सेयमुपैति तृष्णा जिष्णोर्जगल्लक्ष्मितमेल्लक्ष्मीम् ।
वृथा यदर्थिस्त्वदनाम दृष्टिस्त्रिनाशनेत्रैमानिमसौ बिभर्ति ॥ ७० ॥

जीवातु—दमेति । हे दमस्वसः ! दमयन्ति ! जिष्णा शक्रस्य 'जिष्णु-र्लेखर्षभ शक्र' इत्यमर । सेय तृष्णा वाञ्छा जाति अजे सकलदिनम्, 'अजादि-पक्षात्तिप्' वक्तव्य' तस्य तल्लेख च लक्ष्म लक्ष्मीनाथयत्नानुवृत्ति अद्भुत्वं-त्वादिति भाव । कुत यदयस्मात्त्वामभिराकरोऽसाविन्द्रस्तत्र दृष्टेस्त्रिनाग-स्तूर्णनाथ मन्द्रयाथस्वस्य वृत्तिविषये पूरार्थत्वाङ्गीकारात् । तत्र लोभेन तृष्णया जातिमात्रं विनतिं नाम धन्ने खलु । तदेतदाखण्डलस्य कर्णिकालो-

मवच्छिन्नीयन इत्यर्थः । तल्लेशलाभ एव स्वदृष्टिसम्पत्तेः फलमित्यभिमानस्त स्येति भावः ॥ ७० ॥

अन्वय —दमस्वसः, सा इयं जिष्णोः तृष्णा जयति अग्रिमलेख्यलक्ष्मीम् सर्वैति यत् दृशाम् वच्चि नाम असौ तव दृष्टित्रिभागलोभात् बिभर्ति ।

हिन्दी—हे दम की भगिनि, वह अत्यन्त स्यात इन्द्र की तृष्णा संसार में सर्वप्रथम गणनीय पदार्थ की शोभा को प्राप्त हो रही है कि नेत्रों का समूह भी वह (इन्द्र) तुम्हारी (दमयती की) दृष्टि (नेत्र) के तीसरे भाग (कटाक्ष) के अभिलाष से उत्पन्न पीड़ा को धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—इस पद्य का भाव तो यही है कि इन्द्र जैसा सामर्थ्यशाली दमयती के कटाक्ष विक्षेप का आकांक्षी है, तिरछे खंजन नयन-कटाक्ष से देख लेती दमयती उसको । इस भाव को एक विशिष्ट भंगिमा के साथ कहा गया है । बताया गया है कि दमयती-विषयक इन्द्र की तृष्णा सबसे अधिक उल्लेख्य है । कितना विचित्र है कि जिस इन्द्र के पास सहस्र नेत्र हैं, वह दमयती के नेत्र का तीसरा भाग पाने के लिए उत्सुक है । सहस्रधारी की तृतीयांश के निमित्त इतनी उत्कट आकांक्षा ! है न अद्भुततम ! कोट्यधीश की तृष्णा कानी कौड़ी के लिए ! दमयती का एक कटाक्ष लाभ सहस्र नेत्र धारण करने का फल लाभ है इन्द्र का । विद्याधर के अनुसार विषम और अनुप्रास ॥७०॥

अग्न्याहिता नित्यमुपासते या देदीप्यमाना तनुमष्टमूर्तेः ।
आशापतिस्ते दमयन्ति ! सोऽपि स्मरेण दासीभवितुं न्यदेशि ॥ ७१ ॥

जीवातु—अथ भगवतोऽग्नेरवस्थां वर्णयति—अग्नीति । अग्न्याहिता आहिताग्नयः, 'वाहिताग्न्यादिषु' इति निष्ठायाः परनिपातः । यां देदीप्यमाना जाज्वल्यमाना दीप्यमाना दीप्यतेर्यङन्तात्कर्तरि लट् । शानजादेशः । अष्टमूर्तेरीश्वरस्य तनुं नित्यमुपासते, हे दमयन्ति ! आशापतिर्दिक्पतिः सोऽग्निरपि स्मरेण कर्त्रा तव दासीभवितुं न्यदेशि दासो भवेत्यादिष्ट इत्यर्थः ॥ ७१ ॥

अन्वय—दमयन्ति, अग्न्याहिताः याः देदीप्यमानाम् अष्टमूर्तेः तनुं नित्यम्, सः अपि आशापतिः स्मरेण ते दासीभवितुं न्यदेशि ।

हिन्दी—हे दमयन्ति, अग्निहोत्र में दीक्षित जन (अग्निहोत्री) जिस

देदीप्यमान अष्टमूर्ति ईश्वर (शिव) के तनु को नित्य उपासना करते हैं, वह भी दिक्पाल (अग्नि) काम द्वारा तुम्हारा दास बनने को आदिष्ट है।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ७१ से ७६ तक अग्नि का दूतत्व-प्रतिपादन है। अष्टमूर्ति शिव की एक मूर्ति अग्नि है—तेजस्वी मूर्ति। वह इतना पावन है कि समस्त अग्निहोत्री उसकी निरन्तर उपासना किया करते हैं। शिव ने काम को भस्म कर दिया था, वे कामजयी हैं। कितनी विचित्र बात है कि उन्हीं की एक मूर्ति आज दमयन्ती के कारण कामाधीन हो गयी है और उसकी आज्ञा का पालन करने में तत्पर है। भाव यह है इन्द्र ही नहीं, अन्य दिक्पाल अग्नि भी दमयन्ती पाणिप्रार्थी हैं॥ ७१ ॥

त्वद्गोचरस्तं खलु पञ्चबाणः करोति सन्ताप्य तथा विनीतम्।
स्वयं यथास्वादिततत्तदर्तिः परं न सन्तापयिता स भूयः॥ ७२॥

जीवातु—त्वदिति। पञ्चबाणः कामस्त्वद्गोचरस्त्वामेव लक्षीकृत्य इत्यर्थः। तमग्निं सन्ताप्य तथा तेन प्रकारेण विनीतं शिक्षितं करोति खलु। यथा येन प्रकारेण स्वयं स्वादितमनुभूतं तत्तस्य तत्तस्य येन स तम्। 'भुवो भावे' क्यप्। भूयः पुनः परमन्यं सन्तापयिता न सन्तापयिष्यति स्वयमनुभूतदुःखः स्वात्मदृष्टान्तेन परं नया न दुःखाकरोतीति भावः॥ ७२॥

अन्वयः—त्वद्गोचरः पञ्चबाणः तं सन्ताप्य तथा विनीतं करोति खलु यथा स्वयं स्वादिततत्तदर्तिः परं न सन्तापयिता।

हिन्दी—तुम (दमयती) से सबद्ध पाँच बाणों वाला (काम) उस (अग्नि) को सतप्त करके उतना विनयी (निरुपद्रव) बना रहा है कि स्वयं तप्त होने का अनुभव प्राप्त करके वह अन्य को संताप न देगा।

टिप्पणी—अग्नि सब को जला देता है। किसी को कितना कष्ट होता है जलने में—यह अग्नि अभी तक नहीं जानता था। अब काम दमयती को आधार बना कर उसे वास्तविक ताप दे रहा है। अब उसे जलने की व्यथा का अनुभव हो गया है, अतः पुनः वह किसी को नहीं जलायेगा। भाव यही है कि दमयन्ती के कारण ज्वलनशील अग्नि भी काम-संतप्त हो रहा है॥७२॥

अदाहि यस्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेर्नयनालयेन।
स निर्दहस्त्वं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरधुनाधमर्णः॥ ७३॥

जीवातु—अदाहीति। यो दशार्धबाणः पञ्चेषुः पुरा पुरारेर्नयनाल्पेन नयनाश्रयेण नेत्राग्निना अदाहि दग्धः स पञ्चेषुरधुना भवदक्षिवासी त्वन्नेत्र-निष्ठः सन् तमग्निं निर्दहन् वैरशुद्धेर्वैरनिर्यातनादधमर्णः ऋणी न अनृणो भूदित्यर्थः। यो यथा यस्यापकरोति स तस्य तथैव प्रतिकृत्य निर्वैरो भवतीति भावः॥ ७३॥

अन्वयः—पुरा पुरारेः नयनाल्पेन यः दशार्द्धबाणः अदाहि अधुना भव-दक्षिवासी सः तं निर्दहन् वैरशुद्धेः अधमर्णः न।

हिन्दी—पहिले त्रिपुरारि (शिव) के नेत्राग्नि द्वारा जो दश के आधे (पाँच) बाण वाला (पंचबाण काम) दग्ध कर दिया गया था, अब आप (दमयन्ती) के नेत्रों में निवास करके वह (काम) उस (अग्नि) को दग्ध करता हुआ वैर की शुद्धि करके ऋणी नहीं रह गया है।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के वियोग में काम दग्ध हो रहा है—यह अन्य भंगिमा से व्यक्त किया गया। शिव की नेत्र ज्वाला से पूर्व काल में काम को जला दिया था। इस प्रकार काम पर अग्नि का वैर ऋण चढ़ा। इस समय दमयन्ती के कटाक्ष में बस कर काम अग्नि को दग्ध करता हुआ अपना पुराने वैर का प्रतिशोध लेकर ऋणमुक्त हो रहा है। नारायण पंडित के अनुसार काम अग्नि की अपेक्षा अधिक समर्थ सिद्ध हो रहा है। अग्नि ने शिव अर्थात् एक पुरुष—महादेव का आश्रय लेकर काम को जलाया था, स्वयं तो वह 'अकिञ्चित्कर' था, अन्याश्रय लेकर ही वह कुछ कर सका। काम ने तो एक नारी के ही नेत्र-स्थित होकर अपनी सामर्थ्य शीलता सूचित कर दी—'पुरुष स्थितस्य वह्नेः स्वतोऽकिञ्चित्करत्वम्, अङ्गनानामपाङ्गेषु कामो वसतीति वृत्त्या स्त्रियं स्थितस्य कामस्य महत्प्रभुत्व सूचितम्।' विद्याधर के अनुसार व्याघात अलंकार। मम्मट के अनुसार—'यद्यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा। तथैव यद्विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः॥' (काव्यप्रकाश, १०। १३८)। उपेन्द्रवज्रा वृत्त॥ ७३॥

सोमाय कुप्यन्निव विप्रयुक्तः स सोममाचामति हूयमानम्।
नामापि जागर्ति हि यत्र शत्रोस्तेजस्विनस्तत्र कुतः सहन्ते॥ ७४॥

जीवातु—सोमायेति। विप्रयुक्तस्त्वद्वियुक्तोऽग्निः सोमाय चन्द्राय

कुप्यन्निव विभाति इत्यर्थः । 'क्रुधद्रुह्' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । हूयमान यत्ने दीयमानं सोमं सोमरसमाचामति पिबति । तथा हि यत्र पुंसि शत्रोर्नामापि जागर्ति प्रकाशते तं शत्रुनामधारिणं तेजस्विनः पराभवमाना-सहिष्णवः, 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि' इति लक्षणात् । कस्मै सहन्ते न कस्मैचिदित्यर्थः । तेजस्विनां शत्रुनामाप्यसह्यमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७४ ॥

अन्वयः—वियुक्तः स सोमाय कुप्यन् इव हूयमानं सोमम् आचामति, हि यत्र शत्रोः नाम अपि जागर्ति तं कस्मै तेजस्विनः सहन्ते ?

हिन्दी—विरही वह (अग्नि) चन्द्र पर कोप करता हुआ मानो आहुति में दिए गये सोम (चन्द्र) के रस का आचमन किया करता है, कारण कि जिसमें शत्रु का नाम भी प्रकट होता है, उसे कौन तेजस्वी जन सहते हैं ? (कोई नहीं सहते) ।

टिप्पणी—विरही को चन्द्रमा व्यथादायी होता है । अग्नि दमयन्ती वियोगी है, चन्द्र इसलिए उसे पीड़ित करनेवाला प्रतीत होता है, वह उसका शत्रु हुआ । चन्द्र को सोम भी कहा जाता है । अग्निहोत्र में सोमलता का रस भी यजमान द्वारा आहुति में दिया जाता है । इस पर कल्पना है कि सोमरस में 'सोम'-शत्रु चन्द्र का एक नाम पाकर वैर के कारण अग्नि उसका नाश (पान) किया करता है । कोई तेजस्वी व्यक्ति शत्रु नाम को नहीं सहता—यह जगत् रीति है । भाव यह कि चन्द्र अग्नि को व्यथा देता है । मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य द्वारा विशेषसमर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास उत्प्रेक्षा श्लेष अलंकार ॥ ७४ ॥

शरैरजस्रं कुसुमायुधस्य कदर्थ्यमानस्तव कारणाय ।
अभ्यर्चयद्भिर्भुवि निवेद्यमानादप्येष मन्ये कुसुमाद्विभेति ॥ ७५ ॥

जीवातु—शरैरिति । हे तरुणि ! तव कारणाय त्वदर्थं त्वत्कृते, तादर्थ्ये चतुर्थी । कुसुमायुधस्य शरैः कुसुमबाणैरजस्रं कदर्थ्यमानः पीड्यमानः एषोऽग्निः अभ्यर्चयद्भिः पूजयद्भिर्निवेद्यमानादर्प्यमाणादपि कुसुमाद् बिभेति मन्ये । उत्प्रेक्षा ॥ ७५ ॥

अन्वय —तव कारणाय (पाठान्तर—तरुणि, त्वदर्थं) कुसुमायुधस्य शरैः

थजस्र कदर्थ्यमान एष, मन्ये अभ्यर्चयद्भि: विनिवेद्यमानात् अपि कुसुमाद् बिभेति।

हिन्दी—(हे यौवनवती) तेरे कारण पुष्पायुध (काम) के बाणों द्वारा निरन्तर पीडित होता यह (अग्नि), लगता है कि अर्चना करने वालों द्वारा निवेदित किये गये (चढ़ाये) भी फूल से डरता है।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के कारण काम के कुसुमशरों से इतना पीडित है कि पूजन करते समय आराधक जो पूजा का फूल अग्नि पर चढाता है, वह उससे भी डरता है। फूल मात्र को कुसुमशर समझ कर अग्नि को भय लगने लगता है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति।

स्मरेन्धने वक्षसि तेन दत्ता सवर्तिका शैवलवल्लिचित्रा।
चकास्ति चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परेव ॥ ७६ ॥

जीवातु—स्मरेन्धन इति। तेनाग्निना स्मरेन्धने कामाग्निदाह्ये वक्षसि दत्ता तापशान्तये न्यस्ता शैवलवल्लिभिश्चित्रा कर्बुरा सवर्तिका नवदलम्। 'सवर्तिका नवदल बीजकोशो वराटक' इत्यमरः। चेतोभवपावकस्य कामाग्नेर्धूमाविला कीलपरम्परा ज्वालावलिरिव चकास्ति दीप्यते। 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ' इत्यमरः ॥ ७६ ॥

अन्वय—तेन स्मरेन्धने वक्षसि दत्ता शैवलवल्लिचित्रा सवर्तिका चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परा इव चकास्ति।

हिन्दी—उस (अग्नि) द्वारा काम के ईंधन (काम द्वारा दाह्य) स्ववक्ष पर शैवाल लता से चितकबरी (आश्चर्यदायक भी) नवकमलपत्रिका मनोभव (काम) के अग्नि की धुएँ से भरी ज्वालावलि जैसी शोभित होती है।

टिप्पणी—भाव यही है कि अग्नि के हृदय में निरन्तर काम-दाह होता रहता है। काम उसको जला रहा है, अतः अग्नि का वक्ष हुआ कामाग्नि में जलनेवाला इंधन, जलते वक्ष पर उपशम के लिए उसने शैवाल-वल्लरी से युक्त चितकबरी, विचित्र लगती नव कमल की पत्ती रखी। गीली पत्ती जलकर धुँधुआने लगी। ऐसी प्रतीति हुई कि यह पिंगलवर्णा, धूमाविला कमलावलि मन में प्रज्वलित कामाग्नि की धूमाविता ज्वालमाल है। विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ७६ ॥

पुत्री सुहृद्येन सरोरुहाणां यत्प्रेयसी चन्दनवासिता दिक् ।
धैर्यं विभुः सोऽपि तवैव हेतोः स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥ ७७ ॥

जीवातु—अथ यमस्य विरहावस्थां वर्णयति—पुत्रीति । येन सरोरुहाणां सुहृत्सूर्यः पुत्री पुत्रवान् एतेनाभिजन उक्तः । चन्दनैर्गन्धवद्द्रुमैर्वासिता सुरभिता दिक् दक्षिणा यत्प्रेयसी यस्य प्रियतमा एतेन भोगसम्पत्तिरुक्ता । स विभुर्वैवस्वतोऽपि तवैव हेतोस्त्वन्निमित्तादेव । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' इति षष्ठी । धैर्यं स्मरस्य प्रतापज्वलने प्रतापाग्नौ जुहाव । परवशो वर्तत इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—येन सरोरुहाणां सुहृत् पुत्री चन्दनवासिता दिक् यत्प्रेयसी स विभुः अपि तव एव हेतोः धैर्यं स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ।

हिन्दी—जिसके कारण कमलों का मित्र (सूर्य) पुत्रवान् है और चन्दन से सुवासित दिशा (दक्षिणादिक्) जिसकी प्रिया है, उस सामर्थ्यशाली (यम) ने भी तेरे (दमयन्ती के) ही कारण से धैर्य की काम के प्रतापाग्नि में आहुति दे डाली है।

टिप्पणी – ७०–७९ श्लोकों में यम की विरहदशा का विवरण कर उसका दूतत्व सम्पादन है। सब के प्राणों का स्वामी, सूर्यपुत्र यम भी दमयन्ती के निमित्त कामाग्नि में जल रहा है, न तो पिता सूर्य की अपार अलख सम्पदा उसका उपशम कर पाती है, न प्रिया दक्षिण दिशा की प्रचुर चन्दन-राशि। न कमलों की कमी है, न चन्दन लेप की, पर वियोगाग्नि की दाहकता इतनी प्रबल है कि यम की पीडा का पार नहीं। यम का धैर्य जैसे उस आग में जल गया है। कामपीडित यम में अब धीरज नहीं रह गया है कि वह दमयन्ती-विरह सह सके ॥ ७७ ॥

न दह्यमानैरपि मन्मथैधैर्हस्तैरुपास्ते मलयः प्रवालैः ।
कृच्छ्रेऽप्यसौ नोज्झति तस्य सेवां सदा यदाशामवलम्बते यः ॥ ७८ ॥

जीवातु—नेति । मलयो मलयाद्रिः मन्मथैधः कामाग्नीन्धनम् । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधः' इत्यमरः । तं यमं दह्यमानैस्तदङ्गसङ्गात्पच्यमानैरपि प्रवालैः पल्लवैरेव हस्तैरुपास्ते तस्य शीतोपचारमाचरतीति भावः । युक्तं चैतदित्याह—यो जनः सदा यस्याशां दिशम् अनुरागं चावलम्बते । असौ जनः कृच्छ्रे आपद्यपि तस्य सेवां नोज्झति न त्यजति । यो यदुपजीवी तस्य तत्सेवा विपत्स्वपि कर्तुमुचितेत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ७८ ॥

अन्वय—मलय मन्मथेंधन दह्यमाने, अपि प्रवालैं हस्तैः उपास्ते, य सदा यदाशाम् अवलम्बते, असौ कृच्छ्रे अपि तस्य सेवां न उज्झति।

हिन्दी—मलयाचल काम के ईंधन (काम से जलते) उस (यम) की जलते हुए भी प्रवाल (पल्लव)-करों से सेवा करता है। जो सर्वदा जिसकी आशा करता है (जिस आशा अर्थात् दक्षिणादिक् में आश्रित है), वह सङ्कट में भी उस (आश्रयदाता, भरोसे वाले) की सेवा नहीं छोड़ता।

टिप्पणी—यम प्रचण्ड कामाग्नि में जल रहा है। मलयाचल अपने पल्लव करों से उनके झुलसने की चिंता न करके भी यम की सुश्रूषा करता है, इसका लोकसम्मत कारण यह लगता है कि मलयाचल है दक्षिण में, उसी का स्वामी है यम। दक्षिण दिशा का आश्रित होने के कारण मलय का यह कर्तव्य है कि वह अपने आश्रयदाता की विपदा में काम आये। सो मलय बेचारा अपने हाथों को झुलसाता भी यम की प्रचण्ड कामाग्नि के उपशमन में लगा है। मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने रूपक और श्लेषाविद्ध अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है। आशा के दो अर्थ हैं—(१) भरोसा, (२) दक्षिणा दिक् ॥ ७८ ॥

स्मरस्य कीर्त्येव सितीकृतानि तद्दोः प्रतापैरिव तापितानि।
अङ्गानि धत्ते स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि ॥ ७९ ॥

जीवातु—स्मरस्येति। स यमो भवद्वियोगात्पाण्डूनि चण्डेन तीव्रेण ज्वरेण जर्जराणि अत एव क्रमात् स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि धवलीकृतानीव तस्य स्मरस्य दोः प्रतापैस्तापितानीव स्थितानीत्युभयत्राप्युत्प्रेक्षा। अङ्गानि धत्ते। अत्र यथासङ्ख्योत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ७९ ॥

अन्वय—स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि इव तद्दोः प्रतापैः तापितानि इव अङ्गानि धत्ते।

हिन्दी—वह (यम) आप (दमयन्ती) के वियोग से पांडुर, प्रचण्ड (काम) ज्वर से जर्जरीभूत, (अतएव) काम के यश से शुभ्र हुए जैसे, उस (काम) के भुज प्रताप से तप्त जैसे अंगों को धारण कर रहा है।

टिप्पणी—यम दमयन्ती के वियोग में अत्यन्त पीडित है। उसके अंग पांडुर पड़ गये हैं कामाग्नि में जल रहे हैं। कल्पना है कि कामज्वर में

उनके वियोग में पाण्डुर यम के अंग देख कर लगता है कि काम ने अपने भुज प्रताप से यम का पराभूत कर दिया है और उसके यश की श्वेतिमा हो जैसे यम के अंगों पर छा गयी है। हारा व्यक्ति भीतर ही भीतर अपमान से जलता रहता है और चिन्ता से उनके अंग पाण्डुर हो जाते हैं। यम के अंग स्मरकीर्ति से लिप्त हैं और भुज प्रताप से सन्तापित हैं—ये दो उत्प्रेक्षाएँ यथासंख्य हैं, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यथासंख्य और उत्प्रेक्षाद्वय का सङ्कर है। विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ७९ ॥

यस्तन्वि ! भर्ता घुसृणेन सायं दिशः समालम्भनकौतुकिन्याः ।
तदा स चेन प्रजिघाय तुभ्यं यदा गतो नैति निवृत्य पान्थः ॥८०॥

जीवातु—अथ वरुणस्य विरहं वर्णयति—य इत्यादि। हे तन्वि ! कृशाङ्गि ! यो देव सायं घुसृणेन कुङ्कुमेन समालम्भने अनुलेपने कौतुकिन्याः कुतूहलवत्या आतपारुण्यात् कुङ्कुमलिप्तवद्भासमानायाः इत्यर्थः । दिशः प्रतीच्या भर्ता प्रातः प्राच्या अपि तथा वास्तव्यावृत्त्यर्थं स्वय ग्रहणम्। स वरुण तदा तस्मिन् काले तुभ्यन्तेन प्रजिघाय प्रहितवान्। 'हे स्वडि' इति धुत्वम्। यदा यस्मिन् काले गतः प्रयातः नित्यं पन्थानं गच्छतीति पान्थो निवृत्य नैति नायाति अपुनरावृत्तिलिङ्गानुन विनाशवासो प्रहितवानित्युत्प्रेक्षा। 'नन्दन्ति न निवर्तन्ते चिराम्वात्ययोगता नरः' इति वचनात्। अत एवात्र कवे पान्थपदप्रयोगः 'पथो ण नित्यम्' इति नित्याध्वगमने पथिन् शब्दात् णप्रत्ययपान्थादेशयोर्विधानात्। अत एव 'नित्यग्रहणं प्रत्ययार्थं विशेषणम्' इति काशिकायाम्। तच्चित्तं त्वय्येव सानन्द विरहति न निवर्तत इति तात्पर्यम् ॥ ८० ॥

अन्वय—तन्वि, य सायं घुसृणेन समालम्भनकौतुकिन्याः दिशः भर्ता स तदा तुभ्यं चेन प्रजिघाय यदा गतः पान्थः निवृत्य न एति।

हिन्दी—हे कृशाङ्गि, जो सन्ध्याकाल में कुङ्कुम से अंगराग लगाने वाली दिशा (प्रतीची दिक्) का स्वामी है, उस (वरुण) ने उस समय तुम्हारे प्रति चित्त भेज दिया है, जिस समय गया पथिक लौटकर नहीं आता।

टिप्पणी—श्लोक सं ८०–८३ तक वरुण का दूतत्व सम्पादन किया जाता है। *इस श्लोक में बताया गया है कि वरुण उस पश्चिमदिशा का स्वामी है,*

जो पति सन्ध्या को (छिपने सूर्य की लाली से लाल हो) अपने शरीर पर कुंकुम का अंगराग-लेपन कर, शृंगार कर, अपने स्वामी के प्रति स्वानुराग प्रकट करती है, परन्तु ऐसा वरुण भी उस घड़ी अपना मन दमयन्ती को दे बैठा है, जिस घड़ी में परदेस गया पथिक लौट कर नहीं आता। चित्रा और स्वाति नक्षत्रों में गया पथिक लौटता नहीं, ऐसी मान्यता है। सो वरुण को देखकर ऐसी प्रतीति होती है कि उसने भी ऐसी ही घड़ी में दमयन्ती को मन दिया है कि वह गया मन लौट नहीं रहा, अर्थात् वरुण दमयन्ती के प्रति आसक्त हो, अपनी आसक्ति को हटा नहीं पाता। दमयन्ती को दिया गया वरुण का चित्त अब दमयन्ती पर पूर्ण अनुरक्त है, वहीं सानन्द विहार करता है, लौटता नहीं। विद्याधर के अनुसार ओज गुण ॥ ८७ ॥

तथा न तापाय पयोनिधीनामश्वामुखोत्थ क्षुधित शिखावान्।
निज पति सम्प्रति वारिपोऽपि यथा हृदिस्थ' स्मरतापदुःस्थ ॥८८॥

जीवातु—तथेति। तथा क्षुधित' बुभुक्षित। 'वसतिक्षुधो' इति निष्ठायामिडागम। अश्वामुखोत्थ शिखावान् वडवाग्नि पयोनिधीनां तापाय न भवति यथासौ स्मरदाहेन दु ख तिष्ठतीति दुःस्थोऽस्वस्थो निज पतिर्वरुण हृदि तिष्ठतीति हृदिस्थ स्मर्यमाण एव वारीणि पातीति वारिपो वारिरक्षकोऽपि सन् तापाय भवति तथा साक्षात्कुक्षिस्थोऽपि वडवाग्निर्न तापयतीत्यर्थ। ईदृक्तापासम्बन्धेऽपि,सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद ॥ ८८ ॥

अन्वय—यथा स्मरतापदुःस्थ वारिप अपि हृदिस्थ निज पति पयोनिधीनां तापाय तथा क्षुधित अश्वामुखोत्थ शिखावान् न।

हिन्दी—जैसा काम ताप से अस्वस्थ जलों का रक्षक (स्वामी) भी हृदयस्थित (मध्य में विराजमान, स्मरणीय) स्वीय स्वामी (वरुण) जलों के आगारों (समुद्रों) को सतप्त कर रहा है, वैसा भूखा वडवामुख से उत्थित शिखी (वडवानल) नहीं करता।

टिप्पणी—दमयन्ती के वियोग में वरुण का काम-सन्ताप इतना बढ़ गया है कि उसके सम्मुख वडवाग्नि भी कुछ नहीं। यद्यपि वरुण 'वारिप' अर्थात् जलों का स्वामी है, उसे तापोपशम के लिए जल की क्या कमी, तथापि ताप इतना है कि समुद्र—जलनिधि भी उसमे उतने उत्तप्त रहते हैं, जितने कि

मध्य में बसने वड़वानल में भी उत्पन्न नहीं हो पाते। वरुण के अस्वस्थ रहने से उसके रक्षित समुद्र भी म्लान हैं। स्वामी—रक्षक के अस्वास्थ्य से रक्षितों को व्यथा पहुँचती ही है। 'हृदिस्थ' और 'वारिप' वरुण और 'शिखावान्' दोनों के विशेषण हैं। 'हृदिस्थ' अर्थात् हृदय में निरवधि रहनेवाला स्वामी वरुण तथा 'हृदिस्थ' अर्थात् मध्य में रहता वड़वानल। वरुण 'वारि पातीति वारिप' है, अर्थात् जलस्वामी। वड़वानल 'वारि पिबतीति वारिप' है—जल का पान करनेवाला अनल। वरुण और वड़वानल दोनों में विशेषताएँ समान हैं—वारिप और हृदिस्थ दोनों हैं, तथापि वरुण 'कामतापतुल्य' होने से अधिक तापदायक है। वड़वाग्नि स्मरतापतुल्य नहीं है। इसी कारण वरुण वड़वाग्नि से अधिक तापदायक बन गया है। इतना बढ़ा है वरुण का सन्ताप कि समुद्र भी उसमें तप रहे हैं। वारिरक्षक होने भी वरुण उतना ताप दे रहा है, जितना वारि पीने वाला वड़वानल नहीं। रक्षक भक्षक से बढ़ गया है। इस प्रकार के ताप से असम्बद्ध रहने पर भी सम्बन्ध कथन के कारण मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार॥ ८१॥

> यत्तन्तुना त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति दुर्विनीता।
> ततो विपन्नेऽधिकमेव तापं तेन श्रिता शैत्यगुणा मृणाली॥ ८२॥

जीवातु—यदिति। तेन नलेन विना सन्तापशान्तये सेविता शैत्यमेव गुणो यस्याः सा शैत्यगुणा शीतस्पर्शवत्यपीत्यर्थः। तथापि दुर्विनीता प्रतिकूलचारिणी मृणाली बालमृणालम्। अल्पत्वविवक्षायां स्त्रीलिङ्गता 'स्त्री स्यात्काचिन्मृणाल्यादिर्विवक्षापचये यदि' इत्यमरः। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति ङीप्। यद्यस्मात्तव मृदुबाहू वल्ल्याविव तयोः स्मृतीनां स्रजं माला गुम्फति रचयति अजस्रं स्मारयतीत्यर्थः तत्तस्माद्बाहुस्मारकत्वादेतां प्रत्युत वैपरीत्येन। प्रत्युते तूक्तवैपरीत्ये इति गणव्याख्यानम्। अधिकं तापमेव दिशति वितरति तेनास्य उद्वेगकरत्वात्। अत्र मृणाल्या कविसम्मत-साम्यनाद्बाहुस्मारकत्वात्स्मरणालङ्कारः। तदुत्थापितेन तस्यास्तापशान्तिहेतोस्तदतिरिक्तापकारकत्वोक्त्या विषमालङ्कारभेद इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ८२॥

अन्वय—शीतगुणा तेन क्षिप्ता मृणाली यत् त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिस्रजं गुम्फति तत् प्रत्युत अधिकम् एव तापं विधत्ते (अतएव) दुर्विनीता।

हिन्दी—शीतलता जिसका गुण (नित्यधर्म) है, उस (वरुण) के द्वारा (तापोपशम के निमित्त) धारण की गयी बाल मृणाली, क्योंकि तेरी कोमल भुजलताओं की स्मरणमाला गूँथती है (सादृश्य के कारण भुजाओं का स्मरण दिलाती है) उस कारण, अपने गुण के विपरीत अधिक ही सन्ताप दिया करती है। सो यह मृणाली दुष्ट है।

टिप्पणी—कामोपशान्ति के निमित्त वरुण शीतगुणा मृणाली का प्रयोग करता है, परन्तु मृणाललता देखकर सदृशता के कारण उसे दमयन्ती की बालमृणाली समान बाहों का स्मरण हो जाता है और उसका सन्ताप शान्त होने के स्थान पर और बढ़ जाता है। इस प्रकार मृणाली का गुण दोष बन जाता है और वह गुणवती के स्थान पर सदोषा प्रमाणित होती है। तात्पर्य यह कि वरुण का कामोपताप अब शमनयोग्य भी नहीं रह गया है। ऐसा बढ़ गया है उसका कामज्वर। कविसमत सादृश्य के कारण मृणाली को बाहुवल्ली का स्मरण कराने वाली कहा गया, अतः स्मरणालंकार है। मृणाली ताप-शान्ति का हेतु है, किन्तु उससे ताप और बढ़ रहा है, सो विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो रही है। इस कथन के कारण विरुद्धकार्योत्पत्ति रूप विषमालंकार का भेद हुआ। इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार स्मरण और विषम का अङ्गाङ्गिभाव संकर है, विद्याधर ने भी छेकानुप्रास के साथ ही, स्मरण और विरोध का निर्देश किया है॥ ८२॥

न्यस्तं ततस्तेन मृणालदण्डखण्डं बभासे हृदि तापभाजि।
तच्चित्तमग्नैर्मदनस्य बाणैः कृतं शतच्छिद्रमिव क्षणेन॥ ८३॥

जीवातु—न्यस्तमिति। ततस्तदनन्तरमपि तेन वरुणेन तापभाजि हृदये न्यस्तं मृणालदण्डस्य बिसकाण्डस्य खण्डं शकलं तस्य वरुणस्य चित्ते मग्नैर्मदनस्य बाणैः क्षणेन शतं छिद्राणि यस्य तत्तथा कृतमिदं प्रतिकूलाचरण-रोषाच्छतधा प्रणीतमिव बभासे। उत्प्रेक्षा॥ ८३॥

अन्वय—ततः तेन तापभाजि हृदि न्यस्तं मृणालदण्डखण्डं तच्चित्तमग्नैः मदनस्य बाणैः क्षणेन शतच्छिद्रं कृतम् इव बभासे।

हिन्दी—इस तप (वरुण) के द्वारा संताप पाते (वरुण) हृदय पर रखा मृणाल-दण्ड का खंड उस (वरुण) के चित्त में घँसे काम के बाणों से उस क्षण पड़े हुए छिद्रों से युक्त जैसा शोभित हुआ।

टिप्पणी—काम के बाणों से वरुण का हृदय जर्जर हो रहा है। वरुण के सन्तप्त हृदय पर रखे मृणालखण्ड में लक्षित अनेक छिद्र ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कामबाणों के प्रविष्ट होने से हृदय में बने छिद्र। मृणालों ने उपशमन देने के स्थान पर और ताप देकर प्रतिकूल आचरण किया, फलस्वरूप उसमें सैकड़ों छिद्र कर दिये गये। उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

इति त्रिलोकीतिलकेषु तेषु मनोभुवो विक्रमकामचारः ।

अमोघमस्त्रं भवतीमवाप्य मदान्धतानर्गलचापलस्य ॥ ८४ ॥

जीवातु—इतीति। हे भैमि! भवतीमेवामोघमस्त्रमवाप्य मदान्धतया अनर्गलचापलस्य उच्छृङ्खलचेष्टितस्य मनोभुवः कामस्य त्रिलोकीतिलकेषु त्रिभुवनभूषणेषु तेष्विन्द्रादिषु विषये इतीत्थं विक्रमस्य कामचारः स्वाच्छन्द्यवृत्तिर्वर्तत इति शेषः ॥ ८४ ॥

अन्वयः—इति भवतीम् अमोघम् अस्त्रम् अवाप्य मदान्धतानर्गलचापलस्य मनोभुवः तेषु त्रिलोकीतिलकेषु कामचारः।

हिंदी—इस प्रकार आप (दमयन्ती) को अव्यर्थ अस्त्ररूप में प्राप्त करके अभिमान से अंधे होने के कारण उच्छृंखल चपलता धारण करते मनोज (काम) का उन (इन्द्रादि) तीनों लोकों के तिलक-स्वरूप देवों के प्रति पराक्रम का स्वेच्छाचार चल रहा है।

टिप्पणी—चारों दूतों के दूतकार्य-सम्पादन का समाहार करते हुए नल ने यह बताया कि दमयन्ती के रूप में कामदेव को अब ऐसा अमोघ अस्त्र मिल गया है कि अब वह बड़े बड़े त्रिलोकी के शृंगार इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण जैसे दिक्पालों की भी अवमानना कर रहा है। काम अब मदान्ध, उच्छृङ्खल, निमर्याद और स्वेच्छाचारी हो गया है। अब वह दुर्विजय हो गया है। तात्पर्य यह कि दमयन्ती का अपार सौन्दर्य जगत्-विमोहन है। नारायण के अनुसार काम दमयन्ती को अस्त्ररूप में पाकर मतवाले, मदान्ध गज के सदृश सबको ध्वस्त कर रहा है—'मदान्धतेत्यनेन कामस्य द्विरदत्वं सूचितम्।' विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार हैं ॥ ८४ ॥

मार्गेऽस्य धारेव सुधारसस्य स्वयंवरस्ते भविता भवेति ।
सन्तर्पयन्ती दमयन्ति ! तेषां श्रुतिः श्रुती नाकजुषामयासीत् ॥ ८५ ॥

जीवातु—सार इति । अथानन्तरमये हे दमयन्ति ! तव स्वयंवरः स्व परेऽह्नि भविता भविष्यतीति श्रुतिर्वार्ता । 'श्रुतिः श्रोत्रेऽप्याम्नाये वार्तायां श्रोत्रकर्मणि' इति विश्वः । सुधारसस्य सारः सारभूता धारेव सन्तर्पयन्ती नाकजुषामिन्द्रादीनां श्रुती श्रोत्रे अयासीत् प्राप । 'सारोऽस्ते'ति पाठे सारप्रभवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—अये दमयन्ति, तव स्वयंवरः श्वः भविता—इति श्रुतिः सुधारसस्य सारः धारा इव सन्तर्पयन्ती नाकजुषां श्रुती अयासीत् ।

हिन्दी—अये हे दमयन्ति, तुम्हारा स्वयंवर कल होने वाला है—यह समाचार पीयूषरस की सारभूत धारा के तुल्य भलीभाँति तृप्त करती स्वर्गवासियों के कानों में पहुँची है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का स्वयंवर शीघ्र होगा, यह समाचार जब से इन्द्रादि ने सुना है, बड़े प्रसन्न हैं,—इतने कि जितने पीयूषरसधारापान से सन्तृप्त होते । उन्हें लग रहा है कि अब उनके वियोग की घड़ियाँ समाप्त होंगी ॥ ८५ ॥

मम सपत्नीभवदुग्रतोऽरे स्वदारनामापयिशैर्मरुद्भिः ।
अनङ्गवीर्यानलतापदुःस्थैरयं प्रलम्भे हरिता मरुद्भिः ॥ ८६ ॥

जीवातु—ममेति । अयं स्वयंवरवार्ताश्रवणानन्तरमनङ्गस्य वीर्यानलेन प्रतापाग्निना सन्तापन्तेन दुःस्थैरस्वस्थैर्हरिता दिशा सम्बन्धिभिर्मरुद्भिरैरावतादिभिः स्वस्वामिभावसम्बन्धे षष्ठीसमासः । समानः पतिर्यस्याः सा सपत्नी । 'नित्यं सपत्न्यादिषु' इति ङीप् नकारश्च । तद्भावेन दुःखेन शोचन्तीं सहे स्वदाराणां नाशाय प्रयाणं गच्छन्तीति पथिकैः पान्थैर्मरुद्भिः मम वायुभिः सह 'मरुतौ पवनामरौ' इत्यमरः । प्रलम्भे प्रस्थित भावे क्तिः । दिव्यादिदिगिन्द्रादिकस्त्रैराणामिच्छायास्त्वदुपाह्वीधंसूत्राय निश्चितमित्यर्थः । अत्र पवनामरस्त्वनयोः कार्यकारणभावासद्भावस्याभिप्रायोक्तपुत्प्रेक्षादिना सहोक्त्यलङ्कारः । 'सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः । कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरिहोच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—अथ अनङ्गचमूनिलयात् स्व हरितां भर्तृभिः सपत्नीभवदुःखतीक्ष्णै: स्वदारनासापथिकैः मरुद्भिः सम प्रतस्थे ।

हिन्दी—तदनन्तर (स्वयंवर समाचार-श्रवणानन्तर) कामदेव के प्रताप-ध्वनिसनाद से अन्य दिशाओं के स्वामियों (इन्द्रादि दिक्पालों) ने सपत्नीहेतुक (सौत के कारण उत्पन्न) दुःख से तीक्ष्ण (अत्यन्त उष्ण) अपनी पत्नियों की नासिका के पथिक वायु (श्वास-अनिल) के साथ प्रस्थान किया ।

टिप्पणी—काम के वशीभूत, कामपीडित इन्द्रादि दिक्पाल दमयन्ती के स्वयंवर का समाचार सुनकर स्वयंवर में सम्मिलित होने चल पड़े । उनकी पत्नियों ने उनके इस कार्य को देखकर दुःखपूर्ण उच्छ्वास लिया, क्योंकि उन्हें लगा कि दमयन्ती के रूप में उनकी एक और सौत आ जायेगी । सौत के कारण स्त्रियों को पीड़ा होती ही है । दिक्पालों ने अपने दारमण्डल के कष्ट पर कोई ध्यान नहीं दिया और दुःख के कारण उष्ण उच्छ्वास छोड़ती अपनी पत्नियों की ओर ध्यान न देकर वे उसी प्रकार प्रस्थान कर गये, जैसे पथिक को यात्रा पर जाते देख अन्य पथिक भी चल उठता है । इधर देवदाराओं की नासिका के पथिक उच्छ्वास चले, उधर दिक्पाल देवगण चल पड़े । नारायण की टिप्पणी के अनुसार प्रस्थानसमय में देवदाराओं के नासिका सवद्ध उष्ण वायु अपशकुन सूचक हुए—'वामवायुरपि- साधमित्यनेनापशकुन सूचितम् ।' पवन और देव प्रस्थान में कार्यकारण भाव होने से मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्त्युत्थापित सहोक्ति अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और सहोक्ति । उपेन्द्रवज्रा छन्द ॥ ८६ ॥

> अपास्तपाथेयसुधोपयोगैस्त्वच्चुम्बिनैव स्वमनोरथेन ।
> क्षुधस्च निर्वापयता तृषश्च स्वादीयमाप्यागमित-सुमतेः ॥ ८७ ॥

जीवातु—अपास्तेति । पथि साधु पाथेयम् । 'पाथेयं सवलं स्मृतम्' इति यादवः । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' । तच्चासौ सुधा च तस्या उपयोगोऽपास्ता यैरिन्द्रादिभिः क्षुधः बुभुक्षाः तृषः तृष्णाः पिपासाः निर्वापयता शमयता स्वादीयसा अमृतादपि स्वादुतरेण त्वच्चुम्बिना भवद्गोचरेण स्वयं मनोरथे-

नैवाग्न्यत सुख ग्मितो नीत, समृतमप्युपभुज्य त्वद्ध्यानमात्रनन्द्या प्राप्ता इत्यर्थ ॥ ८७॥

अन्वय —अपास्तपाथेयसुधापयोगैः तैः क्षुध तृषं च निर्वादयता स्वादीयसा त्वच्चुम्बिना स्वमनोरथेन एव अध्वा सुख गमित ।

हिन्दी—पाथेय (मार्ग का भोजन सम्बल) रूप अमृत का उपयोग छोड़े वे (दिक्पाल) भूख और प्यास को भुलाकर अतिस्वादिष्ट तेरा (दमयन्ती) चुम्बन करते (दमयन्ती-विषयक) अभिलाष (मनोरथ-रूपरथ) से ही मार्ग सुखपूर्वक पार कर लिये ।

टिप्पणी—दमयन्ती को पाने के निमित्त इतने उत्कण्ठित हैं दिक्पाल कि उन्होंने न तो अपने प्रिय पाथेय अमृत का ही उपभोग किया, न मार्ग में उपयोगार्थ साथ लिया । उन्होंने न भूख की चिन्ता की और न प्यास की । वे मार्ग में यही सोचते-विचारते मन मोदक खाते चले आये कि कैसे उन्हें दमयन्ती प्राप्त होगी और जब प्राप्त होगी तब किस-किस प्रकार से उसके साथ आनन्द विहार करेंगे ? यही सोचते विचारते भाँति भाँति के अभिलाष करते देवगण बिना किसी पाथेय के ही सुखपूर्वक यात्रा पूरी कर आये । दमयन्ती के विषय में विचारते वे भूख-प्यास की चिन्ता से मुक्त हो गये, न कोई पाथेय साथ लिया, प्रिय, स्वादु अमृत भी छोड़ा, बस जैसे मनोरथ के शीघ्रगामी रथ पर ही चले आये । दमयन्ती की प्राप्ति के आगे उन्हें सब नगण्य लगा । विद्याधर के अनुसार 'अतिशयोक्ति अलकार' ॥ ८७ ॥

प्रिया मनोभूस्मरदावदाहे देवीस्त्वदर्थेन निमज्जयद्भिः।

सुरेषु सारैं क्रियतेऽधुना तैः पादार्पणानुग्रहभूरियं भूः ॥ ८८ ॥

जीवातु—प्रिया इति । त्वमेवार्थ प्रयोजन तेन निमित्तेन प्रिया दयिता देवी शच्यादिदारा मनोभुव कामस्य शरा एव दावो दावाग्निस्तस्य दाहे विरहानले निमज्जयद्भि सुरेषु सारैं श्रेष्ठैरिन्द्रादिभिरधुना इय भूरिदमदेश पादार्पणमेवानुग्रहस्तस्य भू स्थान क्रियते । कुण्डिनोपकण्ठ एव तिष्ठन्तीत्यर्थ ॥

अन्वय—त्वदर्थेन प्रिया देवी मनोभूशरदावदाहे निमज्जयद्भि सुरेषु सारैं तैः अधुना इय भू पादार्पणानुग्रहभू क्रियते ।

हिन्दी—तुम्हारे (दमयन्ती के) निमित्त प्रिय देवियों (शची आदि

पत्निया) को मनोभव (काम) के बाणानल के दाह में निमग्न करते देवों में सारभूत (श्रेष्ठ) वे (इन्द्रादि) इस समय इस धरती (कुण्डिनपुरी प्रदेश) को (स्व) चरण रखने का कृपापात्र बना रहे हैं।

टिप्पणी—दमयन्ती को पाने के इच्छुक इन्द्रादि अपनी-अपनी प्रिय पत्नियों को विरह पीडिता, काम-बाण-ग्रस्त बनाते इस समय कुण्डिननगरी के प्रदेश में स्थित हैं और स्वचरण निक्षेप की कृपा कर रहे हैं। दमयन्ती के लिए दिक्पाल यहाँ आ गये हैं और उनकी देवियाँ उनके विरह में दग्ध हो रही हैं। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

अलङ्कृतासन्नमहीविभागैरयं जनस्तैरमरैर्भवत्याम् ।
अवादिनो जङ्गमलेख्यलक्ष्मीं निक्षिप्य सन्देशमयाक्षराणि ॥ ८९ ॥

जीवातु—अलङ्कृतेति। अलङ्कृत आसन्नमहीविभागो भूप्रदेशो यैस्तैः समीप गतैस्तैरमरैरयं जनः स्वयमित्यर्थः। भवत्या विषये त्वां प्रतीत्यर्थः। सन्देशमयाक्षराणि सन्देशरूपाणि वाक्यानि निक्षिप्य अर्पयित्वा जङ्गमलेख्यस्य चलल्लेख्यस्य लक्ष्मीमवापित तेषामहं सन्देशहर इत्यर्थः ॥ ८९ ॥

अन्वय—अलङ्कृतासन्नमहीविभागैः तैः अमरैः भवत्यां सन्देशमयाक्षराणि निक्षिप्य अयं जनः जङ्गमलेख्यलक्ष्मीम् अवापित ।

हिन्दी—निकटस्थ धरती के विभाग (कुण्डिनपुर प्रदेश) को सुशोभित करते उन अमरों (इन्द्रादि) ने आप (दमयन्ती) में सबद्ध संदेश से पूर्ण अक्षर (संदेश-वाक्य) देकर इस जन (नल) को चैतन्य आलेख की शोभा को प्राप्त करा दिया है।

टिप्पणी—शिष्टभाषा में नल ने दमयन्ती को सूचित किया कि वे देवगण कुण्डिनपुरी के निकट उपस्थित हैं और नल को उन्होंने अपना सदेशवाहक बनाकर भेजा है। कोई लिखित संदेश भेजने की अपेक्षा उन्होंने मौखिक संदेश भेजना अधिक उपयुक्त समझा। नल क्या है, देवों की चैतन्य, जीवित, चलती-फिरती संदेशपत्रिका है। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥८९॥

एकैकमेते परिरभ्य पीनस्तनापपीडं त्वयि नन्दितान्ति ।
इव मूर्च्छयन्ति स्मरभिल्लभल्यैर्मुदे विशल्यौषधिवल्लिरेव ॥ ९० ॥

जीवातु—एकैकमिति। एते देवा एकैकं प्रत्येकमेवेत्यर्थः। वीप्साया

टिप्पणी—देवो की इच्छा है कि जैसे सूर्य के चारो ओर मडल बनता है, वैसे ही देवो को अपनी बाँहो के घेरे मे लेकर दमयन्ती उन्हे अक्पाली (अँक्वार—गले मे बाँह डालकर) देकर भेटें और इस प्रकार काम की लीलायित लहरियो से युक्त अतएव शीतल अपने अगो के स्पर्श से देवो का काम ताप दूर करे। अनग की लीला का ताप अपने अग सस्पर्श से मिटाय। देवगण सूर्य के सदृश कामताप से तप रहे है, 'लहरीतुषार अगो' का शीतल सग उस ताप को दूर कर सकेगा। सकाम अगस्पर्श से देवो का कामज्वर शान्ति को प्राप्त हो जायेगा। अत इसमे विलम्ब कष्टकारक बन रहा है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेकानुप्रास ॥ ९२ ॥

दयस्व नो घातय नैवमस्माननङ्गचाण्डालशरैरदृश्यैः।
भिन्ना वर तीक्ष्णकटाक्षवाणे प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रैः ॥ ९३ ॥

जीवातु—दयस्वेति। हे भैमि! नोऽस्मान् दयस्व अस्माननुकम्पस्वेत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशा कर्मणि' इति षष्ठी। अदृश्यैरलक्ष्यैरनङ्ग एव चाण्डालस्तस्य शरैरेवमस्मान् न घातय न मारय। किन्तु प्रेमैव रसोऽनुरागो जल च तस्मात्पवित्रै शुद्धैस्तव तीक्ष्णै कटाक्षैरेव बाणैर्भिन्ना विदारिता सन्त प्रेम म्रियामहै। अपूर्वादिणो लद्दुसमवहुवचनम्। वर मनाक् प्रियम्। जीवनासम्भवे यदि चाण्डालहस्तमरणात्तीर्थमरणमिति भाव ॥ ९३ ॥

अन्वय—नो दयस्व, अदृश्यै अनङ्गचाण्डालशरै एवम् अस्मान् न घातय, प्रेमरसात् पवित्रै तव तीक्ष्णकटाक्ष भिन्ना —वरम्।

हिन्दी—हम पर दया करो! अदृश्य अदेह (काम) रूप चाडाल के बाणो द्वारा इस प्रकार हमे न मारो। प्रेम के रस से पवित्र तेरे तीव्र कटाक्षो (बाणो) से मरें—यह अच्छा है।

टिप्पणी—नीच चाडाल के बाणो से मरना उचित नही माना जाता, उसकी अपेक्षा किसी पवित्र शुद्धाचारी व्यक्ति द्वारा वध अच्छा है। देवो की भी यही कामना है कि चाडालसम काम-बाणो से उनकी हत्या न हो, दमयन्ती के प्रेमरसस्नात (परिपूर्ण) कटाक्षो की बलि भले ही वे बन जायें। भाव यही है कि दमयन्ती क्या देवो को कामपीडा का आखेट बनवा रही है, उनका वरण कर अपने प्रेमभरे कटाक्षो से उन्हे कृतार्थ करे। और

जब मरना ही है तो चाण्डाल के हाथों क्यों मरा जाय, (प्रेमरसपूर्ण) तीर्थस्थल पर क्यों न प्राण दिये जायें ? विद्याधर के अनुसार रूपक और अनिशयोक्ति अलंकार हैं ॥ ९३ ॥

त्वदर्थिनः सन्तु परःसहस्राः प्राणास्तु नस्त्वच्चरणप्रसादः ।
विशङ्कसे कैतवनर्तितं चेदन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—त्वदिति । हे भैमि ! त्वामर्थयन्त इति त्वदर्थिनः त्वत्कामुकाः सहस्रात् परे परःसहस्राः सहस्राधिकसङ्ख्याकाः इत्यर्थः । 'परश्शताद्यास्ते येषां परा सङ्ख्या शतादिका' इत्यमरः । पञ्चमीति योगविभागात् समासः, राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य सहस्रशब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात् सुडागमः । नः तु, नोऽस्माकं प्राणास्तु त्वच्चरणयोः प्रसादोऽनुग्रहो वयं त्वदेकायत्तजीविता इत्यर्थः । अथ कैतवनर्तितं कपटनाटकं विशङ्कसे चेत् अन्तश्चरो हृदयान्तर्वर्ती पञ्चशरः प्रमाणम् काम एवात्र साक्षी । स हि महतो देवतेति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—त्वदर्थिनः परःसहस्राः सन्तु नः प्राणाः तु त्वच्चरणप्रसादः, कैतवनर्तितं चेत् विशङ्कसे, अन्तश्चरः पञ्चशरः प्रमाणम् ।

हिन्दी—तेरे चाहनेवाले सहस्राधिक हों, परन्तु हमारे (देवों के) प्राण तो तेरे (दमयन्ती के) चरणों की प्रसन्नता है । यदि तुम्हें आशंका है कि हमारा कपटनृत्य (झूठा कथन) है, तो इसका साक्षी अन्तस् में सञ्चरण करता पञ्चबाण (काम) है ।

टिप्पणी—देवों का कथन है कि, लोक में अनेक व्यक्ति दमयन्ती के प्रार्थी हो सकते हैं परन्तु उनकी अपेक्षा देवों का प्रणय अधिक ध्यान देने योग्य है, क्योंकि यदि देवों को दमयन्ती के चरणों का प्रसाद न मिला तो उनके प्राण निकल जायेंगे । मर्त्यलोकवासियों के प्राण भी दमयन्ती के बिना निकल सकते हैं, परन्तु इसमें विशेष हानि न होगी । मर्त्य तो मरणधर्मा है ही, उनके प्राण निकले, वे मर गये । इसमें नवीन क्या है ? आपत्ति की बात तब होगी, जब अमर देव निष्प्राण हों, इधर-उधर प्रस्तरमूर्तियों जैसे पड़े मिलें । अमर होने के कारण वे मरेंगे तो नहीं, निष्प्राण हो जायेंगे । यह निश्चय ही आपत्तिजनक होगा । देवों का यह कथन मिथ्या भी नहीं है,

इसका साक्षी है सबके हृदय में वास करता मनोज, महादेवता काम। काम अन्तवर्ती होने से सब जानता है। अतः दमयन्ती का अनुग्रह देवों को ही मिलना उचित है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९४ ॥

अस्माकमध्यासितमेतदन्तस्तावद्भवत्या हृदयं चिराय।
बहिस्त्वयालङ्क्रियतामिदानीमुरो मुरं विद्विषतः श्रियेव ॥९५॥

जीवातु—अस्माकमिति। भवत्या पूज्यया। भवतेर्डवतुप्रत्ययः। 'उगितश्च' इति ङीप्। त्वयास्माकमेतदन्तर्वर्ति हृदयं स्वान्तं चिराय चिरात्प्रभृति अध्यासितं तावदधिष्ठितमेव। अवधारणे तावच्छब्दः। निरन्तरचिन्तयेति भावः। किं त्विदानीं बहिर्बाह्यमपि हृदयं वक्षः 'हृदयं वक्षसि स्वान्तम्' इति विश्वः। मुरं मुरस्य विद्विषतो विष्णोरुरो हृदयं 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः। 'द्विषः शतुर्वा' इति विकल्पात् 'न लोके' इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। श्रियेवालङ्क्रियताम् ॥ ९५ ॥

अन्वय—भवत्या अस्माकम् एतत् हृदयम् तावत् चिराय अन्तः अध्यासितम्, इदानीम् मुरं विद्विषतः उरः श्रिया इव त्वया बहिः अलङ्क्रियताम्।

हिन्दी—आप (दमयन्ती) ने हमारा (देवों का) यह हृदय बहुत समय तक भीतर रखा, अब मुरारि (विष्णु) के हृदय को (अलङ्कृत करती) तेरे (दमयन्ती के) द्वारा बाहर सुशोभित किया जाय।

टिप्पणी—देवों का निवेदन है कि उनका हृदयस्थित प्रणय बहुत समय तक दमयन्ती द्वारा अप्रकट रहा, अब वह उसे प्रकट करे। इसके लिए उपमान है विष्णु के अन्तस् और प्रकट वक्ष पर आवास करती लक्ष्मी। जैसे विष्णु के हृदय में वास करती लक्ष्मी उनके वक्ष पर भी प्रकट है, वैसे ही देवों का प्रणय भी आभ्यन्तर और बाह्य—दोनों रूपों में रहना चाहिए, बहुत दिनों तक देवों का हृदय दमयन्ती के अन्तस् में रह आया—देवों ने अपना हृदय चिरकाल से दमयन्ती को दे रखा है,—अब दमयन्ती को उचित है कि वह उन्हें वरे और हृदयालिंगन दे, कृतकाम बनाये। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमालंकार ॥ ९५ ॥

दयोदयश्चेतसि चेत्तवाशु तदलङ्कुरु द्यां विफलो विलम्बः ।
भुवः स्वरादेशमथाचरामो भुमौ धृतिं यासि यदि स्वभूमौ ॥९६॥

जीवातु—दयेति । तव चेतसि दयोदयः दयाविर्भावः जन्येत् चेत् द्याम् स्वर्गमलङ्कुरु विलम्बो विफलः व्यर्थः । 'शुभस्य शीघ्रम्' इति न्यायादिति भावः । अथवा स्वभूमौ स्वजन्मस्थाने भुमौ भूलोके धृतिं सन्तोषं यासि यदि तर्हि भुवो भूमेः स्वरादेशं स्वर्गत्वसम्पादनम् वयं आचराम एव व्याख्यान द्वयम् । स्वाधिष्ठित एव स्वर्ग इति भावः ॥ ९६ ॥

अन्वयः—तव चेतसि दयोदयः चेत् अस्ति द्याम् अलङ्कुरु, विलम्बः विफलः, अथ स्वभूमौ भूमौ धृतिं यासि, भुवः स्वरादेशम् आचराम ।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) चित्त में यदि दया उदित हो तो स्वर्ग को सुशोभित कर, विलम्ब व्यर्थ है । और यदि अपनी जन्मभूमि भूमि पर प्रीति करती हो तो भू का ही स्वरादेश कर दें (धरती को ही स्वर्ग बना दें) ।

टिप्पणी—देव-प्रस्ताव है कि यदि दमयन्ती उनके साथ स्वर्गसुख का अनुभव करना चाहती है तो व्यर्थ विलम्ब न करके, उनके साथ तुरन्त स्वर्ग चले । जन्मभूमि सब को प्रिय होती है, सो दमयन्ती को भी प्रिय हो सकती है । यदि वह धरती पर ही रहने की इच्छुक हो तो वैसा प्रबन्ध भी हो सकेगा । देवगण यहीं स्वर्गसुख धरती पर ही उपस्थित करके उस धरती को ही स्वर्ग बना दें और यहीं चले आवें । 'भुवः स्वरादेशमथाचराम' में विशेष चमत्कार है । 'भू' का 'स्वरादेश' कर दें, अर्थात् 'भू' में जो 'व्यञ्जन भ्' है, उसके स्थान में 'स्वर' कर दें । व्यञ्जन स्वर के द्वारा व्यक्त होता उसके उच्चारण में प्राणवायु में अवरोध होता है । इस प्रकार उसमें निर्बाधता, स्वतन्त्रता नहीं है । इसके विपरीत 'स्वर' होता है स्वयं राजित—'स्वयं राजन्त इति स्वराः ।' (पातञ्जल महाभाष्य–१।२।२९) । स्वर के उच्चारण में प्राणवायु अबाधगति रहती है, अत वह निर्बाध, स्वतन्त्र है । भूलोक और स्वर्ग में भी यही अन्तर है व्यञ्जन-स्वर का । भू में बाधा है, स्थान स्थान पर बाधा । स्वर्लोक है स्वतन्त्र, बाधारहित । देव का यही प्रस्ताव है कि दमयन्ती की इच्छा होने पर भूलोक को भी स्वर्गतुल्य स्वच्छन्द क्रीडास्थली

बनाया जा सकता है। जहाँ दमयन्ती होगी, वहीं देव रहेंगे, वहीं स्वर्ग बन जायेगा। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और काव्यलिंग अलंकार ॥ ९६ ॥

धिनोति नास्मान् जलजेन पूजा त्वयान्वह तन्वि ! वितन्यमाना ।
तव प्रसादाय नले तु मौलौ पूजास्तु नस्त्वत्पदपङ्कजाभ्याम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—धिनोतीति । तन्वि ! त्वया अन्वहमनुदिन वीप्सायामव्ययीभावे 'अनश्च, नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति समासान्त, 'अव्ययीभावेरव' इति टिलोप । वितन्यमाना क्रियमाणा जलजेन जातावेकवचनम् । जलजैः पूजा अस्मान् न धिनोति न प्रीणयति । किन्तु तव प्रसादाय प्रसादार्थं नते नम्रे मौलौ मूर्ध्नि त्वत्पदपङ्कजाभ्या नोऽस्माकं पूजा अस्तु । प्रणयापराधेषु त्वत्पादताडनमिच्छामिति भाव ॥ ९७ ॥

अन्वय—तन्वि, त्वया अन्वह वितन्यमाना जलजेन पूजा अस्मान् न धिनोति, तव प्रसादाय तु नते मौलौ त्वत्पादपङ्कजाभ्या न. पूजा अस्तु ।

हिन्दी—हे कृशाङ्गि, तेरे (दमयन्ती के) द्वारा प्रतिदिन की जाती कमल द्वारा पूजा हमें प्रसन्न नहीं करती, तुझे प्रसन्न करने के लिए झुके सिरों मे तेरे चरण-कमलों द्वारा हमारी पूजा हो ।

टिप्पणी—देवो का प्रणय निवेदन है कि दमयन्ती ही देवपूज्या है, देव दमयन्तीपूज्य नहीं । देवों को यह नहीं रुचता कि अपने हाथ से कमल चढा कर दमयन्ती देवों को पूजती है । वे तो यह चाहते हैं कि सामान्य कमल निवेदन करने के स्थान मे अपने चरणों मे मनाने के लिए झुके देवों के सिर पर दमयन्ती अपने चरण कमल चढाये । देवप्रिया दमयन्ती उन्हें वरने के पश्चात् कभी प्रणयकोप करे, देव उसके चरणों मे अपने सिर रखकर उसे प्रसन्न करें—मनायें । यह सब प्रणय-विलास देवों का काम्य है । इसी मे उन्हें प्रसन्नता होगी, इस सामान्य पूजा से उन्हें तोष नहीं । देवों की इच्छा है कि प्रणय अपराधों मे दमयन्ती उनके सिर पर चरण प्रहार करे । कमलों से दमयन्ती के चरण अधिक अच्छे हैं । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९७ ॥

स्वर्णोविनीर्णैः करवाम वामनेत्रे ! भवत्या किमुपासनानु ।
अङ्ग ! त्वदङ्गानि निपीतपीतादर्शानि पाणि खलु याचते न ॥९८॥

जीवातु—स्वर्णैरिति। हे वामनेत्रे! चारुलोचने! भवत्या त्वया निजोपासनासु पूजासु विकीर्णैः समर्पितैः स्वर्णैः कनककमलादिभिः किं करवाम न किमपीत्यर्थः। वयं स्वर्गाधिवासिनो वयमिति भावः। किं तु अङ्गं याचामहे, निर्जितो दृष्टीकृतः पीतानां हरिद्राणां दर्पः कान्तिगर्वो यैस्तानि, 'निशाख्या काञ्चनी पीता हरिद्रा वरवर्णिनी' इत्यमरः। त्वदङ्गानि नोऽस्माकं पाणिर्याचते खलु। पीतदर्पाणीति पुस्तिकापाठे पीतानां स्वर्णादिद्रव्याणां दर्पनिर्व्यापेदम्। स्वर्गादुत्कृष्टवस्तुसम्पन्नत्वे अपकृष्टवस्तुस्वीकारो न युक्त इति भावः। साधुत्वादयमेव पाठः। अथवा स्वयमन्यकारिणा त्वदङ्गेषु स्वर्णादुत्कर्षं वक्तव्ये हरिद्राणामपकर्षोक्तिरनौचित्यादिति ॥ ९८ ॥

अन्वय—वामनेत्रे, भवत्या उपासनासु विकीर्णैः स्वर्णैः किं करवाम? अङ्ग, नः पाणिः निर्जितपीतादर्पाणि त्वदङ्गानि खलु याचते।

हिन्दी—हे बाँके नयनोंवाली, आपके द्वारा पूजाओं में समर्पित स्वर्ण (कनकादि) का हम क्या करें? (वह सब हमारे उपयोग का नहीं)। किन्तु, हमारा हाथ हल्दी का कांतिदर्प (अथवा 'पीत' पाठांतर में—पीले सुवर्णादि का गर्व) म्लान करनेवाले (अभिमान मिटानेवाले) तुम्हारे अंगों की निश्चय याचना करता है।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के संदर्भ में ही नल ने दमयन्ती से निवेदन किया कि देवगण दमयन्ती द्वारा पूजा उपासनाओं में अर्पित किये जाते स्वर्णादि द्रव्य की कामना नहीं करते हैं। उन्हें स्वर्णादि की क्या आवश्यकता है? वे तो स्वर्णमय सुमेरु के स्वामी ही हैं। उन्हें वर्ण और आभा की दृष्टि से स्वर्ण की अपेक्षा कमनीय दमयन्ती के अंगों के स्पर्श की कामना है। देव स्वर्ण नहीं, अपितु उत्कृष्ट दमयन्ती के अंग चाहते हैं। देवों का वरण कर दमयन्ती उनकी इच्छा पूर्ण करे। मल्लिनाथ ने उत्तरार्द्ध का पाठ 'पीतादर्पाणि' की अपेक्षा 'पीतदर्पाणि' ही उचित माना है। नारायण ने भी यही स्वीकारा है। 'पीता' अर्थात् हल्दी का रंग ही पीला है, पर वह कोई उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है, अतः दमयन्ती के अंगों की तुलना में उसकी देवों द्वारा अग्राह्यता कोई उल्लेख्य बात नहीं है। 'पीत' अर्थात् पीला स्वर्ण दमक और चमक—दोनों की दृष्टि से मूल्यवान् है। दमयन्ती के अंग उसका भी कांति दर्प मिटाने वाले हैं। वे स्वर्ण

से भी उत्कृष्ट हैं। स्वर्ण का त्याग करके देवता उससे उत्कृष्ट दमयन्ती-अंगो के कामी है—यही भाव यहाँ अपेक्षित है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अतिशयोक्ति ॥ ९८ ॥

वयं कलादा इव दुर्विदग्धं त्वद्गौरिमस्पर्धि दहेम हेम।
प्रसूननाराचशरासनेन सहैकवंशप्रभवभ्रु ! बभ्रु ॥ ९९ ॥

जीवातु—वयमिति। प्रसूननाराचशरासनेन कामचापेन सह एकवंशप्रभवे एककारणोत्पन्ने अत्यन्ततत्सदृशे इति यावत्। भ्रुवौ तस्याः स तद्भ्रूरित्यूङन्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः। अन्यथा अनूङन्तस्य भ्रूशब्दस्योवङ्स्थानस्यानदीत्वात् सम्बुद्धावम्बार्थस्येत्यादिना नदीह्रस्वो न स्यात्। ननु ऊङन्त इत्युक्त क्वचमूकारादिति चेत, सत्यम्, अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामित्यत्र 'अलाबूः कर्कन्धूः' इति भाष्यकारेणोदाहरणादूकारादप्यूङस्त्येवेति ज्ञायते। अत एव वामन—'ऊकारादप्यूङप्रवृत्ति' रिति। तदेतत् सम्यग्विवेचितमस्माभि कुमारसम्भवसञ्जीविन्या, 'विमानना सुभ्रु ! कुत पितुर्गृहे' इत्यत्र। तस्याः सम्बुद्धि एकवंशप्रभवभ्रु ! वयं कला स्वर्णखण्डान् द्यन्ति खण्डयन्तीति कलादा स्वर्णकारा इव। 'कलादा रुक्मकारका' इत्यमर। तव गौरिम्णा सह स्पर्धत इति तत्स्पर्धि अत एव प्रबलविरोधितया दुर्विदग्धमविदग्ध बुद्धिशून्यं च बभ्रु पिङ्गलम्। 'बभ्रु स्यात् पिङ्गले त्रिषु' इत्यमर। हेम सुवर्णं दहेम। त्वदङ्गस्पर्धापराधादविशुद्धेश्चास्माकं दाह्यस्वर्णसमर्पणात् सर्वानवद्याङ्गसमर्पणमेव सन्तर्पणमिति भाव ॥९९॥

अन्वय—प्रसूननाराचशरासनेन सह एकवंशप्रभवभ्रु, वयं कलादा इव त्वद्गौरिमस्पर्धि दुर्विदग्ध बभ्रु हेम दहेम।

हिन्दी—हे कुसुमबाण (काम) के धनुष् के साथ एक वंश (बाँस, कुल) मे उत्पन्न भौंहों वाली, (कामधनुषसदृश भौंहा वाली) हम (देवगण) स्वर्णखण्डों को तोड़ने वाले (अथवा 'कलाम् स्वर्णखण्डम् अत्ति खादति गृह्णातीत्यर्थं स। कलाद ते' स्वर्णखण्ड को मार लेने वाले) स्वर्णकारों के सदृश तुम्हारी (दमयन्ती की) गौरिमा (गोरेपन) मे स्पर्धा करनेवाले (अतएव) मूर्ख, पीले स्वर्ण को आग मे फूकते हैं।

टिप्पणी—भाव यह कि देवो को स्वर्ण की कोई आवश्यकता नहीं, व तो उसे जला डालते हैं अर्थात् निरर्थक वस्तु की भाँति फेंक देते हैं। उन

तो आवश्यकता है उससे कमनीयतर दमयन्ती देह की। इसी को भंगिमा-विशेष से व्यक्त किया गया। स्वर्णकार जैसे आग में (आभूषण बनाने के लिए) सोने को आग में डालते हैं, वैसे ही देवगण भी स्वर्ण को आग में झोंक देते हैं। व स्वर्ण को उसकी धृष्टता और मूढ़ता का यह दण्ड देते हैं कि क्यों वह दमयन्ती के अंगों से स्पर्धा करने की धृष्टता करता है? विद्याधर के अनुसार उपमा और छेकानुप्रास ॥ ९९ ॥

सुधासरःसु त्वदनङ्गतापः शान्तो न नः किं पुनरप्सरस्सु।
निर्वाति तु त्वन्मधुराक्षरेण सूनाशुगेषोर्मधुशीकरेण ॥ १०० ॥

जीवातु—सुधेति। हे दैमि! सुधासरस्सु अमृतसरसीषु नोऽस्माकं त्वदनङ्गतापो न शान्तः अप्सरस्सु उर्वश्यादिविषयासु वा किं पुनरित्यर्थः? किन्तु सूनाशुगेषोः कामबाणस्य मधुशीकरेण मकरन्दबिन्दुना तुल्येनेत्यर्थः। तव मधुराक्षरेण मनोज्ञाक्षरवाक्येन मदीयो सूनलिङ्गेव निर्वाति शाम्यति। यद्विरहोत्थस्तापः स तदङ्गसङ्गमोपायैः नोपायान्तरैः शाम्य इत्यर्थः ॥ १०० ॥

अन्वय—नः त्वदनङ्गतापः सुधासरस्सु न शान्तः अप्सरस्सु किं पुनः? सूनाशुगेषोः मधुशीकरेण त्वन्मधुराक्षरेण तु निर्वाति।

हिन्दी—हमारा तेरे (दमयन्ती) अनङ्ग का ताप (दमयन्ती के वियोग के कारण उत्पन्न कामसन्ताप अथवा दमयन्ती के 'अनङ्ग' अर्थात् अङ्ग प्राप्त न होने के कारण उत्पन्न ताप) अमृत-सरोवरों में भी शान्त नहीं होता, अप्सराओं (रम्भादि देवाङ्गनाओं के मध्य वास अथवा 'अपाम् सरःसु' अर्थात् सामान्य जलाशयों) में क्या शान्त हो? कुसुमबाण (काम) के पुष्प के मधु मकरन्द बिन्दु के तुल्य तेरे (दमयन्ती के) मधुर अक्षर (प्रणयवचन) से तो शान्त हो जाता है।

टिप्पणी—दमयन्ती के अङ्गों की प्राप्ति न होने से देव० को ऐसा काम-ताप सता रहा है कि वह सुधासरों में डूब जाने से भी शान्त नहीं होता, सामान्य जलाशयों और अप्सराओं का सान्निध्य तो उसे शान्त कर ही नहीं सकता, परन्तु दमयन्ती एक प्रेमभरा, मधुराक्षर युक्त उच्चार दे तो उसका सम्पूर्ण ताप शान्त हो जाता है। जो इतने उपायों से नहीं मिटता, वह काम-

सताप एक वचन मात्र से मिट जाता है। कितना आश्चर्य है! भाव यही है, देवों का वरण कर ले दमयन्ती, विलम्ब न करे। विरहजन्य संताप संयोग से ही शान्त होगा। कार्य कारण में विरोध होने से विद्याधर के अनुसार विषम अलङ्कार ॥ १०० ॥

खण्ड किमुत्वद्‌गिर एव खण्ड- कि शर्करातत्पथशर्करैव।
कृशाङ्गि ! तद्‌भङ्गिरसोत्थकच्छतृणन्नु दिक्षु प्रथित तदिक्षु ॥१०१॥

जीवातु—खण्ड इति। ये कृशाङ्गि ! खण्ड खण्डशर्करात्वद्गिर एव त्वद्वच एव खण्ड शब्द किम्? 'स्यात्खण्ड शकले चेक्षुविकारमणिदोषयो' इति विश्व। 'तया शर्करा सिताख्यशर्करा तस्या गिर पन्थास्तत्पथ तस्मिन् मार्गे शर्करा शिलाशकलप्रचुरमृदेव किम्? शर्करा खण्डविकृतावुपलकर्पराशयो' इत्युभयत्रापि विश्व। दिक्षु प्रथित प्रख्यातमिक्षुरित्याख्य तद् तृण तव गिर त्वद्गिर भङ्गी भङ्गवान् तरङ्गितो रस शृङ्गारो रसस्क च तदुत्थ कच्छे अनूपे तृण नु? उत्थेति पाठे रसोत्सो रसप्रवाह तस्य कच्छतृण किमित्यर्थ। 'जलप्रायमनूप स्यात् पुंसि कच्छस्तथाविध' इत्यमर। सर्वथान्यथा कथ खण्डादीनामीदृङ्माधुर्यमिति भाव। त्रिवादयस्तूत्प्रेक्षायामभोत्प्रेक्षात्रयस्य सस्पृष्टवासजातीयसमृष्ट। अत्र द्रव्ये वैद्यकिकार— मत्स्यण्डिका खण्डसिता क्रमेण गुणवत्तमा। यथा यथा हि नैर्मल्य मधुरत्व तथा तथा॥ शीतत्वाभिमंल्त्वाच्च तथा सिततमत्रमात्। वालुकेव भृश सूक्ष्मा सुस्निग्धा मितपिंगला॥ मत्स्याण्डाकृति सादृश्ययोगान्मत्स्यण्डिका स्मृता। स्फटिकोपलखण्डाभ खण्डस्तच्छर्करा समा॥ शर्करा निर्मला सैव सिता तु सितशर्करा निर्मलैव सिता सा तु राजराज इतीरिता'॥ इति ॥ १०१ ॥

अन्वय—कृशाङ्गि, त्वद्‌गिर खण्ड एव खण्ड किमु, तत्पथशर्करा एव शर्करा किम्, तद्‌भङ्गिरसोत्थकच्छतृण दिक्षु इक्षु प्रथित नु?

हिन्दी—हे तन्वंगि, तुम्हारी (दमयन्ती की) वाणी का लेश ही क्या खाँड है? उस (दमयन्ती की वाणी) के मार्ग की कङ्कडी ही क्या शक्कर (चीनी) है? उस (वाणी) की भङ्गिमा (उक्तिवैचित्र्य) के रस से उत्पन्न, कच्छ (तट) का तिनका ही क्या चारों दिशाओं में गन्ने के नाम से नहीं प्रसिद्ध है? (निश्चयत ऐसा ही है)।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती की वाणी गन्ने के रस से भी मधुर है। वाणी की मधिमा अर्थात् उक्तिवैचित्र्य का रस शृंगारादि ही भंग अर्थात् तरंग-मय (भङ्गः अस्यास्तीति भङ्गी) रस अर्थात् जल है, उसी से उपजा ईख का मूल अर्थात् रसपूर्णवचन खंड संसार में इक्षुखण्ड (गन्ना) रूप में प्रसिद्ध है। दमयन्ती के वचनखण्ड खांड, शक्कर और गन्ने से भी मधुर हैं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अनुप्रास। मल्लिनाथ ने तीन उत्प्रेक्षाओं के कारण यहाँ उत्प्रेक्षाओं की सजातीय संसृष्टि का निर्देश किया है ॥ १०१ ॥

ददाम किं ते सुधयाधरेण त्वदास्य एव स्वयमास्यते यतः।
विधुं विजित्य स्वयमेव भावि त्वदाननं तन्मखभागभोजि ॥ १०२ ॥

जीवातु—किञ्च नेष्टदानेन त्वदाराधने शक्ता वयं किन्तु स्वत्कर्मैवकारणम् इत्याशयेनाह—ददामेति। ते तुभ्यं किं ददाम किं वितराम दातव्यं किमपि नास्तीत्यर्थः। अमृतमस्तीति चेत् तदेवास्तीत्याह। कुत यतो यस्मात् कारणात् सुधया अधरेणाधरस्थेन त्वदास्य एव स्वयं साक्षादास्यते स्थीयते भावे लट्। यज्ञभागोऽस्तीति चेत् सापि ते अवन्ध्य इत्याह—त्वदाननं कर्तृ विधुं चन्द्र स्वयमेव परानपेक्षं विजित्य तस्य विजेयत्वे यागे भागधरः भोक्तृ शील्मस्येति तद्भोजि भावि भविष्यत् तत्स्थानाभिषेचनात् धर्मलाभ इति भावः ॥१०२॥

अन्वय—ते किं ददाम, हि सुधया अधरेण त्वदास्ये स्वयम् एव आस्यते, त्वदाननं विधुं विजित्य स्वयम् एव तन्मखभागभोजि भावि ?

हिन्दी—तुम (दमयन्ती) को (देव) क्या दें, क्योंकि सुधा (अमृत) तो अधर (अधरामृत) के साथ स्वयमेव तेरे (दमयन्ती के) मुख में स्थित है, तेरा मुख चन्द्र को जीत कर स्वयं ही उस (चन्द्र) के यज्ञ-भाग का भोक्ता हो जायेगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती समस्त भौतिक ऐश्वर्य से सम्पन्न है। धन धान्य, वस्त्र, महल, दास, दासी-सब है उसके पास। संभावना यहीं थी कि देवगण दो वस्तुएँ और दमयन्ती को दे सकते थे, क्यों कि वे मर्त्यलोक के प्राणी को उपलब्ध नहीं होतीं। एक तो अमृत और दूसरा यज्ञों में यजमान होताओं द्वारा अर्पित यज्ञ भाग। पर दमयन्ती पर ये दोनों भी हैं। अमृत उसके अधर में वास करता है और चन्द्रमा को भी पराजित करनेवाला दमयन्ती का

मुख तो जब चाहे चन्द्र को पराजित हुआ भोग ले सकता है। भाव यह है कि दमयन्ती का अधररस अमृत की अपेक्षा श्रेष्ठ है और मुख चन्द्र की अपेक्षा। इस चातुर्यपूर्ण उक्ति से देवों का शिष्टाचार भी प्रतीत होता है अर्थात् उनका विनय, परन्तु यह भी संकेत हो जाता है कि देवों के पास स्वर्ग में भी दमयन्ती जिसकी इच्छा कर सके, ऐसा कुछ है नहीं। उपेन्द्रवज्रा वृत्त और विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपकातिशयोक्ति अलंकार ॥ १०२ ॥

प्रिये ! वृणीष्वामरभावमस्मदिति त्रपोदञ्चि वचो न किन्नः।
त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य स्वयं वयं येन जिजीविषामः ॥ १०३ ॥

जीवातु—स्वदायत्तमेवेत्याह–प्रिय इति हे प्रिये ! दमयन्ति ! अस्मदस्मत्त अमरभावममरत्वमविनाशित्वं च वृणीष्वेत्येव रूपं नोऽस्माकं वचः त्रपामुदञ्च-तीति त्रपोदञ्चि लज्जावहं न भवति किम् ? भवत्येवेत्यर्थः कुतः, येन कारणेन पादादेव पद्म ते एव शरणं प्रविश्य रक्षकं प्राप्य वयं स्वयमनामय जिजीविषामो जीवितुमिच्छामः। स्वयं क्षुधितस्यार्थिनस्तुदातुः क्षुद्भैरव्यप्रतिज्ञावत् परि-हासास्पदमेवेति भावः ॥ १०३ ॥

अन्वय —प्रिये, अस्मत् अमरभावं वृणीष्व, येन त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य वयं स्वयं जिजीविषाम —इति नः वचः किं त्रपोदञ्चि न ?

हिन्दी—हे प्रिये, हमसे अमरता ले लो (हमारा अमरभाव वर लो), जिससे तेरे (दमयन्ती के) चरणकमलों में शरण पाकर हम स्वयं जीना चाहते हैं-ऐसे हमारे वचन क्या लज्जावह न होंगे ? (होंगे ही)।

टिप्पणी—देव पूर्वश्लोक के अनुसार दमयन्ती को और कुछ तो दे नहीं सकते, एक अमरता और रह जाती है। पर चूंकि दमयन्ती में उनके प्राण अटके हैं, उसे जिला पाये वे अमर भी मृतप्राय हो रहे हैं, उसे वे अमरता देने का प्रस्ताव करें, 'अमरता ले लो हमसे'—ऐसा कहें, यह तो लज्जास्पद ही होगा। सो ऐसा करने में भी देवों को संकोच हो रहा है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ १०३ ॥

अस्मात्कमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसोऽपि नासौ।
प्रसादं तस्मादधिकं निजन्तु प्रयच्छ पातु रदनच्छदन्तं ॥ १०४ ॥

जीवातु—न चामृतेनैविना व कुतो मरणप्रसक्तिरिति वाच्यमित्याह—अस्माकमिति। हे दमयन्ति! अस्मान्मदनादेवापमृत्योः सकाशादस्माकं त्राणाय रक्षणाय असौ पीयूषरसोऽपि नालम्, किं तु तस्मात् पीयूषरसादधिकं निजं त्वदीयं रदनच्छदमोष्ठं पातुं नोऽस्मभ्यं प्रयच्छ देहि प्रसीद प्रसन्ना भव ॥१०४॥

अन्वय—अस्मात् मदनापमृत्योः अस्माकं त्राणाय असौ पीयूषरसः अपि न, तस्मात् तु प्रसीद, नः पातुम् अधिकं निजं रदनच्छदं प्रयच्छ।

हिन्दी—इस काम द्वारा प्राप्त होती अपमृत्यु से हमें बचाने में यह अमृत रस भी (समर्थ) नहीं है, इससे (हे दमयन्ति,) प्रसन्न हो, हमें बचाने को (अमृत से) अधिक अपना अधरोष्ठ दे।

टिप्पणी—अमृत मृत्यु से बचाता है, किन्तु कामरूप निर्मम देव ही देवों को अपमरण दे रहा है, तब अमृत से क्या होगा? देव वैसी सामान्य मृत्यु से ग्रस्त तो हो नहीं सकते, अपमरण को प्राप्त हो रहे हैं। इस अपमृत्यु से अमृत नहीं, उससे भी अधिक प्रभावशाली दमयन्ती का अधरामृत बचा सकता है। देव दमयन्ती से उसी की याचना कर रहे हैं। सामान्य औषध से काम न चलने पर विशेष औषध ही अपेक्षित होती है—रसायन। भाव यही है कि दमयन्ती देव-वरण करले, जिससे उनकी दु:सह कामपीडा का उपशम हो सके। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार। 'रदनच्छदं पातुं नः प्रयच्छ' अन्वय भी किया जाता है, अर्थात् अधरोष्ठपानार्थं हम (देवों) को दो।'

'निर्णयसागर प्रेस, बम्बई' से महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त शास्त्री के सम्पादन में प्रकाशित 'नै० च०' में पचानवें श्लोक की पद-टिप्पणी में निम्नांकित श्लोक भी इस टिप्पणी के साथ दिया गया है कि कहीं-कहीं यह भी प्राप्त होता है—'क्वचिन्मूलेऽस्मात् प्राक् पठित उपलभ्यते'—

अस्माकमस्मान्मदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरसायनानि।
सुधारसादप्यधिकं प्रयच्छ प्रसीद वैदर्भि निजाधरं नः॥

यह श्लोक इसी (१०४ वें) श्लोक का पाठांतर प्रतीत होता है। अर्थात् हे विदर्भकुमारी, मदन द्वारा होती अपमृत्यु से हमें त्राण दिलाने के लिए पीयूष रसायन, अमृत से भी अधिक उपयोगी अपना अधर हमें दो, प्रसन्न हो जाओ।

नारायण ने भी पूर्वार्द्ध का पाठान्तर यों माना है—'नास्माकमस्मान्मदनागमृत्यो-स्त्राणाय पीयूषरसायनानि।' अर्थात् हमें मदनागमरण से त्राण दिलाने में अमृतरस समर्थ नहीं है— ॥ १०४ ॥

स्पृष्टश्चापेन रोपैरपि सह मकरेणात्मभूः केतुनाऽभू-
　　द्दत्ता नस्त्वत्प्रसादादथ मनसिजता मानसो नन्दनः सन्।
भ्रूभ्यां ते तन्वि! धन्वी भवतु तव सितेऽक्ष्णोश्च मल्लः स्मितेऽस्ता-
　　दस्तु त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाधीनमीनध्वजाङ्कः ॥ १०५ ॥

जीवातु—स्पृष्ट इति। हे तन्वि! दमयन्ति! आत्मना स्वयमेव भवती स्यात्मभूः काम एवं स्वकीयेन चापेन रोपैर्बाणैः, 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः मकरेणैव केतुना च सह स्पृष्टो दग्धोऽभूत्। स आत्मभूरिदानीं तव प्रसादाद्देवो नोऽस्माकं तव च सम्भूतेऽत्वयं। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' इति युष्मदस्मदोरेकशेषे परशेषः। मानसो मनः सम्बन्धी नन्दनः पुत्र आनन्दयिता च सन्। 'नन्दनो हर्षके सुते' इति विश्वः। मनसि जातो मनसिजस्तस्य भावस्तत्ता तां 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक्, धत्तां दधातु 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्'। स्पृष्ट दग्ध आत्मभूर्मद्वयस्तु मनसोऽस्मात्स्त्वादित्यर्थः। 'आत्मभूर्मदने ब्रह्मण्यमात्यधृतिबुद्धिषु' इति विश्वः। स्वस्यास्मासु च कामस्तुल्यवृत्तिरस्त्विति भावः। किञ्च ते तव भ्रूभ्यां धन्वी चापवान् भवतु। धन्वन्शब्दाद्व्रीह्यादिपाठादिनिः। तव सितनिर्मले स्मितेऽक्ष्णोश्च मल्लः यस्य स जित्वरेषु स्नातकत्वात् अस्तेर्लोट्, तेस्तातङादेशः। तव नेत्रे एव चञ्चत्तराः वनितृकल्पो शफरी मत्स्यौ ताभ्यामधीनस्तल्लभ्यो मीनरूपो ध्वज एवाङ्को लाञ्छनं यस्य सोऽस्तु त्वन्नेत्राभ्यां मीनध्वजवानस्त्वित्यर्थः। अत्र यथायोग्य सङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम् ॥ १०५ ॥

अन्वय—चापेन रोपैः मकरेण केतुना च सह आत्मभूः स्पृष्टः अभूत्, अथ त्वत्प्रसादात् नः मानसः नन्दनः सन् मनसिजतां धत्ताम्, तन्वि, ते भ्रूभ्यां धन्वी भवतु, तव सिते स्मिते क्षेत्रमल्लः स्तात्, त्वन्नेत्रचञ्चत्तरशफरयुगाधीन-मीनध्वजाङ्कः अस्तु।

हिन्दी—धनुष, बाण और मकरध्वज के साथ मनसिज (काम) जल गया, अब तेरे (दमयन्ती के) प्रसाद से हम (देवों) का मानस-नन्दन

(मन को आनन्दित करने वाला, कामतुल्य) होता हुआ (वह) (मनसि जात उत्पन्न भाव नाम्) मन में उत्पन्न होने की सार्थकता (नाम-रूप) को धारण करे। हे सुकुमारि, (वह) तेरी (दमयन्ती की) भौंहों से धनुर्धारी हो, तेरी मन्द मुस्कानों से उन्मादक बाणवान् हो और तेरे नेत्र रूप अतिशय चञ्चल (सुशोभित) मीनध्वज से मीनध्वजविभूषणों बने।

टिप्पणी—जो एक बार नष्ट हो पुनर्जीवन प्राप्त करता है, वह द्विगुणशक्ति-सम्पन्न हो जाता है—यह सामान्य नियम है। शिव की नेत्र-ज्वाला में एक बार वह 'स्मरदग्ध' काम धनुष्-बाण और मकरध्वज सहित भस्म हो गया और अब अनङ्ग है और उसे 'मनसिज' नाम मिला हुआ है। वस्तुतः यह नाम कथन मात्र है, अभी यदि देवों पर दमयन्ती की कृपा हो सके और वह उन्हें वर सके तो सचमुच काम का देव मानस में पुनर्जन्म हो जायेगा (देव दमयन्ती के साथ स्वच्छन्द काम-विहार करेंगे) और 'मनसि जात' होकर उसका 'मनसिज' नाम सार्थक हो जायेगा। वह पहिले की अपेक्षा नये जन्म में अधिक शक्तिशाली होगा, क्योंकि उसे अधिक प्रभावी नये उपकरण प्राप्त होंगे। दमयन्ती का भ्रूयुगल उसका धनु बनेगा और चाँदनी को भी लजाती शुभ्र मन्द मुसकान उसके अमोघ अग्नि बाण। मछलियों से भी अधिक चञ्चल, शोभनतम दमयन्ती के दोनों नयन उसकी मीन-ध्वजा बनेगी। इस प्रकार वह देव मानस-नयन–देवों का आनन्ददायक काम द्विगुणित शक्तिशाली होकर पुनर्जीवित होगा। दमयन्ती को देव वरण से यह पुण्य और मिलेगा कि एक मृत को पुनर्जीवन मिल जायेगा। इस श्लोक में स्रग्धरा छन्द है। विद्याधर के अनुसार भेदानुप्रास सहोक्ति-अतिशयोक्ति अलङ्कार हैं। मल्लिनाथ ने यथा-सम्भवकीर्ण अलङ्कार का निर्देश किया है अर्थात् यथासम्भव-रूपक का सङ्कर ॥ १०५ ॥

स्वप्नेन प्रापितायाः प्रतिरजनि मम श्रीतु मन्दः स्तापः-
श्रोत्रे गीतामृताभ्यां त्वमसि ननु तनूनङ्गरोमोद्गमार्थे।
नासा स्वासाधिवासेऽप्यरसनगुणि रसना चरितेषु चित्तं
लग्नस्तन्वङ्गि ! केचिन्न करणहरिणैर्जीगुरा नन्दिताऽसि ॥१०६॥

जीवातु—स्वप्नेनेति। हे तन्वङ्गि ! तनुन्यङ्गानि यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः।

'अङ्गगात्रकण्ठेभ्य' इति ङीप्। कृशाङ्गि! प्रतिरजनि रजन्यां रजन्यां, वीप्सायामव्ययीभावः। स्वप्नेन (कर्त्रा) प्रापितायाः स्वप्नदृष्टायाः तव श्रीपु सौन्दर्यलहरीषु नोऽस्माकं कटाक्षो मग्नः गीत एवामृताब्धौ सुधासमुद्रे श्रोत्रे मग्ने, तनुमूर्तिरेव मञ्जरी कुसुमगुच्छं तस्याः सौकुमार्ये मार्दवे त्वगपि मग्ना। ननु श्वासाधिवासे निश्वासमारुतसौरभे नासा मग्ना अधरमधुन्यधरामृते रसज्ञा रसना मग्ना चरितेषु चेष्टासु चित्तं मग्नं तद् तस्मात् कैश्चित् करणैरिन्द्रियैरेव हरिणैरेव वागुरा मृगबन्धिनी रज्जुः न लङ्घिता न प्राप्तासि सर्वैरपि प्रापितेत्यर्थः। अस्माकं सर्वेन्द्रियसम्मोहनं ते रूपशिल्पमिति भावः। अत्र चतुर्थपादार्थस्य पूर्वपदवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तच्च करणहरिणैरित्यादिरूपकेण सङ्कीर्यते। पूर्वोक्तमेव वृत्तम् ॥ १०६ ॥

अन्वय—ननु कटाक्षः प्रतिरजनि स्वप्नेन प्रापितायाः तव श्रीषु मग्नः, श्रोत्रे गीतामृताब्धौ, त्वक् अपि तनुमञ्जरीसौकुमार्ये, नासा श्वासाधिवासे, रसज्ञा अधरमधुनि, चित्तं चरितेषु, तद् तन्वङ्गि, न कैश्चित् करणहरिणैः वागुरा न लङ्घिता (पाठांतर 'लङ्घिता') असि।

हिन्दी—निश्चयतः (हम देवों का) कटाक्ष (नेत्र) प्रतिरात्रि को स्वप्न में प्राप्त तेरी (दमयन्ती की) अपार शोभा में डूब गये हैं, कान (तेरे) गीता के अमृतरस के सागर में, त्वचा भी (तेरे) शरीररूपी मञ्जरी की सुकुमारता में, नासिका (तेरे) निःश्वास सुगन्ध में, रसना (जीभ) अधर-सुधामधु में और चित्त (तेरे) चरितों (दैनंदिन विलासादि व्यापारों) में, सो हे सुकुमारि, हमारे किन इन्द्रियरूप हरिणों ने (तेरे रूप में) बंधनरज्जु नहीं प्राप्त करली है? (सभी इन्द्रिय रूप हरिण तेरे बन्धन में बद्ध हैं।) अथवा किसी इन्द्रिय-हरिण ने वागुरा रूप तुझ दमयन्ती का लंघन नहीं किया है—सब तेरे वश में हैं।

टिप्पणी—भाव यह है कि देवगण दिन-रात दमयन्ती का ही विचार करते हैं। स्वप्न में भी प्रतिरात्रि उसे ही देखते हैं, क्योंकि विरही देव गाढ़ निद्रा लीन हो नहीं पाते। उनकी पाँचों इन्द्रियाँ दमयन्ती की शोभा आदि के वश में पाशबद्ध हरिणों जैसी हैं। नारायण ने यह आशंका उठायी है कि देवों का स्वप्न कैसा? उसके कई समाधान भी उपस्थित किये हैं। (१) तत्त्वतः देवों को स्वप्न नहीं आते, नलदूत ने यह स्वानुभवाधार पर कहा। (२) विरह

में रजनी जिसके प्रतिकूल है, ऐसी दमयन्ती स्वप्न अर्थात् विपर्यय ज्ञान बन गयी है। (३) उन्मादावस्था के कारण दमयन्ती ही देवों को सर्वत्र व्याप्त दीखती है। (४) रजनी अर्थात् हरिद्रा के प्रतिकूल, चितहरिद्रा दमयन्ती। भाव यही है कि दमयन्ती का रूप देवों की समस्त इन्द्रियों का मोहक है। स्रग्धरा छन्द। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-रूपक-दीपक अलङ्कार हैं। मल्लिनाथ के अनुसार चतुर्थ चरण का अर्थ पूर्व ■ वाक्यों के अर्थ का हेतु होने के कारण वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है और वह 'करणहरिणी' इत्यादि रूपक से सकीर्ण है, अर्थात् काव्यलिङ्ग रूपक का सकर॥ १०६॥

इति धृतसुरसार्थवाचिकस्रङ्निजरसनातल्पत्रहारकस्य ।
सफलय मम दूतता वृणीष्व स्वयमवधार्य दिगीशमेकमेषु ॥ १०७॥

जीवातु– इतीति। इतीत्थं धृता सुरसार्थस्येन्द्रादिवृन्दस्य वाचिकस्रक् सन्देशवाक्यपरम्परा येन तस्य निजस्य रसनातल्पस्यैव पत्रस्य लेखस्य यो हारकस्तस्य मम दूतता सफलय सफला कुरु, एषु मध्ये एक दिगीश स्वयमात्मनैवावधार्य निश्चित्य वृणीष्व वृणीष्व। वाचिकेति व्याख्यात। अत्र नलदूत्य-साफल्यस्य वरणवाक्यार्थहेतुकत्वात् पूर्ववदलङ्कार। न च रसनातल्पत्रस्य यो हारकस्तस्येति रूपकेण सङ्कीर्यते। पुष्पिताग्रा वृत्तम्॥ १०७॥

अन्वय —एषु एक दिगीशं स्वयम् अवधार्य वृणीष्व—इति धृतसुरसार्थ-वाचिकस्रङ्निजरसनातल्पत्रहारकस्य मम दूतता सफलय।

हिन्दी—इन (वर्णित) में से एक दिक्पाल का स्वयम् विचार करके (हे दमयन्ति,) वरण कर लो, और इस प्रकार देवगण की सदेशमाला को धारण करते अपने जिह्वा रूप पत्र को लाने वाले मेरा (नलका) दूतत्व सफल बनाओ।

टिप्पणी—इन्द्रादि चारों दिक्पालों की विरहदशा, उनकी उत्कट कामना आदि का क्रमशः विस्तृत विवरण उपस्थित कर नल ने उपसंहार में दमयन्ती से निवेदन किया कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम में से अपने आप विचार करके जो उसे रुचे, उसको वह वर ले और नल का दूतत्व सफल बनाये। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में नल की दूतता के सफल होने में वरण के वाक्यार्थहेतुक होने के कारण काव्यलिङ्ग है और इसका 'रसनातल्पत्र' रूपक से सकर है,

अत एव श्लोकवत् सकर अलकार है । विद्याधर ने रूपक का निर्देश किया है। पुष्पिताग्रा छन्द है ॥ १०७ ॥

आनन्दयेन्द्रमथ मन्मथमग्नमग्नि केलीभिरुद्धर तनूदरि ! नूतनाभि ।
आसादयोदितदय शमने मनो वा नो वा यदीत्यमथ तद्वरुण वृणीथा ॥

जीवातु—आनन्दयेति । हे तनूदरि ! कृशोदरि ! नूतनाभिरभिनवाभि केलीभि क्रीडाभि मन्मथमग्नमिन्द्रमानन्दय अथवा तादृशमेव अग्नि ताभिरुद्धर, अथवा शमने यमे उदितदय जातानुकम्प मन आसादय निवेशय । इत्थ नो वा यदि अथ तर्हि मन्मथमग्न वरुण वृणीथा वृणीष्व ॥ १०८ ॥

अन्वय—तनूदरि, नूतनाभि केलीभि मन्मथमग्नम् इन्द्रम् आनन्दय अथ अग्नि उद्धर वा शमने उदितदय मन आसादय अथ यदि इत्थ नो वा तद् वरुण वृणीथा ।

हिन्दी—हे कृश उदर वाली (दमयन्ति), (वरण करने के पश्चात्) नयी नयी विलास क्रीडाओ द्वारा कामग्रस्त इन्द्र को आनन्दित करो अथवा अग्नि का उद्धार करो, अथवा यम पर दयापूर्ण मन करो और यदि ऐसा न कर सको तो वरुण का वरण कर लो ।

टिप्पणी—अन्त में पृथक् पृथक् नामोल्लेख करते हुए नल ने पुन॰ दमयन्ती से इन्द्राग्नियमवरुण मे से किसी एक का वरण करके उसे कृतार्थ करने की प्रार्थना की । सभी काम के सागर में आपादमस्तक डूबे हैं, अर्थात्–पीडित हैं । चारो मे किसी एक पर अनुग्रह दिखाती दमयन्ती नल की दूतता सफल बनाये। वसतविलका छन्द ॥ १०८ ॥

श्रीहर्ष कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत
श्रीहीर सुषुवे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।
तस्यागादयमष्टम कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महा-
काव्ये चारुणि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल ॥ १०९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि । कवीना कुलेन समूहेन अदृष्टे अध्वनि मत्पान्थ नित्यपथिक तस्मिन् चारुणि शोभने वैरसेनेर्नलस्य चरिते तस्य श्रीहर्षस्य महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलोऽयमष्टम सर्ग आगात् सम्पूर्ण इति भाव ॥१०९॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने अष्टम सर्ग समाप्त॥८॥

अन्वय—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः ... सुषुवे तस्य कविकुलादृष्टाध्वपान्थे चारुणि वैरसेनिचरिते महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलः अयम् अष्टमः सर्गः अगात्।

हिन्दी—दो चरणों का अर्थ पूर्ववत्। उसके कविकुल (कालिदासादि प्राचीन कविमण्डल) द्वारा अदृष्टपथ के पथिक (अपूर्वप्रमेयसंगुम्फित, अपूर्व), मनोरम वैरसेनि (नल) चरित महाकाव्य में निसर्गोज्ज्वल यह आठवाँ सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—'कविकुलादृष्टाध्वपान्थे' का विग्रह 'कविकुलेन आदृष्टोऽध्वा यस्य पान्थे' भी किया जा सकता है। इस प्रकार अर्थ होगा पूर्वकवियों द्वारा भली भाँति अवलोकित पथ का पथिक। ऐसा ही विनय 'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः' कहकर महाकवि कालिदास ने प्रदर्शित किया था। पर कदाचित् टीकाकारों को 'आदृष्टाध्व' की अपेक्षा 'अदृष्टाध्व' ही पाठ अधिक रुचिर प्रतीत होता है। सम्भव है, श्रीहर्ष की गर्वोक्तियों के अनुरूप यही हो, परन्तु यदि श्रीहर्ष में कुछ विनय दीख सके तो अन्याय नहीं होना चाहिए।

नैषधीयचरित का अष्टम सर्ग समाप्त।

नवमः सर्गः

इतीयमक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटामनिच्छां विवरीतुमुत्सुका ।
तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छयाशृणोद्दिगीशसन्देशगिरो न गौरवात् ॥ १ ॥

जीवातु—अथ दमयन्तीवृत्तान्तं वक्तुं विस्तरतस्तद्वाक्यश्रवणादनिच्छा-मिन्द्राद्यनुरागशङ्कां तावद्दर्शयति—इतीति । इय दमयन्ती अक्षिणी च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवं द्वन्द्वैकवद्भाव । 'अचतुर' इत्यादिना समासान्तादिनिपातनात् साधु । तस्य विभ्रमो विकार स एव इङ्गितं चेष्टा तैरेव स्फुटां व्यक्तामनिच्छामिन्द्रादिविषयामिति शेष । तथा विवरीतुं वाचा निषेद्धुमुत्सुका उद्युक्ता सती । 'इष्टार्थोद्युक्त उत्सुक' इत्यमर । निषेधस्य ज्ञानपूर्वकत्वात् तज्ज्ञानार्थमशृणोदिति चेत् । किन्तु तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया नलवागमृतपिपासया चेत्यर्थं । दिगीशसन्देशगिर अशृणोत् । मात्रपदव्यावर्त्यमाह—गौरवादिति । न तु दिगीशादीनां गौरवात् । अस्मिन् सर्गे वंशस्थवृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वय —अक्षिभ्रुवविभ्रमेङ्गितैः स्फुटाम् अनिच्छां विवरीतुम् उत्सुका इयं तदुक्तिमात्रश्रवणेच्छया दिगीशसन्देशगिरः अशृणोत्, गौरवात् न ।

हिन्दी–नेत्र और भ्रुकुटि के विकार-संकेतों द्वारा स्पष्ट अनिच्छा प्रकाशित करने को उत्सुक यह (दमयन्ती) उस (नल) के वचनमात्र सुनने की इच्छा से दिक्पालों के संदेश वचन सुनती रही, (उन देवों के प्रति) आदर से नहीं।

टिप्पणी—दमयन्ती क्योंकि नलानुरागिणी थी अतः उसने दिक्पालों के संदेश को सुनकर भी अनसुना कर दिया। वह सुनती भी इसलिए रही कि उसे नल की वाणी अमृत तुल्य लगती थी (नै० च० ८।४९)। उसने देवों के प्रति अपनी विरक्ति अपने नेत्र भ्रू आदि विकारों से स्पष्ट कर दी। विद्याधर के अनुसार इस पद्य में वक्रोक्ति-स्वभावोक्ति-भावोदय-काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं। सर्ग में श्लोक संख्या १—१५५ तक वंशस्थ छन्द है ॥ १ ॥

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय ता दिगीशसन्देशमयीं सरस्वतीम् ।
इद तमुर्वीतलशीतलद्युति जगाद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥ २ ॥

जीवातु—तदिति । वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी दमयन्ती तेनानलेनार्पिता प्रयुक्ता दिगीशसंदेशमयी तद्रूपा सरस्वतीं वाचमश्रुतवद्विधायाश्रुतामिव कृत्वा । 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति' । उर्वीतलशीतलद्युतिं भूलोकचन्द्र त नलमिद वक्ष्यमाण जगाद गदितवती ॥ २ ॥

अन्वय —वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी तदर्पिता दिगीशसन्देशमयी ता सरस्वतीम् अश्रुतवत् विधाय उर्वीतलशीतलद्युतिं तम् इद जगाद ।

हिन्दी—विदर्भराज को नदित करने वाली (पुत्री दमयंती) उस (दूत नल) द्वारा कथित दिक्पालो के सदेश से युक्त उस वाणी को अनसुनी जैसी करके भूतल के चन्द्र उसे (नल) से यह बोली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को सन्देश के प्रति अनादर होने से उसमे कोई रुचि नहीं थी, सो दिक्पालों के वरण-सबद्ध सन्देश-वचनों को अनुसना करती हुई पृथ्वीतल को चन्द्रतुल्य आह्लादित करनेवाले नल से आगे कहे वचन कहने लगी । प्रत्युत्तर न देकर अपना मनोरथ व्यक्त किया दमयन्ती ने । आकाश के देवो की अपेक्षा पृथ्वी का राजा अधिक उपयुक्त लगना ही चाहिए । आकाश का सत्य कल्पना का होता है, धरती का वास्तविक । विद्याधर के अनुसार उपमान-रूपक अलकार ॥ २ ॥

मयाङ्ग ! पृष्ट कुलनामनी भवानमू विमुच्यैव किमन्यदुक्तवान् ।
न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य किं ह्रितेऽपि सेय भवतोऽधमर्णता ॥ ३ ॥

जीवातु—मयेति । हे अङ्ग ! भो श्रीमन् ! मया भवान् कुलनामनी पृष्ट सन् पृच्छतेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्त , 'अप्रधाने दुहादीना'मिति वचनात् । किं किमर्थममू कुलनामनी विमुच्य अन्यदुक्तवान् किमप्यसङ्गतमिव प्रलपसीति भाव । तदकथने को दोषस्तत्राह—नेति । अत्र कुलनामप्रश्न मह्यमुत्तमर्णाय इति शेष । 'धारेरुत्तमर्ण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । धारयतीति धारय 'अनुपसर्गाल्लिम्पविन्दधारि' इत्यादिना शप्रत्यय । उत्तरस्य धारय तस्य भवत तव सेयमधम ऋणेन अधमर्ण । मयूरव्यसकादित्वात् तत्पुरुष । तस्य भावस्तत्ता सा ह्रियेऽपि न किम् ? लोके उत्तमर्णेन याच्यमानस्याधमर्णस्य उद्ग्रदान लज्जायै भवत्येव, भवतस्तु सापि नास्तीति भाव ॥ ३ ॥

अन्वय—अङ्ग, मया कुलनामनी पृष्टः भवान् अमू विमुच्य किम् अन्यत् उक्तवान् । अत्र मद्गिराम् उत्तरधारयन्य भवतः सा इयम् अधमर्णता किं ह्रियै अस्ति न ?

हिन्दी—प्रिय महाशय, मेरे (दमयन्ती के) द्वारा कुल और नाम पूछे जाने पर आप (नल) ने इन्हें (कुल-नाम को) छोड़कर क्या और सब कह डाला ! इस विषय में मेरे निमित्त उत्तर (रूप ऋण) के धारक आपका वह यह अधमर्णभाव (ऋणी रहना) क्या लज्जा के निमित्त भी नहीं है ? (है ही)।

टिप्पणी—दमयन्तीने नल के नाम-कुल की जिज्ञासा की थी, परन्तु नलने वह न बता कर देववरण का प्रस्ताव रख दिया । यह शिष्टाचार विरुद्ध है । अपना नाम धाम परिचय बता कर तब किसी कुमारी के समुख ऐसा आत्मीय प्रस्ताव रखा जाता है । इस पर दमयन्ती ने उचित रूप से ही नल को लज्जित होने को कहा । जिस प्रकार ऋणदाता का ऋण न चुकाना अधमर्ण के लिए लज्जा का विषय होता है, ऐसे ही उचित उत्तर न देकर इधर-उधर की दूसरी बात छेड़ना भी लज्जास्पद और असभ्य व्यवहार है । एक सामान्य व्यक्ति भी ऐसे अनुचित व्यवहार पर लज्जित होता है, नल जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति को तो और भी लज्जित होना चाहिए । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ३ ॥

अदृश्यमाना क्वचिदीङ्गिता क्वचिन्ममानुयोगे भवतः सरस्वती ।
क्वचित्प्रकाशा क्वचिदस्फुटार्थिका सरस्वती जेतुमना सरस्वतीम् ॥४॥

जीवातु—अदृश्यमानेति । ममानुयोगे प्रश्ने विषये । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः । क्वचित् कुलनामविषये अदृश्यमाना अप्रकाशितेत्यर्थः । क्वचित् कुत्र नागत कस्य त्वमित्यत्र ईङ्गिता दृष्टा प्रकाशितार्थेति यावत् ईदृशी भवतः सरस्वती क्वचित् प्रकाशोदका क्वचिदस्फुटार्थमप्रकाशोदका सरस्वती वाच सरस्वती नदी च । 'सरस्वती नदीभेदे गीर्वाग्देवतयोरपि' । 'स्त्रीऽम्ने चाप-गायाश्च' इति विश्वः । जेतु मनो यस्याः सा जेतुमना 'तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । अत्र न वाच सरस्वतीनदीधर्मसम्बन्धात्तज्जिगीषोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । तया चोपमा व्यज्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ।४।

अन्वय—मम अनुयोगे क्वचित् अदृश्यमाना क्वचित् ईङ्गिता भवतः सरस्वती क्वचित् प्रकाशा क्वचित् अस्फुटार्थिका सरस्वती सरस्वतीं च जेतुमना ।

हिन्दी—मेरे (दमयन्ती के) अनुयोग (प्रश्न के विषय) में कहीं अदृश्य (उत्तर न देती) और कहीं दृश्यमान (उत्तर देती) आपकी सरस्वती (वाणी) वहीं प्रकाशित (जल प्रकट करती) और कहीं जल न प्रकट करती सरस्वती नदी और सरस्वती (वाग्देवता) को जीतने की इच्छुक प्रतीत होती है।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुछ प्रश्नों का उत्तर तो नल ने दिया—जैसे कहाँ से आये हो, इस प्रश्न का उत्तर दिया-'हरित्पतीनां सदसः प्रतीहि त्वदीय-मेवातिथिमागतं माम् ।' (दिक्पालों द्वारा भेजा गया मैं आपका ही अतिथि हूँ। नं० च० ८।१५)। कुल नाम के विषय में उत्तर नहीं दिया। इस प्रकार कहीं तो नल की सरस्वती (वाणी) प्रकट रही, कहीं अप्रकट। यही स्थिति सरस्वती नदी की मानी जाती है। कहीं उसका जल दीखता है, कहीं नहीं। दमयन्ती का ध्यान है कि कदाचित् नल की सरस्वती वैसा ही आचरण करके सरस्वती नदी और साथ ही गूढागूढ रहती वाग्देवता सरस्वती को भी जीतने की इच्छुक है। भाव यह है कि यह व्यवहार छोड़कर कुल नाम बताना नल का कर्तव्य है। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा। मल्लिनाथ के द्वारा अलङ्कार से अलङ्कार ध्वनि है, क्योंकि यहाँ सरस्वती नदी के धर्म सवय से नल की वाणी के जीतने की इच्छा द्योतक का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा है, जिसमें उपमा व्यजित होती है ॥ ४ ॥

गिरः श्रुता एव तव श्रवःसुधाः श्लथा भवन्नाम्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
पिपासुता शान्तिमुपैति वारिणा न जातु दुग्धान्मधुनोऽधिकादपि ॥

जीवातु—गिर इति । श्रवःसुधाः कर्णामृतानि तव गिरः श्रुता एव, किन्तु भवन्नाम्नि विषये श्रुतिस्पृहा श्रवणेच्छा न श्लथा न निवृत्ता । न च सुरसवचःश्रवणादेव तन्निवृत्तिरित्याह—पिपासुता पिपासेत्यर्थः । वारिणा वारिपानेनैव शान्तिमुपैति अधिकात् स्वादुतरात् दुग्धात् क्षीरात् मधुनः क्षौद्राद्वा, जातु कदापि न शाम्यति, इति दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५ ॥

अन्वय—श्रवःसुधाः तव गिरः श्रुताः एव तु भवन्नाम्नि श्रुतिस्पृहा न श्लथा, पिपासुता वारिणा शान्तिम् उपैति, अधिकात् दुग्धात् मधुनः अपि जातु न ।

हिन्दी—कर्णामृत रूप तुम्हारी (नल की) वाणी (वचन) तो सुन ही

सी किन्तु धीर (नल) के नाम के विषय में श्रुति (सुनने की अथवा कानों) की आशा शिथिल नहीं हुई। पिपासा (प्यास) जल से शान्ति को प्राप्त होती है, अधिक दूध अथवा मधु से भी शान्त नहीं होती।

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा कि नल के वचन तो पर्याप्त मात्रा में सुनने को मिल गये। वे कानों को अमृत के समान प्रिय लगे, किन्तु नाम कुल नहीं जानने को मिला। इसके विषय में उत्कण्ठा शेष है। तो जिस वस्तु की इच्छा—आवश्यकता होती है वही वस्तु प्राप्त होने पर सन्तुष्टि होती है, अन्य पूर्वप्राप्त अथवा अप्राप्त— भले ही वह अधिक मूल्यवान् हो—वस्तु प्राप्य की इच्छा पूर्ण नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ प्यासे की प्यास जल से ही बुझेगी, पर्याप्तमात्रा में बहुमूल्य दूध या मधु प्राप्त हो जाने से प्यास नहीं बुझ सकती। जैसे पिपासु को जल अपेक्षित होता है, वैसे ही दमयन्ती की इच्छा नल का कुल नाम जान कर ही पूर्ण होगी, देववरण प्रस्ताव अपेक्षित नहीं। नल को कुल-नाम ही बताना चाहिए। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त और विद्याधर के अनुसार रूपक और अर्थान्तरन्यास॥ ५॥

बिभर्ति वंशं कतमं तमोऽपहं भवादृशं नायकरत्नमीदृशम्।
तमन्यनामान्यधियाऽवमानितं त्वया महान्तं बहु मन्तुमुत्सहे॥ ६॥

जीवातु—बिभर्तीति। तमोऽपहं भवादृशमीदृशं नायकरत्नं राजश्रेष्ठं हारमध्यमणिं च 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः। कतमो वंशः कुलं वेणुश्च। 'वंशो वेणौ कुले वर्गे' इति विश्वः। बिभर्ति? किमर्थमिति चेत् अन्यनामान्यधिया पूर्वं सर्वसाधारणबुद्ध्या अवमानितं दृष्टं तथाप्यद्य त्वया महान्तं तमुत्कृष्यमाणं वंशं बहु मन्तुं बहुकर्तुमुत्सहे, सर्वोपरि हि वंशो मान्यः पुरुषधौरेयैरेव प्रकाशने न स्वरूपत इति भावः। अत्र मध्यमणिरूपार्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव। अत्र वेणोर्नृत्नायोनिन्द्ये प्रमाणम्। 'करीन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' ॥ इति ॥ ६॥

अन्वय—तमोऽपहं भवादृशम् ईदृशं नायकरत्नं कतमः वंशः बिभर्त्ति, अन्यनामान्यधिया अवमानितं त्वया महान्तं न बहु मन्तुम् उत्सहे।

हिन्दी—अन्धकार को दूर करने वाले आपसदृश ऐसे नायक रूप रत्न को कौन सा वंश—(सूर्यकुल, चन्द्रकुल) रूप वंश (बाँस) धारण करता है?

अन्य सामान्य बुद्धि से तिरस्कृत (भिदु) आपसे महान् स्वीकृत उस (कुल-बांस) को मैं (दमयन्ती) अत्यंत समान देने को उत्साहित हूँ।

टिप्पणी—दमयंती यह जानना चाहती है कि समुख उपस्थित व्यक्ति सूर्यकुल में जन्मा है अथवा चन्द्रकुल में ? नल-जैसे श्रेष्ठ, नायक गुणों से युक्त व्यक्ति के उत्पन्न होने से ही वह वंश धन्य कहाया है, उससे पूर्व नहीं था, जैसे कि बांस अच्छा रत्न उत्पन्न होने से ही समान पाता है, अन्यथा कौन बाँस को पूछे ? रत्न देखकर ही बाँस का समान होता है। ऐसे ही नल से वंश समानित है, वैसे नहीं। महापुरुषों के कारण ही वंश महान् होता है। विद्याधर के अनुसार श्लेष अलंकार। मल्लिनाथ के अनुसार नायक के मध्य मणिरूप अर्थान्तर प्रतीति ध्वनि ही है। नायक अर्थात् श्रेष्ठ, नेता, हार के मध्य की मणि ॥ ६ ॥

इतीरयित्वा विरतां पुनः स तां गिरानुजग्राहतरां नराधिपः ।
विरुत्य विश्रान्तवतीं तपात्यये घनाघनश्चातकमण्डलीमिव ॥ ७ ॥

जीवातु—इतीति। इतीरयित्वा इत्युक्त्वा व्याहृत्य विरतां तूष्णीभूतां तां भैमीं स नराधिपः नल तपात्यये ग्रीष्मान्ते विरुत्य पिपासया आक्रन्द्य विश्रान्तवतीं विरतां चातकानां मण्डलीं समूहं घनाघनो वर्षुकाब्द इव। 'वर्षुकाब्दो घनाघनः' इत्यमरः। पुनर्गिरा वचनेन गर्जितेन चानुजग्राहतरामतिशयेनानुगृहीतवान् आदरात् प्रत्युवाचेत्यर्थः। 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना आम्प्रत्ययः ॥ ७ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा विरतां तां तपात्यये विरुत्य विश्रान्तवतीं चातक-मण्डलीं घनाघन इव सः नराधिपः गिरा पुनः अनुजग्राहतराम्।

हिन्दी—यह कहकर उस (दमयंती) के विरत (चुप) हो जाने पर जैसे ग्रीष्म की समाप्ति पर प्यास से चिल्लाने चातकों के समूह पर बरसाऊ बादल कृपा करता है, वैसे ही वह राजा (नल अपने) वचनों से (दमयंती को) पुनः अतिशय अनुगृहीत करने लगा।

टिप्पणी—जैसा कि दमयंती वचन से प्रकट हुआ, दमयन्ती नल की मधुरा वाणी से अत्यंत प्रसन्न थी और वह नल का कुल नाम जानना चाहती थी। नल द्वारा अपने कथन का प्रत्युत्तर दमयंती को वैसा ही प्रतीत हुआ, जैसा ग्रीष्मकाल के अन्त में प्यास से व्याकुल चातकों (पपीहों) को बादल-

बरतने पर होता है। वचनचातुरी की प्रणाली है दमयन्ती और 'घनाघन' है राजा नल। उपमा अलङ्कार। विद्याधर के अनुसार उपमेन्द्र अलंकार छेकानुप्रास है।

अये! ममोदासितमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने।
गरो गिरः पल्लवनार्थलाघवे मितञ्च सारञ्च वचो हि वाग्मिता ॥८॥

जीवातु—अये इति। अये! दमयन्ति! न विद्यते अतिप्रयोजनमनतिप्रयोजनं यस्मिन् तस्मिन् द्वयेऽपि कुलनाम्नोर्द्वयेऽपि मम जिह्वया उदासितं माध्यस्थ्येन स्थितं, 'नपुंसके भावे क्तः'। तथा हि—पल्लवनं विस्तरणं वृथा-शब्दप्रपञ्चनमिति यावत्। तच्चार्थलाघवञ्च वक्तव्यार्थसङ्कोचनञ्च गिरः वाचः गरौ विषप्रायावुभावित्यर्थः। मितमल्पाक्षरं सारं महार्थञ्च वचो वाक्यं वाग्मिता वक्तृत्वम्, अन्यथा वाचाटता स्यादिति भावः। 'वाचो ग्मिनिः'। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८॥

अन्वयः—अये, मम जिह्वया अनतिप्रयोजने तस्मिन् द्वये अपि उदासितम् एव, हि पल्लवनार्थलाघवे गिरः गरौ, मितं सारं च वचः वाग्मिता।

हिन्दी—अरे, मेरी जीभ द्वारा विशेष प्रयोजन से शून्य उन दोनों (कुल-नाम) के विषय में उदासीनता का ही व्यवहार हुआ, क्योंकि (व्यर्थ) विस्तार और कथन सङ्कोच—दोनों वाणी के विष (रूप) हैं और थोड़ा किन्तु सारपूर्ण (कथन) वचनों का पाण्डित्य है।

टिप्पणी—नल ने कुल-नाम न बताने का कारण स्पष्ट किया कि उसने ये दोनों बातें निरर्थक समझीं, जिनके बताने से कोई विशेष लाभ नहीं। जिस विषय में अधिक कहना अपेक्षित न हो, उसे बढ़ा-चढ़ा कर कहा जाय और अपेक्षित को संक्षेप में कहा जाय, यह बोलने की कला के दुर्गुण हैं—विष-तुल्य हानिकारक। वचन वे ही पाण्डित्यपूर्ण समझे जाते हैं, जो संक्षिप्त हों, पर तत्त्वपूर्ण हों। इसी आधार पर बोलने वाले की योग्यता निर्धारित होती है। इसी कारण नल ने निरर्थक कुल-नाम बताकर बात नहीं बढ़ाई। विद्याधर के अनुसार यहाँ काव्यलिङ्ग और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार हैं, मल्लि-नाथ ने सामान्य द्वारा विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है।

वृथा कथेयं मयि वर्णपद्धतिः कथानुपूर्व्या समवैति वेति च।
क्षमे समक्षव्यवहारनाथयोः पदे विभातु खलु युष्मदस्मदी ॥ ९ ॥

जीवातु—कुलनामकथन वृथेत्युक्त, तत्र नामकथनस्यैं वैयर्थ्यमाह—वृथेति। का वर्णपद्धतिरक्षरपङ्क्तिः। कयानुपूर्व्यानुक्रमेण मयि समकेति मजात्वेन सकेतितेतीय कथा प्रश्नोक्तिश्च वृथा। किमुतोत्तरमिति भाव। नामरूपापरिज्ञाने कथमावयोर्मिथ सवादस्तत्राह—आवयोस्तव मम चेत्यर्थ। त्यदादीयेकशेषे यत्पर तदिति वचनादस्मद शेषता। अक्ष्णो समीपे समक्ष सम्मुखेन। समीपार्थेऽव्ययीभावे शरत्प्रभृतित्वाद् समासान्त। व्यवहार मिथ सकथा विधातु युष्मच्चास्मच्च युष्मदस्मदी पदे त्वमहमित्येतौ शब्दाविस्यर्थ। क्षमे समर्थे खलु ॥ ९ ॥

अन्वय—मयि का वर्णपद्धति कया आनुपूर्व्या समका—इति इय च कथा इति वृथा, खलु आवयो समक्षव्यवहार विधातु युष्मदस्मदी पदे क्षमे।

हिन्दी—मुझ (नल) में कौन से अक्षरों का क्रम किस क्रम से (सज्ञारूप में) सकेतित है—यह और इस प्रकार का प्रश्न—दोनों व्यर्थ हैं। निश्चयत हमारे (दमयन्ती नल के) समुख-व्यवहार (सवाद) के प्रतिपादन में 'तुम' और 'मैं' पद पर्याप्त हैं।

टिप्पणी—नल ने कहा कि यही पर्याप्त है कि दमयन्ती और नल परस्पर नाम से नहीं, सर्वनाम से ही परिचित हैं। 'युष्मद्-अस्मद्' (मैं–तू) का व्यवहार समुख वार्तालाप के लिए पर्याप्त होता है। अत दमयन्ती की कुल-नाम-जिज्ञासा व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलकार ॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वल कुल ततस्तदुद्भावनमौचिती कुत।
अथावदात तदहो विडम्बना यथा तथा प्रेष्यतयोपसेदुष ॥१०॥

जीवातु—अकथने च कारणमाह—यदीति। मम कुल स्वभावादुज्ज्वलमकलङ्क न यदि, ततस्तर्हि तस्य कुलस्योद्भावन प्रकटन कुत औचिती औचित्य नोचितमित्यर्थ। धर्मधर्मिणोर्भेदोपचारात् औचिती व्याख्यातव्या। अथावदातमुज्ज्वल तथापि यथा तथा कथञ्चिदपि प्रेष्यतया किङ्करतया उपसेदुष प्राप्तस्य मम तत् कुलोद्भावन विडम्बना परिहास। अहो ॥ १० ॥

अन्वय—यदि मम कुल स्वभावात् उज्ज्वल न, तत तदुद्भावन कुत औचिती अहो, अथ अवदात तत् यथा तथा प्रेष्यतया मम विडम्बना।

हिन्दी—यदि मेरा कुल स्वभावत (प्रकृत्या) निर्मल नहीं है, तब उसका

प्रकाशन (बताना) किस प्रकार औचित्य है ? (नहीं है)। और यदि उज्ज्वल है, तो जैसे तुमें मेरी प्रेष्यता (दूत होकर भेजा जाना) के कारण (कुल-प्रकाशन) महान् उपहास ही है।

टिप्पणी—नाम कथन इसलिए व्यर्थ है कि प्रत्यक्ष-व्यवहार में सर्वनाम से काम चल जाता है और कुल बताना इसलिए उचित नहीं है कि वंश के मलिन होने पर उसका प्रकट न होना ही भला होता है, और कुल निर्मल हो तो दूत-कार्य में आने के कारण कुल का उपहास होगा। अतः न बताना ही श्रेयस्कर है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १० ॥

इति प्रतीत्यैव मयावधीरिते तथापि निर्बन्धरसो न शोभते।
हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति श्रमो गिरां ते घटते हि सम्प्रति ॥ ११ ॥

जीवातु—इतीति। इतीत्थं प्रतीत्य कुलनामकथनं व्यर्थमिति निश्चित्यैव मयाऽवधीरिते उपेक्षिते सति तथापि निर्बन्धरसो निर्बन्धेच्छा न शोभते। किंतु सम्प्रति हरित्पतीनामिन्द्रादीनां प्रतिवाचिकं प्रतिसन्देशं प्रत्युत्तरं प्रतीत्यर्थः। ते तव गिरां श्रमः प्रयत्नः वाग्व्यापारो घटते युज्यते हि॥ ११ ॥

अन्वय—इति प्रतीत्य एव मया अवधीरिते तव अपि निर्बन्धरसः न शोभते, हि सम्प्रति हरित्पतीनां प्रतिवाचिकं प्रति ते गिरां श्रमः घटते।

हिन्दी—यह (श्लोक सं० ८–१० के अनुसार) विचार करके ही मेरे द्वारा उपेक्षित (कुल नामकथन-विषयक प्रश्नों) के प्रति तुम्हारे (दमयन्ती) द्वारा आग्रह करना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि इस काल दिक्पालों के प्रत्युत्तर के प्रति तुम्हारी वाणी का श्रम उचित है।

टिप्पणी—भाव यह कि निरर्थक कुल-नाम-विषयक जिज्ञासा का त्याग कर दमयन्ती को इन्द्रादि दिक्पालों के प्रस्ताव पर विचार करके समुचित उत्तर देना ही कार्योचित और उपयुक्त है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ ११ ॥

तथापि निर्बध्नति ! तेऽथवा स्पृहामिहानुरुन्धे मितया न किं गिरा।
हिमांशुवंशस्य करीरमेव मा निशम्य किं नासि फलेग्रहिर्ग्रहा ॥ १२ ॥

जीवातु—तथापीति। तथापि वैयर्थ्येऽपि निर्बध्नति ! निर्बन्धकारिणि ! बध्नातेः शत्रन्तादुगितश्चेति ङीबन्तात् सम्बुद्धिः। इहार्थे ते तव स्पृहां वाञ्छां

मितया गिरा नानुरुन्धे नानुवर्ते किम् ? अनुरोत्स्यायेवेत्यर्थः । कुलस्वरूपमात्रं कथयामीत्यर्थः । रुधेर्लटि तङ् । मां हिमांशुवंशस्य करीरं सोमकुलाङ्कुरमेव निशम्य फलं गृह्णातीति फलेग्रहि सफलं ग्रहं आग्रहो यस्याः सा सफलाभिनिवेशा नासि किम् ? तावता न तुष्यसि किमित्यर्थः । 'फलेग्रहिरात्मम्भरिश्चे'ति निपातनात् साधु ॥ १२ ॥

अन्वय —अथवा तथापि निर्बन्धिनि, इह ते स्पृहां मितया गिरया किं न अनुरुन्धे ? मां हिमांशुवंशस्य करीरम् निशम्य एव किं फलेग्रहिग्रहा न असि ?

हिन्दी—अथवा इतने पर भी हे आग्रहशीले, इस (कुल नाम) के विषय में तेरी जिज्ञासा को थोड़ा कहकर ही क्यों न समाप्त कर दूँ ? मुझ (नल) को शीतकिरण (चन्द्र) के वंश का करीर (अंकुर, बालक) सुनकर ही क्या तुम्हारा आग्रह फलित (सफल) नहीं है ?

टिप्पणी—अपने को चन्द्रवंश का करीर (एक सामान्य बालक) बना कर नल ने कुल परिचय भी दे दिया और अपने को छिपा भी लिया। अपने को सामान्य कहना शिष्टाचार भी है, पर राजा सामान्य नहीं, असामान्य होता है, और नल तो विश्वविख्यात—पुण्य श्लोक था। इस प्रकार 'करीर' पद से इसका छिपाव भी हो गया। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥ १२ ॥

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधवः ।
अतोऽभिधातुं न तदुत्सहे पुनर्जनः किलाचारमुचं विगायति ॥ १३ ॥

जीवातु—कुलमुक्तं नाम तु वाच्यमित्याह—महाजनेति । महाजनानां सतामाचारस्य परम्परा सम्प्रदाय ईदृशी । तामेवाह—साधवः सन्तः स्वनाम नाददते न गृह्णन्ति नाम । नामेति प्रसिद्धौ—'नामानुकीर्तनं पुंसामायुर्मनश्च गुरोः स्त्रियाः' । इत्येव हरत्यायुरिति निषेधादिति भावः । अतः निषेधात् तत् पुनस्तन्नाम तु अभिधातुं नोत्सहे न शक्नोमि। 'शकधृष' इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । तथा हि—जनो लोक आचारमुचमाचारत्यज विगायति किल गर्हते खलु ॥ १३ ॥

अन्वय.—साधवः स्वनाम न आददते, महाजनाचारपरम्परा ईदृशी, अतः तत् अभिधातुं न उत्सहे पुनः जनः किल आचारमुचं विगायति ।

हिन्दी—सज्जन अपना नाम नहीं लेते—महापुरुषों के आचार व्यवहार की परम्परा ऐसी ही है, इसलिए यह (नाम) कहने को उत्साहित नहीं हो पा रहा है, क्योंकि फिर (नाम बताने पर) लोग निश्चयतः आचार छोड़ देने वाले की निन्दा करता है।

टिप्पणी—'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । आयुष्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः'—इस परम्परा के अनुसार अपना नाम बताना आचरण-विरुद्ध है, अतः लोकनिन्दा का ध्यान रखते हुए नल ने स्वनामोच्चारण न करने का कारण प्रस्तुत कर दिया। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार ॥ १३ ॥

अदोऽयमामन्त्र्य शिखीव शारदो बभूव तूष्णीमहितापकारकः ।
अथास्य रागस्य दधा पदे पदे वचांसि हंसीव विदर्भजाददे ॥१४॥

जीवातु—अद इति । अहितानामरीणामपकारकः अपकर्ता अन्यत्राहीनां तापकारकोऽशरीहिमाकरः । अयं नलः शरदि भवः शारदः, 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' । शिखी केकीव अदः इदं वचनमामन्त्र्य व्याहृत्य तूष्णीं बभूव । अथानन्तरमस्य वाक्यस्य सम्बन्धिनि पदे सुप्तिङन्तरूपे पदे विषये रागस्य श्रवणेच्छया दधातीति दधा धारिणी प्रत्यक्षरं सुधास्वादित्वादविच्छिन्नतृष्णेत्यर्थः । 'ददातिदधात्योर्विभाषा' इति दधातेरप्रत्यये स्त्रीत्वविवक्षायां टाप् , 'अजाद्यतष्टाप्' । अन्यत्र पदे पदे चरणद्वये आस्ये चञ्चुपुटे रागस्य लौहित्यस्य दधा । 'राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः' इत्यमरः । विदर्भजा वैदर्भी हंसीव वचांस्याददे स्वीचकारेत्यर्थः । शरदि निःशब्दा शिखिनः राजहंसा शब्दायन्ते तद्वदिति भावः ॥ १४ ॥

अन्वय—अहितापकारकः अयं शारदः शिखी इव अदः आमन्त्र्य तूष्णीं बभूव अथ अस्य पदे पदे रागस्य दधा विदर्भजा (आस्ये रागस्य पदे पदे दधा) हंसी इव वचांसि आददे ?

हिन्दी—अहितों (शत्रुओं) का अपकार करने वाला, शारद (निपुण) यह (नल) अहि (सर्पों) को ताप (कष्ट) देनेवाले शरत्काल में उत्पन्न शारद (हितकर) मयूर के समान यह (पूर्वोक्त) आलपन कर (बोलकर) चुप हो गया, तदनन्तर इस (नल) के शब्द-शब्द पर अनुराग धारण करती

(मुग्ध होती) विदर्भसुता (दमयन्ती) आस्यराग अर्थात् मुख लालिमा को प्रत्येक चरण पर धारण करती हंसी के समान वचन बोली।

टिप्पणी—नल के वचन पर प्रतिशब्द मुग्ध हुई दमयन्ती मन लगाये उसकी बात सुनती रही और जब वह अपनी बात कहकर चुप हो गया, तब आगे आने वाले वचन बोली। यहाँ नल की तुलना वर्षाकाल में बोलकर शरद् काल में चुप हो जाने वाले मयूर से की गयी है। 'अहितापकारक' और 'शारद' नल-मयूर—दोनों का सामान्याधिकरण्य है। दमयन्ती की तुलना शरद् काल में मधुर बोलनेवाली हंसी से की गयी है, दमयन्ती 'अस्य पदे पदे रागस्य दधा' (नल के प्रतिशब्द पर मुग्धा) है और हंसी है 'आस्यरागस्य पदे पदे दधा' (लाल चोंच और चरणों वाली) यह दमयन्ती हंसी की समानता है। कहा जाता है कि वर्षाऋतु में बोलता बोलता मयूर शरद् में चुप हो जाता है, क्योंकि उसके स्वर में कुछ विरसता आ जाती है। नल के वचन भी कुछ रूक्ष थे ही। शरद् काल में राजहंसी मधुरालाप करती है। इस प्रकार मधुरा वाणी बोलती दमयन्ती की तुलना शारदीया हंसी से उचित ही है। रूक्षस्वर मयूर-नल चुप हुआ, तदनन्तर मधुरस्वरा शारदीया हंसी-दमयन्ती बोली। विद्याधर के अनुसार श्लेषोपमालंकार जिसे चन्द्रकलाकार ने श्लेष और उपमा का संकर कहा है।१४।

सुधांशुवंशाभरणं भवानिति श्रुतेऽपि नापैति विशेषसंशयः।
कियत्सु मौनं विततं कियत्सु वाङ्महत्यहो वञ्चनचातुरी तव ॥१५॥

जीवातु—सुधांश्विति। भवान् सुधांशुवंशाभरणमिति श्रुतेऽपि विशेष विषये संशयस्तत्रापि क इति सन्देहो नापैति अतो विशेषो वक्तव्य इति भावः। अथावाच्यत्वान्नोच्यते तर्हि कियद्वाच्यं तदेव विविच्यतामित्याह—कियत्स्वर्थेषु मौनं कियत्सु विषयेषु वाग्विततः विस्तृता न किञ्चिदत्र नियामकमस्तीति भावः। किंतु तव वञ्चनचातुरी प्रतारणाच्चातुर्यं महती। अहो औचितीव च्चातुरी व्याख्येया॥ १५॥

अन्वय—भवान् सुधांशुवंशाभरणम् इति श्रुते अपि विशेषसंशयः न अपैति, कियत्सु मौनं, कियत्सु विततः, अहो, तव वञ्चनचातुरी महती।

हिन्दी—(दमयन्ती ने कहा) आप (नल) अमृतकिरण (चन्द्र) के कुल के आभूषण हैं—यह सुनकर भी विशिष्ट (व्यक्ति नल) होने का संदेह दूर नहीं

होता। किन्हीं (प्रश्नों के उत्तर में) मौन किन्हीं ने विस्तार ! बहुत बड़ी है आश्चर्य कारिणी अपनी प्रतारणाचातुरी (ठगने में कुशलता)।

टिप्पणी—नल ने कहा कि वह 'चन्द्रवंश काही' है, पर नाम नहीं बताया। दमयन्ती इससे संदेह में पड़ गयी कि यह चन्द्रवंशोत्पन्न राजा नल है अथवा कोई अन्य ? इस पर उसने नल को 'वचनचतुर' कहा। कुछ प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, कुछ का दे दिया। आश्चर्यजनक प्रतारणाचातुर्य दिखाया उसका भाव यह है कि नल जैसा प्रतारक तो दमयन्ती ने नहीं देखा। जिनके दूत है, किस काम से आये हैं—तो विस्तार से बताया, पर कुलनाम एक शब्द में कह दिया। शेष परिचय में पूर्णतः मौन साध लिया। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ १५ ॥

मयापि देयं प्रतिवाचिकं न ते स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते।
परेण पुंसा हि ममापि संकथा कुलाबलाचारसहासनासहा ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ यदुक्तं नामकथनं निषिद्धमिति तत्र प्रतिबन्दी गृह्णाति—मयापीति। स्वनाम मम कर्णसुधा कर्णामृतमकुर्वते अथावयते इत्यर्थः ते तुभ्यं ममापि प्रतिवाचिकं प्रतिसन्देशम न देयं, कुतः, हि यस्मान्ममापि परेण पुंसा संकथा सम्भाषणं कुलाबलानां कुलाङ्गनानामाचारस्य सहासनं सहवासस्तस्य न सहत इत्यसहा अक्षमा। 'पचाद्यच्'। कुलस्त्रीसमाचारविरुद्धं इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अन्वय—स्वनाम मत्कर्णसुधाम् अकुर्वते ते अपि प्रतिवाचिकं न देयम्, हि मम अपि परेण पुंसा संकथा कुलाबलाचारसहासनासहा।

हिन्दी—अपने नाम को मेरे कानों का पीयूष बनाते (न बताते हुए) तुम्हें मेरे (दमयन्ती के) द्वारा भी प्रत्युत्तर देना उचित नहीं है, क्योंकि मेरा भी परपुरुष के साथ सलाप कुलनारियों के आचार के साथ एकासीनता को सहने योग्य नहीं है।

टिप्पणी—नल ने स्वनामाकथन में जिस लोकाचार की दुहाई दी थी, दमयन्ती ने भी उसी आधार पर कहा कि अज्ञातकुलनामा परपुरुष के साथ बात-चीत करना कुलनारियों के लिए अच्छा नहीं माना जाता, अतएव नल द्वारा उपस्थित किये गये दिक्पालों के संदेश का उत्तर देने में दमयंती असमर्थ

है। कुलस्त्री समाचार-विरुद्ध कार्य वह नहीं कर सकती। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास दार्ष्यलिंग अलङ्कार ॥ १६ ॥

हृदयाभिनन्द्य प्रतिवन्द्यनुत्तरं प्रियागिरं सस्मितमाह स स्म ताम्।
वदामि वामाक्षि! परेषु मा क्षिप स्वमीदृशं माक्षिकमाक्षिपद्वचः ॥१७॥

जीवातु—हृदेति। स नलः प्रियाया गिरो वाक्यानि हृदा हृदयेन अभिनन्द्यानुमोद्य प्रतिवन्द्या पूर्वश्लोकोक्तया अनुत्तरं तां प्रियां सस्मितमाह स्म उक्तवान्। 'लट् स्म' इति भूते लट्। हे वामाक्षि! चारुलोचने! वदामि। माक्षिकाभिः कृतं माक्षिकम्। 'मधुभेदो मधु क्षौद्रं माक्षिकादि' इत्यमरः। तेन कृतमित्यर्थे संज्ञायामित्यण्प्रत्ययः। तदाक्षिपत् निराकुर्वत् तत्सदृशमित्यर्थः। ईदृशं लोकोत्तरं स्वं वचः परेषु परपुरुषेषु मा क्षिप मा निधेहि सत्यं कुलस्त्रीणां परपुरुषसम्भाषणमनुचितमङ्गीकृतं च स्वयं तु न परपुरुष इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वय—प्रियागिरं हृदा अभिनन्द्य प्रतिवन्द्यनुत्तरं सः तां सस्मितम् आह स्म—वामाक्षि, वदामि, ईदृशं माक्षिकम् आक्षिपत् स्वं वचः परेषु मा क्षिप।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) की वाणी का हृदय से अभिनन्दन (स्तुति) करके (दमयन्ती की) पूर्वश्लोकोक्ति द्वारा निरुत्तर वह (नल) उस (दमयन्ती) से मन्दस्मित के साथ बोला—हे सुनयने, निवेदन है कि ऐसे मधु को तिरस्कृत बनाने (मधु से भी मधुर) अपने वचन (मेरे जैसे) परपुरुष पर मत फेंको।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से संलाप अस्वीकार कर दिया, क्योंकि परपुरुष से वार्तालाप कुलललनाओं के आचरण के विरुद्ध है। नल ने दमयन्ती की इस वचन चातुरी की मन ही मन प्रशंसा की। इस उक्ति का उत्तर उसके पास नहीं था, जिस आचार पालन के आधार पर नलने नाम बताना अनुचित कहा था, उसी युक्ति का सहारा लेकर दमयन्तीने भी उसे निरुत्तर कर दिया। तब नल ने प्रशंसा-सूचक मुसकान के साथ उससे निवेदन किया कि उसका कथन ठीक है। दमयन्ती अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से संलाप न करे। अपने मधु से भी मधुर वचनों से इन्द्रादि दिक्पालों से ही संलाप करना मान कर उनके संदेश का उत्तर देने की कृपा करे। इन्द्रादि तो अज्ञातकुलनाम नहीं हैं सो दमयन्ती का दिया प्रत्युत्तर दिक्पालों के प्रति ही समझा जायेगा,

जानतकुन्नामा दूत (नल) के प्रति नहीं। अत दमयन्ती की इस प्रकार की 'प्रतिवदी' का परित्याग कर ज्ञातकुलीनाम दिक्पालों को ऋजुमार्ग से उत्तर देना चाहिए।

'प्रकाश' कार ने अन्वयान्तर करके और भी अर्थ विशेष किये हैं। 'सस्मिन माक्षिकम् आक्षिपत् वच आहन्त ईदृश स्व परेषु मा क्षिप'—अर्थात् स्मित के साथ मधु को तिरस्कृत करते वचन नल ने दमयन्ती से कहे—ऐसे अपने (मुझ नल) को पराये (पराये) में मत फेंको। भाव यह कि इन्द्रादि के इस रूप में उपस्थित 'पर' नहीं है, जिससे सलाप कुलाचार-विरुद्ध हो। दिक्पालदूत में परिचित होने पर अब परता कहाँ रही? इन्द्रादि के दूत रूप में वह उनके समान ही दमयन्ती का अपना है। 'माक्षिकम् आक्षिपत् वच परेषु मा क्षिप किन्तु मयि क्षिपेति वा।' अथवा मधु को अवमानित करते वचन परायों से मत कहो, किन्तु मुझ से कहो। मुझमें पर बुद्धि न करके यह मानो कि मैं नल ही हूँ। इस प्रकार नाम बताया ही समझो। अथवा 'वदामि' अर्थात् नाम बताता हूँ, 'परेषु मा क्षिप', परायों में मत गिनो अर्थात् उपस्थित नल से अन्य है—ऐसा मत मानो। भाव यही है कि उपस्थित व्यक्ति को किसी तर्क के आधार पर परपुरुष न मान, अपना मान कर ही दिक्पालों के सन्देश का उत्तर देना ही दमयन्ती को उचित है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक ॥ १७ ॥

करोषि नेन फलिन मम श्रम दिशोऽनुगृह्णासि न कञ्चन प्रभुम्।
त्वमिन्यमर्हासि सुरानुपासितु रसामृतस्नानपवित्रया गिरा ॥१८॥

जीवातु—करोषीति। हे भैमि! श्रीमते! मम इम श्रम सुरकार्यप्रयास फलिन फलवन्त 'फलवान् फलित फली' इत्यमर 'फलबर्हाभ्यामिनज्वक्तव्य।' न करोषि क्व, कञ्चनैकमपि दिश प्रभु दिगीश नानुगृह्णासि, त्वमिन्य रसो माधुर्यमेवामृत तत्र स्नानेनावगाहेन पवित्रया पूतया गिरा सुरानुपासितुमर्हासि स्नाताधिकारत्वाद्देवपूजाया इति भाव ॥१८॥

अन्वय—मम इम श्रम फलिन न करोषि, कचन दिश प्रभुं न अनुगृह्णासि त्वम् इत्य रसामृतस्नानपवित्रया गिरा सुरान् उपासितुम् अर्हासि।

हिन्दी—क्या (तुम) इस मेरे परिश्रम को सफल नहीं करोगी? क्या

अन्वय —दयच्चिरस्य मत्पथे अवदधन्ति इन्द्रनेत्राणि अशनि न निममौ किम् ? सत्वरकार्यमन्थर मा धिक् अस्तु, यत्र परप्रेष्यगुण अपि न स्थित ।

हिन्दी—इतने समय तक मेरे (नलदूत के) मार्ग मे अवहित (प्रतीक्षा करते) इन्द्र के नेत्रो को क्या वज्र ने नही बनाया है ? (बनाया ही है, अन्यथा इतने समय बाट कैसे जोहते रहते इन्द्र-नेत्र ?) शीघ्रता से किये जाने वाले कार्य मे विलम्ब लगाने वाले मुझ (दूत) को धिक्कार है, जिसमें अन्य का दूत (अथवा 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट दूत) बनने का गुण भी नही है।

टिप्पणी—सचमुच इन्द्र की आँखें वज्र से ही बनी हैं, तभी इतनी कठोर और दृढ रहकर दूत के लौटने की बाट जोह रही हैं। विलम्ब अत्यधिक हो गया है। कार्य शीघ्रता से सपन्न हो, यह दास का गुण होता है। पर नल शीघ्रतया कार्य न कर सका, अत वह उपयुक्त दूत भी प्रमाणित न हुआ, यह कितना खेदजनक है ? चाकरी निकृष्ट कही जाती है, पुण्यश्लोक नल उसके योग्य भी सिद्ध नही हो रहा है—यह कितना धिक्करणीय है ! भाव यही है कि देवो के उत्तर की प्रतीक्षा करते करते अत्यधिक विलम्ब हो गया है, अत अब तुरन्त उत्तर मिलना ही उचित है। 'अशनि'-कथन से इन्द्र के क्रोध का भी सकेत है और उसमें माध्यम से अन्य दिक्पालो के क्रुद्ध हो जाने का भी। इन्द्र की आँखो मे वज्र है, बड़ा कठोर है वह। उसके क्रोध करने पर अपराधी का विस्तार नही। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलकार ॥ २१ ॥

इद निगद्य क्षितिभर्तरि स्थिते तयाऽभ्यधायि स्वगत विदग्धया ।
अधिक्षि त दूतयता भुव स्मर मनो दधत्या नयनैपुणव्यये ॥ २२ ॥

जीवातु—इदमिति । क्षितिभर्तरि भूपे इद निगद्य स्थिते तूष्णी भूते सति क्षेप्यविक्षि विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे नपुसकह्रस्व । भुव स्मर भलोक-मन्मथ त पुरुष दूतयता दूतकृत्ये निषिद्धमत्यतिसु दरसेन दूत कुर्वतामित्यर्थ । यथा भरत —'नोज्ज्वल रूपवन्त च नायवन्त न चातुरम् । दूत वापि हि दूती वा बुध कुर्यात्कदाचन ॥' इति । नयनैपुणव्यये नीतिचातुर्यशून्यत्वे मनो दधत्या निदधत्या एते नीतिशून्या इति जानन्त्येवेत्यर्थ । अत एव विदग्धया कुशलया दमयन्त्या स्वगतमप्रकाश यथा तथा आत्मन्येवाभ्यधायि

दमितेति 'सर्वेषाम प्रणाम स्यादभाव स्यात स्मृतम्' इति दशरूपके लक्षणात्। अहो बुद्धिमान्दमेयास्यदेन नल दूते निपुणवत इति भाव ।२२।

अन्वय —क्षितिभर्तरि इद नितय स्थिते नूत्न स्मर त दूतयता अमिस्त्रि नयनैपुणलये मनो दधत्या विदर्भया तदा स्वगतम् अभ्यधायि।

हिन्दी—धरती के स्वामी (राजा नल) के इस प्रकार (श्लोक सं० १७–२१) कहकर ठहर जाने (चुप हो जाने) पर स्त्रियों के विषय में नूतन के काम (अतिसुन्दर) उस (नल) को दूत बनाते (देवों का) स्त्रियों के विषय में नीति निपुणता का अभाव मन में धारती नीति-चतुरा वह (दमयन्ती) ने स्वगत कहा।

टिप्पणी—नलमुग्धा दमयन्ती ने दूत नल का चातुर्यपूर्ण कथन सुन कर मन-ही-मन विचार किया—स्वगत भाषण अर्थात् अप्रकाश कथन। वह सोचने लगी कि देव नारी मनोविज्ञान से अपरिचित हैं। कहीं ऐसे कामदेव के समान सुन्दर व्यक्ति को प्रणय सन्देशवाही दूत बनाया जाता है? ऐसे सुन्दर रूप को देखकर कौन नारी अन्य पुरुष का विचार कर सकती है? इसीलिए नीतिशास्त्र में कहा गया है–ऐसे स्त्री अथवा पुरुष को दूतकार्य नहीं सौंपा जाना चाहिए, जिनका उज्ज्वल रूप हो, जो अत्यन्त चतुर हो अथवा रोगी हो। स्त्रियों के निकट अनन्य, सामान्य दूत भेजना उचित है। इन्द्रादि ने इस विषय में ऐसे सुन्दरतम व्यक्ति को दूत बनाकर भेज कर नीति विषयक अपने अज्ञान का परिचय दिया है। विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक अलंकार।

जलाधिपस्त्वामदिशन्मयि ध्रुवं परेतराजः प्रजिघाय स स्फुटम्।
मरुत्वतैव प्रहितोऽसि निश्चितं नियोजितश्चोर्ध्वमुखेन तेजसा ॥ २३ ॥

जीवातु—स्वकृतवाक्यमेवाह—जलेति। जलाधिपो वरुण लडयोरभेदात् जडस्वामी च मयि विषये त्वा प्रतीत्यर्थः। त्वामदिशदतिसृष्टवान् ध्रुवम्? स प्रसिद्ध परेतराजो यम प्रेतमुख्यश्च त्वा प्रजिघाय प्रहितवान् स्फुटम-सन्दिग्धम्। मरुतो देवा तद्वता मरुत्वता इन्द्रेण वातुलेन च। 'मरुतौ पावनामरौ' इत्यमर। प्रहितोऽसि निश्चितमूर्ध्वमुखेन तेजसा अग्निना स्वच्छन्दता च नियोजित प्रेषितोऽसि। ते च प्रेषितवन्त स्वत्व प्रेषित सत्य-मेवैतत् निष्फलोऽयमारम्भ इति स्वगतमुवाचेत्यर्थ ॥ २३ ॥

अन्वय—जलाधिप मयि त्वा ध्रुवम् अदिदेत्, स परेतराज स्फुट प्रजिघाय, मरुत्वता प्रहित एव ऊर्ध्वमुखेन तेजसा च निश्चत नियोजित असि।

हिन्दी—(दमयन्ती ने सोचा) जल के स्वामी वरुण ने निश्चय ही मेरे पास आने का तुम्हे आदेश दिया है, उस प्रेतप्रमुख ने प्रकट है कि भेजा है, पवन के मित्र इन्द्र ने तो भेजा ही है और जिसका मुख ऊपर को रहता है, उस अग्नि ने तो निश्चित ही (तुम्हे) नियुक्त किया है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने इन्द्रादि को नयनिपुणरहित माना, क्योंकि उन्होंने नल जैसे सुन्दरतम व्यक्ति को दूत बनाकर नीतिविरुद्ध कार्य किया था। उसी मूर्खता का यहाँ उपहास किया गया है, अर्थात् ये सब तो मूर्ख हैं ही, मूर्खता उनकी सज्ञा से ही प्रकट हो जाती है। वरुण जलाधिप है—जड जल का स्वामी, जडराज। यम परेतराज है—सबसे बडा प्रेत, मृतको का राजा अर्थात् मृतका—अचेतना, जडो मे सुप्रतिष्ठित। क्या कहना इन्द्र का? वह है ही मरुत्वान्—वातूल, बकवादी, ऐसी बकवाद सदा किया करता है। और तेजोमय अग्नि वह तो 'ऊर्ध्वमुख' है, पिशाच, अप्रतिभ। सो इन सब ने परमसुन्दरी दमयन्ती के निकट परमसुन्दर दूत नल को भेजा, अपनी मूर्खता प्रकट कर दी। ये क्या विचार कर पाते? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलकार। चन्द्रकलाकार के अनुसार उत्प्रेक्षा-श्लेष का अगागिभाव से सकर ॥ २३ ॥

अथ प्रकाशं निभृतस्मिता सती सतीकुलस्याभरणं किमप्यसौ।
पुनस्तदाभाषणविभ्रमोन्मुखं मुखं विदर्भाधिपसम्भवादधे ॥ २४ ॥

जीवातु—अथेति। अथ स्वगतोक्त्यनन्तर सतीकुलस्य पतिव्रतावर्गस्य किमप्यनिर्वाच्यमाभरणमलङ्कारभूता असौ विदर्भाधिपसम्भवा वैदर्भी निभृतस्मिता गम्भीरस्मिता सती प्रकाश यथा पुनस्तेन सहाभाषणमेव विभ्रमो विनोद तत्रोन्मुखमुत्सुक मुखमास्यमादधे आवभाषे इत्यर्थ ॥ २४ ॥

अन्वय—अथ सतीकुलस्य किम आभरणम् असौ विदर्भाधिपसम्भवा निभृतस्मिता सती पुन प्रकाश तदाभाषणविभ्रमोन्मुख मुखम् आदधे।

हिन्दी—इसके पश्चात् सतीकुल (पतिव्रतासमूह) की लोकोत्तर आभूषण (सतीश्रेष्ठ) इस विदर्भराज की पुत्री (दमयन्ती) ने गुप्त मन्द हास्य करने

हुए पुनः प्रकाशरूप से उस (नल) में आलापरूप विघ्न में सम्मुख अपने मुख को किया।

टिप्पणी—सब दीप्तिमान देवों की पूर्वता पर विचार करती और हटती सर्वश्रेष्ठ, परमसुन्दरी दमयन्ती प्रकाश रूप से नल के प्रति वार्तालाप के निमित्त उन्मुख हुई। नारायण के अनुसार 'तदालापाविघ्नोन्मुखम्' यह सूचित होता है कि सभी दमयन्ती दूत को नल मानते हुए स्वतः मुख से उससे वार्तालाप ही करने को उद्यत हुई, सन्देश का उत्तर प्रासंगिक रहा। आलापाभिमुख ही दमयन्ती का लक्ष्य था, उत्तरदान नहीं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक अलङ्कार॥ २४॥

वृथा परीहास इति प्रगल्भता न नेति च त्वादृशि वाग्विगर्हणा।
भवत्यवज्ञा च भवत्यनुत्तरादतः प्रदित्सुः प्रतिवाचमस्मि ते॥ २५॥

जीवातु—वृथेति। भवति पूज्ये त्वादृशि विषये वृथा परीहास इति वाक्। 'उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्' इति दीर्घः। प्रगल्भता प्रागल्भ्यं दोषावहेत्यर्थः। कार्यकारणयोरभेदेनोपचारः। न नेति च वाक् नञ्द्वयनिषेधोक्तिश्च, त्वादृशे विगर्हणा गर्होक्तिः स्यादित्यर्थः। अनुत्तरात् उत्तराप्रदानात् अवज्ञा अनादरदोषो भवति। अतो हेतोस्ते तुभ्यं प्रतिवाचं प्रत्युत्तरं प्रदित्सुः प्रदातुमिच्छुरस्मि। पश्चादर्थनन्तु प्रत्युत्तरमहमेव दाक्षिण्यात्ते वदामीति तात्पर्यम्॥ २५॥

अन्वयः—भवति त्वादृशि वृथा परीहासः—इति प्रगल्भता, न न—इति वाक्-विगर्हणा, अनुत्तरात् अवज्ञा भवति, अतः ते प्रतिवाचं प्रदित्सुः अस्मि।

हिन्दी—पूजनीय आप सदृश व्यक्ति से व्यर्थ परिहास करना—यह धृष्टता है, 'नन' (निषेधात्मक उत्तर)—ये वचन विशेष निन्द्य हैं और उत्तर न देने से अवज्ञा (अनादर) होती है, अतएव प्रत्युत्तर देने को उद्यत हूँ।

टिप्पणी—नल के प्रति 'भवान्' विशेषण से द्योतित होता है कि यह सब आदर भाव नल के प्रति ही प्रकट करना दमयन्ती का उद्देश्य था उसी की प्रतिष्ठा स्वीकार कर वह उत्तर देने को तैयार हुई, इन्द्रादि के ध्यान या माहात्म्य की स्वीकृति के कारण नहीं। अन्य किसी दूत से वह बात भी नहीं करती, उत्तर देना तो दूर। अपरिचित से उपहास धृष्टता होती है, सो दमयन्ती

पर 'प्रतिसंवादि' रूप औद्धत्य करने का आरोप उचित नहीं। श्रेष्ठ, आदरणीय पुरुष के प्रति निषेधवाक्य निंदा का कारण होता है, अन्य व्यक्ति के प्रति निरुपपत्तिक वक्तव्य विगर्हणा है, सोपपत्तिक ही कहना चाहिए। चुप रहने से भी अनादर प्रकट होता है, अतः दमयन्ती ने सब विचार कर उत्तर देने का निर्णय किया। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ २५ ॥

क्व नु तेषां कृपयापि वागसावस्ति मानुष्यकलाञ्छने जने।
स्वप्रभावभक्तिप्रवणं प्रतीश्वरा कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा ॥ २६ ॥

जीवातु—क्वेति। तेषामिन्द्रादीनां कृपयापि (कर्त्री) मनुष्यस्य भावो मानुष्यकम्। 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ्'। तदेव लाञ्छनं कलङ्को यस्य तस्मिन्निर्दोषजनविषयेऽस्मिन्नित्यर्थः। असौ वागस्मान् वृणीध्वेति वचनं क्वयमसावि सूता अनुचितमित्यर्थः सूते कर्मणि लुट्। वा अथवा ईश्वरा स्वामिनः स्वभावभक्तिप्रवणं जनं प्रति कया वाचा मुदं नोद्गिरन्ति भक्तवात्सल्यात् नीचमपि भक्तजनमनुग्रहवयापि वाचा वहु कुर्वन्ति कृपालव स्वामिन इत्यर्थः। तथा च तद्वचनमुपचारत्वेन गृह्यते। न तु कर्तव्यतयेति भावः ॥ २६ ॥

अन्वय—मानुष्यकलाञ्छने जने असौ वाक् तेषां कृपया अपि क्व नु अभावि? वा ईश्वराः स्वप्रभावभक्तिप्रवणं प्रति कया वाचा मुदं न उद्गिरन्ति?

हिन्दी—मनुष्य होने के लांछन से युक्त व्यक्ति (दमयन्ती) के प्रति यह वाणी (वरण करलो—यह वचन) उन (दिक्पालों) की कृपा से भी कैसे उत्पन्न हुई? अथवा समर्थ जन अपने भाव और भक्ति में लीन (भक्त) के प्रति किस वाणी से प्रसन्नता नहीं व्यक्त करते हैं?

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा—देवों ने जो उनसे निकट वरण सन्देश भेजा, उसकी तो संभावना ही कठिन है। कहीं मानुषी के प्रति अमरों की ऐसी इच्छा हो सकती है, भले ही वे कृपालु क्यों न हों? मनुष्यत्व का लांछन जिस पर लगा है, देव उसे पत्नी भाव से स्वीकारने की कृपा क्या करेंगे? कदाचित् उनकी यह अपने भक्त के प्रति कृपा है। समर्थ व्यक्ति भक्तों के प्रति अपना अनुग्रह किसी प्रकार प्रकट कर सकते हैं। इसीसे देवोंने दमयन्ती के भक्ति-भाव पर प्रसन्न होकर यह सन्देश भेजा है। भाव यह कि देवों की वास्तविक इच्छा यह नहीं है कि दमयन्ती उनकी पत्नी हो उन्होंने

दमयन्ती को नमित पर अपनी प्रसन्नता इस प्रकार व्यक्त की है। वे तो पूजनीय हैं, वरणीय नहीं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा ।२६।

अहो महेन्द्रस्य कथं मयौचिती सुराङ्गनासङ्गमशोभिताभृतः।
ह्रदस्य हंसावलिमांसलश्रियो बलाकयेव प्रबला विडम्बना ॥ २७ ॥

जीवातु—अहो इति। सुराङ्गनासङ्गमेन शोभत इति तच्छोभि तस्य भावस्तत्ता तां बिभर्तीति तद्भृतः महेन्द्रस्य हंसावल्या मांसला मांसवती सान्द्रा श्रीरिति यावत्। पिच्छादित्वादिलच्। सा श्रीर्यस्य तस्य ह्रदस्य सरसो बलाकयेव मया निमित्तेन प्रबला महती विडम्बना परिहासः कथमौचिती न कथञ्चिदित्यर्थः। अहो, सति सुरस्त्रीजने मानुषीमनुसरतो महेन्द्रस्यामृतमप्यवधीर्योदकपान-प्रवृत्तिरपि सम्भाव्यत एवेति भावः ॥ २७ ॥

अन्वय—अहो, सुराङ्गनासङ्गमशोभिताभृतः महेन्द्रस्य हंसावलिमांसलश्रियः ह्रदस्य बलाकया इव मया प्रबला विडम्बना कथम् औचिती ?

हिंदी—देवरमणियों (अप्सराओं) के संगम से शोभाशीलता धारण करते महेन्द्र (स्वर्गराज) की, हंस पंक्तियों से गाढ शोभा संपन्न सरोवर की बगुली समान मुझ से इतनी बड़ी विडम्बना कैसे उचित है ? (किसी प्रकार नहीं।)

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्पष्ट किया कि उसके साथ परिणय संबंध करके स्वर्गाधिपति महाराजराज महेन्द्र निन्दित और उपहासास्पद बन जायेंगे, ठीक वैसे ही जैसे हंसावलि से भरपूर, सुशोभित सरोवर किसी निकृष्ट बगुली के ध्यान से दूषित हो जाये। इन्द्र शोभाशाली जलाशय के तुल्य हैं, जिनकी संगति में उर्वशी, रम्भा, मेनका आदि अप्सरियाँ हंसावलिसदृश। ऐसी हंसावलि के मध्य मानुषी दमयन्ती एक बगुली-सी लगकर इन्द्ररूप सरोवर के दोष और उपहास का कारण ही बनेगी। इन्द्र महाराज इस सब का ध्यान भी नहीं रख पा रहे और ऐसा अनुचित प्रस्ताव कर रहे हैं—यह महान् आश्चर्य है! गूढ भाव यह कि दिन-रात अप्सराओं के साथ रमा रहनेवाला विलासी इन्द्र स्वर्गाधिपति होने पर भी दमयन्ती के उपयुक्त नहीं है। अमृतपायी का सामान्य जल का तृषा ही आश्चर्य है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा अलंकार ॥ २७ ॥

तया दमयन्त्या श्रुतौ श्रोत्रे लगित्वा आसन्ना भूत्वाभिहिता कथिता आलिः सखी आलपत् जल्पितवती। किमित्यत आह—इय दमयन्ती ह्रिया लज्जया मे मम हृदय प्रविश्य यद्वच आह ब्रूते। मम मुखेनैवाध्वना विनियद्विनिर्गच्छद् तद्वच आकर्णय शृणु॥ ३०॥

अन्वय—अद निगद्य एव नतास्यया तया श्रुतौ लगित्वा अभिहिता आलिः आलपत्—इय ह्रिया मे हृदय प्रविश्य यत् आह, मन्मुखाध्वना विनियत् तत् आकर्णय।

हिन्दी—इतना कहकर ही नीचे को मुख कर उस (दमयन्ती) के द्वारा कानो मे कहे जाने पर (दमयन्ती की) सखी ने कहा—इस (दमयन्ती) ने लज्जा के कारण मेरे हृदय मे प्रविष्ट होकर जो कहा, मेरे मुख मार्ग से निकलते उसे (मतव्य) को सुनिए।

टिप्पणी—दिक्पालो के प्रति अरुचि का मुख्य कारण था दमयन्ती का नल के प्रति दृढ अनुराग। दमयन्ती किसी पुरुष—और उस पुरुष के समुख, जिसमे उसे नलत्व का सदेह हो—अपने अनुराग की बात कैसे कहती? इसका कारण थी नारीजनोचित स्वाभाविक लज्जा। यह बात दमयती ने अपनी एक सखी के कान मे कह दी और वह सखी नल को बताने लगी। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलकार छेकानुप्रास॥ ३०॥

विभेति चिन्तामपि कर्तुमीदृशी चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुटयति चापलात् किल॥३१॥

जीवातु—विभेतीति। चिराय चिरात्प्रभृति चित्तेऽर्पित स्थापितो नैषधेश्वरो नलो यया सा स्त्री ईदृशी परविषया चिन्तामपि कर्तुं बिभेति। कुत इत्यत आह मृणालस्य तन्तुरिव छिदुरा छेदनशीला, 'विदिभिदिच्छिदे' इत्यादिना कुरच् सत्या पतिव्रताया या स्थिति मर्यादा सा लवाल्पादपि चापल्याल्लौल्याद्धेतो त्रुटयति किल त्रुटति खलु। 'वा भ्राशे'-त्यादिना श्यन्प्रत्यय॥ ३१॥

अन्वय—चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा ईदृशी चिन्ताम् अपि कर्तुं बिभेति, मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थिति लवात् अपि चापलात् किल त्रुटयति।

हिन्दी—चिरकाल से चित्त में निषधराज (नल) को स्थापित किये (दमयन्ती) इस प्रकार (अन्यवरण) की चिंता (विचार) भी करने मे

डरती है, मृणाल (कमलनाल) के सूत्र से स्वयमेव टूट जानेवाली पतिव्रता की मर्यादा अत्यल्प भी चपलता से निश्चयरूपेण टूट जाती है।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती का चिरस्थानुराग बताते हुए उसकी सखी ने सूचित किया कि यह दमयन्ती तो अब मन से भी अन्य वरण का विचार नहीं कर सकती, शरीर से अन्य को स्वीकारने की बात क्या? पतिव्रता की स्थिति बड़ी कोमल होती है बिसतन्तु तुल्य, क्षण की चपलता में मर्यादा भंग हो सकता है, सो दमयन्ती ऐसा न सोच सकती है, न सुन सकती है। जब एक को मनसा वर लिया, तब अन्य के विषय में विचार भी असंगत है। विद्याधर के अनुसार हेतुरूपमालङ्कार ॥ ३१ ॥

ममाशय स्वप्नदशाज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि।
कुतः पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विबुधैर्न पृच्छ्यते ॥ ३२ ॥

जीवातु—ममेति। अथवा ममाशयश्चित्तवृत्तिः स्वप्नदशाया स्वप्नावस्थाया आज्ञयापि वा नलं विलङ्घ्य इतरं पुरुषं यदि अस्पृशत् प्राप्तवान्। तर्हि समस्तस्य साक्षिणी निजा स्वकीया बुद्धिरेव तत्र विषये कुतः पुनर्विबुधैः इन्द्रादिभिः न पृच्छ्यते नानुयुज्यते। सर्वसाक्षिणः स्वयं किं न जानन्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

अन्वय —वा यदि मम आशयः स्वप्नदशाज्ञया अपि नलं विलङ्घ्य इतरम् अस्पृशत्, पुनः समस्तसाक्षिणी निजा बुद्धिः एव तत्र कुतः विबुधैः न पृच्छ्यते ?

हिन्दी— अथवा यदि मेरी (दमयन्ती की) मनोवृत्ति ने स्वप्नावस्था की आज्ञा से भी नल को छोड़ अन्य का स्पर्श किया हो तो फिर समग्र संसार की साक्षात्करती अपनी (देवों की) बुद्धि से ही उस विषय में देव क्यों नहीं पूछते ?

टिप्पणी—देव अन्तर्यामी हैं, सब की बात समझ सकते हैं। वे भली भाँति जानते हैं कि दमयन्ती स्वप्न में, अनजाने में भी नलातिरिक्त किसी का विचार नहीं करती। ऐसी स्थिति में अच्छा यही होगा कि वे अपनी 'समस्तसाक्षिणी बुद्धि' से ही यह जानने का कष्ट करें कि दमयन्ती का नलानुराग कैसा है? तदनन्तर वे स्वयं जान जायेंगे कि उनका प्रस्ताव कितना असंगत है? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलंकार।

मल्लिनाथ ने 'स्वप्नदशाया आज्ञया' विग्रह किया है, अब हुआ कि स्वप्न में प्राप्त आज्ञा से भी। यह अर्थ उतना संगत नहीं लगता, जितना 'स्वप्नदशाया अनया नपि' छेद करके 'सपने में अनजाने' अर्थ। नारायण ने दोनों प्रकार के अर्थों का संकेत दिया है॥ ३२॥

अपि स्वमस्वप्नममूपुपन्नमी परस्य दारानवबोद्धुमेव माम्।
स्वयं दुरध्वार्णवनाविका: कथं स्पृशन्तु विज्ञाय हृदापि तादृशीम्॥ ३३॥

जीवातु—अपीति। अमी इन्द्रादय देवा अस्वप्नं स्वप्नवर्जितं स्वमात्मानं मां परस्य दारानवबोद्धुमज्ञातुमेव अमूपुपन् स्वापितवन्तः। स्वापेर्णौ चङि 'स्वपिस्यमिव्येञां यङि' इति सम्प्रसारणम्। अन्यथा सर्वज्ञाना तेषामस्मिन्नेवार्थे कथमज्ञानमित्यर्थ। तदेवोपपादयति—स्वयं दुष्टोऽध्वा दुरध्वः, 'उपसर्गादध्वन' इति समासान्तोऽच्। स एवार्णवस्तस्य नावा तरन्तीति नाविका कर्णधारा स्व 'नौ द्व्यचष्ठन्' इति ठन्प्रत्यय कथं तादृशीं मां हृदा विज्ञायापि स्पृशन्तु स्पृशेयु। स्वयममार्गनिवारकाणां तत्प्रवृत्तिरनर्हेति भाव॥ ३३॥

अन्वय—अमी मां परस्य दारान् अवबोद्धुम् एव स्वम् अस्वप्नम् अपि अमूपुपन्, स्वयं दुरध्वार्णवनाविका अपि तादृशीं मां विज्ञाय कथं हृदा स्पृशन्तु?

हिन्दी—लगता है, ये (देवगण) मुझ (दमयन्ती) को अन्य (नल) की पत्नी न समझने के लिए ही अपने को स्वप्न रहित सुलाते रहे, (अन्यथा) स्वयम् दुराचार-मार्ग-रूप समुद्र के नाविक (होकर) भी वैसी (नलपत्नी) मुझे जानकर कैसे व हृदय से (भी) छुए?

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में सखी ने बताया कि दमयन्ती नल की दृढ़ानुरागिणी है, वह स्वप्न में भी अन्य को वरने की बात सोच भी नहीं सकती, देवों को स्वयं यह समझना चाहिए। यहाँ वह कहती है कि कदाचित् इसी तथ्य से अनजान बने रहने के लिए देवगण स्वप्नरहित, गाढ़ निद्रा लेते रहे कि संसार में जो होता है, उससे अनभिज्ञ बन रहें। यदि ऐसा न होता तो परदार वरण के दुराचार के विषय में त्रिकाल सोचते भी नहीं, क्योंकि वे ही तो दुराचार के समुद्र में डूबते व्यक्तियों के कर्णधार हैं अर्थात् दुराचारियों को सदाचार के मार्ग पर लाने वाले उद्धारकर्ता हैं। वे सदाचार के

आदर्श दुराचरण के विषय में विचार भी नहीं कर सकते। इस प्रकार दमयन्ती ने दिक्पालों के उपहासास्पद होने का भी संकेत कर दिया। जो अन्य जनों के उपदेष्टा हैं, वे स्वयं दुराचारमार्ग पर चलने को प्रवृत्त हैं, ऐसे अज्ञानियों से विवाह करना कौन बुद्धिमती ठीक समझेगी? भाव यह कि देवों को ऐसा कदर्य विचार भी नहीं करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार विरोधरूपक-हेतु अलङ्कार है॥ ३३॥

अनुग्रहः केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मन्यपि यन्मनो जने।
स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रसद्य भिक्षां वितरीतुमीशताम्॥ ३४॥

जीवातु—अनुग्रह इति। मनुष्येषु जन्म यस्य तस्मिन्नपि मादृशे जने यन्मनोऽनुरक्तं वर्तते एष केवलोऽनुग्रहो विशेषः कर्तव्यश्चेत्तर्हि अमी इन्द्रादयो देवाः प्रसन्नाः भूत्वा मे मह्यं तं नलमेव भिक्षां वितरीतुं दातुम्, 'वृतो वा' इति दीर्घः। ईशतामीश्वरा एव भवन्तु। नलसङ्घटनेनैवानुग्राह्योऽयं जनो नान्यथा मन्तव्य इति भावः॥ ३४॥

अन्वयः—एष केवलम् अनुग्रहः यत् मादृशे मनुष्यजन्मनि अपि जने मनः, सः विधेयः चेत् तत् अमी प्रसद्य तम् एव मे भिक्षां वितरीतुम् ईशताम्।

हिन्दी—यह केवल (देवों की) कृपा है कि मुझ जैसी (दमयन्ती-सी) मनुष्य योनि में जनमी भी स्त्री पर (उनका) मन है। यदि उन्हें कृपा ही करनी हो तो वे प्रसन्न होकर उस (नल) को ही मुझे भिक्षा में देने के लिए समर्थ हों।

टिप्पणी—सखी ने बताया कि दमयन्ती का निवेदन है कि किसी तर्क से देवों और मानुषी का परिणय उचित नहीं सिद्ध होता। और दमयन्ती तो परदारा है। देव जो यह प्रस्ताव रख रहे हैं, उसका कारण यही लगता है कि वे दमयन्ती की भक्ति से प्रसन्न हो अनुग्रह करना चाहते हैं, वस्तुतः अनुरक्त नहीं हैं। सो यदि देव दमयन्ती पर कृपा करना ही चाहते हैं तो यह करें कि प्रसन्न होकर ऐसी स्थिति ला देने की कृपा करें, जिससे नल दमयन्ती को प्राप्त हो जाय। वे ईश हैं—समर्थ। दमयन्ती यही चाहती है, और कुछ नहीं। इसी से अनुगृहीत होगी। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार॥ ३४॥

अपि द्रढीय शृणु मे प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृप ।
हुताशनोद्बन्धनवारिवारिता निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥ ३५ ॥

जीवातु—अपीति । धीर ! द्रढीय दृढतरं मम प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञामपि शृणु । तामेव प्रतिज्ञामाह—स नृपं नलः इमं मदीयं पाणिं न पीडयेद् न गृह्णीयाच्चेत्तर्हि निजस्यायुषः स्वेनात्मना वैरिता शात्रवं हुताशनश्च उद्बन्धनं च वारि च तैः वारिता निवृत्तिं करवै करवाणि ॥ ३५ ॥

अन्वय—मे द्रढीय प्रतिश्रुतम् अपि शृणु—स नृप इमं पाणिं न पीडयेत् चेत्, हुताशनोद्बन्धनवारिवारिता (कारिताम्) निजायुषः स्ववैरितां करवै।

हिन्दी—मेरी दृढ प्रतिज्ञा भी सुन लो—वह राजा (नल) इस (मेरे) पाणि को यदि पीडित नही करेगा (पाणिपीडन–विवाह नही करेगा) तो अग्नि मे जल, पेड आदि में लटक अथवा जल मे डूब कर निपिद्ध रीति से (भी) अपनी आयु को स्वयं वैरिन हो जाऊँगी ।

टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती का निश्चय भी प्रकट कर दिया कि यदि देवों की अकृपा अथवा अन्य किसी कारण से यदि राजा नल उसका पाणी-ग्रहण न करेंगे तो वह आग में जल, फाँसी लगा अथवा डूब जाय कर अपना जीवन स्वयं समाप्त कर देगी, अपनी आयु की शत्रु स्वयं ही बनेगी । इतना दृढ अनुराग है नल पर दमयन्ती का कि उसे न पाने पर वह आत्महत्या-जैसा कदाचार भी करने मे न हिचकेगी । अग्नि आदि मे जल कर आत्महत्या निषिद्ध है । भाव यह कि चाहे जो हो, पर नलातिरिक्त किसी का वरण दमयन्ती नही करेगी ॥ ३५ ॥

निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा ।
घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥ ३६ ॥

जीवातु—न चात्मनो व्यापादनमयुक्तमित्यत्राह—निषिद्धमिति । यत्रापदि यदि सती धर्म्या क्रिया सर्वथा सर्वप्रकारेण नावति न रक्षति । तत्र निषिद्धमप्याचरणीयम् । तथा हि राजपथे राजवीथ्यामपि घनाम्बुना सान्द्रादकेन मेघजलेनातिपिच्छिले पङ्किले सति बुधै विद्वद्भिः अपथेनामार्गेणापि क्वचित्प्रदेशे गम्यते । 'पथो विभाषा' इति समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम् ।' सर्वथा स्त्रीणां प्राणत्यागेनापि पातिव्रत्यं रक्षणीयमिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥३६॥

अन्वयः—यत्र आपदि सती क्रिया सर्वथा न अवति, निषिद्धम् अपि आचरणीयम्, यथाम्भसा [illegible] राजपथे बुधैः अपथेन अपि क्वचित् गम्यते।

हिन्दी—जिस विपत्ति में धर्मसम्मत आचरण सर्वथा रक्षा नहीं कर पाता, वहाँ निषिद्ध (धर्मविरुद्ध) भी आचरण उचित है। वर्षा जल से अत्यन्त कीचड़ भरा, राजमार्ग हो जाने पर समझदार व्यक्ति अपथ ([illegible] मार्ग) से भी कहीं-कहीं चला करते हैं।

टिप्पणी—आत्महत्या जैसे कदाचार के औचित्य को इस दृष्टान्त से सिद्ध किया गया। जब प्राण देने से ही मर्यादा की रक्षा हो तो आत्महत्या भी पाप नहीं। जब निर्धारित मार्ग पर फिसलन हो जाय तो जिस-किसी मार्ग पर जाना ही पड़ता है। समझदार भी ऐसा ही कर लेते हैं। जब सीधे रास्ते से चलकर काम न बने तो टेढ़ा ही अपनाना पड़ता है। यह आपद्धर्म होता है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलङ्कार, विद्याधर और नारायण ने अर्थान्तर-न्यास का निर्देश किया है॥ २६॥

स्त्रिया मया वाग्मिषु तेषु शक्यते न जातु सम्यग्विपरीतमुत्तरम्।
तदत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ प्रबन्धृतास्तु प्रतिबन्धृता न ते॥ २७॥

जीवातु—स्त्रियेति। वाग्मिषु वावदूकेषु तेष्विन्द्रादिषु विषयेषु स्त्रिया मया उत्तरं सम्यक् यथा भवति तथा विपरीतं प्रतिकूलमपि जातु कदाचिदपि न शक्यते। तत् तस्मात् कारणात् अत्र मद्भाषितस्य वचनमात्रस्यैव सूत्रस्य पद्धतौ मार्गे विषये ते तव प्रबन्धृता प्रबन्धकर्तृत्वमस्तु, प्रतिबन्धृता प्रतिबन्धकर्तृत्वं नास्तु। [illegible]। अस्मिन्निषेधोत्तरे ममानुकूलो भव, न प्रतिकूल इत्यर्थः॥ २७॥

अन्वय—मया स्त्रिया तेषु वाग्मिषु सम्यक् उत्तरं विपरीतं जातु न शक्यते तत् अत्र मद्भाषितसूत्रपद्धतौ ते प्रबन्धृता, प्रतिबन्धृता न।

हिन्दी—मुझ स्त्री (दमयन्ती) द्वारा उन पण्डितों (देवों) को सन्तोष-जनक उत्तर देना किसी प्रकार सम्भव नहीं है, तो इस विषय में मेरे (दमयन्ती के) कहे की सूत्र प्रणाली (संक्षेप कथन-पद्धति) में तुम्हारी सहायकारिता हो, प्रतिबन्धकता न हो।

टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती वचनो को अपने मुख से कहकर अत में दूत नल से यह भी निवेदन किया कि दिक्पालगण वाग्मी पडित हैं, एक दमयन्ती-जैसी अनुभवहीन बालिका उनको सतुष्ट करने वाला उचित उत्तर किसी प्रकार नही दे सकती, अत दूत से प्रार्थना है कि इस थोडे, अस्पष्ट, सक्षिप्त कथन की व्याख्या करके वह देवो को दमयन्ती की भावना भलीभाँति समझाने की कृपा करे, ऐसा नही कि कुछ विरुद्ध रीति से उलटा-पुलटा कहकर और स्थिति बिगाड दे। जैसे भाष्यकार अथवा वार्तिककार सूत्र की व्याख्या कर उसके भाव को स्पष्ट कर देता है, वसे ही दूत भी दमयन्ती के कथन को पूर्ण स्पष्ट करके देवो को सतोष देने की कृपा करे। दमयन्ती के अनुकूल रहना, विरुद्ध प्रतिकूल मत हो जाना—यह भाव। विद्याधर के अनुसार रूपक अलकार ॥ ३७ ॥

निरस्य दूत. स्म तथा विसर्जित प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम् ।
कुतूहलेनेव मुहु कुहूरव विडम्ब्य डिम्भेन पिक प्रकोपित ॥ ३८ ॥

जीवातु—निरस्येति। न दूत यथा तेन प्रकारेण निरस्य व्यक्कृत्य विसर्जित सन् कुतूहलेन हेतुना डिम्भेन शिशुना मुहु कुहूरव विडम्ब्य अनुकृत्य प्रकोपित पिक कोकिल इव प्रिया उक्ति वचन यस्य स तादृशोऽपि कदुष्ण- मीषत्परुष 'कद चोष्णे' इति को कदादेश। अक्षर वाक्यमाह ॥ ३८ ॥

अन्वय—तथा निरस्य विसर्जित दूत कुतूहलेन डिम्भेन मुहु कुहूरव विडम्ब्य प्रकोपित प्रियोक्ति अपि पिक इव कदुष्णम् अक्षरम् आह ।

हिन्दी—उस प्रकार (सखी द्वारा दमयन्ती निर्णय सुनाकर) निरा- करण करके छोड दिया गया दूत (नल)—कौतुक से अजान बालक द्वारा बारबार 'कुहू कुहू' शब्द कर अनुकरण करके क्रुद्ध कर दिये गये, प्रकृतया मधुरभाषी भी, कोकिल के सदृश—सतापकारी वचन बोला।

टिप्पणी—यद्यपि नल स्वभावत परुषवादी नही था और इसके अतिरिक्त वह दमयन्ती-अनुरागी भी था, तथापि दमयन्ती का निर्णय—वह भी सखीमुख से-सुनकर कुछ उपेक्षित हो ऐसे वचन बोला, जो दमयन्ती को भले लगने वाले नही थे-कष्टकर थे। नल ने पुन यह समझाने का प्रयत्न किया कि दमयन्ती का निर्णय किसी प्रकार उचित नही, देवो की

अनादना ठीक नहीं। इस प्रकार मधुरकारी वचन बोलने स्वभावतः प्रिय-भाषी नल की तुलना इस प्रकरण मधुरभाषी कोकिल से की गयी है, जो किसी नादान छोकरे द्वारा अपने स्वर—'कुहू कुहू' की अनुकृति से चिढ़ कर कठोर शब्द करने लगता है। कोकिल जैसे अवज्ञा से कुपित हो परुष बोलने लगता है, ऐसे ही अवज्ञायाम इस—नल भी बोला। मान्यता है कि बालक द्वारा विडम्बित कोकिल क्रुद्ध हो परुष बोलने लगता है। नारायण ने इसी आधार पर यहाँ 'जाति' अलंकार का संकेत किया है। विद्याधर ने उत्प्रेक्षा अलंकार देकालाम का निर्देश किया है और चन्द्रकलाकार ने उपमा ॥३८॥

अहो मनस्त्वामनु तेऽपि तन्वते त्वमप्यमीभ्यो विमुखीति कौतुकम्।
क्व वा निधिर्निर्धनमेति किंच न स वा कवाट घटयन्निरस्यति ॥३९॥

जीवातु—अहो इति। ते इन्द्रादयोऽपि त्वामनु त्वामुद्दिश्य मनस्तन्वते कुर्वन्ति अहो आश्चर्यं त्वमपि अमीभ्य इन्द्रादिभ्य विमुखी पराङ्मुखीति यत्कौतुक चित्रमित्यर्थः। किंच क्व वा लोके निधिर्निर्धनमेति, क्व वा स निधनः कदाचिद्दैवयोगादागतमपि त निधि वा कवाट घटयन् निरस्यति द्वार पिधाय निषेधतीत्यर्थः। ईदृश क्वचेदृष्टमिति रक्षा तात्पर्यार्थ ॥ ३९॥

अन्वयः—अहो, ते अपि त्वाम् अनु मन तन्वते, त्वम् अपि अमीभ्य विमुखी इति कौतुकम्, क्व वा निधिः निर्धनम् एति, किं च वा न कवाट घटयन् निरस्यति?

हिन्दी-आश्चर्य है कि वे (उत्तम देव) भी तुम (मानवी) पर मन लगाये हैं (अनुरक्त हैं), और तू (दमयन्ती) भी इन (देवों) से पराङ्मुख है—यह महान् आश्चर्य है। कहाँ सम्पत्ति निर्धन के पास आती है और कहाँ वह (दरिद्र) द्वार बन्द कर उसका तिरस्कार करता है?

टिप्पणी—नल ने कुछ परुष शब्दों में कहा कि वे उत्कृष्ट दिक्पाल दमयन्ती जैसी मानवी पर इतने अनुरक्त हो उठे हैं कि उनकी बुद्धि पर आश्चर्य होता है और उसमें भी बड़ा आश्चर्य यह है कि एक मानुषी देवों के अनुराग से उपेक्षित पराङ्मुख है। यह तो वैसा ही है कि महान् निधि स्वयं दरिद्र के पास पहुँचे और वह दरिद्र द्वार बन्द कर महत्त्वादि निधि की अवहेलना करदे। भाव यह है कि जैसे दरिद्र का निधि निराकरण अनुचित

है, वैसे ही दमयन्ती का देवगुरुओं का तिरस्कार कर दिया गया है कि विद्वानों का भी मानवी के प्रति ऐसा अनुराग उचित नहीं है और मनुष्य द्वारा उनकी अवहेलना तो और भी अनुचित है। ऐसा कहीं न देखा गया है, न सुना। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अलङ्कार ॥ ३९ ॥

महाकुलीनास्वपि देवयोषितां महेन्द्रभागादनुरागमादरं त्वयि।
स्वमेव ते धर्मपि मनुजेऽपि न पराङ्मुखी चन्द्रमुखि ! व्यधीदृशम् ॥४०॥

जीवातु—महेति। हे चन्द्रमुखि ! महेन्द्रस्य पराग्रहेतोः ! त्वयि गुरु महाकुलीनासु देवयोषित्स्वपि अवहेलया अनादरेण सह बहे स्वमनोरथमा-स्वनादरं च महान्तं त्वमेव नाम्नान्तः मन्ये इत्यर्थः। अहं स्वरितेन्द्रियाणि- एव सहोक्तिरलङ्कारः। ईदृशी चेदपि मनुजे अनिन्द्ये मानुषे तं पराङ्मुखी सती, त पूर्वोक्तमादरं व्यर्थीकृत्य निर्वर्तितवत्यसि। सुतेयी चाहि नि:- स्वम्। उपमितिलङ्कार सङ्करश्चैव चास्याविकार ॥ ४० ॥

अन्वय—महेन्द्रपराह महाकुलीनासु अवहेलया सह त्वयि गुरुम् आदरं दधे, चन्द्रमुखी, ईदृशि मनुजे अपि पराङ्मुखी त्वं त व्यधीदृशम्।

हिन्दी—महेन्द्र (इन्द्रदेव) के अनुरोध के कारण सुन्दर स्त्रियों (इन्द्राणी आदि) के प्रति अवज्ञा के साथ (मैं मनुष्य) तुम्हारे प्रति महान् आदर धारण करता हूँ हे चन्द्रमुखी ऐसे मनुष्य (इन्द्रादि की स्वाभिमत प्राप्ति) के सम्मुख होने पर विमुख होकर तूने उस (आदर) को नष्ट कर दिया।

टिप्पणी—दूत ने कठोरता से कहा कि इस समय तक वह दमयन्ती का बड़ा आदर करता था और अन्य इन्द्राणी आदि अप्सराओं की अवज्ञा करने लगा था क्योंकि उसके प्रति स्वर्ग के महाराज इन्द्र अनुरक्त हैं। पर अन्य को महत्त्व देकर इस कुछ स्पष्ट करने वाले नल जैसा उत्पन्न मनुष्य होते हुए भी चन्द्रमुखी दमयन्ती अभी हो जो इन्द्रे अप्सरादिक एक प्रस्ताव की अवहेलना कर रही है, उसमें उसके प्रति मन का वह महान् आदर समाप्त हो गया। ऐसी मूर्खा का आदर कौन करे, जो चन्द्रा का मुद होने पर भी कुछ देख नहीं पाती। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और सहोक्ति अलङ्कार, मल्लिनाथ ने भी पूर्वार्द्ध के आधार पर सहोक्ति का निर्देश किया है ॥ ४० ॥

विवेचन कामदते न मन्यो नवीननमांडि स्वानन्दविदम्।
वद न का दुर्वहदोष एव ते हितेन सम्बन्धुरनादि शाम्यते ॥ ४१ ॥

जीवातु—दिवौकसमिति। मानवी मानुषी, दिवौकसं देवं न कामयते नाभिलषत इति इदं नवीनमश्रुतपूर्वं वचस्तवाननादस्मामिः श्रुतम्, हन्त, एष ते तव दुर्ग्रहदोषः मूर्खाभिनिवेशः। 'अयथार्थाभिनिवेशो ग्रहः' इति वैजयन्ती। हितेनावेनानुकूलेन च गुरुणा पित्राऽपि बृहस्पतिना च। 'गुरुर्गीष्पतिपित्राद्यौ' इत्यमरः। कथं वा सम्यक् न शाम्यति न निवर्तते। अथोऽन्योक्तेरर्थोऽपि स्फुटः। पुराणज्ञा ज्योतिषिकाः 'किं कुर्वन्ति ग्रहाः सर्वे केन्द्रस्थाने बृहस्पतौ' इति वचनादशुभस्थानस्थग्रहान्तरनिरासे च गुरोरेवाधिकारादिति भावः। अत्रा-भिधानाप्रकृतार्थनियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव न श्लेषः ॥ ४१ ॥

अन्वय—मानवी दिवौकसं न कामयते—इदं तव आननात् नवीनम् अश्रावि, एषः ते दुर्ग्रहदोषः सम्यक् हितेन गुरुणा अपि वा कथं न शाम्यते ?

हिन्दी—'मानुषी स्वर्गनिवासी (देव) को चाहती नहीं करती'—यह तेरे (दमयन्ती के) मुख से 'नया' सुना। अथवा यह तेरा दुराग्रह दोष (दुष्ट शनिश्चर आदि जनित कष्ट) अत्यन्त हितकारी (तेरे) पिता (देवगुरु बृहस्पति, शुभ ग्रह) द्वारा भी क्यों दूर नहीं किया जाता ?

टिप्पणी—सामान्यतः देवों की कृपा सभी मर्त्यलोकवासी चाहा करते हैं और कोई नारी यदि देवपत्नी बन सके तो उसका बड़ा सौभाग्य माना जायेगा। किन्तु इसके विपरीत दमयन्ती ने देव-वरण के प्रति घोर अनिच्छा प्रकट की। दूत नल इसे एक नवीन ही नहीं, पूर्णतः अश्रुत और किसी दुष्ट ग्रहनक्षत्र जनित दोष मानता है, जो दमयन्ती के दुराग्रह-रूप में प्रकट हो रहा है। आश्चर्य तो यह है कि जैसे दुष्ट ग्रह के दोष को कोई श्रेष्ठ ग्रह बृहस्पति आदि दूर न कर सके, उसी प्रकार दमयन्ती के दुराग्रह दोष को उनके पिता भी दूर नहीं कर पा रहे। 'गुरु' शब्द अनेकार्थक है—पिता और बृहस्पति। माना जाता है कि जन्मकुण्डली के केन्द्रस्थान में यदि गुरु बृहस्पति हो तो अन्य कोई दुष्टग्रह प्रभावी नहीं रहता और कष्ट नहीं पहुँचा सकता। यह भी अर्थ है कि कितनी विचित्र बात है कि देवों का आग्रह है कि दमयन्ती उनमें से किसी का वरण करे और गुरु अर्थात् देवगुरु बृहस्पति, जो इन्द्र के मन्त्री हैं, वे भी देवों के इस आग्रह को शान्त नहीं कर पा रहे। न दमयन्ती अपना दुराग्रह छोड़ रही है, न देवगण। न उन्हें उनके पिता समझा पा रहे

हैं और न देवों को उनके मन्त्री गुरु बृहस्पति। सामान्यतः पिता सन्तान का दुराग्रह दूर कर सकते हैं, पर दमयन्ती के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो रहा, और न देवों को बृहस्पति ही समझा पा रहे हैं। कितना आश्चर्यजनक है यह सब। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास हेतुक श्लेषालङ्कार। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष नहीं है, किन्तु अभिधा के प्रकृतार्थ नियन्त्रण से अप्रकृतार्थ की प्रतीति हो रही है, जो ध्वनि है ॥ ४१ ॥

अनुग्रहादेव दिवौकसां नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम्।
अयोऽधिकारे स्वरितत्वमिष्यते कुतोऽयसां सिद्धरसस्पृशामपि ॥ ४२ ॥

जीवातु—जय मानुषी देवा न प्रहीष्यन्तीति यदि तदपि नेत्याह—अनुग्रहादिति। दिवमोको येषां द्योरोको येषामिति यदि वा पृषोदरादित्वात्साधु। तेषां दिवौकसां देवानामनुग्रहादेव नरो मानुष्यभावं निरस्य 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' इति वुञि 'यस्ये'ति लोपे 'प्रकृत्याऽके राजन्यमनुष्ययुवानः' इति प्रकृतिभावः'दयस्य च तद्धितेऽत्यानी'ति यलोपाभावः। दिव्यतामेति तदनुग्रहादेवमूममपि ते भवितेति भावः। तथाहि—रसः पारदः। 'देहधात्वम्बुपारदः' इति रसशब्दार्थेषु विश्वः। स हि सस्कारवत्त्वाल्लोहान्तरसुवर्णीकरणे समर्थः सिद्धरस इष्यते। तत्स्पृशामयसामपि तत्स्पर्शात्स्वर्णीभूतायसामपीत्यर्थः। अयोऽधिकारे अयःप्रस्तावे स्वरितत्वमधिकृतत्वं तेषु परिगणनेति यावत्। 'स्वरितेनाधिकारः' इति वैयाकरणपरिभाषाप्रयमणादेव व्यपदेशः। स्पृ धातोः पदापयोरिति घाणोर्देवादिकात् क्तः। कुत इष्यते नेष्यत एवेत्यर्थः। रसस्पृष्टायसः स्वर्णीभाव इव तथापि तत्स्पृष्टाया देवत्वमेव न मानुषत्वमित्यर्थः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारः स्पष्टः ॥ ४२ ॥

अन्वय—नरः दिवौकसाम् अनुग्रहात् एव मानुष्यकं निरस्य दिव्यताम् एति, सिद्धरसस्पृशाम् अयसाम् अपि अयोधिकारे स्वरितत्वं कुतः इष्यते ?

हिन्दी—मनुष्य देवों की कृपा से ही मनुष्यभाव को त्यागकर देवत्व को प्राप्त होता है, सिद्धरस (जड़ी-बूटियों साधित पारद) का स्पर्श कर लेने वाले लौहपदार्थ का भी लोहाधिकार (लौहपदार्थों) में स्वरितत्व (परिगणन) कहाँ होता है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन कि 'देव-मानुषी सम्बन्ध अनुचित है' का

खण्डन करते हुए नल ने कहा कि 'जब मानुषी देवपत्नी बन जाती है तो वह भी देवी बन जाती है, मनुष्य देवानुग्रह से स्वयं भी देव बन जाया करता है। ऐसे ही देवपत्नी होने पर दमयन्ती भी मानुषी न रह देवाङ्गना बन जायेगी। तब अनौचित्य कहाँ रह जायेगा। इस बात को एक दृष्टान्त से समर्थित किया गया। सिद्धरस के स्पर्श से लोहा सोना बन जाया करता है। ऐसे सोना बन जाने पर उससे निर्मित पदार्थों की गणना लोहे में नहीं सोने में होती है। इस दृष्टान्त में 'स्वरितत्व' शब्द के प्रयोग से व्याकरण का स्मरण किया गया है। पाणिनि का सूत्र है—'स्वरितेनाधिकारः' (अष्टा० १।३।११), अर्थात् स्वरित होने से अधिकार हो जाता है पर स्वरितत्व रहा ही नहीं, धातुस्पर्श के लोहत्व रह ही नहीं गया, तब लोह पदार्थों में गणना कैसी? मत का संकेत यही है कि दमयन्ती देववरण कर ले, फिर वह भी देवी हो जायेगी। कोई अनौचित्य रह ही नहीं जायेगा। इस प्रकार 'मानुष्यकाम्भ्रमने जने' (नै० च० ९।८६) का उत्तर हो गया। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलङ्कार स्पष्ट है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अर्थान्तरन्यास है॥ ४० ॥

हरिं परित्यज्य नराभिलाषुका न लज्जसे वा विदुषिब्रुवा कथम्।
अवैमि नेतः स्मरमाञ्जनीरताद्दूरं वदे त्वा वरणीय मो इति ॥ ४१ ॥

जीवातु—हरिमिति। हरिमिन्द्र देवं परित्यज्य नरं नलमभिलाषुका मानुषीभवितुमिच्छन्ती 'लज्जसे' इत्यादिना वक्तुम्। 'न लोके' इत्यादिना षष्ठी-प्रतिषेधात्कर्मणि द्वितीया समासनिषेधश्च। अत एव विदुषी भार्या 'विदेः शतुर्वसुः' 'उगितश्चेति' ङीप्। ब्रवीतीति ब्रुवा विदुष्या ब्रुवा विदुषी-ब्रुवेति कर्मणि षष्ठीसमासः। विदुषीमात्मानं मन्यमाना पण्डितम्मन्येत्यर्थः। 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः' इति ह्रस्वः, ब्रुव पचाद्यच्। एतस्मादेव निन्द्यत्वाद्धेतोस्त्वमा देवयोषिताम् इयतो त्वं कथं न लज्जसे भीः विद्यया वा वद्धं त्वं कथं न लज्जसे किमिदम्। अत एवाह त्वा-मर्हमेव भावरित्याभिलाह—अवैमीति। अवैमि देवो परिहृतेष्वकाण्डात् धनो जनस्मीभिरतामागतात् स्मरजनितात् रत मौढ्यमतादित्यामनो! वरणीय ! हे वरणीयेति सम्बोध्य वदे वदामि। मानमादिसूत्रेण गणाये

तद्। न तु करभ करभागविशेष तद्वदुरू यस्या इति व्युत्पत्त्येत्यर्थं । 'करभो मणिबन्धादिकनिष्ठान्तर उष्ट्रक' इत्युभयत्रापि विश्व । 'अथसम्बोधनार्थका-स्युः पाट् प्याडङ्ग हे है भो' इत्यप्यमर । चादिपाठान्निपातसंज्ञायाम् 'ओत्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिसन्धि । अनव्ययपक्षेऽपि भवच्छब्दस्तकारस्य रुत्वादिकार्ये यल्पोपस्यासिद्धत्वादवादेशनिवृत्तौ भो इत्यमेव सन्धि , किन्त्वत्र स्त्रीसम्बोधने स्त्रियाम् 'उगितश्च' इति ङीप्प्रत्यये भवतीति सम्बुद्धि स्याद्। न तु भो इति । करभोविस्यत्र करभ इवोरू यस्या इति 'उरूत्तरपदादौपम्ये' इत्यूङ्प्रत्यय । करभादुरु करभोरु इति पक्षे मनुष्यजातिविवक्षाया ब्रह्मबन्धूरित्यादिवत्। 'ऊङुत' इत्यूङ्प्रत्यये नदीहृस्व । यथाह वामन-'मनुष्य जातेर्विवक्षाविवक्षे' इति। अहो मधुमुत्सृज्येष्टितवद् स्वच्चेष्टित हास्यास्पद जातमिति भाव ॥ ४३ ॥

अन्वय —हरिं परित्यज्य नलाभिलाषुका विदुषित्रुवा कथं वा न लज्जसे ? भो करभोरु, त्वाम् उपेक्षितेशो शमीरतात् करभाद् उरु वदे।

हिन्दी—अथवा इन्द्र को छोडकर नल का अभिलाप करने वाली (नल नामक क्षुद्रघास की अभिलापुका) अपने को विदुषी (पण्डिता) कहती तुम लज्जित क्यों नहीं होती? (होना चाहिए।) हे करभोरु (कनिष्ठा मणिबन्ध मध्यप्रदेश सम कोमल ऊरुवाली), तुम्हें (अब मैं) ईश्वरस की उपेक्षा करनेवाले, (कटु) शमी (कटकलता) में रत (मदाक) करभ (ऊँट) से उत्कृष्ट कहता हूँ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती से कहा कि दमयन्ती 'नलाभिलापुका' अपने को कहती है, वह इन्द्र की अनिच्छुक है। यह वैसा ही है, जैसे कोई नल अर्थात् क्षुद्र तृण का अभिलाप करे स्वर्गसंपदा छोडकर। ऐसी नासमझी की बात सोचती हुई भी दमयन्ती अपने को पण्डिता मानने में लज्जित क्यों नहीं होती? ऐसी मूर्खता करके अपने को 'पण्डितम्मन्या' मानना लज्जास्पद ही है। इस मूर्खता के कारण आज नल की दृष्टि में दमयन्ती करभोरु अर्थात् कोमल ऊरुवाली नहीं रही, वह 'करभोरु' इस अर्थ में है कि उसका तारतम्य ज्ञान ऊँट से भी कम है। मूर्खता में वह ऊँट से भी बडी है। वह मधु इक्षुरस छोड काटे खाता है, दमयन्ती इन्द्र को छोड नल घास से नल की

इन्द्र है। जो अन्तर इक्षुरस और शमी में है, वही इन्द्र और नलतृणसम क्षुद्र नल में है। चन्द्रकलाकार ने इस पद्य में निरुक्त नामक काव्यलक्षण का निर्देश किया है ॥ ४३ ॥

विहाय हा स्वमुपर्वनायकं त्वयादृतः किं नरमाधिमभ्रमः।
मुखं विमुच्य श्वसितस्य धारया वृथैव नासापथधावनश्रमः ॥ ४४ ॥

जीवातु—विहायेति। किञ्च हा बत! त्वया सर्वसुपर्वनायकं देवेन्द्रं विहाय नरे मनुष्ये साधिमभ्रमः साधुत्वभ्रान्तिः। पृष्वादिपाठात् साधोरिम निच्प्रत्ययः। किं किमर्थमादृतः? अथवा नियतिः केन लङ्घ्यत इत्याशयेनाह—श्वसितस्य धारया निश्वासपरम्परया (कर्त्र्या) मुखं मुखद्वारं विपुलं विमुच्य वृथैव नासापथेन नासारन्ध्रेणातिविङ्क्टेन धावनश्रमः आदृतः खल्विति शेषः। तद्वत्तवापि ईदृशी मतिरत्यव्यनेति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४४ ॥

अन्वय—हा, त्वया सर्वसुपर्वनायकं विहाय किं नरमाधिमभ्रमः आदृतः? श्वसितस्य धारया मुखं विमुच्य नासापथधावनश्रमः वृथा एव।

हिन्दी—हाय, तुमने सब देवों के नायक (देवेन्द्र) को छोड़कर क्या मनुष्य में श्रेष्ठता के भ्रम को आदर दिया! निःश्वासधारा द्वारा मुँह को छोड़ नाक के मार्ग से आना जाना व्यर्थ ही है।

टिप्पणी—नल ने कहा—सीधी सच्ची बात थी दमयन्ती इन्द्र को वर लेती। इसने क्या मूर्खता की कि देवेन्द्र के स्थान में नर को आदर दिया, जो पूर्णतः भ्रम है। 'नरसाधिमभ्रम' का अर्थ 'रलयोरभेदः' के आधार पर 'नल' का अर्थ 'नल' भी हो सकता है—देवेन्द्र को छोड़ नल को आदर दिया। 'किन्नरमाधिमभ्रम'—किन्नर अर्थात् देवों से हीन जाति भी हो सकता है और 'कुत्सित नर' निन्दित मनुष्य भी, अर्थात् देवेन्द्र के स्थान पर निम्न देवस्थानीय अथवा कुत्सितनर को वरेण्यता दी। यह ऐसे ही व्यर्थ है, जैसे कि श्वासधारा का मुख छोड़ नासिका मार्ग से गमन। मुख की अपेक्षा नासिका-मार्ग से श्वास लेना आयासजनक होता है। भाव यह है नल या नर की श्रेष्ठता भ्रम है, दमयन्ती को चाहिए कि वह इन्द्र वरण करे। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलङ्कार, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ४४ ॥

तपाऽनले जुह्वति सूरयस्तनूर्दिवे फलायान्यजनुर्भविष्णवे ।
करे पुनः कर्षति सैव विह्वला बलादिव त्वां वरसे न बालिशे ! ॥४५॥

जीवातु—तप इति । किञ्च सूरयः सन्तः अन्यस्मिन् जनुषि जन्मान्तरे भविष्णवे भाविन्ये । 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः । 'भुवश्च' इति इष्णुच्-प्रत्ययः । 'भाषायामपीष्यते' भाषितपुंस्कत्वात् पुंवद्भावः । दिवे स्वर्गायैव फलाय तनूः शरीराणि तपोऽनले जुह्वति त्यजन्ति । 'अदभ्यस्तात्' इत्यदादेशः । त्वां पुनः सा प्राणातिकतपःसाध्या द्यौरेव विह्वला उत्सुका सती बलात्कारादिव करे कर्षति हे बालिशे ! मूढे ! 'शिशावज्ञे च बालिशः' इत्यमरः । न वरसे न वरसि नेच्छसीत्यर्थः । अहो ते दुर्बुद्धिरिति भावः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—सूरयः अन्यजनुर्भविष्णवे दिवे फलाय तनूः तपोऽनिले जुह्वति, विह्वला सा एव पुनः त्वां बलात् इव करे कर्षति, बालिशे, न वरसे ।

हिन्दी—विद्वज्जन (सन्त) जन्मान्तर में होने वाले स्वर्ग फल के निमित्त शरीरों का तपाग्नि में हवन किया करते हैं, और व्याकुल हो वह (स्वर्ग) ही तुम्हें जैसे बलपूर्वक हाथ पकड़ खींच रहा है। अरी मूर्खे, तू उस से मत नहीं होती ।

टिप्पणी—नल बताता है कि स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त बड़े सत भी अनेकवर्ष तपस्या द्वारा अपने शरीर को त्याग दिया करते हैं। वह स्वर्ग जैसे दमयन्ती को निवेदित हो रहा है। इन्द्रादि पागलों के समान उसे सदेह स्वर्ग ले जाना चाह रहे हैं। पर दमयन्ती ऐसी घोर मूर्खा है कि थोड़ी भी विचलित नहीं होती। ऐसा समझ रही है, जैसे उस पर यह बलात्कार होने वाला हो। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उत्प्रेक्षालंकार ॥ ४५ ॥

यदि भ्रमुदस्यमना विना नल भवेर्भवन्तो हरिरन्तरिक्षगाम् ।
दिविस्थितानां प्रति न पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि क ॥४६॥

जीवातु—अथ यदुक्तं नलालाभे हुताशनोद्बन्धनादिना मरिष्यामीति तत्रोत्तरमाह–यदीत्यादिना चतुष्टयेन । हे मुग्धे ! नल विना नलालाभे स्वमात्मानमुद्बन्धु मनो यस्याः सा उद्बन्धुमना पाशेन मर्तुकामा । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । भवेर्यदि स्याश्चेत् तर्हि अन्तरिक्षगा भवन्ती दुर्मरणदोषादन्तरिक्षगता भवन्ती त्वामिति शेषः । दिविस्थितानामन्तरिक्षगतानां स्वर्ग-

वाला च प्रथितं पतिं प्रसिद्धं स्वामी हरिरिन्द्रो हरिष्यति ग्रहीष्यति अन्या-
य्यं नेति त्वां न लप्स्यतीत्यर्थः । तथा हि—न्याय्यं न्यायप्राप्तं वस्तु क उपेक्षते
न कोऽपीत्यर्थान्तरन्यासः । वस्वादिकदम्बवन्द्य राजन्निन्द्य न्याय्यमिति पाठः ।

अन्वय—यदि नलं विना स्वम् उद्बद्धुमना भवेः तत् अन्तरिक्षगा
भवन्तीं दिवि स्थितानां प्रथितः पतिः हरिः हरिष्यति, हि न्याय्यं कः उपेक्षते ?

हिन्दी—यदि तुम नल के बिना अपने को फाँसी लगाना चाहती हो, तब अन्तरिक्ष जाती (अन्तरालस्था) आपको अन्तरिक्ष में रहने वालों का विख्यात स्वामी इन्द्र हर लेगा, कारण कि न्याय से प्राप्त वस्तु की कौन उपेक्षा करता है ? (कोई नहीं ।)

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा था कि यदि नल उसका पाणिग्रहण न करेगा तो वह जलकर, फाँसी लगाकर अथवा डूबकर प्राण दे देगी—'हुताशनोद्बन्धनवारिकारिता निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ।' (नै० च० ९।३५) । इसकी व्यर्थता का प्रतिपादन नल द्वारा चार श्लोकों (४६-४९) में किया जा रहा है । इस श्लोक में बताया गया कि गले में बन्धन लगाकर मर जाने से जब मर कर जाती दमयन्ती अन्तरिक्ष मार्ग में होगी, तो वहाँ अन्तरिक्षस्थों का स्वामी अपने आप प्राप्त हुई उसका ग्रहण प्रसन्नतापूर्वक कर ही लेगा । संसार में सभी न्यायतः प्राप्त पदार्थ का ग्रहण कर ही लेते हैं । यह स्वाभाविक है । अतः जिनसे डरकर दमयन्ती मरना चाहती है, मरकर उन्हें ही प्राप्त होगी, अतः व्यर्थ है प्राण देना । दमयन्ती के कथन में प्राण त्यागने के उपायों का क्रम इस प्रकार था—(१) आग में जलना, (२) उद्बन्धन, (३) डूबना । इस स्थिति में दूसरे उपाय की व्यर्थता पहिले, तदनन्तर प्रथम की, तत्पश्चात् तृतीय उपाय की क्रम-भङ्ग-जैसा लगता है । 'सुखावबोध' टीका के प्रणेता जिनराज ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है—'प्रतिज्ञावृत्ते उद्बन्धनप्रतिज्ञा द्वितीया तथापि अन्तरिक्षस्थेन्द्रस्वामिकत्वादिक्रमेण च प्राधान्यात्प्रथमं दूषिता ।' अर्थात् दमयन्ती की प्रतिज्ञा में फाँसी से प्राण देने का उल्लेख द्वितीय है, परन्तु इसका निराकरण प्रथमतः दो कारणों से किया गया—(१) प्राणत्याग कर सबको अन्तरिक्षपथ से ही जाना होता है, वहाँ का इन्द्र स्वामी है, अतः पहिले उसे ही दमयन्ती-ग्रहण का अवसर मिलेगा । (२) इन्द्र

मग्न दिक्पालों में प्रमुख माना जाता है। मल्लिनाथ ने बताया है कि समर्थक दोष स मृतक का अन्तर्निक्षाप होना पडता है। उसके अनुसार यहाँ अर्थान्तर-न्यास है। विद्याधर ने छेकानुप्रास काव्यलिंग-अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ४६ ॥

निवेक्ष्यसे यद्यनले नलोज्झिता सुरे तदस्मिन्महती दयादृता।
चिरादनेनार्थनयापि दुर्लभं त्वयैवाङ्ग ! यदङ्गमर्प्यते ॥ ४७ ॥

जीवातु—निवेक्ष्यस इति। हे मुग्धे ! नलेनोज्झिता सती अनले निवेक्ष्यसे यदि जीवितनिःस्पृहत्वादग्निं प्रवेक्ष्यसि चेदित्यर्थः। आधारत्वविवक्षया सप्तमी 'नेर्विशः' इत्यात्मनेपदम्। तर्हि अस्मिन्ननले अनलाख्ये सुरेऽपि तदधिष्ठातरि देवे च भूतमात्र इति भावः महती दया आदृता कृता स्वीकृतेत्यर्थः। कुतः यद्यस्मादनेनानलेन चिरादर्थनया याच्ञयापि दुर्लभमङ्गं शरीरम्, अङ्ग ! अयि ! त्वयैव स्वयमात्मनैवार्प्यते तथा च स्पृष्टतममेव जीवग्राहं ग्रहीष्यतीति भावः। अत्र नलालाभे जीवितजिहासोरनलग्रहणबुद्धिरूपानर्थोक्तेर्विषमभेदः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्। विरूपघटना चासौ विषमालङ्कृतिस्त्रिधेति' लक्षणात् ॥ ४७ ॥

अन्वय—यदि नलोज्झिता अनले निवेक्ष्यसे, तद् अस्मिन् सुरे महती दया आदृता, यत् अनेन चिरात् अर्थनया अपि दुर्लभम् अङ्गम् अङ्ग, त्वया एव अर्प्यते।

हिन्दी—यदि नल से अगृहीता होने पर अग्नि में प्रवेश करोगी तो इस देव (अग्नि देव) पर बड़ी दया स्वीकारोगी, क्योंकि इस (अग्निदेव) के द्वारा चिरकाल से प्रार्थना करने पर भी दुर्लभ (दमयन्ती का) अंग हे अंग, (सुन्दरि दमयन्ती,) तेरे द्वारा ही (उसे) अर्पित होगा।

टिप्पणी—जलकर मरना भी व्यर्थ है, क्योंकि उससे तो दमयन्ती अग्नि को अपने आप ही मिल जायेगी। अग्निदेव चिरकाल से दमयन्ती-अंग-स्पर्श के निमित्त उसकी याचना कर रहे हैं। वह शरीर जलने के लिए अग्नि-प्रवेश करते ही अग्निदेव को अनायास मिल जायेगी। यह तो दमयन्ती की अग्नि पर बड़ी दया हुई। 'अंग' संबोधन द्वारा दमयन्ती के अज्ञान का उपहास सूचित किया गया। मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में नल के न मिलने पर

प्राणयात्रा करती दमयन्ती का अग्नि द्वारा शरीर भस्म हो जावेगा–इस स्वर्योक्ति के कारण विषम अलङ्कार है, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और काव्यलिङ्ग है। ४७॥

जित जिन तन्खलु पाशपाणिना विना नल वारि यदि प्रवेक्ष्यसि।
तदा त्वदास्यान् बहिरप्यसूननो पयःपतिर्वक्षसि वक्ष्यतेतराम् ॥४८॥

जीवातु—जितमिति। हे मुग्धे! नल विना वारि प्रवेक्ष्यसि यदि मरणार्थमिति शेषः। अथेदानीं पाशः पाशी यस्य तेन पाशपाणिना वरुणेन प्रहरणार्थेन परे तिष्ठास्तम्यो भवत। जिन जितमनीष्ट जिन खलु। भावे क्त। 'नित्यवीप्सयोरि'ति नित्यार्थे द्विर्भाव 'नित्यमानीस्वे' इति काशिका। तद वारिप्रवेशकाले अमी पय पतिर्वरुणोऽपि त्वदास्यान् त्वन्नामकान्। बहिरप्यसून् बहिर्वर्तिन प्राणान् वक्षसि वक्ष्यतेतराम्। वहे स्वरितेत्वात् लटि तरि तरप्यामुप्रत्यय। सोऽपि त्वा जीवग्राह ग्रहीष्यतीत्यर्थ। अत एव पूर्व एवाऽलङ्कार ॥ ४८॥

अन्वय—यदि नल विना वारि प्रवेक्ष्यसि, तत् पाशपाणिना खलु जितजितम्, तदा असौ पय पति त्वदास्यान् असून् बहि अपि वक्षसि वक्ष्यतेतराम्

हिन्दी—यदि नल के बिना जल में प्रवेश करोगी, तो पाशपाणि (वरुण ने निश्चयत विजय लाभ कर लिया, तब यह जल का स्वामी (वरुण) तेरे नाम के (तेरे) प्राणों को बाहर भी हृदय पर धारण कर लेगा।

टिप्पणी—डूबने के लिए जल-प्रवेश करना होगा। जल का स्वामी वरुण है। दमयन्ती की तो उसे चिरकाल से कामना है। जैसे ही डूबने को जल में दमयन्ती घुसी, बस, पाश हाथ में लिये वरुण उद्यत बैठा ही है। उसे खींच कर तुरन्त छाती से लगा लेगा। अभी तो वह दमयन्ती को मन-ही मन याद करता है, अतएव मैं ही चिपकाये हैं, जल में पहुँचते ही वह दमयन्ती के प्राणों को बाहर हृदय से लगा लेगा। वरुण की आकांक्षा पूरी हो जायगी। इस प्रकार डूबकर जान देना भी व्यर्थ है। मल्लिनाथ के अनुसार विषम अलङ्कार, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और छेकानुप्रास ॥ ४८॥

करिष्यसे यद्यत एव दूरगादुपास्यमस्य विदुषो स्वमृत्यवे।
दिगानिधि स्वेन मनागृहात् क्य न धर्मराज चाभिनायिका

जीवातु—करिष्यस इति । अथ विदुषी पण्डिता विदग्धा त्वं यदि तु अत एव दूषणादेतस्मादेवोद्बन्धनादिना स्वमृत्यवे स्वमरणाय अन्यमुपायमनशनादि करिष्यसे, तदा प्रियातिथिरतिथिप्रिया त्वं स्वेन स्वत एव गृहान् धर्मराजगेहं गता सती धर्मराजं वैवस्वतमतिथिसत्तममिति भाव । कथं न चरितार्थयिष्यसि न कृतार्थं करिष्यसि । कर्तव्यमेवेदं कृतयुगधर्मत्वात् स्वयं गत्वातिथिमनोरथपूरणस्येति भाव ॥ ४९ ॥

अन्वय —यदि विदुषी (त्वम्) अतएव दूषणात् स्वमृत्यवे अन्यम् उपाय करिष्यसे, स्वेन गृहान् गता प्रियातिथि धर्मराजं कथं न चरितार्थयिष्यसि ?

हिन्दी—यदि पंडिता (तू दमयन्ती) इन्हीं कारणों से (जलना, फाँसी, डूबना) दोषपूर्ण होने से अपनी मृत्यु के लिए अन्य उपाय करेगी तो स्वयं (यमराज के) घर पहुँची प्रिय अतिथि (जिसके आने की तिथि निश्चित हो, अनपेक्षित) धर्मराज को कृतार्थ क्यों न करेगी ? (करेगी) ।

टिप्पणी—नल ने सिद्ध कर दिया कि फाँसी लगाकर इन्द्र का, जलकर, अग्नि को और डूबकर वरुण को अनायास ही दमयन्ती प्राप्त हो जायेगी, अतः इन तीनों उपायों द्वारा प्राण देना व्यर्थ होगा । इस स्थिति में दमयन्ती अन्य उपाय से प्राणत्याग का विचार कर सकती है, पर इसमें भी व्यर्थता ही प्राप्त होगी । मरकर धर्मराज (यमराज) के घर पहुँचना पड़ता है । वे धर्मराज तो उत्कंठा के साथ दमयन्ती के कामी हैं । जब अनपेक्षित अतिथि के रूप में प्रिया दमयन्ती उनके घर पहुँचेगी तो वे तो कृतार्थ हो उठेंगे । इस प्रकार प्राणत्यागमात्र व्यर्थ है । उससे इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम में से किसी-न किसी की इच्छा पूरी होगी ही, और दमयन्ती का काम्य नहीं है । 'विदुषी' विशेषण द्वारा यह संकेतित है कि [illegible] दीन तो दमयन्ती को है ही कि वह नल के तर्कों को समझ सके । 'विदुषी स्वमृत्यवे' के स्थान पर विद्याधर ने 'विदुषीति मृत्यवे' पाठ को उचित माना है । इस स्थिति में 'विदुषि+इति' पदच्छेद करके 'विदुषि' संबोधन हो जाता है । ऐसी स्थिति में 'त्वम्' का अध्याहार न करना होगा, अतः पाठांतर अधिक समीचीन प्रतीत होता है । इस प्रकार किसी भी प्रकार से प्राणत्याग करने में दमयन्ती का अभीष्ट सिद्ध न होगा—यह दूत नल ने प्रमाणित कर दिया । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ४९ ॥

निषेधवेषो विधिरेष तेऽथवा तवैव युक्ता खलु वाचि वक्रता।
विजृम्भितं यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदनं तदाकरः॥ ५०॥

जीवातु—निषेधेति। हे विदग्धे! अथवा तव एष इन्द्रादिनिषेधो निषेधवेषो निषेधाकारो विधिरङ्गीकार एव। तथा हि वाचि वचने वक्रता वक्रोक्तिचातुरी भङ्ग्युक्तिचातुरीति यावत्। सा तवैव युक्ता खलु। कुत इत्यत आह—यस्य वक्रतायाश्चातुर्यं यस्य ध्वनेर्व्यञ्जनावृत्तेर्विजृम्भितं विलसितं प्रसिद्धमि-त्यर्थः। विदग्धनारीवदनं सूक्तिचतुरस्त्रीमुखं तदाकरस्तस्य ध्वनेरुत्पत्तिस्थानं निधानमित्यर्थः। तत्र व्युत्पत्तिमत्स्थानेन विधिरेव दर्शयितुमेतन्निषेध-नाटकमिति निषेधेन विधिरेव व्यज्यत इति भावः॥ ५०॥

अन्वय—अथवा ते एषः निषेधवेषः विधिः एव तव एव वाचि वक्रता युक्ता, खलु इदं यस्य ध्वनेः किल विजृम्भितं तदाकरः विदग्धनारीवदनम्।

हिन्दी—अथवा तेरा (दमयन्ती) यह निषेध के रूप में स्वीकार ही है तेरी ही वाणी में वक्रोक्ति-चातुर्य उपयुक्त है, क्योंकि यह जिस ध्वनि अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति का प्रसिद्ध विलास है, उसका उद्भवस्थान विदुषी नारी का मुख ही है।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती को 'विदुषी' कह दिया गया, इस श्लोक में उसी मदन को लेकर कहा गया कि कदाचित् नल ही को दमयन्ती की विदग्धवाणी—'वैदग्ध्यमङ्गीकुरुमिति' को समझने में भूल हो गयी। दमयन्ती ने देव-वरण अस्वीकारा नहीं है, स्वीकारा है। यह स्वीकृति अभिधात्मिका नहीं है, व्यञ्जनात्मिका है। यह निषेध के रूप में विधि है। 'नहीं' से 'हाँ' व्यञ्जन है। विदग्ध वाणी का जन्म होता ही विदुषी के मुख से है। सो नल यह दमयन्ती की स्वीकृति ही मानता है। वाच्य और प्रतीयमानार्थ की भिन्नता के हेतु बताते हुए आनन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—'स हि क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—'अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि। मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि।' (ध्वन्यालोक—१।४ की वृत्ति)। यहाँ नायिका घर आये नायक से कह रही है कि तू दिन में ही देख समझ ले, क्योंकि रात रतौंधी के कारण तुझे सूझता नहीं। यहाँ मेरी सास सोती है और यहाँ मैं। कहीं रात में मेरी शय्या पर न गिर जाना। इस उदाहरण में शय्या

पर न गिर जाने का अर्थ 'गिर जाना' ही है। अर्थात् रात को चुपचाप शय्या पर आ जाना। यह निषेधरूप में विधि है, जो व्यग्य है। यह ध्वनि है, वक्रपदरचना। तो दमयन्ती का भी कुछ ऐसा ही अभिप्राय लगता है, वह 'न' में 'हाँ' कह रही है। कदाचित् इसका कारण नारीजनोचित लज्जा हो। विद्याधर के अनुसार हेत्वाक्षेपालंकार ॥ ५० ॥

भ्रमामि ते भैमि ! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कत्यद ।
त्रपामपाकृत्य मनाक् कुरु स्फुटं कृतार्थनीयः कतमः सुरोत्तम ॥ ५१ ॥

जीवातु—एवं सुरस्वीकारपक्षमेव सिद्धवत्कृत्य निर्बन्ध्य पृच्छति—भ्रमामीति। हे भैमि ! ते तव सरस्वती वाक् नदीभेदश्च तस्या रस शृङ्गारो जलञ्च तस्य प्रवाहस्तस्य चक्रेष्विति पाठेऽप्ययमेवार्थः। 'चक्राणि पुटभेदाः स्युरित्यत्र' 'वक्राणीति' पाठस्यापि स्वामिनाङ्गीकारात्। कति कियन्त्यमूनि चक्राणि यस्मिन् कर्मणि तथथा निपत्य भ्रमामि मुह्याम्यावर्ते च। अत्र वाच्य-प्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायान्निपातनादिक्रियानिर्वाहः। अलं वक्रोक्त्येति तात्पर्यं किन्तु कतमः सुरोत्तमः कृतार्थनीयो वरणीयः ? एतदेव त्रपां मनागपाकृत्य शिथिलीकृत्य स्फुटं कुरु व्यक्तं ब्रूहीत्यर्थः नात्र लज्जितव्यम् 'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेदिति' न्यायादिति भावः ॥ ५१ ॥

अन्वय—भैमि, ते सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कति भ्रमामि, कतमः सुरोत्तमः कृतार्थनीयः ? त्रपां मनाक् अपाकृत्य अद स्फुटं कुरु।

हिन्दी—हे भीमपुत्रि, तेरी सरस्वती (वाणी) रूप सरस्वती नदी के शृंगारादिरसप्रवाह (वक्रोक्ति)-रूप जलप्रवाह के चक्र अर्थात् मण्डल (समूह) रूप आवर्तों में पड़कर कितना चक्कर खाऊँ ? (इन्द्रादि दिक्पालों में से) कौन सा देवोत्तम का तुम कृतार्थ करोगी ? लज्जा को थोड़ा दूर हटाकर यह स्पष्ट करो।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में नल ने दमयन्ती से कहा था कि उसके निषेध का तात्पर्य विधि ('न' का अर्थ 'हाँ') ही लगता है, जो कदाचित् विदुषी दमयन्ती ने वक्रोक्ति-वैदग्ध्यभंगीभणिति का आश्रय लेते हुए कहा है। इस श्लोक में नल ने विनयपूर्वक दमयन्ती से निवेदन किया कि वह इस उक्तिवैचित्र्य से भ्रान्त होकर वैसे ही चकरा रहा है, जैसे कि कोई नदी जल के आवर्तों में पड़कर

चक्कर खाता है। नल जानना चाहता है कि दमयन्ती इन्द्राग्निवरुणयम में से किसका वरण करेगी, क्योंकि यह दमयन्ती के कथन से स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। वह लज्जा छोड़कर, वक्रोक्ति चक्र में न फँसा कर स्पष्टतः उस दिक्पाल का नाम लेने की कृपा करे, जिसे वह वरना चाहेगी। 'मनाक्' का अन्वय 'स्फुट कुरु' से करके यह भी किया जा सकता है कि दमयन्ती वरणीय सुरोत्तम के विषय में थोड़ा-सा ही स्पष्ट कर दे—संकेतमात्र। मल्लिनाथ 'कस्यदः' को एक शब्द मानकर उसका अन्वय 'कस्यदः निपत्य भ्रमामि'—इस प्रकार करते हैं अर्थात् 'कितने चक्कर पड़कर खाऊँ'—कति कियन्त्यमूनि चक्राणि यस्मिन् कर्मणि तद्। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और श्लेषालंकार ॥ ५१ ॥

मनः किमैरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवस्तव ।
सहस्रनेत्रान्न पृथङ् मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितुं क्षमः ॥ ५२ ॥

जीवातु—अथैकस्मिन्नेव नामग्राहमनुरागमस्याः पृच्छति—मत इत्यादि। हे भैमि! ऐरावतकुम्भयोः कैतवेन मिषेणेत्यपह्नवभेदः। प्रगल्भौ कठोरौ पीनौ च स्तनौ यस्यास्तस्या दिशः प्राच्या धवः पतिरिन्द्रस्तव मतः सम्मतः किम्? 'किमन्न प्रश्ने'। 'मतिबुद्धी'त्यादिना वर्तमाने क्तः। 'क्तस्य च वर्तमाने' इति तद्योगात्तवेति षष्ठी। युक्तञ्च तदित्याह-मम मते मत्पक्षे त्वदङ्गस्य लक्ष्मीं लावण्यसम्पदमवगाहितुं सम्यग्ग्रहीतुं सहस्रनेत्रात् सहस्राक्षात् पृथगन्योऽपि इत्यर्थः। 'पृथग्विने'त्यादिना पक्षे पञ्चमी। क्षमो न। अत्रोत्तरवाक्यार्थेन पूर्ववाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्वे काव्य-लिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात्। तस्य पूर्वोक्तापह्नवेन संसृष्टिः॥ ५२ ॥

अन्वयः—ऐरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवः तव किं मतः? मम मते त्वदङ्गलक्ष्मीम् अवगाहितुं सहस्रनेत्रात् पृथक् क्षमः न।

हिन्दी—ऐरावत (सुरगज) कुम्भस्थल के व्याज से कठोर और पीन (मांसल) स्तनों-वाली दिशा (पूर्वदिशा) का पति (इन्द्र) क्या तेरा अभीष्ट है? मेरी सम्मति में तेरे शरीर की शोभा के अवगाहन (भली भाँति ग्रहण) में सहस्रनयन (इन्द्र) के अतिरिक्त अन्य समर्थ नहीं है।

—टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का कुचयुगल ऐरावत हाथी के मस्तकस्थित मांसपिण्ड—कुम्भस्थल की भाँति कठोर और मांसल है। इन्द्र

ऐरावत का स्वामी है। इस दृष्टि से जैसे ऐरावत पर उसका अधिकार है, ऐसे ही दमयन्ती का अधिकारी भी वही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त दमयन्ती के अङ्गों की शोभा इतनी व्यापक और असीम है कि दो नेत्रवाला उसका भली भाँति ईक्षण कर ही नहीं सकता, उसके लिए दो नहीं, सहस्र नेत्र अपेक्षित हैं। इन्द्र सहस्रनेत्र है। इस प्रकार उसी में इस शरीर शोभा के अवगाहन की क्षमता है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अपह्नुति और समासोक्ति अलंकार हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यलिंग और अपह्नुति की संसृष्टि है, क्योंकि पूर्वार्द्ध में 'कैतव' शब्द अपह्नुति का द्योतक है और उत्तरवाक्यार्थ द्वारा पूर्ववाक्य का समर्थन होने से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग है।

प्रसीद तस्मिन् दमयन्ति ! सन्ततं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैर्जगत्प्रभुः ।
पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैस्तनु घनातातनुता ॥ कण्टकैः ॥ ५३ ॥

जीवातु—प्रसीदेति। हे दमयन्ति ! तस्मै इन्द्राय प्रसीद प्रसन्ना भव। क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी। जगत्प्रभुः स इन्द्र सन्ततं तनुं निजाङ्गं निजाङ्गप्रभवैस्त एव पुलोमजायाः शच्या लोचनयोस्तीक्ष्णकण्टकैर्निशितवर्वरतदिष्टुमावमवविशेषैस्तया व्यथाकरैः सपत्नीभावैरित्यर्थः। कण्टकैः पुलकैः 'वेणौ द्रुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः' इति उभयत्रापि वैजयन्ती घना सान्द्रामाततुतां करोतु, शच्याः सपत्नी भवेत्यर्थः। अत्र पुलकेषु कण्टकत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः ॥ ५३ ॥

अन्वय—दमयन्ति, तस्मै प्रसीद, स जगत्प्रभुः तनुं त्वदङ्गसङ्गप्रभवैः पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्टकैः कण्टकैः सन्ततं घनाम् आततुताम्।

हिन्दी—हे दमयन्ती, तुम उस (इन्द्र) पर प्रसन्न हो जाओ (वरण करो)। वह लोकपाल (अपने) शरीर को तेरे (दमयन्ती के) अंगों के संग से उत्पन्न, पुलोमा की पुत्री (शची, इन्द्राणी) के नेत्रों के निमित्त तीखे काँटों जैसे रोमाचों द्वारा निरन्तर परिपूर्ण रखे।

टिप्पणी—भाव यही है कि दमयन्ती इन्द्र का वरण करले, तब उसके अंगों के स्पर्श से इन्द्र के शरीर में रोमाच होगा, वह इन्द्र की पत्नी की आँखों में तीक्ष्ण काँटा के समान खटका करेगा। दमयन्ती शची की सपत्नी हो जायेगी, जिसके वश में इन्द्र रहेगा। शची पति को सपत्नी संग से रोमांचित देख 'अ'य-संयोगदुःखिता' हो जायेगी। मल्लिनाथ के अनुसार पुलकों में कण्टकत्व का

आरोप होने से रूपक है, विद्याधर ने भी अनुप्रास और रूपक का निर्देश किया है ॥ ५३ ॥

अबोधि तत्त्व दहनेऽनुरज्यसे स्वय खलु क्षत्रियगोत्रजन्मन ।
विना तमोजस्विनमन्यत कथ मनोरथस्ते वलते विलासिनि ॥ ५४ ॥

जीवातु—अबोधीति । विलासिनि ! विलासशीले ! वो कथ समन्य- तन्म' इति विनुप्रत्यय । तत्त्व त्वन्मनोरथस्वरूपमबोधि बुद्धम् । कर्मणि लुङ् । तदेवाह—स्वय त्वमित्यर्थ दहने जातवेदसि अग्निदेवे अनुरज्यसे अनुरक्तासि खलु । रञ्जेर्दैवादिकात् स्वरितेन कर्तरि लट् । 'अनिदिताम्' इत्यादिना अनुनासिकलोप । कुत, क्षत्रियगोत्रे जन्म यस्यास्तस्यास्ते ओजस्विवशजाया इत्यर्थ । मनोरथ ओजस्विन तमग्नि विनाऽन्यतोऽन्यत्र सार्वविभक्तिकस्तसि । कथ वलते प्रवर्तते न कथमपीत्यर्थ । एतेनोभयोरोजस्वित्वेन समागमानुरूप्याद्दहनानुरागित्व ते युक्तमिति समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग व्यक्तमेव ॥ ५४ ॥

अन्वय—तत्त्वम् अबोधि, स्वय दहने अनुरज्यसे खलु । विलासिनि, क्षत्रियगोत्रजन्मन ते मनोरथ तम ओजस्विन विना अन्यत कथ वलते ?

हिन्दी—(अथवा मैंने) तत्त्व (ठीक बात) समझ लिया, तुम स्वयम् अग्नि में निश्चयत अनुरक्त हो। हे विलासमयी (विलासिनि), क्षत्रिय कुल में जनमनेवाली तेरा मनोरथ उस तेजस्वी (अग्नि) को छोड और किसी में कैसे प्रवृत्त होगा ?

टिप्पणी - इन्द्रविषयक अनुराग की कल्पना करके दो (५४-५५) श्लोकों में दमयन्ती के अग्नि के प्रति अनुराग की सम्भावना की गयी है। दमयन्ती क्योंकि तेजस्वी क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुई है, अत उसका तेजोमय अग्नि की इच्छा करना उचित और स्वाभाविक ही है। दमयन्ती का मन रथ के समान है, वह तेजस्वी की ओर ही प्रवृत्त होगा। विद्याधर ने हेतु और समासोक्ति का निर्देश किया है, किंतु मल्लिनाथ का मत है कि यहाँ वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंग अलंकार व्यक्त है, क्योंकि दोनों (दमयन्ती-अग्नि) के ओजस्वी होने से समागम की अनुरूपता होने के कारण अग्नि में दमयन्ती के अनुराग की उचितता का समर्थन हुआ है ॥ ५४ ॥

त्वयैव पत्न्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्यं न मनः कथञ्चन ।
हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्तिः शतशो निरूपिता ॥ ५५ ॥

जीवातु—न च दाहाद्भेतव्यमित्याह—त्वयेति । एकपत्न्या मुख्यपतिव्रतया, अत एव त्वया तनुतापशङ्कया देहदाहसम्भावनया वा ततोऽग्नेर्मनः कथञ्चन कथञ्चिदपि न निवर्त्यं न निवर्तयितव्यं, वृतेर्ण्यन्ता'दचो यदि'ति यत् । कुतस्तस्याग्नेः परीक्षणक्षणे अग्निदेवेन पातिव्रत्यपरीक्षावसरे सतीषु विषये हिमेनोपमा साम्यं यस्यास्ता वृत्तिः । शतशः शतकृत्वो निरूपिता निर्धारिता, न तु घुणाक्षरवत् सकृदित्यर्थः । तस्मात् त्वया न भेतव्यं प्रत्युत स एव साध्वीं त्वां दग्धुं बिभेतीति भावः । अत्र पूर्ववाक्यस्यैकपत्नीपदार्थहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकमेकं काव्यलिङ्गम् तस्याप्युत्तरवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकञ्चेत्यनयोः सङ्करः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—एकपत्न्या त्वया तनुतापशङ्कया ततः मनः कथञ्चन न निवर्त्यम् परीक्षणक्षणे तस्य सतीषु हिमोपमा वृत्तिः शतशः निरूपिता ।

हिन्दी—एक ही पतिवाली (पतिव्रता) तू (दमयन्ती) शरीर के संतप्त होने की आशङ्का से उस (अग्नि) की ओर से मन किसी प्रकार न हटाना, क्योंकि परीक्षा के समय (पातिव्रत्य-परीक्षा के अवसरों पर) उस (अग्नि) का सतियों के प्रति हिम के समान शीतल व्यवहार सैकड़ों बार देखा गया है ।

टिप्पणी—यह आशङ्का यदि दमयन्ती के मन में हो कि अग्नि ज्वलनशील है, उसका संसर्ग दाह का कारण बनेगा तो इससे डरना ठीक नहीं, क्योंकि सीता आदि पतिव्रताओं का संसर्ग जब उससे हुआ तो वह बर्फ के समान ठंडा पाया गया । दमयन्ती तो पतिव्रताओं में मुख्य है ही । पातिव्रत्य की परीक्षा के लिए 'दिव्य' की योजना की जाती है, दिव्य अर्थात् अग्नि में प्रविष्ट होकर परीक्षण, जिसमें पतिव्रता होने पर स्त्री सकुशल रहती है, न होने पर जल जाती है, जैसे सीता की अग्नि-परीक्षा (वाल्मीकिरामायण, युद्धकाण्ड ११६–११८ सर्ग) । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार, मल्लिनाथ ने पदार्थहेतुक और वाक्यार्थहेतुक दो काव्यलिङ्गों का सङ्कर माना है, पूर्ववाक्य के एकपत्नी पदार्थहेतुक होने से पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है तथा उसके वाक्यार्थहेतुक होने से अपहेतुक होने से वाक्यार्थहेतुक ॥ ५५ ॥

स धर्मराजः खलु धर्मशील्या त्वयास्ति चित्तातिथितामवापितः ।
ममापि साधु प्रतिभात्ययं क्रमश्चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः ॥५६॥

जीवातु—स इति । अथवा स प्रसिद्धो धर्मराजो यमः धर्मं शीलयतीति । धर्मशीला धर्मचारिणी । 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' । तया त्वया चित्तातिथिता चित्तगोचरत्वमवापितोऽस्ति खलु ? कामित । किमित्यर्थः । खलु-शब्दो जिज्ञासायाम् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनये खलु' इत्यमरः । यथा चेदुदस्तिरुपाद्-ममाप्ययं क्रमः क्रमेण प्रवृत्ति साधु यथा तथा प्रतिभाति परिस्फुरति । तथा हि—योग्येन सह योग्यस्य समागमः सम्बन्धश्चकास्ति शोभते, उभयोर्धार्मिकत्वादिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—धर्मशील्या त्वया स धर्मराजः खलु चित्तातिथिताम् अवापितः अस्ति-अयं क्रमः मम अपि साधु प्रतिभाति, हि योग्येन योग्यसङ्गमः चकास्ति ।

हिन्दी—धर्माचारिणी तेरे (दमयन्ती के) द्वारा वह (प्रसिद्ध) धर्मराज (यमराज) कदाचित् चित्त का अतिथि (मनोगोचर) बनाया गया है,—यह परिपाटी मुझे (दूत नल को) भी भली प्रतीत होती है, क्योंकि योग्य से योग्य (उत्तम से उत्तम) का सगम सुशोभित होता है ।

टिप्पणी—दो (५६ ५७) श्लोकों में धर्मराज के वरण का औचित्य प्रतिपादन किया गया है । दमयन्ती धर्मशीला है, अतः धर्मशीला के चित्त मे यदि धर्मराज बसा है तो उचित ही है । नियम ही है कि 'योग्य योग्येन योजयेत्' । समानशील जनों का मन शोभित होता है—'समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।' मल्लिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास और अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ५६ ॥

अजातविच्छेदलवैः स्मरोत्सवैरगस्त्यभासा दिशि निर्मलत्विषि ।
अनारतिः साकममृत्युशङ्किना निमेषवर्त्तेन नयस्व केलिभिः ॥५७॥

जीवातु—अजातेति । हे भैमि ! अगस्त्यभासा निर्मलत्विषि दिशि दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थः । तेन धर्मराजेन सह । 'वृद्धो यूने'ति ज्ञापकात् सहाप्रयोगेऽपि सहार्थे तृतीया । अविद्यमाना मृत्युशङ्का मरणशङ्का यस्याः सा सती अन्तकस्यैवास्मदादत्वादिति भावः । अजातो विच्छेदलवो विच्छेदो येषु तैः स्मरोत्सवैः सम्भोगैरेव केलिभिर्विनोदैः युतोऽवर्गीरतो यस्य तमनन्त-

काल निमेषवद् निमेषतुल्य नयस्व यापय। वरान्तरस्वीकारे दुर्लभमिदं सौभाग्यमिति भाव ॥ ५७ ॥

अन्वय—अगस्त्यमासा निर्मलरुचिपि दिधि तेन अमृत्युशङ्किता अजात-विच्छेदलवो स्मरोत्सवैः केलिभि धुनावधि काल निमेषवत् नयस्व ।

हिन्दी—अगस्त्य (मुनिनामक नक्षत्र) के प्रकाश से निर्मलकांतियुता (दक्षिण) दिशा में उस (यमराज) के साथ मृत्यु की शङ्का से रहित होकर वियोग के क्षणों से हीन कामोत्सव क्रीडाओं द्वारा असीम काल को क्षणसम व्यतीत करो ।

टिप्पणी—जिस दिशा में विन्ध्याचल पारकर अगस्त्यमुनि जा बसे थे और जो उन्हीं के नामधारी नक्षत्र के आलोक से निर्मल है, उस दक्षिण दिक् का स्वामी यमराज है। उससे विवाहित होने पर दमयन्ती को एक अत्यन्त लाभ यह होगा कि मृत्यु और तत्समय वियोग की आशङ्का ही मिट जायेगी और अमर्यादित समय तक दमयन्ती काम क्रीडाएँ करती आनन्द उठा सकेगी, क्योंकि यमराज तो मृत्यु के अधिपति ही ठहरे। ऐसा अवसर और से विवाह करने में प्राप्त न होगा। विद्याधर के अनुसार उपमा।

शिरीषमृद्वी वरुणं किमीहसे पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवम्।
विहाय सर्वान् वृणुते स्म किं न सा निशापि शीतांशुमनेन हेतुना ॥५८॥

जीवातु—शिरीषेति । अथवा शिरीषमृद्वी त्वं पयःप्रकृत्या जलस्वभावेन वरुणशरीरस्य तथात्वात् कारणगुणक्रमेणेत्यर्थः । मृदुवर्गे वासवमिन्द्र श्रेष्ठं वरुणमीहसे किमिच्छसि वा ? तदपि योग्यमेवेति शेष । तथा हि सा मृदु-स्वभावा निशापि अनेनैव मृदुस्वभावत्वेन हेतुना कारणेन । 'सर्वनाम्नस्तृतीया च' इति तृतीया । सर्वास्तीक्ष्णान् सूर्यादीन् विहाय शीतांशु न वृणुते स्म किम् ? वृणुत एव । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५८ ॥

अन्वय—शिरीषमृद्वी किं पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवं वरुणम् ईहसे ? सा निशा अपि अनेन हेतुना सर्वान् विहाय किं शीतांशु न वृणुते स्म ?

हिन्दी—शिरीष कुसुमों के तुल्य कोमलाङ्गी (तू दमयन्ती) क्या जल स्वभाव के कारण कोमल पदार्थों के इन्द्र (स्वामी) वरुण की इच्छा करती है ? उस रात्रि ने भी इसी कारण से सब को छोड़ क्या शीतकर (चन्द्र) को नहीं वरा है ? (इसी कारण वरा है) ।

टिप्पणी—(श्लो० ५८–५९) श्लोकों में वरुण वरण का औचित्य प्रतिपादित है। दमयन्ती कोमलाङ्गी है, अतः इसकी पूर्ण सम्भावना है कि वह कोमल पति की ही इच्छा करे। इससे यह सम्भावना भी प्राप्त होती है कि वह वरुण-वरण करे। दमयन्ती भी कोमल और जल-प्रकृति होने से जल का स्वामी वरुण भी कोमल। रात्रि द्वारा चन्द्र-वरण के दृष्टान्त से इस औचित्य को पुष्ट किया गया। रात्रि भी शीतल स्वभाव, मृदु होती है, इसी कारण उसने शीतकिरण चन्द्र का वरण किया। ऐसे ही दमयन्ती का वरुण-वरणेच्छा भी सम्भव ही है। इन्द्रादिकों को छोड़कर वरुण पर प्रवृत्ति होने में कहीं कोमलता है। यहाँ 'योग्य योग्येन योजयेद्' परिपाटी लागू होती है। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त अलङ्कार, विद्याधर के मत की परिभाषा 'समानान्यायवर्ती स्फुटमनुगताया स्वल्पतायामी लिलिरूपे यस्मिन्नुपमानः स विज्ञेयः' के अनुसार यहाँ उभयथाम अलङ्कार का निर्देश किया है॥ ५८॥

अभेदि यस्त्वद्दिवा दिवानिशं श्रियं प्रियेणानुगमप्रलोभकः।
सहानुना तत्र पयोनिधौ कृशोदरि! क्रीड यथामनोरथम्॥५९॥

जीवातु—अभेदीति। हे कृशोदरि! अनुगमप्रलोभकः रमणीयत्वं यस्य सोऽनिरमणीयो यः पयोनिधिः त्वया श्री येन तेन श्रियः प्रियेण लक्ष्मीपतिना दिवा च निशा च दिवानिशमहोरात्रयोरित्यर्थः। द्वन्द्वैकवद्भावे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अभेदि सेवितः। तत्र पयःपयोनिधौ क्षीराब्धौ अमुना वरुणेन सह यथामनोरथं यथेच्छं क्रीड, लक्ष्मीनारायणवदिति भावः॥ ५९॥

अन्वय—कृशोदरि, अनुगमप्रलोभकः यः त्वद्दिवा श्रियः प्रियेण दिवानिशम् अभेदि, तत्र पयोनिधौ अमुना सह यथामनोरथं क्रीड।

हिन्दी—हे तनुमध्ये (दमयन्ति), अत्यन्तरमणीय (अत्यन्त मनोरम) जिसका स्वर्गस्थानी लक्ष्मीवल्लभ (विष्णु) ने दिनरात सेवन किया, उस क्षीरसागर में इस (वरुण) के साथ अभिलाषानुसार केलि करो।

टिप्पणी—वरुण वरण का एक और औचित्य। उससे विवाह कर क्षीरसागर में यथेच्छ विहार का अवसर प्राप्त होगा। यह बड़ा लाभ है, क्योंकि क्षीरसागर स्वर्ग से भी रमणीय है। इसका प्रमाण यह है कि स्वयं लक्ष्मी के निवास विष्णु ने लक्ष्मी के साथ वहीं विहार किया। यदि क्षीरसागर-विहार

जीवातु—तत इत्यत आह—तदिति । तत्तस्मात् कौत्सुक्यादद्य विश्रम्य मे मम दयालुरेधि भव, अद्यास्मद्गेहे निवासेन मामनुगृहाणेत्यर्थः । अस्तेर्लोटि सिपि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः', 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्चे'त्येकारः । तन्निवासस्य फलमाह—भवन्तं विलोकत इति भवद्विलोकिनी सती दिनं निनीषामि, त्वद्विलोकनेन दिनं नेतुमिच्छामीत्यर्थः । मद्दर्शनात् कथं ते कालयापनमित्याशङ्क्याह—न मत्प्रियो नलः पक्षिणा दूतहंसेन नखैर्विलिख्य तथैव रूपेणाकारेण समं सदृशं आख्यायि किल, आख्यातः खलु । ख्यातेः कर्मणि लुङ् । चिणो युगागमः । अतस्त्वद्दर्शनात् दिनं नेष्यामि । सदृशदर्शनादिना कालविनोदनं साधनत्वाद्वियोगिनामिति प्रागेवोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—तत् अद्य विश्रम्य मे दयालुः एधि, भवद्विलोकिनी दिनं निनीषामि, पक्षिणा नखैः विलिख्य सः मत्प्रियः तथा एव रूपेण समः आख्यायि किल ।

हिन्दी—सो आज विश्राम करके मुझ पर दयालु हो जाइए, आप (सम्मुख स्थित नल) को देखती दिन व्यतीत करना चाहती हूँ, (कारण कि) पक्षी हंस ने नखों द्वारा अंकित करके वह मेरा (दमयन्ती का) प्रिय (नल) वैसा ही आकार में (आपके) सदृश ही बताया था ।

टिप्पणी—सखी बताया कि नल अब ऐसी बातें न करें, जो दमयन्ती को व्यथित करती हैं । यह उनकी बड़ी दया होगी । दमयन्ती की इच्छा यह है कि सम्मुख उपस्थित दूत (नल) को देख-देख कर ही यह पहाड़-सा दिन व्यतीत कर लें । दमयन्ती जान गयी हैं कि दूत नल ही हैं, क्योंकि स्वर्णहंस ने नखों से जो चित्र बनाया था, वह पूर्णतया ऐसा ही था । विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यलिंग ॥ ६६ ॥

दृशोर्द्वयी ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखेन्दुलक्ष्मीं तव यन्न वीक्षते ।
ममापि सा स्तन्दिमा नलानने विलोक्य साफल्यमुपैतु जन्मनः ॥६७॥

जीवातु—अथेह विश्रामे न केवलं ममैव साफल्यं किन्तु तवापीत्याह—दृशोरिति । सौम्य ! विधिना स्रष्टा ते दृशोर्द्वयी वञ्चितास्ति विप्रलब्धीकृता वर्तते । यद् यस्मात् तव मुखे इन्दुलक्ष्मीं न वीक्षते स्वमुखस्य स्वचक्षुषा द्रष्टुमशक्यत्वादिति भावः । तत्तस्मादसौ ते दृग्द्वय्यपि मम परेष्टनि इमां त्वन्मुख-

लक्ष्मीं नलानने विलोक्य जनयनिष्ठत्वाद् समानयमंस्येति भावः। जन्मन साफल्यमुपैतु। अत्र दूते सुरबुद्धया दूतनलमुखलक्ष्म्योर्भेदेऽप्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिर्भेदः ॥ ६७ ॥

अन्वय—विधिना ते दृशो द्वयी वञ्चिता अस्ति यत् तव मुखेन्दुलक्ष्मीं न दीव्यते, तत् श्वः असौ अपि इमां नलानने विलोक्य जन्मसाफल्यम् उपैतु।

हिन्दी—विधाता ने तेरे (दूत के) नेत्र युगल को विफलता दी है, क्योंकि वह (नेत्रयुगल) तुम्हारे मुखचन्द्र की शोभा को नहीं देख पा रहा है, सो कल वह (नेत्र युगल) भी इस (शोभा) को नल के मुख में देखकर जन्म की सफलता को प्राप्त करे।

टिप्पणी—दमयन्ती के आकृष्ट होने का कारण नल की असामान्य रूपश्री है। सखी ने बताया कि अब तक उपस्थित व्यक्ति के नेत्र विफल हैं, थोड़ी प्रतीक्षा कल तक कर लें, कल स्वयंवर में जब नल की उस मुखचन्द्रश्री को देखेंगे, तब सफल होंगे। भाव यह कि नल को देखकर ही इस उत्कट आश्चर्य का कारण जाना जा सकेगा। तात्पर्य यह है कि उपस्थित व्यक्ति नल है, उसके नेत्रों ने तो स्वयम् उसका रूप देखा न होगा, क्योंकि स्वयम् अपने नेत्रों से अपने को नहीं देखा जा सकता। यहाँ यह भी सखी ने स्पष्ट कर दिया कि अब यह अप्रकट नहीं रह गया है कि दूत नल ही है। विद्याधर ने हेत्वतिशयोक्ति का निर्देश किया है और मल्लिनाथ ने अभेद कथन रूपा अतिशयोक्ति का, क्योंकि दूत में सुरबुद्धि के कारण दूत और नल की मुखलक्ष्मी में भेद है ॥ ६७ ॥

ममैव पाणीकरणेऽग्निसाक्षिकं प्रसङ्गसम्पादितमङ्ग! सङ्गतम्।
न हा! सहार्थीतिघृणं स्पृहा कथं तवार्यपुत्रीयमजय्यमर्जितुम् ॥६८॥

जीवातु—ममैवेति। किन्त्व अङ्ग! भो! मम पाणीकरणे पाणिग्रहण एव 'नित्यं हस्ते पाणावुपयमने' इति पाणौ शब्दस्य गतित्वाद् 'कुगतिप्रादयः' इति समासः। अग्निसाक्षिकं यथा तथा विवाहाग्निसन्निधावेवेत्यर्थः। प्रसंगात् स्वयंवरप्रसंगात् सम्पादितं सयनमुभयोरानुरूप्याद्युक्तम्। आर्ययोः श्वशुरयोः पुत्र आर्यपुत्रो भर्ता नलः तदीयमार्यपुत्रीयं, 'वृद्धाच्छ' न जीर्यतीत्यजय्यं सगनरामसुग्रीवयोरिव स्थिरसख्यमित्यर्थः। 'अजय्यं संगत'मिति यत्प्रत्ययान्तो,

निपात । अर्जितु सम्पादयितु सहाधीति सब्रह्मचारिता वा धारयतीति धृत सारूप्यभृदित्यर्थ । धृधातो क्विप् । तस्य तव स्पृहा कथ नास्ति । हेति विषादे । सर्वथा स्पृहणीया तत्सगतिरित्यर्थ ॥ ६८ ॥

अन्वय.—अङ्ग, मम पाणीकरणे एव अग्निसाक्षिक प्रसङ्गसपादित सगतम्, हा, सहाधीतिधृत तव आर्यपुत्रीयम् अजयम् अर्जयितु स्पृहा कथ न ?

हिन्दी—हे सौम्यदूत, मेरे (दमयन्ती के) विवाह समय मे ही अग्नि का साक्षित्व अनायास सपन्न होकर (नल के साथ) सगत (दृढ मैत्री) हो जायेगा, खेद है कि कुलशील रूप मे समान तुम्हारी (दूत की) आर्यपुत्र (नल) की मैत्री पा लेने की आकाक्षा क्यों नही है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि अग्नि आदि का दूतकार्य करने आया व्यक्ति स्वयवर समय उपस्थित रहने से नल की मैत्री—सगति भी पा जायेगा। वह कुल शील रूप में नल के समान है, अत उसके मन में नल-मैत्री की आकाक्षा होनी ही चाहिए, क्योंकि 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।' खेद यही है कि ऐसी इच्छा होने में उपस्थित व्यक्ति को सकोच क्यों है ? सकेत यह भी है कि एक-एक दिशा के स्वामी इन्द्रादि की मैत्री प्राप्त करने के लिए जब ऐसा कार्य उपस्थित व्यक्ति कर रहा है तो अष्टलोकपालाश राजा नल के लिए वह कार्य क्यो नहीं करता ? एक दिशा के स्वामी की तुलना मे आठ दिशाओ के स्वामी की मैत्री अधिक काम्य होनी चाहिए। यह तात्पर्य भी है कि कल स्वयवर होते ही जिस अग्नि का दूतत्व उपस्थित व्यक्ति कर रहा है, उसी अग्नि की साक्षी मे दमयन्ती-नल का उचित सबध सम्पन्न हो जायगा, उपस्थित व्यक्ति को भी रूप कुल शील में सम होने के कारण नल से मैत्री कर लेनी चाहिए। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ६८ ॥

दिगीश्वरार्थं न कथञ्चन त्वया कदर्थनीयास्मि कृतोऽयमञ्जलि ।
प्रसद्यता नाथ निगाद्यमीदृश दधे दृशौ वाग्भरयास्पदे मृशम् ॥६९॥

जीवातु—दिगीश्वरेति । किञ्चाह त्वया दिगीश्वरार्थं कथञ्चनापि कदर्थनीया निर्बन्धनीया नास्मि, अयमञ्जलि कृत प्रार्थये त्वामित्यर्थ । प्रसद्यता प्रसन्नेन भूयता, भावे लोट् । अत्र ईदृश दिगीशसदेशरूप न निगाद्य न वाच्यम्, 'ऋहलोर्ण्यत्' 'गदमदे'त्यादिनानुपसर्गादेव यतो विधानात् । किं

बहुना—मृग शावस्याक्ष्ये अश्रुवेगाश्रयौ दृशौ दधे धारयामि रोदिमीत्यर्थः। नैव दुःखस्यानुचितमिति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वय—त्वया दिगीश्वरार्थं कथञ्चन न कदर्थनीया अस्मि, अयम् अञ्जलि कृतः, प्रसीद; अथ ईदृशं न निगादय; मृग शावस्याक्ष्ये दृशौ दधे।

हिन्दी—तुम (दूत) दिक्पालों के निमित्त किसी प्रकार मुझ (दमयन्ती) को पीड़ित मत करो, हाथ जोड़ती हूँ, प्रसन्न होओ, अब ऐसा न कहो, मैं —नकि आँसुओं के प्रवाह से पूर्ण नेत्र धारण किये हूँ।

टिप्पणी—सखी ने कहा कि दूत, अब तुम दया करके ऐसी अप्रिय बातें न करो, दमयन्ती हाथ जोड़े, आँसू भरे विनय कर रही है। पाणिग्रहण की मङ्गलवेला में ऐसी रुलाने वाली, अप्रिय, अशुभ बातें कहना किसी प्रकार उचित नहीं है। शुभसमय में अशुभ वचन अच्छा नहीं होता। विद्याधर के अनुसार दैन्य भावोदय अलंकार ॥ ६९ ॥

वृणे दिगीशानिति का कथा तथा त्वयीति नेच्छे नलभासमीहया।
सतीव्रतेऽग्नौ तृणयामि जीवितं स्मरस्तु किं वस्तु तदस्तु भस्म यः ॥७०॥

जीवातु—वृणे इति। किञ्च दिगीशान् वृणे इति का कथा, अत्यन्ता-सम्भावितमित्यर्थः। तथा हि—नलस्य भा कान्तिमपि त्वयि स्थितामिति शेषः। त्वयीति त्वयि परपुरुषे स्थिते इति हेतो तदीहया वाञ्छया नेच्छे। यद्वा त्वयि या नलस्य भा नलभामिति केचित् योजयन्ति। नन्वेवं मुग्धायास्ते बलविरोधे दशामाह—सतीव्रते पातिव्रत्ये एवाग्नौ जीवितं तृणयामि तृणीकरोमि, जीवितात्स्पृहापि पतिव्रताना न कुर्वतीत्यर्थमिति भावः। स्मर-मयं तु दूरापास्तमित्याह—स्मरस्तु तदन्यदिदं किं वस्तु कः पदार्थो नैवेत्यर्थ न कोऽपीत्यर्थः। कुत यः स्मरो भस्म भस्मीभूत ईशेन जीवितो सोऽपि तुच्छः किं करिष्यतीत्यर्थः। पारिशेष्यादयं स्मरो न किञ्चिदुपकरोतीति भावः ॥

अन्वय—दिगीशान् वृणे इति का कथा, नलस्य भाम् अपि त्वयि इति ईहया न ईच्छे, सतीव्रते अग्नौ जीवितं तृणयामि, स्मरः तु किं वस्तु, यः भस्म।

हिन्दी—दिक्पालों को वरूँ—इसकी तो कथा (कहनी) ही क्या, नल की आभावाले तुम को भी मैं वैसी इच्छा (अनुराग) से नहीं देखती। सती-

व्रतपालन में मैं आग में जीवन को तृण समान झोंक सकती हूँ, काम ('स्मर' अर्थात् स्मरणशेष—मृत) क्या पदार्थ है, जो भस्ममात्र है ।

टिप्पणी—सखी ने कहा कि दमयन्ती तो नल समान उपस्थित व्यक्ति के प्रति भी अनुराग दृष्टि नहीं रखती, दिक्पालों के वरण की तो बात ही असम्भव है । पातिव्रत की रक्षा में वह तृण-समान जीवन होम देगी, काम भय उसे नहीं है । काम तो स्वयं मृत है, भस्ममात्रावशेष । उससे डरने का तो कोई कारण ही नहीं है । जो आग में घुस सकता है, वह भस्म से क्या डरेगा ? विद्याधर के अनुसार रूपक और छेकानुप्रास ॥ ७० ॥

न्यवेशि रत्नत्रितये जिनेन यः स धर्मचिन्तामणिरुज्झितो यया ।
कपालिकोपानलभस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं तया ॥७१॥

जीवातु—न्यवेशीति । हे सौम्य ! यो धर्माख्य चिन्तामणिर्जिनेन देवेन अर्हता रत्नत्रितये जैनपरिभाषया सद्दृष्टिज्ञानवृत्ताख्ये रत्नत्रये न्यवेशि निवेशित 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' इति तैरुक्तत्वात् । निवेशेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ् । स धर्मचिन्तामणिः यया स्त्रिया कपालिनः हरस्य कोपानलभस्मनः तद्रूपस्य कामस्य कृते, कृत इति तादर्थ्येऽव्ययम् । उज्झितस्त्यक्तः तया स्त्रिया तदेव भस्म स्वकुले स्तृतं विस्तृतम् । कामाख्यभस्मान्यतया धर्मत्यागिन्या स्त्रिया स्वकुलमेव भस्मसात् कृतं भवेदित्यर्थः । अतो नलैकव्रतायाः ममाग्रे महेन्द्रादिनामग्रहणमपि न कार्यमिति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वय—जिनेन रत्नत्रितये यः धर्मचिन्तामणिः न्यवेशि, सः यया कपालिकोपानलभस्मनः कृते उज्झितः, तया तत् एव भस्म स्वकुले स्तृतम् ।

हिन्दी—जिन (अर्हत्) ने तीन रत्नों (सद्दृष्टि, सद्-ज्ञान, सद्वृत्ति) में जिस धर्म रत्न चिन्तामणि का निवेश किया है, उसे जिस (स्त्री) ने कपालधारण करने वाले (शिव) के क्रोधाग्नि की भस्म (काम) के निमित्त छोड़ दिया, उस (स्त्री) ने वही भस्म अपने कुल पर डाल दी ।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नारी श्रेष्ठ चिन्तामणि (विष्णु के वक्षस्थल पर स्थितमणि) को एक सामान्य मुण्डधारी के डर से छोड़कर भस्म का आश्रय दे, वह निन्दनीय होती है, उसी प्रकार वह नारी भी कुलकलंकिनी है जो कामरूप शिवकोपाग्नि की भस्म के लिए चिन्तामणि तुल्य सद्गुण

अर्थात् सच्चारित्र का त्याग कर देती है। कोई उन्मादी ही राख के लिए मणि का त्याग करता है। यह एक प्रकार से उज्ज्वल वस्त्र पर ही भस्म फेंक कर उसे कलंकित करना है। दमयन्ती मदननीति से चिन्तामणि तुल्य पातिव्रत का त्याग नहीं कर सकती। 'कपालिकोपानलभस्म' का अर्थ काम तो है ही, साथ ही 'कपाली' का प्रयोग अकिंचन भिक्षु का संकेत देता है। एक अकिंचन की भस्म के लिए रत्नत्याग महामूर्खता ही है। नारायण पण्डित ने 'जिन' का अर्थ बुद्ध किया है। सामान्यतः 'बुद्ध' और 'जिन' दो धर्मसंस्थापक हैं, जिनके धर्म क्रमशः बौद्धधर्म और जैनधर्म कहाते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार 'रत्नत्रय' अथवा 'त्रिरत्न' हैं—(१) बुद्ध (२) धर्म और (३) संघ। सद्दृष्टि, सद्ज्ञान और सद्वृत्ति जैनपरिभाषा के अनुसार रत्नत्रय हैं। श्लोक का भाव यह है कि नलैकनिष्ठा दमयन्ती दिक्पालों को थोड़ा भी प्रश्रय न देगी। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास ॥ ७१ ॥

निपीय पीयूषरसोर्मिमीरसी गिरः स्वकन्दर्पहुताशनाहुती ।
कृतान्तदूतं न तया यथोदितं कृतान्तमेव स्वममन्यतादयम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—निपीयेति। असौ नलः पीयूषरसस्यामृतरसस्य उरसा निर्मिताः औरसीः आत्मजाः सदृशीरित्यर्थः। 'उरसोऽण् च' इत्यणप्रत्ययः। सप्ताधिकारात्-निर्मितनियम इति काशिका। स्वकन्दर्पहुताशनस्य निजकामाग्नेराहुतीरुद्दीपनीर्गिरो भैमीवाक्यानि निपीय स्वमात्मानं तया भैम्या यथोदितं यथोक्तं वदनतिक्रमणेनेत्यर्थः। 'यथासादृश्ये' इत्यव्ययीभावः। कृतान्तदूतं नामयत किन्त्वदयं निर्दयं यथा तथा स्वं कृतान्तमेवामन्यत। दूतकर्मत्वात् निर्दाक्षिण्य बध्यामीत्यमन्यतेत्यर्थः ॥ ७२ ॥

अन्वय—असौ पीयूषरसौरसीः स्वकन्दर्पहुताशनाहुतीः गिरः निपीय स्वं तया यथा उदितं कृतान्तदूतं न अदयं कृतान्तम् एव अमन्यत।

हिन्दी—इस (नल) ने अमृतरस की पुत्रियों और अपने कामरूप अग्नि की आहुतिस्वरूप (दमयन्ती) की वाणी का पान कर (मधुर और उद्दीप्त करने वाले वचन सुनकर) अपने को (नल को) उस (दमयन्ती) के कथन के अनुसार यमराज का दूत नहीं, दयाहीन यम ही माना।

स्वविग्रहेषु आहवनीयादिषु स्वयमेव हुत स्वाद्य स्वदेवताक हविर्येन स सार्व कामिक सर्वकामिक सर्वकामप्रयोजनक, 'प्रयोजनमि'ति ठक्। ऋतु विधत्ते यदि तदा स वैदिको वेदावगतो विधिरनुष्ठान कथ तु मिथ्यास्तु निष्फल स्यात्। अत्र स्वशब्दत्रयेण क्रमादग्नेरेव कर्तृदेवताहवनीयादिरूपताप्रतिपादनात् कर्मणि प्रमादानवकाश सूचित । तस्माद्वेदप्रामाण्यादनलसादसीति सिद्धमिति भाव ॥ ७५ ॥

अन्वय —शिखी त्वदवाप्तिकामना विधाय स्वमूर्तिषु स्वय हुतस्वाद्यहवि यदि सार्वकामिक ऋतु विधत्ते, स वैदिकः विधि कथ मिथ्या अस्तु ?

हिन्दी—अग्नि तुम (दमयन्ती) को प्राप्त करने की कामना करके अपनी मूर्त्तियों (आहवनीय स्वावयवों) मे स्वय ही अपनी अदमृत हवि होम कर यदि समस्त कामना पूर्ण करने वाला यज्ञ करे, तो वह वेद विहित विधि कैसे झूठी पडेगी ?

टिप्पणी—अग्नि के तीन श्रौत रूप माने गये हैं—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्नि। ये अग्नि की मूर्त्तियाँ हैं। 'सार्वकामिक यज्ञ' मे अपना अश प्राप्त कर अग्नि यजमान को अभीष्ट फल देता है। यह वेदोक्त विधि है, जिसको अप्रमाणित नही किया जा सकता। नल दमयती के समुख तर्क रखता है कि यदि स्वयम् अग्नि ही यजमान, देव और आहवनीय होकर दमयन्ती के निमित्त सार्वकामिक यज्ञ करेगा तो उसे प्राप्त कर लेगा, उसे कोई रोक नही सकेगा। अच्छा है कि दमयन्ती अग्नि का वरण स्वेच्छया कर ले। जो दूसरे को देता है, वह स्वय यज्ञ फल और सरलता से प्राप्त कर लेगा। विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ७५ ॥

सदा तदाशामधितिष्ठन् कर वर प्रदातु वलिताद्बलादपि।
मुनेरगम्त्याद् वृणुते म धर्मराड् यदित्वदाप्ति भणका तदा गति' ॥७६॥

जीवातु—सदेति । स धर्मराड् सदा सर्वदा तस्य धर्मराजस्याशा दिशम्, दक्षिणामधितिष्ठतोऽधिवसत । अत एव बलादपि करमेव कर वलि प्रदातु वलितात् प्रवृत्तादगस्त्या मुनेस्त्वदाप्ति त्वत्प्राप्ति वृणुते यदि, तदा का गति ? भण। वाक्यार्थ कर्म॥ ७६ ॥

अन्वय—सः धर्मराट् यदि सदा तदाशाम् अधितिष्ठन् बलात् अपि वरं करं प्रदातुं वलिताद् मुनेः आगस्त्यात् त्वत्प्राप्ति वृणुते, तर्हि—तदा का गति ?

हिन्दी—वह धर्मराज (यम) यदि सदा उसकी दिशा (दक्षिण दिशा) में वास करते बलपूर्वक (नारायण के अनुसार 'स्वेच्छया') भी वर (दमयन्ती-प्राप्ति) कर (राज कर) देने को प्रवृत्त मुनि अगस्त्य से तेरी (दमयन्ती की) प्राप्ति माँगता है, बता, तब क्या गति (परिणाम) होगी ?

टिप्पणी—यमराज के हाथों पड़ने में भी दमयन्ती विवश है, क्योंकि यम की दक्षिण दिशा में मुनि अगस्त्य वास करते हैं। इस दृष्टि से यम के प्रदेश में रहने के कारण मुनि राजदाय कर अवश्य देते होंगे। यदि उस कर के रूप में यम ने दमयन्ती को माँगा तो मुनि अगस्त्य वह वर-कर देंगे ही। और अगस्त्य को रोकनेवाला कोई है नहीं, अतः दमयन्ती को धर्मराज की पत्नी बनना ही होगा। इस आधार पर नल का तर्क समत मत यही है कि दमयन्ती स्वेच्छया यम वरण कर ले। विद्याधर के अनुसार रूपक अलङ्कार ॥ ७६ ॥

क्रतौ कृते जाग्रति वेत्ति कः कति प्रभोरपां वेश्मनि कामधेनवः ।
त्वदर्थमेकामपि याचते स चेत् प्रचेतसः पाणिगतैव वर्तसे ॥७७॥

जीवातु—क्रतौरिति । किञ्च क्रतौ कृते ऋत्वर्थमपां प्रभोः वरुणस्य वेश्मनि कति कामधेनवो जाग्रति वर्तन्ते को वेत्ति असङ्ख्याताः सन्तीत्यर्थः । स वरुणस्त्वदर्थं त्वन्निमित्तं तत्रैकामपि गां याचते चेत्, दमयन्तीं देहीति प्रार्थयते चेत् तर्हि प्रचेतसो वरुणस्य पाणिगतैव वर्तसे । तदा कस्त्वां मोचयिष्यतीति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वय—अपां प्रभोः वेश्मनि क्रतौ कृते कति कामधेनवः जाग्रति—कः वेत्ति ? सः त्वदर्थम् एकाम् अपि याचते चेत् प्रचेतसः पाणिगता एव वर्तसे ।

हिन्दी—जल के स्वामी (वरुण) के गृह में यज्ञ के निमित्त कितनी कामधेनुएँ हैं—कौन जानता है ? वह (वरुण) तेरे निमित्त यदि एक (कामधेनु) में भी याचना करे तो तू प्रचेता (वरुण) के हाथों में ही होगी।

टिप्पणी—यज्ञ निमित्त आवास में स्थित अनेक कामधेनुओं में से एक से भी वरुण ने दमयन्ती के निमित्त याचना की तो उसे वरुण का पाणिग्रहण करना ही होगा, क्योंकि कामधेनु का दिया वर अमोघ है। कोई नहीं रोक

सकेगा उस स्थिति मे वरुण कर गता होने मे दमयन्ती को। अच्छा है, वह स्वय ही वरुण को स्वीकार ले। इस प्रकार एक एक श्लोक मे नल ने एक एक दिक्पाल की शक्ति का वर्णन कर यह सिद्ध कर दिया कि दमयन्ती को ये सब बलात् ले सकते हैं। उससे पूव को ऐसी स्थिति उत्पन्न हो, उचित यही है कि दमयन्ती इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण मे से किसी एक का स्वेच्छया वरण कर ले। दूसरा कोई उपाय नही है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार अनुप्रास।७७।

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची।
स एव राजव्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयवरः ॥७८॥

जीवातु—नेति। किञ्च पतिव्रता शची पत्युरिन्द्रस्यानिच्छया असम्मत्या कारणेन विघ्नसिद्धये स्वयवरविघातार्थं सन्निहिता न यदि=न स्याद् चेद्। विशसति हिनस्तीति विशसो हिंसक, पचाद्यच्। तस्य कर्म वैशस, युवादि त्वादण् प्रत्यय। राजव्रजस्य राजन्यकस्य वैशसान्मिथो विरोधाद्धेतो परस्पर-स्पर्धिनोऽन्योन्यसङ्घर्षिणो वरा वोढारो यस्मिन् स तथोक्त स्वयवर एव कुत कुतस्तरा नलवरणमिति भाव। स्वयवरे शचीसन्निधानादविघ्नसिद्धिरिति शास्त्रम्। तथा च रघुवशे—'सान्निध्ययोगात् किल तत्र शच्या स्वयवरक्षोभ-कृतामभाव' इति॥ ७८॥

अन्वय—पतिव्रता शची पत्यु अनिच्छया विघ्नसिद्धये न सन्निधात्री, राजव्रजवैशसात् परस्परस्पर्द्धिवर स स्वयवर एव कुतः?

हिन्दी—पतिव्रता शची (इन्द्राणी) पति की अनिच्छा से यदि विघ्न उपस्थित करने के लिए (स्वयवर मे उपस्थित होने को) उद्यत न हो तो राजाओं की कलह जनित हिंसा के कारण अन्योन्य की स्पर्धा करते वरो से युक्त वह स्वयवर ही कहाँ होगा?

टिप्पणी—(७४–७७) चार श्लोकों में भेदनीति का प्रयोग कर नल इस श्लोक मे दण्डनीति का भय दिखाता है। यह माना जाता है कि स्वयवर मे शची की उपस्थिति से विघ्न शान्ति होती है। इन्द्र का दमयन्ती द्वारा अनादर हुआ है, यह जान कर शची यदि स्वयवर मे उपस्थित ही न होगी तो विघ्न पड़ेगा। स्वयवर मे एकत्र राजा परस्पर स्पर्धा मे लड मरेंगे। हत्या-मारकाट-ध्वस हो जायेगा। दमयन्ती को स्वय वरने का अवसर ही न मिलेगा।

स्वयंवर हो ही न सकेगा, नल का स्वेच्छया वरण तो दूर की बात है जैसा कि ६२-६६ श्लोकों में इच्छा प्रकट हुई है। विवाह में गौरी और स्वयंवर में देवों का सान्निध्य प्राचीन परम्परा है। कालिदास ने 'रघुवंश' (७।३) में लिखा है कि देवों के सान्निध्य से स्वयंवर क्षोभकारियों का वहाँ अभाव रहा। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलङ्कार ॥ ७८ ॥

निजस्य वृत्तान्तमजानता मिथो मुखस्य रोषात् परुषाणि जल्पतः ।
भृशं किमच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि क्षोणिभुजां दिदृक्षसे ॥७९॥

जीवातु—निजस्येति । मिथो रोषात् परुषाणि जल्पतो निजस्य मुखस्य वदनस्य वृत्तान्तमजानता रोषान्ध्यात् स्वोक्तमप्यविजानता क्षोणिभुजां सम्बन्धि अच्छत्रकं छत्रभङ्गेनापनीतच्छत्रा ये दण्डास्तेषां ताण्डवं दण्डैव नृत्य युद्ध दण्डताण्डवमित्यर्थः । तथा तेषामपि मङ्क्षु भुजाभ्यां भुजाभ्यां प्रवृत्तं युद्धं भुजाभुजि युद्ध च गम्यमानार्थत्वात् च-शब्दाप्रयोगः 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' इति बहुव्रीहौ 'इच् कर्मव्यतिहारे' इतीच्प्रत्ययः । तिष्ठद्गुप्रभृतिष्वव्ययीभावसंज्ञा । दिदृक्षसे द्रष्टुमिच्छसि 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' इत्यात्मनेपदम् ॥ ७९ ॥

अन्वय—किं रोषात् मिथः परुषाणि जल्पतः निजस्य मुखस्य वृत्तान्तम् अजानता क्षोणिभुजाम् अच्छत्रकदण्डताण्डवं भुजाभुजि भृशं दिदृक्षसे ?

हिन्दी—क्या क्रोध से परस्पर कठोर वाक्य कहते, अपने मुखों से क्या कहा जा रहा है—यह न जानते पृथ्वीपालों (राजाओं) का छत्रों के दण्डों के ताण्डव से परिपूर्ण बाहुयुद्ध देखने की इच्छा कर रही हो ?

टिप्पणी—देवों के न आने से ऐसा विघ्न और कलह उपस्थित होगा कि स्वयंवर उत्सव न रह कर युद्धभूमि बन जायेगा, जिसमें राजागण क्रोध में गालियाँ बकते, टूटे छत्रों के दण्डों से और भुजाओं से परस्पर लड़ मरेंगे। इस स्थिति में नल को वरने का अवसर ही न मिलेगा। नल ने दमयन्ती के सम्मुख सिद्ध कर दिया कि क्या वह ऐसा चाहती है ? क्या वह राजाओं का युद्ध देखने की इच्छुक है, स्वयंवर को नहीं ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख अलङ्कार छेकानुप्रास ॥ ७९ ॥

असार्पयन् साक्षिकपुन्तलिङ्गं ज्वलेद्रुषा चेद्भुवा तु नानलः ।
अलं नलं कर्तुमनग्निसाक्षिको विधिं विवाहे तव सारसाक्षि ! किम् ॥८०॥

जीवातु—अपार्थयन्निति। हे सारसाक्षि! सरोरुहाक्षि! 'सारसं सरसीरुहम्' इत्यमरः। तव विवाहे अनलोऽग्निः याज्ञिकस्य फूत्कृतिश्रमं याजकफूत्कृतिश्रमं सनिघनप्रयासमपार्थयन् व्यर्थयन् रुषा रोषेणैव ज्वलेत् वपुषा स्वरूपेण तु न ज्वलेच्चेद् तदा नलः अग्न्यभावादग्निसाक्षिको न भवतीत्यनग्निसाक्षिकस्तं कं विधिमनुष्ठानं कर्त्तुमलं शक्तः न कञ्चिदित्यर्थः ॥ ८० ॥

अन्वय—याज्ञिकफूत्कृतिश्रमम् अपार्थयन् अनलः चेत् रुषा ज्वलेत् वपुषा तु न, हे सारसाक्षि, अनग्निसाक्षिकः नलः कं विधिं कर्त्तुम् अलम् ?

हिन्दी—यज्ञकर्त्ताओं के फूंक मार कर प्रज्वलित करने के परिश्रम को व्यर्थ करता अग्नि यदि रोष से जलने लगे, शरीर से नहीं तो हे कमलनयने, अग्नि की साक्षी से रहित नल किस विधि के सम्पादन में समर्थ होगा ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में इन्द्र के क्रुद्ध होने से सम्भावित दण्ड का रूप उपस्थित कर नल यहाँ अग्नि के क्रुद्ध होने पर सम्भावित दण्ड का भय उपस्थित कर रहा है। 'विवाह अग्निसाक्षिक'—विवाह अग्नि की साक्षी में होता है, धूम की साक्षी में नहीं। यदि अनादृत अग्निदेव क्रोध में जलकर ज्वाला रूप में प्रकट हों ही नहीं तो होमादि विधि हो ही नहीं सकेगी, बेचारा नल विवाह में किस रीति का आश्रय लेगा ? अग्नि के क्रुद्ध होने पर विवाह-विधि ही न हो सकेगी। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमालंकार ॥ ८० ॥

पतिंवराया कुलजं वरस्य वा यमः कमप्याचरितातिथिं यदि।
कथं न गन्ता विफलीभविष्णुतां स्वयंवरः साध्वि! समृद्धिमानपि ॥८१॥

जीवातु—पतिंवराया इति। किञ्च यमोऽन्तकः पतिं वृणीत इति पतिंवरा वधूः। 'सञ्ज्ञायां भृतॄवृ' इत्यादिना खच् 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्'। तस्या वरस्य वोढुर्वा कुलजं कमपि। अनमतिथिमभ्यागतमाचरिता यदि मारयिष्यति चेदित्यर्थः। 'अनद्यतने लुट्'। हे साध्वि! समृद्धिमान् सर्वसाधनसम्पन्नोऽपि स्वयं व्रियते अस्मिन्निति स्वयंवरः स्वयंवरकर्म। 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्चे'त्यप्प्रत्ययः। विफलीभविष्णुता 'भुवश्च' इति इष्णुच्प्रत्ययः। कथं न गन्ता, गमिष्यत्येवेत्यर्थः। गमेर्लुट्। वृथा नर्ङ्क्ष्यसिविनष्टतासीति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वय—यदि यमः पतिंवरायाः वरस्य वा कम् अपि कुलजम् अतिथिम् आचरिता साध्वि, समृद्धिमान् अपि स्वयंवरः कथं विफलीभविष्णुतां न गन्ता ?

हिन्दी—यदि यम पति का वरण करनेवाली (दुहिन-दमयन्ती) अथवा वर (दूल्हा-नल) के कुल (वंश) के किसी व्यक्ति को (अपना) अतिथि बना लेंगे (मार देंगे) तो हे पतिव्रते, समृद्धिपूर्ण (सम्पन्न) भी स्वयंवर क्यों निष्फल न हो जायेगा ?

टिप्पणी—यम मृत्यु के स्वामी हैं, उनके अनादर का फल दमयन्ती को यह प्राप्त हो सकता है कि स्वयंवर होते-होते नल अथवा दमयन्ती का कोई पारिवारिक जन यम की इच्छा से मृत्यु को प्राप्त हो जाय। ऐसी स्थिति में स्वयंवर निष्फल रह जायेगा। अतः उचित है कि दमयन्ती यम का ही वरण कर लें। क्यों किसी आत्मीय की मृत्यु चाहती है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ८१ ॥

अपां पतिः स्वामितया परः सुरः स तां निषेधेद्यदि नैषधक्रुधा।
नलाय लोभाचमनापणेऽपि तत् पिता कथं त्वां वद सम्प्रदास्यते ॥८२॥

जीवातु—अपामिति। हे सान्वि! अपां पतिः स प्रसिद्धः परः सुरः स्वामितया अम्पतित्वान्नैषधे नले क्रुधा क्रोधेन वा अपो निषेधेत् प्रतिबध्नीयात् यदि तर्हि लोभेन आचमनापणे प्रसारितहस्तायापि लोभ्याज्जलं विना विप्रलब्धेऽभीत्यर्थः। नलाय पिता भीमस्त्वां कथं सम्प्रदास्यते न कथञ्चि-दित्यर्थः। वद। वाक्यार्थं कुर्न ॥ ८२ ॥

अन्वय—स परः (स्वामितया+अपरः विच्छेद में अपरः) सुरः अपां पतिः स्वामितया यदि नैषधक्रुधा ताः निषेधेत् तत् वद, लोभाचमनापणे (लोभात् हस्तापणे) अपि नलाय पिता (ते पिता) त्वां कथं सम्प्रदास्यते।

हिन्दी—वह श्रेष्ठ देव जल स्वामी (वरुण) स्वामी होने के कारण (अधिकारी होने से) यदि निषधराज (नल) पर क्रोध होने से उन (जल) का निषेध कर दें तो बोलो, लोभ से हाथ फैलाये भी नल को तुम्हारे पिता तुम (दमयन्ती) को कैसे देंगे ?

टिप्पणी—अनादर से क्रुद्ध हो जल के अधिकारी वरुण जल को रोक सकते हैं। तब भीमराज नल को अपनी कन्या का दान ही कैसे कर सकेंगे, क्योंकि बिना जल के कन्यादान तो शास्त्रसम्मत होता नहीं। अतः उचित है कि वरुण का अनादर न करके दमयन्ती उनका ही वरण कर ले। नारायण ने एक प्रका

बताती है कि जप के अभाव में गान्धर्वादि विवाहों का स्मृति में निषेध नहीं है, इस स्थिति में दमयन्ती-नल का गान्धर्व विवाह हो सकता था, फिर यह आशंका व्यर्थ हो जाती है। समाधान में उन्होंने बताया है कि नल ने ऐसा दमयन्ती को चक्कर में डालने के लिए—डराने के लिए ही कह दिया—'गान्धर्वादिविवाहेषु' इत्यादिना अक्षुर्वन्ने स्मृत्या निषिद्धं इत्यपि नैमो प्रकार-न्यायमेवानुसरणम्।' विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और काव्यलिंग ॥ ८२ ॥

इदं महत्तेऽभिहितं हितं मया विहाय मोहं दमयन्ति! चिन्तय।
सुरेषु विघ्नैकपरेषु को नरः करस्थमप्यर्थमवाप्तुमीश्वरः ॥८३॥

जीवातु—इत्यति हितार्थग्रहणकारितामाह—इदमिति। हे दमयन्ति! मया इदं महद्धितं ते तव तुभ्यं वाभिहितं, मोहं मौढ्यं विहाय चिन्तय विमृश। तथा हि—सुरेषु विघ्न एवैकं परं प्रधानं येषां तेषु विघ्नतत्परेषु सत्सु को नरः करस्थमप्यर्थं वस्तुवाप्तुमीश्वरः शक्तः, न कोऽपीत्यर्थान्तरन्यासः। तस्मात्तत्र सुरेष्वेव वरणीयः इति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वय—दमयन्ति, मया इदं ते महत् हितम् अभिहितम्, मोहं विहाय चिन्तय, सुरेषु विघ्नैकपरेषु करस्थम् अपि अर्थं कः नरः अवाप्तुम् ईश्वरः ?

हिन्दी—हे दमयन्ति, मैंने (नल ने) यह तेरे बड़े हित की बात कही है, मोह को छोड़कर विचार! देवों के एकमात्र विघ्नकारी हो जाने पर हाथ में आयी भी वस्तु को कौन मनुष्य प्राप्त करने में समर्थ है? (कोई नहीं)।

टिप्पणी—नल ने उपर्युक्त प्रकार से दमयन्ती को समझाते हुए दमयन्ती को समझाया कि देवों के विरुद्ध हो जाने पर वह नल को वरण नहीं कर सकती। दो (७८, ७९) श्लोकों में इन्द्र के, एक (८०) में अग्नि के, एक (८१) में यम के और एक (८२) में वरुण के रूप का नाम उपस्थित करके निष्कर्ष रूप में दमयन्ती को सम्मति दी गयी कि नल को पाना सम्भव नहीं है, अतः उचित है कि इन्द्रादि में से किसी का वरण दमयन्ती कर ले। इसी में कल्याण है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और अर्थान्तर-न्यास अलंकार ॥ ८३ ॥

इमां गिरमस्य विचिन्त्य चेतसा तथेति शुश्रूषयमाणमनाद सा।
निरागसानद्रनोतर्गनिर्झरं मनोनिमग्नं वमज्जनद्य दृगी ॥८४॥

जीवातु—इमा इति। सा दमयन्ती इमास्तस्य नलस्य गिरश्चेतसा विचिन्त्य पर्यालोच्य तथैव सम्प्रत्ययं विश्वासमाससाद। अथ निवारिताश्रुग्रहो निष्प्रतिबन्धो नीरनिर्झरो ययोस्ते दृशौ लोचने नभोनभस्यत्वं श्रावणभाद्रपदत्वम्। 'नभाः श्रावणिकश्च सः, स्युर्नभस्यप्रौष्ठपदभाद्रपदाः समाः' इत्यमरः। अलम्भयत् प्रापयदित्युपमातिशयोक्तिः। अत्र लभेः प्राप्त्यर्थत्वेऽपि तदुपसर्जन-गत्यर्थविवक्षाया 'गतिबुद्धी'त्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वं, गत्यनुपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वे तु कर्मत्वं नास्त्येव। यथा माघे 'सित सितिम्ने'त्यत्र यदाह वामनः—'लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे' इति। लभेश्चेति नुमागमः ॥ ८४ ॥

अन्वय—तस्य इमाः गिरः चेतसा विचिन्त्य सा तथा इति सम्प्रत्ययम् आससाद, निवारिताश्रुग्रहनीरनिर्झरे दृशौ नभोनभस्यत्वम् अलम्भयत्।

हिन्दी—उन (नल) के उपर्युक्त (७४–८२) वचनों को मन में विचार करके उसे (दमयन्ती को) वैसा ही विश्वास हो गया और जिनसे जल-झरने का प्रतिबन्ध छूट गया है, ऐसे दोनों (दमयन्ती के) नयन 'सावन-भादों' बन गये।

टिप्पणी—नल के साम-दाम-दण्ड भेद की नीति से पूर्ण वचन सुनकर दमयन्ती की समझ में आ गया कि सचमुच देवों की इच्छा के विरुद्ध वह नल को नहीं पा सकती। इससे उसे इतना क्षोभ और दुःख हुआ कि उसके नेत्रों से धारा प्रवाह अश्रु-वर्षा होने लगी, ऐसी कि जैसे सावन-भादों मास में आकाश से अनवरत वर्षा होती है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ८४ ॥

स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्यां कुचकुड्मलाशया।
निपत्य बिन्दू हृदि कज्जलाविलौ मणीव नीलौ तरलौ विलेसतुः ॥८५॥

जीवातु—स्फुटेति। अथ कज्जलेनाञ्जनेनाविलौ मलिनौ बिन्दू अश्रुबिन्दू तद्विलोचनाभ्यामेव स्फुटोत्पलाभ्यामलिदम्पतीव भृङ्गमिथुनमिव कुचकुड्मल-योराशया लोभेन हृदि वक्षसि निपत्य तरलौ चञ्चलौ हारमध्यगौ नीलौ मणी इव इन्द्रनीलरत्ने इव। 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य' इत्युभयत्रापि प्रगृह्यत्वनिषेधात् सवर्णदीर्घः। विलेसतुः। विरेजतुः। 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' इत्येत्वाभ्यासलोपौ ॥ ८५ ॥

अन्वय—कज्जलाविलौ बिन्दू स्फुटोत्पलाभ्याम् अलिदम्पती इव कुचकुड्मलाशया तद्विलोचनाभ्यां हृदि निपत्य तरलौ नीलौ मणी इव विलेसतुः ।

हिन्दी—काजल से कलुषित दो अश्रुबिंदु खिले दो कमलों से भ्रमरदम्पती के तुल्य कुच रूप कलिका के अभिलाष से उस (दमयन्ती) के दोनों नेत्रों से वक्ष स्थल पर गिर कर दो तरल (चंचल) नीलमणियों जैसे सुशोभित हुए ।

टिप्पणी—काजल से काले, वर्तुल और विकसित दो कमलों जैसे दो नयनों से निकल कर कुचकलिकाओं पर पड़े दो अश्रुओं का साम्य भ्रमरदम्पती से किया गया और वक्ष स्थित नीलमणि माला के सान्निध्य के कारण वे दो नीलमणियों के सदृश कहे गये । नेत्रों की खिले कमलों और कुचों की कलियों से सदृशता अत्यन्त स्वाभाविक है । भ्रमरदम्पती खिले कमलों का उपभोग कर खिलती कली के अभिलाषी होते ही हैं । तात्पर्य यह कि भ्रमर मिथुन के तुल्य दो आँसू छाती पर गिर कर विलसित होने लगे । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक-उपमालङ्कार । चतुर्थ चरण के 'मणीव' का पदच्छेद दो प्रकार से किया जाता है—(१) मणी+इव, (२) मणी+व । मल्लिनाथ और नारायण ने मणी+इव को मान्यता दी है । सामान्यतः 'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' (अष्टा० १।१।११) नियम से प्रगृह्य संज्ञा होने के कारण दीर्घसंधि नहीं होती, अतः 'इवादीनां प्रगृह्यत्वे मणीवादीनां प्रतिषेधो वक्तव्य' के आधार पर दीर्घसंधि का औचित्य दोनों टीकाकारों ने स्वीकार किया है । नै० च० के निर्णयसागरीय संस्करण की पद टिप्पणी में इस समाधान को अनावश्यक बताया गया है । टिप्पणीकार की मान्यता है कि यहाँ मणी+व से ही कार्य चल जाता है, फिर ऐसी कल्पना व्यर्थ है । 'व' भी 'इव' के अर्थ का द्योतक है । ऐसे प्रयोग हैं—जैसे 'कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि ।' महाकवि ने 'मणी इव' प्रयोग को ही अन्यत्र अच्छा माना है—'मणी इवोद्भिन्नमनोहरत्विषौ ।' इस प्रकार प्रकृति भाव को मान्यता दी है । 'मणी इवोद्भिन्नमनोहरत्विषौ' इति महाकविप्रयोगे प्रकृतिभावदर्शनात् 'कादम्बखण्डितदलानि व पङ्कजानि' इत्यादि प्रयोगेषु इवार्थकवकारदर्शनात् 'मणीव' इत्यादौ तेन वकारेणैव निर्वाहे अस्य माघानुक्तवार्तिकस्योपन्यासे मुधैव' ॥ ८५ ॥

धृता पतत्पुष्पशिलीमुखाशुगे शुचेस्तदासीत् सरसी रसस्य सा ।
रयाय बद्धादरयाश्रुधारया सनालनीलोत्पललीललोचना ॥८६॥

जीवातु—धुतेति। पतद्भिः पुष्पशिलीमुखाशुगैः पुष्पबाणैर्विशिखैरन्यत्र पतन्ति पुष्पाणि शिलीमुखा अलयश्च येषां तैराशुगैर्वायुभिः धुता कम्पिता। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' 'आशुगौ वायुविशिखौ' इति चामरः। रयाय बद्धादरया रयप्रवृत्तया अश्रुधारया निमित्तेन घनाम्बुनीलोत्पलस्य लीलेव लीला ययोस्ते लोचने यस्याः सा भैमी तदा शुचेः रसस्य शृङ्गारस्य सम्बन्धिनि अन्यत्र शुचेर्ग्रीष्मस्य सम्बन्धिनि, कार्यादिति भावः। ग्रीष्मशृङ्गारयोः शुचिरिति निदानात् रसस्य जलस्य सरसी सर आसीत्। अत्र भैम्याः शृङ्गाररससरसीत्वेन ग्रीष्माम्बुसरसीत्वेन च रूपणाद्रूपकालङ्कारः। तस्य श्लेषोपजीवनादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः स्पष्टः॥ ८९॥

अन्वयः—पतत्पुष्पशिलीमुखाशुगैः धुता रयाय बद्धादरया अश्रुधारया घनाम्बुनीलोत्पललीललोचना सा तदा शुचेः रसस्य सरसी आसीत्।

हिन्दी—गिरते पुष्प-बाण (काम) के बाणों से काँपती (पीडिता), निरंतर बहती अश्रुधारा के कारण जलरहित नीलकमलों की लीला करते नयनों वाली वह (दमयन्ती) उस समय सारसादि पक्षियों, फूलों पर बैठे भ्रमरों और वायु से चपल (जल अल्प होने के कारण) दीखते नाल वाले नीलकमलरूप लीलायुक्त नयनों वाली निर्मल जल की ग्रीष्मकालीन सरसी के समान शुचि रस अर्थात् विप्रलम्भशृङ्गार अथवा शुचिरस अर्थात् शोकरस की सरसी हो गयी।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के वचन सुनकर निराश, अजस्र अश्रु-प्रवाह करती हुई, कामपीडा से व्यथित दमयन्ती ने बहुत रोदन किया। उस समय वह निदाघ की उस सरसी के तुल्य प्रतीत हुई, जल की न्यूनता के कारण नालरहित नीलकमल जिसमें प्रत्यक्ष हों, जो आते-जाते सारसादि पक्षियों और फूलों पर बैठे भौंरों और वायु के कारण हिल रहे हों। इस साम्य के निमित्त अनेकार्थ 'शुचेः रसस्य सा' इत्यादि का उपयोग किया गया है। नेत्र नीलोत्पल हैं और अश्रुधारा जल। इस प्रकार आँसू बहाती, विलपती, निराशा से व्यथित दमयन्ती की तुलना ग्रीष्मकालीन अल्पतोया सरसी से की गयी। 'विश्व' कोष के अनुसार शुचि का अर्थ शुद्ध, अनुपहत, शृंगार, आषाढ, ग्रीष्म और अग्नि है—'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोः

स्मृत' । ग्रीष्मे हुतवहे वापि ।' मल्लिनाथ के अनुसार दमयन्ती का शृङ्गार-सरसी और ग्रीष्माम्बुसरसी रूप मे रूपण होने के कारण इस श्लोक मे रूपक अलङ्कार है, जिसके अगभूत हैं, श्लेष और उपमा, अत रूपक श्लेष-उपमा का स्पष्ट सकर है ॥ ८६ ॥

अथोद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा लुप्तरतिः स्खलन्मति ।
व्यधात्प्रियाप्तिविघातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा ॥८७॥

जीवातु—अथेति । अथ स्मरविकारोदयानन्तर प्रियाप्तिविघातस्य प्रियप्राप्तिप्रतिबन्धस्य निश्चयात् दूना परितप्ता 'स्वादय ओदित' इत्यौदित्वा तिदेशात् 'ओदितश्च' इति दूङो निष्ठानत्वम् । अत एव सा दमयन्ती उद्भ्रमन्ती उन्मादवती रुदति अश्रूणि मुञ्चती गतक्षमा नष्टधैर्या ससम्भ्रमा सत्वरा लुप्ता रतिविषयान्तरस्पृहा यस्या सा स्खलन्ती मतिस्तत्त्वावधारणशक्तिर्यस्या सा सती मृदूनि परहृदयद्रावणानि परिदेवितानि विलापवचनानि व्यधात् । अत्र प्रियाप्तिविघातप्रयुक्तचिन्ताविषादमावा उद्भ्रमादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ ८७ ॥

अन्वय —अथ प्रियाप्तिविघातनिश्चयात् दूना उद्भ्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा लुप्तरति स्खलन्मति सा मृदूनि परिदेवितानि व्यधात् ।

हिन्दी—तदनतर प्रिय (नल) की प्राप्ति में प्रतिबध के निश्चय से दु खिता, उन्मादिनी, रोती, सहनशक्ति से रहित, घबरायी, स्नेहहीन तथा कि कर्तव्यविमूढ वह (दमयन्ती) श्रोताओ में करुणा जगा देने वाले विलाप करने लगी ।

टिप्पणी—जब दमयन्ती को यह निश्चय हो गया कि नल की प्राप्ति सभव नही है और वह कुछ कर भी नही सकती, तब वह अत्यन्त दु खित हुई । रोती रोती, उन्माद से भरी दमयन्ती का धैर्य, सहनशक्ति और बुद्धि सब जवाब दे गये । फलस्वरूप वह ऐसे विलापवचन कहने लगी, जिन्हे सुनकर किसी के हृदय में करुणा जग उठे । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार अनुप्रास ॥ ८७ ॥

त्वरस्व पञ्चेषुहुताशनात्मनस्तनुष्व भङ्कस्मचय यशश्चयम् ।
विधे ! परेहाफलमक्षणव्रती ममाद्य तृप्यत्सुमिर्ममाफले ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथ त्रयोदशभि श्लोकैः परिदेवितान्येवाह—त्वरस्वेत्यादि । हे पञ्चेषुहुताशन ! कामाग्ने ! त्वरस्व त्वरितो भव । मद्भस्मनाश्चय राशि-मेवात्मनस्ते यशश्चय यशोराशि तनुष्व विस्तारय स्त्रीवधख्याति सम्पादये-त्यर्थः । हे विधे ! विधात ! परेषामीहाफलस्य क्रियाफलस्य भक्षणे व्रती नियतो सन् न तु तपस्वीत्यन्तरवद्भ्यफलभक्षणव्रतीत्यर्थः । अद्याफलैर्नलानवाप्त्या निष्फलैर्ममासुभि प्राणै तृप्यन् तृप्त सन् पत पतितो भव । स्त्रीवधपातकी भवेत्यर्थः ॥ ८८ ॥

अन्वय—पञ्चेषुहुताशन, त्वरस्व मद्भस्मचय यशश्चय तनुष्व, विधे, परेहाफलभक्षणव्रती अद्य अफलै मम असुभि तृप्यन् पत ।

हिन्दी—हे पञ्चबाण (काम)-अग्नि, शीघ्रता करो, मेरे भस्म के ढेर को (अपनी) कीर्तिपुञ्ज के रूप में प्रसार करो । हे अन्य की इच्छा के फल-भक्षणशील विधाता, आज निष्फल मेरे प्राणों से तृप्त हो—अब पतित होओ ।

टिप्पणी—विलाप करती दमयन्ती विविध प्रकार के आक्रोशवचन कहने लगी । पीड़ित करते कामदेव को सबोधन करते हुए वह इच्छा करने लगी कि कामाग्नि उसे अविलम्ब जलाकर राख कर डाले और इस प्रकार अपना यश फैलाये । विधाता बड़ी कठिनता से किसी व्यक्ति को अभीष्ट देता है, प्राय. इच्छा-पूर्ति नहीं करता, दमयन्ती को भी अपनी इच्छा पूरी होती न प्रतीत हो रही थी, अत विधाता पर क्रोध प्रकट करती वह उसके अध पतित होने—नरकगामी होने की कामना करने लगी । स्त्री-वध के पातक से विधि को नरकगामी होना ही चाहिए । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और समासोक्ति अलकार ॥ ८८ ॥

भृश वियोगानलतप्यमान ! किं विलीयसे न त्वमयोमय यदि ।
स्मरेषुभिर्भेद्य ! न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वान्त ! कथ न दीर्यसे ॥८९॥

जीवातु—भृशमिति । हे भृश वियोगानलेन तप्यमान ! दह्यमान ! हे स्वान्त ! हृदय ! त्वमयोमय यदि किं न विलीयसे अयोघनस्यापि तापात् विलयनादर्शनादयोमयमपि नासीति भाव । हे स्मरेषुभिर्भेद्य ! अत एव वज्रमपि नासि वज्रस्य लोहेभ्योऽत्यन्ताभावादिति भाव- । किंतु कथ न दीर्यसे न विदलसि वज्रादन्यस्य लोहेभ्यस्त्वाभावादिति भाव । न ब्रवीषीति काकु । किमिति न ब्रूषे तत्तत्त्वरूपमित्यर्थः ॥ ८९ ॥

अन्वय—मृद्य वियोगानलतप्यमान स्वान्त, यदि त्वम् अयोमय कि न विदीर्यसे ? स्मरेषुभि भेद्य, वज्रम् अपि न असि, कथ न दीर्यसे—न ब्रवीषि ?

हिन्दी—वियोगाग्नि मे अत्यन्त तप्त होते मेरे हृदय, यदि तू लोहा नहीं है तो विदीर्ण क्यों नहीं हो जाता ? हे काम-बाणों से भेदनीय, तू वज्र भी नहीं है, तो क्यों नहीं फट जाता—यह बताता क्यों नहीं ?

टिप्पणी—अपने नल वियोग में तप्त होते हृदय को सबोधित करते हुए दमयन्ती ने उसे लोह और वज्र से भी कठोर माना, क्योंकि इतना कष्ट उठाते हुए भी वह फट नहीं रहा है। अत्यन्त गर्म होने पर लोहा भी द्रवीभूत हो जाता है। काम बाणों से विदीर्ण न होने वाला दमयन्ती का हृदय वज्र से भी कठोर प्रमाणित होता है। मल्लिनाथ ने 'न ब्रवीषि' में 'काकु' माना है। विद्याधर के अनुसार यहाँ निदर्शनागर्भ संदेहालङ्कार है ॥ ८९ ॥

विलम्बसे जीवित ! किं द्रव द्रुत ज्वलत्ययदस्ते हृदय निकेतनम् ।
जहासि नाद्यापि मृषा सुखासिकामपूर्वमालस्यमहो तवेदृशम् ॥९०॥

जीवातु—विलम्बस इति । हे जीवित ! प्राणवायो ! किं विलम्बसे द्रुत द्रव शीघ्र गच्छ । कुत , यतस्ते तव अदो निकेतनमावासगृह हृदय ज्वलति प्रज्वलति । अद्यापीदानीमपि मृषा वृथा सुखासिका सुखासन धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् वक्तव्य । न जहासि । दह्यमाने गेहे न वस्तव्यमित्यर्थ । तथा तव जीवनस्य ईदृशमालस्यमपूर्व नूतनमहो ॥ ९० ॥

अन्वय—जीवित, किं विलम्बसे, द्रुत द्रव, यत ते अद निकेतन हृदय ज्वलति ? अद्य अपि मृषा सुखासिका न जहासि, अहो, तव ईदृशम् आलस्यम् अपूर्वम् ।

हिन्दी—हे जीवन, तू विलम्ब क्यों लगा रहा है, शीघ्र भाग जा, क्योंकि तेरा यह घर-हृदय जल रहा है ? आज भी निश्चिन्त हो सुखपूर्वक बैठना नहीं छोड़ता, अरे तेरा ऐसा आलस्य तो अपूर्व है।

टिप्पणी—कामाग्नि से दमयन्ती का हृदय जल रहा है, यह हृदय ही जीवन का आवास है। जब घर जलता है, तो गृही बाहर भागता है। इसी लिए दमयन्ती अपने जीवन से हृदय-आवास को छोड़ भाग जाने का आग्रह कर रही है। वह आश्चर्य प्रकट करती है कि जीवन जलते हृदयावास को

परित्याग क्यों नहीं करता ? अपूर्व है यह तुम्हारा आलस्य ! ऐसा तो देखा नहीं गया । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेकालङ्कार ॥ ९० ॥

दृशौ ! मृषापातकिनो मनोरथा कथं पृथू वामपि विप्रलेभिरे ।
प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकं स्वमश्रुभिः क्षाल्यते शतं समाः ॥९१॥

जीवातु—दृशाविति । हे दृशौ ! मृषापातकिनोऽनृतपातकिनो मनोरथा नन्दिदृक्षात्मा पृथू महान्तौ विप्रलम्भानर्हौ इत्यर्थः । वा युवामपि कथं विप्रलेभिरे वञ्चयामासुः । मादृशिका किं न कुर्युरित्यर्थः । मनोरथा वा विफला इत्यर्थः । किन्तु प्रियश्रियो नलसौन्दर्यस्य प्रेक्षणघाति दर्शनघातकं स्वं स्वकीयं पातकं जन्मान्तरकृतमिति भाव । अश्रुभिः शतं समाः । वत्सरान् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । क्षाल्यते शुद्धयत पुरश्चरणैश्चित्तापनोदमित्यर्थः । अहो मे दर्शनाघाति निरस्तेति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वय—दृशौ, मृषापातकिनः मनोरथाः पृथू वाम् अपि कथं विप्रलेभिरे ? प्रियश्रियः प्रेक्षणघाति पातकम् अश्रुभिः शतं समाः क्षाल्यते ।

हिन्दी—अरे नेत्रो, झूठे और पापी मनोरथों ने बड़े तुम दोनों को भी किस प्रकार ठग लिया ? प्रिय (नल) की शोभा के दर्शन के विघातरूप पाप को आँसुओं से सैकड़ों वर्षों तक धोते रहो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के नेत्र विशाल हैं—और अनुपम मनोरथ लघु । छोटे, झूठे और पापी मनोरथों ने नलदर्शन की झूठी आशा दिला कर बड़े-बड़े नेत्रों को धोखा कैसे दे दिया, यह अचरज की बात है यह कैसे हुआ—दमयन्ती को इसी पर आश्चर्य है । नेत्रों से यह पाप हुआ कि नलदर्शन-विघात उन्होंने किया अतः उन्हें यही उचित है कि वे बहते अश्रुजल से उस पातक का प्रक्षालन अनन्तकाल तक करते रहें । यही पाप का प्रायश्चित्त होगा । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और समासोक्ति अलङ्कार ॥ ९१ ॥

प्रियं न मृत्युं न लभे त्वदीप्सितं तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ।
वियोगमेवेच्छ मनः ! प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्वसौ मम ॥९२॥

जीवातु—प्रियमिति । हे मनः ! तव ईप्सितमाप्तुमिष्टं प्रियं न लभे तल्लाभे ईप्सितं मृत्युं मरणं च न लभे तस्मात् त्वं मम यदिच्छसि तन्न स्यादिति स्यन्दयन्त्यतिरेकदर्शनादिति भाव । अतो मे प्रियेण वियोगमेवेच्छ तव प्रसादा-

दसौ वियोगो मे मम न भवति नलप्राप्त्यभावे मरणमेव मे शरणमित्यर्थः। अत्र संयोगार्थं वियोगप्रार्थनाद्विचित्रालङ्कारः। 'विचित्रं स्वविरुद्धस्य फलस्याप्त्यर्थमुद्यमः' इति लक्षणात् ॥ ९२ ॥

अन्वय —मनः, त्वदीप्सितं न प्रियं न मृत्युं लभे, यत् त्वम् मम इच्छसि, तत् एव न स्यात्, प्रियेण मे वियोगम् एव इच्छ, असौ अपि तव प्रसादात् मे न भवति।

हिन्दी—रे मन, न तो तेरे अभीष्ट प्रिय (नल) को पाती हूँ, न अभीष्ट मृत्यु को। जो तू चाहता है, वही नहीं होता। प्रिय से मेरे वियोग ही की इच्छा कर, वह भी तेरी कृपा से मेरा नहीं होगा।

टिप्पणी—दमयन्ती का कोई मन चीता पूरा नहीं होता। उसने नल को चाहा, वह नहीं मिल रहा। उसके अभाव में मौत चाही, वह भी नहीं मिली। सो जब मनचीता पूरा ही नहीं होता, तो उचित यही है कि मन दमयन्ती से नल के वियोग की ही कामना करे। वह भी नहीं होगा और इस प्रकार दमयन्ती को नल मिल जायेगा। क्योंकि यहाँ संयोग के निमित्त वियोग की प्रार्थना की गयी, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विचित्र अलंकार है। (फल प्राप्ति के निमित्त उसके विरुद्ध के लिए उद्यम विचित्र है।), विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ९२ ॥

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गजं द्विषत्सु याचे पवनन्तु दक्षिणम्।
दिशापि मद्भस्म किरत्वयं तया प्रियो यया वैरविधिर्वधावधि ॥९३॥

जीवातु—नेति। द्विषत्सु चन्द्रादिवैरिमध्ये अतिवाममतिवक्रमङ्गजं कामं काकुवाक्यैः करुणोक्तिभिः। न याचे न प्रार्थये, किन्तु दक्षिणं दक्षिणदिग्भवं दाक्षिण्यवन्तं च पवनं याचे, किमिति ? अयं पवनो यया दिशा प्रियो नलः सञ्चरेत् तया दिशा तद्दिग्भागेनापि मद्भस्म किरतु क्षिपतु। प्रार्थनायां लोट्। ननु दक्षिणोऽपि शत्रुपक्ष्यः कथमुपकरिष्यति तत्राह वैरविधिर्वैराचरणं वधावधिर्मरणान्त 'मरणान्तानि वैराणी'ति न्यायादित्यर्थः ॥ ९३ ॥

अन्वय—द्विषत्सु अतिवामम् अङ्गजं काकुवाक्यैः न याचे तु दक्षिणं पवनम् (याचे), यया दिशा प्रियः सञ्चरते तया अयं मद्भस्म किरतु, वैरविधिः वधावधि।

हिन्दी—(वियोगियों के) शत्रुओं में अतिवाम (अत्यन्तसुन्दर, अत्यन्त प्रतिकूल और नारी के वचनों को न करने वाले – अतिक्रान्ता वामा येन तम्, अथवा 'रतिवामम्' अर्थात् रति जिसकी पत्नी है, उसको, अथवा 'रतौ प्रीतौ वाम वक्रम्' अर्थात् प्रेम में वक्र) काम (अर्थात् काम) की दीन वचनों से याचना नहीं करती किन्तु दक्षिण-पवन (मलयानिल) से प्रार्थना करती हूँ कि जिस दिशा में होकर प्रिय (नल) संचरण करें, उस दिशा में वह (दक्षिण-पवन) मेरी राख बिखरा दे। वैर मृत्युपर्यंत ही किया जाता है।

टिप्पणी—वियोगियों को सन्तप्त करने के कारण काम, चन्द्रमा, मन्दपवन कोकिल, वसन्त आदि उनके अनेक शत्रु माने गये हैं। इनमें सबसे दुष्ट और प्रमुख है काम। इस स्थिति में यदि दीनता दिखानी ही हो और याचना करनी ही हो तो उसी प्रमुख काम से करनी चाहिए, किन्तु दमयन्ती का कथन है कि वह काम याचना के निमित्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वह अतिवाम है – बड़ा टेढ़ा और स्त्रियों की बात न सुनने वाला। वह अतिसुन्दर अवश्य है, किन्तु याचना का पात्र होने का आधार सुन्दरता नहीं है, वह तो अप्रतिकूलता अर्थात् दाक्षिण्य (उदारता) है। काम दक्षिण नहीं है। वह रतिनाथ तो 'रतिवाम' अर्थात् प्रीतिप्रतिकूल है (नारायण ने 'शत्रुवाक्यं रतिवामम्'—यह भी पदच्छेद किया है)। काम के पश्चात् शत्रुओं में दूसरा प्रबल शत्रु है दक्षिणपवन मलयानिल। उसका विशेषण चूँकि 'दक्षिण' है, अतः उसमें दाक्षिण्य होना चाहिए, अतः उसे ही उपयुक्त मानती दमयन्ती उससे प्रार्थना करती है कि हे दक्षिणपवन, जिस पथ पर प्रिय नल के चरण पड़ते हों, मर जाने के पश्चात् भस्मीभूत मेरी राख उसी मार्ग पर उड़ाकर बिखरा देना। मरने के पश्चात् मेरी भस्म तो प्रिय-चरण स्पर्श पा सकेगी, भले ही मुझे वह अवसर जीवित रहते न मिल सका हो। यहाँ शंका हो सकती है कि दमयन्ती की प्रार्थना दक्षिणपवन क्यों स्वीकारेगा, जब कि वह शत्रु है, परन्तु शिष्टजनों में यह माना जाता है कि वैर जीवित वैरी से किया जाता है, मृत्यु के पश्चात् वैर निभाना उचित नहीं है। रावण का वध करके श्रीरामचन्द्र ने कहा था—'मरणान्तानि वैराणि' (वाल्मीकि-रामायण, युद्धकांड, १११।१००), अर्थात् वैर मरने तक ही रहता है, तत्पश्चात् नहीं। मलय पवन का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर होता है।

कुण्डिननगरी से नल की राजधानी निषधदेश उत्तर में है, अतः 'मरणान्तानि वैराणि'—इस सामान्य आचार को जानता दक्षिण का उदार पवन मार्ग में बिखरी भस्म को प्रिय की दिशा में पहुँचाने की याचना तो मान ही लेगा, जाना तो उस दिशा में पवन को है ही। एक कार्य यह भी सही। 'विश्व' कोष के अनुसार अङ्कुच रुधिरेऽनङ्गकेदापुनमदेऽङ्कुज"। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और अर्थान्तरन्यास ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः ॥९४॥

जीवातु—अमूनीति। गच्छन्ति विपरिवर्तमानान्यमूनि युगानि न क्षण एकोऽप्यय क्षणो युगसहस्रायत इत्यर्थः। कियत् सहिष्ये, मृत्युर्मरणञ्च मे नास्ति हि स कान्तस्तु अन्तः अन्तरात्मनि मां नोज्झिता नोज्झिष्यति, स्फुट तं कान्तं मनश्च नोज्झिता तन्मनश्च कायवायवः प्राणा नोज्झितारः। हन्त का गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अमूनि युगानि गच्छन्ति, क्षणः न, कियत् सहिष्ये, हि मे मृत्युः न अस्ति, स्फुटं—सः कान्तः अन्तः मां न उज्झिता, तं च न मनः तत् च न कायवायवः ।

हिन्दी—ये युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं (प्रिय-वियोग में बीतता क्षण युग-सा है) अथवा ये युग अर्थात् दुःखरूप बीत रहे हैं, क्षण अर्थात् उत्सवरूप नहीं, कितना सहूँगी, क्योंकि मुझे मौत भी नहीं आती। यह स्पष्ट है कि वह प्रिय (नल) स्थूल शरीर के मध्य स्थित 'अहं' अर्थात् 'मैं' शब्द से प्रतिपादित मेरा (दमयन्ती) का त्याग नहीं करेगा और मन उस (नल) का त्याग नहीं करेगा और प्राणवायु उस (मन) को नहीं छोड़ेगा।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का भाव यह है कि वियोग के ये क्षण युगों के समान दुःसह हैं। यदि मृत्यु आ जाती तो इस पीड़ा से छुटकारा मिलता, पर वह आयेगी नहीं। न प्रिय नल इस स्थूल शरीर के मध्य जो 'मैं' शब्द से अभिहित दमयती है, उसे छोड़ेगा, मन उसे नहीं छोड़ेगा और प्राणवायु मन को नहीं छोड़ेंगे। लिङ्ग शरीर का उपलक्षक मन होता है—'बुद्धीन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टयं च। प्राणादिपञ्चकमयो

विराडादिकं च मानसं कर्म च ततः पुनरुद्भवी पु ।' इस प्रकार जब तक लिंग शरीर है तब तक स्थूल शरीर है। जीव के उत्क्रमण करने पर इन्द्रियाँ उत्क्रमण कर देती हैं और लिंग के उत्क्रमण करने पर स्थूल शरीर पाञ्चभौतिक होकर विच्छिन्न हो जाता है। श्रुति के अनुसार—'तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रान्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।' सो इस प्रकार क्षेत्रज्ञ का उत्क्रमण न होने पर किसी का उत्क्रमण न होने से मरण नहीं होता। नारायण ने उत्तरार्द्ध का यह तात्पर्य भी माना है कि अन्त:करण में विद्यमान काम मुझे नहीं छोड़ता और अन्त:करण उसे नहीं छोड़ता। भाव यही है कि जीव रहते नल का अभिलाष मिटेगा नहीं और नल मिलता नहीं, सो प्राण भी दमयन्ती के काटे नहीं कटता। मृत्यु आती नहीं, क्योंकि यह परम्परा बनी है कि अन्तस् को नल नहीं छोड़ेगा, मन नल को न छोड़ेगा और शरीरस्थ वायु अर्थात् प्राणवायु मन को न छोड़ सकेगा। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग-हेतु-दीपक अलङ्कार ॥९४॥

मदुग्रतापव्ययमात्रशीकरः सुराः स वः केन पपे कृपार्णवः ।
उदेति कोटिर्न मुदे मदुत्तमा किमात्मनः सङ्कल्पकणव्ययेन वः ॥ ९५ ॥

जीवातु—मदिति। हे सुराः! मदुग्रतापव्यये मदतितीव्रसन्तापशान्तौ सक्ता व्यापृता. शीकरा यस्य स प्रसिद्धो वो युष्माकं कृपार्णवः केन पपे पीतः। अगस्त्येन प्रसिद्धार्णव इवेति भावः। स्वल्पोऽभिनेव पीत इत्यत्राह—सङ्कल्पकण-व्ययेन धर्मिध्यानलेशव्ययेन मत्तोऽप्युत्तमा कोटिः स्त्र्यन्तरमित्यर्थः। वो युष्माकं मुदे आत्मनः नोदेति किम् उदेत्येवेति भावः। तस्मादनुकम्पनीये जने विपरीताचरणमनुचितमिति तात्पर्यम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—सुराः, मदुग्रतापव्ययमात्रशीकरः सः वः कृपार्णवः केन पपे, वः सङ्कल्पकणव्ययेन मदुत्तमा कोटिः मुदे किम् आत्मनः न उदेति ?

हिन्दी— हे देवो, मेरे (नल-विरहजन्य) तीक्ष्ण ताप के नाश में जिस का एक बिन्दुकण पर्याप्त है, उस तुम्हारे कृपा के समुद्र को किसने पी लिया? तुम्हारे (इन्द्रादि के) इच्छामात्र श्रम से मुझ से अच्छी कोटि (दमयन्ती से अधिक मनोज्ञ) की नारी तुम्हारी प्रसन्नता के निमित्त क्या अविलम्ब नहीं उत्पन्न होती?

टिप्पणी—दमयन्ती को नल की अप्राप्ति का कारण यही है कि देव उसे

कुण्डिननगरी से नल की राजधानी निषधदेश उत्तर में है, अतः 'मरणान्ता वैराणि'—इस सामान्य आधार को मानता दक्षिण का उदार पवन भाग बिखरी भस्म को प्रिय की दिशा में पहुँचाने की याचना तो मान ही ले जाना तो उस दिशा में पवन को है ही। एक कार्य यह भी सही। 'विश्व के अनुसार अद्भुत रुधिरेऽजङ्कवेऽप्युग्रमदेऽङ्गज'। विद्याधर के अनु अतिशयोक्ति और अर्थान्तरन्यास ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न तं मनस्तच्च न कायवायवः ॥

जीवातु—अमूनीति। गच्छन्ति विपरिवर्तमानान्यमूनि युगानि न क्षणोऽप्यय क्षणो युगसहस्रायत इत्यर्थः। कियत् सहिष्ये, मृत्युर्मरणं नास्ति हि स कान्तस्तु अन्त अन्तरात्मनि मां नोज्झिता नोज्झिष्यति, स्फु कान्त मनश्च नोज्झिता तन्मनश्च कायवायवः प्राणा नोज्झितारः। इ गतिरिति भाव ॥ ९४ ॥

अन्वय—अमूनि युगानि गच्छन्ति, क्षण न, कियत् सहिष्ये, हि म न अस्ति, स्फुट—स कान्त अन्त मां न उज्झिता, तं च न मनः त कायवायव।

हिन्दी—ये युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं (प्रिय-वियोग में बीतता क्षण सा है) अथवा ये युग अर्थात् दुःखरूप बीत रहे हैं, क्षण अर्थात् नहीं, कितना सहूँगी, क्योंकि मुझे मौत भी नहीं आती। यह स्पष्ट है प्रिय (नल) स्थूल शरीर के मध्य स्थित 'अहं' अर्थात् 'मैं' शब्द से प्र मेरा (दमयन्ती) का त्याग नहीं करेगा और मन उस (नल) का त करेगा और प्राणवायु उस (मन) को नहीं छोड़ेगा।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का भाव यह है कि वियोग के क्ष के समान दुःसह हैं। यदि मृत्यु आ जाती तो इस पीड़ा से छुटकारा पर वह आयेगी नहीं। न प्रिय नल इस स्थूल शरीर के मध्य ... से अभिहित दमयन्ती है, उसे छोड़ेगा, मन उसे नहीं छोड़ेगा और मन को नहीं छोड़ेंगे। लिंग शरीर का उपलक्षण मन होता है—'... सप्तदश पञ्च तन्मात्राणि कर्मेन्द्रियाणि मन आदिचतुष्टय च। प्राणा...

टिप्पणी—प्रार्थना पर देवों का ध्यान न जाने की एक सम्भावना यह भी है कि विरहिणी दमयन्ती के नेत्रों से निरन्तर आँसुओं की वर्षा हो रही है। देवों ने कदाचित् इससे वर्षा ऋतु का आगमन समझ लिया है और देव सो रहे हैं। सोते देव प्रार्थना सुन ही नहीं पाते और दमयन्ती का कहा सुना व्यर्थ हो रहा है जङ्गल में रोने के समान। भाव यह है कि सम्पूर्ण अपराध दमयन्ती का ही है। न वह निरन्तर रोती रहती, न देवों को वर्षा का भ्रम होता। वे जागे रहते और दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान देते। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और निदर्शना। मल्लिनाथ के अनुसार भी उस काल के वर्षा होने और देव शयन के असम्बद्ध होने पर भी जो उसका सम्बन्धकथन है, वह अतिशयोक्तिरूप है और दमयन्ती का कथन अरण्यरोदन समान न होने से सादृश्य का आक्षेप किया जाकर निदर्शना है, अतः अतिशयोक्ति-निदर्शना का संकर है ॥ ९६ ॥

इयं न ते नैषध ! दृक्पथातिथिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना ।
हृदे हृदे हा न कियद्गवेषितः स वेधसागोपि खगोऽपि वक्ति यः ॥९७॥

जीवातु—इयमिति । हे नैषध ! इयं त्वदेकतानस्य त्वत्परस्य 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः । जनस्य स्वस्यैवेत्यर्थः । यातना तीव्रवेदना ते तव दृक्पथातिथिर्न दृग्गोचरो न हेतानिप्रकर्षादिति भावः । किञ्च यः खगो हंसो वक्ति नलाय मद्यातना निवेदयेत् स खगोऽपि वेधसा अगोपि क्वापि गुप्तः । कुतः हृदे हृदे सर्वेषु जलाशयेष्वित्यर्थः । वीप्सायां द्विरुक्तिः । कियन्न गवेषितो नान्विष्टः । ना बहुतरमर्थः ॥ ९७ ॥

अन्वय—नैषध, त्वदेकतानस्य जनस्य इयं यातना ते दृक्पथातिथिः न, यः खगः वक्ति, वेधसा स अपि अगोपि, हा, हृदे हृदे अपि कियत् न गवेषितः ?

हिन्दी—हे निषधराज, तेरे प्रति एकनिष्ठ जन (दमयन्ती) की यह (दारुण) वेदना तेरे (नल के) नयन पथ की अतिथि नहीं बनती (नल को पीड़ा नहीं दीखती), जो पक्षी (हंस) बताता, विधाता ने उसे भी छिपा दिया। हाय, तालों तालाबों में उसे कितना न खोजा गया ? (बहुत बार खोजा)।

टिप्पणी—चार श्लोकों (९७–१००) में विलाप करती दमयन्ती नल को सम्बोधित कर कहने लगी कि वह इतनी दारुण व्यथा भोग रही है कि यदि नल अपने नेत्रों से उसे देख लेता, तो अवश्य शमन की चेष्टा करता, पर उसे

चाहते हैं, वे दमयन्ती की इच्छा पर ध्यान देने की कृपा भी नहीं करते। ऐसा लगता है कि अगस्त्य के समान कोई और समुद्रपायी उत्पन्न हो गया है, जिसने सहज कृपालु देवों के कृपासमुद्र को पी डाला है, अन्यथा वे अवश्य दमयन्ती पर थोड़ी सी कृपा तो कर ही देते, जिससे उसका कल्याण हो जाता। देव तो इच्छामात्र से ऐसी नारी बना सकते हैं, जो अद्वितीय सुन्दरी हो, पर वे कृपा-सागर के शुष्क हो जाने से दमयन्ती से अच्छी नारी रचना भी नहीं करते और दमयन्ती के उग्रताप का कारण बने हैं। दमयन्ती का देवों को यह उपालम्भ है कि क्यों एक नारी के लोभ में उसे पीड़ित कर रहे हैं? विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक हेतु अलकार ॥ ९५ ॥

ममैव वाहर्दिवमश्रुदुर्दिने प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसज्जिते।
कथं नु शृण्वन्तु सुषुप्य देवता भवत्वरण्यरुदितं न मे गिरः ॥ ९६ ॥

जीवातु—अथ मदीयमार्तघोष देवा नाकर्णयन्तीत्याह—ममैवेति। वा अथवा अह्नि च दिवा च अहर्दिवमहरहरित्यर्थः। ममैवाश्रुदुर्दिनैरश्रुवर्षैरित्यर्थः। प्रसह्य बलाद्वर्षासु ऋतौ वर्षतौ 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा' इत्यमरः। 'ऋत्यकः' इति प्रकृतिभावः। प्रसज्जिते प्रवर्तिते सति देवता सुप्त्वा सुप्त्वा सुषुप्य। 'वचिस्वपी'त्यादिना सम्प्रसारणम्। 'सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः' इति षत्वम्। मे गिरः कथं नु शृण्वन्तु सुप्तस्य तद्योगादत एव मे गिरः कथमरण्ये रुदितम्। 'क्षेपे' इति समासः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक्। न भवतु। विधेयप्राधान्यादेकवचनम्। सम्भावनायां लोट्। निष्फल वचनमरण्यरुदितप्रायमित्यर्थः। वर्षासु भगवतो हरेः स्वापादन्यत्रापि देवतात्व-सामान्यादारोप्यव्यपदेशः। अत्र तत्कालस्य वर्षात्वेन देवतानां स्वापेन चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिद्वयम्, तथा तद्गिरामरण्यरुदिता-सम्भवेन सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेदः तेन सङ्कीर्णः ॥ ९६ ॥

अन्वय—वा अहर्दिवं मम एव अश्रुभिः दुर्दिनैः प्रसह्य वर्षासु ऋतौ प्रसज्जिते देवताः सुषुप्य मे गिरः कथं नु शृण्वन्तु, अरण्ये रुदितं न भवतु?

हिन्दी—अथवा (प्रतीत होता है) दिन-दिन मेरे ही आँसूरूप वर्षा दिवसों के बल से वर्षा की ऋतु हो जाने के कारण देवगण सोकर मेरे वचन कैसे सुन पावें? (नहीं सुन पाते।) मेरी प्रार्थना और विलाप वचन 'अरण्य-रोदन' क्यों न हो? (हो ही रहा है)।

टिप्पणी—प्रार्थना पर देवों का ध्यान न जाने की एक सम्भावना यह भी है कि विरहिणी दमयन्ती के नेत्रों से निरन्तर आँसुओं की वर्षा हो रही है। देवों ने कदाचित् इससे वर्षा ऋतु का आगमन समझ लिया है और देव सो गये हैं। सोये देव प्रार्थना सुन ही नहीं पाते और दमयन्ती का कहा सुना व्यर्थ हो रहा है अरण्य में रोने के समान। भाव यह है कि सम्पूर्ण अपराध दमयन्ती का ही है। न वह निरन्तर रोती रहती, न देवों को वर्षा का भ्रम होता। वे जागे रहते और दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान देते। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और निदर्शना। मल्लिनाथ के अनुसार भी उस काल के वर्षा होने और देव शयन के असम्बद्ध होने पर भी जो उसका सम्बन्धकथन है, वह अतिशयोक्तिद्वय है और दमयन्ती का कथन अरण्यरोदन सम्भव न होने से सादृश्य का आक्षेप किया जाकर निदर्शना है, अतः अतिशयोक्ति-निदर्शना का संकर है॥ ९६॥

इयं न ते नैषध! दृक्पथातिथिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना।
ह्रदे ह्रदे हा न कियद्गवेषितः स वेधसागोपि खगोऽपि वक्ति यः॥९७॥

जीवातु—इयमिति। हे नैषध! इयं त्वदेकतानस्य त्वत्परस्य 'एकतानोऽनन्यवृत्तिः' इत्यमरः। जनस्य स्वस्यैवेत्यर्थः। यातना तीव्रवेदना ते तव दृक्पथातिथिर्न दृग्गोचरो न देशविप्रकर्षादिति भावः। किञ्च यः खगो हंसो वक्ति नलाय मद्यातना निवेदयेत् स खगोऽपि वेधसा अगोपि क्वापि गुप्तः। कुत्र ह्रदे ह्रदे सर्वेषु जलाशयेष्वित्यर्थः। वीप्सायां द्विरुक्तिः। कियन्न गवेषितो नान्विष्टः। ना क्लेत्यर्थः॥ ९७॥

अन्वय—नैषध, त्वदेकतानस्य जनस्य इयं यातना ते दृक्पथातिथिः न, यः खगः वक्ति, वेधसा सः अपि अगोपि, हा, ह्रदे ह्रदे अपि कियत् न गवेषितः?

हिन्दी—हे निषधराज, तेरे प्रति एकनिष्ठ जन (दमयन्ती) की यह (दारुण) वेदना तेरे (नल के) नयन पथ की अतिथि नहीं बनती (नल को पीड़ा नहीं दीखती), जो पक्षी (हंस) बताता, विधाता ने उसे भी छिपा दिया। हाय, तालों तालाबों में उसे कितना न खोजा गया? (बहुत बार खोजा)।

टिप्पणी—चार श्लोकों (९७–१००) में विलाप करती दमयन्ती नल को सम्बोधित कर कहने लगी कि वह इतनी दारुण व्यथा भोग रही है कि यदि नल अपने नेत्रों से उसे देख लेता, तो अवश्य शमन की चेष्टा करता, पर उसे

ज्ञात ही नहीं है। एक संदेशवाहक स्वर्णहंस कदाचित् दमयन्ती की व्यथा-कथा नल को जा सुनाता, पर वाम विधि इतना निर्दय हो गया है कि उसने उसे भी कहीं छिपा डाला। अनेक सरोवर अनेक बार खोज डाले, पर वह हंस कहीं न मिला। कैसे मिटे यह दारुण पीड़ा? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ९७ ॥

ममापि किं नो दयसे दयाधन! त्वदङ्घ्रिमग्नं यदि वेत्थ मे मनः।
निमज्जयन् सन्तमसे पराशयं विधिस्तु वाच्यः क्व तवागसः कथा ॥९८॥

जीवातु---ममापीति। हे दयाधन! कृपानिधे! मम मनस्त्वदङ्घ्रिमग्नं त्वच्चरणशरणं वेत्थ यदि वेत्सि चेत् 'विदो लटो वा' इति सिपस्थलादेशः। ममापि किं न दयसे ममापि किं नानुकम्पसे, 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' इति षष्ठी। अथवा परस्याशयं हृदयं सन्तमसे महामोहान्धकारे। 'विष्वक्सन्तमसम्' इत्यमरः। 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। निमज्जयन् विधिस्तु वाच्य उपालम्भ्यः, तवागसोऽपराधस्य कथा क्व। विधिना व्यामोहितो मामिमां न वेत्थ, न तु निर्दयत्वादित्यर्थः ॥ ९८ ॥

अन्वय---दयाधन, त्वदङ्घ्रिमग्नं मे मनः यदि वेत्थ, मम अपि किं नो दयसे? पराशयं सन्तमसे निमज्जयन् विधिः तु वाच्यः तव आगसः कथा क्व?

हिन्दी---हे दयानिधे (नल), अपने चरणों में मग्न मेरे मन को यदि जानते हो तो मुझ (दमयन्ती) पर भी क्यों दया नहीं करते? अन्य के अन्तःकरण को अज्ञानान्धकार में डुबाता दैव तो उपालम्भयोग्य है, किन्तु तुम्हारे (नलके ऐसे) अपराध की बात तो कहीं सुनी नहीं गयी।

टिप्पणी---नल तो परम कृपालु है, दमयन्ती पूर्वसन्दर्भ में कहने लगी कि परम कृपालु नल दमयन्ती की व्यथा जानता है तो दयालु होने पर भी वह दया क्यों नहीं करता? भाग्य को तो निर्मम और भटकाने वाला कहा जाता है, कहना उचित भी है, पर नल की निन्दा तो कहीं सुनी नहीं जाती? फिर नल दया करके दमयन्ती की दारुण यातना क्यों नहीं समाप्त करता? दयालु को दयालुता दिखानी चाहिए, अन्यथा वह भी उपालम्भ का पात्र बन जायेगा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सम अलंकार ॥ ९८ ॥

कथावशेषं तव सा कृते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथं कथं न ते।
दयाणुना मा समनुग्रहीष्यसे तदापि तावद्यदि नाथ! नाधुना ॥ ९९ ॥

जीवातु—कथेति। हे नाथ ! तव कृते त्वदर्थं सा दमयन्ती कथैवावशेषोऽवशान न गतेति तव श्रोत्रपथं कथं नोपैष्यति उपैष्यत्येवेत्यर्थः। तदापि तच्छ्रवणकालेऽपि दयाणुना कृपालेशेन मा समनुग्रहीष्यसे तावदनुग्रहीष्यस्येवेत्यर्थः। ग्रहोऽलिटी' तीटो दीर्घः। अधुना न यदि न चेत् मास्तु पश्चादनुशोचनमपि महानुग्रह इति भावः॥ ९९॥

अन्वयः—तव कृते सा कथावशेषं गता इति ते श्रोत्रपथं कथं न उपैष्यति? नाथ, यदि अधुना न तदा अपि तावत् दयाणुना मां समनुग्रहीष्यसे।

हिन्दी—तेरे (नल के) लिए वह (दमयन्ती) कथाशेष हो गयी (मर गयी)—यह तेरे कर्ण मार्ग को क्यों न प्राप्त होगा ? (कान में पड़ेगा ही।) हे स्वामी, यदि इस काल दया नहीं दिखा रहे तो तब तो (मरने पर) दया के एक अणु से मुझ पर अनुग्रह करोगे ही।

टिप्पणी—दमयन्ती ने आगे कहा कि वह नल के न मिलने पर मर जायेगी। जब नल को यह समाचार प्राप्त होगा (और यह सम्भव ही नहीं है कि यह समाचार नल तक न पहुँचे।) तो जैसे स्वामी सेवक के मर जाने पर उस पर दया दिखाता ही है, भले ही जीते जी न दिखाता हो, वैसे ही कथावशेष दमयन्ती पर तो नल कृपा करेगा ही। दमयन्ती मरकर भी यदि नल का कृपा-लेश पा सकी तो धन्य हो जायेगी ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास अलङ्कार॥ ९९॥

ममादरीद विदरीतुमान्तरं तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये।
भिदा हृदि द्वारमवाप्य मैव मे हतासुभिः प्राणसमः समङ्गमः॥ १००॥

जीवातु—ममेति। हे नाथ ! ममेदमान्तरं हृदयं विदरीतुं, 'वृतो वा' इति दीर्घः। आदरि आदरवत्, ततस्माद्विदारणाद्धेतो हे अर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये याचे। किमिति ? प्राणसम प्राणतुल्य त्वं हृदि भिदा भेदमेव। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्'। द्वारमवाप्य मार्गं लब्ध्वा मे मम हतैस्त्वदप्राप्त्या विरक्तैरसुभिः समं मा गम. मा निर्गच्छ गमेर्लुङ्। 'पुषादी' त्यादिना च्लेरङादेशः। 'न माङ्योगे' इत्यडागमाभावः। प्राणोत्क्रमणकाले त्वया जन्मान्तरेऽपि त्वत्प्राप्तिकामाया मे हृदयान्नापयातव्यम्। 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवेति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः' इति भगवद्वचनादिति भावः॥ १००॥

अन्वय—मम इदम् आन्तर विदरीतुम् आर्दरि तत् अर्थिकल्पद्रुम, किंचिद् अर्थये हृदि भिदा द्वारम् अवाप्य प्राणसम मे हृतासुभि समम् एव मा गम ।

हिन्दी—मेरा यह अतस् विदीर्ण होना चाह रहा है, ओ हे याचकों के निमित्त कल्पवृक्ष (नल), कुछ (थोड़ी सी) याचना कर रही हूँ—हृदय में विदीर्ण स्थल-रूप द्वार प्राप्त कर प्राणतुल्य (तुम नल) मेरे अभागे प्राणों के साथ ही मत चले जाना ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने नल से अंतिम प्रार्थना की कि उसका हृदय अब प्राणप्रिय नल के अभाव में फट जायेगा। नल से यही उसकी याचना है कि हृदय के फट जाने से बने मार्ग से प्राण तो चले ही जायेंगे, पर ऐसा नल न करे कि प्राणों के साथ वह भी हृदय से निकल जाय, क्योंकि प्राणप्यारा नल भी 'प्राणसम' (प्राण जैसा) है। प्राणतुल्य होने से प्राणों के साथ चले जाने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु नल मृत की अंतिम प्रार्थना मान कर दमयती के अतस् में बना ही रहे, जाये नहीं । इससे दमयन्ती को यह लाभ होगा कि नल उसे अन्य जन्म में प्राप्त हो जायेगा, भले ही इस जन्म में दमयन्ती की यह इच्छा पूर्ण न हो सकी, क्योंकि कहा जाता है कि प्राणी जिस भाव का स्मरण करता शरीर त्याग करता है, सदा उस भाव से भावित होने के कारण उसे वही प्राप्त होता है। (श्रीमद्भगवद्गीता, ८।६) ॥ १०० ॥

इति प्रियाकाकुभिरुन्मिषन् भृशं दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः ।
नृपः स योगेऽपि वियोगमन्मथः क्षणं तमुद्भ्रान्तमजीजनत् पुनः ॥१०१॥

जीवातु—इतीति । दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतो नियुद्धः स वियोगमन्मथो विप्रलम्भशृङ्गार इतीत्थं प्रियाया काकुभिः करुणोक्तिभिः उन्मिषन्नुद्बुद्धः सन् तं नृपं योगे सन्निधानेऽपि क्षणं पुनरुद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तचित्तमुन्मत्तचित्तमिति यावत् । अजीजनदकार्षीदित्यर्थः । उन्मत्तचित्तविभ्रमः सन्निधिविप्रयोग सर्वथा विकरोतीति भाव ॥ १०१ ॥

अन्वय—दिगीशदूत्येन हृदि स्थिरीकृतः सः वियोगमन्मथः इति प्रियाकाकुभिः भृशम् उन्मिषन् स नृपः योगे अपि क्षणम् पुनः उद्भ्रान्तम् अजीजनत् ।

हिन्दी—(इत्यादि) दिक्पालों का दूत होने से हृदय में (इस समय तक) स्थिर (धीर) किये हुए उस वियोगरूप मनोमथन करने वाले काम ने (उपर्युक्त)

ऐसे (करुणापूर्ण) प्रिया (दमयन्ती) के दीन वचनों द्वारा अतीव उद्बुद्ध हो उस राजा (नल) को शोक (संयोग) होते हुए भी शीघ्र फिर पुनः उद्भ्रान्त (उन्मत्तचित्त) बना दिया।

टिप्पणी—राजा नल 'धैर्यधन' था, वह अपने दूत-कर्तव्य का निर्वाह करता हुआ, अपनी वियोगपीड़ा को मन में दबाये बैठा था, पर अब दमयन्ती ऐसे अत्यन्त करुण विलाप करने लगी तो वह वियोग दशा न रह सका और— यद्यपि दमयन्ती सम्मुख थी तथापि—नल का मन पीड़ा से भर उठा और वह उन्मत्त-सा हो गया। योगसाधना करते योगी का हृदय स्थिर होता है, पर अत्यन्त करुणा की स्थिति उसके चित्त को भी उद्भ्रान्त कर सकती है, जैसे क्रौंचविहगी के करुण विलाप से ऋषिपुंगव वाल्मीकि का भी मानस् विकल हो उठा था और वे शाप दे बैठे थे। ऐसे ही नल यद्यपि अत्यन्त धैर्यवान् और कर्तव्यनिष्ठ था और दमयन्ती उसके निकट भी थी, तथापि इस करुण स्थिति ने उसे भी विचलित कर दिया। विद्याधर के अनुसार हेतु और रूपक अलङ्कार ॥ १०१ ॥

महेन्द्रदूत्यादि समस्तमात्मनस्ततः स विस्मृत्य मनोरथस्थितैः।
क्रिया प्रियायाः ललितैः करम्बिता विकल्पयन्नित्थमलीकमालपत् ॥१०२॥

जीवातु—अथोन्मादानुभाव प्रलाप प्रवृत्त इत्याह—महेन्द्रेति। तत उन्मादोदयानन्तरं स नल आत्मनो महेन्द्रदूत्यादि समस्तं सर्वंकृत्य विस्मृत्य मनोरथस्थितैः सङ्कल्पविकल्पितैर्विलासैः करम्बिता मिश्रिताः प्रियायाः क्रिया. शृङ्गारचेष्टा विकल्पय नालोचयनित्थं वक्ष्यमाणप्रकारेणालीकमबुद्धिपूर्वक-मालपत् ॥ १०२ ॥

अन्वय—ततः स आत्मनः समस्तं महेन्द्रदूत्यादि विस्मृत्य मनोरथस्थितैः ललितैः करम्बिता प्रियायाः क्रिया विकल्पयन् इत्थम् अलीकम् आलपत्।

हिन्दी—तदनन्तर वह (नल) अपने समस्त इन्द्रादि दिक्पालों के दूतादि भाव को भूलकर स्वेच्छाकल्पित विलासों से मिश्रित प्रिया (दमयन्ती) की क्रियाओं (शृंगार अथवा विलाप की चेष्टाओं) की नानाविध सम्भावना करता इस प्रकार (आगे वर्णित) अबुद्धिपूर्वक कहने लगा।

टिप्पणी—धैर्यधन भी नल उद्भ्रान्त हो उठा और भूल बैठा अपना सम्पूर्ण

कत्व्य कि वह इन्द्रादि का दूत है और उन्मादी के तुल्य, जैसे कोई बुद्धिहीन मनुष्य व्यवहार करता हो, वैसे ही प्रिया की भाँति-भाँति शृगार चेष्टाओ और विलाप-प्रलापो की तर्कणा करता कहने लगा। नारायण के अनुसार उन्मादवश प्रणयकलहादि की सभावना करता दमयन्ती के प्रति प्रलाप-सा करता बोला। विद्याधर के अनुसार विरोधाभास ॥ १०२ ॥

अयि ! प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभि ।
पुरस्त्वयालोकि नमन्नयन्न किं तिरश्चलल्लोचनलीलया नल ॥१०३॥

जीवातु—अथ प्रलापमेवाष्टादशभिराह—अयीत्यादि। अयि प्रिये ! भैमी ! कस्य कृते क प्रति विलप्यते। भावे लट्। मुखम् अश्रुबिन्दुभिर्विलिप्यते। प्रदूष्यते। कर्मणि लट् इति छेदे। पुरोऽपि नमन् प्रणमन् अय नलस्त्वया तिरश्चलत तिर्यक् प्रसरतो लोचनस्य लीलया विलासेन पराधीकृतदुःखधैर्यपः। नालोकि न दृष्ट किम् ? अपरोक्षे परोक्षवद्दुर्लम्भा इत्युर्वई इत्यर्थः ॥१०३॥

अन्वय —अयि प्रिये, कस्य कृते विलप्यते, मुखम् अश्रुबिन्दुभि विलिप्यते ? हा, पुर नमन् अय नल किं तिरश्चलल्लोचनलीलया त्वया न आलोकि ?

हिन्दी—अरी प्यारी, किसके निमित्त विलाप कर रही हो और मुख को आँसुओ की बून्दो से परिपूर्ण किये दे रही हो ? हाय, सम्मुख झुकता यह नल क्या तिरछे और चचल नयनो की विलासमयी दृष्टि प्रसार करती तुझ (दमयन्ती के) द्वारा नही देखा जा रहा ?

टिप्पणी—नल उद्भ्रात हो दमयन्ती की व्यथा दूर करने के लिए उसके समुख विनम्र हो गया, मानो चरण-विनिपात कर रहा हो रूठी प्रिया को मनाने के लिए। वह उससे कहने लगा कि क्या व्यर्थ विलाप कर रही है और सुन्दर मुखडे को आँसुओ से विरूप बना कर अमगल कर रही है। जिसके लिए तू व्यथित है, वह तो तेरे समुख प्रतीक्षा कर रहा है कि कब तू अपने चचल, तिरछे कटाक्षो से उसे निहारे ? लगता है, आँसुओ से दृष्टि पूर्ण होने के कारण दमयन्ती को सामने खडा प्रिय नही दीख पा रहा। रोना छोड कर दमयन्ती को उचित है कि प्रणय-कलह समाप्त कर प्रेम से प्रिय को निहार कर कृतार्थ बनाये। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु ॥ १०३ ॥

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात्तव ।
मसारसाराक्षि ! ससारमात्मना तनोषि संसारमसंशयं यतः ॥१०४॥

जीवातु—चकास्तीति । मसारसारौ इन्द्रनीलमणिश्रेष्ठौ ताविवाक्षिणी यस्यास्तस्याः सम्बुद्धिः । हे मसारसाराक्षि ! घनाश्रुबिन्दुस्रुतेः सान्द्राश्रुबिन्दुस्रुतेः । कैतवात्तव बिन्दोरनुस्वारस्य च्युतमेव च्युतकं बिन्दुच्युतकं चित्रकाव्यभेदः तत्रातिचातुरी चकास्ति भाति, यतस्त्वमात्मना ससारं मसारं संसारं जगत्त्रयं आत्मना स्वसामर्थ्येन च मसारं सारवन्तं च्युतानुस्वारं च तनोषि । असंशयं संशयो नास्तीत्यर्थः । अश्रुपातेऽप्यानन्दः । त्वया मे संसारसाफल्यमिति भावः । अत्र कैतवशब्देनाश्रुबिन्दुच्युतेस्तद्रूप्यापह्नवेन वर्णात्मकबिन्दुच्युतत्वारोपादपह्नवभेदः, तदुपजीवनेन ससारमिति श्लिष्टपदोपात्तमागुक्ताः भेदाध्यवसायेन बिन्दुच्युतकाख्यकाव्यकरणोत्प्रेक्षणात् श्लेषमूला सापह्नवोत्प्रेक्षा सा चासंशयमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ १०४ ॥

अन्वयः—घनाश्रुबिन्दुस्रुतिकैतवात् तव बिन्दुच्युतकातिचातुरी चकास्ति यत् मसारसाराक्षि, असंशयं संसारम् आत्मना ससारं तनोषि ।

हिन्दी—घनी आँसू की बून्दों के गिरने के व्याज से तुम्हारी बिन्दुच्युतक नामक शब्दालङ्कार विशेष में अत्यंत चतुरता व्यक्त हो रही है, क्योंकि हे इन्द्र नील मणि के सदृश नयनों वाली (दमयन्ती), तुम निःसंदेह 'संसार' (जगत्) को (बिंदु हटाकर) 'ससार' (सारवान्) बना रही हो ।

टिप्पणी—नल कहने लगा कि दमयन्ती का रुदन भी मनोहर है, उससे उसकी श्रेष्ठ इन्द्रनीलमणि सदृश आँखें संसार को मनोहर बना रही हैं । वह जो ये आँसू-बूँदें गिरा रही है—'बिन्दुच्युत' कर रही है, उससे प्रतीत होता है कि वह 'बिन्दुच्युतक' अलंकार की विशेषज्ञा है, क्योंकि अश्रुबिन्दु-रूप बिन्दु हटाकर वह 'संसार' को 'ससार' अर्थात् अपने नयनों के विलास से रमणीय बना दे रही है । 'बिन्दुच्युतक' चित्रकाव्य का एक प्रकार है, जिसमें 'बिंदु' अर्थात् अनुस्वार हटा देने से अर्थ बदल जाता है—'अनुस्वार-च्यवनाद्यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तद्बिन्दुच्युतकम् ।' जैसे 'संसार' (जगत्) का अनुस्वार हटा दिया तो बन गया 'ससार' (सारवान्) । भाव यह कि यह 'संसार' दमयन्ती के लोचनों से ही 'ससार' है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ

कैतव शब्द द्वारा अश्रुबिन्दुच्युतिका उस रूप में अपह्नव करके उसमें वर्णात्मक बिन्दुच्युतक का आरोप किया गया है, अत अपह्नुति है। उसके उपजीवक द्वारा 'समार' इस श्लिष्ट पदोपात्त पद के अर्थद्वय मे अभेदाध्यवसाय से बिन्दुच्युतक की उत्प्रेक्षा हुई है, अत श्लेषमूला सापह्नवा उत्प्रेक्षा हुई, जो 'असदायम्' इस व्यञ्जक के प्रयोग से वाच्या है। इसे चन्द्रकलाकार ने श्लेष-अपह्नुति और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि कहा है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-अपह्नुति और श्लेष हैं ॥ १०४ ॥

अपास्तपाथोरुहि शायितं करे करोषि लीलानलिनं किमाननम् ।
तनोपि हारं कियदश्रुणं स्रवैरदोषनिर्वासितभूषणे हृदि ॥१०५॥

जीवातु—अपास्तेति। हे प्रिये! किं किमित्यपास्तं त्यक्तं पयोरुहं लीलापयोरुहं येन तस्मिन् करे शायितं स्थापितमारोपितमाननमेव लीलानलिनं करोषि, लीलाकमलपरिहारेण करकपोलकरणे किं कारणमित्यर्थः। अदोषाण्येव निर्वासितानि परित्यक्तानि भूषणानि येन तस्मिन् हृदि अश्रुणं स्रवैरश्रुधाराभिरेव हारं कियत्तनोषि ? किमर्थं रोदिषीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

अन्वय—अपास्तपाथोरुहि करे शायितम् आननं लीलानलिनं किं करोषि, अदोषनिर्वासितभूषणे हृदि अश्रुणं कियत् हारं तनोषि ?

हिन्दी—जिस हाथ ने लीलाकमल त्याग दिया है, उस पर स्थापित मुख को लीलाकमल क्यों बना रही हो और बिना अपराध ही जिसके आभूषण हटा दिये हैं, उस हृदय पर अश्रुधाराओं से कितना अथवा कबतक हार बनाती रहोगी ?

टिप्पणी—विरहिणी दमयन्ती ने अपने हाथ से लीलाकमल हटा दिया था और दुःख और चिन्ता से मुख हथेली पर टिकाये धारा प्रवाह अश्रुवर्षा कर रही थी। हथेली पर रखा मुख ऐसा लगता था कि लीलाकमल हो और हृदय पर गिरती आँसू की बूँदें जैसे मुक्ताहार प्रतीत हो रही थी। नल दमयन्ती को दुःख चिन्ता छोड़ स्वाभाविक स्थिति में आने को कहता है कि वह पुन लीलाकमल ग्रहण करे और रुदन का परित्याग कर आभूषणादि पहिन ले। भङ्गिमाविशेष से मुख को लीलाकमल और अश्रुबिन्दुओं को मुक्ताहार कह उनकी मनोहरता व्यक्त की गयी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष ॥ १०५ ॥

दृशोरमङ्गल्यमिदं मिलज्जलं करेण तावत् परिमार्जयामि ते ।
अथापराधं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सममात्ममौलिना ॥१०६॥

जीवातु—दृशोरिति । इदं ते दृशोरक्ष्णोर्मिलदुत्पद्यमानममङ्गलकारि जलमश्रु तावत् करेण परिमार्जयामि परिमार्ज्मि, मृजेर्ण्यन्तादिकाल्लट् । अथाश्रु-मार्जनानन्तरम्, अपराधमात्मनस्त्वन्नोदनदोषं भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः सम त्वच्चरणपङ्कजलग्नरेणुभिः सहेति सहोक्त्यलङ्कारः । आत्मनो मौलिना मुकुटेन प्रणामेनेत्यर्थः । परिमार्जयामि ॥ १०६ ॥

अन्वयः—तावत् करेण इदं ते दृशोः मिलत् अमङ्गल्यं जलं परिमार्जयामि अथ भवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभिः समम् अपराधम् आत्ममौलिना ।

हिन्दी—मैं (नल) पहिले हाथ से इस तेरे (दमयन्ती के) नेत्रों में लगे अमङ्गलकारी (अशुभ) जल (आँसुओं) का परिमार्जन करता हूँ (आँसू पोंछता हूँ), तत्पश्चात् तुम्हारे चरणकमलद्वय में लगी धूलि के साथ अपने (नल के अब तक दुःख पहुँचाने के) अपराध को अपने मुकुट से ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को प्रसन्न रखने के निमित्त अपने हाथ से उसके आँसू पोंछने और कोप दूर करने के लिए चरणों में प्रणत हो अपने मुकुट से चरण धूलि स्वच्छ करने का निवेदन किया और इस प्रकार अब तक दमयन्ती का प्रवचन कर दूत कर्तव्य पालन करते व्यथित करने वाले वचन कहने का अपराध दूर करने का प्रस्ताव रखा । भाव यही है कि नल ने दुःख छोड़ प्रसन्न हो जाने का आग्रह दमयन्ती से किया । मल्लिनाथ के अनुसार सहोक्ति, विद्याधर ने सहोक्ति-तुल्ययोगिता का निर्देश किया है ।

मम त्वदच्छाच्छनखामृतद्युते किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।
उपासनामस्य करोतु रोहिणी त्यज त्यजाकारणरोषणे ! रुषम् ॥१०७॥

जीवातु—ममेति । हे अकारणमेव रोषणे ! कोपने ! 'क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च' इति युच्प्रत्ययः । रोहिणी लोहितवर्णा 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति ङीप् नकारश्च । मम किरीटमाणिक्यमयूखानां मञ्जरी सैव रोहिणी चन्द्रप्रिया सैव तारा अस्य पुरः स्थितस्य तवाच्छाच्छनखस्यैवामृतद्युतेश्चन्द्रस्योपासनां करोतु, रोहिण्यास्तद्वल्लभत्वादिति भावः । रुषं रोषं त्यज त्यज । अनौचित्यवर्जेयर्थः ।

'नित्यवीप्सयो' इति नित्यार्थे द्विर्भाव । नित्यमभीक्ष्णम्। 'प्रणिपातप्रतीकार-संरम्भा हि महात्मना'मिति भावः। रूपकालङ्कार ॥ १०७ ॥

अन्वय—मम रोहिणी किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी अस्य त्वदच्छाङ्घ्रि-नखामृतद्युते. उपासनां करोतु, अकारणरोषणे, रुष त्यज, त्यज।

हिन्दी—मेरी चन्द्रप्रिया रोहिणी (रक्तवर्णा) मुकुट █ माणिक्यरत्न की किरणा की दीप्ति इस तेरे (दमयन्ती के) स्वच्छ चरण-नख रूप अमृत-द्युति (चन्द्र) की उपासना करे। हे व्यर्थ ही रोष करने वाली, रोष को पूर्णतया छोड दे।

टिप्पणी—नल दमयन्ती के चरणों में झुक कर उसे मनाने का प्रयत्न किया, जिससे नल के मुकुट में लगे माणिक्य की लाल कान्ति दमयन्ती के चरण नखों को रंजित करने लगी। 'माणिक्यमयूखमजरी' 'रोहिणी' (रक्त-वर्णा) होने से उसकी तुलना चन्द्रपत्नी रोहिणी (तारा) से की गयी, जो दमयन्ती के चरणनख रूप प्रिय चन्द्र का रंजन कर रही है। जैसे चन्द्र प्रिया रोहिणी समीपस्था हो चन्द्र की सेवा करती है, वैसे ही मुकुट माणिक्य की दीप्ति दमयन्ती के चरण नखों को समीपवर्तिनी हो उसका रंजन करने लगी। मल्लिनाथ के अनुसार रूपक अलंकार, विद्याधर ने अनुप्रास रूपक-श्लेष का निर्देश किया है ॥ १०७ ॥

तनोषि मानं मयि चेन्मनागपि त्वयि श्रये तद्बहुमानमानतः ।
विनम्य वक्त्रं यदि वर्तसे कियन्नमामि ते चण्डि ! तदा पदावधि ॥ १०८ ॥

जीवातु—तनोषीति। हे चण्डि ! अतिकोपने मनागीषदपि मानं मयि रोषमपि तनोषि चेत्। तत्तर्हि त्वयि विषये आनतः सन् बहुमानं श्रये सम्मानं कुर्वे, प्रतिकोपायकर्तेरिति भाव। अतिकोपे चेति गम्यते। किंच वक्त्रं कियत् किंचिद्विनम्य विनमय्येत्यर्थः। अन्तर्भावितो णिजर्थः। वर्तसे तदा ते पदावधि पादपर्यन्तं नमामि। पूर्वोक्त एवाभिप्रायः ॥ १०८ ॥

अन्वय—मयि मनाक् अपि मानं तनोषि चेत् तत् आनतः त्वयि बहुमानं श्रये, चण्डि, यदि वक्त्रं कियत् विनम्य वर्तसे तदा ते पदावधि नमामि।

हिन्दी—यदि मुझ पर थोडा भी मान (प्रणयकोप) करती हो तो विनत हो तेरे प्रति अपना अत्यन्त 'मनौवल' प्रस्तुत करता हूँ। हे चण्डि

(अत्यन्त रुष्ट) यदि मुख को (मान से) झुका रही हो तो मैं तेरे चरणों तक विनत हूँ।

टिप्पणी—मानिनी दमयन्ती का रोष दूर करने के निमित्त नल चरणों तक नत होकर दमयन्ती 'मनौवल' करने लगा। दमयन्ती के 'मनाक् मान' (थोड़े मान) को उसने 'बहुमान' (खूब मनाना सत्कार) से और 'किंचित् 'वक्त्रविनमन' (थोड़े मुख को झुकाने) को 'पदावधि नमन' (अत्यन्त झुकने) से दूर करने का प्रयास। भाव यही कि दमयन्ती प्रसन्न हो। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और विरोध ॥ १०८ ॥

प्रभुत्वभूम्नानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि कः श्रमः ।
क्व याचिता कल्पलतासि मां प्रति क्व दृष्टिदाने तव बद्धमुष्टिता ॥१०९॥

जीवातु—प्रभुत्वेति । हे भैमि ! प्रभुत्वभूम्ना प्रभुत्वप्रयुक्तगौरवेणानुगृहाण वा न वा, किन्तु प्रणाममात्रस्याधिगमे स्वीकारेऽपि कः श्रमः को भार इत्यर्थः । अथ सोऽपि मा भूत् दर्शनमात्रेणापि किं नानुगृह्णासीत्याह—क्वेति । याचिता अर्थिना कल्पलतासि, क्व ? क्व कदेत्यर्थः । असीति त्वमर्थे वाक्यालङ्कारगतार्थोपन्न-दर्यानुवादेऽसीति व्याख्यानात् । मां प्रति दृष्टिदाने बद्धमुष्टिता लुब्धता क्व ? 'स्याद्बद्धमुष्टिः कृपणे कृपणादिषु चेष्यते' इति विश्वः । विरूपघटनात्मको विषमालङ्कारः ॥ १०९ ॥

अन्वय—प्रभुत्वभूम्ना अनुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमे अपि कः श्रमः ? क्व याचिता कल्पलता असि, क्व मां प्रति दृष्टिदाने अपि तव बद्धमुष्टिता ?

हिन्दी—पूर्णस्वामित्व के अधिकार से तुम मुझ पर अनुग्रह करो या न करो किन्तु (मेरी) प्रणतिमात्र स्वीकारने में भी तुम्हें क्या श्रम पड़ता है ? कहाँ तो तुम याचकों के निमित्त कल्पवल्लरी हो—यह प्रसिद्धि और कहाँ मेरे प्रति निमिष अवलोकन में भी यह मुट्ठी बाँध लेना (कृपणता) ?

टिप्पणी—नल के कथन का अभिप्राय है कि उसने अपने को सम्पूर्ण भाव से दमयन्ती के अधीन कर दिया है और उसका पूर्ण अधिकार—प्रभुता अपने पर मानता है, सो दमयन्ती का अधिकार है कि वह नल पर कृपा करे या न करे। प्रभु को दास पर कृपा करने या न करने का अवकाश है। प्रभु चाहे जैसा भाव रखे, दास तो विनत रहेगा ही। नल की आसक्ति इसी में है

कि नल की प्रणति भी दमयन्ती नहीं स्वीकार रही। ऐसी भी क्या निर्ममता ? प्रणाम स्वीकार ने में तो कुछ परिश्रम भी नहीं होता। इसके अतिरिक्त प्रसिद्धि तो यह थी कि दमयन्ती याचकों की इच्छा उसी प्रकार पूरी करती थी, जिस प्रकार कि कल्पवृक्ष की लता, परन्तु वही दमयन्ती नल के प्रति इतनी कृपणता क्यों दिखा रही है कि क्षण भर को उससे दृष्टि भी नहीं मिलाती ? भाव यह कि एक बार तो नल को दमयन्ती निहारने की कृपा करे। मल्लिनाथ के अनुसार विरूपघटनारूप विषम अलंकार, विद्याधर ने विषमरूपकालङ्कार का निर्देश किया है ॥ १०९ ॥

स्मरेषु बाधा सहसे मृदु कथं हृदि द्रढीय कुचसवृते तव।
निपत्य वैमारिणकेतनस्य वा व्रजंति बाणा विमुखोत्पतिष्णुताम् ॥११०॥

जीवातु—स्मरेति। हे भैमी ! मृदु मृद्वङ्गी त्व स्मरेषुबाधा कामबाण-व्यथा कथ सहसे ? अथवा विसरतीति विसारी स एव वैमारिणो मत्स्य 'विसारिणो मत्स्ये' इति स्वार्थेऽण्प्रत्यय । तत्केतनस्य कामस्य बाणा द्रढीयोभ्या दृढतराभ्यां कुचाभ्यां सवृते तव हृदि निपत्य विमुखा कुचप्रतिहृत्या पराङ्मुखा । अत एवोत्पतिष्णव उत्पतनशीला, 'अलङ्कृञ्'त्यादिना इष्णुच्प्रत्यय । तत्ता व्रजंति वा, अन्यथा कथमुपेक्षस इति भाव ॥ ११० ॥

अन्वय—मृदु स्मरेषुबाधा कथ सहसे, वा वैमारिणकेतनस्य बाणा. द्रढीय कुचसवृते तव हृदि निपत्य विमुखोत्पतिष्णुता व्रजंति ?

हिन्दी—कोमल (दमयन्ती) काम बाणों की पीडा को कैसे सह रही हो, अथवा (प्रतीत होता है कि) मकरध्वज (काम) के दृढतर कुचों से आच्छादित तेरे (दमयन्ती के) हृदय पर टकरा उलटकर उठ जाते हैं ?

टिप्पणी—नल का तर्क है कि जब दमयन्ती नल के कारण काम पीडित है तो वह अब क्यों व्यथा नहीं उठा रही है ? इस पर दो संभावनाएँ हैं—या तो कोमल होकर भी दमयन्ती की सहनशक्ति अपूर्व है कि प्रहार चुपचाप सह ले रही है अथवा ये कामबाण उसके हृदय तक पहुँच ही नहीं पाते, उसके कठोर, पीन पयोधरों से टकरा उछल कर लक्ष्यभ्रष्ट हो जाते हैं। 'विसारी' अथवा 'वैसारी'—मछली जो विसरण करे। अमरकोष के अनुसार—'मीनो वैसारिणोऽण्डज ।' विद्याधर के अनुसार विरोध और आक्षेपालंकार ॥ ११० ॥

स्मितस्य संभाव्य सृक्वणा कणान् विधेहि लीलाचलमञ्चलं भ्रुवोः ।
अपाङ्गरथ्यापथिकीं च हेलया प्रसह्य सन्धेहि दृशं ममोपरि ॥१११॥

जीवातु—स्मितस्येति । स्मितस्य । कणान्मन्दहासलेशान् सृक्वणा ओष्ठप्रान्तेन । 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्वणी' इत्यमरः । संभावय भ्रुवोरञ्चलमन्तं लीलया चलं चञ्चलं विधेहि । तथा अपाङ्गरथ्या कटाक्षमार्गः । तत्र पन्थानं गच्छतीति पथिकी सञ्चारिणी 'पथ ष्कन्' इति ष्कन्प्रत्यये 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीप् । दृशं ममोपरिष्टात्, 'षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेने'ति षष्ठी । हेलया प्रसह्य बलात् सन्धेहि प्रसारयेत्यर्थः । 'वदतोरिद्धावस्थाउनोपदर्शे'त्यलंकारः ॥१११॥

अन्वयः—सृक्वणा स्मितस्य कणान् संभावय, भ्रुवोः अञ्चलं लीलाचलं विधेहि अपाङ्गरथ्यापथिकीं दृशं च मम उपरि हेलया प्रसह्य सन्धेहि ।

हिन्दी—ओष्ठ प्रान्त से मन्दहास्य के कणों को धन्य करो (ओठों पर मुस्कान लाओ), भ्रूयुगल के प्रदेश को लीला विलास से चञ्चल बनाओ (भ्रूक्षेप करो) और नेत्रप्रान्तरूप रथ्या (गली, छोटा मार्ग) की नित्य-गामिनी दृष्टि का मुझ पर हेला (विलासावलोकन) के साथ बलपूर्वक प्रसार करो (लीलाकटाक्षों से मेरी—नल की—ओर निहारो)।

टिप्पणी—भाव यही है कि प्रसन्न हो दमयन्ती मन्दस्मित सहित नल को प्रणयपूर्ण दृष्टि से निहारे। भाव, हाव और हेला—तीनों सत्त्व की देहात्मक स्थिति के परिणाम हैं। ये सत्त्वभेद से देह में प्रकृतिस्थ हैं और परस्पर समुत्थित भी होते हैं। सामान्यतः इनका क्रम है—पहिले भाव, तब हाव तदनन्तर हेला (नाट्यशास्त्र २२।६-७)। निर्विकारात्मक सत्त्व में आदि विकृति भाव है (दशरूपक २।३३, साहित्यदर्पण ३।१०३), भाव से हाव की उत्पत्ति होती है। हाव अर्थात् नेत्र, भ्रू, ग्रीवा की भङ्गिमाओं से शृङ्गार का सूचक सत्त्वोत्थित विकार (ना० शा० २२।१०)। हाव की स्पष्टता ही हेला है, भाव की अपेक्षा इसमें विकार अधिक लक्ष्य होता है (ना० शा० २२।११)। नारायण ने चतुर्थ चरण के 'प्रसह्य' की अपेक्षा 'प्रसद्य' पाठान्तर को माना है, जिसका अर्थ हुआ—'प्रसन्न होकर'। यह पाठान्तर अधिक उपयुक्त है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास-स्वभावोक्त्यलङ्कार ॥१११॥

समापय प्रावृषमश्रुविप्रुषा स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुदः ।
दृशावितः खेलतु खञ्जनद्वयी विकासि पङ्केरुहमस्तु ते मुखम् ॥११२॥

जीवातु—समापयेति । किञ्चाश्रुविप्रुषा प्रावृषं वर्षर्तुं वृष्टिमित्यर्थः । समापय मा रोदीरित्यर्थः । प्रावृट्समाप्ते फलमाह—स्मितेन मन्दहासेन कौमुदीमुदो विश्राणय वितर । श्रण दाने इति चौरादिकाल्लोट् । इतोऽत्र खञ्जनद्वयी खञ्जनपक्षियुगमिवो मयि खेलतु प्रसरतु, ते मुखं विकासि पङ्केरुहमस्तु, प्रसन्नं भवत्वित्यर्थः ॥ ११२ ॥

अन्वय—अश्रुविप्रुषा प्रावृषं समापय, स्मितेन कौमुदमुदः विश्राणय, खञ्जनद्वयी दृशौ इतः खेलतु, ते मुखं विकासिपङ्केरुहम् अस्तु ।

हिन्दी—अश्रु बिन्दुओं की बरसात समाप्त करो (न रोओ), मन्दहास्य से चाँदनी की प्रसन्नता फैलाओ (मुसकाओ), खञ्जनयुगल से नेत्र इस ओर (नल की ओर) खेलें (नल की ओर प्रेम से निहारो) और तेरा (दमयन्ती का) मुख खिलते कमल सा हो जाय ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को समझाया कि वह रोना धोना छोड़ प्रसन्नता से मुसकुराये और प्रसन्नमुखी हो नल की ओर अपने खञ्जन पक्षी से नयनों से निहारे । इसे वर्षा की समाप्ति और शरदागम के उपमान से कहा गया है । वर्षा समाप्त हो और शरदागम हो, जिसमें निर्मल चाँदनी का प्रसार हो, खञ्जनपक्षी कल्लोल करें और कमल विकसित हो । दमयन्ती के आँसू वर्षा प्रवाह हैं, जिसके समाप्त होने पर उसके मन्दहास्यरूप चाँदनी का प्रसार होगा, खञ्जन से नेत्र प्रसन्नता से नाच उठेंगे और मुख विकसित कमल-श्री का प्राप्त करेगा । भाव है कि रोना छोड़, प्रसन्न हो स्मितपूर्वकटाक्ष-विलोकन के साथ कुछ बोले दमयन्ती । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक ॥ ११२ ॥

सुधारसोद्वेलनकेलिमक्षरस्रजा सृजान्तर्मम कर्णकूपयोः ।
दृशौ मदीये मदिराक्षि ! कारय स्मितश्रिया पायसपारणाविधिम् ॥११३॥

जीवातु—सुधेति । हे मदिराक्षि ! मदकराक्षि ! 'इषिमदी'त्यादिना औणादिक किरच्प्रत्ययः अक्षरस्रजा वर्णावल्या वाग्गुम्फेन कर्णकूपयोरन्तः सुधारसस्योद्वेलनकेलिमुन्मज्जनलीलां सृज । आप्लावयेत्यर्थः । किञ्च मदीये दृशौ

स्मितश्रिया करणेन पायसपारणाविधिं पायसभोजनविधिमपि कारय । 'परमान्नं तु पायसम्' इत्यमरः । 'हृक्रोरन्यतरस्याम्' इति विकल्पादणि कर्तुः कर्मत्वम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—मम कर्णकूपयोः अन्तः अक्षरस्रजा सुधारसोद्वेलनकेलिं सृज, मदिराक्षि, मदीये दृशौ स्मितश्रिया पायसपारणाविधिं कारय ।

हिन्दी—मेरे (नल के) कानों रूप कुओं (कर्णछिद्रों) के भीतर वर्णमालाद्वारा अमृतरस को उछालने की क्रीडा करो । हे मदभरे नयनों वाली (मदिर नयने), मेरे नेत्रों को मन्दहास्य की शोभा द्वारा खीर-भोजन से पारणा (उपवासानन्तर भोजन) कराओ ।

टिप्पणी—नल के कथन का भाव यही है कि दमयन्ती कुछ प्रसन्न हो बोले, जिससे नल के कानों में अमृतरस जैसा उद्वेलित होने लगे और वह अपने मदभरे नयनों से नल को निहारती अपनी मुसकान द्वारा उसके नेत्रों को सुख और सन्तोष देने की कृपा करे । ऐसे मधुर, प्रेमपूर्ण वचन दमयन्ती के मुख से निकलें कि जिस प्रकार कोई केलिप्रिया बालिका कूप बावड़ी में पानी उछाल-उछाल कर परिवेश को जलसिक्त कर देती है, उसी प्रकार दमयन्ती के मुख से उद्भूत वर्णमाला रूप बालिका अमृतरसोद्वेलन केलिद्वारा नल के कर्णकूपयुगल को परिषिक्त कर दे । दमयन्ती के मदभरे नयन हैं, नल का निवेदन है कि नल के नेत्र न जाने कब से दमयन्ती की मुसकान के लिए तरस रहे हैं, उपवास करते व्यक्ति के तुल्य हो उन उपोषित नयनों की पारणा के निमित्त दमयन्ती अपने स्मित का क्षीरभोजन देकर कृतार्थ करे । सम्पूर्ण श्लोक में जलाशय में जलकेलि करती, मन्दहास्य-शोभा का प्रसार करती केलिपरायण बालिका का चित्र उभरता है, जो दर्शक को हर्ष से आप्यायित कर देती है । मधुर वाक्य रचना अमृत तुल्य है और कवि समय के अनुसार शुभ्र स्मित की समता 'पायस' (खीर) से की गयी है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष ॥ ११३ ॥

ममाननार्थं भज मण्डनं मम प्रिये मदुत्सङ्गविभूषणं भव ।
अनादृता मादृशाल्पभङ्ग । मृषना विना ममीर कनकरत्नासनम् ॥ ११४ ॥

जीवातु—ममेति हे प्रिये ! ममासनार्धे मण्डन भव। तत्रोपविशेत्यर्थ । नन। अत्यनुचितमेतदित्यर्थ । किन्तु मदुत्सङ्गविभूषण भव, अङ्कमारोहेत्यर्थ । तदपि नेत्याह— भ्रमाद्भ्रमादाल्प भ्रमादालप भ्रमादालापमित्यर्थ । लपेर्लङ्। अङ्ग भो ! मृष्यता क्षम्यता, किं तु ममोरो वक्षो विना तवासन कतरत् किमस्ति ? 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यमि'ति ननेत्यादौ चापले द्विर्भाव । चापल सम्भ्रमान्निवृत्ति सम्भ्रमश्चानौचित्यभयादिति। अत्र भूम्या क्रमेणाधार-वृत्तिकथनात्पर्यायालङ्कार । 'एकमनेकस्मिन्ननेकस्मिन् वा क्रमेण पर्याय' इति सर्वस्वकारलक्षणात् ॥ ११४ ॥

अन्वय—प्रिये, मम आसनार्धेन मण्डन भव, नन, मदुत्सङ्गविभूषण भव, अङ्ग, भ्रमात् भ्रमात् आलपम्, मृष्यताम्, मम उर विना तव आसन कतरत् ?

हिन्दी—प्यारी, मेरे आसन के आधे भाग की शोभा बनो, नहीं-नहीं, मेरी गोद का आभूषण बनो ! हे अग (हे सुन्दरि, हे मेरे अवयव तुल्य), (जो कुछ मैंने कहा) भ्रम—केवल भ्रम से कहा, क्षमा करो ! मेरे हृदय को छोडकर और तेरा आसन कौन सा है ?

टिप्पणी—प्रणयी नल अपनी प्रिया को मनाता कहने लगा कि दमयन्ती उसके साथ उसके राज्यासन के अर्द्धभाग पर आ विराजे, जैसी कि परम्परा है—रानी के साथ सिंहासन पर विराजती है। फिर उसे लगा कि यह समान तो है पर प्रणयी का समान नही, अत 'न-न' कह कर उसने दूसरा प्रस्ताव किया कि दमयन्ती उसकी गोद मे विराजे, परन्तु तुरन्त ही उसे बोध हुआ कि प्रिया के लिए इतना भी पर्याप्त नही है, वह तो उसकी अग है, उससे अभिन्न। तो उसका सबसे अच्छा स्थान हो सकता है प्रिय (नल) का हृदय, अत अन्त मे उसने अपनी भूल मानते हुए दमयन्ती को हृदय मे स्थित हो जाने का निवेदन किया। नारायण ने तृतीय चरण का पाठांतर दिया है—'अह भ्रमादाल्पमङ्ग मृष्यताम्'—अर्थात् मैंने यह सब भ्रम से बोल दिया, तू क्षमा कर। हृदय ही तेरा उचित आसन है, उसके अतिरिक्त और कोई अग तेरा आसन हो ही नही सकता। कोमल आमन्त्रणात्मक 'अङ्ग' अवयव का भी सूचक है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर्यायालंकार है,

क्योंकि इसमें मैंनी की आधारवृत्तियों का कथन हुआ है। विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ११४ ॥

अधीतपञ्चाशुगबाणवञ्चने । स्थिता मदन्तर्बहिरेपि चेदुर: ।
स्मराशुगेभ्यो हृदय विभेतु न प्रविश्य तत्त्वन्मयसम्पुटे मम ॥११५॥

जीवातु—किञ्चोर स्थलाद्यवस्थानेषु ममापि कामादनयमित्याह—अधीतेति । अधीता अभ्यस्ता पञ्चाशुगस्य पञ्चेषोर्बाणानां वञ्चना प्रतारणादिद्या यया सा तयोक्ता तस्या सम्बुद्धि । प्रायेण मन्मथिना लज्जावशवदतया मदनवञ्चनवाञ्छीन्यादिति सम्बोध्यते स्वहृदयप्राणसामर्थ्यंसूचनार्थं हे मैमि ! त्व मद तर्मभ्यन्तरे स्थिता जवस्थिता । अथ बहिरुरस्यपि प्राप्नोपि चेत् तर्हि मम हृदय (कर्तृ) त्व मये त्वदात्मके सपुटे पेटिकायां प्रविश्य स्मराशुगेभ्य-स्मरशरेभ्यो न बिभेतु । त्वया शुभम्य मे कृत कामास्त्रभयमित्यर्थं ॥११५॥

अन्वय—अधीतपञ्चाशुगबाणवञ्चने, मदन्त स्थिता बहि उर एपि चेद तद मम हृदय त्वन्मयसम्पुटे प्रविश्य स्मराशुगेभ्य न विभेतु ।

हिन्दी—हे पञ्चबाण (काम) के बाणों की वचना का अध्ययन किये हुई (दमयन्ती), तुम यदि मेरे अन्तम् मे बसती बाहर वक्ष स्थल पर रहो तो मेरा हृदय त्वद्रूप (दमयन्ती रूप) संपुट (सदूक) मे प्रविष्ट हो काम बाणों से न डरे।

टिप्पणी—नल कामव्यथित है। उसे इस कामदत्त व्यथा से दमयन्ती ही छुटकारा दिला सकती है। दमयन्ती मे ऐसी क्षमता है, क्योंकि वह कामबाणो की भी प्रतारणा कर सकती है, जैसा कि श्लोक सख्या ११० मे कहा गया है कि उसके वक्षपर गिर कर कामबाण भी विमुख हो जाते हैं। इस लिए कामबाण वचना की पारगता दमयन्ती से नल का निवेदन है कि वह नल के अतस् में, भीतर भी विराज और बाहर 'उर' पर भी। इन दोनों के बीच जैसे सदूक मे छिपा नल का हृदय कामबाणो से निर्भय रहेगा। भाव है कि मन मे छिपी प्रिया उसके वक्ष से आ लगे, जिससे नल की कामपीडा दूर हो जाय। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ११५ ॥

परिष्वजस्वानवकाशवाणना स्मरस्य लग्ने हृदयद्वयेऽस्तु नौ ।
दृढा मम त्वत्कुचयो कठोरयोरुरस्तटीव परिचारिकोचिता ॥११६॥

जीवातु—परिष्वजस्वेति । हे प्रिये ! परिष्वजस्व आलिङ्ग । तथा सती स्थाने मिथोघटिते नौ आवयोर्हृदयद्वये स्मरस्यानवकाशा नीरन्ध्रत्वान्निरवकाशा बाणा यस्य तस्य भावस्तत्ता अस्तु । इत्थमालिङ्गन स्मरशरप्रवेशानवकाश-कारकमिति भाव । किन्च दृढा कठोरा ममेयमुरस्तटी कठोरयोस्त्वत्कुचयो परिचारिका उचिता युक्ता । समानगुणयो सम्बन्धो युक्त इत्यर्थं । अत्र समा-लङ्कार । 'सा समालङ्कृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयो ' इति लक्षणात् ॥११६॥

अन्वय —परिष्वजस्व, नौ हृदयद्वये स्थाने स्मरस्य अनवकाशबाणता अस्तु, मम दृढा इयम् उरस्तटी कठोरयो त्वत्कुचयो परिचारिका उचिता ।

हिन्दी—(हे प्रिये !) आलिङ्गन कर, हम दोनो के दोनो हृदय मिल जाने पर काम के बाणो को अवकाश ही न रहे । मेरी यह कठोर वक्ष स्थली का तेरे (दमयन्ती) के कुचों की सेविका होना अत्यन्त उपयुक्त है ।

टिप्पणी—भाव है कि नल दमयन्ती आलिंगन बद्ध हो जायँ, जिससे दोनो की काम व्यथा मिट सके । जब दोनो के हृदय मिल जायेंगे, तब काम-बाणो के प्रवेश का स्थान ही नही रहेगा, स्थानाभाव के कारण काम बाण व्यर्थ हो जायेंगे । नल का विशाल वक्ष स्थल दमयन्ती के पीनपयोधरो से आलिंगित होने का औचित्य रखता है, कुच कठोर हैं, तो वक्षस्तटी भी दृढ—अत्यन्त कठोर है । समानशीलता है, सो सख्य उचित है । उचित स्वामी का सेवक भी उपयुक्त होना ही चाहिए । कठोरकुचों की उचित 'दृढा उरस्तटी' ही हो सकती है। मल्लिनाथ के अनुसार सम अलकार ॥११६॥

शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिख्यत यत्र लेखया ।
मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जन स भूर्जतामर्जतु बिम्बपाटलः ॥११७॥

जीवातु—शुभेति । यत्र यस्मिन्न तवाधरे रेखया रेखाभिरित्यर्थं । जाता-वेकवचनम् । त्वदनङ्गजन्मन त्वदीयमन्मथोदयस्य सम्बन्धी शुभाष्टवर्ग शुभ-सूचकाष्टवर्गो ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धा अलिख्यत रेखारूपेण लिखित । रेखारूपस्यैव शुभावेदकत्वात् बिन्दुरूपस्य वैपरीत्याच्चेति भाव । मदीयद तक्षतानां राज्या रञ्जन बिम्बफलवत् पाटल सोऽधर भूर्जता भूर्जपत्रत्वमर्जतु भजतु । अर्जेर्भौवा-दिकाल्लोट् । अत्राधररेखाणामष्टवर्गरेखात्वमधरस्य भूर्जपत्रत्व चोत्प्रेक्ष्यते ।

तेन च कामोदयस्य शुभोदयत्वं व्यज्यते । जन्मकालग्रहावस्थानमाविशुभावेदको रेखाविदुरेस्थचक्रविशेषाद्यामो ग्रहसन्निवेशविशेषोऽष्टवर्गः ॥ ११७ ॥

अन्वयः—त्वदनङ्गजन्मन शुभाष्टवर्गं रेखया यत्र तव अधरे अलिख्यत, बिम्बपाटलः स मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जनैः भूर्जताम् अर्जतु ।

हिन्दी—तुम्हारे (दमयन्ती के) अनङ्ग (काम) के जन्म का शुभ-सूचक अष्टवर्ग (कुण्डली चक्र) (ज्योतिर्विद् विधाता की) रेखा द्वारा जिस स्थान में तेरे अधर पर लिखा गया है, बिम्बफल-सम गुलाबी वह (अधर) मेरे (नल) दन्तक्षतों से रञ्जित हो भूर्जपत्रभाव का अर्जन करे ।

टिप्पणी—ज्योतिर्विद् द्वारा जन्मकाल के ग्रहविचार के निमित्त शुभ का सूचक चक्र रेखा द्वारा लिखा जाता है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर और राहु—इन ग्रहों का शुभाष्टक बनता है । यहाँ दमयन्ती के लाल अधर को (कामोद्दीपक होने के कारण) भोजपत्र बनाया गया है जिस पर यह शुभाष्टक लिखा जाता है । इसका उपयोग दन्तक्षत देकर नल को अपेक्षित है । लाल दन्तक्षत से रञ्जित होकर ही लिखे जाने योग्य भोजपत्र के वर्ण का हो सकता है । भाव यह है कि तेरा काम शुभकाल में उत्पन्न हुआ है, जो सफलता को प्राप्त होगा । तेरा गुलाबी अधर प्रियतम-पानजनित दन्तक्षत से चिह्नित हो भोजपत्र के रङ्ग को प्राप्त करेगा । मल्लिनाथ ने अधर के भूर्जपत्रत्व की सम्भावना के आधार पर यहाँ उत्प्रेक्षा उल्लेख किया है जिससे काम का शुभत्व व्यञ्जित होता है । नारायण ने टिप्पणी की है—'त्वदोष्ठोऽष्टरेखावान् दन्तक्षतसुन्दरो भूर्जपत्रेणोपमीयते ।' (आठ रेखाओं से युक्त दमयन्ती का अधर दन्तक्षत से सुन्दर हो भोजपत्र से उपमित होगा ।) नारायण ने इस श्लोक का क्रमाङ्क ११९ माना है ॥११७॥

तवाधराय स्पृहयामि यन्मधुस्रवः श्रवःशालिनमाक्षिका गिरः ।

अपि व्रजासु स्तनयोस्तनोतु ते भलेन्दुरेखाभ्युदयाद्भुतं नखः ॥११८॥

जीवातु—तवेति । किञ्च तवाधराय स्पृहयामि । अधरं पातुमिच्छा-मीत्यर्थः । 'स्पृहेरीप्सित' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । कुत इति चेत्—यस्या-धरस्य मधुत्वे माक्षिकत्वे तव गिरो वचनानि श्रवसी श्रोत्रे साक्षिणी यस्य तन्मूत्र साक्षिक माक्षिक यासु ता । श्रोत्रपेया इति भाव नवतीति शेष ।

किञ्च ते स्तनयोरधित्यकासूर्ध्वभागेषु 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमर । 'उपाधिभ्या त्यकन्नासन्नारूढयो ' इति त्यक प्रत्यय । एतेन स्तनयोरद्रिरूपण गम्यते। मम नख इन्दुरेखाभ्युदयादद्भुत चन्द्रकलोदय चित्र तनोतु। कुचकुम्भयोर्नखक्षतञ्च कर्तुमिच्छामीत्यर्थ ॥ ११८ ॥

अन्वय —तव अधराय स्पृहयामि तव गिर यन्मधुस्रवं श्रव साक्षिकमाक्षिका , ते स्तनयो अधित्यकासु मम नख इन्दुरेखाभ्युदयाद्भुत तनोतु ।

हिन्दी—तेरे अधर की स्पृहा करता हूँ (अधरपानेच्छुक हूँ), तेरी वाणी जिस (अधर) के मधु निर्झर के कारण कर्णों की साक्षीभूत मधु हैं । तेरे स्तनो की अधित्यकाओ (ऊर्ध्व प्रदेशो) मे मेरा नख चन्द्र कला के उदय के आश्चर्य का कारण बने ।

टिप्पणी–पूर्वश्लोकोक्त अधर रस पान की लालसा और उस अधर के सम्बन्ध से मधुमय मधुर वचन सुनने की इच्छा । इसी कारण अधर से प्रस्रवित मधुधाराओ से सम्बद्ध वचनो का 'माक्षिक' (मधु) कहा गया । इसके साथ ही नल ने स्तनोपभोग की लालसा भी प्रकट की । उच्च स्तन पर्वत का ऊर्ध्व प्रदेश है जिस पर लगा नख-क्षत चिह्न उगती चन्द्रकला-सा आश्चर्यजनक है । मल्लिनाथ के अनुसार स्तनयुगल के अधित्यका-कथन से स्तनो का पर्वतत्व गम्य हुआ है । विद्याधर ने छेकानुप्रास अतिशयोक्ति-उपमा आक्षेप अलकारो का निर्देश किया है ॥ ११८ ॥

न वतंसे मन्मथनाटिका कथ प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी ।
तवाङ्गहारे रुचिमेति नायक शिखामणिश्च द्विजराड्विदूषक ॥११९॥

जीवातु—नेति । हे भैमि ! त्व मन्मथेन कविना कृता नाटिका रूपक विशेषो मन्मथनाटिका सती कथ न वतसे एवेत्युत्प्रेक्षा । मन्मथोद्दीपनेति च प्रतीयते । उभय श्लिष्टविशेषणैरुपपादयति—प्रकाश स्फुट रोमावलि सूत्रमिव रोमावलिसूत्र तद्धारिणी अन्यत्र सूत्रधार कथाप्रस्तावक तद्वती सूत्रधारणी तव अङ्गहारे मुक्ताहारे नायको मध्यमाणिक्य रुचि शोभामेति अन्यत्र नायक कथानायकोऽङ्गहारे अङ्गविक्षेपे रुचि प्रीतिमेति । शिखामणि शिरोरत्नञ्च द्विजराजश्चन्द्रस्य विशेषणो विदूषको निन्दको निरूपकस्तोऽपि रमणीय । अन्यत्र द्विजराट् ब्राह्मणो विदूषको नायकस्य हास्यप्रायो नर्मसचिव

शिखामणिरादरणीय इत्यर्थः । एवं सूत्रधारादियोगात् कथं नाटिकासीत्यर्थः । अन्यत्र यौवनालंकारादियुक्ता कथं न मन्मथोद्दीपनेत्यर्थः । 'आलम्बनगुणश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृतिः । तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुर्धोद्दीपनक्रमः' । इति लक्षणात् ।

अन्वय—प्रकाशरोमावलिसूत्रधारिणी कथं न मदननाटिका न वर्तसे ? नायकः तव अङ्गहारे रुचिम् एति, द्विजराड्विदूषकः च शिखामणिः ।

हिन्दी—सुशोभित रोमावलिरूप सूत्र को धारण करती (तुम दमयन्ती) सुशोभित रोमावलिरूप सूत्रधार से निर्देशित काम की नाटिका क्यों नहीं हो—(अपितु हो ही), तुम्हारे वक्ष पर स्थित हार में (अथवा 'अङ्ग+हारे' पदच्छेद मानने पर हे सुन्दरि, तुम्हारे हर में) मध्यमणि रूप नायक रुचि (दीप्ति-नायक पक्ष में प्रीति प्रसन्नता) को प्राप्त होता है और द्विजराट् (चन्द्र) का विदूषक (उपहासक) चूडामणि ब्राह्मण श्रेष्ठ विदूषक है।

टिप्पणी—नल ने इस श्लोक में दमयन्ती को काम की नाटिका कहा, अर्थात् वह कामोन्मादिनी है, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि एक नाटिका काम अर्थात् हर्ष का कारण होती है। इसके निमित्त रोमावलि को सूत्रधार, 'अङ्गहार' (वक्षस्थित मुक्ताहार) में दीप्ति पाते नायक अर्थात् मध्यमणि को प्रसन्न नायक (प्रमुख पात्र) और शिखामणि को विदूषक कहा गया है। नारायण ने 'अङ्गहारे रुचिमेति नायक' का अर्थ यह भी किया है कि अङ्गहार अर्थात् नृत्य में सभापति रुचि (प्रीति) को प्राप्त होता है। नृत्य नानाकरण संयुक्त अङ्गहारों से विभूषित होता है। कर, चरण, कटि, पार्श्व, उरु, उदर आदि स्थल से सबद्ध चारी तथा नृत्तहस्त मातृका है। मातृकाओं के योग से करण होता है। वृत्त, युद्ध, नियुद्ध, गति, परिक्रम, गति-प्रचार में पैर, जंघा, उरु तथा कटि के समानकरण की चेष्टा चारी है। 'करण' सामान्यतः 'हस्त-पाद-समायोग' होता है। तलपुष्पपुट आदि एक सौ आठ करण होते हैं, जिनसे स्थिर हस्तादि बत्तीस अङ्गहार निष्पन्न होते हैं—अङ्गहार अर्थात् विशिष्ट अङ्गविक्षेप। (नाट्यशास्त्र चतुर्थ अध्याय)। नाटिका प्रधान उपरूपक है। यह स्त्री बहुल, शृङ्गार प्रधान उपरूपक है, चार अङ्क का, जिसमें नृत्य-गीतादि की पर्याप्त योजना होती है। इसे 'नाटी' भी कहा जाता है, क्योंकि यह मन को प्रफुल्ल बनाकर नचा देती है—

'नाटयति नर्तयति व्युत्पाद्य मनांसि'। (नाट्यदर्पण २।५ ६) दमयन्ती नाटिका के समान ही नल के मन को हर्षविभोर करने वाली है। नायक कहते हैं—कथा शरीर के फल से प्रधान रूप मे सबद्ध पात्र को—'कथाशरीर-फलेन प्रधानतया सम्बद्ध्यमानो नायक उच्यते।' (अभिनव गुप्त, ना० शा० १८ अध्याय)। नायक का सहचर 'हास्यकृत्'—कर्म, शरीर, वेष, भाषा आदि से हास्य उत्पन्न करने वाला पात्र विदूषक होता है। (साहित्यदर्पण ३।५०)। विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-रूपक-श्लेष अलकार हैं।

गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बनैः प्रसीद शुश्रूषयितुं मया कुचौ।
निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्ममत्वमेकासि नलस्य जीवितम् ॥१२०॥

जीवातु—गिरा इति। गिरा सम्भाषणेनानुकम्पस्व चुम्बनैर्दयस्व दया कुरु, मया कुचौ शुश्रूषयितुं प्रसीद, अन्यथा कथमहं जीवेयमित्याशयेनाह—यद् यस्मात् चान्द्रस्य करोत्करस्य किरणसमूहस्य निशेव नलस्य मम त्वमेका जीवितमसि चन्द्रस्य दिवापि जीवनसम्भवात् करग्रहणं तस्य निशैकधारणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

अन्वय—गिरा अनुकम्पस्व, चुम्बनैः दयस्व, मया कुचौ शुश्रूषयितुं प्रसीद, यत् चान्द्रस्य करोत्करस्य निशा इव त्वम् मम एका नलस्य जीवितम् असि।

हिन्दी—वाणी द्वारा (बोलकर) अनुकंपा करो, चुंबनों द्वारा दया करो और मेरे द्वारा स्तनों की शुश्रूषा (चन्दनलेप, पत्ररचनादि करने का अवसर देकर) कराने को प्रसन्न हो जाओ, क्योंकि चन्द्रमा की किरणों के लिए रात्रि के तुल्य तुम (दमयन्ती) एक ही मुझ नल का जीवन हो।

टिप्पणी—कामोत्पीडित नल ने दमयन्ती से विविध विलास-केलि निमित्त प्रस्ताव किया, क्योंकि एक वही उसकी प्राणहार प्रिया थी, चन्द्र-किरणों का जीवन जैसे निशा होती है, वैसे ही। यदि रात्रि न हो तो चन्द्र किरणों का जीवन—अस्तित्व ही न प्रकाशित हो। ऐसे नल चन्द्र का किरण समूह (इच्छा-आकांक्षाएँ) दमयन्ती-निशा पर ही अवलम्बित है। नारायण के अनुसार नल ने कहा—'मेरा जीवन तेरे ही अधीन है, चुम्बनादि द्वारा मुझे अनुगृहीत करो, अन्यथा मेरा जीवन ही न रहेगा।' विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा-अतिशयोक्ति हेतु है ॥ १२० ॥

मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत ।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्तसंस्कारतयासृजद्गिरः ॥१२१॥

जीवातु—मुनिरिति । तथैव आन्दनन्तरमसौ नलो मुनिर्यथा मुनिरिव प्रबोधवानुत्पन्नतत्त्वावबोधः सन्नात्मानं स्वं स्वस्य प्रकाशयन्तं सन्तमबुध्यत, स्वस्यैव प्रकाशितेत्यबुद्धेत्यर्थः । अथ प्रपन्नां प्राप्तां तां प्रकृतिं स्वभावं विलोक्यापि ज्ञात्वापि अवाप्त उद्बुद्धः संस्कारो निजवृत्तस्मारकवासना येन तस्य भावस्तत्ता तया गिरो दूत्यानुकूल्येनैव वाक्यान्यसृजदवोचदित्यर्थः । यथा मुनिर्मोक्ष्यात्मतत्त्वावबोधोऽपि कालनावशात् वा ह्यननुसन्धत्ते तथा नलोऽपि प्रकृतिप्राप्त्या पुनः संस्कारवशात् दूत्येनैवानुसरन्नुवाचेत्यर्थः ॥ १२१ ॥

अन्वय—अथ यथा मुनिः प्रबोधवान् असौ आत्मानं प्रकाशयन्तं स्वम् अबुध्यत, तां प्रकृतिं प्रपन्नां विलोक्य अवाप्तसंस्कारतया गिरः अपि असृजत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् जैसे मुनि प्रबुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्रबोध को प्राप्त (तत्त्वज्ञ) वह (नल) अपने को प्रकाशित करते हुए ('मम नलस्य' कहकर अपने को प्रकट करते हुए) स्वयं को जान गया (फिर नलत्व प्रकाशित हो जाने मात्र से) उसे (दमयन्ती को) प्रकृतिस्थ देखकर संस्कार प्राप्त होने के कारण (दूत होकर स्वयं को प्रकट करना उचित नहीं था, यह बोध हो जाने से) तदनुकूल वचन बोला ।

टिप्पणी—नल ने 'मम नलस्य' कहकर एक भूल कर दी । दूत होने के कारण उसे भ्रम-मोह में आकर अपने को प्रकट कर दूतधर्म की अवहेलना नहीं करनी थी । नल का अस्तित्व जानकर ही दमयन्ती की पीड़ा जैसे समाप्त हो गयी और वह रोना धोना छोड़ प्रकृतिस्थ हो गयी । नल को भी अब बोध हुआ कि उनसे भूल हुई, किन्तु वह संस्कारी पुरुष था, अतः बात सँभालकर पुनः समयोचित वचन कहने लगा । यहाँ नल की तुलना एक मुनि से की गयी है, जो वेदान्ताभ्यास और शम-दमादि द्वारा प्रबोध प्राप्त कर 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूप हूँ, ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है । और संसार की उत्पादिका सत्त्वरजस्तम की साम्यावस्थारूपा प्रकृति को एक से पृथक् मानता हुआ विवेकपूर्वक मुक्त हो दानादिव्यवहार करता है । नारायण ने अन्वयान्तर करके एक और स्पष्ट अर्थ

किया है जैसे भूल करके ज्ञानी मुनि पुन प्रबोध प्राप्त कर लेता है (आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है), वैसे ही प्रबुद्ध नल भी अपने से हुई भूल को समझ गया और संस्कार उद्बुद्ध हो जाने से पुन प्रकृति को प्राप्त कर (गतमोह हो) दूतधर्म के अनुसार उचित विचार करने लगा । भाव यही है कि नल समझ गया कि अपना नामोच्चार करके उसने भूल कर दी और फिर उसने उचित आचरण किया । आगे के श्लोकों में नल के एतत्सम्बद्ध विचार हैं । विद्याधर के अनुसार उपमा अलकार ॥ १२१ ॥

अये मयात्मा किमनिह्नुतीकृत किमत्र मन्ता स तु मा शतक्रतु ।
पुर स्वभक्त्याथ नमन् ह्रियाविलो विलोकिताहे न तदिङ्गितान्यपि ॥१२२॥

जीवातु--अये इति । अये इति विषादे । 'अये विषादे क्रोधे च' इति विश्व । मया आत्मा स्वरूप कि किमर्थमनिह्नुतीकृत प्रकाशित, अत्रात्म-प्रकाशने स शतक्रतुरिन्द्रस्तु मा किं मन्ता मस्यते । अथ पुरोऽग्रे स्वभक्त्या नमन् प्रणमन् ह्रिया आविल कलुष सन् तस्येन्द्रस्येङ्गितानि चेष्टितान्यपि न विलोकिताहे न विलोकयिष्यामि । लुटोट् । तन्मुखमवलोकितुमपि नोत्सहे इत्यर्थ ॥ १२२ ॥

अन्वय —अये, मया आत्मा किम् अनिह्नुतीकृत, अत्र स शतक्रतु तु मा किं मन्ता ? पुर स्वभक्त्या नमन् अथ ह्रिया आविल तदिङ्गितानि अपि न विलोकिताहे ।

हिन्दी—अरे, मैंने अपने को क्यों प्रकट कर दिया, इस विषय में वह शतमखी (इन्द्र) मुझे क्या समझेगा ? पहिले अपनी भक्ति से नमन करता, तदनन्तर लज्जा से कलुषित (मैं नल) उस (कोपाविष्ट इन्द्र) के भ्रूभगादि सकेत भी न देख सकूंगा (प्रसन्नता लाभ तो दूर की बात है) ।

टिप्पणी—अपने को अपराधी मान नल ने सोचा कि वह शतक्रतु इन्द्र के कोप का भाजन अवश्य बनेगा । उसको मुँह दिखाने योग्य भी नल नहीं रहा । कर्तव्यभ्रष्टता की ग्लानि । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेकानुप्रास ॥ १२२ ॥

स्वनाम यन्नाम मुधाभ्यधामहं महेन्द्रकार्यं महदेतदुज्झितम् ।
हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषा हसैर्दूतपथ सितोकृत ॥१२३॥

जीवातु—स्वेति । यदस्मात् मुधा वृथैव स्वनाम अन्वयासिषम् ? अवोच-वदन्तु ? तन्महदेतन्महेन्द्रकार्यमुज्झितं त्यक्तम् । अहो हनुमदाद्यैः दूतपथो यशसा सितीकृतो धवलीकृतो मया पुनर्द्विषां हसैर्हासैः, 'स्वनहसोर्वा' इत्यप्प्रत्ययः । सितीकृतो धवलीकृतः । यशोहासयोरुभयोरपि धवलत्वादिति भावः । विश्वेश्वरीये तु हासस्य धावल्येऽपि शत्रुहासस्य मालिन्यापादकत्वादित्याशयेन मेचकीकृत-मिति व्याख्यातम् । 'सितो धवलमेचकौ' इत्यमरः । अत्र हनुमद्ग्रहणं पूर्व-कल्पाभिप्रायमन्यथा कृतत्रेतावतारपुरुषयोः पौर्वापर्यविरोधादिति ॥ १२३ ॥

अन्वय —नाम अहं यत् मुधा स्वनाम अन्वयासम्, एतत् महत् महेन्द्रकार्यम् उज्झितम्, हनुमदाद्यैः यशसा सितीकृतः दूतपथः मया पुनः द्विषां हसैः (सितीकृतः)।

हिन्दी—खेद है, मैंने जो व्यर्थ ही अपना नाम कह दिया और यह महेन्द्र का बड़ा (दूत) कार्य छोड़ दिया । हनुमान् आदि द्वारा यश से शुभ्र किया गया दूत का पथ मैंने पुनः शत्रुओं के उपहासों से शुभ्र कर दिया ।

टिप्पणी—यश का वर्ण भी कविसमयानुसार शुभ्र है और हास्य का भी । यहाँ नल का अभिप्राय यह है कि हनुमान् आदि ने समुद्रसंतरण और लंकादाह करके श्रीरामचन्द्र को सीता का पता बताया था, इस प्रकार यशोविस्तार कर दूतकर्म की उच्च मर्यादा स्थापित की थी, नल वैसा न कर सका। इसके विपरीत दमयन्ती के सम्मुख अपने को प्रकट करके उसने देवों का कार्य ही बिगाड़ डाला । अब नल के शत्रु उसकी हँसी उड़ायेंगे । इस प्रकार जो दूतपथ पहिले यशःशुभ्र था, अब उपहासशुभ्र बन जायेगा । नल को अयश मिलेगा। मल्लिनाथ का आक्षेप है कि नल राम के पूर्ववर्ती थे । नल कृतयुग में थे, राम त्रेता में । इस प्रकार यह पौर्वापर्य विरोध हुआ, ऐतिहासिक क्रम में भूल हुई । हनुमान् का उदाहरण उनके पूर्ववर्ती नल के द्वारा दिया जाना इतिहासक्रम-विरोध है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और व्यतिरेक अलंकार ॥ १२३ ॥

धियात्मनस्तावदचारु नाचरं परन्तु यद्वेद न तद्वदिष्यति ।
जनावनायोद्यमिनं जनार्दनं क्षये जगज्जीवपिबं वदन् शिवम् ॥१२४॥

जीवातु—धियेति । अथवा तावदात्मनो धिया बुद्धिपूर्वकमित्यर्थः । अचारु-

साधु नाचर एव स्फिने परोऽन्यो जनो यदयाम वदिष्यति तत्तु जनानामवनाय रक्षणायोद्यमिनमुद्योगिन विष्णुमिति शेष, जनानामर्दयतीत्यर्दन सहर्तारम्। नन्द्यादित्वात् ल्युट् प्रत्यय । अथ क्षये कल्पान्ते जगज्जीवाना पिबतीति पिब सहर्तार रुद्रमिति शेष । 'पाघ्रादिना' शप्रत्यय । शिव शान्त वदन्, शिवम-शिवमशिव शिवञ्च वदन्नित्यर्थ । स पर एव वेद । अनर्गलो लोकस्तावदास्ता ममानपराधित्वमन्तर्यामिसाक्षिकमिति भाव ॥ १२४ ॥

अन्वय—आत्मन धिया तावत् अचारु न आचरम् तु जनावनाय उद्यमिन जनार्दन क्षये जगज्जीवपिब शिव वदन् स पर यत् वदिष्यति तद् वेद ।

हिन्दी—(अथवा मैंने) अपनी बुद्धि से (जान बूझकर) तो असुन्दर आचरण (इन्द्रादि के प्रतिकूल व्यवहार) किया नहीं, किंतु लोक पालन के उद्यमी (विष्णु) को 'जनार्दन' (जनान् अर्दयति पीडयति जनार्दन —लोक पीडक) और प्रलयकाल मे जगत् के जीवन पायी (प्राणहर्त्ता) को 'शिव' (मगल) कहनेवाला वह ससारी दुर्जन जो कहेगा, वह (मैं) समझता हूँ। (अथवा 'यत् वेद तद् वदिष्यति —ऐसा अन्वय करने पर अर्थ होगा—'लोक जो समझता है, वह कहता है।')

टिप्पणी—एक सौ तेईसवें पूर्वश्लोक मे स्वनाम-प्रकट कर देने के कारण नल ने अपने को दोषी माना था यहाँ वह विचारता है कि उसने इन्द्रादि के कार्य के प्रतिकूल व्यवहार जान बूझकर तो नहीं किया, वह परिस्थितियो के कारण अथवा भावावेश मे हो गया। दमयन्ती का दु ख उससे न देखा गया और वह अपने को प्रकट कर बैठा। पर नल ने सोचा कि यह ससार—ये ससारी जन कहाँ ठीक-ठीक विचार पाते हैं। वे सदा अनर्गल ही कहा करते हैं। जैसा ऊपर-ऊपर मे लगा, वही कह डालते हैं। उदाहरण के लिए जो ससार की स्थिति-पालन के विधाता हैं, उन विष्णु को कहता है—'जनार्दन'—जनो को कष्ट देने वाला और जगत्सहारक रुद्र को कहता है—'शिव'—शुभ मगलस्वरूप। ऐसे ही नल के भाव पर उचित विचार न करके ऐसा अनर्गलवादप्रिय ससारी तो नल को अपराधी कहेगा ही। लोक कथन का निवारण बडा कठिन है, उसका कोई प्रतीकार नहीं है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलकार। चन्द्रकलाकार ने इस श्लोक से 'निरुक्त'-नामक काव्यलक्षण का निर्देश किया है ॥ १२४ ॥

स्फुटत्यदः किं हृदयं त्रपाभरात् यदस्य शुद्धिर्विबुधैर्विबुध्यताम्।
विदन्तु ये तत्त्वमिदं नु दन्तुरं जनानने कः करमर्पयिष्यति ॥१२५॥

जीवातु—स्फुटतीति । अदो हृदयं त्रपाभरात् लज्जातिभारात् स्फुटति किम् ? स्फुटिष्यति किम् ? 'आशंसायां भूतवच्च' इति चकाराद् आशंसायां भविष्यदर्थे वर्तमानप्रत्ययः । यदस्मात् स्फुटनादस्य हृदयस्य शुद्धिर्विबुधैर्देवै-र्विबुध्यतां ज्ञायताम् । अतः स्फुटनमाशास्यमित्यर्थः । यद्यपि ते विबुधास्तत्त्वं हृदयशुद्धिं विदन्तु तथापि दन्तुरमतिविषमं तत्तदेवाह्—जनानने कः करमर्पयिष्यति न कोऽपीत्यर्थः । कस्यचिद्देवस्य प्रत्यायनेऽपि जनप्रत्यायनं दुष्करमिति तात्पर्यार्थः ॥ १२५ ॥

अन्वय—किम् अदः हृदयं त्रपाभरात् स्फुटति, यत् अस्य शुद्धिः विबुधैः विबुध्यताम् ? ते तु इदं दन्तुरं तत्त्वं विदन्तु, जनानने कः करम् अर्पयिष्यति ?

हिन्दी—क्या (मेरा-नल का) यह हृदय लज्जा-भार से फटा जा रहा है कि इस (हृदय) का निरपराध होना देव समझ लें ? वे (देव) तो इस अत्यन्त विषम (कठिनता से समझ में आनेवाला) तत्त्व को समझ लें, संसारी जनों के मुँह पर कौन हाथ धरेगा ? (लोगों का मुँह कौन बन्द करेगा) ?

टिप्पणी—अनजाने अपराध-बोध से भी उनसहृदनि नल का अत्यन्त आत्मग्लानि हो रही थी। वह चाहने लगा कि उसका हृदय फटकर बाहर आ जाता जिससे उसकी शुद्धि—निरपराधता सर्वज्ञ देव तो जान लेते, जिनका नल अपराधी है। वे 'विबुध'-विशेष बुद्धिमान् कहे जाते हैं—उन्हें तो 'विबोध' हो जाना चाहिए। ये संसारी जन तो अनर्गल कहा ही करते हैं, उनकी निन्दा-स्तुति की चिन्ता व्यर्थ है। न कोई लोगों का कुछ भी कहने से रोक पाया है न रोक सकता है। भाव यह है कि देव सर्वज्ञ हैं, वे तो तथ्य को समझ ही लेंगे कि नल का हृदय शुद्ध है, लोग जो चाहें, बकें। उनकी क्या चिन्ता ? 'जनानने कः करमर्पयिष्यति'—लोकोक्ति का प्रयोग। विद्याधर के अनुसार अतद्योक्ति ॥ १२५ ॥

मम श्रमश्चेतन्यातया फलो बलीयसाऽपि च नैव वेधसा ।
न सन्तु देवस्मरणाद्विनश्वर सुरेश्वरोऽपि प्रभिवन्नुमीश्वरः ॥१२६॥

जीवातु—ममेति । मम श्रमो दूत्यप्रयास अनया चेतनया स्वरूपनिगूहन-बुद्ध्या फली सफल स्यात् बलीयसा बलवत्तरेण वेधसा दैवेन सा चेतनैवालोपि नाशिता च । तथा हि—दैवस्य स्वरसात् स्वेच्छातो विनश्वर वस्त्वर्थं सुरेश्वर शक्रोऽपि प्रतिकर्तुं नेश्वरो न शक्त इत्यर्थान्तरन्यास । ईदृशी भवितव्यतेति भाव ॥ १२६ ॥

अन्वय—अनया चेतनया मम श्रम फली, बलीयसा वेधसा च स एव अलोपि, दैवस्वरसात् विनश्वर वस्तु सुरेश्वर अपि प्रतिकर्तुं न ईश्वर ।

हिन्दी—इस चेतना से कि 'मैं नल इस समय दूत हूँ', मेरा श्रम सफल होता, किन्तु बली विधाता ने उसका ही लोप कर दिया । दैवेच्छा से बिनाशित वस्तु की रक्षा करने मे देवराज भी समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी—नल का भाव यह है कि जो भी अपराध हुआ, उसकी इच्छा से नही हुआ । बलवान् दैव ने उसकी चेतना—समझ ही समाप्त कर डाली । दैवेच्छा का प्रतिकार तो इन्द्र से भी सभव नही, नल—एक मनुष्य की तो क्षमता ही क्या ? उसका कोई अपराध नही है । मल्लिनाथ और विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास अलकार का निर्देश किया है ॥ १२६ ॥

इति स्वय मोहमयोर्मिनिर्मित्त प्रकाशन शोचति नैषधे निजम् ।
तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया दयालुरागाल्लघु हेमहसराट् ॥१२७॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थ नैषधे नले मोहमयोर्मिणा अज्ञानविलसितेन निर्मित निजमात्मीय स्वय प्रकाशन स्वस्वरूपप्रकटन प्रति शोचति व्यथमाने सति दयालुर्हेमहसराट् सुवर्णराजहस तथा व्यथामग्नस्य तस्य नलस्योद्दिधीर्षया उद्धर्तुमिच्छया, धरतरुत्पूर्वात् सन्नन्तात् स्त्रियामप्रत्यये टाप् । लघु क्षिप्रमागा दागत ॥ १२७ ॥

अन्वय—नैषधे इति मोहमयोर्मिनिर्मित निज स्वय प्रकाशन शोचति दयालु हेमहमराट् तथाव्यथामग्नतदुद्दिधीर्षया लघु आगात् ।

हिन्दी—निषधराज नल के मोह (अज्ञान) की तरगों के कारण हुए अपने स्वयप्रकाशन' (अपना 'नल नाम' स्वय कह देने) पर 'शोच' (निन्दा) करने पर दयालु स्वर्णहसो का राजा उस अनिर्वचनीय पीड़ा मे मग्न उस (नल) का उद्धार करने की इच्छा से (स्वनिन्दा से विरत करने के लिए) शीघ्र आ पहुँचा ।

टिप्पणी—स्वर्णहंस ने ही दमयन्ती को नल संदेश पहुँचाकर नल का कार्य किया था, इस समय भी पश्चात्ताप करते—पछताते नल नल की पीड़ा दूर करने वह आ गया। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और छेकानुप्रास।१२७।

नभः स नलस्य दोर्भ्यां दर्शित स एष पक्षीति मानलमन्वभात्।
नयादनेनापि मा निराननामभून् विहायनेकशतः पर पशून् ॥१२८॥

जीवातु—नभसीति। स राजहंस तस्य हंसस्य पक्षरवं निनिर्देशं वीक्षन इति बोधित्य नथा एव स सर्वोपकारी पक्षीति मनन्तमेव नलमन्वभात् अनिहितवान्। हे अदय! निर्दय! एना दमयन्तीमतिनिराशतां नैराश्य मा नय प्रापय। कुत्र कन विरलिय पर केवलमसून् प्राणान् विहाता विमुञ्चति। जहातेर्लृट्। दमेतदाभना न शङ्कितव्या स्वया नैवनाशास्केद कार्यं इत्यर्थं ॥

अन्वय—नभसि दोर्भ्यां दर्शितात् एष स पक्षी—इति मानं नल स अन्वनात्—पश्य, एनाम् अतिनिराशतां मा नय, अत परम् इय परम् असून् विहाता।

हिन्दी—इस (स्वर्णहंस) के पक्षों के शब्दों से (आकृष्ट हो) ऊपर (आकाश की ओर) देखते और 'यही वह पक्षी है'—ऐसा कहते नल से वह (स्वर्णहंस) बोला—अरे निर्दयी, इसे (दमयन्ती) को बहुत निराश मत करो। इसके अनन्तर (और अधिक निष्ठुरता अथवा कहने पर यह प्राण भी छोड़ देगी।

टिप्पणी—भाव यह है कि स्वर्णहंस ने कहा कि नल अब सीमा से आगे जा रहा है। इतना निर्मम होना ठीक नहीं। ऐसी निर्दयता यदि नल और दिखायेगा तो दमयन्ती प्राण दे देगी। इस प्रकार न केवल नल को ही होगा, वह स्वयम् एक ऐसी स्त्री की हत्या का अपराधी होगा, जो संसार में अनुपम है। स्त्रीवध का पातक नल पर होगा, अतः अब वह निर्मम व्यवहार अधिक नहीं रखना चाहिए। तृतीय चरण के 'अति निराशतां' प्रयोग पर आपत्ति करते हुए पुरुषोत्तम के मत से नारायण ने यह वाक्य व्याकरण विरुद्ध बताया है कि 'वे प्राप्याठो' (अष्टा १।४।८०) नियम के अनुसार 'निराशतां मा अतिनय' वाक्य होना चाहिए। समाधान में उसने कहा है कि महाकवि द्वारा प्रयुक्त होने पर, ऐसा व्यवहित प्रयोग भी

साधु है—'महाकविप्रयोगाद्ध्यतहितानामपि प्रयोग साधु'।' पदच्छेदान्तर से इस वाक्य के अन्यार्थ भी उन्होंने किये हैं—(१) 'अतिमानिराशताम्'—अतिशयिता मा शोभा राजलक्ष्मीर्वा यस्या सा अतिमा इयमित्यस्य विशेषणम्। एनामनिराशता नयेत्यन्वय । अर्थात् जिनकी शोभा या राजलक्ष्मी अतिशय है, ऐसी दमयन्ती को अनिराशा को प्राप्त करा (२) 'अतिम + अनिराशता नय'—हे अतिम (अतिसुन्दर—अतिशयिता मा यस्य स), इसे अनिराशा को प्राप्त करा। (३) इससे यह सूचित किया गया है कि अतिसुन्दर होने के कारण नल ही दमयन्ती के योग्य है, अन्य कोई नहीं। (४) 'अत पर निराशताम् एनां नय, अतिमा परम् असून् विहाता'—इससे अधिक निराश भाव पर इस पहुँचाया कि यह 'अतिमा' (अतिसुन्दरी दमयन्ती) प्राण भी छोड़ देगी और ऐसी सुन्दर वस्तु वृथा चली जायेगी। वस्तुत लौकिक संस्कृत मे उपसर्गादि धात्वादि के पूर्व प्रयुक्त होने लगे, वैदिक संस्कृत मे यह मान्यता नहीं थी। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलकार अनुप्रास है ॥१२८॥

सुरेषु पश्यन्निजनापराधतामियत्प्रयस्यापि यदर्थसिद्धये ।
न कूटसाक्षीभवनोचितो भवान् मता हि चेत शुचितात्मसाक्षिका ॥१२९॥

जीवातु—सुरेष्विति। हे *नल!* भवान् तदर्थस्य सुरकार्यस्य सिद्धये इयदेतावद् प्रयस्याप्यायस्यापि, यसु प्रयत्न इति धातो समासे क्त्वो ल्यबादेश । सुरेषु विषये निजां सापराधतामेव पश्यन् उत्प्रेक्षमाण सन् कूटसाक्षीभवनस्य कपटसाक्षीभावस्य। अभूततद्भावे च्विः । उचितो य अनपराधिन्यात्मपराधोत्प्रेक्षित्वमेव कूटसाक्षित्व तत्ते अनुचितमित्यर्थ । तथा हि—सता चेत शुचिता चित्तशुद्धि आत्मसाक्षिका स्वप्रमाणिका हि स्वय प्रमितेऽर्थे किं विचारणयेत्यर्थ ॥ १२९ ॥

अन्वय —भवान् तदर्थसिद्धये इयत् प्रयस्य अपि सुरेषु सापराधता पश्यन् कूटसाक्षीभवनोचित न, हि सता चेत शुचिता आत्मसाक्षिका ।

हिन्दी—आप (नल) को उन (देवों) की कार्यसिद्धि के निमित्त इतना (अत्यधिक) प्रयत्न करके भी देवों के प्रति अपने को सापराध देख कूटसाक्षी (झूठा गवाह, जो अन्य के निमित्त झूठ बोलता है) होना उचित

नहीं, क्योंकि सज्जनों की चित्त-शुद्धि स्वतः प्रमाण (अपनी साक्षी स्वयम्) होती है।

टिप्पणी—कालिदास ने कहा है—'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।' (अभिज्ञानशाकुन्तलम्)। सन्देहजनक स्थितियों में सज्जनों का अपना चित्त ही प्रमाण होता है। हंस ने भी ऐसी ही नीति का अनुकरण करके नल को बोध दिया कि वह निर्दोष है। वह स्वयं जब ऐसा मानता है, तो और किसी के कहने पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। क्या वह दूसरे के लिए अलौकिकमायण करके उसकी जन्मसिद्धि कर रहा है और स्वयं को और दमयन्ती को व्यथित कर रहा है? नल ने निष्कपट भाव से यथासम्भव दूतकार्य सम्पन्न किया। वह इस तथ्य का स्वयं साक्षी है। देव भी यह स्वीकारेंगे, भले ही सामान्य लोग न मानें। उसको क्या चिन्ता? विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ १२९ ॥

इतीरिणाऽऽपृच्छ्य नलं विदर्भजामपि प्रयातेन खगेन सान्त्वितः।
मृदुस्वभावे भगिनीं दमस्य स प्राप्य चित्तेन हरिन्मनीलिपः ॥१३०॥

जीवातु—इतीति। इतीरिणा इत्यवादिना नलं विदर्भजामपि भैमीं चापृच्छ्यामन्त्र्य प्रयातेन प्रस्थानप्रवृत्तेन खगेन हंसेन सान्त्वितो बोधितः स नृपश्चित्तेन हरिन्मनीनिन्द्रादीन् प्राप्य मृदुस्वभावं तत् दमस्य भगिनीं बभाषे ॥१३०॥

अन्वय—इति ईरिणा नलं विदर्भजाम् अपि आपृच्छ्य प्रयातेन खगेन सान्त्वितः स नृपः चित्तेन हरिन्मनीन् प्राप्य मृदु दमस्य भगिनीं बभाषे।

हिन्दी—इस प्रकार कह नल और विदर्भपुत्री (दमयन्ती) से भी अनुमति लेकर गये पक्षी (हंस) से सान्त्वना प्राप्त कर वह राजा (नल) मन ही मन दिक्पालों को प्राप्त करके कोमल स्वर में दम की बहिन (दमयन्ती) से बोला।

टिप्पणी—हंस के दाद देने पर नल आश्वस्त हुआ और उसने अपने को अपराध-बोध से मुक्त माना और वह निर्भयतः छोड़ दमयन्ती से कहने लगा।

दरेऽपि तुल्यं त्वयि मे कदर्थना सुरेषु रागप्रकटादवेक्षिणी।
स्वदङ्गदर्पेण भजन्तु वा दया विशन्तु वा दण्डमसौ ममागसाम् ॥१३१॥

जीवातु—दर इति। हे प्रिये सुरेषु विषये रागप्रकटे अनुरागजनने अव-

केशिनी वन्ध्या असमर्था इत्यर्थः । 'वन्ध्योऽफलोऽवकेशी च' इत्यमरः । कियती- रियत्तारहिता इत्यर्थः, कदर्थना कुत्सना । अश्लीलप्रयोगानिति यावत् । तुभ्यं केवल प्रियार्हायै इति भावः । ददेऽपि ददाम्यपि अतिगर्हितमाचरामीत्यर्थः । अपि गर्हायाम् । 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति विश्वः । किन्त्वेवं सति अमी देवा अदम्भेनाकपटेन दूत्येन दूतकर्मणा 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोप- धयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः । दयां वा भजन्तु आगसा अपराधेन मम दण्डं दण्डं वा दिशन्तु, इतः परमिमां तु न कदर्थयामीति भावः ॥ १३१ ॥

अन्वय—तुभ्यम् अपि सुरेषु रागप्रसवावकेशिनी कियती कदर्थना ददे, अमी अदम्भदूत्येन दयां वा भजन्तु, आगसा मम दण्डं वा दिशन्तु ।

हिन्दी—तुम (दमयन्ती) को भी देवों में अनुराग उत्पन्न करने में विफल कितनी पीडाएँ दूँ, ये (देव) निष्कपट (मेरे) दूत-कार्य संपादन के कारण चाहे दया करें, चाहे (स्वनाम प्रकाशन रूप) अपराध के कारण मुझे दंड दें ।

टिप्पणी—नल ने यथाशक्ति प्रयत्न किया कि दमयन्ती दिक्पालाभिमुख हो सके, किन्तु वह विफल हुआ । इसके विपरीत दमयन्ती को इस मार्ग से इतनी व्यथा हुई कि नल ने भ्रान्त होकर स्वनाम-प्रकाशन कर दिया । उसने समझ लिया कि इस विषय में और कुछ कहना करना दमयन्ती की असह्य व्यथा का ही कारण बनेगा, देवों के प्रति अनुरागिणी वह नहीं हो सकेगी । अब उसने अन्ततोगत्वा यह निर्णय प्रकट कर दिया कि इस विषय में और कुछ कहकर वह दमयन्ती को पीड़ा देना अनुचित मानता है । इससे स्वयम् नल को भी दुःख होता है । क्योंकि वह प्रिया की वेदना सह नहीं सकता । उसने निष्कपट भाव से कर्तव्य निर्वाह कर दिया । यह देवों की इच्छा है कि वे नल पर दया करें या अपराधी मानकर दंडित करें । नल अब इसकी चिन्ता नहीं करता । वह दंड सह लेगा, दमयन्ती का दुःख नहीं देख पायेगा । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १३१ ॥

अयोगजामन्वभव न वेदनां हितायमेऽभूदियमुन्मदिष्णुता ।
उदेति दोषादपि दोषलाघवं कृतत्वमज्ञानवशादिवेनसः ॥१३२॥

जीवातु—अयोगजामिति । इयमुन्मदिष्णुता उन्मत्तता । 'अलङ्कृञ्' इत्या-

विना इत्युत्प्रेक्षा । मे हितायोन्मादोऽभूत् । कुतः, अयोगजा वियोगोत्था वेदना नान्वभवम् । तथा हि—अज्ञानवशात् अज्ञानवशादेव पापस्य ज्ञानकृतापेक्षयाल्पत्वमिव दोषादुन्माददोषादपि दोषस्य वियोगदुःखस्य लाघवमल्पत्वमुदेति तस्माद्दोषोऽपि कदाचिद्गुणः स्यादिति भावः ॥ १३२ ॥

अन्वयः—इयम् उन्मदिष्णुता मे हिताय अभूत्, अयोगजां वेदनां न अन्वभवम् अज्ञानवशात् एनसः इव लघुत्वम् इव दोषात् अपि दोषलाघवम् उदेति ।

हिन्दी—यह उन्माद मेरे (नल के) हित का निमित्त हुआ, क्योंकि (इससे) वियोगजन्य व्यथा का अनुभव न हो पाया । अज्ञान में हुए पाप की अल्पता के तुल्य दोष से भी दोष की अल्पता उत्पन्न होती है ।

टिप्पणी—नल जो उन्माद की अवस्था में रहा, उसे भी उसने गुण माना, क्योंकि उस स्थिति में उसे दमयन्ती के वियोग की व्यथा का अनुभव नहीं हो सका । कभी-कभी दोष भी दोष को छोटा बना देता है और इस प्रकार गुण बन जाता है । अज्ञान भी दोष है और पाप करना भी, परन्तु अज्ञान में किया पाप उतना बड़ा नहीं माना जाता, जितना कि ज्ञान रहते किया जाए । इस प्रकार अज्ञान-दोष पाप-दोष को छोटा बनाने वाला हुआ और गुण बन गया । ऐसे ही उन्माद-दोष विरह-वेदना दोष को छोटा बनाने वाला प्रमाणित हो, गुण बन गया । विद्याधर के अनुसार उल्लासालङ्कार ॥ १३२ ॥

> तवेत्ययोगस्मरपावकोऽपि मे कदर्थनात्यर्थतयागमद्दयाम् ।
> प्रकाशमुन्माद्य यदद्य कारयन्ममात्मनो मामनुकम्पते स्म सः ॥१३३॥

जीवातु—तवेति । हे प्रिये ! तवेत्थं तव कदर्थनाया मदीयाप्रियोक्तिजन्यदुःखनाया अत्यर्थतया अत्यातिरेकहेतुना मे मम सम्बन्धि अयोगो यः स्मरपावकः कामाग्निः सोऽपि दयामगमत् दयालुरभूदित्यर्थः । यद्यस्मादद्य स कामाग्निः (प्रयोजककर्ता) उन्मादं मामुन्मत्तं कृत्वा मया प्रयोज्येन आत्मनो मत्स्वरूपस्य प्रकाशं प्रकाशनं कारयन् त्वामनुकम्पते स्म । तस्मात् कामाग्नेरपि दयोत्पत्तेरुत्प्रेक्षा । किं बहुना उन्मादप्रसादात् उभावप्यावां कृतार्थौ स्व इति तात्पर्यम् ॥ १३३ ॥

अन्वयः—इति तव कदर्थनात्यर्थतया मे अयोगस्मरपावकः अपि दयाम्

अगमत्, यत् अद्य उन्माद्य मया आत्मन प्रकाश कारयन् स माम, अनुकम्पते स्म।

हिन्दी—इस प्रकार (पूर्वश्लोकोक्त कारण से) तुम्हारी (दमयन्ती की) पीडा की अतिशयता से मेरे वियोगकामानल ने भी दया की, जो आज उन्मत्त करके मेरे द्वारा आत्म प्रकाश कराते उस (वियोगस्मरपावक) ने भी मुझ पर कृपा की।

टिप्पणी—दोष के गुण होने का एक और उदाहरण नल ने दिया। *दमयन्ती की अतिशय पीडा, दमयन्ती नल का दहना वियोग कामानल, नल* द्वारा आत्म नाम प्रकाशन—ये सब दोष हैं, किन्तु ये भी गुण बन गये। दमयन्ती के पीडाधिक्य के कारण, उत्पन्न विरहकामाग्नि ने नल को उन्मादी बना दिया, जिससे आविष्ट हो उसने स्व नाम प्रकाशन किया, जिससे नल को पहिचान कर दमयन्ती के प्राणों की रक्षा हुई और नल की भी। दमयन्ती के न रहने पर नल की मृत्यु भी हो जाती। इस प्रकार से यह दोष परस्पर कारणभूत होते हुए दमयन्ती नल को आत्मरक्षा-रूप गुण बन गये। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ १३३ ॥

अमी समीहैकपरास्तवामरा: स्वकिङ्करं मामपि कर्तुमीशिषे।
विचार्य कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृतानुतापस्त्वयि पाणिविग्रहम् ॥

जीवातु—अमी इति। अमी अमरास्तवसमीहाया त्वत्कृतानुरागे एकपरा एकाग्रास्ते च त्वामपेक्ष ते इत्यर्थ। त्वञ्च मामपि स्वकिङ्करं निजदासं कर्तुमीशिषे शक्नोषि अपि शब्दात्तानपीत्यर्थं। 'ईश से' इतीडागम। किन्तु विचार्य विमृश्य कार्यं सृज उत्पादय। अत अनुतापं पश्चात्ताप कृत सन् त्वयि पाणिविग्रहं पाणिग्राहकत्वं मुधा माविधात् माकार्षीत्। अविमृश्यकरणात्पश्चात्तापस्ते मा भूदित्यर्थ। विपूर्वाद्दधातेर्लुङि 'न माङ्योग' इत्यडभाव ॥ १३४ ॥

अन्वय—अमी अमरा तव समीहैकपरा, माम् अपि स्वकिङ्करं कर्तुम् ईशिषे, विचार्य कार्यं सृज, कृतानुताप त्वयि पाणिविग्रहं मुधा मा विधात्।

हिन्दी—ये देव तुम्हारी ही कामना कर रहे हैं, (तुम दमयन्ती) मुझे

भी अपना दास बनाना चाहती हो, (सो) विचार करके न्याय करो, पश्चात्ताप तुम पर पीछे से प्रहार करने वाले शत्रु के समान वृथा विरोधन करे।

टिप्पणी—नल ने बताया कि समस्या कुछ कठिन है। देव दमयन्ती की इच्छा के विरुद्ध उसके अभिलाषी हैं, वह नल को वरना चाहती है, नल ने भंगिमा से अपनी अभीप्सा भी प्रकट कर दी। देवों के क्रुद्ध हो जाने पर अनिष्ट सम्भव है। उचित यही है कि कार्य करने के पूर्व अच्छी तरह परिणाम पर विचार कर लिया जाय, अन्यथा पछताना पड सकता है। पश्चात्ताप 'पार्ष्णिग्राह' अर्थात् पीछे रहकर वार करने वाले शत्रु के तुल्य है, उससे सावधान रहना चाहिए। भाव यही है कि बिना विचारे निर्णय मत लो, इससे पश्चात्ताप होगा। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास अतिशयोक्ति ॥ १३४ ॥

उदासितेनेव मयेदमुच्यते भिया न तेभ्यः स्मरतानवान्नवा।

हितं यदि स्यान्मदसुव्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये ॥१३५॥

जीवातु—एतच्च माध्यस्थेनैवोच्यते न तु पक्षपातेनेत्याह—उदासितेति। उदासितेनोदासीनेन माध्यस्थ्येनैवेत्यर्थः, भावे क्तः कर्तरि वा। उदासितेन मध्यस्थेनैव मया इद पूर्वोक्तमुच्यते। वचे कर्मणि लटि यजि 'वचिस्वपी' इत्यादिना सम्प्रसारणम्। तेभ्यः सुरेभ्यः भिया वा स्मरतानवात् कामप्रयुक्तकार्श्याद्वा न। मुखादित्वादण्प्रत्ययः। किन्त्वाहितमृदय कुर्विति भावः। जय विमृश्यैव कुर्वे त्वदर्पणमेवेति निश्चयस्तत्राह—मदसुव्ययेन मत्प्राणसमर्पणेन ते तव हित पथ्यं प्रियं यदि स्यात्। यदा मत्प्राणसमर्पणमिति शेषः। तव प्रेमणि विषये शुद्धिलब्धये आनृण्यलाभाय भवति। त्वत्कृतानुरागोपकारस्य प्राणसमर्पणमेव प्रत्युपकार इति भावः ॥ १३५ ॥

अन्वय—उदासितेन इव मया इदम् उच्यते, तेभ्यः भिया न, स्मरतानवात् वा न, यदि मदसुव्ययेन ते हितं स्यात् तदा तव प्रेमणि शुद्धिलब्धये।

हिन्दी—मैं जो कह रहा हूँ (पूर्वोक्त श्लोक में), वह एक तटस्थ (मध्यस्थ) व्यक्ति की दृष्टि से, उन (देवों) से डरकर अथवा कामजन्य तनुता (कृशता) के कारण नहीं (अथवा देवों के अथवा स्मरतनुता के भय से नहीं)। यदि मेरे प्राणों के व्यय से तेरा (दमयन्ती) का कल्याण हो सके तो वह तेरे प्रेम में शुद्धि (सद्भाव अथवा अनृणता) की प्राप्ति के निमित्त।

टिप्पणी—नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के सम्मुख जो देवों के वरने अथवा स्वयम् नल को ही वरने में विचारपूर्वक निर्णय लेने का प्रस्ताव रखा है, वह एक तटस्थ की सम्मति है, जिसका किसी पक्ष के प्रति बल नहीं होता—एक निष्पक्षपाती की सम्मति। इससे यह न समझा जाय कि नल देवों से अथवा कामपीड़ा से आतंकित हो ऐसा कह रहा है। दमयन्ती के प्रति अनुराग भी उसका कम नहीं है। पर नल दमयन्ती का हित चाहता है। उसका कल्याण जिसमें हो, वह करे। नल का प्रेम स्वार्थी नहीं है, नल दमयन्ती के कल्याणार्थ अपने प्राण देकर अपने प्रेम की शुद्धता प्रतिपादित करेगा, उससे उसका प्रणय ही ऋणमुक्त होगा। सच्चा प्रेमी अपने प्रेमाश्रय के हित के लिए प्राण देने में नहीं चूकता, इसके विपरीत उसे प्रेम में बलि देकर प्रसन्नता ही होती है। नल की भी यही स्थिति है, वह दमयन्ती के हितार्थ सर्वस्व त्याग सकता है—धन सम्पत्ति भी, प्राण भी। दमयन्ती ने अमूल्य दुर्लभ प्रणय देकर जो नल पर उपकार किया है, उसका ऋण प्राण देकर भी चुकाने को, गौरव और हर्ष के साथ, नल उद्यत है। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-अतिशयोक्ति-उपमालङ्कार ॥ १३५ ॥

इतीरितैर्नैषधसूनृतामृतैर्विदर्भजन्मा भृशमुल्ललास सा ।
ऋतोरधिश्रीः शिशिरानुजन्मनः पिकस्वरैर्दूरविकस्वरैर्यथा ॥१३६॥

जीवातु—इतीति । इतीत्थमीरितैरभिहितैर्नैषधसूनृतैः सत्यप्रियवाक्यैरेवामृतैः सा विदर्भजन्मा वैदर्भी शिशिरमनु जन्म यस्य तस्य शिशिरानुजन्मनः शिशिरानन्तरभाविनः ऋतोर्वसन्तस्याधिका श्रीर्दूरविकस्वरैरतिश्लाघ्यैः पिकस्वरैर्यथा कोकिलकूजितैरिव भृशमुल्ललास जहर्ष । अत्र सूनृतानामुपमानभूतकोकिलालापवत्तादात्म्यस्वेनातिश्राव्यत्वद्योतनार्थं वसन्तस्य शिशिरानुजन्मत्वेन व्यपदेशः ॥ १३६ ॥

अन्वय—शिशिरानुजन्मनः ऋतोः अधिश्रीः यथा दूरविकस्वरैः पिकस्वरैः (तथा) सा विदर्भजन्मा इति ईरितैः नैषधसूनृतामृतैः भृशम् उल्ललास ।

हिन्दी—शिशिर के अनन्तर उत्पन्न होने वाले ऋतु (वसन्त) की प्रचुर-शोभा दूर तक कूजित होने कोकिल के स्वरों से जिस प्रकार विशेष उल्लसित होती है, उसी प्रकार वह वैदर्भी (विदर्भोत्पन्ना दमयन्ती) इस प्रकार

(१३१–१३५ श्लोकोक्त) कहे निषधराज (नल) के सत्यवचनामृत से अत्यंत उल्लास को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—वसंतश्री की विशिष्टता कोकिलस्वर से पुष्ट होती है, इसी प्रकार दमयंती को प्रिय के सत्य और दृढ प्रेम से युक्त वचन सुधाधारासम आनन्ददायक लगे और वह प्रसन्नता से जैसे नाच उठी। विद्याधर ने छेका-नुप्रास और उपमा का निर्देश किया है। मल्लिनाथ की टिप्पणी है कि इस श्लोक में सूनृत (सद्‌वचनों) को कोकिलालाप के सदृश कहा गया है, इस तादात्म्य के द्वारा उनकी अत्यंत रमणीयता प्रतिपादनाय शिशिर के अनुजन्मा-न्तर में वसंत का निर्देश किया गया है। शिशिराच्छादिता प्रकृति वसन्त में रमणीयतर हो जाती है। शिशिर का मूलासन, तदनंतर वसंतश्री। नारायण का कथन है कि पिकस्वर से समानता बताकर नल के वचनों का कामोद्दीपक होना सूचित किया गया है। भाव यही है कि तुषाराच्छादिता नलिनी की भांति मुरझायी दमयन्ती नल-वचनामृतधाराओं को पाकर उल्लसित हो गयी॥

नल तदावेत्य तमाशये निजे घृणा विगानञ्च मुमोच भीमजा।
जुगुप्समाना हि मनो द्रुतं तदा सतीधिया दैवतदूतधावि सा ॥१३७॥

जीवातु—नलमिति। तदा नलस्य स्वरूपगोपनकाले दैवतदूतं धावति प्रवर्तत इति दैवतदूतधावि यथा तथा द्रुतं मनः सतीधिया पतिव्रतात्वाभिमानेन हेतुना जुगुप्समाना बीभत्समाना भीमजा तदा नलस्य स्वरूपकथनकाले तं दूत नलमवेत्य बुद्ध्वा निजे आशये घृणा परपुरुष इति जुगुप्सा विगानमात्मनिन्दा च मुमोच॥ १३७॥

अन्वय—तदा तं नलं निजे आशये अवेत्य तदा दैवतदूतधावि द्रुतं मनः सतीधिया जुगुप्समाना सा भीमसुता घृणा विगानं च मुमोच।

हिन्दी—तब (नल के प्रकट हो जाने पर) उस नल को अपने मन में समझकर उस समय (नल के स्वरूप प्रकट न होने पर) देवों के दूत के प्रति दौड़ने वाले चचल मन को सती (प्रतिव्रता नारी) की दृष्टि से घृणित मानती उस भीमपुत्री (दमयंती) ने (मन के प्रति) घृणा और निंदा की भावना का परित्याग कर दिया।

टिप्पणी—जब तक दमयंती को यह ज्ञान न हुआ था कि देवदूत के रूप

क्योंकि दमयन्ती अग को कदव कहा गया। विद्याधर ने अतिशयोक्ति और भावोदय अलंकार का निर्देश किया है ॥ १३९ ॥

मयैव सबोध्य नल व्यलापि यत्स्वमाह मद्वुद्धमिद विमृश्य तत् ।
असाविति भ्रान्तिमसाद्दमस्वसु स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रम ॥१४०॥

जीवातु—मयेति। मया नलमेव सम्बोध्य व्यलापीति यत् तदिद मद्विल पित विमृश्यालोच्यासौ नल मद्बुद्ध स्वसम्बोधनलिङ्गेन मया ज्ञातमेव स्वमात्मानमाह। 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्' इत्यमर। अनया ज्ञातस्य मे किं गोपनेनेति मत्वा नलोऽहमिति कथितवानित्यर्थ। आहेति भूते लल्लक्षणादिति वामन। अत्र तु वर्तमानसामीप्याद्वा गतिरिति। दमस्वसु या भ्रान्तिस्ता भ्रान्तिमसौ नल स्वेन भाषित कथित स्वोद्भ्रमविभ्रमाणा स्वोन्मादविलसिताना क्रम 'अये प्रिये' इत्यादिरलोकोक्तप्रकारो येन स सन् असात् असासीत् अच्छैत्सीदित्यर्थ। स्यतेर्लुङि 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छास' इति वा सिचो लुक्। उन्मादावस्थाप्रकाशनमिति नलवाक्यादेवावगमात्तु स्वेन ज्ञात्वा दूतभ्रान्तिर्निवर्तितेत्यर्थ ॥ १४० ॥

अन्वय—मया एव नल सबोध्य यत् व्यलापि तद् इद विमृश्य असौ मद्बुद्ध स्वम् आह स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रम दमस्वसु इति भ्रान्तिम् असात्।

हिन्दी—मैंने (दमयन्ती ने) ही नल को सबोधन करके जो विलाप किया, उसका विचार करके इस (नल) ने मेरे द्वारा ज्ञात अपने को प्रकट किया,—स्वकथित को अपने उन्माद की विलासलीला बताकर दम की भगिनी (दमयन्ती) के इस भ्रम को नल ने दूर किया।

टिप्पणी—नल ने आत्मप्रकाशन किया। दमयन्ती ने समझा कि उसने जो विलाप (९।८८ १००) किया, उससे द्रवीभूत हो उस नल ने अपने को प्रकट कर दिया (९।१०३)। नल ने कदाचित् यह भी समझ लिया था कि जब दमयन्ती उसे पहिचान हो गयी तो छिपाने से लाभ भी क्या ? और अपना नाम बता दिया—'पुरस्त्वयालोकि नमन्नय न किं नल ?' पर नल ने यह कहकर कि उसने आत्मप्रकाशन करके अच्छा नहीं किया, यह सब मोहमयोर्मिनिर्मित (मोह में पड़कर) हुआ (९।१२२-१२७), दमयन्ती के

उपर्युक्त भ्रम को दूर कर दिया। नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के सम्मुख आत्मप्रकाशन भ्रान्त होकर किया, और इससे दमयन्ती को तुष्टि हुई कि उसके अभिलाषजनित भ्रम के कारण नल ने अपना नाम कह डाला। विद्याधर, के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार छेकानुप्रास ॥ १४० ॥

विदर्भराजप्रभवा ततः परं त्रपासखी वक्तुमलं न सा नलम्।
पुरः स्म सूचेऽभिमुखं यदत्रपा ममज्ज तेनैव महाह्रदे ह्रियः ॥१४१॥

जीवातु—विदर्भेति। सा विदर्भराजप्रभवा वैदर्भी ततः परं नलोऽयमिति ज्ञानानन्तरं त्रपाया सखी लज्जिता सती नलं वक्तुं साक्षात् सम्भाषितुं नालं न शशाक। कुतः, पुरः पूर्वमत्रपा निस्त्रपा सती तं नलमभिमुखं यथा तथा ऊचे इति यत् तेनैव हेतुना ह्रियो महाह्रदे महति लज्जाह्रदे इत्यर्थः। घटस्य रूपनिरूपितवत् कथञ्चिद्भेदनिर्देशः। ममज्ज मग्ना ॥ १४१ ॥

अन्वयः—ततः परं सा विदर्भराजप्रभवा त्रपासखी नलं वक्तुम् अलं न, पुरः अत्रपा यत् तम् अभिमुखम् ऊचे तेन एव ह्रियः महाह्रदे ममज्ज।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नल-निश्चय के अनन्तर) वह विदर्भराज की पुत्री (दमयन्ती) लज्जा की मित्र (लज्जित) हो नल से वार्तालाप करने में समर्थ न हो सकी, पहिले (नल ज्ञान न होने पर) लज्जाहीन हो जो उस (नल) के समक्ष कह गयी थी, उससे ही लज्जा के विशाल तालाब में डूब गयी।

टिप्पणी—जब तक दमयन्ती को यह निश्चय नहीं था कि यह दूत नल है, तब तक दमयन्ती उसे दूत समझ प्रणय, रोष आदि से सम्बद्ध ऐसी अनेक बातें कह गयी थी, जिन्हें एक कुमारी बाला सामान्यतः न कह पाती। अब जब यह निश्चय हो गया कि यह नल ही सम्मुख है, तब उसे उन सबका विचार कर बड़ी लाज लगी कि वह क्या क्या बक गयी? अब लज्जित हो वह नल से कुछ बोल ही न पायी। थोड़ी लज्जा होने पर तो कदाचित् कुछ कह भी पाती पर वह तो लज्जासागर में ही डूब गयी थी। कुछ न बोल पायी। लज्जा दमयन्ती की सखी जो थी, वह पल भर को भी क्यों उसे छोड़ती? विद्याधर के अनुसार विरोधाभास अलंकार ॥१४१॥

नलप्रणाल्यापि न दातुमुत्तरं शशाक सख्या श्रवसि प्रियाय सा।
निहन्य सख्येव तमब्रवीत्तदा ह्रियाधुना मौनधना भवत्प्रिया ॥१४२॥

जीवातु—पदेति । सा भैमी, यदा अपवार्य व्यवधायापि सख्या श्रवसि श्रोत्रे प्रियायोत्तरं दातुं न शशाक तदा सख्येव विहस्य तं नलमवबीत् । किमिति अधुना भवत्प्रिया भैमी ह्रिया मौनघना बद्धमौना, न तु वैराग्याद्द्वेषाद्वेति भावः ॥ १४२ ॥

अन्वय—सा यदा अपवार्य अपि सख्याः श्रवसि प्रियाय उत्तरं दातुं न शशाक तदा सखी एव विहस्य तम् अब्रवीत्—अधुना भवत्प्रिया ह्रिया मौनघना।

हिन्दी—वह (दमयन्ती) जब आड़ का सहारा लेकर भी अथवा मुँह को कुछ तिरछे करके सखी के कान में भी प्रिय (नल) को उत्तर देने में समर्थ न हो पायी, तब सखी ही हँसकर उस (नल) से बोली कि अब आपकी प्रिया लज्जा से मौन हो गयी है।

टिप्पणी—सामान्यतया अभिजात नारियाँ—रानियाँ, राजकुमारियाँ आदि अपनी दासियों और सखियों के माध्यम द्वारा पुरुषों से वार्तालाप किया करती थीं, किन्तु लज्जातिशय के कारण दमयन्ती उस समय ऐसा भी न कर सकी जैसा कि वह पहिले कर चुकी थी (नै० च० ९।३०)। तब उसकी सखी ने स्पष्ट कर दिया कि नल की प्रिया दमयन्ती किसी विराग अथवा द्वेष के कारण नहीं, अपितु लज्जा के कारण चुप्पी साध बैठी है। यह सखी का परिहास भी है कि पहिले तो दमयन्ती इतना सब कह गयी, अब चित्रलिखित जैसी—अथवा पुत्तलिका जैसी चुप बैठी है। 'अपवार्य कथन' अर्थात् 'अपवारित' एक प्रकार की विशिष्ट शैली की नाट्योक्ति होती है, जिसे 'गूढभावयुक्त वचन' कहा गया है। धनञ्जय ने (दशरूपक १।६३-६६) अपवारित को 'नियत-श्राव्य', अर्थात् विशिष्ट व्यक्तियों के द्वारा सुनी जाने योग्य उक्ति का एक भेद माना है। अपवारित अर्थात् मुँह फेर कर कहना। दमयन्ती ने ऐसी शैली का भी उपयोग न किया, इतनी अधिक लज्जा रही थी वह। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १४२ ॥

पदातिथेयीं लिखितस्य ते स्वयं वितन्वती लोचननिर्झरानियम् ।
जगाद या सैव मुखात्मभ त्वया प्रसूनबाणोपनिपन्निराम्यताम् ॥१४३॥

जीवातु—पदेति । इयं भवत्प्रिया लिखितस्य चित्रगतस्य ते पदयोरातिथेयमानतिथिषु साधुन् पाद्यभूतानित्यर्थः । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्'। लोचन-

निर्झरान् बाष्पपूरान् वितन्वती या प्रसूनबाणोपनिषदं कामरहस्यं जगाद त्वदागमात् प्रागपि सेयं सैव प्रसूनबाणोपनिषन्मम मुखात् त्वया स्वयं निशम्यतां श्रूयताम् ॥ १४३ ॥

अन्वयः—इयं लिखितस्य ते पदाभिषेकान् लोचननिर्झरान् वितन्वती या जगाद, सा एव प्रसूनबाणोपनिषद् त्वया मम मुखात् निशम्यताम् ।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) चित्र में अंकित तुम्हारे (नल के) चरणों के अभिषेक (अतिथि-सत्कार के निमित्त पाद्य-चरणोदक) नेत्रों के निर्झरों (आँसुओं) का प्रसार करती जिसे बोली थी, वही कुसुमबाण (काम) की उपनिषद् (कामरहस्य) तुम मेरे (सखी के) मुँह से सुनो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के एकदम चुप्पी साध लेने पर उसकी अन्तरंग सखी ने समयोचितता को ध्यान में रखकर नल से कहा कि इस समय दमयन्ती तो कुछ बोलेगी नहीं, किन्तु पहिले नल के चित्र के सम्मुख अश्रुधारा बहाती कामार्त्ति की प्रकाशिका जिस उपनिषद् अर्थात् कामरहस्य का वह उद्घाटन किया करती थी, वही अब यह उसकी अन्तरंग सखी बताती है । नल को उसे ही सुनना चाहिए । उपनिषद् अर्थात् ब्रह्मरहस्य प्रतिपादक ग्रन्थविशेष । यहाँ काम-ब्रह्म के रहस्य प्रतिपादक आलाप को उपनिषद् कहा गया । यह भी भाव है कि दमयन्ती ने यह, जो भी कहा था, कामपीडित होने से कहा था । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १४३ ॥

अमानि स त्वयि हंस एव मा शशम न त्वद्विरहाग्निशयान् ।
वद चन्द्रवंशस्य वतंस ! मद्विधान्नृशंसता सम्भविनी भवादृशे ॥१४४॥

जीवातुः—अमानयमिति । हे चन्द्रवंशस्य वतंसावतंस ! 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । स हंस त्वद्विरहेणाक्रान्तया प्रायः सन्देशहा मा त्वयि विषये न शशमैव असम्यम् । अन्यथा भवादृशे त्वद्विधे 'त्यदादिषु' इत्यादिना क्विन्प्रत्ययः । 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः । मद्विधाद्विधांनृशंसता घातुकत्वं स्त्रीवधपातकित्वमिति यावत् । 'नृशंसो घातुकः क्रूरः' इत्यमरः । वद सम्भविनी सम्भवति न क्वापि नास्त्येवेत्यर्थः । सज्जनस्य दयानिधेस्तव नेदृक्कार्यं युक्तमिति भावः ॥ १४४ ॥

अन्वयः—स हंसः एव त्वद्विरहाप्तसंशयां मां त्वयि असंशयं न शशंस चन्द्रवंशस्य अवतंस, भवादृशे मद्वधात् नृशंसता क्व सम्भविनी ?

हिन्दी—उस हंस (स्वर्णहंस) ने ही तुम्हारे (नल) के वियोग के कारण जिसका जीवन संशयास्पद हो उठा है, ऐसी मुझको तुम (नल) में निःसंदेह नहीं कहा, अन्यथा हे चन्द्रकुल के अलंकार (नल), आप जैसे (श्रेष्ठपुरुष) में मेरे (नारी दमयन्ती के) वध की निर्दयता कहाँ सम्भव है ?

टिप्पणी—दमयन्ती जो जो कहा करती थी, उसे सखी ने तेरह श्लोकों (१४४-१५६) में बताया। उसने बताया कि विरह-पीडिता दमयन्ती कहा करती थी कि जो स्वर्णहंस नल दूत के रूप में दमयन्ती के पास आया था, उसने निःसन्देह नल के पास लौटकर उन्हें नहीं बताया होगा कि उसके विरह में संतप्त दमयन्ती के प्राणों का भी संशय हो गया है, ऐसी दुःसह व्यथा है उसकी। यदि हंस ने नल को बताया होता तो चन्द्र जैसे अमृतकिरण वंश का अवतंस नल क्या कभी प्रिया की रक्षा करने न आता ? पुण्यश्लोक नल तो निर्दोष पुरुष का वध भी नहीं कर सकता, वह यदि सूचित होता तो व्यर्थ स्त्रीहत्या का कारण क्यों बनता ? निश्चय ही दमयन्ती की पीडा हंसदूत ने नल को नहीं बतायी। वह ऐसा निर्दय हो ही नहीं सकता। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और हेतु अलंकार ॥ १४४ ॥

जितस्त्वयास्येन विधुः स्मरः श्रिया कृतप्रतिज्ञौ मम तौ वधे कृतः।
तवेति कृत्वा यदि तज्जितं मया न मोघसङ्कल्पधरा किलामराः ॥१४५॥

जीवातु—जित इति। विधुश्चन्द्रस्त्वया आस्येन जितः। स्मरः श्रिया सौन्दर्येण जितः। कुतः कारणात् तौ विधुस्मरौ मम वधे कृतप्रतिज्ञौ त्वयि जेतरि स्थिते निरपराधां मां किमिति मारयतः इत्यर्थः। अथ तवेति त्वदीयेति कृत्वा यदि तर्हि मया जितं त्वां विना जीवनाभावात् मरणमेव मे प्रियमित्यर्थः। सेत्स्यति चेत्तदित्याह अमरा मोघसङ्कल्पस्य धरन्तीति धराः, 'पचाद्यच्' न किल। सत्यसङ्कल्पा खलु देवाः, देवौ च विधुस्मराविति भावः। अत्र नलापकारासमर्थयोर्विधुस्मरयोस्तदीयजनापकारकथनात् प्रत्यनीकालङ्कारः। 'बलिनि प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे। यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते।' इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

अन्वयः—त्वया आस्येन विधुः श्रिया स्मरः जितः, कुतः तौ मम वधे कृतनिश्चयौ ? यदि इति त्वत् कृत्वा तद् मया जितम्, अमरा मोघसङ्कल्पता किं न ।

हिन्दी—तुम (नल) ने मुख से चन्द्र को और शोभा से काम को जीत लिया है, किस कारण वे दोनों (चन्द्र-काम) मेरे वध के लिए प्रण किए बैठे हैं ? यदि ऐसा (प्रण) तुमको करके (नल की प्रिया होने के सबब से) है, तो मैं जीत गयी क्योंकि देव निष्फल सङ्कल्प-धारण का निश्चयन नहीं करते ।

टिप्पणी—विरहिणी दमयन्ती को चन्द्र और काम दोनों कष्ट दे रहे हैं, जैसे वे उसको हत्या करना चाहते हैं। नल ने दोनों को पराजित किया है। मुख शोभा से चन्द्र को और शरीर सुन्दरता से काम को। वे जो दमयन्ती के प्राणलेवा शत्रु हो रहे हैं, वह इस कारण कि नल पर तो उनका वश चला नहीं अब उसकी प्रिया दमयन्ती के प्राण लेकर उसका प्रतिकार लें। दमयन्ती सोचती थी कि यदि यह सम्भावना ठीक है तो दमयन्ती की जीत समझिए, क्योंकि देवों का सङ्कल्प—मानसविचार झूठा हो नहीं सकता। उन्होंने दमयन्ती को नल प्रिया मान लिया तो यह झूठा हो ही नहीं सकता। दमयन्ती नलप्रिया होगी ही। दमयन्ती की जीत यही है कि वह नलप्रिया बने। यह भी भाव है कि नल ने जिन चन्द्र-काम को अपने सुन्दरता से ही जीत लिया, उनको दमयन्ती तो जीत ही लेगी। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ प्रत्यनीक अलंकार है, क्या कि नल के बदले में असमर्थ चन्द्र-काम का कथन उस नल की प्रिया के अपकारक रूप में हुआ है। प्रत्यनीक का लक्षण है, है कि बलवान् शत्रु का प्रतिकार असमर्थ होने पर उसके सम्बन्धी का तिरस्कार। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-प्रत्यनीक-सङ्कर अलंकार ॥ १४५ ॥

निजामुनेन्दु वदनेन्दुमण्डलं विधुर्वाञ्छति लञ्छनोज्झितम् ।
त्वदानना कान्तिं नाधवानि कि ववृते पुनः कलङ्कितः ॥१४६॥

जीवातु—निजेति। विधुश्च निर्जरमुनि निर्जनस्य नरस्य मञ्जरी-रन्ध्र नम्रनिर्भञ्जनोन्मुखा स्वकलङ्कनिरनाजनम् 'सिद्धिरादिर्मोऽड्' । मुखं वृथैव वाञ्छति, नन्मुखताम्यार्थमिति शेष । तथा हि—हे प्रिये ! ववनुत्रेन

मद्वधपातकेनैव पुनः कलङ्कितः सन् तावतापि मदङ्गभस्मनोन्मार्जनेनापि त्वदास्यता त्वत्तुल्यतामित्यर्थः । यास्यति प्राप्स्यति किम् ? न यास्यत्येवेत्यर्थः । अत्र विधोर्नलास्यसाम्याय भैम्यङ्गभस्मनि स्वकलङ्कमार्जनाद्वधूवधकलङ्कप्राप्तिवचनादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ॥ १४६ ॥

अन्वयः-विधुः निजांशुनिर्दग्धमदङ्गभस्मभिः लाञ्छनोन्मृजां मुधा वाञ्छति, वधूवधेन पुनः कलङ्कितः किं तावता अपि त्वदास्यता यास्यति ?

हिन्दी—चन्द्रमा अपनी किरणों से जला डाले मेरे अंगों की भस्म से अपने कलंक का मार्जन व्यर्थ चाहता है, नारी हत्या से फिर कलंकित हो क्या उतने से भी तुम्हारे (नल के) मुख के साम्य को प्राप्त कर सकेगा ? (नहीं कर सकेगा) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि चन्द्र दमयन्ती को अत्यंत पीड़ित करता है। कल्पना है कि वह दमयन्ती की देह जलाकर उसकी राख से मांज-रगड़ कर अपना कलंक साफ करना चाहता है। पर, चन्द्र का यह प्रयत्न झूठा और वृथा है, क्योंकि राख से मांजे तो चन्द्र-कलंक मिटेगा नहीं, जिस पर वह सोचता है कि कलंक हट जाने से नल के मुख की समता प्राप्त कर लेगा उलटे स्त्री हत्या के पाप से और द्विगुणित कलंकी वह हो जायेगा। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में विषम अलंकार है क्योंकि चन्द्र को नलमुखसाम्य की प्राप्ति के निमित्त दमयन्ती के अंगों की भस्म से अपने कलंक का मार्जन करते नारी वध कलंक की प्राप्ति का कथन हुआ है, जो अनर्थोत्पत्तिरूप है। विद्याधर ने छेकानुप्रास और गतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥१४६॥

प्रसीद यच्छ स्वकरान् मनोभुवे स हन्तु मा तैर्धृतकौसुमाशुगः ।
त्वदेकचित्तामहमन्यविमुक्तानो त्वमेव भूत्वा तृणवज्जयामि तम् ॥१४७॥

जीवातु—प्रसीदेति । हे प्रिय ! प्रसीद स्वकरान्मनोभुवे मालाय यच्छ देहि । 'पाग्रा'—दिना दाणो यच्छादेश । स कामो धृतकौसुमाशुगः त्यक्तकुसुमबाणैस्त्वच्छर्मां हन्तु हिनस्तु । तस्योपयोगमाह अह त्वय्येकस्मिन्नित्त यस्या ना मती असून् प्राणान् विमुञ्चती त्यजन्ती, 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभाव । अत एव त्वमेव भूत्वा, 'य य वापि स्मरन् भावम्' इत्यादिगीताप्रामाण्यादिति भाव । त काम तृणवत्तृणतुल्य जयामि जेष्यामीत्यर्थः । आशसाया वर्तमानवत्प्रत्यय ॥ १४७ ॥

अन्वय—प्रसीद, स्वशरान् मनोभुवे यच्छ, कुसुमैः मुनाशुग स तैः या हन्तु, त्वदेकचित्ता असून् विमुञ्चती अहं त्वम् एव भूत्वा तं तृणवत् जयानि।

हिन्दी—प्रसन्न हो जाओ, अपने (नल के) बाणों को मनोभू (काम) को दे दो, वे कुसुम-बाण छोड़ना वह (काम) उन (बाणों) से मुझे मार डाले, तुम (नल) में मन लगाकर प्राण छोड़ती मैं (तुम में विलीन हो) तेरा ही रूप प्राप्त कर उसे (काम को) तृणवत्—बिना श्रम के जीत लूँगी।

टिप्पणी-पीड़ित दमयन्ती चाहती है कि काम उसके प्राण ले ले, पर अपनी बाणों से नहीं, नल के द्वारा प्रदत्त बाणों से। नल के बाणों से नल का ही ध्यान करती दमयन्ती यदि मृत्यु को प्राप्त होगी, तो तद्रूप ही हो जायेगी, क्यों कि मरते समय जिसकी भावना जैसी होगी, उसे वैसा ही रूप प्राप्त होगा। नल रूप से पुनर्जन्म प्राप्त करके दमयन्ती काम को जीत ही लेगी अनायास, क्योंकि नल से तो काम सदा पराजित है। यह भी कल्पना है कि काम के बाण फूलों के हैं सो कोमल होने से वे घातक नहीं हैं, केवल पीड़ा देते हैं। यदि नल लौह बाण उसे दे दे तो उनके प्रहार से शीघ्र मर कर दमयन्ती को व्यथा से मुक्ति मिलेगी और पुनर्जन्म में नल रूप में उत्पन्न हो वह काम-जय करेगी। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमालङ्कार॥ १४७॥

श्रुतिः सुराणां गुणगायनी यदि त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं ततः।
स्तवे रवेरप्सु कृतात्मने कृते न मुद्वती जातु भवेत् कुमुद्वती॥१४८॥

जीवातु—ननु श्रुतयोऽपि देवानेव गायन्ति किमिति वृतेषु देवदेवेषु विरागेनत्व आह—श्रुतिरिति। श्रुतिर्वेदोऽपि सुराणां गुणगायनी गुणस्तोत्र्येव यदि, कर्तरि ल्युट्, टिड्ढाद् ङीप्। त्वदङ्घ्रौ मग्नस्य त्वच्चरणैकशरणस्य जनस्य स्वस्येत्यर्थः। ततः किं तेनैव कोऽर्थः इत्यर्थः। तथा हि—अप्सु कृतात्मनि कृतावगाहे जने रवेर्बर्हिस्य स्तवे स्तोत्रे कृते सति कुमुदा यस्यां सन्तीति कुमुद्वती कुमुदिनी, 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' टित्वेन ङीप्। जातु कदापि मुदस्यास्तीति मुद्वती मोदवती विकासवती न भवेत्, कथमपीति शेषः। दृष्टान्तालङ्कारो व्यक्तानुक्तम्॥ १४८॥

अन्वय—श्रुतिः यदि सुराणां गुणगायनी, त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य ततः किम्? अप्सु कृतात्मने रवेः स्तवे कृते कुमुद्वती जातु मुद्वती न भवेत्।

हिन्दी—वेद यदि देवों के गुणों के गायक (स्तुतिकर्त्ता) हैं, तो तुम्हारे (नल के) चरणों में अनुरागी इस जन (दमयन्ती) को उससे (श्रुति देव-गुण गायन से) क्या प्रयोजन ? (कुछ भी नहीं ।) । जल में स्नान किये व्यक्तियों द्वारा सूर्य की स्तुति किये जाने पर कुमुदिनी कभी प्रसन्न नहीं होती ।

टिप्पणी—नल ने विविध तर्क देते हुए दमयन्ती द्वारा देववरण को उचित ठहराया था, उसका ही निराकरण दमयन्ती का भाव प्रकट करती दमयन्ती की सखी ने बताया कि देव चाहे जितने श्रेष्ठ हों, दमयन्ती तो नल की एकनिष्ठ अनुरागिणी है, देवों से और उनकी गुण-परम्परा से उसे कोई प्रयोजन नहीं । वेदों में अग्नि, इन्द्र आदि देवों की स्तुतियाँ हैं । ऋग्वेद स्तुति प्रधान है । उसकी प्रथम ऋचा 'अग्निमीडे ' इत्यादि अग्नि की स्तुति है । तो यदि यह कल्पना की जाय कि श्रुतिस्तुत देवों की अवहेलना उचित नहीं, तो ठीक नहीं । सूर्य और कुमुदिनी के उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया गया । सूर्य श्रेष्ठ है, आदि देव है । प्रातः जलाशयों में स्नान कर भक्त उसी की स्तुति किया करते हैं, किंतु चन्द्र की एकनिष्ठ अनुरागिणी कुमुदिनी उन स्तवों को सुनकर सूर्यानुरागिणी नहीं हो जाती । ऐसी ही दमयन्ती की स्थिति है । वह नलानुरागिणी है, उसे वर कर ही प्रसन्न होगी। वस्तुतः बड़ी बात है एकनिष्ठ अनुराग, किसी का अनुसरण नहीं, भले ही वह वेद—जगत्पूज्य क्या न हो । किसी के द्वारा किसी का गुणगान सुनकर अन्यानुरक्त जन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार दृष्टांत अलंकार ॥ १४८ ॥

कथासु शिष्ये वरमद्य न म्रिये ममावनन्तासि न भावमन्यथा ।
त्वदर्थमुक्तासुतयाशु नाथ मा प्रतीपि जीवाभ्यधिक ! त्वदेकिकाम् ॥

जीवातु—कथास्विति । हे नाथ ! शिष्ये कथामात्रशेषा भवामि मरिष्या-मीत्यर्थः । शिष् असर्वोपयोगे इति धातोर्दैवादिकाद् प्राप्तकाले कर्तरि लट् । वरं मनाक् प्रियम् अद्य न म्रिये न स्यास्ये न जिविष्यामीत्यर्थः । मृङ् अवस्थाने इति धातोस्तौदादिकाद् प्राप्तकाले कर्तरि लट् । 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' इति रिङा-देशः । अन्यथा जीवेन परीक्षणे मम भावमाशय नावगन्तासि नावगमिष्यसि, गमेर्लुटि सिप् । त्वदर्थे तुभ्य मुक्तासुतया त्यक्तप्राणतया आशु मा हे जीवाभ्य-

दिक ! अत एव त्वमेवैको मुख्यो यस्यास्ता त्वदेकिका त्वदेकानुरागामित्यर्थः शीघ्रमेव दत्तैरसुभिः प्राणैस्त्वदर्थमुत्सृष्टैर्मां त्वदेकिकां प्रतीहि जानीहि ॥ १४९ ॥

अन्वय —कथासु शिष्ये वरम्, अद्य म्रिये न, अन्यथा मम भाव न अव-गम्तासि, नाथ, जीवाम्पधिप आशु त्वदर्थमुत्सृष्टया मा त्वदेकिका प्रतीहि।

हिन्दी—मैं (दमयन्ती) कथाओं में शेष रह जाऊँ (मर जाऊँ)—यह अच्छा है, आज रहूँगी नहीं (मर जाऊँगी), अन्यथा मेरा (दमयन्ती का) आशय तुम (नल) न समझ पाओगे। हे स्वामी, हे जीविताधिप (प्राणप्रिय नल), शीघ्र अपने (नल के) निमित्त प्राण त्याग करने से मुझे तुम स्वैकनिष्ठ (एक तन्मानुरागिणी) मानोगे।

टिप्पणी—दमयन्ती का आशय है कि यदि नल अब भी यह नहीं समझ रहा है—नहीं मान रहा है कि दमयन्ती नल की ही अनुरागिणी है, अतः अपनी निष्ठा नल को दिखाने के लिए शीघ्र प्राण देने की बात करती है, जिससे नल को विश्वास हो सके कि वहीं उसका एक मात्र स्वामी है, प्राणों से और जीवन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। तभी तो दमयन्ती उनके लिए प्राण भी दे देना चाहती है। तृतीय चरण का पाठान्तर है—त्वदर्थमुक्तासुतयासुनाथ। नारायण ने 'सुनाथ का एक अर्थ शोभनस्वामी किया है और "सुतया—असुनाथ' पदच्छेद करके असुनाथ अर्थात् प्राणों का स्वामी भी। भाव यह है कि शोभन स्वामी और प्राणों के नाथ का विश्वास प्राप्त करने के लिए सेवक के समान दमयन्ती भी प्राण देना उचित समझती है। 'असुनाथ' का 'न सुनाथ असुनाथ ' विग्रह करके 'बुरास्वामी' भी अर्थ लिया गया है, अर्थात् नल अच्छा स्वामी नहीं है। सुनाथ तो किसी कार्य से सेवक का स्वानुराग जान लेते हैं, पर असुनाथ (बुरास्वामी) अथवा असु अर्थात् प्राणों का नाथ बिना स्वप्राणदान के इस एकनिष्ठानुराग को नहीं समझ पाते। सो दमयन्ती अब नल के निमित्त प्राण दे देना उचित समझती है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ १४९ ॥

महेन्द्रहेतेरपि रक्षणं भयाद्यदर्थिसाधारणमस्त्रमृद्व्रतम्।

प्रसूनबाणादपि मामरक्षतः क्षतं तदुच्चैस्तव कीर्तिनिस्तवम् ॥१५०॥

जीवातु—महेन्द्रेति। महेन्द्रहेतेर्वज्रायुधादपि यद्भयं तस्माद्रक्षणं, 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' इति क्रमादुक्तपञ्चापादानत्वात् पञ्चमी। अर्थिसर्वदिमात्रेषु

द्रुमकाण्डानां वृक्षस्कन्धानाञ्च मण्डलं समूहं तृणेढि हिनस्ति दहति खल्विस्यर्थः। तृहि हिंसायां लट् 'रुधादिभ्य श्नम्' 'तृणह इम्' गुणश्नस्वादिकार्यम्। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५२ ॥

अन्वय—बुधैः लघौ लघौ एव परे पुरः आत्मनेऽपि उत्तेजनं विधेयम्, ज्वलन् तृणे ज्वलन् क्रमात् खलु करीषद्रुमकाण्डमण्डलं तृणेढि।

हिन्दी—पण्डितों को छोटे-से-छोटे ही शत्रु के प्रति पहिले अपने तेज की उत्तेजना करनी चाहिए, अग्नि (पहिले) तिनके में जलता हुआ धीरे-धीरे (क्रम से) निश्चयतः सूखे गोबर (उपले) और वृक्षों के लट्ठों को जला देता है।

टिप्पणी—यह समझ कर कि काम पुष्पबाण—सुकुमार अस्त्रधारी छोटा, नगण्य चण्डाल है, उसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं। समझदार व्यक्ति पहिले अपना तेजोमय रूप—बल छोटे शत्रुओं पर ही प्रकट करते हैं, इसी क्रम से वे बड़े शत्रुओं का भी नाश कर डालते हैं। उदाहरण है अग्नि का, जो पहिले तिनका घास जला, क्रमशः कण्डे, लकड़ियाँ, मोटे मोटे वृक्षों के स्कन्ध-कुन्दे लट्ठे भी भस्म कर देता है। अतः हीन होने से काम की अवगणना ठीक नहीं। मल्लिनाथ के अनुसार विशेष से सामान्य समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है।

सुरापराधस्तव वा कियानयं स्वयंवरायामनुकम्पता मयि।
गिरापि वक्ष्यन्ति मुखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥१५३॥

जीवातु—सुरेति। तव स्वयमेव वृणोतीति स्वयंवरा 'पचाद्यच्'। तस्यां मयि अनुकम्पता अनुकम्पित्वं 'शमित्यष्टाभ्यो' इत्यादिना ताच्छील्ये घिनिप्रत्ययः। भावार्थे तल् प्रत्ययः। अयं कियान् सुरापराधः सत्रेऽपितस्यापि मया वृतत्वात्तो कोऽपराध इत्यर्थः। अथापराद्धत्वेऽपि मुखेषु तर्पणात् प्रीणनात् देवास्ते मुखलज्जयैव मुखदाक्षिण्येनैव इदमपराद्धत्वं गिरापि न वक्ष्यन्ति। अपितद्वा मनसापि न स्मरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

अन्वय—वा स्वयंवरायां मयि तव अनुकम्पता अयं कियान् सुरापराधः ? मखेषु तर्पणात् ते देवाः मुखलज्जया एव इदं गिरा अपि न वक्ष्यन्ति।

हिन्दी—अथवा स्वयंवरण में संलग्न मुझ (दमयन्ती) पर तुम्हारी (नल की) दयालुता—यह कितना-सा देवों के प्रति अपराध है? (नहीं

है)। यज्ञों में तर्पण मिलने से वे देव सम्मुख होने की लज्जा से ही इसे (अपराध को) वाणी से भी न कहेंगे।

टिप्पणी—नल ने सम्भावना की थी कि स्वात्मप्रकाशन कर वह देवापराधी बन गया है (९।१२२) दमयन्ती की भावना प्रकट करती दमयन्ती की उक्ति इस कल्पना को निर्मूल बताती है। नल स्वयंवर में पधारें, यह देवापराध नहीं है। यदि है भी तो नगण्य, जिसका उल्लेख वचनों से भी देव नहीं करेंगे। प्रतिदिन नल द्वारा यज्ञों में तर्पण से तृप्त होने देवों को सम्मुख होने की लज्जा तो होगी ही, अतः मन में रखना क्या वे तो इस नगण्यापराध का मुख से उच्चारण भी न करेंगे। स्वेच्छाचरण अपराध नहीं है, और जब दमयन्ती स्वेच्छया नल का वरण करती है, तो नल का क्या अपराध? विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ १५३ ॥

व्रजन्तु ते तेऽपि वरं स्वयंवरं प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यसे।
न सर्वथा तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा ॥१५४॥

जीवातु—व्रजन्त्विति। अथवा हे नल! ते देवा अपि ते तव सम्बन्धिनं स्वयंवरं व्रजन्तु वरं साध्वेवैतदित्यर्थः। कुतः, मया तानेव प्रसाद्य प्रसन्नान् कृत्वा वरिष्यसे। न च ते दुराधर्षा इत्याह—सर्वथा तान् देवानपि दया न स्पृशेदिति न। किं तु स्पृशेदेवेत्यर्थः। सम्भवस्य निवेदननिवर्तने ह्री नलप्रतिबन्धो स्तु। तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा न। लोके त्वां मदनं च विना न कोऽपि निष्कृप इति भावः ॥ १५४ ॥

अन्वय—ते अपि स्वयंवरं व्रजन्तु, वरम्, मया तान् एव प्रसाद्य वरिष्यसे, तान् अपि सर्वथा दया न स्पृशेत्—न, ते अपि तावत् न मदनः वा त्वम् एव।

हिन्दी—वे (देव) भी स्वयंवर में पहुँचें, ठीक है, मैं (दमयन्ती) उन्हें (देवों को) ही प्रसन्न करके (तुम्हारा—नल का) वरण करूँगी। ऐसा नहीं है कि उन्हें किसी प्रकार दया आवे ही नहीं, वे (देवता) भी न मदन (काम) हैं और न तुम (नल) ही।

टिप्पणी—देवगण की इच्छा है कि स्वयंवर में सम्मिलित हों। दमयन्ती कहती है कि उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट करके ही वह स्वेच्छया नल का वरण करेगी। देवता सर्वथा निर्दय नहीं हैं कि प्रसन्न ही न हों। ऐसा कार्य संसार

के प्राण हर रहा है (उसी प्रकार कि जिस प्रकार चण्डाल मधु अर्थात् मद्यप (शराबी) को मित्र बनाकर और स्वयं भी मधुपान कर घर के बीच घुस जाये और किसी के प्राण हरे)। उससे तुम्हारी कीर्ति दिगन्त में व्याप्त हो।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक (१५१) में काम को अनङ्ग चण्डाल और मधु-सखा कहा गया था, उसी को और पुष्ट करती हुई दमयन्ती की सखी ने कहा कि नलानुरागजन्य अतएव नल सबंधी काम निश्चय ही क्रूरबाणों वाला, प्रचण्डबाणवर्षी, छिन्नांगुलि होने से अनङ्ग चण्डाल ही है, इसीसे न तो वह दीखता है, न स्पर्श में आता है। नल से पराभूत है, अतः अंगुलि कटाये चण्डाल बन गया है कि अपराध करके भी बच जाय कि अंगुलि कट कर इसे अपराध का दण्ड मिल गया है। वह काम चण्डाल एक शराबी की भाँति अन्तस् (हृदय, घर) में प्रवेश कर वसन्त ऋतु में दमयन्ती की हत्या अवश्य कर डालेगा और नल का यश अपयश बन चारों ओर फैलेगा कि इसके दास ने एक निरपराधिनी रमणीरत्न की हत्या की है। भाव यह है कि नल सम्बन्धी काम उसकी अनुरागिणी दमयन्ती को प्राणान्तक पीडा दे रहा है, जिससे उसकी मृत्यु हो जायेगी और नल को अयश मिलेगा, सो नल को ऐसा कार्य करना चाहिए कि दमयन्ती की पीडा का शमन हो और नल को अयश न मिले। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा है, क्योंकि चण्डाल-धर्म-योग्य होने के कारण काम की चण्डालभाव से सम्भावना की गयी है, और व्यञ्जक पद का प्रयोग नहीं है। विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है। चन्द्रकलाकार ने अधिवचनस्थान और अन्तस् में रूपक, काम-चण्डाल में उत्प्रेक्षा मानकर दोनों का अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर माना है। मन्दाक्रान्ता छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में सत्रहवर्ण इस क्रम से होते हैं—१ मगण (ऽऽऽ), १ भगण (ऽ।।), १ नगण (।।।), २ तगण (ऽऽ।) २ गुरु (ऽऽ)—मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम् ॥ १५६ ॥

अथ भीमभुवैव रहोऽभिहिता नतमौलिरपत्रपया स निजाम्।
अमरैः सह राजसमाजगतिं जगतीपतिरभ्युपगम्य ययौ ॥१५७॥

जीवातु—अथेति। अथ भैमीवाक्यश्रवणानन्तरं जगतीपतिर्नलः भीमभुवैव

भैम्येव रहो रहस्यनिहिता निजामात्मीयाममरैः सह राजसमाजस्य राजसभाया गतिं प्राप्तिमनत्रपया स्ववरणलज्जया नतमौलिर्नम्रमुखः सन् अभ्युपगम्याङ्गीकृत्य ययौ । तोटकवृत्तम् । 'इह तोटकमम्बुधिसैः कथित' मिति लक्षणात् ॥१५७॥

अन्वय—अथ स जगतीपतिः भीमभुवा एव रहः अनिहिता निजाम् अमरैः सह राजसमाजगतिम् अपत्रपया नतमौलिः अभ्युपगम्य ययौ ।

हिन्दी—इस (सब कथन) के अनन्तर वह जगत्पति (राजा नल) भीमसुता द्वारा ही एकान्त में कथित अपने देवों के साथ राजसभा में पहुँचने को (इन्द्रादि का कार्य न कर पाने की) लज्जा से सिर झुका, स्वीकार करके चल पड़ा ।

टिप्पणी—अब नल विवश था । उसने स्वीकार लिया कि अमरों के साथ उनके प्रतिद्वन्द्वी के रूप में वह भी स्वयवर-सभा में उपस्थित होगा । इन्द्रादि दिक्पालों का दूतत्व वह सफलतया सपन्न न कर सका, अतः लज्जा से सिर झुकाये वह वहाँ से चल पड़ा । विद्याधर के अनुसार सहोक्ति अलङ्कार । तोटक छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं—चार सगण (।।ऽ) ॥ १५७ ॥

त्वदनन्याः प्रियमाप्तुमुद्धुरधियो धाराः सृजन्त्यास्तया-
न्नश्रान्तस्रक्कपोलपालिपुलकैर्वेतस्वनीरश्रुग ।
चत्वारः प्रहराः स्मरार्तिभिरभून् सा यद् क्षपा दुःक्षपा
तत्तस्या कृपयात्रिरूपेव विधिना रात्रिस्त्रियामा कृता ॥१५८॥

जीवातु—त्व इति । त्व परेऽन्यस्मिन् प्रिय मन्मथासमुद्धुरधिय सन्नद्धबुद्धेः अत एव स्पात् प्रवाहवेगाग्नश्रान्तचोन्नाम्नश्च सन्तुरा इत्यर्थ । तौ कपोलपाल्यो गण्डभित्यो पुलकैः रोमाञ्चैर्वेतस्वती वेतसलतावल्लो, 'कुमुदनड्वेतसेभ्यो ड्मतुप्, मादुपधायाश्चे' त्यादिना मकारस्य वकार । अश्रुणो धारा आनन्दबाष्पप्रवाहान् सृजन्त्या जनयन्त्यास्तस्य भैम्या यद् यस्मात् कारणात् चत्वार प्रहरा अपि चतुर्यामसमात्रापीत्यर्थ । सा क्षपा स्मरार्तिभि स्मरपीडाभिर्दुःक्षपा दुर्निवाहाभूद्, तत् तस्मात्तस्या भैम्या कृपया कृपयैवेत्यर्थं । विधिना वेधसा अखिलैव सर्वापि रात्रिस्त्रियामा यामत्रयवत्येव कृता । सत्यमिति शेष । गम्योत्प्रेक्षा ॥ १५८ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । सन्दृब्ध ग्रथितमर्णववर्णनमर्णववर्णनाख्याप्रबन्धो येन तस्येत्यर्थ । 'ग्रथित ग्रथित दृब्धम्' इत्यमर ॥ १६० ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने नवम सर्ग समाप्तः ॥९॥

— ० —

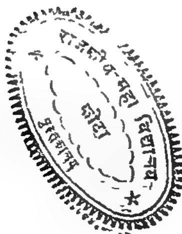
अन्वय—प्रथम दो चरणो का पूर्ववत् । सन्दृब्धार्णववर्णनस्य तस्य चारुणि महाकाव्ये नैषधीयचरिते निसर्गोज्ज्वल नवम सर्गः व्यरसीत् ।

हिन्दी—दो चरणो का अर्थ पूर्ववत् । 'अर्णववर्णन' नामक ग्रन्थ के प्रणेता उस (श्रीहर्ष) के चारु महाकाव्य नैषधीयचरित मे प्रकृतया उज्ज्वल नवम सर्ग समाप्त ।

टिप्पणी—श्रीहर्ष द्वारा 'अर्णववर्णन'—प्रणयन का सकेत ॥ १६० ॥

नैषधीयचरित का नवम सर्ग समाप्त ।

— ·०· —



पद्यानुक्रमणिका

(६-९ सर्गाः)

नैषध-कथासार

(षष्ठ सर्ग)

सुरानिर्भुवनैकदूरस्यतनुरप्युच्चैरदृश्यस्तदा
कक्षाः सप्त वगाह्य भीमदुहितुः प्रासादमासादयन् ।
तां तत्र प्रसमीक्ष्य खण्डनपरा गीर्वाणदूतीगिरा
दूरादुच्छ्वसिति स्म चेतसि मुदा दूनोऽपि दौत्येन स ॥

—श्रीकृष्णरामकवि

देवदौत्य सम्पादन के निमित्त राजा नल कुण्डिनपुर पहुँचे और स्वेच्छया अदृश्य होकर उन्होंने राजमंदिर में प्रवेश कर सात खण्ड पार करते हुए अन्तःपुर में प्रवेश किया। जितेन्द्रिय नल ने वहाँ अनेक प्रकार के रमणीय क्रिया-कलाप देखे, परन्तु उनमें विकृति न आयी। वे वहाँ से चौराहे पर पहुँचे। मार्ग में माँ को प्रणाम करती दमयन्ती को उन्होंने देखा, पर भ्रम के कारण वे उसे पहिचान न सके, अदृश्य रहने के कारण दमयन्ती तो नल को देख सकती ही नहीं थी। घूमने-फिरने नल दमयन्ती के प्रासाद में पहुँचे और सखी समुदाय के मध्य स्थित बैठी दमयन्ती को उन्होंने देखा और पहिचाना। अदृश्य रूप में वहाँ स्थित नल ने देवदूतियों का आगमन देखा। अग्नि, यम और वरुण की दूतियों ने अपने अपने प्रस्ताव दमयन्ती के सम्मुख रखे किन्तु दमयन्ती के द्वारा वे स्वीकृत न हुए। इससे नल को आशा बँधी कि दमयन्ती की प्राप्ति इन्हें सम्भव है। तभी इन्द्र का विशेष संदेश लेकर उसकी दूती आयी, जिसने इन्द्र के महत्त्व का वर्णन कर दमयन्ती को पारिजात की माला भेंट की और इन्द्र को वरने की सम्मति दी। दमयन्ती ने 'मघवत्प्रसाद'-ग्रहण किया, सखियों ने भी दमयन्ती को इन्द्र-वरण की सलाह दी, इससे नल की आशा शिथिल भी हुई, परन्तु दमयन्ती ने इन्द्रदूती को इन्द्र के चरणों की ही शपथ दी कि वह ऐसा प्रस्ताव पुनः न करे। दमयन्ती ने बताया कि वह मन ही मन नल का वरण कर चुकी है। नल को आशा पुनः लौटी, नल के प्राण पुनः वापस आये, जैसे उन्मत्त को बोध आ गया हो।

नैषध-कथासार

(सप्तम सर्ग)

अथान्त तरदन्तरोद्भुतस्तावकप्रारपरान्तरे
प्रत्यारम्य मुखान्नखावधि नैकधा प्रादुराह्यस्तुवन् ।
सा तु व्यवतमम् समीक्ष्य वञ्चिता तद्रूपलुब्धा सखी–
ष्वाश्चर्यस्तिमितासु कोऽसि किमिह प्राप्तोऽस्यपृच्छत्स्वयम् ॥

—श्रीकृष्णरामकवि

इन्द्रादि की दूतियों के निराश होकर चले जानेपर नल को यह विश्वास होगया कि दमयंती का उसके प्रति दृढ़ अनुराग है और उसे यह प्रतीत होने लगा कि दमयन्ती अब उसे प्राप्त हो सकेगी। नल का अंग-अंग दमयन्ती को निरख-निरख कर तुष्ट और आनन्दमग्न होने लगा और मन प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गया। उसने मन-ही-मन दमयन्ती का पर्यवेक्षण किया और विस्तार के साथ शिखा से लेकर नखपर्यन्त उसके रूप का वर्णन-विवेचन किया। अंत में दमयन्ती पर मुग्ध वह इस निर्णय पर पहुँचा कि दमयन्ती विधाता की अनुपम कृति है, यौवन ने उसके आकर्षण को द्विगुणित कर दिया है और मनोभव ने तो उसे वर्णनातीत बना दिया है। उसका हृदय आश्चर्य और हर्ष में निमग्न हो गया और उसने विचार किया कि अब अदृश्य रहना व्यर्थ है और उचित होगा कि अब सखी समूह के मध्यस्थित दमयन्ती के समक्ष प्रकट हो लिया जाय।

नैषध-कथासार

(अष्टम सर्ग)

दमयन्ती और उसके सखी समूह के सम्मुख जब निषधराज प्रकट हुए तब वे सभी आश्चर्यान्वित हो मुग्ध भाव से उनकी ओर देखने लगीं। दमयन्ती नल को सम्पूर्ण मुग्धभाव से निहारने लगी और अभिभूत हो गयी। बड़ी कठिनता से वह आसन छोड़कर उठी और स्वागत करते हुए नल से उसने बैठने का अनुरोध किया और उचित और समयानुकूल वार्तालाप किया—आप कौन हैं, कहाँ से पधारे हैं, कहाँ जाना है—आदि? जिस प्रकार वर्षाकाल में निर्झरिणी जल-वेग से पूर्ण हो जाती है, उसी प्रकार दमयन्ती आनन्द-परम्पराओं से पूर्ण हो उठी और उसकी नन्दनिमग्ना दृष्टि जैसे नल का आलिङ्गन करने लगी। बड़ी प्रसन्नता हुई दमयन्ती को, ऐसी, जैसी कि मुग्धता में होती है। तत्पश्चात् मुग्धा दमयन्ती ने बड़ी शालीनता के साथ नल से समयोचित वार्तालाप किया। दमयन्ती ने जब नल के कुल आदि का परिचय जाना तो उसे लगा कि हो न हो, यह नल ही है। आसन ग्रहण कर नल ने निवेदन किया कि वह इन्द्रादि देवों का दूत है। वे दमयन्ती के वियोग में व्यथित हैं और उसके पाणिग्रहणार्थी हैं। समस्त सामर्थ्य से सम्पन्न देव आज दमयन्ती के सम्मुख याचक हैं। आज तो देव यह समझने लगे हैं कि उनके पास दमयन्ती को देने योग्य कुछ नहीं है—अमृत भी नहीं। सुधा तो दमयन्ती के अधरों में ही है। आज तो वे अपना अमरत्व देकर भी दमयन्ती के पाद-पद्म की शरण में जीने की इच्छा करते हैं। इस लिए दमयन्ती से उनका निवेदन है कि वह इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण में से किसी का वरण करे और नल का दूतकर्म सफल बनाये। नल ने निष्कर्ष रूप में कहा—'हे भैमि, वरण करके तू या तो इन्द्र को आनन्दित कर अथवा मन्मथमग्न अग्नि का नूतन सुरत-क्रीडाओं द्वारा उद्धार कर। यम पर दया कर अथवा वरुण का ही वरण कर।'

नैषध-कथासार

(नवम सर्ग)

नल ने यद्यपि बड़ी तत्परता के साथ अपना दूतकार्य संपादन करते हुए इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण में से किसी एक दिक्पाल को पतिरूप में स्वीकारने का निवेदन किया, पर दमयन्ती ने उस ओर अपनी अनिच्छा प्रकट की और नल से कहा कि—'महोदय, मैंने तो आपसे आपका कुल नाम जानना चाहा था, पर आपने तो वह न बता कर यह सब अनपेक्षित कह डाला ? क्या यह लज्जास्पद नहीं है ? सो कृपा करके आप वही बताइए।' नल ने उत्तर दिया—आपका जिज्ञासा व्यर्थ है। 'मैं' हूँ, 'तुम' हो—क्या वार्तालाप में ये 'मैं तू' सर्वनाम ही पर्याप्त नहीं है ? इसके अतिरिक्त मेरा कुल यदि अनिमल है, तो बताना अनुचित ही होगा। और यदि उच्च है तो यह दूतकर्म ? जहाँ तक नाम का प्रश्न है स्वयम् अपना नाम लेना शिष्टव्यवहार नहीं है। सो अच्छा यही है कि आप मेरे पूर्वोक्त निवेदन पर ही विचार करें। आपका कल्याण उसीमें है। पर दमयन्ती ने अज्ञात कुल नामा व्यक्ति के साथ बात करने में ही असमर्थता प्रकट की और प्रस्ताव का उत्तर देने में भी अपने को असमर्थ बताया। तब दमयन्ती की एक सखी ने बताया कि राजनन्दिनी नल में अनुरक्त है, नल के बिना वे जीवित नहीं रहेंगी। पर नल ने पुनः अपने प्रस्ताव पर ही दमयन्ती से विचार करने का अनुरोध किया। नल को इस पर दमयन्ती ने मृत्युदूत कहा। पुनः जब सखी ने दमयन्ती के नल के प्रति दृढ़ानुराग की बात कही तो नल ने समझाया कि देवों के विरुद्ध रहने पर नल दमयन्ती-परिणय असंभव है। दमयन्ती इस पर करुणा पूर्ण विलाप करने लगी, जिसे सुनकर नल अपनी स्थिति भूलकर दमयन्ती को अनेक विध आश्वस्त करने लगा और उसे पछतावा लगा कि क्यों वह देवदूत बना ? इतने में ही वहाँ स्वयं हंस आ गया और उसने नल से अनुरोध किया कि वह दमयन्ती को निराश न करे। तब नल ने दमयन्ती को विचारपूर्वक व्यवहार करने को कहा और निवेदन किया कि वह देवों अथवा नल के मध्य किसी का वरण करे। नल को सम्मुख देख और प्रस्ताव सुन दमयन्ती प्रसन्न हुई और लजा गयी, पर सखी ने दमयन्ती का दृढ़ निश्चय नल को बता दिया। नल स्वयं देवों के साथ अपने उपस्थित रहने की बात कहकर सारा समाचार कहने के लिए देवों के पास चल पड़ा।
